वैदिक संस्कृति के विविध आयाम

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

लेखक
अरुण कुमार जायसवाल

वैदिक संस्कृति के विविध आयाम

..... यह ग्रन्थ वैदिक संस्कृति का विश्वकोश है।

-ऑड्रियस बिगेरस, प्रोफेसर
सेन्टर ऑफ ओरियन्टल स्टडीज़ ऑफ विलिनियस युनिवर्सिटी, लिथुआनिया।

.....यह ग्रन्थ वैदिक संस्कृति का विश्व संस्कृति के रूप में सार्थक परिचय देता है।

- संजय सक्सेना, कम्प्यूटर वैज्ञानिक
एडिसन सिटी, न्यूजर्सी, अमेरिका

.....अरुण कुमार जायसवाल ने वैदिक संस्कृति के विराट्-विशाल सागर को अपनी इस ग्रन्थ गागर में बड़ी ही सफल रीति से संजोया है।

- डॉ. रजनी जोशी, प्रोफेसर
आई.आई. टी., पवई, मुम्बई।

...अपने नाम के अनुरूप इस ग्रन्थ में वैदिक संस्कृति के विविध आयाम समग्र रीति से प्रकट हुए हैं।

-अनन्त सागर अवस्थी, आई. ए. एस.
निदेशक उच्च शिक्षा, इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय दिल्ली।

.....इस ग्रन्थ में वैदिक संस्कृति के विकास की सभी अवस्थाओं के शोध पूर्ण विवेचन में लेखक की मौलिक दृष्टि प्रकट हुई है।

- डॉ. प्रभात सेंगर, वरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास, गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. हरिद्वार

.....इस ग्रन्थ में वैदिक संस्कृति की सामयिकता एवं समीचीनता जैसे स्वयं प्रकट हो गई है।

-डॉ. आर.के. द्विवेदी, रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास,जीवाजी वि.वि. ग्वालियर (म.प्र.)

....वैदिक संस्कृति के विवेचन में लेखक का साधक व विचारक व्यक्तित्व एक साथ प्रकट हुआ है।

- सोमेश कुमार, आई.ए.एस.
डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट, अनन्तपुर (आ.प्र.)

.....वैदिक संस्कृति को प्रचारित-प्रसारित करने की दिशा में लेखक का यह कदम साहसिक ही नहीं अपितु अनुकरणीय भी है।

- सदन कुमार सिन्हा, सम्पादक

... इस ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति मननीय है।

- भूपेन्द्र कैन्थोला, एडिशनल डायरेक्टर
दूरदर्शन-मुम्बई

.....भारतीय विद्याओं के साहित्य में लेखक की यह अनुपम कृति है।

- मिलन झवेरी, फिल्म निर्माता,
एम.जे. फिल्म्स प्रा.लि. मुम्बई

वैदिक संस्कृति के विविध आयाम

लेखक
डॉ. अरुण कुमार जायसवाल

भूमिका लेखक
डॉ. प्रणव पण्ड्या
एम.डी. (मेडि.)
निदेशक
ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
प्रमुख
अखिल विश्व गायत्री परिवार
शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

प्रकाशक
ललित प्रकाशन
८/१, इन्दिरा विकास कालोनी, नई दिल्ली-९
फोन- ७४५५२२७

पुस्तक प्राप्ति स्थान
❖ हरिश्चन्द्र साहू
८/१, इंदिरा विकास कालोनी
नई दिल्ली-९
फोन- (०११) ७४५५२२७
❖ अरुण कुमार जायसवाल
नया बाजार,
सहरसा
फोन- (०६४७८) २४३९४

प्रथम संस्करण : सन् २०००

मूल्य : ४०५ रु. मात्र

मुद्रक : कम्प्यूडाटा सर्विसेज, नई दिल्ली

समर्पण

हे गुरुवर,
ओ प्यारी मां!
तुम्हीं से जन्मा
मेरा अस्तित्व
तुम्हारे आशीष से बुना
मेरा व्यक्तित्व
फिर तुमसे अलग कहाँ ?
यह मेरा कृतित्व

गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य एवं माता भगवती देवी शर्मा
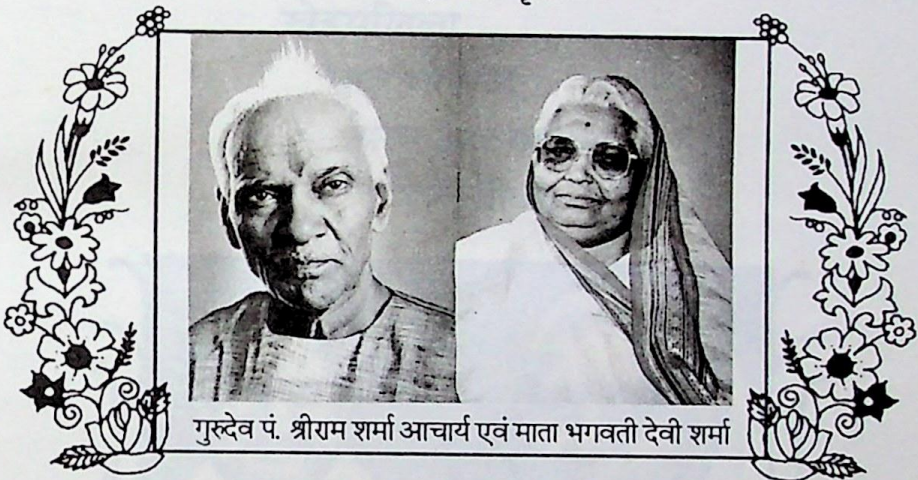
मैं
तुम्हारा अरुण
करूँ तुमको नमन्
चढ़ाऊँ श्रद्धा सुमन
मेरे देह प्राण मन
तुम्हारा अंश
यह आत्मन्
सदा तुमको ही अर्पित
अकेली कृति ही नहीं
यह कृतिकार भी
मेरे आराध्य
तुम्हें ही समर्पित।
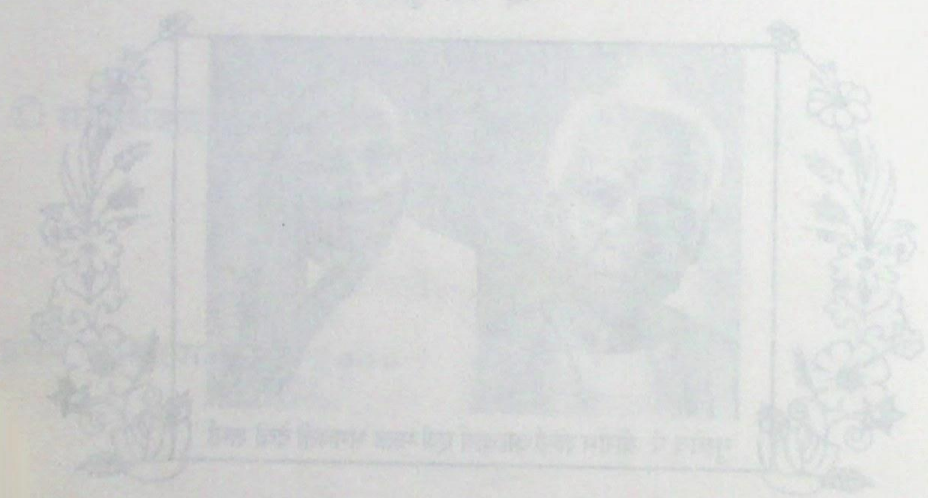
मेरे प्रेरणा स्त्रोत

प्रेरणा पुरुष,
युगनायक
परम श्रद्धेय
डॉ. प्रणव पण्ड्या
एवं
स्नेहसलिला
भाव वत्सला
परम आदरणीया
शैलजीजी
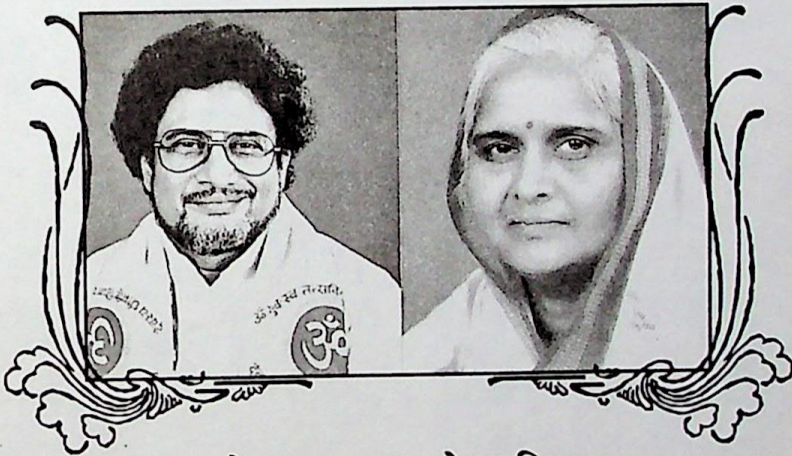
प्रेरणा पुरुष, स्नेहसलिला
हे युगनायक, ओ भाव वत्सला
आप व्योमवत्, विगत कलुष
प्रभा आपकी, ज्यों इन्द्रधनुष
मेरी रचना की, प्रेरणा आप स्वयं
स्वीकारें मेरा मौन नमन् ॥

भूमिका

भौगोलिक रूप से इंसान एक दूसरे के इतना नजदीक कभी नहीं रहा, जितना आज है। आधुनिक सुविधाओं के सरंजाम ने दुनिया को एक गांव में तब्दील कर दिया है। जितनी देर में हम एक गाँव से दूसरे गाँव में पहुँचते थे आज उतनी ही देर में दिल्ली से अमेरिका पहुँच सकते हैं। इस भौगोलिक समीपता के बावजूद भावनात्मक स्तर पर दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। घर-परिवार, प्रदेश, राष्ट्र, विश्व तक हर कहीं हर कोने में दरारें, टूटन, विखराव फैला पड़ा है। सभी की दौड़ अलगाव की ओर है। प्रत्येक स्वयं में आतंक से सहमा है, औरों को आतंकित कर रहा है।

इन दिनों हर किसी की आँख विश्व को बिखराव के तूफानों से घिरा देख रही है। इस आँधी में एकता के तिनके समेटे जा सकेंगे, किसी को कल्पना तक नहीं उठती। भारत को ही लें कश्मीर-आसाम-बिहार इन्हीं हिचकोलों में झूल रहे हैं। दुनिया का सबसे बड़ा भू-भाग अपने में समेटे रुस देखते-देखते टुकड़े-टुकड़े होकर छितर गया। अमेरिका में अश्वेतों द्वारा अपने अधिकार की मांग जोर पकड़ती जा रही है। पाकिस्तान में सिन्ध और पंजाब प्रान्त में असन्तोष एवं मतभेद गहराता जा रहा है। शान्ति के नाम पर यूगोस्लाविया में तनाव किस ओर संकेत कर रहा है? चीन भी इन चिंगारियों से अछूता नहीं है। लंका में उठ रहे विखराव के शोलों की चमक विश्व के हर व्यक्ति की आँखों को चौंधिया देने के लिए काफी है। अलगाव में तत्पर, आतंक फैलाने में जुटे संगठनों की फेहरिस्त बनायी जाय तो एक पुस्तक के पृष्ठों का कलेवर छोटा पड़ जाएगा। स्थिति की गम्भीरता को देखकर दार्शनिकों से लेकर राजनीतिज्ञों तक सभी इसी उधेड़-बुन में हैं कि बिखरती जा रही मनुष्य जाति को कैसे समेट बटोर कर एक सूत्र में बांधा जाय?

विचारक, मनीषी, लोकनायक सभी ने समाधान की खोज में इतिहास के पृष्ठों की छान-बीन करनी शुरू कर दी है। वर्तमान से निराश हो चुके इन सभी का अतीत की ओर मुड़ना स्वाभाविक है। क्योंकि वर्तमान ने तो मनुष्य के सुसंस्कृत होने पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है। हर विचारशील इस बात पर सोचने के लिए मजबूर है कि क्या मनुष्य वास्तव में सुसंस्कृत है? कारण कि उसके आचार, व्यवहार, चिन्तन, कर्त्तव्य में कहीं भी तो मनुष्यता नहीं मिल पा रही है। ऐसे

में सभी का ध्यान मैक्समूलर के इस कथन की ओर गया है, जिसमें उसने बताया था 'यदि मुझसे पूछा जाय कि इस नीले आसमान के नीचे वह कौन सा भू-भाग है जहाँ मानव मस्तिष्क का पूर्ण विकास हुआ है और जहाँ के लोगों ने बहुत कुछ ईश्वरीय देन को उपलब्ध कर लिया है तथा जीवन की बड़ी से बड़ी समस्याओं पर गम्भीर विचार करके उनमें से बहुतों के ऐसे हल निकाल लिये हैं, जिन पर प्लेटो और काण्ट का अध्ययन करने वालों को भी ध्यान देना आवश्यक हो गया है तो मैं सीधा भारत की ओर संकेत करूँगा।'

मैक्समूलर के इस कथन से आकर्षित होकर प्राचीन भारत की वैदिक संस्कृति के अध्ययन हेतु अनेकों प्रयास हुए। पर इन प्रयासों में मूलतः दो कमियाँ रहीं। पहली कमी तो यह रही कि अध्येताओं ने अपने अध्ययन के लिए मूल स्रोतों की अपेक्षा इतिहासकारों की टिप्पणियों को ही आधार माना। जबकि वैदिक संस्कृति का स्वरूप वैदिक संहिताओं में ही अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक मिल सकता है। इसका मतलब यह नहीं कि इतिहासकारों की टिप्पणियों की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाय। लेकिन इतना अवश्य है कि ये टिप्पणियाँ केवल संकेत भर हैं। जब तक ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य का भली प्रकार अनुशीलन नहीं किया जाएगा भारत की प्राचीन संस्कति का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया जा सकता है और न ही वैदिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास लिखा जा सकता है। पूर्व शोधकर्त्ताओं की दूसरी महत्त्वपूर्ण कमी यह रही है कि उन्होंने तथ्यों के संकलन का प्रयास तो किया है परन्तु वर्तमान संदर्भ में उसकी आवश्यकता एवं उपयोगिता की विवेचना नहीं की है। अरुण कुमार जायसवाल ने अपने इस ग्रन्थ **'वैदिक संस्कृति के विविध आयाम'** में इस कमी की पूर्ति असाधारण विद्वता एवं गहन शोध-साधना के साथ की है।

संस्कृति एवं इतिहास

वैदिक संस्कृति की गरिमा एवं उसकी वर्तमान उपयोगिता आज के विषम समय की महत्त्वपूर्ण मांग है। लेकिन इसे पूरा कर पाना तभी संभव है जबकि वैदिक संस्कृति एवं तत्कालीन इतिहास के गम्भीर अवगाहन एवं अनुशीलन का शोधात्मक प्रयास किया जाय। दरअसल संस्कृति एवं इतिहास एक दूसरे से जुड़े गुंथे हैं। इनमें से किसी एक को दूसरे से अलग कर पाना सम्भव नहीं है। सांस्कृतिक सौन्दर्य की अपूर्व झलक इतिहास के सार्थक बोध के बगैर असम्भव है। इसी तरह ऐतिहासिक तथ्य तब तक आधे-अधूरे बने रहते हैं जब तक कि

वे उस काल की संस्कृति का यथार्थ दिग्दर्शन न करा दें। यद्यपि यह बात किसी भी काल विशेष एवं किसी भी देश के संदर्भ में खरी सिद्ध होती है। परन्तु वैदिक काल एवं भारत वर्ष के सन्दर्भ में इसका महत्त्व कहीं कुछ अधिक ही विशेष है। क्योंकि भारत वर्ष की ऐतिहासिक धरोहर यहाँ की सांस्कृतिक सम्पदा ही है। इससे लाभान्वित होने के लिए इतिहास बोध अनिवार्य रूप से आवश्यक एवं उपयोगी है।

इतिहास की आवश्यकता एवं उपयोगिता

इतिहास की आवश्यकता एवं उपयोगिता इसी सत्य से जानी जा सकती है कि न तो इतिहासहीन समाज का भविष्य होता है, न ही भविष्यहीन समाज का इतिहास। केवल वर्तमान में जीने वाले समाज के पास न तो इतिहास होता है, न ही भविष्य, और वर्तमान? वह तो मात्र एक संकल्पना है, वास्तविकता के स्तर पर मात्र एक प्रक्रिया जो पकड़ में आने के साथ ही हाथ से छूट जाती है, और बोध के स्तर पर तीन चौथाई अतीत और एक चौथाई भविष्य होता है।

कोसम्बी इतिहास की भूमिका के विषय में लिखते हैं 'इतिहासकार का काम न तो अतीत को प्यार करना है, न ही अतीत से पिण्ड छुड़ाना है, बल्कि उसका काम है इतिहास को वर्तमान को समझने की कुंजी के रूप में समझना और उस पर महारत हासिल करना। महान् इतिहास ठीक उसी समय लिखा जाता है जब इतिहासकार की गम्भीर दृष्टि वर्तमान समस्याओं की अन्तर्दृष्टि से आलोकित होती है। इतिहास से ज्ञान अर्जित करना कभी केवल इकहरी प्रक्रिया नहीं होती। वर्तमान को अतीत की रोशनी में जानने का अर्थ है, अतीत को वर्तमान की रोशनी में जानना। इतिहास का काम वर्तमान और अतीत के बीच के अन्तः सम्बन्धों के माध्यम से इन दोनों की अधिक गहरी समझ अर्जित करना है।'[१] सिद्धान्त रूप में यह इतिहास के प्रति एक विवेकपूर्ण दृष्टि को प्रकट करता है। श्री जायसवाल के लेखन में यही दृष्टि प्रकट हुई है।

इतिहासकार का काम सत्य को छिपाना नहीं अपितु सत्य की खोज करना है। अधूरा सच अशोधित पारे की तरह विषाक्त होता है और इसका उत्तर दूसरी तरह का अूधरा सच नहीं है, बल्कि समग्र सत्य है। मात्र तथ्यपरक इतिहास का सत्य नहीं है, जिसके लिए प्रासंगिकता और तथ्यपरकता दोनों का होना जरूरी

१. दा. ध. कोसम्बी- दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ इण्डिया, पृ. ४०

है। इतिहासकार एक विशेष अर्थ में सामाजिक मनोचिकित्सक होता है और यह काम वह किसी तरह का धोखा या छलावा करके नहीं अपितु अप्रिय सामाजिक अनुभव को जातीय स्मृति पटल पर लाकर उनसे उत्पन्न उस भीति को दूर करता है, जिसके कारण वह हमारे अवचेतन में चला गया था और स्मृतिपटल पर आए बिना भी हमारे सामाजिक और निजी आचार को इतनी गहराई से नियंत्रित और संचालित कर रहा था। क्योंकि इसके सामने हमारे सोच-विचार कर किए गए निर्णय और संकल्प भी विफल हो जाते थे।

इतिहास तो एक विशाल भू-भाग में करोड़ों लोगों के, हजारों वर्षों के अनुभवों का, कुछ याद कुछ भूला और कुछ विरुपित किया हुआ संचित भण्डार है, जिसमें अनेक बार उन्मादियों और अर्धविक्षिप्तों के हाथ में सत्ता और अपार शक्ति केन्द्रित हुई है। और जिनमें इसका सुदपयोग करने की न तो योग्यता थी, न ही बाध्यता, परन्तु जिनके कारनामों ने इतिहास की दिशा बदल दी है। अत: इतिहासकार अपने को एकमात्र प्रबुद्ध और शेष समाज को शिशु मानकर इतिहास के सच को शिशुवर्ज्य ज्ञान की तरह छिपाए नहीं, अपितु अधूरे सच का जवाब पूरे सच को सामने रखते हुए दे और एक कुशल सामाजिक मनोचिकित्सक की तरह अपने विवेचन से अधूरी सच्चाइयों से पैदा हुई सामाजिक ग्रंथियों को खोले, जो भावना की खिड़की से पिशाच की तरह प्रकट होकर हमारे सामाजिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न करने लगती है। अरुण कुमार जायसवाल अपने इस ग्रन्थ लेखन में प्रारम्भ से अन्त तक ऐसे ही सफल सामाजिक मनोचिकित्सक सिद्ध हुए हैं।

इस तरह देखा जाय तो इतिहास का कुछ न कुछ अंश किसी न किसी रूप में वर्तमान में जीवित रहता है। इसे हम इतिहास की वर्तमानता कह सकते हैं। इस प्रकार वर्तमान में जो कुछ है, उसके पीछे कार्य-कारण की एक लम्बी और बहुसूत्री परम्परा होती है, जिसे केवल आपात्तिक स्थितियों में ही जानने का प्रयत्न किया जाता है। इसे जान लेने पर घटना, क्रिया, वस्तु और विचार सभी का चरित्र अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक वर्तमान का अपना इतिहास भी होता है। इस इतिहास को जानना वर्तमान को अधिक गहराई और निरवलेप रूप में जानने का दूसरा नाम है। कोई भी वर्तमान अपने अतीत का समग्र योग नहीं होता, वरन् इतिहास के किन्हीं अवशिष्ट अंशों के संधि बिन्दुओं पर एक नयी परिघटनावली की उद्भास प्रक्रिया का अंग होता है, जो कार्य होने के साथ ही कारण में बदलता हुआ नये कार्यों और कारणों का बीज बनता चला जाता है। इसे समझने की यात्रा

में वर्तमान से अतीत की ओर होती है। यदि इस प्रक्रिया को उलट दिया जाये तो हम वर्तमान में क्रेवल इतिहास ही ढूँढते रह जायेंगे और इसके भविष्य तक को इतिहास बनाकर रख देंगे। इतिहास के साथ वर्तमान का युगपत सम्बन्ध है। इतिहास की आवश्यकता एवं उपयोगिता के आधार पर ही इतिहास का यथार्थ स्वरूप का निर्धारण होता है।

इतिहास का यथार्थ स्वरूप

इतिहास के यथार्थ स्वरूप के बारे में पश्चिम का अपना दृष्टिकोण है और भारत का अपना। जिसे क्रमशः एकांगी और समग्र माना जा सकता है। भारतीय दृष्टि की समग्रता इस सत्य में निहित है क्योंकि यहाँ इतिहास मात्र घटना क्रमों, तथ्यों का संकलन भर नहीं है। इसमें सांस्कृतिक मूल्यों, गौरवपूर्ण परम्पराओं, देवोपम संस्कारों के सार्थक विवरण का समावेश है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि इतिहास वह मंजूषा है जिसमें संस्कृति की बेशकीमती सम्पदा संजोयी है। शायद इसे न समझ पाने के कारण ही अलबेरुनी जैसे लोगों ने लिख दिया कि भारतीयों ने ऐतिहासिक क्रम की उपेक्षा की है।

भारतीय लोगों ने इतिहास लिखा ही नहीं, यह सफेद झूठ है। प्राचीन काल में इतिहास और पुराण दोनों शब्दों से इतिहास का बोध होता था। अथर्ववेद[२] में लिखा है 'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।' अमरकोश में इतिहास का पर्याय 'पुरावृत्त' लिखा है। इति-ह-आस= ठीक ऐसा हुआ था। पुरा-वृत्तम्= जो पहले हुआ। इस प्रकार साधारणतया दोनों शब्दों से अतीत की घटनाओं के संकलन की इतिहास या पुराण संज्ञा ठहरती है। यास्क के निरुक्त में आये 'इत्यैतिहासिकाः' अर्थात् ऐसा इतिहास मानने वाले कहते हैं, से भी उस काल में इतिहास का अस्तित्व सिद्ध होता है। परन्तु भारतीय तथा अन्य इतिहास लेखकों के दृष्टिकोण में अन्तर है। भारत के लोगों की दृष्टि में इतिहास का हेतु यह है 'धर्मार्थ काममोक्षणामुपदेशसमन्वितम्। पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।' सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित लक्षणयुक्त 'पुराण' कहाते हैं।[३] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि कथाओं का नाम 'गाथा' है। वंशावलियाँ तैयार करने वाले 'पुराविद्' कहाते थे।

---

२. अथर्ववेद, १५/६/११-१२

३. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरिते चैव पुराणं पंचलक्षणम्।

कौटिल्य (चाणक्य) के समय में इतिहास का इतना महत्त्व बढ़ गया था कि कौटिल्य ने राजा के लिए प्रतिदिन मध्यान्होत्तर इतिहास सुनना अपरिहार्य ठहराया। उनके अनुसार पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र इतिहास के अन्तर्गत हैं। भारतीय दृष्टिकोण से रामायण, महाभारत, पुराण, राजतरंगिणी, नेपाल राजवंशावली, कलियुग राजवृत्तान्त, अनेक नाटक तथा चम्पूग्रन्थ आदि सब इतिहास के उपजीव्य हैं। इनके बिना केवल अधूरे शिलालेखों, सिक्कों, मूत्तियों तथा परदेसी-प्रवास वर्णनों के सहारे तो आक्सफोर्ड के विद्वान् भी अपने 'भारत का इतिहास' नहीं लिख सकते थे। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् महामहोपाध्याय डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है 'हमारे पुराणों जैसे साधन और परम्पराएँ जो पहले अविश्वसनीय मान ली गई थीं, उनका महत्त्व पुनः प्रतिष्ठित हो गया है।'[४]

भारतीय इतिहास परिषद् (Indian History Congress) के इलाहाबाद में १९३८ में हुए अधिवेशन के अवसर पर प्रो. भण्डारकर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में उन भारतीय इतिहासकारों की बड़े जोर से भर्त्सना की थी जो पाश्चात्यों की विचारधारा से प्रभावित होकर यह कहते रहते हैं कि भारतीयों को इतिहास की समझ नहीं थी। एक इतिहासकार के रूप में कल्हण को न केवल भारतीयों ने, अपितु सर ऑरेल स्टीन जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी मान्यता प्रदान की है।

पाश्चात्य लेखकों का यह कहना कि भारत वर्ष का प्राचीन इतिहास नहीं मिलता, उनकी अज्ञानता का ही सूचक है। इस अज्ञान का कारण यह है कि जब यूरोपियन लोग भारत में आये तो उनका सम्पर्क भारत के ऐसे लोगों से हुआ जो स्वयं पढ़े-लिखे नहीं थे। इसका एक कारण यह भी था कि भारतवासी इतिहास लिखते तो थे परन्तु उनके इतिहास लिखने का उद्देश्य वह नहीं था जो कि पाश्चात्य लेखकों का है। यूनान, रोम, मिस्र, फ्राँस, इंग्लैण्ड इत्यादि देशों में वहाँ के राजा, रइसों, जमीदारों तथा विजेताओं द्वारा इतिहास लिखने के लिए कुछ लोग नियुक्त किए जाते थे। परिणामस्वरूप वे इतिहास उन राजा, रइसों की प्रशंसा में और उनकी रुचि अनुसार ही लिखे जाते थे। भारत वर्ष में यह प्रथा नहीं थी। यहाँ के लेखक नगरों और राजा-महाराजाओं के दरबारों में नहीं रहते थे। वे प्रायः वनों में अपने आश्रमों में रहते और अपना पठन-पाठन का कार्य करते हुए इतिहास आदि लिखते थे। उनके इतिहास लिखने का उद्देश्य राजा-महाराजाओं को प्रसन्न करना नहीं वरन्

---

४. जर्नल ऑफ बिहार ओरियण्टल स्टडीज, ग्रन्थ १४, पृ. ३२५-३२६

जन-साधारण के ज्ञान की वृद्धि करना होता था। जन साधारण को इतिहास से क्या शिक्षा लेनी चाहिए, उन्हें यही अभिप्रेत था। इस कारण भारतीय लेखक केवल ऐतिहासिक घटनाओं को ही लिख देने से संतोष नहीं करते थे। वरन् प्रत्येक घटना का कारण और उस घटना से उत्पन्न परिणाम का दर्शन आवश्यक समझा जाता था। श्री जायसवाल भारतीय इतिहास लेखन की परम्परा के ऐसे ही उज्ज्वल नक्षत्र हैं। जिसकी दीप्ति इस ग्रन्थ में सर्वत्र बिखरी है।

भारतीय इतिहास लिखने का ढंग, घटनाओं की विवेचना और कारणों तथा परिणामों सहित लिखने के कारण यूरोप वालों को इतिहास नहीं, अपितु कुछ और ही समझ में आता है। यूरोपीय इतिहास लेखकों की लेखन शैली और भारतीय लेखकों की शैली में अन्तर होने के कारण यूरोप वालों को भारत में इतिहास दिखाई नहीं दिया। भारतीय लेखकों द्वारा लिखित इतिहास, इतिहास तो है ही। परन्तु भारत के इतिहास में जो कुछ अधिक है वह घटनाओं की विवेचना ही है।

इतिहास लेखन के इन विशेष रूपों को प्रकट करने के लिए भारतीय वाङ्मय में कुछ नाम इस प्रकार हैं-

इतिहास शब्द की व्याख्या वेदों में भी की गई है। परन्तु 'शौनक ऋषि' अपने वृहद् देवता ग्रंथ में अधिक स्पष्ट रूप में लिखते हैं- 'ऋषियों द्वारा कही गई प्राचीन काल की बात इतिहास है।'[५] देवासुर संग्राम के विषय में जो आख्यान है, वह भी इतिहास है। भारतीय लेखक इसे इतिहास का अंग मानते हैं।[६] एतिह्य परम्परागत कथन को कहते हैं। यह इतिहास के कथन का ढंग है।[७] पुराकृत्य भी पूर्व काल की बात को कहने का एक स्वरूप है।[८] परकृति का उल्लेख वायु पुराण में है।[९] इसी तरह इतिवृत्त, उपाख्यान, अनुचरित, कथा, परिकथा, अनुवंश, गाथा आदि शब्द भी इतिहास से सम्बन्धित माने जाते हैं। हमारे इतिहास के इन

---

५. इतिहासः पुरावृत्तं ऋषिभिः परिकीर्त्यते। - वृहद् देवता, ४/४६
पण्डित भगवद्दत्त उद्धृत- भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, १/३

६. यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यतऽइतिहासे त्वत्ततो ह्येव तान्प्रजापतिः पाप्मनाऽविध्यते ततऽएव पराभवन्निति।
- शतथप ब्राह्मण, ११/१/६/९

७. पारम्पयौपदेशे स्यादैतिध्यमितिहाव्ययम्॥ - अमरकोशः, २/७/१२

८. स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः॥ - न्याय दर्शन, २/१/६६

९. अन्यस्यान्यस्य चोक्तत्वाद् बुधाः परकृतिः स्मृता। - वायु पुराण, ५९/१३६

सब प्रकारों के नाम लिखने का अभिप्राय यह है कि भारत के प्राचीन वाङ्मय में ये सब प्रकार और कदाचित इससे भी अधिक प्रकार थे, जिनमें इतिहास कहा जाता था और वह क़हा हुआ मिलता है।

भारतीय इतिहास लेखन की विशेषता यह है कि ये सब प्रकार उस समय भी प्रयुक्त होते थे, जबकि किसी श्रेष्ठ लिपि की परिकल्पना भी नहीं हुई थी। तब से प्रचलित ये प्रकार चले थे और आज तक मिलते हैं। इन प्रकारों पर बड़े-बड़े शोधग्रन्थ प्रमाण रूप में उपलब्ध हैं। इस तरह भारत वर्ष में बसे लोगों का इतिहास विश्व के सब देशों के इतिहास से अधिक है। जिस देश में इतिहास लिखने के बीसियों ढंग विद्वानों को विदित हैं वहाँ इतिहास की कितनी महिमा रही होगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

'वैदिक संस्कृति के विविध आयाम' ग्रन्थ की गहन अन्वीक्षा से स्पष्ट होता है कि श्री जायसवाल की लेखन साधना का उद्देश्य न केवल प्राचीन भारत के इतिहास में संजोए वैदिक संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करना है, बल्कि वर्तमान में उसके पुनरोदाय की समीचीनता को सिद्ध करना है। उनकी यह लेखन साधना पूरी तरह से आधुनिक विधि पर आधारित है। इसमें वैदिक, पौराणिक साहित्य के गम्भीर परिशीलन के साथ इतिहासविदों के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन किया गया है। साथ ही महत्त्वपूर्ण मुद्रा एवं अभिलेखों की सहायता ली गई है। इस प्रयास के द्वारा उन महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सूत्रों की खोज हुई है जो वर्तमान मानवता के लिए उपयोगी हो सके। वैदिक संस्कृति का मूल स्वरूप महाभारत काल तक ही बरकरार रह सका। बाद के समय में आक्रान्ताओं के प्रवेश एवं बौद्ध जीवन पद्धति की मिलावट के कारण वैदिक संस्कृति की मूल छवि नहीं रह सकी। इसी कारण इस ग्रन्थ लेखन की सीमा भी महाभारत काल तक ही सीमित है।

महाभारत तक का काल निर्धारण इसलिए भी किया गया है, क्योंकि उस समय के पहले वेद सिर्फ तीन थे। ऋक्, यजु, साम रूप वेदमयी वेद चतुष्ट्य का स्वरूप प्रदान करने का श्रेय महाभारत के रचनाकार महर्षि व्यास को ही है। उन्होंने ही ऋषि दध्यऽ अथर्वण के शोध प्रयासों का संकलन अथर्ववेद के रूप में किया। और इस तरह महाभारत के रचनाकाल के आस-पास ही चारों वेदों का संकलन, वर्गीकरण एवं सम्पादन हुआ। इस कारण भी वैदिक संस्कृति का काल निर्धारण महाभारत काल तक करना ही समीचीन है।

इस ग्रन्थ में विविध अध्यायों के चुने हुए विषय हैं: संस्कृति का उदय एवं विकास, आदिकालीन संस्कृति में ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति एवं सामाजिक चेतना, संस्कृति एवं राजनैतिक चेतना, संस्कृति का विस्तार एवं प्रभाव, प्राचीन संस्कृति का वर्तमान पुनरोदय और अन्त में विषय का निष्कर्षपूर्ण उपसंहार। योजना के अनुसार हर अध्याय की विषयवस्तु अगले से सम्बद्ध है।

प्रथम अध्याय 'संस्कृति के उदय एवं विकास' में संस्कृति को मानव की मौलिक विशेषता के रूप में उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मानव के मूल स्थान पर प्रकाश डाला गया है। आर्यों का आदि देश शुरूआत से विवादित विषय रहा है। सभी ने अपने पक्ष में मत व्यक्त किए हैं। यहाँ निर्णय का आधार आर्य साहित्य अर्थात् वैदिक संहिताओं को ही माना गया है। क्योंकि आर्यों के संदर्भ में यदि कोई सर्वाधिक प्रामाणिक हो सकता है तो वह स्वयं आर्य होंगे। इसी निष्पक्ष निर्णय के आधार पर आर्यों के आदि देश के तत्कालीन भूगोल, उनके चिन्तन अन्वेषण की तपोभूमि एवं संस्कृति के उदय एवं विकास को बताया गया है।

संस्कृति के विकसित स्वरूप का सबसे बड़ा प्रमाण है, उसके ज्ञान-विज्ञान की उत्कृष्टता। यही सत्य अगले अध्याय 'आदि कालीन संस्कृति में ज्ञान-विज्ञान' में आधुनिक अध्येयताओं ने प्राचीन संस्कृति के ज्ञान पक्ष को तो पर्याप्त स्पष्ट किया है परन्तु विज्ञान की पर्याप्त विवेचना देखने को नहीं मिलती। यहाँ धर्म एवं दर्शन के रूप में वैदिक ऋषियों के ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के साथ तंत्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, मनोविज्ञान, शिल्प, कला आदि के रूप में उनके वैज्ञानिक स्वरूप की विवेचना की गई है। ज्ञान और कर्म का गहन सम्बन्ध है। ज्ञान का स्तर ही जीवन के स्वरूप का निर्धारण करता है। यह सत्य जहाँ व्यक्तिगत स्तर पर लागू होता है, वही सामाजिक स्तर पर भी उसकी स्वीकारोक्ति मिलती है। इस रूप में संस्कृति एवं समाज के अन्तर्सम्बन्ध गहरे हैं। उन्हें स्पष्ट करते हुए परिवार एवं समाज के स्वरूप एवं जीवन व्यवस्था की विस्तृत विवेचना तीसरे अध्याय 'संस्कृति की सामाजिक चेतना' में की गई है।

प्रामाणिक चेतना की सुव्यवस्थित गतिशीलता एवं सांस्कृतिक संवेदना का निर्बाध संवहन अनुशासन की उत्कृष्टता पर निर्भर है। यही उत्कृष्टता वैदिक संस्कृति में राज्य की उत्पत्ति का कारण बनी और राष्ट्र के रूप में विकसित हुई। इसके स्वरूप को अधिक विस्तृत रूप से स्पष्ट करने के लिए इस क्रम में तत्कालीन राजनैतिक संस्थाओं एवं राजनैतिक चिन्तन की पद्धति तथा उनके सांस्कृतिक स्वरूप

का वर्णन 'संस्कृति एवं राजनैतिक चेतना' अध्ययन के अन्तर्गत हुआ है। वैदिक संस्कृति की उत्कृष्ट चिन्तन शैली एवं आदर्श जीवन व्यवस्था भारत की सीमाओं में ही सिमटी न रही। तत्कालीन समय में उसने विस्तार किया और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अपने सूत्र को चरितार्थ किया। यह विस्तार परवर्ती समय में भले मूल रूप में सुरक्षित न रह सका हो, पर प्रभाव अमिट रहे। बदलते समय के अनुसार इनकी छाप अनेक रूपों में दिखाई देती रही। इस तथ्य की व्यापक विवेचना ही पाँचवे अध्याय 'संस्कृति का विस्तार एवं प्रभाव' की विषय वस्तु है।

वैदिक संस्कृति का विस्तार एवं उसके प्रभाव से यह सत्य सर्वथा व्यक्त हो जाता है कि वैदिक संस्कृति में मानवता को भावनाओं के आत्मीय सूत्र में बाँधे रखने की सामर्थ्य है। यही वे सूत्र हैं जो मनुष्यता को उसका उज्ज्वल भविष्य प्रदान कर सकते हैं। आज भी उन्हें अपनाकर व्यक्ति समुन्नत, समाज सुव्यवस्थित एवं जीवन सुविकसित हो सकता है। वैदिक संस्कृति के पुनरोदय के प्रयास में वर्तमान समय के महामानवों का यही विचार रहा है। युगनायक स्वामी विवेकानन्द ने विश्व गगन में इसी सत्य का उद्घोष किया था। भारत के क्षितिज पर महर्षि दयानन्द ने यही प्रचारित किया था। इस परिप्रेक्ष्य में श्री अरविन्द के भगीरथ प्रयास को भला कैसे भुलाया जा सकता है। **शान्तिकुञ्ज के संस्थापक, युग निर्माण आन्दोलन के प्रेरक एवं प्रवर्तक परम पूज्य गुरुदेव युगद्रष्टा आचार्य श्रीराम शर्मा** ने इसी सत्य को मूर्त रूप देने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। इन श्रद्धास्पद व्यक्तियों के अविस्मरणीय कृतित्व का इतिहास लेखन 'प्राचीन संस्कृति का वर्तमान पुनरोदय' अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। और इसी की परिसमाप्ति निष्कर्षपूर्ण उपसंहार में मानवीयता के वर्तमान ज्वलन्त प्रश्नों को स्पष्ट करते हुए, इनके समाधान में भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के योगदान का मूल्यांकन करते हुए हुआ है। इसी क्रम में इस योगदान को स्वीकार करने के बाद भावी मानवता एवं नए विश्व के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

श्री जायसवाल की यह लेखन साधना वैदिक संस्कृति की लुप्त ऐतिहासिक कड़ियों की खोज के साथ अतीत की सम्पदा का वर्तमान में मूल्यांकन की चेष्टा है। जो रचनात्मक विवेचना पर आधारित है। इस सम्बन्ध में शोध के इच्छुक छात्र का तर्क कि इतिहास भी ज्ञान की जीवन्त विद्या है। उसे स्वयं को अतीत के तथ्यों के संकलन तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए। अतीत के सत्य उपयोगी तभी हैं जब वे वर्तमान की मनुष्यता की भूलें सुधारने में, खोया गौरव बोध जाग्रत्

करने में, स्वर्णिम भविष्य का निर्माण कर सकने में सहायक सिद्ध हो। और भारतीय अतीत का स्वर्णिम इतिहास साकार हो सकने में सर्वथा समर्थ है।

स्वामी विवेकानन्द जो कि भारतीय इतिहास के महान् वेत्ता एवं वैदिक संस्कृति के मुखर प्रवक्ता थे। उन्होंने कहा था 'अपने प्राचीन इतिहास का अध्ययन कर हमें देखना चाहिए कि प्राचीन समय में शक्ति, सामर्थ्य, समृद्धि तथा सुख सभी बातों में भारत कितना उन्नत है।'[१०] परम पूज्य गुरुदेव श्रीराम शर्मा आचार्य की चिन्तन चेतना में यह स्पष्ट ही है कि वैदिक युग में हमारे सम्मुख जो महान् आदर्श थे वही हमारे अतीत के गौरव के लिए कारणीभूत थे। आज हमारी अवनति कैसे हुई, जगद्गुरु भारत किन कारणों से आज तकनीकि ज्ञान के क्षेत्र में अन्य देशों के सामने मोहताज है। सोने की चिड़िया कहा जाने वाला देश आखिर क्यों विदेशी ऋण भार से लदा है? अपने चरित्र से शिक्षा देने वाले आखिर चरित्रहीनता के चंगुल में कैसे जा फँसे? इन सवालों का जवाब पाने के लिए अतीत के पृष्ठों का गम्भीर अध्ययन आवश्यक है।

इसी कारण स्वामी जी ने कहा था 'भारत के लोग अतीत का जितना ही अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्जवल होगा और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को विज्ञ करने की चेष्टा कर रहा है, वह स्वजाति का परम हितकारी है।'[११] ऐसे ही परम हितकारी श्री जायसवाल के लेखन के द्वारा ही हम यह जान सकेंगे कि अपना खोया बल-विक्रम, कौशल कैसे पा सकते हैं? इस ग्रन्थ के अध्ययन से हम यह भी जानेंगे कि संसार हमारे देश का अत्यन्त ऋणी है। यदि भिन्न-भिन्न देशों की पारम्परिक तुलना की जाय तो मालूम होगा कि सारा संसार सहिष्णु एवं निरीह भारत का जितना ऋणी है, उतना और किसी देश का नहीं। पुराने समय में और आजकल भी बहुत से अनोखे तत्त्व एक जाति से दूसरी जाति में पहुँचे हैं और यह भी ठीक है कि किसी-किसी राष्ट्र की गतिशील जीवन तरंगों ने महान् शक्तिशाली सत्य के बीजों को बिखेरा है। परन्तु ऐसे सत्य प्रचार हुआ है रणभेरी के निर्घोष तथा रण-सज्जा से सज्जित सेना समूह की सहायता से। बिना लाखों स्त्री-पुरुषों के खून की नदी में स्नान किए कोई भी नया भाव आगे नहीं बढ़ा। प्रधानतः इसी उपाय द्वारा अन्यान्य देशों ने संसार को शिक्षा दी है। परन्तु इस उपाय का अवलम्बन लिए बिना ही भारत हजारों वर्षों से शान्तिपर्वूक

---

१०. स्वामी विवेकानन्द- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. ३५३

११. स्वामी विवेकानन्द- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ५-६

जीवित रहा है। उससे भी पहले जिस समय का इतिहास में कोई लेखा नहीं है, जिसे सुदूर धुँधले अतीत की ओर झाँकने का साहस परम्पराओं को भी नहीं होता। उस काल से लेकर अब तक न जाने कितने ही भाव एक के बाद एक भारत से प्रस्तुत हुए हैं, पर उनका प्रत्येक शब्द आगे शान्ति एवं पीछे आशीर्वाद के साथ कहा गया है। यह भारत की वैदिक संस्कृति का सनातन सत्य है जो मानव को भौगोलिक समीपता की ही तरह भावनात्मक समीपता भी दे सकता है। श्री जायसवाल ने इतिहास के इसी सत्य को अपने इस ग्रन्थ में प्रकट किया है। परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की कृपा की अमृत वृष्टि उन पर निरन्तर होती रहे और वह अपनी लेखन साधना से वैदिक ऋषियों की सनातन संस्कृति के वैभव की अभिवृद्धि करते रहें। यही शुभकामना है।

डॉ. प्रणव पण्ड्या
एम. डी. (मेडि.)
निदेशक
ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
प्रमुख
अखिल विश्व गायत्री परिवार
शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

अपनी बात

वैदिक संस्कृति मेरा जीवन व्रत है। इसके विविध आयामों की शोध साधना में ही मेरी इतनी आयु व्यतीत हुई है। मैंने जब से होश सम्भाला, स्वयं को वैदिक संस्कृति के जिज्ञासु के रूप में पाया। आधुनिक युग में वैदिक महर्षियों की पुण्य परम्परा की दुर्लभ-विभूति परम श्रद्धेय डॉ. अमरलाल वैश्य ने बचपन में ही मुझे इस तथ्य का बोध कराया कि वैदिक ऋषियों के अनुभूत सत्यों को स्वयं ऋषि बनकर ही अनुभव किया जा सकता है। और तभी से वैदिक संस्कृति मेरी जीवन साधना बन गई।

उन्हीं की प्रेरणा से वैदिक संस्कृति पर आधारित युग निर्माण आन्दोलन के प्रेरक एवं प्रवर्तक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ परम पूज्य गुरुदेव पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य के दर्शनों का सुअवसर मिला। उनकी तपस्थली शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार में मुझे न केवल वैदिक संस्कृति के गुह्य व गहन रहस्यों की अनुभूति हुई, बल्कि वैचारिक परिपक्वता भी मिली। इस क्रम में आज भी मुझे एक प्रसंग याद है, जब मैं पहली बार लगभग डेढ़ दशक पूर्व नौ दिवसीय साधना सत्र में शान्तिकुञ्ज गया था। सायं भ्रमण के समय मैं गंगा किनारे बने हुए ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान में पहुँचा। अध्यात्म एवं विज्ञान के समन्वय के लिए संकल्पित यह शोध संस्थान युग ऋषि परम पूज्य गुरुदेव की एक अद्भुत संस्थापना है। भारतीय विद्याओं की शोध में इसका स्थान अग्रणी है।

उस दिन मुझे इसका प्रथम दिग्दर्शन वहाँ कार्यरत एक विदुषी-साधिका श्रीमती नीलम तिवारी ने कराया। शोध संस्थान के दिग्दर्शन क्रम में उन्होंने बताया कि 'संस्कार एवं संवेदना का मिला-जुला स्वरूप ही संस्कृति है। वेदों के ऋषियों को संस्कृति का यही अर्थ अभिप्रेत था' बात-चीत के क्रम में नीलम बहिन के पति श्री भास्कर तिवारी से भी परिचय हुआ। परिचय की प्रगाढ़ता धीरे-धीरे पारिवारिक घनिष्ठता में बदल गयी। बाद के दिनों में तो उनके सुपुत्र चि. शरद तिवारी भी हमारे परिवार के अभिन्न अंग हो गए। श्री भास्कर जी को तो काल के क्रूर हाथों ने छीन लिया। परन्तु यह सत्य है कि उन्होंने ही वैदिक संस्कृति के बारे में मुझे कुछ विशेष लिखने के लिए प्रेरित किया था। इस प्रेरणा को दिशा एवं मार्गदर्शन आदरणीय डॉ. रामनारायण साहू से मिला।

मेरे पास चिरसंचित साधना थी, साधना की गहनताओं में उपजे भाव थे, परन्तु उन्हें व्यक्त करने के लिए शब्द सामर्थ्य का अभाव था। ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के मनीषी-वैज्ञानिक श्री हेमाद्री साव का अतुलनीय सहयोग इस हेतु मिला। श्री

हेमाद्री साव यूँ तो मूलतः वैज्ञानिक हैं। और वे इन दिनों ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक आदरणीय डॉ. प्रणव पण्ड्या एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के जीवन विज्ञान विभाग के प्रोफेसर एवं डीन डॉ. बी.डी. जोशी के संयुक्त मार्गदर्शन में योग-साधना के शरीर क्रिया वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभावों की विशिष्ट शोध कर रहे हैं। पर प्राचीन भारतीय इतिहास एवं दर्शन के क्षेत्र में उनकी विद्वता-विशेषज्ञता विलक्षण है। उनके ही प्रयासों से मेरी संस्कृति साधना ग्रन्थ का रूप ले सकी है।

यह मेरा अहोभाग्य है कि इस ग्रन्थ की भूमिका परम श्रद्धेय डॉ. प्रणव पण्ड्या ने लिखी है। परम श्रद्धेय डाक्टर साहब अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक एवं मनीषी हैं। वह ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक होने के साथ, अखिल विश्व गायत्री परिवार के प्रमुख भी हैं। अपनी अतिव्यस्तता के बावजूद उन्होंने भूमिका लेखन के दायित्व का असाधारण विद्वतापूर्ण ढंग से निर्वहन किया। उनका यह लेखन मेरे लिए आशीर्वचन है। मेरे कोटिशः नमन-प्रणाम उन्हें अर्पित-समर्पित है।

और अन्त में मेरी यह समस्त साधना जिनके सहयोग से युग सन्धि महापुरश्चरण की महापूर्णाहुति के समारोह के अवसर पर लोकार्पित एवं प्रकाशित हो रही है, उन श्री ललित रंजन साहू, लेक्चरर, भूगर्भशास्त्र, का भी मैं आभारी हूँ। ग्रन्थ प्रकाशन के इस अवसर पर अपनी जीवन संगिनी श्रीमती अभिनव जायसवाल का स्मरण हृदय में प्रेम भरी पुलकन के साथ उभरता है। साथ ही अपने माता-पिता श्रीमती शान्ति देवी जायसवाल एवं श्री लक्ष्मी चन्द्र जायसवाल व अपनी सास श्रीमती के. एम. शेट्टी का आशीष पाने के लिए अन्तरात्मा में श्रद्धा उमगती-उफनती है।

सभी के सम्मिलित सहयोग से **'वैदिक संस्कृति के विविध आयाम'** नाम का यह ग्रन्थ आप सभी के हाथों में है। भूलें एवं त्रुटियाँ मानव स्वभाव में है, सो इसमें भी होंगी। परन्तु उनका सतत् परिमार्जन ही मानवीय गरिमा का परिचायक है और मैं इसके लिए संकल्पित व प्रतिबद्ध हूँ। अध्येयता जनों के सत्परामर्श एवं उनके व्यक्तिगत सम्पर्क-सान्निध्य की हर पल प्रतीक्षा है।

युग संधि महापुरश्चरण
महापूर्णाहुति समारोह
७ से ११ नवम्बर, २०००
शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

अरुण कुमार जायसवाल
नया बाजार,
सहरसा,
पिन- ८५२२०१ (बिहार)
दूरभाष- (०६४७८) २४३९४

विषय सूची

अध्याय-१

संस्कृति का उदय एवं विकास

संस्कृति मानव की मौलिक विशेषता है। सृष्टि के अनगिनत-असंख्य प्राणियों में केवल मनुष्य ने ही स्वयं को सुसंस्कृत बनाकर संस्कृति निर्माता होने का गौरव प्राप्त किया है। अन्य प्राणी तो जन्म से लेकर मरण तक अनगढ़-असंस्कृत जीवन जीने के लिए विवश हैं। हालाँकि मानव में भी जन्म जन्मान्तरों की संचित पशु-प्रवृत्तियों का अभ्यास उसे मानवी गरिमा को अपनाने की दिशा में बढ़ने से प्राय: रोकता ही रहता है। ऊँचा उठने के लिए-स्वयं को संस्कारित करने के लिए उसे विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। इन प्रयत्नों में ही उसकी मौलिकता निहित है। इस मौलिक विशेषता की सार्थकता उसके उत्थान-अग्रगमन और संस्कृति निर्माण में है। गतिशीलता पशु-प्रवृत्तियों से आगे बढ़ने-ऊँचे उठने में है। मनुष्य शरीर पा लेने भर से कोई बड़ा लाभ नहीं। सुविधा की दृष्टि से तो अन्य प्राणी भी अपनी आवश्यकतानुसार ईश्वर प्रदत्त सुविधाओं को भोगते और सुखी रहते हैं। मानवीय मौलिकता इतने तक ही सीमित नहीं है। उसके कुछ विशेष कर्त्तव्य हैं और कुछ विशेष उत्तरदायित्व। चरित्र और चिन्तन में उत्कृष्टता का समावेश ही उसकी यथार्थ विशिष्टता है। मर्यादाओं का पालन और आदर्शों का अवलम्बन अन्य प्राणियों से नहीं बन पड़ता। उसे मात्र मनुष्य ही निबाहता है, इसी में उसका गौरव है।

मनुष्य जीवन से जुड़ी हुई उपलब्धियों का सार्थक लेखा-जोखा उसकी संस्कृति में समाया हुआ है। इसके विश्लेषण से यह समझा जा सकता है कि मानवी गौरव के अनुरूप अपनी मौलिक विशेषता के अनुरूप आदर्शवादिता अपनाई गयी या नहीं। सच्चे अर्थों में मनुष्य उसी को कहा जा सकता है, जो मानवीय उत्कृष्टता को अवधारण करके शालीनता, कर्मठता और परमार्थ परायणता का परिचय दे। क्योंकि यही उसके जीवन के मौलिक तत्त्व हैं। जिन्हें आत्मसात करने पर आगे मानवीय काया में देवत्त्व का उत्पादन एवं अभिवर्द्धन सम्भव है। व्यक्तित्व का उच्चस्तरीय उत्कर्ष इसी स्थिति में सन्निहित है। महामानव, सन्त, ऋषि, देवात्मा, अवतार इसी सांस्कृतिक प्रगति यात्रा के क्रमिक सोपान हैं। जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए- स्वयं को संस्कारित करके मनुष्यता के उत्तरदायित्व सम्भालने पड़ते हैं। अपनी गतिविधियों के प्रत्येक पहलू का परिष्कार करना पड़ता है।

संस्कृति चिन्तन

❑ भारतीय दृष्टिकोण-

इस मौलिक प्रयास की सूक्ष्मताओं को भारत वर्ष में भली प्रकार परखा एवं जाना गया है। आचार्य श्रीराम शर्मा ने संस्कृति को समग्र रूप में परिभाषित किया है। उन्हीं के शब्दों में- ''मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने का विज्ञान और विधान संस्कृति कहलाता है।[१]'' संस्कृति मानव को संस्कार सम्पन्न बनाती है। जैसा कि संस्कृति के अर्थ से स्पष्ट है। 'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा की 'संस्कृ' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ है अच्छी स्थिति, सुधरी हुई स्थिति आदि का बोधक। इसका भावार्थ अधिक विराट् एवं विस्तृत है। संस्कृति न केवल मानव को परिष्कृत एवं परिमार्जित करती है बल्कि मानव समाज को भी ऊँचा उठाती है। शिवदत्त ज्ञानी ने इसे इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है- संस्कृति से मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है जिससे उसे 'सुधरा हुआ', 'ऊँचा', 'सभ्य' आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है।[२] संस्कृति वास्तव में वह जीवन पद्धति है जिसकी स्थापना मानव, व्यक्ति तथा समूह के रूप में निर्माण करता है, उन अविष्कारों का संग्रह है जिनका अन्वेषण मानव ने अपने जीवन को सफल बनाने के लिए किया है। उक्त अन्वेषण में मानव तब सफल होता है जब वह अपनी आत्मा तथा बाह्य विश्व दोनों का संस्कार करे। मानव और उसके चारों ओर फैला हुआ संसार दोनों का समाहार ही वास्तव में प्रकृति है। सच बात तो यह है कि संस्कृति मानव द्वारा प्रकृति पर प्राप्त विजय की क्रमबद्ध कहानी है। अपनी आत्मा तथा बाह्य विश्व पर विजय पाकर ही मानव उन्नत हो सकता है।[३] अतः संस्कृति मानव को सुसंस्कृत बनाने की अनमोल विधा है।

संस्कृत शब्द के समान 'संस्कृति' शब्द में परिमार्जन अथवा परिष्कार के अतिरिक्त शिष्टता एवं सौजन्य आदि अर्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। अंग्रेजी में 'संस्कृति' शब्द का समानार्थक शब्द है 'कल्चर'। संस्कृति अथवा कल्चर शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उसके परिष्कार के द्योतक हैं।

---

१. आचार्य श्रीराम शर्मा- तीर्थ स्थापना का प्रयोजन और स्वरूप, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अंक ५, पृष्ठ ५

२. शिवदत्त ज्ञानी- भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १७

३. तर्कतीर्थ लक्ष्मण शस्त्री जोशी- वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ २

जीवन का चरमोंत्कर्ष प्राप्त करना इस विकास का लक्ष्य है। संस्कृति के प्रभाव से ही व्यक्ति विशेष या समाज ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिनसे सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में उन्नति होती है। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन का अपने में पूर्ण विकसित रूप है। विचार और कर्म के क्षेत्र में जो राष्ट्र का सर्जन है वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति मानव जीवन की प्रेरणादायिनी शक्ति है। वह राष्ट्र की प्राण वायु है, जो उसके चैतन्य भाव की साक्ष्य देती है। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालिक ऐतिहासिक गतिविधि का लोक-हितकारी तत्त्व उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। वह मानवीय जीवन को अध्यात्म की प्रेरणा प्रदान करती है। वास्तव में संस्कृति वह है जो सूक्ष्म एवं स्थूल, मन एवं कर्म, अध्यात्म जीवन एवं प्रत्यक्ष जीवन का कल्याण करती है।[४] संस्कृति का अर्थ है सत्यं, शिवं, सुन्दरम के लिए अपने मस्तिष्क और हृदय में आकर्षण उत्पन्न करना तथा अभिव्यंजना द्वारा उनकी प्रशंसा करना।

हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के अनुसार 'हमारे रहन-सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था होती है, जो मानसिक प्रकृति है, जिसका उद्देश्य हमारे जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाता है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है, वही संस्कृति है।' डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने इस सम्बन्ध में लिखा है- 'मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म क्षेत्र में जो सृजन करता है उसे संस्कृति कहते हैं।' दिनकर ने कहा है- 'संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में समाया हुआ है। यह आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध तथा दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग युगान्तर में होता है। संस्कृति हजारों सालों में निर्मित होती है अतएव प्रत्येक देश की भिन्न संस्कृति होती है।[५]' डॉ. रामजी उपाध्याय के मतानुसार- 'संस्कृति का इतिहास मानवता की प्रगति का इतिहास है।' इसे डॉ. भगवान दास के शब्दों में कहें तो 'मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक सम्यक् कृति संस्कृति का अंग बनती है।' एक अन्य विद्वान ने कहा है कि किसी समाज, जाति अथवा राष्ट्र के समान व्यक्तियों के उदात्त संस्कारों के पुंज का नाम उस समाज, जाति

---

४. वासुदेव शरण अग्रवाल- कला और संस्कृति, भूमिका

५. रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति के चार अध्याय

और राष्ट्र की संस्कृति है। किसी भी राष्ट्र के शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का विकास संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है।

'संस्कृति से तात्पर्य है सामाजिक मानस और चेतना, जिसमें विचारों एवं भावनाओं की संगठित समष्टि हुई है। संस्कृति समाज का व्यक्तित्व है। विचार, भावना, आचरण तथा कार्यकलापों के विभिन्न प्रस्तरों से संस्कृति की सिद्धि होती है। आध्यात्मिक आदर्शों एवं परम्पराओं के रूप में भी संस्कृति की अभिव्यक्ति होती है। संस्कृति में हमारे जीवन की समग्रता झलकती है। इसमें हमारे जीवन की कला, हमारी चित्त प्रवृत्ति, चिन्तन-पद्धति, दर्शन, जीवन मूल्य, मानवीय सम्बन्ध, आस्था और विश्वास, आचरण, सदाचार, शिष्टाचार आदि अनेक पक्ष सामाहित हैं।[६]' लीलाधर शर्मा पर्वतीय ने अपने भारतीय संस्कृति कोश के पृष्ठ ९२९ में संस्कृति की परिभाषा का उल्लेख करते हुए कहा है कि संस्कृति उन गुणों का समुदाय है, जो व्यक्तित्व को समृद्ध और परिष्कृत बनाते हैं। चिन्तन और कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ संस्कृति में आती है जो मानव जीवन के लिए प्रत्यक्ष में उपयोगी न दिखाई देने पर भी उसे समृद्ध बनाती है। इसमें शास्त्र और दर्शन का चिन्तन, साहित्य, ललित कलाओं आदि का समावेश होता है। इसके विपरीत सभ्यता में उन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों, सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं आदि की गणना होती है, जिनके द्वारा मनुष्य की जीवन यात्रा चलती है। संक्षेप में संस्कृति मनुष्य का व्यवहार है और सभ्यता उसके क्रियाकलाप। पं० जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में ''संस्कृति का अर्थ मनुष्य का भीतरी विकास और उसकी नैतिक उन्नति है, एक दूसरे के साथ सद्व्यवहार है और दूसरों को समझने की शक्ति है।''

वस्तुतः संस्कृति वह समष्टि है, जिसे प्राप्त करने के लिए समाज अपना उद्देश्य तथा आदर्श निश्चित करता है तथा जिससे मानव मात्र का आध्यात्मिक एवं शारीरिक परिष्कार होता है। इससे समाज एवं व्यक्ति की बौद्धिक गतिविधियों का परिचय प्राप्त होता है। यह समाज के आचार-विचार, उन्नति-अवनति, रीति-रिवाज, धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक अवस्थाओं एवं परम्पराओं का परिचायक है। संस्कृति का मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्ध है। यह सीमाओं के बन्धन से सर्वथा मुक्त है। मानव जीवन के परिष्कार का आदर्श निश्चित कर उसकी प्राप्ति

---

६. लीलाधर शर्मा, 'पर्वतीय'- भारतीय संस्कृति कोश, भूमिका

के उपायों की समष्टि को ही संस्कृति कहते हैं।[७] कला, साहित्य एवं विभिन्न संस्थाएँ संस्कृति के कार्य हैं, जो संस्कृति को परिच्छिन्न तथा मूर्तरूप देते हैं। कोई भी संस्कृति तभी तक जीवित रह सकती है, जब तक वह स्वतंत्रतापूर्वक सर्जनात्मक वृत्ति से निर्माण करती हुई अपनी निजी दशा में विकसित होती रहती है।[८] संस्कृति जीवन के उन समतोलों का नाम है जो मनुष्य के अन्दर व्यवहार, ज्ञान तथा विवेक उत्पन्न करते हैं। वह मानव के सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है, उनकी संस्थाओं को चलाती है, उनके साहित्य तथा भाषा का निर्माण करती है, उनके जीवन के आदर्श तथा सिद्धान्तों को प्रकाश देती है। संस्कृति साध्य नहीं साधन है।[९]

❑ पाश्चात्य दृष्टिकोण-

भारतीय मनीषियों के साथ पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृति के बारे में अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्तियाँ दी हैं। नैतिक दृष्टिकोण से संस्कृति की व्याख्या करने का प्रथम प्रयास लाबेल द्वारा किया गया था। उनके अनुसार 'संस्कृति उन वस्तुओं के आनन्द से सम्बन्धित है जिनको संसार सुन्दर मानता है, यह उस ज्ञान की रूचि से सामंजस्य रखता है। इसी को मानवता मूल्यवान समझती है। यह उन सिद्धान्तों का निरूपण करती है जिनको समूह ने सत्य मान लिया हो।' इतिहासकारों ने संस्कृति का सम्बन्ध सामूहिक जीवन की उन्नति उपलब्धियों से लिया है। भूतकाल में मनुष्य ने भौतिक-अभौतिक क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, वही उसकी संस्कृति है। मानवशास्त्रियों ने गहन अध्ययन के पश्चात् संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अत: उनकी व्याख्या अधिक परिष्कृत जान पड़ती है। उनके अनुसार संस्कृति वह मिश्रित परन्तु सम्पूर्ण व्यवस्था है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा इसी प्रकार की ऐसी सभी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के कारण प्राप्त करता है।[१०] इलियट ने इस बात पर महत्त्व दिया है कि व्यक्ति की संस्कृति समूह या वर्ग की संस्कृति पर तथा वर्ग की संस्कृति उस सम्पूर्ण समाज की संस्कृति पर, जिसका वह वर्ग अंग है, निर्भर करती है। एक जगह उन्होंने कहा है कि संस्कृति विभिन्न क्रियाओं का योग मात्र नहीं है, बल्कि वह

---

७. महेन्द्र कुमार वर्मा- भारतीय संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ १

८. लुनिया कृत- प्राचीन भारतीय संस्कृति

९. डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय- भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ ३

१०. Tyler- E.B. Primitive Culture, p.1

जीवन यापन का एक प्रकार है। अन्यत्र वह कहते हैं- 'हम कह सकते हैं कि संस्कृति वह है जो जीवन को जीने योग्य बनाती है। इलियट ने मुख्यत: संस्कृति को एक मूल्य के रूप में निरूपित किया है। संस्कृति के मानों व मूल्यों में उनकी विशेष अभिरूचि है।' स्पेनी लेखक आर्टीगा वाई.गैसेट इलियट के इस मन्तव्य से सहमत हैं कि संस्कृति विशिष्ट मानदण्डों पर आधारित है।

मैलिनोवस्की संस्कृति का केवल वही पक्ष प्रस्तुत करते हैं जिसके तहत व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं तथा उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं की पूर्ति करने का प्रयास व पुरुषार्थ करता है। उनके मतानुसार संस्कृति में वे पदार्थ, औजार तथा शारीरिक एवं मानसिक आदतें सम्मिलित होती हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति की आवश्यकताओं तथा उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं की पूर्ति प्रत्यक्ष या अप्रयत्क्ष रूप से होती है।[११] एक अन्य मानवशास्त्री राल्फ पिडिंग्लन के अनुसार 'संस्कृति उन सभी भौतिक और बौद्धिक साधनों का योग है जिनके माध्यम से मनुष्य अपनी जैविक व सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करता है तथा अपने वातावरण से अनुकूलन प्राप्त करता है।'[१२] हर्सकोविट्स की मान्यता है कि 'संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।'[१३] मानवशास्त्रियों के अनुसार संस्कृति स्वयं में सब कुछ समेटे हुए है, प्रचलित खान-पान, रहन-सहन के तौर तरीकों से लेकर सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों तक जिन्हें सामान्यत: मनुष्य द्वारा स्वीकृति दी जाती है।[१४] विल ड्यूराण्ट ने संस्कृति को इस तरह से परिभाषित किया है 'संस्कृति से यहाँ अभिप्राय है मनुष्य की समस्याओं, रीति-रिवाजों व शिल्प कलाओं का संग्रह।'[१५]

अंग्रेज एन्थ्रोपोलोजिस्ट एडवार्ड बर्नेट टेलर ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है 'समाज के अविछिन्न सदस्य के रूप में मनुष्य को प्राप्त ज्ञान, आस्था, कला, नैतिकता, नीति नियम तथा अन्य सामर्थ्य एवं आदतों को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति मनुष्य के व्यवहार के पीछे निहित मूल्य, विश्वासों एवं बोध का समूह है। इन्हें जब समाज के एक समूह द्वारा अपनाये जाने पर इससे विनिर्मित व्यवहार को समाज के अन्तर्गत स्वीकृत माना जाता है। संस्कति अपने एक खण्ड में भी समग्रता को धारण किए हुए रहती है।'[१६] मानवशास्त्री ए.एल क्रोइबर तथा

---

११. Malinoveski- Encyclopaedia of Social Sciences, pp. 621-626
१२. Ralf Pidington- An Introduction to Social Anthropology, pp. 3-4
१३. M.S. Herskovits- Man and its Works, p. 17
१४. Nirmal Kumar Bos- The Cultural Heritage of India, p. 6
१५. Will Durant- Our Oriental Heritage, p. 5
१६. William A. Haviland- Cultural Anthropology, p. 29

क्लुखोइन्ज ने अपनी कृति 'कल्चर एण्ड क्रिटीकल रिव्यू ऑफ कान्सेप्ट्स एण्ड डेफीनेशन' में लिखा है कि संस्कृति एक पृथक्करण है या अधिक स्पष्टतः, संस्कृति व्यवहार से एक पृथक्करण है। अर्थात् संस्कृति साकार व्यवहार का सार रूप है लेकिन स्वयं व्यवहार नहीं है।[१७]

संस्कृति की अति स्पष्ट परिभाषा देने का प्रयास समाजशास्त्र की दृष्टि से राबर्ट बीरस्टीड ने किया है। वह कहते हैं कि 'संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने की वजह से उन्हें पास रखते हैं।'[१८] इस परिभाषा में भौतिक और अभौतिक दोनों पक्षों को लिया गया है अतः संस्कृति जैविकीय विरासत नहीं है, बल्कि सामाजिक विरासत का परिणाम है। एक समकालीन समाजशास्त्री टालकट पार्सन्स के अनुसार- 'संस्कृति वह पर्यावरण है जो मानव का निर्माण करने में आधारभूत है।' यहाँ पार्सन्स यह कहना चाहते हैं कि अपने लम्बे अतीत में मनुष्य ने अपने अस्तित्व के लिए कुछ क्रियाएँ की हैं, उन्हीं के द्वारा संस्कृति निर्मित हुई है और इसी की पुष्टि आगे आने वाली क्रियाओं के माध्यम से होती चली जाती है। अर्थात् समाज संस्कृति को निर्धारित करता है और संस्कृति व्यक्ति का निर्माण करती है। मैकाइवर और पेज का ऐसा मत है कि हमारे रहने, विचार करने, प्रतिदिन के कार्यों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन और आनन्द में संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है। इससे पता चलता है कि मैकाइवर संस्कृति और व्यक्तित्व में गहरा सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार संस्कृति एक ऐसी इकाई है जिसका परित्याग करना व्यक्ति के लिए असम्भव सा प्रतीत होता है। संस्कृति उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को समाविष्ट किए हुए है।

लुण्डवर्ग ने संस्कृति के स्वरूप को अधिक वैज्ञानिक ढंग से समझाने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार 'संस्कृति को उस व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें हम सामाजिक रूप से प्राप्त और आगामी पीढ़ियों को संचरित कर दिए जाने वाले निर्णयों, आचरणों तथा व्यवहार के परम्परागत प्रतिमानों से उत्पन्न होने वाले प्रतीकात्मक और भौतिक तत्त्वों को सम्मिलित करते हैं।'[१९] अतः यह कहा जा सकता है कि संस्कृति भौतिक और अभौतिक तत्त्वों की वह जटिल सम्पूर्णता है जिसे व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है

---

१७. The New Encyclopaedia Britanica, Vol.3, p. 704

१८. Robert Birstid- The Social Order, p. 829

१९. Lundvergs And Others- Sociology, p, 172

तथा जिसमें वह अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करता है। बोगार्डस के शब्दों में 'संस्कृति किसी समूह के कार्य और विचार करने की समस्त रीतियों को कहते हैं।'[२०] किबालयंग ने अपनी कृति सोशल साइकालॉजी के पृष्ठ ७-८ में स्पष्ट करते हैं कि संस्कृति शब्द न्यूनाधिक रूप से उन आदतों, विचारों, मनोवृत्तियों और मूल्यों के संगठित और सुदृढ़ प्रतिमानों की ओर संकेत करता है जो एक नवजात शिशु को उसके पूर्वजों अथवा बड़े होने पर अन्य व्यक्तियों तथा वृद्धजनों द्वारा हस्तांतरित होते हैं। गिलिन तथा गिलिन के मतानुसार प्रत्येक समूह तथा प्रत्येक समाज में (आन्तरिक और बाह्य) व्यवहार के ऐसे प्रतिमानों का समूह होता है जो कि न्यूनाधिक रूप में सामान्य होते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं तथा बच्चों को सिखाए जाते हैं और जिनमें निरन्तर परिवर्तन की सम्भावना रहती है। इन सामान्य प्रतिमानों को संस्कृति की उपाधि दी जाती है।[२१]

अतः कहा जा सकता है कि हजारों लाखों वर्षों के पुरुषार्थ से मनुष्य ने जो कुछ अर्जित किया है, वह उसकी संस्कृति है। वस्तुतः संस्कृति मनुष्य को मनुष्यता का दिग्दर्शन कराती है। इस विषय में यहाँ कहा जा सकता है कि संस्कृति इन्सान को इन्सानियत का पाठ पढ़ाती है और उसे पशुवत जीवन से मुक्त कर अपनी गरिमा को चिन्तन एवं क्रियारूप में परिणित करने के लिए प्रेरित करती है।[२२] आबिद हुसैन ने इसके बारे में अपना मंतव्य पेश करते हुए कहा है कि संस्कृति वह मूलभूत ज्ञान है जो मुख्यतः समाज की सामूहिक संस्था के बतौर उसके लोगों की मनोवृत्ति, अनुभव, आदतों व व्यवहारों के द्वारा अभिव्यक्त होती है।[२३] इसे इस तरह भी व्यक्त किया जा सकता है संस्कृति मन की सामान्य अवस्था या आदत है जो मानव की पूर्णता प्राप्ति से घनिष्ट सम्बन्ध रखती है। अतः संस्कृति को बुद्धि की सामान्य अवस्था और समस्त समाज का नैतिक विकास माना जा सकता है। संस्कृति समाज के सम्पूर्ण जीवन, वस्तु, बुद्धि और आध्यात्मिकता का पर्याय है।[२४] इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलासाफी के दूसरे खण्ड के पृष्ठ ४७२ में इलीयट थामस स्टर्न ने कहा है कि धर्म, कला, नियम एवं बौद्धिक क्रियाकलाप यह सम्पूर्ण संस्कृति की चैतन्य अभिव्यक्तियाँ है। इस बात को आगे बढ़ाते हुए स्पेंजर ओस्वाल्ड कहते हैं 'संस्कृति एकात्म अवधारणा के

२०. Bogards- Sociology, p. 35
२१. Gilin and Gilin- Cultural Sociology, p. 139
२२. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol.4, p. 358
२३. S. Abid Hussain- The National Culture of India, p. 3
२४. The Encyclopedia of Philosophy, Vol.1-2, p. 273

रूप में किसी समूह की धार्मिक अवस्थिति है जिससे उस समूह की कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थतंत्र यहाँ तक की युद्ध प्रक्रिया आदि क्रिया कलापों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। बेबर अल्फ्रेड के अनुसार संस्कृति अद्भुत ऐतिहासिक अवस्था है। यह मनुष्य की अंत: अनुभूति के रूप में स्वैच्छिक सृजन क्षमता है।[२५] संस्कृति मनुष्य जीवन से सम्बन्धित समस्त वस्तुओं की सम्पूर्ण खोज से प्राप्त संसार का सर्वोत्तम विचार है। यह ज्ञान अपनी संचित अवधारणा एवं दृष्टि से स्वतंत्र विचारों के रूप में प्रवाहित होता है।[२६]

❑ संस्कृतिः एक व्यापक दृष्टि-

संस्कृति एक ऐसा विचार और कर्म है जो मनुष्य के क्रियाकलापों में सम्मिलित होकर दूसरे मनुष्य से पर्याप्त भेद प्रकट करता है। संस्कृति शरीर की कोशिका की तरह भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है जैसे विचार, भावना, मूल्य, उद्देश्य, कर्म, प्रवृत्ति आदि।[२७] रोजर बेकन ने इसे कहा है- 'आत्मप्रसारवाद के अन्तर्गत संस्कृति विचारों की प्रतिष्ठा एवं उत्कृष्टता है। शीलर ने संस्कृति को हर्ष और आनन्द का पर्याय माना है। प्रसद्धि दार्शनिक नीत्से के मत से संस्कृति मानव जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति की कलात्मक एकता है।'[२८] इसके आगे स्पष्ट होता है कि संस्कृति व्यवहारिक ज्ञान, सामाजिक परम्परा, विचार, चारित्रिकता, एक कालावधि की सभ्यता या उसके बाद का समय है। संस्कृति पदार्थ या औजार और लोगों के क्रियान्वयन या विकास की अवस्था को प्रदर्शित करती है।[२९] अत: इलियट देत्से के शब्दों में इसे इस तरह भी रेखांकित किया जा सकता है- संस्कृति आदर्श योजना तथा अभिव्यक्ति व मूल्यों की संस्थात्मक विधि है और लोगों की आनन्दानुभूति का तौर तरीका है। यह लोगों के विचारों व कार्यों का कमोबेश रूप में स्वैच्छिक प्रतिक्रिया का स्रोत है।[३०]

किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति बताया गया है। यह जीवन की उन अवस्थाओं का नाम है जो मनुष्य के अन्दर

---

२५. The Encyclopedia of Philosophy, Vol.8, p. 281
२६. The Encyclopedia of Philosophy, Vol.1,p. 167
२७. Encyclopaedia Americana- vol.8, p. 315
२८. Encyclopaedia of Religion and Ethics- vol.9, p. 368
२९. Encyclopaedia Americana- vol.2, p. 207
३०. Eliot Deutseh- Culture and Modernity, p. 530

व्यवहार का ढंग, विवेक और ज्ञान पैदा करती है। संस्कृति मनुष्य के सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है तथा जीवन के आदर्शों और सिद्धान्तों को प्रकाश देती है। इससे आगे बढ़कर व्हाइटहेड ने संस्कृति को मानसिक प्रक्रिया और सौन्दर्य तथा मानवीय अनुभूतियों को हृदयंगम करने की क्षमता के रूप में चित्रित किया है। परन्तु संस्कृति की समग्रता की दृष्टिकोण से समाजशास्त्र व मानवशास्त्र में वर्णित संस्कृति की अवधारणा मूल्य शून्य है। श्री अरविन्द की संस्कृति की अवधारणा मूलतः आध्यात्मिक व बोधगम्य है। यह दोनों आन्तरिक मनोविज्ञान व बाह्य मनुष्य जीवन के समाज शास्त्र तथा वातावरण को एक साथ प्रदर्शित करती है। श्री अरविन्द ने संस्कृति की परिभाषा एवं व्याख्या में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का उपयोग किया है। उनके अनुसार संस्कृति का भौतिक स्वरूप, उत्पादन के तरीके, सरकार एवं व्यवस्था का स्वरूप आदि युग की प्रधान मनोवैज्ञानिक प्रकृति द्वारा निर्धारित होते हैं।[३१] 'द ह्यूमन साइकिल' में उन्होंने संस्कृतियों के स्वरूप को अंततोगत्वा मानवीय मनोविज्ञान के विकास पर आधारित सिद्ध किया है।

श्री अरविन्द ने संस्कृति की परिभाषा को समग्र बोध के रूप में निरूपित किया है। उनके अनुसार किसी जाति की संस्कृति उसकी जीवन विषयक चेतना की अभिव्यक्ति करती है। उसका प्रथम रूप होता है- विचार, आदर्श, उर्ध्वमुख संकल्प और आत्मिक अभीप्सा। दूसरा रूप है सर्जनशील आत्म अभिव्यंजना की शक्ति और सौन्दर्यबोध का, मेधा और कल्पना का और तीसरा होता है गुणग्राही सौन्दर्य रूप संघटन का।[३२] किसी संस्कृति के जीवन मूल्य की जाँच करने के लिए उसकी तीन शक्तियों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। उनमें से पहली है जीवन विषयक उसके मौलिक विचार की शक्ति, दूसरी है उन रूपों आदर्शों और गति छन्दों की शक्ति जो उसने जीवन को प्रदान किए हैं, अन्तिम है उसके उद्देश्यों की प्राणवन्त कार्यान्विति के लिए प्रेरणा, उत्साह और शक्ति जो उसके प्रभाव में फलने फूलने वाले मनुष्यों के तथा समाज के वास्तविक जीवनों में प्रकट होती है।

श्री अरविन्द इस बात को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कोई भी संस्कृति मनुष्य के लिए स्थायी और पूर्णरूप से उपयोगी तभी हो सकती है जबकि वह उसे समस्त पार्थिव जीवन मूल्यों के अति क्रमणार्थ एक प्रकार का दुर्लभ एवं विश्वातीत उर्ध्वमुख प्रवेग देने के अतिरिक्त कुछ और भी प्रदान करे। इसे पुरातन,

---

३१. D.P. Chaudhary- Sri Aurobindo and Cant Mary, pp. 129-30

३२. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ६६

परिपक्व और परोपकारी समाज की चिरस्थायिता और व्यवस्थित सुख समृद्धि को ज्ञान, विज्ञान और दार्शनिक जिज्ञासा के महान कौतूहल के द्वारा या कला, काव्य और स्थापत्य की समृद्ध ज्योति एवं प्रभा के द्वारा विभूषित करने से भी अधिक कुछ करना होगा। संस्कृति को अपनी जीवन्त पृथक्‍ता को सदैव समाविष्ट किये रहना चाहिए अन्यथा वह अपनी आत्मा को खोकर विनष्ट हो जाएगी। संस्कृति ही समस्त विकास का मूलभूत कारण है। परन्तु उसके लिए उसे स्वयं पूर्ण और स्वस्थ शक्ति सम्पन्न होना पड़ेगा। मानव जगत् की शान्ति, समृद्धि और स्थिर व्यवस्था एक ऐसी महान् विश्व संस्कृति है जिसमें समस्त मनुष्य जाति अवश्यमेव एक हो जाएगी।

संस्कृति से ही मानव जीवन में सत्य, अहिंसा, प्रेम, परोपकार, उदारता, निरभिमान एवं सहानुभूति आदि गुणों का विकास होता है, जिससे मानव स्वयं उन्नति के पथ पर अग्रसर होकर समाज को भी उन्नत करता है। संस्कृति मानव के आध्यात्मिक, शारीरिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक जीवन का विकास एवं परिष्कार करती है। संस्कृति भूषणभूत सम्यक कृति या चेष्टा है।[३३] भूषणभूत सम्यक चेष्टाएँ मानव व्यवहार के वे प्रेरक कारण हैं, जिनसे मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख तथा शान्ति प्राप्त करे या जो मनुष्य की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति व प्रगति में अनुकूल हों अर्थात् मनुष्य के लौकिक, पारलौकिक सर्वाभ्युदय के समरूप जो भी आचार-विचार है, वे सब संस्कृति की परिधि में आते है। मानव व्यवहार का प्रत्येक पक्ष इस प्रकार संस्कृति से परिवेष्टित है। संस्कृति के माध्यम से ही मानव के लौकिक-पारलौकिक स्वरूप और अस्तित्व को अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति की मान्यता मिलती है।

आचार्य श्रीराम शर्मा ने संस्कृति में समग्र विकास को सन्निहित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार संस्कृति का अर्थ है मनुष्य का भीतरी विकास। उसका परिचय व्यक्ति के निजी चरित्र और दूसरों के साथ किये जाने वाले सद्व्यवहार से मिलता है। दूसरों को ठीक तरह समझ सकने और अपनी स्थिति तथा समझ धैर्यपूर्वक दूसरों को समझा सकने की स्थिति भी उस योग्यता में सम्मिलित कर सकते हैं जो संस्कृति की देन है।[३४] संस्कृति देश और जाति में

---

३३. कल्याण- हिन्दु संस्कृति अंक, पृष्ठ २४

३४. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग ३५, पृष्ठ १.१

पैदा नहीं हो सकती। वह मानवी है और सार्वभौम है। दूसरे अर्थों में उसे मनुष्यता-मानवी गरिमा के अनुरूप उच्चस्तरीय श्रद्धा सद्भावना कह सकते हैं। इसके प्रकाश में मनुष्य परस्पर स्नेह सौजन्य बन्धनों में बँधते हैं, सहिष्णु बनते हैं, एक दूसरे के निकट आते हैं और समझने का प्रयत्न करते हैं और विभेद की खाई पाटते हैं। संस्कृति सौन्दर्योपासना है। एक भावभरी उदात्त दृष्टि रहे तो वन, उपवन, नदी-तालाबों, प्राणियों, बादलों जैसी सामान्य वस्तुओं को जब सौन्दर्य पारखी दृष्टि से देखा जाता है तो अन्तरात्मा में आह्लाद उत्पन्न होता है। सांस्कृतिक चिन्तन से हम संसार को भगवान् का विराट् स्वरूप और अपने कलेवर को ईश्वर के मंदिर जैसा पवित्र अनुभव कर सकते हैं। सुसंस्कृत दृष्टिकोण अपनाकर मनुष्य अपने देवत्व को विकसित करने और वातावरण को सुख शान्ति से भरा-पूरा बनाने में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सकता है।

संस्कृति की यह मौलिक विशेषता निश्चित रूप से वहीं उपजी, बढ़ी, पनपी जहाँ मानव ने अपने प्रथम कदम रखे। मानव के मूल निवास स्थान की खोज ही वस्तुतः संस्कृति के उद्भव एवं विकास की खोज सिद्ध होगी।

मानव का मूल स्थान

मानव के मूल स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न मंतव्य उपस्थित किये। भिन्न-भिन्न इतिहासकारों एवं नृतत्त्वशास्त्रियों ने अपनी रूचि एवं खोज के अनुसार इस प्रश्न को हल करने की कोशिश की। परिणामतः मानव के आदिम निवास स्थान से सम्बन्धित कितने ही मत व सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने लगे। इन मतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

१. एशिया के किसी भाग में मानव का मूल स्थान
२. यूरोप के किसी क्षेत्र में मानव का आदिम निवास स्थान

नृतत्त्वशास्त्रियों की खोजों के अनुसार सर्वप्रथम उन स्थानों का विवेचन विश्लेषण अधिक हुआ है जिन्हें पाश्चात्य विद्वानों ने देखा, परखा। अतः उन विद्वानों का मत इस प्रकार है। प्रथम मानव यूरोप में ३७,००० वर्ष पूर्व हुआ, जिसे होमोसेपिएन्स अर्थात् 'जो सोचता' कहा गया है। पुरातत्त्ववेत्ता पाषाण काल को इसका उदयकाल मानते हैं और ये भी यूरोप में इसका जन्म मानते हैं।[३५] उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भूगर्भशास्त्र, मानव शास्त्र, मानव खोपड़ियों की हड्डियों का

---
३५. A History of Civilization, Vol. I, p. 31

शास्त्र (Craniology) व प्रागैतिहासिक पुरातत्त्वशास्त्र सम्बन्धी जो खोज हुई उनसे यह सिद्ध किया गया कि यूरोप में मानव जाति अंतिम 'ग्लेशियल युग' के खत्म होने के पूर्व विद्यमान थी। मानव शास्त्र के विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया कि मध्य यूरोप के आधुनिक निवासियों की खोपड़ियाँ 'नव पाषाण युग' के प्रारम्भ में उसी स्थान की गुफाओं आदि में रहने वाले मानवों की खोपड़ियों के सदृश्य हैं। इसी प्रकार इग्लैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, पूर्वी यूरोप आदि में खोज की गई व वहाँ के आधुनिक निवासियों को 'नव पाषाण युग' के प्रारम्भ के निवासियों की सन्तान प्रमाणित किया गया।[३६] लिंगुइस्टिक पेलियान्टोलॉजी के अनुसार भी मानव का मूल स्थान यूरोप माना जाता है।[३७]

श्री गाइल्स ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र की सहायता से यह मत स्थिर किया कि मानव का मूल निवास ऐसे प्रदेश में हो सकता है, जहाँ पर भौगोलिक भिन्नता अधिक हो। मानव का मूल स्थान वहाँ हो सकता है जहाँ मैदान व जंगल दोनों हों, मवेशियों के चरने की भूमि हो व कृषि के योग्य सब साधन भी हों। क्योंकि भाषा साम्य से यह पता चलता है कि मानव के साथ अनेक परिस्थितियों का समावेश होना आवश्यक है। ऐसा अनुकूल स्थान उत्तरी यूरोप में नहीं हो सकता, क्योंकि प्राचीन काल में वहाँ जंगल ही जंगल थे। ऐसा उपर्युक्त स्थान उस देश के पूर्व में कार्पेथियन पर्वत, दक्षिण में बाल्कन, पश्चिम में आस्ट्रियन आल्प्स व बाहेमर बाल्ड तथा उत्तर में एर्जवर्ज व कार्पेथियन से मिलने वाले पर्वत हैं। उसका नाम आस्ट्रिया-हंगरी है। यही स्थान मानव का मूल स्थान हो सकता है।[३८] बहुत से विद्वान् उपरोक्त मत का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि आस्ट्रिया-हंगरी का प्रदेश मानव का उत्पत्ति के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं जान पड़ता। वहाँ से प्राप्त अन्य प्रमाण भी इसके लिए उपर्युक्त नहीं दिखते अतः वह प्रदेश मानव का आदिम निवास स्थान नहीं हो सकता।

श्री क्यूनो, जोबोरास्की प्रभृति विद्वानों के मतानुसार मानव का मूल स्थान उत्तर समुद्र से कास्पियन सागर तक फैल हुए विशाल मैदान में कहीं होना चाहिए। यह क्षेत्र तुलनात्मक भाषाशास्त्र आदि द्वारा प्राप्त आदि निवास स्थान सम्बन्धी सारी शर्तें वहाँ पूरी हो सकती हैं। पेंका, कोसिना आदि विद्वान स्केण्डिनेविहया (नार्वे व स्वीडन) को मानव आदिम निवास स्थान मानते हैं।[३९] कुछ विद्वान जर्मनी को

---

३६. Bal Gangadhar Tilak- Arcetic Home in the Vedas, pp. 15-16
३७. Child- The Aryans, pp. 78-79
३८. Cambridge History of India, pp. 66-69
३९. Child- The Aryans, pp. 138-158

मानव का आदिम निवास स्थान बताते हैं, क्योंकि यह स्थान प्रागऐतिहासिक काल की कुछ शर्तों को पूरा करता दिखता है।[४०] टेसिटस इस मत को स्वीकारते हैं। परन्तु इस मत के खण्डन में कहा जाता है कि जर्मनी में अभी भी घने जंगल हैं। प्राचीन काल में उस प्रदेश का अधिकांश भू-भाग निविड़ एवं घने जंगलों से ढका हुआ था। अत: वह स्थान इसके लिए सही नहीं जान पड़ता है। कोई-कोई विद्वान पोलैण्ड व यूक्रेन के प्रदेश को मानव का मूल स्थान मानते हैं।[४१] यह प्रदेश केण्टम व शर्न समुदाय की भाषाओं को विभाजित करने वाली रेखा पर स्थित है।

रूस के दक्षिणी मैदान हरे-भरे घासयुक्त है। कतिपय इतिहासकार इसे मानव का मूल स्थान मानते हैं।[४२] वहाँ खेती हो सकती है तथा अन्य संशोधन मौजूद हैं। उस स्थान में 'पोस्ट ग्लेशियल युग' के लोगों के अवशेष पाये गये हैं।[४३] यह मत भी सर्वमान्य नहीं हो सका। कुछ इतिहासकारों का मत है कि पोलैण्ड व कास्पियन सागर के मध्य कहीं मानव का मूल स्थान रहा होगा। विलियम ए. हावीलेण्ड ने कल्चरल एन्थ्रोपोलॉजी में उल्लेख किया है कि मानव का मूल स्थान दक्षिण और पूर्वी अफ्रीका है। प्रागइतिहास और विश्व-सभ्यता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में हिमालय की गगनचुम्बी शृंखलाओं से लेकर विशाल अफ्रीकी दरार घाटी तक के विराट् अर्द्धचन्द्र को सभ्यता की गोद बनने का सौभाग्य मिला था। प्रथम मानव का उदय भी सम्भवत: उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में हुआ। अभी तक उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार अफ्रीका महाद्वीप को आदिमानव का आदि क्षेत्र कहा जाता रहा है लेकिन इस संदर्भ में एशिया को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। बल्कि यह सबसे बड़ी चुनौती बनकर उभर रहा है।[४४]

कुछ पुरातत्त्वों का मत है कि मानव का मूल स्रोत मध्य एशिया था।[४५] लोकमान्य तिलक अपने एक ग्रन्थ में वेद सूक्तों के आधार पर मानव का घर आर्कटिक (उत्तरी ध्रुव) प्रदेश को बताते हैं, जहाँ दीर्घकालीन ऊषा और एक वर्ष का अहोरात्रि होता है। परन्तु भौगोलिक कारणों से तिलक का यह मत स्वयं

---

४०. Child- The Aryans, pp. 138-158
४१. Ibid
४२. Ibid, pp. 183-206
४३. Cambridge History of India, p. 69
४४. डॉ. गंगासागर तिवारी- विश्व सभ्यता का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ १७
४५. बाबू वृन्दावन दास- प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य, पृष्ठ ३३

खण्डित हो जाता है। विद्वानों ने इसे अमान्य कर कहा मानव का मूल स्थान हिमालय में है।[४६] इस विषय में आर्यों के प्रसिद्ध विद्वान खुरेशदजी रुस्तमजी ने मानव के मूल जन्म स्थान के बारे में निम्न उक्ति दी है- 'जहाँ सारी मनुष्य जाति संसार में फैली है, उस मूल स्थान का पता हिन्दुओं, पारसियों, यहूदियों और क्रिश्चियनों की धर्म पुस्तकों से इस प्रकार लगता है कि वह स्थान कहीं मध्य एशिया में था। यूरोप निवासियों की दन्तकथाओं में वर्णन है कि जहाँ आदि सृष्टि हुई वहाँ दस महीने सर्दी और दो महीने गर्मी रहती है। माउण्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन और बनरस आदि मुसाफिरों ने मध्य एशिया की मुसाफिरी करके बताया है कि हिन्दकुश पहाड़ों पर दस महीने सर्दी और दो महीने की गर्मी होती है। इससे ज्ञात होता है कि पारसी पुस्तकों में लिखा हुआ 'ईरानर्वज' नामक मूलस्थान, जो ३७° से ४०° अक्षांश उत्तर तथा ८६° से ९०° रेखांश पूर्व में है। निस्सन्देह वह मूलस्थान है। क्योंकि वह स्थान बहुत ऊँचाई पर है। उसके ऊपर से चारों ओर नदियाँ बहती हैं। इस स्थान के ईशान कोण में बलूर्ताग तथा मुसाताग पहाड़ हैं। ये पहाड़ अलबुर्ज के नाम से पारसियों की धर्म पुस्तकों और अन्य इतिहासों में लिखे हैं। बलूर्ताग से 'अमू' अथवा 'आवसस' और 'जेक गार्टस' नाम की नदियाँ 'अरत' सरोवर में होकर बहती हैं। इसी पहाड़ में से 'इल्डस' अथवा सिन्धु नदी दक्षिण की ओर बहती है। इसी ओर के पहाड़ों में से निकलकर बड़ी नदियाँ पूर्व तरफ चीन में और उत्तरी ओर साइबेरिया में भी प्रवाहित होती है। ऐसे रम्य और शान्त स्थान में पैदा हुए मनुष्य उस स्थान को स्वर्ग कहा करते थे।[४७]

इस व्याख्यान में समस्त मनुष्य जाति के पूर्वजों के उत्पत्ति स्थान का वर्णन करते हुए पारसियों के मूल स्थान 'ईरानर्वज' का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि वह हिन्दकुश पहाड़ ही हैं। हिन्दकुश काबुल के ऊपर हिमालय रेंज में ही स्थित है। इस तरह सच्चे आर्यों की प्रधान ईरानी शाखा ने भी मानव की उत्पत्ति हिमालय की ओर ही इशारा किया है। भारत के आधुनिक विद्वान् नाना पावगी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्मभूमि' नामक ग्रंथ में कहा है कि हिमालय ही हमारे और हमारे देवताओं का आदिकालिक जन्म स्थान है।[४८] इसी तरह बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् अविनाशचन्द्र दास अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ऋग्वेदिक इण्डिया में उल्लेख करते हैं कि वेदों में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों

---

४६. पं. रघुनन्दन शर्मा- वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ १९९

४७. वही, पृष्ठ २००

४८. नाना पावगी आर्यावर्तातील आर्यांची जन्मभूमि, पृष्ठ २७२

का वर्णन है, उस से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें कश्मीर और हिमालय के ऊँचे पहाड़ों पर से ही देखा था।[४९]

आर्यों की दोनों शाखाओं के विद्वानों के मतों से स्पष्ट होता है कि मानव की उत्पत्ति हिमलाय में ही हुई है। इस विषय में भारतीय वैदक शास्त्र भी एकमत हैं और एक स्वर से इसकी घोषणा करते हैं। महाभारत कहता है- संसार में पवित्र हिमालय प्रसिद्ध है। इसमें एक योजन चौड़ा और पाँच योजन घेरे वाला मेरू है, जहाँ पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहु आदि नदियाँ निकलती हैं। यहीं पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए।[५०] इन प्रमाणों में हिमालय के मेरु प्रदेश पर आदिसृष्टि होने का वर्णन है जहाँ पर प्रथम मानव पैदा हुआ। इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण हमको उस विषय के मिले हैं जिनसे हिमालय पर अमैथुनी सृष्टि के होने का निश्चय होता है। जिस मेरु स्थान का वर्णन मिलता है उसी के समीप ही 'देविका पश्चिमे पार्श्वे मानसं सिद्धसेवितम्' अर्थात् देविका के निकास के पश्चिम किनारे पर 'मानस' है। यह मानस अब एक झील के रूप में रूपान्तरित हो गया है। इसका मानस नाम मानसी अर्थात् अमैथुनी सृष्टि के कारण ही पड़ा है। वायु पुराण कहता है कि दक्षिण और मानस के ऊपर यम वैवस्वत मनु अपने यमपुर में बसते हैं।[५१] इसी को नूह बतलाया जाता है। और इन्हीं से समस्त मानव जाति की उत्पत्ति सिद्ध होती है। वैवस्वत मनु का स्थान भी मेरु और मानस के पास है। ऐसी स्थिति में मानव का मूल स्थान हिमालय का मानस

---

४९. On the other hand, it refers to the constellation of Ursa Majar which is the most prominent in the northren parts of India and particularly in the high tableland north of Kasmir and the peaks of the Himalaya from which the Vedic bard may have made his obserrations, it is not unnatural for him to describe it as placed high above the horizon.
- Rigvedic India, p. 376

५०. हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः।
अर्धयोजन विस्तारः पंचयोजन मायतः॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपवर्ततः।
तत सर्वा समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम॥
ऐरावती, वितस्ता च विशाला देविका कुहू।
प्रसूतिर्यज विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥ (महाभारत)

५१. दक्षिणेन पुनर्भेरोर्मानस्य च मुर्द्दनि।
वैवस्वतो निवसति यमः स यमने पुरे॥

ही जान पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण ने भी हिमालय पर ही मनु का अवसर्पण अर्थात् जल प्लावन का उल्लेख किया है।[५२] महाभारत वनपर्व में स्पष्टतः उल्लेख है कि 'अस्मिन हिमवनः श्रृंग्वे नावं बध्नीत मा चिरम' अर्थात् मनु ने इस हिमालय के शृंग में शीघ्रता से जल प्लावन कर नाव को बांधा। इसका निष्कर्ष है कि मनुष्य जाति के मूल पुरुष मनु वैवस्वत हिमालय पर ही रहते थे। वहीं उनका उद्‌गम एवं जल प्लावन हुआ। अतएव हिमालय ही मानव का मूल स्थान है।

भारतीय विद्वानों के अनुसार सर्वप्रथम जिस देश में मानव का प्रादुर्भाव हुआ या जिसे उनका मूल अभिजन कहना चाहिए, प्राचीन भारतीय साहित्य में उसका नाम 'देवलोक' बताया गया है। 'उत्तरो वै देवलोक .... उत्तरयैव देवलोकमवरुन्धे'[५३] अर्थात् उत्तर ही देवलोक है, उत्तर दिशा में ही देवलोक को सीमित करता हूँ। यह उत्तर दिग्विभाग का वही प्रदेश है जहाँ कैलाश मानसरोवर के आस-पास सात नदियों का उद्‌गम स्थान है। बाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में तथा महाभारत में कई स्थलों पर बिन्दुसर का तथा उससे निकलने वाली सात नदियों का उल्लेख हुआ है। मानवसरोवर का ही पूर्व अथवा ऊपर नाम बिन्दुसर प्रतीत होता है, इस प्रदेश के सात नदियाँ हैं- सिन्धु, सतलुज, सरस्वती, गंगा, यमुना, शारदा और ब्रह्मपुत्र। इन नदियों के उद्‌गम स्थानों की अधिक से अधिक दूरी वर्तमान काल में लगभग १५० मील के भीतर सीमित है। यदि सिन्धु से लेकर ब्रह्मपुत्र तक प्रत्येक नदी के उद्‌गम स्थान को छूते हुए एक रेखा खींची जाय तो उसकी आकृति घोड़े के नाल जैसी बन जायेगी। प्राचीनतम काल में वहाँ छोटा सा समुद्र अथवा पर्याप्त बड़ा सरोवर रहा होगा। भारतीय शास्त्रों में उसी का नाम बिन्दुसर या ब्रह्मसर मिलता है। वर्तमान काल में यही प्रदेश मानसरोवर और उसके आस-पास का क्षेत्र है। हिमालय के उतने प्रदेश में उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों के उद्‌गम स्थान हैं। अनन्तर काल में भौगोलिक उथल-पुथल के कारण उस प्रदेश की परिस्थिति में बड़ा भारी अन्तर आया। सरस्वती के प्रवाह की दिशा बदल गई और कुछ दूर चलकर वह गंगा में विलीन हो गई। इस प्रकार कैलाश-मानसरोवर के आसपास के क्षेत्र में ही मानव जाति का प्रादुर्भाव हुआ।[५४]

---

५२. तद्‌त्येतदुत्तरस्य गिरेः मनोरव सर्पणम।
– शतपथ, १/८/१६

५३. शतपथ, १२/६/३/७

५४. स्वामी विद्यानन्द सरस्वती- आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता, पृष्ठ १९२-१९३

हिमालय को आदिमानव का मूल स्थान करार देने पर अनेकों विश्लेषणों एवं विवेचनों का प्रादुर्भाव हुआ। कहा गया है कि आदि मानव के मूल स्थान के लिए सात कसौटियाँ है-

१. वह स्थान संसार भर में सबसे ऊँचा और पुराना हो।
२. उस स्थान में सर्दी और गर्मी जुड़ती हो।
३. उस स्थान में मनुष्य की प्रारम्भिक खुराक फल एवं अन्न मिलते हों।
४. उस जगह पर अब भी मूल पुरुषों के रंग-रूप के मनुष्य बसते हों।
५. उस स्थान के आस-पास ही सब रूप-रंगों के विकास और विस्तार की परिस्थिति हो।
६. उस स्थान का नाम सभी मनुष्य जातियों को स्मरण हो।
७. वह स्थान उच्च कोटि के देशी और विदेशी विद्वानों के अनुमान के बहुत विरुद्ध न हो।

उपर्युक्त सात कसौटियों में से पाँच वैज्ञानिक हैं, जो उस स्थान का लक्षण करती हैं और दो ऐतिहासिक हैं जो उक्त पाँचों को पुष्ट करती हैं। विद्वानों के अनुसार ये समस्त लक्षण एवं प्रमाण हिमालय पर ही घटते हैं। अत: हिमालय ही मानव का मूल स्थान है। इसका प्रमाण हिमालय से इस तरह मिलता है। हिमालय सबसे ऊँची और प्राचीन पर्वत श्रृंखला है। इसकी ऊँचाई ही इसका प्राचीनतम प्रमाण है। कथा है कि आरम्भ में समस्त पृथ्वी जलमग्न थी। उस जल से हिमालय उद्‌भुत हुआ। उसी भूमि में वनस्पति उत्पन्न हुई और उसी में मनुष्य उत्पन्न हुआ। हिमालय की ऊँचाई और मनुष्य सृष्टि के सिद्धान्त पर अमेरिका का प्रसिद्ध विद्वान् डेविस 'ओकन' की गवाही देकर कहता है कि हिमालय सबसे ऊँचा स्थान है, इसलिए मानव सृष्टि हिमालय पर ही हुई।[५५] हिमालय पर सर्दी और गर्मी दोनों मिलती है। वहाँ ये ही दो ऋतुएँ प्रधान हैं। इन प्रदेशों में दो तरह के बाल पाये जाते हैं। सर्द देश वालों के शरीर पर अधिक और गर्म देश वालों के शरीर पर कम बाल होते हैं। इसमें प्रमाण के आधार पर भेद हो सकता है, परन्तु लम्बे बाल वाले ठण्डे प्रदेश में एवं कम बाल वाले गर्मी प्रदेश के अनुकूल होते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि हिमालय ही मानव का मूल स्थान है।

---

५५. Deuis- Hormonia, Vol. V, p. 328

हिमालय पर फल, अन्न और घास आदि खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होते हैं। स्वभावतः मनुष्य का मूल आहार यही है। डाक्टर ई.आर. एलन्स तथा एल.आर. सी.पी. अपनी किताब 'मेडिकल ऐसे' में कहते हैं कि मनुष्य निस्सन्देह गर्म और मातदिल मुल्कों का रहने वाला है जहाँ कि अनाज और फल उसकी खुराक के लिए उग सकते हैं। इन्सान की खाल पर जो छोटे-छोटे रोम हैं उनसे साफ पता चलता है कि मनुष्य गर्म और मातदिल मुल्कों का निवासी है। छोटे रोम सर्द मुल्कों के रहने वाले मनुष्यों के नहीं होते। इससे मालूम होता है कि मनुष्य बर्फानी मुल्कों में रहने के लिए पैदा नहीं किया गया है। मशहूर सोशियालाजिस्ट कालचेंटर का कहना है कि मनुष्य मातदिल मुल्कों के रहने वाले हैं और कुदरती फल, अनाज की खुराक खाते हैं। अतः वही मुल्क स्वाभाविक निवास स्थान है, जहाँ ऐसी खुराक पैदा होती है। यहाँ का सबसे बड़ा प्रमाण है फासील्स का पाया जाना।[५६] 'मेनुअल ऑफ द जिओलॉजी ऑफ इण्डिया में इस तरह का उल्लेख मिलता हैं।'[५७] पृथ्वी पर ऐसा कोई स्थान नहीं है, जो हिमालय स्थित प्राणियों के फासील्स से अधिक पुराना चिह्न दे सके। ऐसी दशा में स्पष्ट प्रमाणित होता है कि हिमालय पर मनुष्य के पूर्व उत्पन्न होने वाले और उसके जीवन आधार वृक्ष और गाय आदि पशु पूर्वातिपूर्व काल में उत्पन्न हो गये थे। अतएव हिमालय आदि सृष्टि मानव उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखता है।

मूलपुरुष का रंग ऐसा होना चाहिए, जिसमें सभी रंग रूपों का मिश्रण हो। विश्व में चार मुख्य जातियाँ पायी जाती है-

१. श्वेत- इन्हें काकेशस कहते हैं। ये लम्बे आकार के होते हैं।

२. पीले- मंगोलियन जाति के। लम्बी आकृति, चपटी नाक इनका चिह्न है।

---

५६. And the most ancient form of life occurs near the eastern end of the hill.
- Manual of Geology of India, p. XXIV
Palaegoic Rocks of the Punjab salt' Ranges,

५७. The General facies of the faun, however. leaves no room for doubt that the beds of the Salt Range of the Punjab, are of Cambrian age, and consequently the oldest in India whose age can be determined with any approachs to certainty
- Manual of Geololy of India, p. 113

३. काले- काला रंग, मोटी आकृति नीग्रो।

४. लाल- यह जाति अमेरिका में ही मिलती है। ये रेड इण्डियन कहलाते हैं।

इन चारों के अलावा एक पाँचवी जाति है- जो भारतीयों की है।[५८] इस जाति में उपर्युक्त चारों जाति का मिश्रण है। ये सभी विशेषताएँ भारतीयों में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। कश्मीर के निवासियों में ये गुण दृष्टिगोचर होते हैं। अत: मानव का मूल स्थान हिमालय कहना अत्यन्त स्वाभाविक जान पड़ता है। बंगाल के प्रसिद्ध पुरातत्त्व विशारद बाबू अविनाश चन्द्र दास ऋग्वेदिक इण्डिया में लिखते हैं कि आर्यों का आदि जन्मस्थान कश्मीर ही है।[५९] एक बहुत बड़े भाषाशास्त्री की साक्षी से टेलर महोदय कहते हैं कि मनुष्य जाति की जन्मभूमि स्वर्गतुल्य कश्मीर ही है।[६०]

हिमालय के आसपास समस्त रंगरूपों के विकास की परिस्थितियाँ विनिर्मित हैं। भारत देश की संरचना एवं बनावट ऐसी है जहाँ नित्य छहों ऋतुएँ विद्यमान रहती हैं। इसी देश में सब रंग रूप के आदमी निवास करते हैं। ये संकर नहीं हैं बल्कि इनकी मौलिकता है। जहाँ पर आदिमानव की सारी परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर होती है-

१. भारतीय जाति में चारों रंगों के लोगों का पाया जाना।

२. भारतीय जातियों में चारों जातियों के शारीरिक गठन का मिलना। जैसे ऊँची, दबी, गोल, लम्बी, मस्तकाकृत। उठी या चपटी नाक। लम्बी, ठिगनी, पतली, मोटी शरीरस्कृति तथा इकहरा या दुहरी अस्थि गठन की आकृतियाँ।

३. मनुष्यों में चार ही प्रकार का रक्त भी पाया जाता है और भारतीयों में चारों प्रकार के रक्त के मनुष्य मिलते हैं।

---

५८. डॉ. मंदाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पृष्ठ १

५९. That this beautiful mountainous country (Kasmir) and the plains of Saptasindhu were the cradle of the Aryan race.
- Rigvedic India, p. 55

६०. Adelung the father of comparative philogy and leader in 1806, placed the cradle of mankind in the valley of Kashmir, which he identified with paradise.
-Tailor's Origin of the Aryans, p. 9

४. भारतीय लोगों में काले सीधे, काले घुँघराले, सुनहरे, भूरे केशों का पाया जाना।[६१]

ये सारी विशेषताएँ भारत के समीप हिमालय के निवासियों में पायी जाती है, जिससे सिद्ध होता है कि मानव हिमालय में जन्म लिया और भारत में आकर बस गया। गढ़वाल के दक्षिण में शिवालिक (सपादलक्ष) के पर्वत गर्तों में सन् १९१० में सत्ताईस हजार वर्ष के 'शिवे पिथेक्स' और 'पेलिओ पिथेक्स' नामक मनुष्यवत बन्दरों के प्राचीन अस्थि पिंजर प्राप्त हुए हैं, ये पुरातत्त्वान्वेषियों के निष्कर्षानुसार आदि मानव से सम्बन्धित हैं। भारतीय वैज्ञानिक विनायकराव ने सन् १९१० में जो जीवाश्म प्राप्त किये हैं, उन्हें सन् १९६३ में जीव वैज्ञानिक साइमन ने प्रथम मानव के नाम से 'रामा पिथेक्स' नाम दिया है। विद्वानों का अनुमान है कि वे एक करोड़ वर्ष पूर्व आदि मनुष्य की उत्पत्ति के आदि अवशेष हैं। भूगर्भशास्त्री लैम्पवर्थ लिखते हैं कि शिवालिक गर्तों में तृतीय युग की तृतीय श्रेणी की चट्टानें हैं जिनकी रचना नदियों से हुई हैं। हिमालय से आने वाली नदियों ने वहाँ से उन्हें यहाँ तक लाकर एकत्र किया है। शिवालिक के इन्हीं पर्वत गर्तों में भारत सरकार द्वारा नियुक्त मेडलीकॅट, ब्लैन्फर्ड और लैम्पवर्थ आदि विश्व प्रसिद्ध भूगर्भविशेषज्ञों को विश्व में मानव-जीवन के सबसे प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। उनके मतानुसार पंजाब के पूर्वी छोर कुमाऊँ के उत्तर में जीवन के अत्यन्त प्राचीन चिह्न पर्याप्त परिमाण में मिले हैं।[६२]

नाइजीरिया के भू-भौतिकी विज्ञान के प्राध्यापक एल.वी. हौलस्टीड के कथनानुसार मानव जीवन का उद्गम हिमालय की शिवालिक पहाड़ियों में हुआ है। उन्होंने बताया है कि यद्यपि भारत में मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था की एक भी अस्थि नहीं मिली किन्तु निश्चित रूप से ऐसी अस्थियाँ भारत में हैं और किसी न किसी दिन अवश्य मिलेंगी। प्रो. हौलस्टीड को शिवालिक पहाड़ियों की यात्रा में अब तक मनुष्यों के सर्वाधिक जीवाश्म मिले हैं। उनके मतानुसार मानव विकास के द्वितीय चरण का मनुष्य-प्रतिनिधि जावा या चीन में पाया गया है, किन्तु इसका उद्गम स्थल भारत ही रहा है।[६३] भूमण्डल के कुछ भागों में केम्ब्रियन युग की चट्टानें मिली हैं, परन्तु मेडिलीकट, ब्लैन्फर्ड, डॉ. आल्ढेम और डॉ. नाइटलिंग

---

६१. डॉ. मंदाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पृष्ठ २

६२. मेडलीकॅट- पूर्वोक्त, पृष्ठ २५

६३. हिन्दुस्तान (दैनिक) दिल्ली, १० जनवरी १९७३

आदि भूगर्भशास्त्रियों को पंजाब स्थित नमक के पहाड़ों में तथा उसके पूर्व की चट्टानों में जो प्राचीन 'फासिल्स' प्राप्त हुए हैं वे पूर्व केम्ब्रियन युग के हैं अर्थात् उन्होंने भूमण्डल में जीवन का सबसे अधिक प्राचीन अस्तित्व आर्यावर्त के इस भूभाग में पाया है। अतः यह मत लोकमान्य तिलक की इस मान्यता को अस्वीकार करके आदि मानव की उत्पत्ति आर्यावर्त में सिद्ध करता है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अनुसार हिमालय के सप्तसिन्धु में ही सर्वप्रथम मानव सृष्टि हुई। मध्य हिमालय को मानव का मूल निवास स्थान स्वीकार करने सम्बन्धी पार्जिटर महोदय के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार मध्य हिमालय ही भारतीयों के लिए सदैव पवित्रतम रहा है, पश्चिमोत्तर सीमान्त नहीं। यहीं पर मानव का जन्म हुआ। महर्षि दयानन्द सुमेरु कैलाश के निकट त्रिविष्टय (तिब्बत) को मानव की जन्मभूमि मानते हैं। प्रोफेसर बैनेफे इससे सहमत हैं। वे कहते हैं 'दिव्य हिमालय भूमि में मनुष्य का आविर्भाव हुआ फिर वे गढ़वाल कुमाऊँ की उपत्यकाओं में निवास करने लगे।' हर्नले और प्रो. बेकर ने इसका समर्थन किया है। एटकिन्सन ने अपने 'हिमालयन डिस्टीक्ट्स' में ऋग्वैदिक गढ़वाल का महत्त्व स्वीकार किया है। अलबरुनी ने भी हिमालय की ओर संकेत किया है। मध्य एशियावाद के समर्थक मैकडोनाल्ड भी 'इंडिया: व्हाट इट कैन टीच अस' के अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि आयावर्त का प्राचीन देश ही मानव के मूल जाति का उत्पत्ति स्थान है। भारत भूमि ही मानव जाति की माता और विश्व की समस्त परम्पराओं का उद्गम स्थल है। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि पृथ्वी के शीतल एवं जीवन के पोषण योग्य हो जाने के पश्चात् सर्वप्रथम मध्य हिमालय के इस समशीतोष्ण शिवालिक पर्वत क्षेत्र में प्रवाहित सरस्वती का तटवर्ती क्षेत्र, जिसका ऋग्वेद में सबसे अधिक स्तवन है मानव जीवन का उत्पत्ति स्थल है।

हिमालय की पर्वतमाला में मानव की उत्पत्ति भूगर्भशास्त्रियों ने भी दोहरायी है। सर वाल्टर रेले 'हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड' में उल्लेख करते हैं कि जलप्रलय के अनन्तर भारत वर्ष में ही मनुष्य, वृक्ष और लताओं की उत्पत्ति हुई। क्योंकि पुरातत्त्वविदों के कथनानुसार मानवों से पूर्व वनस्पति की उत्पत्ति निश्चित है और हल्के तापमान वाले देश में उसकी सर्वप्रथम सृष्टि सम्भव है। कर्नल टाड ने 'एनेल्स ऑफ राजस्थान' में लिखा है कि आयावर्त के अतिरिक्त अन्य किसी देश में मानव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

बाइबिल में लिखा है कि मानव सृष्टि का प्रारम्भ एशिया में हुआ। मध्य

एशिया ही आदि सृष्टि के लिए उपर्युक्त स्थान है।[६४] मध्य एशिया का यह स्थान और कुछ नहीं हिमालय ही है। प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आदि मानव का जन्म भारत के उत्तराखण्ड अर्थात् ब्रह्मावर्त में हुआ।[६५] इब्ने अली हातिम ने इस सत्य को शब्द देते हुए कहा है कि- हिन्दू की घाटी में आदम बहिश्त से उतरा था।[६६] इतिहासवेत्ता ए.एल. बाशम के मतानुसार- ईसा से एक लाख वर्ष से भी अधिक पहले मानव ने पहली बार अपने जीवन के प्रथम चिह्न भारत में छोड़े।[६७] भारतीय जातियों पर शोध करने वाले नृतत्त्वविज्ञानी श्री नैसफील्ड लिखते हैं कि भारत में बाहर से आए आर्य विजेता और मूल आदिम मानव जैसा कोई विभाजन नहीं है। ये विभाग सर्वथा आधुनिक है। वस्तुतः मानव इसी पावन धरा पर पैदा हुआ। मूल मानव जाति ने उत्तराखण्ड से नीचे की भूमि में वनों को काटकर, जलाकर उन्हें रहने योग्य बनाया। वहाँ नगर बसाये। इससे पूर्व वहाँ कोई नहीं रहता था। इस प्रकार मूल निवासी के रूप में मानव की उत्पत्ति हिमालय के उत्तराखण्ड क्षेत्र में हुई।[६८]

नृतत्त्वविज्ञान से लेकर चिरपुरातन इतिहास का व्यापक सर्वेक्षण एक ही तथ्य प्रमाणित करता है कि हिमालय में ही आदिकालीन मानव का जन्म हुआ। आचार्य श्रीराम शर्मा के शब्दों में कहें तो वस्तुतः प्रथम मानव इस क्षेत्र में अर्थात् भारत वर्ष में जन्मा।[६९] इस आदिमानव ने कालक्रम में अपने व्यक्तित्व का बहुआयामी विकास किया। इसी की सन्तति 'आर्य' के नाम से समूचे विश्व में जानी गयी।

---

६४. Child- The Aryans, p. 94

६५. डॉ. मंदाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पृष्ठ २

६६. सैयद महमूद- हिन्दु मुस्लिम कल्चरल एकार्ड, पृष्ठ १८

६७. More than 1,00,000 year before christ that man first left surviving trace in India.
- A.L.Basham, The wonder that was India, p.10

६८. आचार्य श्रीराम शर्मा वाङ्मय, समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, खण्ड ३५, पृष्ठ १.११४

६९. आचार्य श्रीराम शर्मा, सृष्टि का प्रथम मानव आर्यावर्त में जन्मा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृष्ठ ७

'आर्य' की अवधारणा

संस्कृत में आर्य का प्रमुख अर्थ है श्रेष्ठ पवित्र-विकसित मन, विशाल हृदय व आध्यात्मिक मूल्यों से सम्पन्न लोग। वैदिक संस्कृति में यही आर्य का अभिप्राय है।[७०] आर्यन आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्पन्न ऋषियों के शासन पर आधारित संस्कृति है। इस सन्दर्भ में प्रत्येक आध्यात्मिकता सम्पन्न आर्य है व गैर आध्यात्मिक अनार्य। १९वीं सदी में यूरोप के विद्वानों ने आर्य की पुनर्परिभाषा की और इसका उपयोग कुछ श्रेष्ठ व आदिवासी यूरोपीय व इण्डोइरानी लोगों के लिए किया गया। इस प्रकार बहुत दिन तक लोग समझते रहे कि सारे आर्य एक ही नस्ल के हैं। यह अवधारणा उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित रही और नाज़ी जर्मनी में हिटलर के आधिपत्य के समय १९३३ के बाद कई वर्षों तक यहूदी-विरोधी अभियान के कारण और जर्मन जाति को विशुद्ध आर्य नस्ल घोषित करने की वजह से चरम सीमा पर पहुँच गयी। नार्डिक व जर्मन लोगों ने स्वयं को शुद्धतम आर्य के रूप में माना।[७१] नाज़ियों ने लगातार यह प्रचार जारी रखा कि जर्मन जाति का स्थान आर्यों में सबसे ऊँचा है और इसलिए उन्हें विश्व में अपना आधिपत्य जमाना है। परन्तु जिन शोधकर्त्ताओं ने आर्य समस्या का गहरा अध्ययन किया है वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक भाषा बोलने वालों का एक वेश, परिवार या नस्ल का होना आवश्यक नहीं है। अब आर्य भाषा के स्थान पर अधिकांश विद्वान आद्य (प्रोटो) हिन्दु-यूरोपीयन भाषा की बात करते हैं। अतएव जलवायु कारणों से आर्यों को केवल एक नस्ल के रूप में स्थापित करना उचित नहीं होगा।

आर्य शब्द कई यूरोपीय भाषाओं में पाया जाता है, किन्तु अधिकांश में यह नहीं मिलता। ओ.सेमरेती[७२] नामक एक विद्वान् ने आर्य शब्द सम्बन्धित सारी दलीलों को ठीक से एकत्रित व संग्रहित करके यह निष्कर्ष निकाला है कि यह शब्द भारतीय नहीं है बल्कि पश्चिम एशिया की किसी भाषा से उधार लिया गया है और उसका अर्थ सजात अथवा साथी होता है।[७३] हो सकता है कि प्राचीन हिन्द यूरोपीय भाषा में यह शब्द अपना लिया गया और बाद में इसकी व्याख्या के लिए व्याकरण में नियम बनाए गए। आर्य शब्द होमर के महाकाव्यों में अर्थात् 'इलियट'

---

७०. David Frawley- God, sages and kings, Vedic Secrets of Ancient Civilization, pp. 244-245

७१. Encyclopedia Britanica, Vol VI, p. 611

७२. J.P. Mellary- In search of Indo Europian Ianguage. p. 274

७३. Ibid, p. 276

और 'ओडिसी' में जिनका समय ८वीं सदी ई.पू. रखा गया है, नहीं पाया जाता है। ऋग्वेद और अवेस्ता दोनों प्राचीनतम ग्रंथों में यह शब्द मिलता है। ईरान शब्द का सम्बन्ध 'आर्य' शब्द से है। हिन्द आर्यों और ईरानी आर्यों के आधिपत्य में रहने के कारण पश्चिमी अफगानिस्तान के एक प्रदेश का नाम ओइया अथवा हरैवा पड़ा।[७४] छठीं सदी ई.पू. के फारस के राजा दारायवूस ने अपने को आर्य बतलाया है। ऋग्वेद में आर्य शब्द से सांस्कृतिक समुदाय का बोध होता है। भाषाविद मैक्समूलर ने इसे १९०० ई. में आर्य इण्डोयूरोपीयन के भाषा समुदाय को दिया गया नाम बताया है।[७५] परन्तु इससे अधिक सार्थक उसमें लगता है जिसमें आर्य भाषाभाषी और ईरान भाषाभाषी दोनों अपने को आर्य बतलाते थे। अवेस्ता में आर्यों के एक देश की चर्चा है जहाँ से जरथुस्त्र का धर्म फैला था। सम्भवत: यह पुराना ईरानी क्षेत्र आर्याजनावाएजह था जो पूर्वी अफगानिस्तान में फैला था। ईरान और भारतवर्ष को छोड़कर प्राचीनकाल में आर्य शब्द सम्भव: प्राचीन तुर्क अथवा अनातोलिया की हत्ती भाषा में पाया जाता है जहाँ इसका अर्थ भाई-बन्धु अथवा मित्र होता है। कुछ विद्वान प्राचीन आयरलैण्ड के नाम से भी आर्य शब्द का सम्बन्ध ढूँढते हैं। जर्मन-भाषा में आर्य शब्द का सजातीय रूप मिलता है परन्तु और भाषा में नहीं।

यद्यपि घोड़े और रथ वाले का हिन्द यूरोपीय समाज में दबदबा एवं प्रभाव रहता था, परन्तु यह समझना गलत होगा कि आर्य शब्द से बराबर स्वामी अथवा अभिजात वर्ग के सदस्य का बोध होता है। फीनलैण्ड की भाषा में इस शब्द का अर्थ गुलाम होता है और उसके लिए 'ओर्ज' शब्द प्रचलित था। जिस प्रकार दास समुदाय पर आधिपत्य जमाने के बाद आर्यों ने दास शब्द का प्रयोग गुलाम के अर्थ में किया उसी प्रकार अपने पड़ोसी आर्यों अथवा हिन्दू यूरोपीयों को जीतने के पश्चात् फीनलैण्ड वालों ने ओर्ज शब्द का प्रयोग अपनी भाषा में गुलाम अर्थ में किया।

ऋग्वेदिक काल में इन्द्र की पूजा करने वाले आर्य कहलाते थे। जब ऋग्वेद आर्यों और दासों अथवा आर्यों और दस्युओं के बीच संघर्ष का उल्लेख करता है तो उसमें एक को देशी और दूसरे को विदेशी मानने की भावना नहीं दिखती है। संघर्ष दो संस्कृति-समुदायों के मध्य होता है। जिसमें एक व्रत का पालन करते

---

७४. पुनरुत्थानवादी प्रकृति के कारण अफगानिस्तान ने एशियाना एयरवेज नामक विमान सेवा चलायी।

७५. Encyclopedia Americana, Vol. II, p. 425

हैं और दूसरे अव्रत हैं। उस समय भारत के एक देश होने की कल्पना नहीं की गई है। इसलिए किसी देशी अथवा विदेशी होने का प्रश्न नहीं उठता है। संस्कृतियों और जीवन शैलियों के बीच होने वाले संघर्ष का संकेत केवल भारत वर्ष में ही नहीं मिलता है बल्कि ईरान में भी मिलता है। अवेस्ता के गाथा भाग से जो उसका प्राचीनतम अंश माना जाता है, पता चलता है कि ईरान में संघर्ष ईरानियों और विदेशियों के बीच नहीं होता था बल्कि जरथुस्त्र की शिक्षा को मानने वालों और नहीं मानने वालों के बीच होता था।

यदि शरीर के रंग को पहचान का आधार माना जाये तो ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के अनुसार आर्यों की अपनी अलग जाति बनती है। वे जिन लोगों से लड़ते थे उनको काले रंग का बतलाया गया है। आर्यों को मानुषी प्रजा कहा गया है जो कि वैश्वानर की पूजा करते थे और कभी-कभी काले लोगों के घर में आग लगा देते थे।[७६] आर्यों के देवता सोम के विषय में कहा गया है कि वह काले लोगों की हत्या करता था।[७७] यह भी कहा गया है कि वह काली त्वचा वाले (त्वचमसिक्रिम) राक्षसों से लड़ता था।[७८] और उसने पचास हजार कृष्ण (काले) लोगों को मारा[७९] तथा असुर के काले चमड़े को उधेड़[८०] डाला। इस प्रकार के उद्धरणों से पता चलता है कि आर्यों की परिकल्पना नस्ल के रूप में की जाती थी।

परन्तु संस्कृत के विद्वान एच. डब्ल्यू वेली ने बतलाया है कि ऋग्वेद के सभी उद्धरणों में आर्य शब्द का अर्थ नस्ल या जाति के रूप में नहीं किया जा सकता है। यह शब्द 'अर्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है।[८१] ईरानी उद्धरणों में आर्य का अर्थ स्वामी अथवा अभिजात होता है और ऋग्वेद के अनेक उद्धरणों में यह अर्थ स्पष्ट होता है अतएव ऋग्वेद की ऋचाओं में वैदिक जनों के जिन नेताओं का आर्य कहकर गुणगान किया गया है वे या तो समृद्ध थे या अभिजात थे। स्पष्टतः पशु प्रधान समाज में उनकी समृद्धि पशुधन के कारण होती होगी, जिसके जमा करने और सुरक्षित रखने में घोड़े एवं रथ का हाथ होगा।

---

७६. ऋग्वेद, ७/५/२-३
७७. वही, ९/४१/१-३
७८. वही, ९/७३/५
७९. वही, १६/१३
८०. वही, १/१३०/८
८१. H.W.Belly- Iranian Arya and theh, pp. 71-83

यद्यपि आर्यों और दासों के मध्य निरन्तर संघर्ष होने का उल्लेख है। लेकिन ऐसा लगता है कि भारत वर्ष में दास समुदाय के लोग भी बाहर से आये थे। ध्यान योग्य है कि यद्यपि आर्यों का संघर्ष दास और दस्यु दोनों से हुआ ऋग्वेद में दस्युहत्या का जिक्र बारम्बार हुआ है। परन्तु दास हत्या का वर्णन नहीं है। दस्युओं को कई जगह आर्य संस्कृति विरोधी विशेषणों से विभूषित किया गया है, परन्तु दासों के विषय में यह बात नहीं की गई है।[८२] ऐसा आभास होता है कि दास नामक समुदाय ईरान में भी रहता था और यूनान में भ्री निवास करता था। इन दोनों देशों में दास के लिए जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे ध्वनि और वर्तनी की दृष्टि से दास के निकटवर्ती शब्द हैं। दास के लिए यूनान में डुलोस शब्द का प्रयोग हुआ है और ईरान में ढाह शब्द का।[८३] दासों से आर्यों की उतनी भयंकर शत्रुता ऋग्वेद में नहीं बतलाई गयी है जैसी दस्युओं से। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दास आर्यों की प्राक्-वैदिक टोली थी जो अफगानिस्तान होते हुए भारत वर्ष में आकर जहाँ-तहाँ उत्तर पश्चिम भाग में बस गयी और जब बाद में वैदिक आर्य आये तो स्थानीय पुराने निवासियों के नाते उनका प्रतिरोध करने लगी। ऐसा लगता है कि दासों को हराने के बाद दो वर्णों की अवधारणा प्रस्तुत की गयी- आर्य वर्ण और दास वर्ण, परन्तु वर्ण शब्द से किसी रंगभेद का संकेत नहीं मिलता है। अत्यधिक महत्त्व का विषय यह है कि ऋग्वेद में बारम्बार दस्यु हत्या का उल्लेख है परन्तु दस्यु को वर्ण की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। पाणि के वर्णन से बोध होता है कि वे समृद्ध और शहरी थे, यद्यपि जब-तब वे आर्यों की गाएँ भी चुराते थे। दस्यु और आर्य में भाषा का अन्तर नहीं दिखाई देता है। दस्यु को ऋग्वेद में मृध्रवाक कहा गया है।[८४] इससे विरोधी भाषा या अनुचित भाषा बोलने वालों का अभिप्राय बनता है। भाषा समझ में नहीं आती, मृध्रवाक का ऐसा अर्थ नहीं लगाया जाता है।

जहाँ तहाँ दस्यु के पास घोड़े होने की चर्चा है। दस्यु के पास सत्ता थी उसका भी संकेत मिलता है। ऋग्वेद बतलाता है कि दस्युओं को आर्यों का स्थान मिला हुआ था परन्तु इन्द्र ने दस्युओं से वह स्थान छीन लिया। वैदिक संस्कृति में बहुत स्थान पर आर्यों को बड़ा व्यक्ति माना जाता है। जो आर्य जनसाधारण की कोटि के होते थे उन्हें 'अर्य' कहा जाता था और जो उच्च कोटि के होते थे

---

८२. R.S. Sharma- Sudras in Ancient India, pp. 25-26
८३. H.W. Belly- Iranian Arya and theh, pp. 109-113
८४. ऋग्वेद, ५/२९/११

वे 'आर्य' कहलाते थे। आर्यों की पहचान ऋग्वेद में इस बात से होती थी कि वे व्रत का पालन करते थे, यज्ञ करते थे, घोड़े और घोड़े वाले रथ का प्रयोग करते थे। इससे ठीक विपरीत दस्युओं को जिनसे आर्यों का सतत् संघर्ष चल रहा था, अव्रत और अपव्रत[८५] कहा गया है। दस्यु को 'अयवज्वन'[८६] अर्थात् यज्ञ नहीं करने वाला बतलाया गया है। दस्यु यज्ञ नहीं करते थे। यज्ञ नहीं करने के कारण उन्हें 'अक्रतुन'[८७] कहा गया है। वे अन्य प्रकार का अनुष्ठान करते थे इसलिए उन्हें 'अन्यव्रत'[८८] कहा गया है। उनके प्रति इतनी घृणा थी कि वे मनुष्य के कोटि में नहीं रखे जाते थे। ऋग्वेद में कीकटों के बारे में वर्णन मिलता है कि उन्हें गोपालन की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे न गाय के दूध का प्रयोग करते हैं और न वे इसे यज्ञ के काम में लाते हैं। कीकट पूर्व दिशा में रहते थे। जहाँ भी वे रहते हों, कीकटों को आर्यों से अलग बतलाने के लिए यह बात कही गई थी। अतएव आर्यों को एक बड़ा जन समुदाय समझना चाहिए, जिसमें भाषा, संस्कृति और पशुधारी जीवन शैली के बंधन अवश्य थे, परन्तु उस समुदाय में विभिन्न वंश और कबीलों के लोग रहते थे।

ऋग्वेद में वर्णित सुविख्यात दशराज युद्ध से आर्य समुदाय के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। इस युद्ध में राजाओं ने भाग लिया था। परन्तु ऐसा नहीं कि एक तरफ सभी राजा आर्य थे और दूसरी ओर अनार्य। इस युद्ध में लड़ने वाले प्रत्येक दल में आर्य और अनार्य दोनों ही सम्मिलित थे। ऐसा उन राजाओं के नाम को देखने से पता चलता है। राजाओं के कुछ नाम संस्कृत भाषा में हैं और कुछ अन्य भाषा में। बाद में धीरे-धीरे आर्य का प्रयोग कई प्रकार के लोगों के लिए किया जाने लगा। परन्तु प्रधानतः ऐसे लोग दो कोटियों में रखे जा सकते हैं। संस्कृत साहित्य में आर्य उनको कहा जाता था, जो सम्मानित, आदरणीय अथवा उच्च पदस्थ थे। उच्च वंश के लोग भी आर्य माने जाते थे। उत्तर वैदिक और वैदिकोत्तर साहित्य में आर्य से ऊपर के उन तीन वर्णों का बोध होता था जो द्विज के नाम से जाने जाते थे। शूद्रों को आर्य की कोटि में नहीं रखा जाता था। यह ब्राह्मणवादी अवधारणा प्राचीन भारत में चलती रही। आर्य को स्वतंत्र समझा जाता था और शुद्र को परतंत्र। कौटिल्य के अनुसार आर्यप्राण शुद्र को दास नहीं बनाया जा सकता

---

८५. R.S. Shrama- Sudras in ancient India, p. 14

८६. ऋग्वेद, ७/६/३

८७. वही,

८८. ऋग्वेद, ८/७०/११, १०/२२/८

था क्योंकि उसमें आर्यत्वम अर्थात् आर्योचित संस्कार हैं। इस सन्दर्भ में आर्यत्वम से एक प्रकार की नागरिक स्वतंत्रता का बोध होता है। इसका अर्थ ऐसे स्वतंत्र शूद्रों से था जो आर्य की संतान थे। हालाँकि शूद्रों की संख्या गुप्तकाल तक अधिक नहीं थी लेकिन बाद में संख्या बढ़ने पर भी ब्राह्मण एवं अन्य उच्च वर्ग के लोग उन्हें आर्य की पंक्ति में नहीं रखते थे।

वैदिक साहित्य में आर्य शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इसका भी अर्थ सम्मानित और आदरणीय होता है। परन्तु इस पद का प्रयोग वैदिक साहित्य में वैश्य के लिए किया जाता था। ऐसे अर्य और आर्य दोनों का अर्थ स्वामी भी होता है। साधारणतः सुसंस्कृत लोगों को आर्य समझा जाता था। संस्कृत नाटकों में राजा, मंत्री, सेनापति जैसे उच्च पदाधिकारियों को आर्य कहकर सम्बोधित करने की प्रथा थी। आर्य शब्द से बड़े एवं अच्छे होने का ही बोध नहीं होता था बल्कि मानव के क्रियाकलापों और सिद्धान्तों को भी आर्योचित समझा जाता था। प्राचीनतम पाली साहित्य में, जिसका समय ४०० ई. पूर्व हो सकता है, गौतमबुद्ध ने चार प्रकार के अरिय सच्चानि का निरूपण किया है- १. संसार में दुःख है, २. दुःख का कारण है, ३. कारण का निदान है और ४. यह निदान अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण से सम्भव हो सकता है। यह सन्दर्भ बतलाता है कि बौद्ध दर्शन में आर्य की अवधारणा किसी जाति विशेष के चरित्र पर आश्रित नहीं थी बल्कि इसके द्वारा ज्ञान और अज्ञान के बीच अन्तर किया जाता था। आर्य का अलग आचरण और व्यवहार होता था जिससे उसके आर्यत्व की पहचान होती थी। क्रूर एवं वीभत्स व्यवहार से मनुष्य चाण्डाल समझा जाता था। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणवाद के प्रभाव के कारण बाद में जो वर्ण व्यवस्था चल पड़ी उसमें समाज के थोड़े से ही लोग आर्य समझे जाने लगे और अधिकांश लोग इस कोटि के बाहर रखे गये। आर्य जिस क्षेत्र में बसते थे उसे उनकी आवर्त अर्थात् आर्यावर्त कहा जाता था।

आर्यों का आदि देश

आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में भी अधिकतर इतिहासकारों का यही दृष्टिकोण रहा है। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक वस्तुस्थिति को पाश्चात्य इतिहासकारों तथा उनके मानसपुत्रों ने तोड़-मरोड़ कर अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी उनमें से कुछ इतिहासकारों के अनुसंधान, अध्ययन और मनन की गम्भीरता स्तुत्य है, परन्तु अपूर्ण मानव से, संसार के समस्त देशों-प्रदेशों की प्राचीन और अर्वाचीन भौगोलिक एवं सामाजिक स्थिति के सम्पूर्ण ज्ञान की आशा असम्भव

है। विशेषकर जब सब इतिहासविद् हिमालय के इस अलक्ष्य पर्वत प्रदेश से प्राय: अपरिचित ही रहे हैं, उनसे उसके सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण सामग्री की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। यही कारण है कि इस प्रदेश की भौगोलिक एवं सामाजिक अवस्था, वैदिक आर्यों की वस्तुस्थिति से कहाँ तक मेल खाती है, उसका गवेषणापूर्ण उल्लेख वर्तमान इतिहासविदों के इतिहास में अप्राप्य हैं।

सन् १८७६ के आसपास एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के संस्थापक सर विलियम जौन्स संस्कृत साहित्य के अध्ययन-मनन के पश्चात् मातृ (अंग्रेजी-मदर, फारसी-मादर), पितृ (अं.- फादर, फा.- पिदर) आदि कुछ संस्कृत शब्दों के मौलिक तत्त्वों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन भाषा-शब्दों के बालने वालों के पूर्वज सजातीय थे और मूलत: एक ही स्थान पर रहते थे। भाषा शब्दों के इस वैज्ञानिक विश्लेषण से भारतीय एवं विदेशी भाषाविदों द्वारा अनेक मतों का आविर्भाव हुआ। यह सूर्य के प्रकाश के समान सत्य एवं स्पष्ट है कि वेद और उसके इन भाषा शब्दों की विरासत भारतवासियों को ही प्राप्त रही है। वेदों के आदिकाल से उसके उत्तराधिकारी, संरक्षक और हित चिन्तक मूलत: भारतीय आर्य ही थे और आज भी वही हैं। वेदों की इस धरोहर की इतनी आत्मीयता एवं श्रद्धापूर्वक सुरक्षित रखने का संसार का कोई देश दावा नहीं कर सकता। फिर भी अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं से पीड़ित कुछ पाश्चात्य इतिहासकारों का मत है कि यूरोप में यूराल पर्वत से उत्तरी जर्मनी होते हुए अंधमहासागर तक फैला हुआ मैदान आर्यों का आदि देश था। कुछ इतिहासविद् मध्य एशिया में कास्पियन सागर के आसपास आर्य जाति का मूल स्थान मानते हैं। प्राय: अधिकांश यूरोपीय इतिहासकार इस मत के समर्थक हैं। लोकमान्य तिलक ने 'अवर आर्कटिक होम इन दि वेदाज' में बताया है कि आर्य उत्तरी ध्रुव में रहते थे, वहाँ से भयंकर हिमपात के कारण वे इस भूभाग को छोड़कर अन्यत्र चले गये। श्रीनारायण पावगी ने 'फ्राम दि क्रेडल टु दी कौलीनीज' में आर्यों का सप्तसिन्धु से उत्तरी ध्रुव में जाने का उल्लेख किया है। महर्षि दयानन्द सुमेरु कैलाश के निकट त्रिविष्टप (तिब्बत) को आर्यों की जन्मभूमि मानते हैं। उनके कथनानुसार त्रिविष्टप में मनुष्य की आदि सृष्टि हुई और आर्य लोग, सृष्टि के आदि में कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सीधे इसी देश में आकर बसे थे।[८९] प्रोफेसर बेनफे इससे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि आर्य कुछ समय तिब्बत में रहे। फिर वे भारत आये। हर्नले और प्रो. बेबर

---

८९. त्रिविष्टप- वर्तमान तिब्बत नहीं वरन् (महा. स्वर्गा. के अनुसार त्रिविष्टप स्वर्ग) त्रिविष्टप उस स्वर्ग राज्य का नाम था जहाँ गंगा नदी बहती है।

ने भी इसका समर्थन किया है। पार्जीटर[१०] ने भी विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करते हुए कहा है कि समग्र रूप से आर्य लोग भारत के उत्तर पश्चिम मार्ग से न आकर मध्य हिमालय के मार्ग से आए।

दिल्ली में हिमालय भू विज्ञान का अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन भी इस निर्णय पर पहुँचा था कि मानव का वास्तविक पूर्वज भारत भूखण्ड में ही पैदा हुआ था।[११] सन् १९१८ में अपनी उत्तराखण्ड यात्रा में स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं- 'उत्तराखण्ड के अन्दर आर्य जाति की प्राचीन सभ्यता के चिह्न अधिक पाये जाते हैं।' एटकिन्सन ने भी 'हिमालय गजेटियर' में ऋग्वैदिक गढ़वाल का महत्त्व स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि वैदिक विद्यार्थियों को वेद में आर्यों के ऐसे संस्मरण प्राप्त हुए हैं जो पूर्णतः गढ़वाल पर लागू होते है। अनेक विद्वान् हिमालय को आर्यों का आदि स्थान मानते हैं। उनके कथनानुसार वे वहाँ से प्रतिकूल जलवायु के कारण आर्यावर्त में आकर और वहाँ जाति-उपजातियों में बँटकर पीछे अनेक भू-भाग में बिखर गये। श्री भगवतदत्त[१२] विश्व की भिन्न-भिन्न आधुनिक जातियों को आर्यों के मूल स्थान हिमालय से निकली हुई मानते हैं। उनके मान्यतानुसार आर्य हिमालय से सीधे आकर भारत वर्ष में बसे। उन दिनों कोई अन्य यहाँ नहीं रहता था। इन्हीं आर्यों से आगे जलवायु के प्रभाव से लाखों वर्षों के व्यतीत होन पर अनेक आधुनिक जातियाँ उत्पन्न हुईं। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने समस्त यूरोपियन एवं भारतीय इतिहासकारों, शरीर शास्त्रियों एवं भाषा वैज्ञानिकों की घोषणाओं का जबरदस्त खण्डन किया है। मध्य एशियावाद के समर्थक मैक्समूलर भी अपनी कृति 'इण्डियाः व्हाट इट कैन टीच अस' में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्यावर्त का प्राचीन देश ही गोरी जाति का उत्पत्ति स्थल है। भारत भूमि ही मानव जाति की माता और विश्व की समस्त परम्पराओं का उद्गम स्थल है। उत्तर भारत से ही आर्यों का अभियान फारस की ओर गया।

कई इतिहासकारों का कथन है कि पृथ्वी के शीतल एवं जीवन के पोषण योग्य हो जाने के पश्चात् सर्वप्रथम मध्य हिमालय के इस समशीतोष्ण पर्वत क्षेत्र में प्रवाहित सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र में मानव पैदा हुआ एवं यहीं से आर्य जाति का शुभारम्भ हुआ। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदि देश' में सप्तसिन्धु पंजाब को ही आर्य जाति का मूल स्थान सिद्ध किया है। जयचन्द विद्यालंकार अपनी

१०. Porgeter- Ancient India Historical Traditions, Page 295
११. दिनमान (साप्ताहिक पत्रिका), दिल्ली, २३ अक्टूबर १९७६
१२. श्री भागवत दत्त- वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृष्ठ १३६

रचना 'इतिहास प्रवेश' में शब्दांकित करते हुए कहते हैं कि 'भारतीय आर्यों की अपनी अनुश्रुति अर्थात् परम्परागत आख्यानों में उनके उत्तर पश्चिम से आने की बात कहीं नहीं है। इसके विपरीत उसमें ऐसी चर्चा है कि वे सरस्वती के कांठे से भारत के अन्य भागों की तरह उत्तर पश्चिम की ओर फैले। साथ ही कैलाश-मानसरोवर प्रदेश और मध्य हिमालय के स्थानों की चर्चा भारतीय आर्यों की प्राचीन अनुश्रुतियों में है। परन्तु उत्तर भारत में बसने के बाद उन प्रदेशों की ओर फैलने का कोई उल्लेख नहीं है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों की एक शाखा पूर्वी मध्य एशिया अर्थात् तारीय काठें से नये चरागाहों की खोज करती हुई पश्चिम तिब्बत की ओर बढ़ी और उसके दक्षिण छोर पर पहुँचने के बाद लगभग ३००० ई. पूर्व हिमालय के नीचे, उत्तर गंगा-यमुना-सरस्वती काठों से आयी। अलकनन्दा (दून) गढ़वाल हिमालय के भीतर कश्मीर तक फैल गयी।'

चन्द्रवंश के प्रथम सम्राट पुरुरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर को राय कृष्णदास मध्य हिमालय गढ़वाल या जौनसार में कहीं मानते हैं। जयचन्द विद्यालंकार इससे पूर्णतः सहमत हैं। उनका कथन है कि मध्य हिमालय को इस प्रतिष्ठान नामक बस्ती से आर्यों का भारत में फैलाव मानने से इस स्थिति की जैसी सीधी व्याख्या होती है वैसी और किसी कल्पना से नहीं होती।[९३]

आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में उपर्युक्त मतों का निष्कर्ष यह है-

१. यूरोप का उत्तरी मैदान
२. मध्य एशिया
३. उत्तरी ध्रुव
४. सप्तसिन्धु (पंजाब)

५. सरस्वती के काठें अर्थात् मध्य-एशिया में बद्रिकाश्रम के निकट सरस्वती नदी का तटवर्ती क्षेत्र, जिसका प्राचीन नाम ब्रह्मावर्त, हिमवन्त, कैलाश, सुमेरु, स्वर्ग, गन्धमादन और केदारखण्ड एवं वर्तमान गढ़वाल है।

आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में आर्य-भाषा, आर्य-सभ्यता एवं आर्य संस्कृति की सबसे बड़ी निधि ऋग्वेद है। यह आर्यों का ही नहीं विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसकी यह प्राचीनता सर्वमान्य है। जिस देश में आर्य जाति का यह प्राचीन धर्मग्रन्थ अविच्छिन्न रूप से प्रचलित रहा हो, वही विश्व का प्राचीन देश, आर्यों का आदि देश है। आर्य साहित्यों के अनुसार मध्य हिमालय मानव

---

९३. भारतीय इतिहास की मीमांसा, पृष्ठ ३४-३७

जाति का उत्पत्ति स्थल और आर्य-संस्कृति का आदि स्रोत है। यही आर्यों का आदि देश है। आर्य साहित्य[९४] इसके आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व से ओत-प्रोत हैं। प्राचीन आर्य मनीषियों द्वारा पूजित वह देवात्मा नगाधिराज आर्यावर्त के उत्तर में मानदण्ड की भाँति काश्मीर से असम तक चला गया है। परन्तु आर्य साहित्य में जिस हिमवन्त का आर्य-ऋषियों द्वारा बार-बार स्तवन किया गया है, हिमवन्त की अन्तरात्मा जिस पावन प्रदेश में प्रतिष्ठित है, वह मध्य हिमालय हरिद्वार और शिवालिक पर्वतमाला से लेकर मानसरोवर तक का भू-भाग है। इसी स्वर्गलोक से देवनदी गंगा की धारा पृथ्वी पर उतरी है। हरिद्वार से ऊपर मानसरोवर तक गंगा की इस तटवर्ती उपत्यका को ऋग्वेद में सप्तसिन्धु देश कहते थे। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि हरिद्वार दक्षिण और पूर्व में तराई समुद्र से ऊपर, कुमाऊँ के पर्वतीय क्षेत्र में भी आर्य-बस्तियाँ थीं। यह निर्विवाद है कि गंगाद्वार से लेकर मानसरोवर तक अलकनन्दा और मन्दाकिनी की उपत्यका ही आर्य जाति की मुख्य क्रीड़ास्थली रही है। श्री साहनी भारत को आर्य की जन्मभूमि मानते हैं।[९५]

आधुनिक विद्वानों ने आर्य का आदि देश उत्तर पश्चिम भारत के पंचनदी क्षेत्र पंजाब तक सीमित कर दिया है। पंजाब की प्रमुख नदी, सिन्धु ऋग्वेद की एक महत्त्वपूर्ण नदी है। पर्वत्र क्षेत्र से लेकर सागर पर्यन्त इसके साथ आर्यों का वर्णन आता है।[९६] मनु वैदिक मूल के मानव थे अर्थात् सृष्टि के प्रथम मानव।

---

९४. ऋग्वेद, २/३३/१०, ७/४६/१, १०/१२१/४, १०/१४/१२, वृहदारण्यक उपनिषद्, ६/१/३, अथर्ववेद, ६/२४/१, १२/१/११, केनोपनिषद्, ३/१२, महाभारत आदि पर्व, १०/१८, ७०/२१, ११४/२४, ११८/४९, सभापर्व, २७/२९, वनपर्व, ५०८/३-११, १४०/२४, उद्योग पर्व, १११/५, द्रोणपर्व, ८०/२३, शल्य., ४५/१४, शांति, ३२७/२, आश्रम, ३७/३३, महाभारत, २/१, आदिपुराण पर्व, ३२, मत्स्य पु.अ., १५६, महाविशवपुराण (पार्वती खण्ड), शिवपुराण, रुद्र संहिता, १९/१, १९/१३, वायु.अ., ३०, ४७/१११, ब्रह्मपुराण अ., ३४/३९, ७१-७५,नारदीय अ., १०, ३९-४३, ६७, ब्रह्मवैवर्त, १०/१०४-१२०, स्कन्द. माहेश्वर खण्ड और वैष्णव खण्ड लिंग अ., ४८, ५०, ९९-१०६, वामन अ., १७-२१, कूर्म अ., ३७, हरिवंश भविष्य अ., ७३-८५, देवी पुराण (केदार महात्म्य), मार्कण्डेय अ., ५१-५७, वराह अ., २१-१५, अग्नि अ., १०८-११०, पद्म सृष्टि खण्ड अ., ४०, स्वर्गखण्ड, १-६, अ. १६, मेघदूत, पूर्वमेघ, ६०-६२

९५. Sahani- Man in Evolution, p. 170

९६. David Frawley- Gods, Sages and Kings, p. 71

इसके पश्चात् नहुष हुए जो आर्य लोगों के महान् पूर्वज थे। ये सभी सरस्वती नदी के किनारे बसे हुए थे। सरस्वती वैदिक क्षेत्र की सबसे बड़ी नदी है, जिसके किनारे आर्यों या वैदिक लोगों की बस्ती थी। मनु संहिता के अनुसार वैदिक संस्कृति यमुना नदी के पश्चिम में, सरस्वती नदी क्षेत्र में शुरू हुई व यहीं केन्द्रित थी।[९७] इसी सन्दर्भ में ऋग्वेद के अनुसार सरस्वती के इस क्षेत्र को 'इला की भूमि' के नाम से भी जाना जाता था। यह पृथ्वी की सबसे पवित्र स्थान था तथा वैदिक आर्यों का केन्द्रिय देश था। ऋग्वेद के अनुसार सरस्वती या इला के क्षेत्र में मनु एवं नहुष जैसे महान् आर्य राजा व ऋषि हुए तथा वहाँ राज्य किया। ऋग्वेद की वैदिक परम्परा से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक लोगों का आदि देश सरस्वती नदी का क्षेत्र है। इस तरह वैदिक आर्यों का मूल देश सरस्वती क्षेत्र था और वे इस क्षेत्र में ऋग्वेद के पूर्ण होने से पहले एक लम्बे काल तक रह चुके थे। यह केन्द्रीय वैदिक भूमि थी तथा वृहत्तर वैदिक देश उत्तर भारत था।[९८]

जीवन व वार्तालाप का आर्यन तौर तरीका, वैदिक सभ्यता के उद्‌भव से पूर्वकाल में ही इसके मूल क्षेत्र में रहा हुआ प्रतीत होता है, जैसे कि डायसन, कार्ल लैम्बी कार्लोस्की की ओर संकेत करते हैं तथा अल्दचीन भी इस मत से सहमत जान पड़ते हैं कि आर्यों को पूर्व वैदिक अवशेषों में खोजा जा सकता है। वह टेप हिसार में स्मिथ की खोजों की ओर संकेत करते हैं जहाँ ३००० ई.पू. के मध्यकालीन हवन कुण्ड मिला। इस तरह विद्वान् लाल की इस प्रतिज्ञप्ति से पुष्ट होता है कि आर्य लोग इस जगह प्रारम्भ से ही विद्यमान थे। कोसम्बी द्वारा परिभाषित आर्य हिन्दु सभ्यता के उद्‌भव से शताब्दियों पूर्व उपस्थित थे।[९९] यह भी सप्त सिन्धु क्षेत्र की ओर संकेत करता है। डायसन इसे आगे और भी स्पष्ट रूप में कहते हैं कि सरस्वती सिन्धु के लोग जातीय एवं सांस्कृतिक रूप से १७०० ई. पूर्व के बाद वाले लोगों से किसी तरह भिन्न नहीं थे। सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के लोगों की आर्य या अनार्य के रूप में कोई भिन्न पहचान सम्भव नहीं है। यदि कोई उनके सांस्कृतिक एवं अन्त्येष्टि क्रियाओं का अवलोकन करे तो भी वे किसी अन्य की अपेक्षा वैदिक व भारतीय परम्परा के अधिक सन्निकट हैं। इस तरह सरस्वती सिन्धु संस्कृति भी वैदिक हिन्दु संस्कृति के पूर्ववर्ती होने का प्रतिनिधित्व

---

९७. David Frawley- Gods, Sages and Kings, p. 71

९८. Ibid, p. 76

९९. R.H. Diason- Paradig m Changes in the Study of the Hindus Civilization, p. 453

करती है।[१००] वाशम महोदय तो आर्यों के देश को आर्यावर्त मानते हैं और कहते हैं यह दिल्ली से पटना तक गंगा के मैदान का आधा पश्चिमी खण्ड सदैव भारत का हृदय रहा है। इसी क्षेत्र में आर्यों का उद्‌भव हुआ एवं उनकी संस्कृति पनपी, बढ़ी और विकसित हुई।[१०१] भारत के उत्तर पश्चिम में आर्यन द्वार है जो पंजाब, सिन्धु की घाटी व इसकी नदियों द्वारा बनता है। यहाँ पर आर्य लोग रहते थे।[१०२] रोमिला थापर के अनुसार ऋग्वेद के काल तक आर्य लोग पंजाब व दिल्ली तक फैल चुके थे।[१०३]

भाषाशास्त्र को देखा जाय तो वैदिक भाषा संस्कृत की ओर ध्यान जाता है। जिसका मूल ऋग्वेद में है। ऋग्वेद आज भी - हजारों वर्षों से आर्यावर्त में आर्य जाति द्वारा सबसे अधिक पूज्य और प्रतिष्ठित है। भाषाशास्त्रियों के कथनानुसार उसकी भाषा के शब्द, व्याकरण और धातु ईरानी, यूनानी, लातीनी, टयूरनी, केण्ट और स्लाव भाषाओं में मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उनके भाषा शब्दों के बोलने वालों के पूर्वज किसी समय ऋग्वेद के मूलस्थान में रहते थे और वहाँ से चलकर अलग-अलग देशों में फैल गये।[१०४] आचार्य किशोरी दास वाजपेयी[१०५] लिखते हैं- ''संसार में सबसे पहले मानवता ने विकास कहाँ प्राप्त किया, यह प्रश्न होने पर कोई भी कह देगा कि जहाँ भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु भाषा का प्रादुर्भाव सबसे पहले कहाँ हुआ? यह भी पूछा तो जा सकता है। इसका भी उत्तर है। जहाँ का साहित्य सबसे पुराना है, वहाँ भाषा ने सबसे पहले कृपा की। भाषा एक दिन में नहीं बन जाती है, साहित्य तो बहुत दूर की चीज है। सहस्त्रों वर्षों से मनुष्य ने शब्दों के अर्थ, संकेत करके व्यवहार की भाषा बनायी। फिर आगे जैसे-जैसे ज्ञान तथा अनुभव बढ़ता गया भाषा का भी विस्तार होगा गया। विश्व का प्राचीनतम साहित्य है ऋग्वेद। संसार भर के विद्वान इस विषय में एकमत हैं कि ऋग्वेद मानव की प्राचीनतम साहित्य रचना है। तो साहित्य जहाँ बना, वहीं सभ्यता ने और उसे वहन करने वाली भाषा ने सर्वप्रथम जन्म लिया।''

---

१००. R.H. Diason- Paradig m Changes in the Study of the Hindus Civilization, p. 466
१०१. A.L. Basham- The wonder that was India, p. 2
१०२. S.Tolboy Wheeler- India from the Eastern Ages, p. 14
१०३. Romila Thapar- A History of India Vol. I, p. 33
१०४. राधाकुमुद मुकर्जी- हिन्दु सभ्यता, पृष्ठ ७०
१०५. आचार्य किशोरी दास वाजपेयी- हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ २

कुछ पाश्चात्य भाषाविदों का यह कथन है कि यूरोप की लिथुआनिया भाषा सबसे प्राचीन है। परन्तु यह मत स्वीकार न हो सका। आर्यों की भाषा का अत्यन्त प्राचीन रूप 'ऋग्वेद' और 'अवेस्ता' में सुरक्षित है। इसके समर्थन में इसाक टेलर ने अपने 'ओरिजन ऑफ आर्यन' में लिखा है कि आर्य जाति का आदि देश वह है जहाँ संस्कृत और जिन्द बोली जाती थी। लिथुआनिआई साहित्य अठारहवीं शताब्दी से शुरू होता है, जब कि संस्कृत साहित्य लगभग हजारों वर्ष प्राचीन है। आजीवन वैदिक संस्कृत का अध्ययन करने वाले विद्वान मैक्समूलर लिखते हैं- यदि आदि मानव से हमारा आशय उन लोगों से है जो आर्य जाति से प्रथम हुये हैं और जो अपने अस्तित्व का चिह्न अपने पीछे साहित्य में छोड़ गये हैँ तो मेरा विश्वास है कि वैदिक कवि ही आदिमानव हैं, वैदिक भाषा ही आदि भाषा है और जो बात हमें अपनी जाति के इतिहास में शायद ही प्राप्त हो उसकी अपेक्षा अधिक आदिम वे ही हैं। ग्रियर्सन ने अपनी रिपोर्ट 'आन द लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' में लिखा है कि भारतीय मानव स्कन्ध में उत्पन्न भारत-तुरानी अपने को वास्तविक अर्थ में साधिकार आर्य कह सकते हैं किन्तु हम अंग्रेजों को अपने को आर्य कहने का अधिकार नहीं है।

'अवेस्ता' के भाषान्तरकार स्पीजल 'अवेस्ता का अनुवाद' द्वितीय भाग में लिखते हैं कि उस वैदिक संस्कृति से, जैसी वह वेदों में लिपिबद्ध की गयी है, अन्य कोई भाषा अधिक प्राचीन एवं पुराने रूपों वाली आदिम भाषा नहीं है। इस मत के समर्थन में कर्जन[१०६] कहते हैं- 'प्राचीन फारस वालों ने अपनी भाषा आर्य जाति से प्राप्त की है। वे स्वयं भी उन्हीं लोगों की सन्तानें थीं। ये लोग अपने बन्धु-बान्धवों से अलग होकर पश्चिम प्रदेशों में जा बसे थे, अथवा धार्मिक मतभेदों से उत्पन्न गृहयुद्धों के कारण अपने आदि देश से निकाल दिये गये थे।' एम.ई. बर्नफ के समर्थन में मैक्समूलर का कहना है कि जेन्द भाषा के कई शब्दों का संस्कृत में शब्दशः अनुवाद किया जा सकता है। इन दोनों भाषाओं की एक सौ तक संख्याओं के नाम में भी सामंजस्य है। भाषा विज्ञान और नृवंशविद्या दोनों के आधार पर कर्जन पुनः कहते हैं। कि आर्यावर्त हमारी जन्मभूमि है, वह हमारा आदि देश है। इसके अतिरिक्त हमारा अन्य कोई उत्पत्ति स्थान नहीं है। भारत वर्ष के प्राचीन आर्य, हिन्दू किसी अन्य देश से आर्यावर्त में आये हैं। यह कल्पना निराधार है। इसके विरुद्ध ऐतिहासिक तथ्य इस प्रमाण की पुष्टि करते हैं कि प्राचीन

---

१०६. Kerjan- Journal of Ragal Asiatic Society, Great Britain Vol.XVI, pp. 172-200

जाति का अभ्युदय सभ्यता तथा कला-कौशल में उनकी उन्नति उन्हीं के देश की उपज है। इन सब बातों की उत्पत्ति के लिए दीर्घकालीन अवधि अपेक्षित है।

आर्यों ने पश्चिम से प्रवेश नहीं किया। यह स्पष्ट है कि उस दिशा में रहने वाले लोग इन्हीं भारतीय आर्यों के वंशज थे। उनका इस प्रकार वंशज होना इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि उनकी भाषा के प्राचीनतम रूप संस्कृत से ही उद्‌भुत हैं और वह वस्तुस्थिति कि इनकी पुराकथाएँ भी भारतीय आर्यों से गृहीत हैं इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं। यदि आर्य लोग कहीं अन्यंत्र रहे होते तो उनके भग्नावशेषों, लिखित आँकड़ों और परम्पराओं को भी उन स्थान में अवश्य पाया गया होता, जैसा कि अपने पूर्व स्थानों से आकर बस गई, इतिहास को ज्ञात अन्य जातियों के स्मारक मिले हैं।[१०७] मेगस्थनीज लिखता है 'समस्त भारत एक विशाल देश है और उसमें विभिन्न जाति के लोग निवास करते हैं। उसमें एक भी व्यक्ति मूलतः विदेशी वंश से उत्पन्न नहीं है, वरन् समस्त भारत के आदि निवासियों की सन्तान हैं।'[१०८]

फ्रांसीसी विद्वान क्रूजर की घोषणा है कि यदि संसार में कोई देश मानव जाति का जन्म स्थान या मानव की आदि सभ्यता का क्रीड़ा स्थल होने का सम्मान प्राप्त कर सकता है, और जिनके द्वारा विद्या का वरदान, जो मानव जाति का पुनर्जीवन है तथा जो प्राचीन काल के संसार के समस्त धर्मों तक पहुँचाया गया है तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह देश भारत वर्ष ही है। नृवंश-शास्त्रियों के अन्वेषणों के आधार पर यूरोप के वर्तमान निवासी स्लाव, केल्ट, सेक्सन आदि संस्कृत के सजातीय भाषा-भाषी लोग एशिया के तूरानी वंश से सम्बन्धित 'को मैग्नार्ड' (आयन कपाल वाले मनुष्य) की सन्तान हैं। आज से लगभग २५००० वर्ष पूर्व जलप्लावन के अन्त में आर्यों द्वारा पराजित असुरोपासक आर्यों का दल जो पश्चिमोत्तर एशिया की ओर गया, उसने बर्बर तूरानियों से, सांस्कृतिक सम्बन्धों द्वारा असुर राज्य की स्थापना के बाद आधुनिक यूरोपियन आर्यों को जन्म दिया। यह मत अधिकांश ग्राह्य, युक्तिसंगत और अधिक विद्वानों द्वारा मान्य है। अमेरिकन भूगर्भशास्त्री डॉ. डान के कथनानुसार दक्षिण पश्चिम एशिया में ही कहीं सर्वप्रथम आर्यों का आविर्भाव हुआ है।

इतिहासकारों का मध्य एशियावाद भी दोषपूर्ण प्रमाणित हो चुका है।

---

१०७. S. Muir- Original Sanskrit Texts, Vol.II, Ch 2, p. 395

१०८. Dayodoras- Megasthnis, p. 34

पुरातत्त्ववेत्ताओं के कथनानुसार अंतिम भौगोलिक युग तक अर्थात् १२,००० से १०,००० ई. वर्ष पूर्व समस्त मध्य एशिया भूमध्यसागर के अनेक दलदलों के कारण मनुष्य निवास के सर्वथा अयोग्य था। अनेक विद्वानों की मान्यता है कि पामीर का पठार भी आर्यों के बसने योग्य कदापि नहीं है। ऋग्वैदिक, ग्रह नक्षत्रों की स्थितियों पर आधारित लोकमान्य तिलक की मान्यताएँ भी कई वैदिक विद्वानों एवं गणितज्ञों द्वारा अमान्य हो चुकी है। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने भी 'आर्यों का आदि देश में' लोकमान्य के अनुमानों का युक्तियुक्त खण्डन किया है। उन्होंने ध्रुव प्रदेश की पुष्टि में लोकमान्य द्वारा उद्धृत (ऋ. ७/६७/२ तथा ७/७६/२) 'अमृदु केनुपुरुषा पुरस्तात्प्रतीच्यागाद धिहर्भोय:' मंत्र के प्रतीची शब्द से प्रमाणित किया है कि ऋग्वैदिक आर्यो का उषा का केतु प्रतीची (पूर्व) दिशा में दिखाई देता है। यह बात ध्रुव प्रदेश में नहीं होती। वहाँ तो उषा का केतु दक्षिण में दिखायी देता है। उत्तरी ध्रुव में जीवन प्रारम्भ होने से पूर्व आर्यावर्त में जीवन का अस्तित्व पाया जाता है। अनेक भारतीय एवं विदेशी भाषा शास्त्रियों, पुरातत्त्वान्वेषियों एवं भूगर्भवेत्ताओं ने अपने निष्कर्षों को प्रमाणित करके सप्तसिन्धु को ही आर्य जाति का आदि देश प्रतिपादित किया है। उनका मत है कि आर्य सरस्वती नदी के देश से उत्तरी ध्रुव देशों को गये और वहाँ दीर्घ काल तक निवास करने के बाद महाहिम युग के आरम्भ होने पर, जब जल प्लावन ने वहाँ की भूमि को आप्लावित कर दिया तो वे हिमालय के मार्ग से पूर्व परिचित उत्तरगिरि के एकमात्र अंतिम सर्वोच्च शरण स्थल आए, जो उन्हें स्मरण था।

आर्यावर्त शब्द से जहाँ किसी अन्य क्षेत्र से आने का बोध होता है वहाँ वैदिक वाङ्मय में आर्य जाति का किसी अन्य देश से यहाँ आने का प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुत: आर्य आर्यावर्त में मिले हुए, उत्तरगिरि प्रदेश (ब्रह्मावर्त) से तराई के समुद्र सूख जाने के बाद आर्यावर्त में आये थे। अत: उनका किसी अन्य देश से यहाँ आने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रो. टी मुरो अपनी 'संस्कृत भाषा' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि भारत वर्ष पर इण्डो-आर्यन आक्रमण अप्रमाणिक है। ऋग्वेद के मूल पाठ में कहीं कोई ऐसी स्मृति का संकेत तक नहीं है कि वे कहीं बाहर से यहाँ आएँ हैं। ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'नदी सुक्त' में भी आर्यावर्त से बाहर किसी अन्य देश की नदियों का नाम नहीं है। 'नदी सुक्त' में वर्णित नदियाँ गंगा, यमुना, सरस्वती जिस प्रदेश में बहती है वही सप्तसिन्धु देश आर्यों का आदि देश है। ईसवी से ५००० वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी सभ्यता की लिपियों में वेदों के नामों के उल्लेख से वैदिक सभ्यता की प्राचीनता स्पष्ट है। सिन्धु घाटी में मोहन जोदड़ों, हड़प्पा के अवशेषों में प्राप्त लिपि को चित्रलिपि बतलाते हुए विश्वविख्यात

पुरालिपिविद् और बेबीलोनीयन इतिहास में आचार्य डॉ. लैंग्डन और डॉ. सी.एफ. गौड़ ने 'साइन लिस्ट अर्ली इंडस स्क्रिप्ट' में लिखा है कि वे किसी आर्य भाषा के नाम है। भारत में आर्य जाति उससे कहीं अधिक प्राचीन है, जितना कि अब तक इतिहास में बतलाया गया है। भारतीय आर्य, आर्य जाति के सर्व प्राचीन प्रतिनिधि हैं। सिन्धु घाटी में प्राप्त उन अवशेषों से यह स्पष्ट हो गया है कि ई.पू. १,७०० के लगभग एशिया माइनर में अनातोलिया से होकर आर्यों का अभियान भारत में पहुँचा त्रुटिपूर्ण है।

डॉ. सम्पूर्णानन्द के अनुसार विद्वानों का बहुमत भी यही है कि 'आर्य' नाम उन्हीं लोगों के लिए उपर्युक्त है जो भारत के वैदिक काल के आर्यों तथा प्राचीन पारसियों के पूर्वज थे। जो आर्य उपजाति थी उसकी दो ही शाखाएँ हुईं। एक वह जिसका सम्बन्ध भारत से हुआ, दूसरा वह जिसका सम्बन्ध ईरान से हुआ। पहली की भाषा संस्कृत तथा दूसरी की जिन्द या पहलवी थी। प्रथम का धर्मग्रंथ वेद व दूसरे का अवेस्ता है। किसी समय ये दोनों एक थे। इसके तो अकाट्य प्रमाण हैं। इनके कथनानुसार मोहनजोदड़ों से वैदिक सभ्यता कम से कम चार-पाँच हजार वर्ष प्राचीन है।[१०९] श्री रामदास गौड़ हिन्दूत्व में लिखते हैं कि वैदिक मंत्रों में से केवल यह विदित होता है कि वे पहले कहीं और जगह रहते थे। एक मंत्र में शुनःशेप के पूर्व स्थान का निर्देश करते हुए दूसरा नाम जन्हायाम भी कहा गया है। यदि जाह्नवी आर्थात् गंगा नदी निर्दिष्ट है तो जन्हुदेश का (जौनपुर-रवाई-गढ़वाल) पहाड़ से सम्बद्ध हो सकता है। ऋग्वेद में भी महर्षि जन्हु और उनकी सन्तति का उल्लेख हुआ है। जाह्नवी नदी (जाड गंगा) उत्तरकाशी क्षेत्र में, भैरोघाटी के पास भागीरथी से मिलती है। शुनःशेप की जन्मभूमि यही देश है। अंत में गौड़ जी ने अपने निष्कर्ष में बताया कि आर्य जाति बाहर से आयी है, समीचीन नहीं समझा जा सकता है।

डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के कथनानुसार आर्यों का अनुश्रुतिमूलक इतिहास १. ऐल, २. सौद्युम्न और ३. मानव, इन तीन वंशों से आरम्भ होता है। ऐलों का मूल निवास कोई मध्य हिमालय का प्रदेश या उत्तरी देश था। भारतीय अनुश्रुतियों में आर्यों का उत्तर पश्चिम से या भारत के बाहर से अथवा पश्चिम से पूर्व की ओर प्रसार का तनिक भी उल्लेख नहीं है। इसके विपरित, ऐलों के इस देश से बाहर जाने और उत्तर पश्चिम की ओर सिन्धु पार के देशों में फैल जाने का वर्णन आता है। ऋग्वेद में गंगा से लेकर नदियों की सूची पूर्व उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ती

---

१०९. डॉ. सम्पूर्णानन्द- आर्यों का आदि देश, पृष्ठ २२५

हुई दी गयी है। जो कि ऐलों के उत्तर पश्चिम से बाहर उनके विस्तार को प्रमाणित करती है। ऋग्वेद का अधिकांश भाग गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी के ऊपरी भाग में रचा गया।[११०] अतः आर्य मध्य एशिया अथवा किसी अन्य देश से भारत आये हैं यह हास्यास्पद है। आर्यों ने सप्तसिन्धु से बाहर के निवासियों को म्लेच्छ[१११] घोषित किया है। वे स्वयं म्लेच्छ देशों से आये हैं यह युक्तिसंगत नहीं है।

इस विषय में लार्ड एलफिन्स्टन[११२] लिखते हैं 'यह कथन कि हिन्दुओं की उत्पत्ति विदेशों से है तथ्यहीन है क्योंकि न तो स्मृति ग्रंथों में और मेरा विश्वास है न वेदों और न किसी अन्य ग्रन्थों में जो स्मृति ग्रंथों एवं वेद वाङ्मय की अपेक्षा अधिक प्राचीन हों, उनके मूलस्थान के सम्बन्ध में भारतवर्ष से बाहर अन्य किसी देश की ओर कोई संकेत हैं। यहाँ तक कि पुराण कथाशास्त्र भी उस हिमालय पर्वतमाला से आगे नहीं बढ़ता। हिमालय पर्वतमाला के अतिरिक्त जिसको उन्होंने देवताओं का निवास स्थल बताया है और अधिक आगे पुराणों की कोई कथा नहीं पहुँचती।'

आर्यावर्त के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी निष्पक्ष सहमति देकर उसकी प्राचीनता भी स्वीकार की है। आर्यावर्त के आर्यत्व से यूरोपीय जातियाँ कितनी प्रभावित हैं उसके समर्थन में एक फ्रांसीसी विद्वान् एम. लुई जैकोलियट 'बाइबिल इन इंडिया' में लिखते हैं- 'भारतवर्ष विश्व का आदि देश है, वह सबकी जननी है। भारत आपको मनुष्य जाति की जननी और हमारी समस्त परम्पराओं का जन्म स्थान है विदित होगा। इसका परिचय हम गोरों को मिल गया है। इस सार्वभौमिक जननी ने अपनी संतति को पश्चिम के अंतिम छोर तक भेजकर हमारी उत्पति से सम्बन्धित अकाट्य प्रमाणों द्वारा हम लोगों को अपनी भाषा, नीतिशास्त्र, आचरण साहित्य और धर्म प्रदान किया है। अपनी उपज जन्मभूमि से दूर फारस, अरब, मिश्र की यात्रा करते हुए वे लोग भले ही अपना मूल स्थान भूल गये हों या अन्य कोई भी कारण सम्मिलित हो, परन्तु भाषा शब्दों के प्राचीन रूपों का उत्पत्ति स्थान पूर्व ही है। हम भारत के शब्दशास्त्रियों के समक्ष उनके परिश्रम के लिए आभारी हैं। क्योंकि हमारे वर्तमान भाषा शब्दों के मूल और उनकी धातुओं का पता वहीं मिलता है। मिश्री, हिब्रू, ग्रीक और रोमन विधियों पर मनु का प्रभाव स्पष्ट है।'

---

११०. डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी- हिन्दु सभ्यता, पृष्ठ १५३

१११. म्लेच्छ देश ततः परः

११२. Lord Alfisten- History of India, Vol. I, p. 95

श्री पोकाक[११३] कहते हैं- 'मानव जाति का वह शक्तिशाली अभियान, जिसने पंजाब की अनुलंघनीय दीवारों को पार किया, विश्व की नैतिकता की वृद्धि में अपने लोक कल्याणकारी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूरोप और एशिया को अपने निश्चित राजपथों से लेकर बढ़ता गया। पश्चिमोत्तर में सिन्धु को पार कर जो उत्पीड़ित मानव समुदाय आया वह विज्ञान और कला के बीजों को भी साथ लेता गया।' कुक टेलर ने भी 'दि स्टुडेन्ट मेन्यूअल ऑफ एंशियण्ट हिस्ट्री' में ठीक इसी प्रकार का गौरवगान भारत के प्रति किया है। श्री थार्टन ने भारत के इतिहास में स्वीकार करते हैं कि नीलनदी की घाटी में जब पिरामिडों के निर्माण को अल्पकाल ही हुआ था, आधुनिक सभ्यता की जन्मभूमि यूनान और इटली जब अर्धसभ्यों का ही निवास स्थान था तब आर्यों का भारत समृद्धशाली और गौरवपूर्ण हो चुका था। श्रीमती विसेंट 'आन इंडिया एण्ड इट्स मिशन' में लिखती हैं कि यूनान या रोम से भारत अधिक प्राचीन है। यह भारत उस समय भी प्राचीन था जब चाल्डिया की उत्पत्ति हुई थी। इस भारत का इतिहास सहस्रों शताब्दियों तक पहुँच चुका था, तब फारस ने कार्य क्षेत्र में पदार्पण किया। अतः भारत में ही आर्य उत्पन्न हुए एवं समृद्धशाली बने।

इन्हीं सब कारणों से सर्वप्रथम अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त के मंत्रों[११४] में भी यही ध्वनि निकलती है। केदारखण्ड में भी इसके सबसे प्राचीन होने की घोषणा है। जिसमें ऐतिहासिक एवं भूगर्भशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित समस्त तथ्य सन्निहित हैं। यह कहता है मैं ब्रह्ममूर्ति को धारण कर सृष्टि रचना में प्रवृत्त हुआ तब मैंने इसी स्थान में सर्वप्रथम सृष्टि रचना की।[११५] अर्थात् आर्यों का जन्म भारतभूमि में हुआ। विश्वविश्रुत युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द ने इस बारे में उद्घोष किया है कि समस्त भारत आर्यों की भूमि है। ये कहीं बाहर से नहीं आये भारत ही उनकी जन्मभूमि है।[११६] श्री अरविंद ने भी आर्यों को कहीं बाहर से आने वाले मत को

---

११३. Pokak- India in Greece, p. 26

११४. असंबाधं बध्यते मानवनां यस्या उद्वतः प्रवत्तः समं बहु
नानावीर्य औषधीर्या विभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।
गिरयन्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्य ते पृथिवी स्योनमस्तु

११५. पुरातनो यथाहं वै तथा स्थान मिदं किल।
यदा सृष्टि क्रियायां च मयं वै ब्रह्ममूर्तिना।
स्थितमत्रैव सततं परब्रह्मजिगीषया।
तदादिकमिदं स्थानं देवानामपि दुर्लभय।

११६. Swami Vivekananda- Lecture From Colombo to Almora, pp. 222-230

अमान्य ठहराते हुए आर्यों के भारतीय माना है।[११७] आचार्य श्रीराम शर्मा भी कहते हैं 'मूल आर्य जाति का आदि देश भारत ही है।'

आर्यों के आदि देश का भूगोल

आर्यों के इस आदि देश की अपनी विशिष्टताएँ थी और हैं। भौगोलिक परिस्थितियों का ऑकलन एवं विश्लेषण करके संस्कृति के प्राचीनतम स्वरूप को और भी अधिक गहराई से जाना जा सकता है।

श्री अविनाश चन्द्र दास ने 'ऋग्वेदिक इंडिया' में भूगर्भ अनुसंधानों के आधार पर ऋग्वेद काल की भौगोलिक जानकारी प्रस्तुत की है। उनके अनुसार जब उत्तरप्रदेश समुद्र के गर्भ में था उस समय शिवालिक पर्वतश्रेणी के नीचे समुद्र लहरा रहा था। प्राचीनकाल में इस समुद्र गर्भ में समय-समय पर कई भौतिक परिवर्तन होते रहे। छैः सामूद्रिक बाढ़ों का उल्लेख पुराणों में है, उस समय भी तराई भाभर से ऊपर शिवालिक पर्वत और उसका पाश्ववर्ती पर्वतीय भूभाग गढ़वाल और कुमाऊँ यथावत था। उस युग में शिवालिक पर्वतमाला (सपादलक्ष) का दक्षिण भाग दक्षिण गिरि (उपगिरि), मध्य भाग मध्यगिरि (बहिर्गिरि) और उत्तरी भाग उत्तरगिरि (अन्तर्गिरि) कहलाता था और इस सारे भूभाग व ऋग्वैदिक नाम प्रलय से पूर्व 'सप्तसिन्धु' और जल प्लावन के पश्चात् 'ब्रह्मावर्त' हुआ।

श्री दास के कथनानुसार २५ हजार से लेकर ५० हजार वर्षों के मध्य जब सप्तसिन्धु के दक्षिण में तराई-भाभर से समुद्र ऊपर उठा तो हिमालय के ऊँचे शैल-शिखरों को छोड़कर घाटियों में सर्वत्र जल भर गया था। हिमालय की यह सर्वोच्चता ऋग्वेद काल में भी यथावत् थी। कुछ विद्वानों के मतानुसार वह विन्ध्यांचल एवं अरावली से आयु में छोटी ही क्यों न हो परन्तु भूवैज्ञानिकों ने उसकी आयु १० लाख वर्ष से कम नहीं मानी है। छैः करोड़ पचास लाख वर्ष पूर्व मध्य काल तक भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका एक साथ जुड़े हुए थे। परन्तु आज से लगभग दो करोड़ वर्ष पूर्व जिस समय हिमालय का उत्थान आरम्भ हुआ, उसी समय भूगतियों ने इन देशों को एक दूसरे से पृथक कर दिया। भारत वर्ष में अतिनूतन युग का प्रतीक 'शिवालिक तंत्र' में मिलता है, जिसकी अवधि भूवैज्ञानिकों ने ६० लाख वर्ष बतायी है।[११८] संसार में मानवीय इतिहास

---

११७. Michel Danino and S. Nahar- The Invasion That never was, p. 42

११८. हिन्दी विश्वकोश, पृष्ठ २६९

के लिए हिमालय का महत्त्व अकथनीय है। मनुष्य का विकास स्वयं इसकी भारी प्रवाह वाली भूगर्भ रचना के कारण हुआ। बैरल ने सर्वप्रथम यह सुझाव दिया कि मध्यउषाकालीन युग के लगभग अन्त में दस लाख वर्ष पूर्व मानव और हिमालय एक साथ ही अस्तित्व में आये। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद ने हिमालय के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की है।

ग्रह गणितज्ञ डॉ. केशकर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण से प्रमाणित किया है कि लगभग ४६५० ई.पूर्व बृहस्पति ग्रह तिष्य नक्षत्र के समीप था 'ग्रहों की गणना के आधार पर उन्होंने प्रमाणित किया है कि उत्तर और दक्षिण भारत के बीच राजपूताना समुद्र था वह लगभग ७५०० वर्ष ई.पू. ही अदृश्य हो गया था। डॉ. सम्पूर्णानन्द भी 'आर्यों के आदि देश' में उल्लेख करते हैं- 'आज जैसा नक्शा उत्तर भारत का है वैसा आज से लगभग २५-३० हजार वर्ष पूर्व बन चुका था और आज से पच्चीस हजार वर्ष से भी पूर्व आर्य लोग सप्तसिन्धु में बसे हुए थे।'

गढ़वाल (सप्तसिन्धु) के दक्षिण में तराई-भाभर की भूमि और उसकी भौगोलिक स्थिति से उसकी पुष्टि होती है कि किसी समय इस भूभाग में समुद्र लहरा रहा होगा। केदारखण्ड में हरिद्वार के निकट 'सप्त सामुद्रिक' तीर्थ का वर्णन अकारण नहीं है। इससे यहाँ किसी समय समुद्र का अस्तित्व प्रमाणित होता है। एक बार किसी आकस्मिक विप्लव के कारण जब यह समुद्र ऊपर उठा तो लगभग चार-पाँच हजार फुट की ऊँचाई तक समस्त गिरि प्रदेश में जल भर गया था। हिमालय के चार-पाँच हजार फुट से ऊँचे पर्वत शिखर ही जल के ऊपर रह गये थे। इस अप्रत्याशित-अकल्पित जल प्रलय की सूचना मनु को पूर्व से ज्ञात थी इसलिए वे निम्न घाटियों को छोड़कर शैल शिखरों पर नव निर्मित आवास गृहों में आवास करने लगे। इस तरह यहाँ की पर्वतों की महत्ता बढ़ जाती है। जो भौगोलिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

❑ आर्यों के आदि देश की पर्वतश्रेणियाँ

आर्यों के भूगोल में सुमेरु, कैलाश, गन्धमादन पर्वतों का विशेष उल्लेख मिलता है। सुमेरु को 'महाभारत' में गिरिराज, नगोत्तम, महौषधि तथा प्रभावान कहा गया है। जो लोग इस मेरु व सुमेरु को मध्य एशिया में एवं उसमें वर्णित छैः-छैः महीने दिन व रात की कल्पना के कारण इसका सम्बन्ध उत्तरी ध्रुव से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं उनको उत्तरी ध्रुव में गिरिराज, नागराज एवं अनेक पर्वत-शिखर भी प्रमाणित करने चाहिए। इस कल्पना के पीछे छैः महीने हिमाच्छादित सदनों में सूर्य दर्शन नहीं होना है।

मेरु-

महाभारत के अनुसार मेरु पर कुबेर का निवास है उसके उत्तर भाग से गंगा निकलती है।[११९] मेरु पर्वत पर प्रकृति की इसी रंगस्थली में फैला हुआ संसार का आश्चर्यजनक एवं अद्‌भुत प्राकृतिक पुष्प उद्यान है। इसे कुबेर का नन्दन कानन एवं फूलों की घाटी भी कहते हैं। इस उपत्यका को आज भी भीम के नाम पर भ्यूंधार (भीमधार) घाटी भी कहते हैं। महाभारत वनपर्व के अनुसार मेरु पर्वत में नन्दन वन के आसपास ही आर्य द्विजों की उत्पत्ति की घोषणा भी की गयी है। केदारखण्ड के गंगा स्तवन में गंगा नदी का इसी सुमेरु पर्वत से उद्‌गम माना गया है। राहुलजी [१२०] भी कहते हैं कि सुमेरु सेतोपंथ का ही नाम है, जो उत्तर गढ़वाल के परगना पैनखण्डा में अवस्थित है। उसकी चार चोटियों में दो २१,९९१ और २३,२४८ फुट ऊँची है। शेरिंग भी अपनी पुस्तक 'वेस्टर्न तिब्बत एण्ड दि ब्रिटिश बार्डरलैण्ड' में मेरु की इन भौगोलिक स्थितियों को, गन्धमादन पर्वत में, जहाँ अलकनन्दा (गंगा) बहती है, स्वीकार करते हैं। महाभारत में लिखा है कि मेरु पर्वत से निकलकर भागीरथी गंगा चन्द्रहृद में गिरती है।

रायकृष्ण दास के अनुसार आर्यों का आदि निवास, आर्यों का मूलस्थान यह मेरु ही था, तभी वह इतना पवित्र और सर्वोत्कृष्ट लोक नियत किया गया। मेरु को ब्रह्मा की पुरी कहने से भी यही ध्वनित होता है कि सृष्टि का आरम्भ वहीं से माना जाता था। निश्चित है कि आर्यों की आदि भूमि पुराण वर्णित मेरु (स्वर्ग) ही है, उत्तरी ध्रुव या कोई अन्य प्रदेश नहीं तथा वर्तमान भूगोल के अनुसार उसकी भौतिक स्थिति असंदिग्ध है।[१२१] भगवत शरण उपाध्याय ने उल्लेख किया है- 'मेरु और सुमेरु गढ़वाल हिमालय में गंगा के स्रोत और बद्रिकाश्रम के समीप है।'[१२२] पद्मपुराण के अनुसार गंगा सुमेरु पर्वत से निकलती है। कालिदास के अनुसार शिव विवाह के पश्चात् मेरु-मन्दर, कैलास और गन्धमादन पर रमण करते हैं, जो सबके सब गढ़वाल में रुद्र हिमालय के समीप या उसकी शृंखला में अवस्थित हैं।

कैलास-

गंगोत्री से आगे मानवरोवर से प्राय: २५ मील उत्तर, नीतिपास के पूर्व

---

१९९. महाभारत, भीष्म पर्व- ६/११/३३
१२०. राहुल- हिमालय परिचय (१), पृष्ठ १२
१२१. रायकृष्णदास- सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ १७१-७८
१२२. भगवतशरण उपाध्याय- कालीदास का भारत, पृष्ठ २२-२६

स्थित है। महाभारत और ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार गढ़वाल और कुमाऊँ के पर्वत कैलास श्रृंखला के ही भाग हैं।[१२३] वस्तुतः मेरु ही कैलाश पर्वत का नाम भी है। यही वैदिक आर्यों की स्वर्गभूमि है। महाभारत वनपर्व में वर्णित है कि कैलास पर देवताओं का वास है और उसी पर विशाल (बद्रिकाश्रम) नामक तीर्थ स्थान है। कैलाश पर्वत बद्रीनाथ के निकट गंगाकीत्र में गन्धमादन पर्वत के आसपास फैला हुआ है। कैलास पर्वत पर नर-नारायण आश्रम और गन्धमादन पर्वत से उसकी भौगोलिक स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है। केदारखण्ड में भी कैलासपर्वत की स्थिति गंगा के निकट गन्धमादन क्षेत्र में स्पष्ट है।

गन्धमादन-

बद्रिकाश्रम के चारों ओर कैलास पर्वत क्षेत्रान्तर्गत गन्धमादन पर्वत का भी महाभारत और पुराणों में अनेक स्थानों पर अत्यन्त गौरवपूर्ण उल्लेख है। प्राचीनकाल में इस पर्वत का इतना अधिक महत्त्व था कि यदुवंश की समाप्ति पर भगवान् कृष्ण उद्धव से इस स्थान के बारे में कहते हैं कि यह पृथ्वी पर एकमात्र पवित्र स्थान है।[१२४] विमल चरण लाहा के अनुसार गन्धमादन पर्वत कैलास का एक भाग है- 'कैलास पर्वत श्रेष्ठे गन्धमादनपर्वते बदरीवनमध्ये वे बदरीनायको हरिः।'[१२५] गन्धमादन कैलास श्रृंखला का ही एक भाग है जो कालिकापुराण के अनुसार कैलास के दक्षिण में है। महाभारत, मार्कण्डेय और वाराहपुराण इस पर्वत पर बद्रिकाश्रम की स्थिति बतलाते हैं। मार्कण्डेय और स्कन्दपुराण के अनुसार जिनसे होकर अलकनन्दा बहती है वही गन्धमादन है। कालिदास के मतानुसार मन्दाकिनी और जाह्नवी गन्धमादन के भीतर होकर बहती है। महाभारत के अनुसार इसी बद्रिकाश्रम के गन्धमादन क्षेत्र के निकट कैलास और मैनाक पर्वत है-

अवेक्ष्माण कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम्।
गन्धमादन पादाश्च श्वेतं चापिशिलाच्चयम॥

कुछ इतिहासकार भुंजवान पर्वत को कैलास भी कहते हैं। महाभारत में उसको हिमालय की पीठ पर बतलाया है।[१२६] तैत्तिरीय आरण्यक में इन तीन पर्वतों

---

१२३. भगवतशरण उपाध्याय- कालीदास का भारत, पृष्ठ २२-२६

१२४. विष्णु पुराण- ५/३७/३४

१२५. विमल चरण लाहा- प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृष्ठ १२९

१२६. गिरे हिमवतः पृष्ठे मंजुवान नाम पर्वतः।
तप्यते तत्र भगवान् तपोनित्यमुमापति॥

के नाम आए हैं- सुदर्शन, क्रौंच और मैनाक। मेरु को ही कुछ सुदर्शन मानते हैं। क्रौंच और मैनाक नाम पुराणों में आये हैं। आगे कहा गया है कि इन तीनों पर्वतों में कुबेर और उसके पुत्रों का नगर है जो स्पष्टत: अलकापुरी का क्षेत्र है।[१२७] त्रिवेदी जी ने जिसे हिमवन्त, भुंजवान, कैलास, क्रौंच, मैनाक, मेरु एवं उत्तराखण्ड का नाम दिया है, इसी पर्वत-प्रदेश का वर्तमान नाम गढ़वाल है। यह क्षेत्र से अनेक नदियों का उद्‌गम स्थल है।

❑ आर्यों के आदि देश की नदियाँ

आर्यों ने अपने ग्रंथ में नदियों को पूजनीय-वन्दनीय माना है। आर्य संस्कृति के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में विविध नदियों का उल्लेख आया है। इसके स्पष्टीकरण से आर्य जाति के निवास एवं उनके विस्तार का सहज पता चलता है।

ऋग्वेदिक नदियाँ-

(क) नदी-संख्या-

१.	सप्तसिन्धु[१२८] -	१/३२/१२
२.	सप्त नदियाँ-	६/७/६, १/१०२/२, १/१९१/१४, २/१२/१२, ३/१/४-६, ७/६७/८, ९/९/४६, ९/६६/६, ९/८६/३६

(आचार्य सायण ने जिनको गंगा आदि सात नदियाँ कहा है-
५/४२/१२, ६/६१/१२, ८/८५/१, ९/६/४,
१०/४३/३, १०/१०४/८, १०/६७/१२ इत्यादि)

४.	त्रिसप्त नदियाँ-	१०/६४/८
५.	नब्बे नदियाँ-	१/१२१/१३
६.	निन्यानबे नदियाँ-	१/३२/१४, १/१९१/१३

(ख) नदी-सूक्त की नदियाँ

१.	गंगा[१२९]-	६/४५/३१, १०/७५/५ (२ बार)
२.	यमुना-	५/५२/१७, ७/१८/१९, १०/७५/५, (३ बार)

---

१२७. रामगोविन्द त्रिवेदी- वैदिक साहित्य, पृष्ठ २८४

१२८. एक निश्चित देश 'सप्तसिन्धुवः' (ऋ. ८/२४/२७)- पुसालकर

१२९. राथ, जिमर, ग्रीफिथ और लुडविग के अनुसार ऋग्वेद के कई स्थलों पर सरस्वती से मन्तव्य सिन्धु है। (The Vedic age, Page 246)

३.	सरस्वती[१३०]-	१/३/१०,१२, ३/२३/४, ५/४२/१२, ६/५२/६, ६/६१/१ से १४, ७/३६/६, ७/९५/१ से ६, ७/९६/१ से ३, ८/२१/१७-१८, बालखिल्य सूक्त ६/४, १०/१६/७ में ३ बार,१०/१६/९, १०/६४/९, १०/६५/१३, १०/७५/५ इत्यादि (४० बार)
४.	शुतुद्री-	३/३३/१, १०/७५/५, (२ बार)
५.	परुष्णी-	२/१५/५, ५/५२/९, ८/६३/१५, ११०/७५/५ ४/२२/२, ७/१८/५,८,९, (८ बार)
६.	असिक्नी (चिनाब)-	८/२०/२५, १०/७५/५ (२ बार)
७.	मरुद्वृधा-	१०/७५/५ (एक बार)
८.	वितस्ता (झेलम)-	१०/७५/५ (एक बार)
९.	आर्जिकीया-	८/५३/११, १०/७५/५ (२ बार)
१०.	सुषोमा-	८/५३/११, १०/७५/५ (२ बार)
११.	तृष्टामा-	१०/७५/६, (एक बार)
१२.	सुसर्तु-	१०/७५/६, (एक बार)
१३.	रसा-	५/५३/९, १०/७५/५ (२ बार)
१४.	श्वेत्या-	१०/७५/६, (एक बार)
१५.	सिन्धु-	१/३४/८, २/१५/६, ३/३३/३, ५/५३/९, ७/३६/६, ८/२०/२५, ८/४०/८, १०/६४/९, १०/४५/२,५,६,७, १०/७५/१से९, (२५ बार)
१६.	कुमा (काबुल नदी)-	५/५३/९, १०/७५/५ (३ बार)

---

१३०. एक बार (राजबली पाण्डेय) दो बार (रामगोविन्द त्रिवेदी)

१७.	गोमती-	५/६१/१९, ८/२४/३०, १०/७५/६ (३ बार)
१८.	क्रुभु-	१०/७५/६ (एक बार)
१९.	मेहलु	१०/७५/६ (एक बार)

(ग) अन्य नदियाँ

१.	सरयू-	४/३०/१८, ५/५३/९, १०/६४/९ (३ बार)
२.	अंशुमती-	८/८५/१३,१४,१५ (३ बार)
३.	विपाशा-	३/३३/१,३, ४/३०/११ (३ बार)
४.	श्वेतयवारी-	८/२६/१८, श्वेतया - ८/२६/१९ (२ बार)
५.	अनितमा-	५/५३/९ (एक बार)
६.	सुवास्तु	८/१९/७ (एक बार)
७.	सीरा-	१/१७४/९ (एक बार)
८.	इरावती-	२/१५/५ (एक बार)
९.	दृषद्वती-	३/२३/४ (एक बार)
१०.	उर्वशी-	५/४१/१९ (एक बार)
११.	आपया-	३/२३/४ (एक बार)
१२.	अश्मवन्ती-	१०/५३/८ (एक बार)
१३.	शिफा-	१/१०४/३ (एक बार)
१४.	यव्यावती-	६/२७/६ (एक बार)
१५.	जाह्नवी-	३/५८/६ (एक बार)
१६.	द्युति-	२/१५/५ (एक बार)
१७.	अभूर्यह्वति-	९/११३/८ (एक बार)
१८.	हरियूपिया-	६/२७/५ (एक बार)[१३१]

---

१३१. ए. डी. पुसालकर के अनुसार- वैदिक वाङ्मय में वर्णित ३९ नदियों में से लगभग २५ नाम ही ऋग्वेद में आते हैं।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु देश की गंगा, यमुना, सरस्वती का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। अतः ये तीनों नदियाँ ही मुख्य नदियाँ थीं और उन्हीं के प्रवाह के क्षेत्रान्तर्गत आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु था। आर्यों के आदिदेश सप्तसिन्धु में सात प्रमुख नदियों के अतिरिक्त त्रिसप्त, नवति (९०) और नव नवति (९९) नदियाँ बहती थी। निरुक्त काल में 'सिन्धु' शब्द तीव्र प्रवाह के कारण पर्वत प्रदेशों में प्रवाहित प्रत्येक नदी के लिए प्रयुक्त होता था।

सिन्धु का यह भूगोल लोकमान्य तिलक द्वारा पंजाब को बताया गया है, परन्तु यह तर्कसंगत जान नहीं पड़ता। पंजाब सप्तसिन्धु के समर्थक इतिहासकार स्वयं पंजाब में सात सरिताओं के अतिरिक्त वहाँ २१, ९० तथा ९९ अन्य नदियों के भौगोलिक अस्तित्व का स्पष्टीकरण देने में असमर्थ रहे हैं। श्री राम गोविन्द त्रिवेदी लिखते हैं- ऋग्वेद- १/१२१/१३ में उल्लेख मिलता है कि इन्द्र नौका द्वारा ९० नदियों को पार कर गये थे। १/१९१/१३ में ९० या ९९ नदियों के नामों का कीर्तन किया गया है। परन्तु ऋग्वेद में तो ९० या ९९ नदियों के नाम अलभ्य हैं। क्या मंत्रों के समान इन नदियों के नाम भी लुप्त हो गये।[१३२]

ऋग्वेद में यह स्पष्ट है कि उक्त सरिताएँ हिमाच्छादित पर्वत प्रदेश में बहती थी और ये सब विशेषतः सप्तसरिताएँ, वहीं सिन्धु नदी में संधि करती थीं। अर्थात् इन सबके संधिस्थल पंजाब की भाँति समभूमि में नहीं वरन पर्वत-प्रदेश में थे, जिसका नाम सप्तसिन्धु था। गढ़वाल का यह हिमाच्छादित पर्वत-प्रदेश नदियों का देश है। सरस्वती के पश्चात् क्रमानुसार सिन्धु गंगा (सायण की गणनानुसार), सरयू (कुमाऊँ की नदी जो गढ़वाल के तटवर्ती क्षेत्र से निकलती है), परुष्णी, यमुना, गोमती, अंशुमती और विपाशा है। इन नौ नदियों में सिन्धु, परुष्णी (रावी) और विपाशा (व्यास) पंजाब में बतलायी जाती है। अतः पंजाब में आर्यों का आदि देश नहीं हो सकता है। ऋग्वेद में, मरुतों के देश में रसा, अनितभा, कुभा, क्रुमु, सिन्धु और जलमयी सरयू का उल्लेख है।

ऋग्वेदिक सरस्वती-.

आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु की सप्त सरिताओं में परम आराध्या देवनदी सरस्वती का विशेष महत्त्व था। इसके बारे में राम गोविन्द त्रिवेदी लिखते हैं- सरस्वती की उत्पत्ति स्थान मीरपुर पर्वत माना गया है। अनेकों के मत से कुरुक्षेत्र के पास सरस्वती बहती थी। वह पटियाला राज्य में विलुप्त हो चुकी है। बहुतों

---

१३२. रामगोपाल त्रिवेदी- हिन्दी ऋग्वेद भूमिका, पृष्ठ ५१

की राय में सरस्वती बीकानेर की मरुभूमि में लुप्त हुई है। परन्तु पुराणों के अनुसार सरस्वती पृथ्वी के भीतर आकर प्रयाग में गंगा और यमुना के साथ मिल जाती है। इन्हीं तीनों का नाम त्रिवेणी है। हाप्किन्स और कीथ भी सरस्वती की स्थिति वर्तमान अम्बाला के दक्षिण में बताते हैं, जहाँ उनके अनुसार ऋग्वेद रचा गया। इसी प्रकार मैक्समूलर इसे ब्रह्मावर्त की पवित्र नदी बताते हैं जो आज मरुभूमि में समाप्त हो गयी है परन्तु वैदिककाल में समुद्र तक पहुँचती थी। भारतीय विद्वान् ए.डी. पुसालकर भी सरस्वती के मरुभूमि में विलीन होने और उसे वर्तमान 'सुरसती' से एकीकृत मानने से सहमत लगते हैं।

ऋग्वेद में सरस्वती को सिन्धुमाता[१३३] माताओं में श्रेष्ठ, नदियों में श्रेष्ठ और देवों में श्रेष्ठ[१३४] प्राचीन ऋषियों द्वारा सेवित[१३५] और नदियों द्वारा सप्तसिन्धु में जो जलराशि है, उसकी उत्पादिका है। ऋग्वेदिक सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व तथा उसके आर्यों ने आदि देश में श्रेष्ठतम एवं प्रथम होने की पुष्टि महापण्डित राहुल सांकृत्यायन रचित 'हिमालय परिचय' में होती है। वे लिखते हैं 'माणा गाँव के आगे सरस्वती (अलकनन्दा की बड़ी शाखा) पर एक चट्टान पुल की तरह पड़ी हुई है। लोगों ने इसका नाम भीमसेन का पुल रख लिया है। एक ऐसा ही पुल कुछ दूर आगे भी है। तिब्बत का रास्ता सरस्वती के किनारे-किनारे जाता है। सरस्वती के उस पार तिब्बत या हुण देश है। राहुल जी के इस कथन से जहाँ सरस्वती की प्रखरता एवं गंगा आदि सप्तसिन्धुओं की सबसे ऊपरी धारा होने की पुष्टि होती है।' उन्होंने सरस्वती की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में अपने दूसरे ग्रंथ 'कुमाऊँ' में भी यही उद्‌गार प्रकट किये हैं।[१३६] एक पुर्तगाली पादरी अंद्रादे भी जो सन् १६२४ में माणा होकर तिब्बत गया था, सरस्वती को गंगा का मूल स्रोत मानता है। सरस्वती का ऋग्वेदिक सिन्धु और सरस्वती तथा पौराणिक नाम गंगा स्पष्ट किया गया है। कई यूरोपियन विद्वानों का यह कथन है कि सरस्वती इसका पवित्र नाम और सिन्धु लौकिक नाम है।

सरस्वती को कुमारिका नदी भी कहते हैं। क्योंकि वह अपने स्थान से निकलकर सीधे समुद्र में नहीं गिरती। हिमालय के नीचे निकृष्ट स्थानों में प्रवेश

---

१३३. सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता (ऋग्वेद, ७/३६/६)

१३४. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वती (ऋ., २/४१/१६)

१३५. सप्त स्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत (ऋ., ६/६१/१०)

१३६. राहुल सांकृत्यायन- कुमाऊँ, पृष्ठ २६

अप्रमाणित है।[१३७] गंगा गढ़वाल में सर्वप्रथम सरस्वती के नाम से, फिर अलकनन्द और गढ़वाल से बाहर केवल गंगा के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार गंगा की सहायक नदियों में सबसे ज्येष्ठ होने के कारण उसी के पावन जल में आगे चलकर सप्त सरिताएँ भी क्रमशः संधि करती हैं। इसलिए मैक्डोनाल आदि कुछ वैदिक विद्वानों का यह अनुमान है कि सरस्वती को ऋग्वेद में सिन्धु भी कहा गया है। सर्वथा युक्ति संगत है।

सरस्वती के तट पर 'वेदिनी वुग्याल' नामक प्रसिद्ध चरभूमि है, जिस नाम के साथ प्राचीनकाल से वेदों के संकलन की जनश्रुति जुड़ी हुई है। सरस्वती के तटवर्ती इस शीतप्रधान प्रदेश में हेमन्त और शिशिर की एक ही ऋतु थी।[१३८] महाभारत के आरण्यकपर्व में उत्तर दिशा में वर्णित यमुना नदी के साथ सरस्वती का उल्लेख है।[१३९] अलकापुरी के निकट सरस्वती की स्थिति भी स्पष्ट होती है।[१४०] इसकी भौगोलिक स्थिति को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए अन्त में कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास का प्रमाण प्रर्याप्त है। उन्होंने प्रसिद्ध व्यासगुफा में बैठकर महाभारत का आरम्भ करते हुए इसी क्षेत्र में बहती हुई पुण्यतोया सरस्वती को सर्वप्रथम अभिनन्दन किया।[१४१] मनुस्मृति में मनु का कथन है कि देवनदी सरस्वती और दृषद्वती के बीच ब्रह्मावर्त देश है। अनुमान के अनुसार दृषद्वती वर्षावाह नदी थी जो हरिद्वार के आसपास बहने वाली कोई नदी हो। यह सरस्वती की सहायक नही थी।[१४२]

---

१३७. ऋग्वेद, ६/६१/१४

१३८. पंचतवो हेमन्त शिशरयोः समासने तावान संवत्सरः- (ऐतरेय ब्राह्मण, १/१/१, १५/२६/२)

१३९. सरस्वती पुण्यवहा ह्दिनी वनमालिनी।
समुद्रगा महावंगा, यमुनायज पाण्डव। (८८/२)
तजैव भरतो राजा चक्रवर्ती महाशयः।
सरस्वती नदी सभ्दि सततं पार्थ पूजिता। (८८/९)

१४०. सहत्वं चाव निपतिरलकायां चैत्ररथादि वनेष्वमलं।
पदमखंडेषु मानसादि सरस्वती रमणीयेषु रममाणः
षष्टि वर्ष सहस्त्रण्यनुदिन प्रवर्द्धमान प्रमादो अनयत।
– विष्णु पराुण ४/६/४८

१४१. नारायणं नमस्कृत्य नरंचैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वती व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

१४२. सरस्वती दृषद्वत्यो दैवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्माक्षवर्त प्रचक्षते॥ – मनु स्मृति, २/१७

अर्थात सरस्वती वेदों की मुख्य नदी है और अलकनन्दा उसकी सहायक। आज दोनों मिलकर गंगा कहलाती है। इसलिए ऋग्वेद में सरस्वती का सर्वाधिक बार उल्लेख हुआ है।

भागीरथी-

गंगोत्री से निकलने वाली भागीरथी वेद पुराणों में वर्णित गंगा नहीं है। भगीरथ से बहुत काल पूर्व ऋग्वेद में गंगा का अस्तित्व विद्यमान था। अतः भागीरथी अलकनन्दा गंगा की सहायक नदी नहीं वरन् राजा भगीरथ द्वारा कई वर्षों की तपस्या से लायी गई नहर है।[१४३] जो गढ़वाल में ही देवप्रयाग स्थान पर अलकनन्दा में विलीन हो जाती है। प्रसिद्ध नाटककार श्री गोविन्द दास के अनुसार भगीरथी पवित्र नदी गंगा की एक शाखा है। यह देवप्रयाग में गंगा से मिल गई।

अलकनन्दा-

महाभारत तथा केदारखण्ड के अनुसार देवलोक की नदी अलकनन्दा का नाम गंगा है। क्योंकि उसको सुमेरु (सतोपंथ) से निकली हुई कहा गया है। देवनदी अलकनन्दा (सिन्धु) की लम्बाई, प्रवाह, जल का परिमाण भागीरथी और यमुना से कई गुना अधिक हैं। इसके दोनों पार्श्वों में फैले हुए प्राचीन आर्य मनीषियों द्वारा सेवित, गन्धमादन, सुमेरु और कैलास पर्वत है। गंगोत्री से निकलने वाली भागीरथी प्राचीन गंगा नहीं वरन् राजा भगीरथ से ग्यारह-बारह पीढ़ियाँ पूर्व जिस गंगा का अस्तित्व पाया जाता है, वह अलकनन्दा है। केदारखण्ड में गंगा को स्पष्टतः 'शतुद्री सरयू तथा सरस्वती शुमामादो नन्दनाद्रिनिवासिनी' कहा गया है। अलकापुरी- नरेश कुबेर के नन्दन कानन की देवनदी भागीरथी नहीं अलकनन्दा है। उसका वास केदार-शिखर पर है। केदारखण्ड के मतानुसार अलकनंदा को ही आर्यो ने पुण्यतोया गंगा का गौरव प्राप्त है। केदारखण्ड[१४४] में इसका उल्लेख है।

पुराणों में अलकनन्दा को स्वर्ग से गिरने वाली सप्तधाराओं से युक्त कहा गया है। अतः उसका नाम सप्तसिन्धु पड़ा। नदी सुक्त के मंत्र-२ के अनुसार अलकनन्दा की ऊपरी और मुख्य धारा सरस्वती भारत की सर्वाधिक पूज्य सरिताओं के ऊपर विराजमान है। मंत्र ३ के अनुसार उसके घोर गर्जन-तर्जन से ऐसा विदित

---

१४३. ए. डी. पुसालकर- दि वैदिक एज, पृष्ठ २९२

१४४. 'वेदान्तिनी- वेदगम्या-वेदान्त प्रतिपादिनी-वेदान्त निलया, वेदान्तिक जनप्रिया।' - केदारखण्ड, ३८/१०४

होता है कि आकाश से घोर वृष्टि हो रही है, क्योंकि सप्तसिन्धु पर्वत प्रदेश था। वहाँ अलकनन्दा के समान बड़ी नदी के गर्जन-तर्जन की प्रचण्डता यथार्थ है। मंत्र-४,५,६ के अनुसार वह सप्त, त्रिसप्त, ९० और ९९ नदी धाराओं से संधि करती हुई आगे बढ़ती है। मंत्र ७ के अनुसार वह नदियों में सबसे अधिक वेगवती है। मंत्र ८ के अनुसार वह हिरण्यगर्भा (हिरण्ययी) नित्य तरुणी, मधुवर्द्धक पुष्पों से अच्छादित रहती है। महाभारत वनपर्व के अनुसार वसुधारा के निकट 'सिन्धु प्रभव' और 'सिंधुतम' तीर्थ सिन्धु के उद्‌गम स्थान हैं जहाँ पर स्नान करने से प्रचुर स्वर्णराशि प्राप्त होती है। इससे प्रमाणित होता है कि वेद व्यास भी अलकनन्दा को ही सिन्धु मानते थे।

ऋग्वेद के पंण्डित हरिराम धस्माना के अनुसार अलकनन्दा का नाम सरयू भी है। उसी को अलाक्ता और शतुद्री भी कहते हैं। अलकनन्दा में सात सरिताओं में ज्येष्ठा सरस्वती, सर्वप्रथम संधि करती है। उसके पश्चात् नीति घाटी से निकलने वाली नितभा, जिसको प्रियमेघ ने श्वेतया धावली कहा है और जिसको ऋग्वेद में श्वेतयावरी एवं केदारखण्ड में श्वेतगंगा कहा है, अलकनन्दा में संधि करती है। रसा ही मंदाकिनी है जो नंदप्रयाग में गंगा से मिलती है। क्रुमु 'कूर्मांचल' से निकलने वाली पिंडा नदी है, जो कर्णप्रयाग से गंगा में संधि करती है। कुंभा का नाम मंदाकिनी भी है। यह कुंभा रुद्रप्रयाग में गंगा से संधि करती है। परुष्णी और ध्वस्ता पूर्वी और पश्चिमी नयार हैं जो व्यासघाट में गंगा से मिलती है।

ऋग्वेदिक सरयू और गोमती-

ऋग्वेद- १०/६४/९ में २१ महती और तरंगशालिनी नदियों में केवल सरस्वती, सरयू और सिन्धु का नाम उल्लेख है। सरयू और गोमती गढ़वाल के पूर्व नंदादेवी क्षेत्र से निकल कर कुमाऊँ में बहती है। महाभारत (वनपर्व १६८/२०) में गोमती और सरयू गंगा की सात धाराओं में से एक है। हरिराम धस्माना तो अलकनन्दा को ही सरयू कहते हैं। राजा भगीरथ ने भी गंगा को ही शुतुद्री, सरयू तथा सरस्वती कहा है। सरस्वती और सरयू दोनों सरिताओं का उद्‌गम एवं तटवर्ती क्षेत्र शीतप्रधान प्रदेश है, जहाँ सदैव ध्रुवकक्षीय वातावरण रहता है।

गोमती को कुछ इतिहासकार सिन्धु की पश्चिमी सहायक गोमल कहते हैं। परन्तु यहाँ उपर्युक्त नहीं जान पड़ता। ऋग्वेद में तीन बार गोमती नदी का स्पष्टतः उल्लेख है। गोमती हिमवान पर्वत से बहती थी। स्पष्ट है कि रथवीति हिमवान पर्वत में गोमती के तीर निवास करता है।[१४५] पुनः अनुशासन पर्व ३०/१८ में

---

१४५. ऋग्वेद- ५/६१/१९

लिखा है कि आर्य नरेश दिवोदास की नगरी का एक छोर गंगा के उत्तर तट पर था और दूसरा गोमती के दक्षिण तट तक फैला हुआ था। वस्तुतः गोमती और सरयू दोनों का उद्गम स्थल गढ़वाल की पूर्वोत्तर हिमश्रेणियाँ ही हैं। वे आज भी कुमाऊँ से बहती है। गोमती बागेश्वर (अल्मोड़ा) में सरयू नदी में मिल जाती है। उसके तट पर बैजनाथ आदि पुरातात्त्विक महत्त्व के अनेक मंदिर स्थित हैं। सर्वसाधारण में उसका आज भी ऋग्वेदिक नाम गोमती प्रचलित है। महापण्डित राहुल लिखते हैं- गोमती और सरयू के संगम पर हरे भरे पहाड़ों से घिरे, बड़े रमणीय स्थान में बागेश्वर बसा हुआ है। गोमती और सरयू दोनों पर लोहे के सुदृढ़ झूला पुल बने हुए हैं। सरयू हिमानी से निकलकर आती है इसलिए आकार में उसे बड़ा होना ही चाहिए।[१४६] इस तरह आर्यों का आदि देश नदियों का देश है। जहाँ पर अनेक पवित्र और पावन नदियाँ बहती हैं तथा इस देश के वातावरण को शुद्ध बनाती हैं। आर्यों का भूखण्ड अत्यन्त पावन था।

❑ आर्यों के आदि देश की जलवायु

आर्यों के आदि देश की जलवायु दिव्य एवं उच्चस्तरीय थी। इसलिए तो इसका गौरवगान हुआ एवं महत्ता प्रतिपादित की गयी है। यहाँ की जलवायु आश्चर्यजनक एवं अद्‌भुत है क्योंकि यहाँ पर संसार की समस्त प्रकार की जलवयु पायी जाती है। यह अपने आप में एक विलक्षणता है। इस क्षेत्र में उत्तरीध्रुव की शीत एवं यूरोप की समशीतोष्ण जलवायु पायी जाती है।

आर्यों का आदिदेश शीतप्रधान था।[१४७] इस तथ्य से सभी इतिहासकार एकमत हैं। वहाँ दस मास की कड़ी शीत और केवल दो माह सामान्य गर्मी रहती है।[१४८] वर्ष की गणना पहले हिम शीतकाल[१४९] से होती थी। कालान्तर में पुनः दक्षिण के कुछ समतल भू-भागों की ओर बढ़ने के पश्चात् शरदऋतु से भी होने लगी। शरद ऋतु के प्रति आर्य जाति की विशेष निष्ठा थी। 'जीवेम शरदः शतम्' के आशीवर्चन द्वारा वे अपने स्नेही-सहृदों को 'शत शरद' या 'शतं हिमाः' तक जीने की कामना करते थे। ऋग्वेद में वर्ष अर्थ में 'शरद' शब्द का बीस से अधिक और 'हिम' शब्द का दस से ज्यादा बार उल्लेख हुआ है। उसके पश्चात् गर्मियों के दो-तीन महीनों में वसन्त ऋतु रहती थी जो सबसे छोटी ऋतु थी। इस तरह

---

१४६. राहुल सांकृत्यायन- कुमाऊँ, पृष्ठ ३३९

१४७. ऋग्वेद- ३/७/१

१४८. ऋग्वेद- ५/३२/१

१४९. ऋग्वेद- ५/५४/१५

आर्यों के देश में शरद, हेमन्त और वसन्त तीन ऋतुओं का भी वर्णन मिलता है।[१५०] वहाँ वर्षा का भी आधिक्य था।[१५१] आर्य ऋषियों को हिमालय की जलवायु अत्यन्त प्रिय थी। वैदिक जलवायुओं में सृष्टिकर्त्ता की महत्ता, हिमाच्छादित पर्वत बतलाते हैं।[१५२] 'हिमेनाग्नि, हिमेववाससो, हिमम्वानान् हविष्मान्' कहकर उन्होंने हिमालय के प्रति असीम श्रद्धा व्यक्त की है। अथर्ववेद (१२/१/११) में भी गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु। कहकर हिमालय की वन्दना की है। वहाँ वर्ष भर में तीन ऋतु की प्रधानता थी। एक में अन्नोपार्जन के लिए बीज बोया जाता था। दूसरे में सभी सच्चे प्रेमी खूब प्रयास करते हैं। शीतल वायु-वेग के कारण एक ऋतु का रूप नहीं देखा जा सकता अर्थात् हेमन्त में मूलस्थान में नही रहा जाता।

आर्यों को अपने देश में बारहों माह अग्नि प्रज्वलित रखनी पड़ती थी। इसलिए आर्य सविता, उषा आदि अग्नि के प्रतीकों के विशेष भक्त थे। उषा और सूर्यदेव का बारम्बार स्तवन किया गया है। मेघाच्छादित दिवस भी शीतप्रधान प्रदेशों के लिए असह्य होता है। अधिक वर्षा और जाड़े के दिनों में सूर्य के बादलों से बाहर निकलते पर आर्य प्रसन्नता प्रकट करते हैं। मौसम के अनुसार कई दिनों तक ऋग्वेद में सरस्वती नदी के तट पर अनिवार्य यज्ञ-यागों द्वारा अग्नि प्रज्वलित रखने की जो व्यवस्था थी वह भी उनके शीतप्रधान प्रदेश होने का सूचक है। ऋग्वेद में वर्णित आर्यों के आदि देश की जलवायु शीतप्रधान थी। इसी कारण सम्भवतः श्री पावगी और तिलक को आर्यों के देश के लिए उत्तरी ध्रुव की कल्पना करनी पड़ी। राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार ब्रह्मावर्त में अर्थात् आर्यों के आदि देश में अद्भुत सौन्दर्यशाली प्रातःकाल की झाँकी मिलती है। उसके अधिकांश भागों में बादल और बिजली, मेघों और पर्वतों से घनघोर वर्षा के रूप में रुद्र प्रकृति का वर्णन है। यहीं ऋग्वेद का अधिकांश भाग बना होना चाहिए।

इस प्रदेश में अत्यन्त मनोरम जलवायु थी जो आज भी कई रूपों में विद्यमान है। राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि- 'हिमालय श्रेणी की हिमानियों तथा हिमशिखरों के इस ओर साइबेरिया की टुण्ड्रा की भाँति आठ माह धरती बर्फ से ढकी रहती है।' १३,००० फुट से ऊपर ध्रुवकक्षीय जलवायु आ जाती है। यहाँ जाड़ा लम्बा और गर्मी का मौसम छोटा होता है, जिसके कारण अभी बर्फ

---

१५०. ऋग्वेद- १/१६४/४४

१५१. ऋग्वेद- २/१२/२, २/१७/५

१५२. ऋग्वेद- १०/१२१/४

अच्छी तरह पिघलने भी नहीं पाती कि नयी बर्फ पड़ जाती है। दिसम्बर से अप्रैल तक यह क्षेत्र सफेद हिम की चादर के नीचे ढक जाता है।[१५३] पारसियों के धर्म ग्रन्थ 'जेन्दावस्ता' में लिखा है कि आदि सृष्टि जिस भू-भाग में हुई वहाँ दस माह शीत और दो माह गर्मी रहती थी। इसका संकेत भी सीधा इन प्रदेश की ओर जाता है। आर्यों के आदि देश में दिन-रात घने मेघों से आच्छादित रहने के कारण वहाँ दिन में भी रात्रि की तरह गहन अंधकार छाया रहता है।

इस आदि देश के ऊपरी भाग में जो हिम प्रधान भाग हिमालय के निकट है। उसमें नवम्बर से मई जून तक आठ माह हेमन्त ऋतु का प्राधान्य बना रहता है। जून से अक्टूबर के अन्त तक वहाँ वसन्त रहता है। उस समय वहाँ सारी भूमि पुष्पमय दिखायी देती है। ८,००० फुट से ऊपर वाले पर्वतों पर वर्षाऋतु और वसन्त ऋतु मिश्रित रूप में दिखायी देती है।[१५४] वाल्टन भी लिखता है कि दक्षिण में ७,००० फुट से ऊपर और उत्तर में ६,००० फुट से ऊपर सारे वर्ष जलवायु शीत रहती है। वर्ष में वहाँ तीन ही ऋतुएँ होती हैं।[१५५] पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता के अनुसार तिलक आदि कई विद्वानों का मत है कि आर्य पहले ऐसे प्रदेश में रहते थे जहाँ सात मास गर्मी और पाँच माह सर्दी पड़ती थी। छः ऋतुओं होती थी, जलवायु अच्छी थी। परन्तु जल प्लावन एवं आकस्मिक हिमाच्छादन के कारण आर्य इस प्रदेश से भागकर ऐसे प्रदेश में चले गये जहाँ दस माह की ठण्ड और दो माह की अल्प गर्मी पड़ती थी। वैवस्वत मनु इस प्रदेश के दक्षिणी प्रदेश में बसे थे। उस युग में इसका नाम दक्षिण गिरिथा। उन दिनों की जलवायु सात माह गर्म और पाँच माह ठण्डी रहती थी। जलप्लावन के समय वैवस्वत मनु अपने विशिष्ट प्रजाजनों सहित उस प्रदेश के उत्तर दिशा की ओर भाग निकले जहाँ आज भी ठण्ड एवं गर्मी क्रमशः दस एवं दो माह की होती है।

आर्यों के देश के उत्तरी भाग का अधिकांश भाग १२ हजार फुट ऊँचे हिम शिखरों से आच्छादित होने के कारण वहाँ की जलवायु उत्तरी ध्रुव की भाँति शीतप्रधान है। दक्षिणगिरि उत्तर गिरि की अपेक्षा कुछ समतल है। वहाँ सरिता-तटों एवं उपत्यकाओं की जलवायु अत्यधिक उष्ण है। लक्ष्मणझूला की ऊँचाई केवल १,००० फुट होने के कारण वहाँ की जलवायु भी उष्ण प्रकृति की है। इस प्रकार

---

१५३. राहुल सांकृत्यायन- गढ़वाल, पृष्ठ २६, २७
१५४. रतूड़ी- गढ़वाल का इतिहास, पृष्ठ ३८,३९
१५५. Walten- Gajetier of British Garhwal, p. 28

१,००० फुट से निम्न और २५,६०० फुट तक ऊँचे स्थलों से आच्छादित होने के कारण उस पर्वत प्रदेश में अत्यधिक शीत और उष्ण दोनों प्रकार की जलवायु पायी जाती है। चार हजार से सात-आठ हजार फुट तक ऊँचे क्षेत्रों में यहाँ प्राय: परिवर्तित हल्के तापक्रम वाले शीतोष्ण जलवायु का बाहुल्य है। ऋग्वेद[१५६] में कहीं-कहीं छ: ऋतुओं तथा कहीं शिशिर और हेमन्त एक ही ऋतु होकर केवल पाँच ऋतुओं का भी उल्लेख मिलता है। बारह-तेरह हजार फुट से ऊँचे हिमाच्छादित पर्वत प्रदेश की ध्रुवीकक्षीय जलवायु में शिशिर और हेमन्त दोनों में फरवरी-मार्च तक भी हिमपात होता रहता है। अत: वहाँ के निवासियों को शिशिर और हेमन्त दोनों ऋतुएँ समान प्रतीत होती हैं। ऋतुओं के इस दिव्य संगम के कारण आर्यों का देश स्वर्ग के सदृश्य प्रतीत होता है। जलवायु की इस अद्भुत विशेषता ने इस क्षेत्र को अतीव मनोरम एवं दिव्य बना दिया था।

❑ आर्यों का स्वर्ग

आर्यों ने अपने इस आदि देश को सगर्व 'स्वर्ग' नाम से विभूषित किया है। आर्यगण ऋग्वेद में प्रार्थना करते हैं, 'सोम! जिस लोक में वैवस्वत मनु राजा हैं, जहाँ स्वर्ग का द्वार है और जहाँ मंदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, उस उत्तम लोक में मुझे अमर करो। इन्द्र के लिए क्षरित होओ।'[१५७]

ऋग्वेद की इस ऋचा में चार तथ्यों का उल्लेख किया गया है- सर्वप्रथम सोम का वर्णन है, जिसका उत्पत्ति स्थान हिमालय का मुंजावत नामक पर्वत है। मंत्र के द्वितीय तथ्य के अनुसार, वहाँ वैवस्वत मनु का राज्य है। वैवस्वत मनु (यम) ब्रह्मावर्त के राजा थे। उन्होंने जलप्लावन के समय आर्यों के आदि देश के दक्षिणगिरि प्रदेश से उत्तरगिरि की ओर हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर अपनी नाव बाँधने के लिए सप्तऋर्षियों को लेकर प्रयाण किया था। मनु का यह 'मनोरवसर्पण' नामक सर्वोच्च शरणस्थल उन्हीं के द्वारा प्रशंसित देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त में बद्रीनाथ के निकट सरस्वती के तट पर वर्तमान गाँव अतुपास है। जिसका पौराणिक नाम मणिभद्रपुर था। हिमालय के इस उत्तरगिरि क्षेत्र में एवरेस्ट के पश्चात् कामेट और माना २५,००० फुट ऊँचे सर्वोच्च हिमाच्छादित शैल-शिखर हैं। इसका अर्थ है कि हिमालय के दक्षिणगिरि से लेकर उत्तरगिरि तक आर्यों

---

१५६. ऋग्वेद- १/२३/१४, १/१६४/१२,१५

१५७. यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिव:।
यत्रामूर्य व्हतीरापस्तत्र माममृत कृधीन्द्रायेन्द्रो परिस्त्रव।
– ऋग्वेद, ९/११३/८

का आदि देश जिसे गढ़वाल के रूप में जाना जाता है, के समस्त पर्वत प्रदेश पर मनु का राज्य था। मंत्र के तीसरे भाग में कहा गया है कि वहाँ स्वर्ग का द्वार है। स्वर्ग कहाँ है? उसका द्वार कहाँ है? उसके सम्बन्ध में केदारखण्ड (१०६/४-५) के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट होता है। उसमें हरिद्वार से नीचे की भूमि सामान्य भूमि, हरिद्वार से ऊपर की भूमि स्वर्गभूमि और हरिद्वार स्पष्टतः स्वर्गद्वार कहा गया है, जिसके दर्शन मात्र से मनुष्य भवबन्धनों से मुक्त हो जाता है।[१५८]

महाभारत[१५९] में लिखा है कि जिस क्षेत्र में गंगाजी अलकनन्दा के नाम से पुकारी जाती है। वही स्वर्ग है। आज भी हरिद्वार के ऊपर गंगाजी अलकनन्दा नाम से पुकारी जाती है। पाँचों पाण्डव के साथ अर्जुन ने वनवासकाल में बद्रिकाश्रम के गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत स्वर्ग में स्वर्गाधिपति इन्द्र से दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे। पाण्डवों ने स्वर्गारोहण के निमित्त भी इसी स्वर्गभूमि की यात्रा कर मुक्ति प्राप्त की थी। महाराज युधिष्ठर ने स्वर्ग त्रिविष्टप में प्रवेश करने के पश्चात् जिस देवनदी गंगा में स्नान कर देवत्व प्राप्त किया था, वह स्वर्ग वर्तमान तिब्बत (त्रिविष्टप) नहीं वरन् गन्धमादन का यही पावन प्रदेश है। स्वर्गाधिपति इन्द्र युधिष्ठिर से कहते हैं-

एषा देवनदी पुण्या पाप त्रैलोक्य पावनी।
अत्र स्नानस्य भावस्ते मानुषो विगमिष्यति॥
गंगा देवनदी पुण्या पावनीपृषि संस्तुताम्।
अवगाह्य तु तां राजा तनु तत्माज मानुषीम्॥

मंत्र के चौथे तथ्य में कहा गया है कि जहां मंदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, वही स्वर्ग है। इस दृष्टि से आर्यों के आदि देश के केदार क्षेत्र में बहने वाली मंदाकिनी के भौगोलिक अस्तित्व से ऋग्वैदिक आर्यों की स्वर्गभूमि की वास्तविकता पूर्णतः प्रमाणित होती है।

ऋग्वेद और पुराणों के अनुसार इन्द्र, बुधपुत्र, पुरुरवा और उर्वशी का निवास

---

१५८. गंगाद्वारोत्तरे विप्र स्वर्गभूमि स्मृता बुधैः।
अन्यत्र पृथ्वी प्रोक्ता गंगाद्वारोत्तरं विना॥
इदमेव महाभाग स्वर्गद्वारं स्मृतं बुधेः।
यस्य दर्शनमात्रेण विमुक्तो भवबन्धनैः॥

१५९. महाभारत आदिपर्व, पृष्ठ १६९/२२

स्थान गन्धमादन पर्वत और अलकनन्दा का तटवर्ती क्षेत्र था। आर्य साहित्य में इसी क्षेत्र को 'पृथ्वी का स्वर्ग' की उपमा दी गयी है। पुरुरवा ऐल की राजधानी प्रतिष्ठानपुर (जोशीमठ) थी। ऋग्वेद (१/३१/४) के अनुसार जिस स्वर्गभूमि में अग्नि ने मनु को अनुग्रहीत किया था, वह शीतप्रधान प्रदेश था। विष्णुपुराण (४/६/४८) में भी लिखा है कि पुरुरवा ने उर्वशी के साथ अलकापुरी के अन्तर्गत सुन्दर पद्मों से अलंकृत मानसरोवर और सरस्वती में विहार करते हुए आनन्दपूर्वक सहस्त्रों वर्ष व्यतीत किए। वहाँ कहा गया है कि बद्रीनाथ से पश्चिम अर्धकोश की दूरी पर सम्पूर्ण सुन्दरता प्रदान करने वाला उर्वशीकुण्ड है। गुप्तकाल में महाकवि कालीदास ने भी अपने प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशीयम' में मंदाकिनी-अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र में गन्धमादन पर्वत पर पुरुरवा और उर्वशी की क्रीड़ाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने मेघदूत में कनखल के ऊपर देवता स्वरूप हिमालय और देवनदी गंगा के इस पावन क्षेत्र को स्वर्ग प्राप्ति का सोपान कहा है।

अथर्ववेद और विष्णुपुराण[१६०] में हिमालय के इस क्षेत्र को स्पष्टतः स्वर्ग कहा गया है। विष्णुपुराण में इस प्रदेश को उत्तर कुरुवर्य तथा इलावृत्तवर्य भी घोषित किया गया है। इसलिए इस क्षेत्र को वेदों ने योनिदेवकृत (२/३३/४) ओर मनु ने 'देव निर्मित देश' कहा है। क्योंकि यहाँ का अपना स्वतंत्र परम्परागत धर्म एवं आचार है। जो सबके लिए अनुकरणीय है। प्राचीनकाल में यह प्रदेश तीन भागों में विभाजित था इसलिए इसे 'त्रिविष्टप' भी कहते हैं।[१६१] एक के अधिपति विष्णु, दूसरे के इन्द्र और तीसरे के ब्रह्मा थे। इन्द्र एक पदवी थी जो स्वर्गराज्य के अधिपति के लिए निश्चित थी। गंधमादन पर्वत क्षेत्र में इस स्वर्ग राज्य का प्रत्येक अधिपति उत्तराधिकारी में इन्द्र से यह पद प्राप्त करने के पश्चात् इन्द्र या सुरराज के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस प्रकार स्वर्ग के जिस प्रदेश के अधिपति इन्द्र थे उसका नाम वेदों और पुराणों के अनुसार गन्धमादन प्रदेश अर्थात् बद्रिकाश्रम क्षेत्र था। इसी क्षेत्र में त्रिपथगामिनी (गंगा), जिसको ऋग्वेद के नदी सूक्त के प्रथम मंत्र में तीनों लोकों में बहने वाली सिन्धु (गंगानदी) भी कहा गया है, प्रवाहित होती है। महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व में स्वर्ग उस क्षेत्र का नाम था, जिसमें प्रवेश

---

१६०. विष्णु पुराण, २/३

१६१. इयानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय। शिरस्तत स्योर्वरा मादिदं य उपोदरे- ऋग्वेद, ८/९१/५, अर्थात् हे राजन तू इस त्रिविष्टप स्थान को प्राप्त कर जो सारी पृथ्वी से ऊँचा है और मनुष्य के लिए सुखकारी है, जो माता के उदर के समान मानव उत्पत्ति का स्थान है।

करने पर युधिष्ठिर को गंगा नदी मिलती है। गंगा त्रिविष्टप में गिरती है।[१६२] महाभारत (वनपर्व ८४/२७, ८९/१५, और ९०/२१) के अनुसार हरिद्वार ही स्वर्गद्वार है। वेदों के प्रकाण्ड विद्वान श्रीमत् दामोदर सातवलेकर लिखते हैं कि- 'त्रिविष्टप स्वर्ग का नाम है। इसी का अपभ्रंश तिब्बत हुआ है। तिब्बत ही त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्ग है।' सुरपति इन्द्र की अनुपस्थिति में देवताओं ने नहुष को त्रिविष्टप (स्वर्ग) का राजा नियुक्त किया था।[१६३] उस त्रिविष्टप का स्थान नन्दनवन (फूलों की घाटी) ही है।[१६४] ब्रह्मा ने ब्रह्ममूर्ति धारण कर जिस ब्रह्मावर्त की रचना की है, वह मानसरोवर से दक्षिण का यही क्षेत्र है, जहाँ से ब्रह्मपुत्र निकलती है। बाल्मीकि रामायण में भी त्रिविष्टप को ब्रह्मलोक कहा गया है।[१६५] अमरकोश में भी त्रिविष्टप को स्वर्ग एवं स्वर्गलोक माना गया है।[१६६] इस प्रकार वर्तमान तिब्बत त्रिविष्टप या स्वर्ग नहीं वरन् मानसरोवर से दक्षिण अलकनन्दा के उद्गमस्थान का निकटवर्ती गन्धमादन पर्वत क्षेत्र ही त्रिविष्टप एवं स्वर्ग है। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के कथनानुसार- 'हमारे पास यह मानने के लिए बहुत पुष्ट और पर्याप्त प्रमाण है कि इन आर्यों का प्रारम्भिक निवास स्थान हिमालय की ऊँची घाटियों में और हिमाच्छादित चोटियों पर था। भारत के इतिहास का पहला परिच्छेद इसी ठण्डे और सुहावने पर्वतों और प्रदेशों में लिखा गया है। यही वह प्रदेश है जिसे उत्तरकालीन आर्य स्वर्ग आदि नामों से पुकारते थे।"[१६७] आर्यों का आदि स्वर्ग राज्य के नाम से जाना जाता था, जिसका वर्तमान नाम गढ़वाल है। इस क्षेत्र का प्राकृतिक वैभव मनोरम एवं अद्वितीय था।

❑ आर्यों के आदि देश का प्राकृतिक वैभव

आठवीं शती तक आचार्य शंकर से पूर्व प्रायः समस्त प्राचीन आर्य मनीषियों

---

१६२. पतमानं सरिच्छेपठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात,
- महाभारत वनपर्व, १०९/५

१६३. सुरदुर्लभ वरं लब्ध्या प्राप्त राज्य त्रिविष्टपे।

१६४. देवोद्यानेषु सर्वेषु नन्दनीपवनेषु च।
कैलासे हिमत्पृष्ठे मन्दरे श्वेत पर्वत॥
- महा.- उद्योग पर्व, ११/८

१६५. त्रिविष्टपा ब्रह्मलोक: लोकानं परमेश्वर:

१६६. अव्ययं स्वर्गनाम त्रिदिवं त्रिदिशालय।
सुरलोको द्यौ, दिवो द्वै स्त्रियां क्लीवे त्रिविष्टपं।

१६७. इन्द्र विद्यावाचस्पति- भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृष्ठ १३

द्वारा हरिद्वार से उत्तर की भूमि को अद्वितीय आध्यात्मिक एवं प्राकृति सौन्दर्य के कारण स्वर्ग कहा गया। इस भूखण्ड में अनगिनत भू-स्वर्ग बिखरे पड़े हैं। अनन्त काल के एक खण्ड को मानो इसने अपने सर्वांग में समेट रखा है। यहाँ आने पर दिखायी देगी आर्यों की मौलिक प्रतिभा, आर्यों की आदि संस्कृति, आर्यों का सर्वकालजयी मंत्र यहाँ सुख नहीं आनन्द है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, केवल घनश्यामी आभा चारों ओर हरियाली ही हरियाली। मनचाही नदियाँ, मनचाही जल धाराएँ एवं सर्वत्र दृष्टिगोचर होती फूलों से लदी वन भूमि। समस्त संसार के पुष्प यहाँ पुष्पित होते हैं, व अपना पावन सौरभ बिखेरते हैं। तपोवन की यह प्रकृति अपूर्व है। सुर्ख सेव और अनारों ने बड़े पहाड़ को लाल-लाल कर दिया है। वर्णवैचित्र्य पक्षियों की कल्पना नन्दन कानन का आभास दे रहे हैं। सुनील नयना नदी जिसकी जलराशि में अनन्त उदार आकाश की परछाई पड़ रही है। चिरतुषार धवलित त्रिशुल का शिखर और नयनाभिराम नन्दादेवी मंत्र मुग्ध किये देती है।

देवात्मा हिमालय-

हिमालय आर्यों के लिए जड़ पर्वत नहीं वरन् साक्षात देवता है। आर्यग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उसकी अलौकिक श्री सम्पन्नता के अनेक भव्य चित्र अंकित हैं। कालीदास का हिमालय वर्णन तो विश्व साहित्य में अद्वितीय एवं अद्भुत है। उनके शब्दों में हिमालय अनेक रत्नों का जन्मदाता है।[१६८] उसके द्रोण गिरियों में अनेक बहुमूल्य जड़ी-बूटियाँ उगती हैं।[१६९] वह पृथ्वी में रहकर भी स्वर्ग है।[१७०] इसकी उपत्यकाओं में स्थान-स्थान पर अनेक तीर्थ हैं, जहाँ आकर लोग शुद्ध हो जाते हैं।[१७१] उसके पर्वत शिखरों पर सरोवरों में भाँति-भाँति के कमल पुष्पों से परिपूर्ण प्राकृतिक पुष्पोद्यानों में सप्तर्षि पुष्पचयन करते हैं-

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाव्यद्यो विवस्वान्यपरिवर्तमानः।

पद्माति यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोध पत्यूर्धमुखैर्मयूरवैः॥

महाकवि कालिदास ने मेघदूत, कुमारसम्भव, विक्रमोवशीयम और रघुवंश में जिस नागाधिराज हिमालय की विशाल प्रकृति और अनन्त सौन्दर्य के मनोरम

---

१६८. अनन्त रत्न प्रभवस्य यस्य

१६९. भवन्ति यत्रोषधयो रजन्याय तैलपूरत सुरत प्रदीपः।

१७०. भूमैर्दिवमि वारुढं।

१७१. अथ प्रभृतिभूतानांमधिगम्यो आस्यशुद्धयो यदध्यासितंमर्हदिभरत दि तीर्थ प्रचक्षते।

चित्र खिचे हैं, उसका वर्तमान नाम गढ़वाल है। कुमार सम्भव में कालिदास ने स्पष्ट किया है कि इस हिमालय के चारों ओर परम सुगन्धित गन्धमादन पर्वत फैला हुआ है, जहाँ गंगा की धाराएँ बहती थीं एवं चमकीली जड़ी-बूटियाँ प्रकाश करती थीं।[१७२] हिमालय में गंगा नदी के निर्झरों की ठण्डी फुहारों से लदा हुआ और मन्दमन्द कम्पित वृक्षों के पुष्पों में बसा हुआ पवन बहता था।[१७३] कालिदास के दिग्विजयी रघु ने जिस हिमालय-नरेश के राज्य में प्रवेश किया था वहाँ भोजपत्रों का वन था और मार्ग में गंगा की फुहारों से शीतल हुआ वायु वेग बह रहा था। इस प्रकार कालीदास द्वारा वर्णित हिमालय का सम्पूर्ण प्रकृति-वैभव हिमालय के उस क्षेत्र पर आधारित है, जहाँ गंगा, भागीरथी, मंदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, जहाँ कैलास, अलकापुरी, गन्धमादन, बद्रिकाश्रम, नर-नारायण आश्रम, कण्वाश्रम और कनखल आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थलों का भौगोलिक अस्तित्व सुरक्षित है। महापण्डित राहुल भी हिमालय में सुन्दर एवं दिव्य उपत्यकाओं की बात करते हैं। वाल्टन के अनुसार हिमशिखरों के कारण देवात्मा हिमालय का सौन्दर्य प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित है।

हिमालय पर्यटक सर जॉन स्ट्रैची 'इण्डिया' नामक पुस्तक में लिखते हैं- 'मैंने कई यूरोपीय पर्वतों का पर्यटन किया है, परन्तु अपनी विशालता एवं भव्य सौन्दर्य में उनमें से कोई हिमालय की तुलना नहीं कर सकता।' शेरिंग का कहना है कि टिहरी से लेकर पूर्व अल्मोड़ा तक हूण देश की सीमा पर फैले हुए ३०० मील के इस छोटे से प्रदेश में हिमशिखरों की ऐसी विलक्षण श्रृंखलाएँ पायी गयी हैं जो संसार के किसी भी भाग में उपलब्ध नहीं होती। इस सीमित क्षेत्र में कम से कम ८० हिमश्रृंग २० सहस्त्र फुट या उससे अधिक ऊँचे हैं, जिसके बीच में मुक्ताओं के मध्य हीरों की भाँति कुछ ऐसे हिम शिखर हैं जो संसार के सर्वोच्च हिमशिखरों में से हैं।[१७४]

हिमशिखर-

आर्यों के आदि देश का वैभव एवं सौन्दर्य हिमशिखरों के कारणों से

---

१७२. गंगास्त्रोत: परिक्षिसव प्रान्तज्ज्वलितौषध: यस्यचोपवनं बाह्यंगंधबदगंधमादनम्। गंधमादनवनं विहर्तुगता तत्रइवलभेदा किन्या: पुलिनेषुगतासिक्ता पर्वतकेल्मिभि: क्रीडन्ती। - कुमारसंभव

१७३. गंगाप्रवातान्त विरुद्शष्यं गौरीगुरोर्गह्वरभाविवेश। पुक्तस्तुषारं गिरि निर्झराणां मनोकेहा कम्पित पुष्पगंधा। - कालीदास, रघुवंश

१७४. Sharing- Western Tibbat and British Borderland, p. 30

सहस्रगुणित हो उठता है। ये शिखर हैं-

कामेट		२५,४४३ फुट
नन्दा देवी		२५,६६० ,,
त्रिशूल १.		२३,४०६ ,,
,, २.		२२,४९० ,,
,, ३.		२२,३६० ,,
द्रोणगिरि		२३,५३१ ,,
सुमेरु काठां	१.	२३,६६० ,,
(सतोपंथ)	२.	२३,२४९ ,,
,,	३.	२१,९९१ ,,
केदारनाथ	१.	२२,८४४ ,,
,,	२.	२१,६९५ ,,
भारतखण्ड (केदारखण्ड)		२२,३३३ ,,
कुनलिंग (बद्रीनाथ)	१.	२१,२२६ ,,
,, ,,	२.	२०,०३८ ,,
हाथीपर्वत (पैनखण्डा)		२२,१४१ ,,
स्वर्गारोहिणी (केदारनाथ)		२०,२९५ ,,
बन्दरपूँछ	१.	२०,७३१ ,,
यमनोत्तरी कांठा	२.	२०,०२६ ,,
श्री कांठा (केदारनाथ)		२०,१३० ,,
चौखम्बा (बद्रीनाथ)		२०,००० ,,

तप्तकुण्ड और देवनदियाँ-

बद्रीनाथ के तप्तकुण्ड में १२०° और नीतिमार्ग पर स्थिति तपोवन के चार स्रोतों में १२३ से १२७° तक उष्णता है। केदारनाथ मार्ग पर गौरीकुण्ड का तापमान १२८° है। इसी प्रकार गंगोतरी मार्ग पर गंगनाणी, यमनोत्तरी, पिण्डर की बार्यी और कलसारी गंगासलाण मौरी में उष्णजल के स्रोत हैं।

गढ़वाल को देवनदियों का देश कहा जाता है। इसके हिमशिखरों से देवनदी

सरस्वती, गंगा, धौली, नंदाकिनी, पिण्डर, मंदाकिनी, भागीरथी और दोनों नयार तथा ऋषि गंगा, गणेश गंगा, रुद्रगंगा, पातालगंगा, गरुड़गंगा आदि अनेक कल-कल प्रवाहिनी सहायक सरिताएँ प्रवाहित होती हैं।

प्राकृतिक पुष्पोद्यान-

आर्यों के आदि देश में सौन्दर्य एवं वैभव प्रकृति प्रदत्त है। उसके पर्वत पृष्ठों पर ग्यारह सहस्र फुट से लेकर सहस्र सहस्र फुट की ऊँचाई में मीलों तक अनेक प्राकृतिक पुष्पोद्यान फैले हुए हैं। लोकपाल के निकट समुद्रतल से लगभग साढ़े पन्द्रह सहस्र फुट की ऊँचाई पर फूलों की घाटी प्रसिद्ध है। सन् १९३१ में भारतीय सेना के केप्टन फ्रैंक एस स्माइथ ने इसे खोज निकाला था। उन्होंने तीन महीने यहाँ रहकर ४०० से अधिक प्रकार के पुष्पों का चयन किया। वह अपनी पुस्तक में लिखते हैं- 'हमने पुष्पों की उपत्यका में प्रवेश किया, जो घुटनों तक फूलों से भरी थी। सर्वत्र शीतल और सुगंधित वायु बह रही थी। अपने जीवन में इससे अधिक मनोहर उपत्यका हममें से किसी ने भी नहीं देखी। हमारे स्मृति कोश में सहस्रों प्रकार के पुष्पों की यह उपत्यका सदैव सुरक्षित रहेगी।'

तीन मील चौड़ी और लगभग सात मील लम्बी यह मनोरम पर्वत उपत्यका सहस्रों प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित है। ब्रह्मकमल के अतिरिक्त यहाँ चार प्रकार के कमल पाये जाते हैं। इस घाटी में ३००० प्रकार की वनस्पतियाँ पायी जाती हैं। कैल, चीड़, देवदार, अखरोट, चूला, अंगूर, दल और बुरांस वृक्षों की भी यहाँ अधिकता है। यह महाभारत (वनपर्व) में भगवान् व्यास द्वारा वर्णित अनेक सरोवरों से परिपूर्ण, अगणित सुवासित पुष्पों से अलंकृत कुबेर का प्रसिद्ध नन्दन कानन है। यहाँ पर प्राकृतिक सुषमा अलौकिक है।[१७५] मंदाकिनी नदी के दोनों ओर उद्गमस्थल से कुछ नीचे, समुद्र तल से लगभग पन्द्रह सहस्र फुट की ऊँचाई पर एक विस्तृत समतल भू-भाग में अगणित पुष्पों से अच्छादित एक अन्य प्राकृतिक पुष्पोद्यान है। नदी तट के दोनों पार्श्व पर इस मनोहर पर्वत उपत्यका में दूर से केवल फूलों की ही वसुधा दृष्टिगोचर होती है। फूलों के अतिरिक्त वहाँ अन्य वनस्पति नहीं होती। पौधों के सारे डण्ठल पुष्पों से लदे हुए होते हैं। ग्रीष्म और वर्षाकाल में फूल फूलते हैं और हिमपात आरम्भ होने पर दबकर नष्ट हो जाते हैं। मंदाकिनी घाटी के इन पुष्पोद्यानों पर मुग्ध सेठ गोविन्द दास लिखते हैं-

---

१७५. नित्यं तुष्टाश्चते राजन प्राणिनः सुखवेश्मनि।
नित्यं पुष्पफलारस्तत्र पादपा हरितच्छदाः।

मार्ग में अनन्त वनस्पति जगत से परिपूर्ण हरित परिधान से परिवेष्टित हिमालय और जहाँ-तहाँ अगणित जल प्रपातों का ऐसा सुन्दर सृजन हुआ था कि मानो प्रकृति ने अपनी सारी सुषमा सम्पदा यहाँ बिखेर दी है। हरित शिखरावली के तरु एकदम लुप्त हो गये हैं परन्तु इन गिरिश्रृंगों पर अगणित पुष्पों के पौधे उगते हैं। प्रकृति ने परम प्रसन्न होकर पर्वतराज की पीठ पर यह पुष्प सौरभ बिखेर दिया है और उनकी काया को सौन्दर्य और श्रृंगार के श्रेष्ठ प्रतीक सुवासित पुष्पों के प्रचुर परिमाण से पाट दिया है। अनन्तरूपा, अनन्तरत्ना पावन प्रकृति की यह छवि उसकी यह सौरभ सुषमा और सम्पदा का सारा दृष्य सर्वथा अकल्पित अद्‌भुत और अलौकिक है।[१७६]

इस पुष्पोद्यान में अन्य पुष्पों के अतिरिक्त नील कमल और पुष्पराज भी होते हैं। ऊँचे-ऊँचे पर्वत शिखरों पर दूर तक फैली हुई इस अनन्त पुष्पराशि के दर्शन जिस अनिर्वचनीय आनन्द एवं स्वर्गीय शान्ति की सृष्टि करते हैं वह वर्णनातीत है। गढ़वाल मे अमर कविचन्द्र कुंवर ने वन उपवनों में उगे हुए 'रैमासी पुष्पों' का मनोरम वर्णन किया है।[१७७]

हिमाचल के इन मनोरम अंकों में लगभग ग्यारह सहस्त्र फुट से लेकर तेरह सहस्त्र फुट की ऊँचाई पर कोमल घास भरे हुए 'बुग्याल' नाम से प्रसिद्ध कई चरागाह हैं। इन बुग्यालों में कुटकी, अतीस, चिरायता, सालमपंजा, माली, सालममिस्त्री, खाणभेद, हथाजड़ी, वज्रदन्ती, वसन्ती आदि मूल्यवान वनौषधियाँ हैं। रूपकुण्डा के निकट लगभग सात वर्ग मील में फैले हुए आली और वेदनी बुग्याल के चौरस मैदान भाँति-भाँति के सहस्त्रों पुष्पों से आच्छादित है। उस सीमाहीन रंगीन कालीन की भाँति मैदान पर प्रकृति ने रंग-बिरंगे अनन्त कलात्मक पुष्प सजाये हैं। कविवर देव के शब्दों में आज भी दर्शक जिन्हें 'देखि न थकत,

---

१७६. कल्याण (मासिक), गोरखपुर, अगस्त १९६१, पृष्ठ १

१७७. मां गिरिजा दिनभर चुन जिनसे
भरती अपना पावन दुकूल।
पावनी सुधा के स्रोतों से
उठते हैं जिनके अरुण मूल।
मेरी आँखों में आये वे।
राईमासी के दिव्य फूल।
मैं भूल गया इस पृथ्वी को
मैं अपने को भी गया भूल॥

देखि देखि न सकत, देव देखिवे कि धात देखि देखि न अघात है।' यहाँ सूर्यास्त के अलौकिक दृश्य से परम चमत्कृत होकर गढ़वाल के अंतिम अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर बर्निडो का कला प्रेमी हृदय कह उठा था- मैंने यूरोप के प्रकृति श्री-सम्पन्न अनेक रम्य स्थलों पर पर्यटन किया है परन्तु आली बुग्याल के सूर्यास्त का यह मनोरम दृश्य जैसा अद्वितीय दृश्य कहीं नहीं देखा है। इसी क्षेत्र में वेदों का संकलन किया गया था।

तपोवन के रमणीगाँव के मार्ग में, कुमारीघाट से दो मील आगे लगभग सोलह सहस्र फुट की ऊँचाई पर 'कुमारी बुग्याल' नामक एक और प्राकृतिक पुष्पोद्यान फैला हुआ है। यह मंदाकिनी तट के कुसुमोद्यान से अधिक ऊँचाई पर और विस्तार में भी उससे अधिक है। वाल्टन ने इस क्षेत्र के प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत हो कर कहा था- जिन्होंने मंदाकिनी स्रोत की ओर उसके तटवर्ती क्षेत्र का भ्रमण किया होगा, जिन्होंने कभी तुंगनाथ श्रेणी के विशाल सघन वनों में विचरण किया होगा वह प्रकृति के इस मनोरम क्षेत्र को भुला नहीं सकता।'[१७८] बी.एन. दातार ने अपनी बद्री-केदार तीर्थ यात्रा में लिखा है- पुष्पों से भरी घाटियाँ एक ऐसा चिर-परिवर्तनशील मनोरम दृश्य बनाती है जो कि एक ओर ऊँची पहाड़ी की चोटी तथा दूसरी ओर खाइयों के कारण आदरभाव तथा आश्चर्य का एक समन्वित विषय प्रस्तुत करती हैं। इसके किनारे पहाड़ दृश्यावलियों तथा घने वृक्षों से लदे हैं।[१७९]

यहाँ के सघन वनों के निकट सरिता तटों पर, सरस पर्वत-उपत्याकाओं में बसे हुए ग्राम समूहों का प्रकृति-वैभव भी अत्यन्त आह्लादकारी है। इस सौन्दर्य पर मुग्ध हो महात्मा गांधी कहते हैं 'हिमालय के आकर्षक सौन्दर्य और अनुकूल जलवायु से दर्शक आनन्दमग्न हो जाता है। इस पर्वत प्रदेश का प्रकृति-सौन्दर्य और जलवायु विश्व के सौन्दर्य स्थलों में सर्वोत्कृष्ट है।'[१८०]

सरोवर-

आर्यों के आदि देश में सुन्दर हिमानियों, देवनदियों और प्राकृतिक पुष्पोद्यानों के अतिरिक्त अनेक सुन्दर सरोवरों का भी बाहुल्य है।

दिवरीताल- (८,००० फुट) ऊखीमठ से ७ मील उत्तर पूर्व, ८०० गज

---

१७८. वाल्टन- गढ़वाल गजेटीपर, पृष्ठ १८६-८७

१७९. B.N. Patar- Himalayan Pilgrimage, Delhi 1961

१८०. महात्मा गांधी- यंग इंडिया, ११ जुलाई १९२९ ई.

के घेरे में अत्यन्त रमणीय सरोवर है। जिसके तट का दृश्य अत्यन्त मनोहर है। विशाल दर्पण की भाँति इसमें लगभग १५ मील की दूरी पर अवस्थित चौखम्बा शिखर आपाद प्रतिबिम्बित होता है। प्रातःकाल सारे बद्रीनाथ, केदारनाथ की हिमालय-श्रेणियाँ सरोवर की जलराशि में डूबी दिखती हैं।

भेकताल- (९,००० फुट) परगना बधाण में बीस एकड़ क्षेत्र में फैला हुआ अत्यन्त सुन्दर ताल है। इसके चारों ओर भोजपत्र, बुरांस बेल और रिंगाल का गहन वन-वैभव बिखरा हुआ है। पर्वत-प्राकार के अन्दर सूर्य का ताप तक पहुँचने के कारण जाड़ों में और कभी-कभी गर्मियों में भी ताल के धरातल पर पर्याप्त मोटी हिमचादर पड़ी रहती है।

लोकताल एवं वासुकीताल- पाण्डकेश्वर से १५ मील पूर्व में प्राकृतिक पुष्पोद्यान से घिरा लोकताल अब हेमुकुण्ड के नाम से सिक्खों का तीर्थस्थल बन गया है। वासुकीताल श्वेत कमल-पुष्पों से परिपूर्ण है। इस सरोवर के लिए केदारनाथ और त्रियुगीनारायण से मार्ग जाता है।

सतोपंथ- बद्रीनाथ से १२ मील दूर पश्चिम में, लगभग एक मील के घेरे में फैला हुआ परम रमणीक सरोवर है। इसके तीन कोने ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नाम से प्रसिद्ध है। उसके मार्ग में अत्यन्त ऊँचाई से गिरनेवाला प्रसद्धि प्रपात वसुधारा है। इसके सौन्दर्य का पूरा वर्णन गढ़वाली कवि चक्रधर ने अपनी कविता में कर दिया है।[१८१]

ब्रह्मताल- (११,५०० फुट) परगना बधाण में, भेकताल के निकट दो मील की दूरी पर १०० फुट लम्बा और ६० फुट चौड़ा रमणीक सरोवर है। इसी परगने में १०२ एकड़ के क्षेत्र में फैला हुआ 'देवताल' नामक सरोवर भी है। परगना दशोली में आधा मील की लम्बाई में फैला हुआ 'गड़यारताल' है।

---

१८१. दरकदी मलकदी सी ख्वाड़ यह तारों की,
पनपदी, पुलकदी या दराड़ सी पारा की,
लपकदी लौ सी विमल सब्ल धारा की,
अटकदी भटकदी धार देखा वसुधारा की।

– चक्रधर- वसुधारा, पृष्ठ ७

(वसुधारा की जलधारा ऐसी मालूम होती हैकि स्वर्ग के तारों की बखेर आ रही हो अथवा उफनती छलछलाती पारद की खाई हो, अथवा विमल तथा भावपूर्ण ही ज्ञान ही धारा है। झूमती व इठलाती वसुधारा की धार देखिए।)

इसी प्रकार बेनीताल, सुखताल, तरगताल आदि यहाँ अनेक दर्शनीय सरोवर हैं, जिनके चारों ओर बिखरा हुआ अनन्त प्रकृति वैभव अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है।

सहस्त्रताल- उत्तरकाशी से गंगोत्तरी, वृद्धकेशर के मार्ग में मिलंगना घाटी में १४,००० फुट की ऊँचाई पर लिंगताल, मातृकाताल, नृसिंहताल, यमताल तथा इन सबके ऊपर १६,७८० फुट की ऊँचाई पर एक मील के घेरे में फैला हुआ १०० फुट गहरा सहस्त्रताल है। इन तालों के चारों ओर तथा तलहटी में सुन्दर चौकोर पत्थर की स्लेटे बिछी हुई हैं। इस तरह आर्यों के आदि देश का प्राकृतिक वैभव अत्यन्त मनोरम एवं दिव्यता से युक्त है। सहस्त्रों रंग-बिरंगे पुष्प समूहों से आच्छादित, प्रकृति का यह मनोरम सौन्दर्य स्थल बड़ा ही पवित्र और पावन था।

आर्य ऋषियों की तपोभूमि

आर्यों ने अपने आदि देश की प्राकृतिक सुरम्यता एवं सौन्दर्य के सान्निध्य में मानवीय अन्त:करण को सौन्दर्यपूर्ण बनाने के लिए अनूठे प्रयोग किए। उन्होंने अद्‌भुत तपश्चर्याएँ की, मंत्रों-ऋचाओं, सूक्तों, श्रुतियों का आविष्कार करके ऋषित्व प्राप्त किया। यह प्रक्रिया-परम्परा परवर्तीकाल में भी इतनी सघन होती गयी कि आर्यों का यह देश आर्य ऋषियों की तपोभूमि के रूप में विख्यात हो गया। आर्यों की इस तपोभूमि में वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल आते हैं, जिसके अन्तर्गत अनेकों ऋषियों ने तपश्चर्याएँ की।

❑ वैदिक ऋषियों की तप-साधना

ऋग्वेद में वर्णित है कि पर्वत गह्वरों और उपत्यकाओं में, सरिताओं के संगम स्थलों पर आर्य ऋषियों का जन्म हुआ।[१८२] वैदिक आर्य-मनीषियों में स्थितप्रज्ञ सप्तर्षियों का स्थान सर्वोपरि है। ये आदि स्वयंभु मनवन्तर के सप्तर्षियों में मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ थे। महाभारत और पुराणों में उल्लेख है कि ये सातों ऋषि सदैव उत्तर दिशा में निवास करते थे।[१८३] हरिद्वार में सप्तऋषियों का आश्रम है। सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर में अत्रि, वशिष्ठ, गौतम, कश्यप, विश्वामित्र, भारद्वाज और यमदग्नि ऋषि के नामों का उल्लेख है। हिमालय के इस क्षेत्र में हरिद्वार के ऊपर पर्वत उपत्यकाओं, गिरि-कन्दराओं एवं सरिता संगमों पर उन

---

१८२. ऋग्वेद- ८/६/२८

१८३. केदारखण्ड- ९/७

प्राचीन आर्य ऋषियों के अनेक स्मारक सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त अनेक देव-नदियाँ जिस अलकनन्दा में संधि करती हैं, उन संधि स्थलों पर वेदवाणी प्रकट करने के लिए आर्य मनीषियों ने ऋषि आश्रमों के अतिरिक्त पंचतीर्थों, विष्णु प्रयाग, नंदप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग और देवप्रयाग का सृजन किया।

वैदिक ऋषि-

अंगिरा- ऋग्वेद के प्रसिद्ध ऋषि अंगिरा ब्रह्मा के मानसपुत्रों में से एक थे। इनका आश्रम अलकनंदा गंगा के तट पर था।[१८४] ये छन्ददेव के गायक थे। अंगिराओं के लिए इन्द्र ने जिस क्षेत्र में गायों को खोज निकाला था वह सुदृढ़ पर्वत प्रदेश था।[१८५] ऋषि अंगिरा ने सरस्वती नदी के इसी तटवर्ती शीतप्रधान प्रदेश में सर्वप्रथम अग्नि को प्रज्वलित कर उत्पन्न किया था।[१८६]

कश्यप- ये मरीचि के पुत्र और आर्य नरेश दक्ष की तेरह कन्याओं के पति थे। ये उत्तर दिशा का आश्रय लेकर रहते थे।[१८७] ये हरिद्वार में रहते थे इसीलिए अलकनन्दा क्षेत्र का देव दानव और नागों की जन्मभूमि (केदार ३८/३५) स्तवन किया गया है। गालव को हिमालय की तराई में इनका आश्रम मिला था।[१८८] कश्यप गन्धमादन पर्वत पर भी तप करते थे। (महा. आदि. ३०/१०)

पुलह-ब्रह्मा के मानस पुत्रों में से एक थे, जो अलकनन्दा के तट पर तपस्या करते थे।[१८९]

यमदग्नि- भृगुपुत्र यमदग्नि ने उत्तर काशी के निकट नाकुरी नामक स्थान में रेणुका सहित तपस्या करते थे। यहाँ पर रेणुका देवी का मंदिर है। यमदग्नि मुनि का एक अन्य मंदिर रवाई क्षेत्र के थान गांव में है। परशुराम जी के मंदिर भी उत्तरकाशी और फराशू (श्रीनगर के निकट) में है। उसी प्रदेश में परशुराम तपस्या करने आया करते थे।[१९०]

वसिष्ठ- ऋग्वेद मण्डल ७ के मंत्रद्रष्टा ऋषि आर्य पुरोहित वसिष्ठ ब्रह्मा के

---

१८४. महाभारत वनपर्व, १४२/६

१८५. ऋग्वेद, ३/३१/५,६,७

१८६. ऋग्वेद, १/३१/१

१८७. महाभारत, १५०/३८/३९

१८८. महाभारत उद्योग पर्व, १०७/३/१५

१८९. महाभारत वनपर्व, १४२/६

१९०. यमदग्नि सुतो यत्र तपस्तेये सुदुष्करम- केदारखण्ड, ९३/१५

मानस पुत्र और सप्तऋषियों में एक थे। वे अरुन्धती सहित टिहरी की 'हिमदाव' पट्टी में स्थित विसोन (वसिष्ठाश्रम) में रहते थे। ऋषिकेश और द्रेवप्रयाग में भी वसिष्ठाश्रम है।[१९१] हिमदावाश्रम में वसिष्ठ का अपनी पत्नी सहित कई वर्षों तक रहने का उल्लेख है। महाभारत (आदि ९९/६,९) के अनुसार गिरिराज मेरु के पार्श्व-भाग में वसिष्ठ ऋषि का आश्रम था। महाकवि कालिदास ने भी हिमालय में गंगा के तट पर एक गुफा में महर्षि वसिष्ठ के रहने का वर्णन किया है।[१९२]

अत्रि- ये ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के अधिकांश सूक्तों के ऋषि हैं। ये आयुर्वेद के भी आचार्य थे। इनका आश्रम मण्डल चट्टी से ३ मील तथा उनकी पत्नी अनसूयादेवी के मंदिर के पास एक दुर्गम गुहा में अवस्थित है। यह परम रमणीक स्थान भारी शिलाखण्डों से आच्छादित अमृतगंगा के लगभग ३०० फुट ऊँचे जलप्रपात के भीतर सघन लता कुंजों से आवृत्त है। इसके नीचे निर्मल जल से परिपूर्ण एक अमृतकुण्ड है। उत्तर दिशा में हिमालय पर अत्रि का आश्रम का उल्लेख है।[१९३]

नर और नारायण- ऋग्वेद मण्डल ६, सूक्त ३५,३६ के ऋषि नर और मण्डल १० के प्रसिद्ध 'पुरुष सूक्त' ९० के ऋषि नारायण बद्रीनाथ क्षेत्र के अधिष्ठाता हैं। ये ऋषिद्वय धर्म और मातामूर्ति देवी के पुत्र रत्न हैं, जिनकी स्मृति में आज भी प्रतिवर्ष 'माणा' के पास मेला लगता है। जब नारायण ऋषि बद्रिकाश्रम में तप कर रहे थे तो उनकी जांघ से उर्वशी का जन्म हुआ।[१९४] बद्री क्षेत्र में नर नारायण आश्रम एवं पर्वत शिखर (क्रमशः १०,२१० और १०,७५० फुट) जहाँ प्राचीन काल में नर और नारायण ऋषि तप करते थे आज भी देखा जा सकता है।[१९५] वेदान्त ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए वैदिक काल में ऋषि नारायण ने एक विशाल बदरी वृक्ष के नीचे बद्रिकाश्रम की स्थापना की थी। महाभारत वनपर्व में लिखा है कि गन्धमादन विशाला (बद्रिकाश्रम) में नर और नारायण का आश्रम है। महाभारत में शंकर अर्जुन से कहते हैं- 'हे अर्जुन! तुम पूर्व जन्म में नर थे। उस समय तुमने अपने बड़े भाई नारायण के साथ कई सहस्त्र वर्षों तक बद्रिकाश्रम

---

१९१. केदारखण्ड, ४७/१७,१८

१९२. कालिदास, रघुवंश- २/२९

१९३. महाभारत, अनु. १६५/४४, पद्मपुराण, ११८/६१/७६

१९४. प्राचीन चरित्रकोश, पृष्ठ ८९

१९५. देवभागवत, अध्याय ६, केदारखण्ड, ५७/२, ५८/१०३,१०४

में तपस्या की थी।'[१९६] नर नारायण लोक कल्याणार्थ सदैव बद्रिकाश्रम में निवास करते हैं। इसलिए पुराणों में बद्रिकाश्रम को नर नारायण आश्रम भी कहा गया है।[१९७]

पराशर- गंगनानी (उत्तरकाशी) में पराशर ऋषि का तपस्थान है। ऋग्वेद के ऋषि वसिष्ठ के पुत्र शक्ति से उत्पन्न व्यास-पिता पराशर कहे जाते हैं।

भरद्वाज- बृहस्पति भरद्वाज 'यत्र-सर्वस्व' ग्रंथ के रचियता थे। ये आयुर्वेद के भी आचार्य थे। महाभारत के अनुसार हरिद्वार में इनका आश्रम था।[१९८]

विश्वामित्र- वेदमंत्र गायत्री के ऋषि विश्वामित्र की तपस्थली केदार और मंदाकिनी के मध्य में सूर्यप्रयाग से थोड़ी दूर अवस्थित है। युग निर्माण योजना के सूत्रधार आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार हरिद्वार का शान्तिकुञ्ज आश्रम पूर्व काल में विश्वामित्र की तपस्थली रही है।

गौतम- सप्तऋषियों में महर्षि गौतम का आश्रम भी हिमालय में मंदाकिनी के तट पर था। महाभारत में उल्लेख है कि उत्तरदिशा में इनका आश्रम था।[१९९] गौतम न्याय, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान थे।

अगस्त्य- मित्रावरुण जब बद्रिकाश्रम में तप कर रहे थे, उर्वशी से अगस्त्य का जन्म हुआ।[२००] रुद्रप्रयाग से १२ मील दूर मंदाकिनी तट पर 'अगस्त्य मुनि' नामक स्थान में उनके आश्रम की स्मृति आज तक सुरक्षित है। महाभारत में इस

---

१९६. नरत्वं पूर्वदहै वै नारायण सहायवान।
वदर्यातप्तवानुगं तपोवर्षान्युतान बहून॥

१९७. तत्रापि भारते खण्डे वदर्याश्रम संज्ञके।
नृनारायणरूपेणं तिष्ठति परमेश्वरः।
– भाग., ११/४/६

हरिं कृष्णं नरं चैव तथा नारायण नृप।
योगाभ्यासरतो नित्यं हरि कृष्णो वभूवह।
नर नारायणो चैव चरेतुरतप उत्तमम्।
प्रालेयान्द्रिं समागत्य तीर्थ बदरिकाश्रमे।
– देवी भागवत, ४/५/१२-१३

१९८. महाभारत-आदिपर्व, १२९/६

१९९. महाभारत- शान्तिपर्व, २०८/३३

२००. प्राचीन चरित्रकोश- पृष्ठ ९०

आश्रम की पुष्टि होती हैं। केदारखण्ड में भी इसका वर्णन मिलता है।[२०१] उन्होंने अपनी पत्नी लोपामुद्रा सहित हरिद्वार व बद्रिकाश्रम में भी तपस्या की थी।

भृगु- ऋग्वेद के ऋषि असुर गुरु शुक्र के पिता का आश्रम उत्तर गढ़वाल के भृगुपंथ नामक स्थान में था। इन्होंने हिमालय के उत्तर पार्श्व में स्थित उक्त उत्कृष्ट लोक की विलक्षणता का प्रतिपादन किया है। ब्रह्मा ने भृगु को सरस्वती देवी का मंत्र बद्रिकाश्रम में दिया था।[२०२]

इन्द्र- चारों ओर नाग और असुर राज्यों से घिरी हुई इनकी राजधानी अमरावती हिमालय के गन्धमादन प्रदेश में थी। इसी को सुमेरु एवं सतोपंथ भी कहते थे। स्वर्ग के तीन विभागो (त्रिविष्टप) में इन्द्र स्वर्ग के जिस विभाग के अधिपति थे, वह वेद और पुराणों के कथनानुसार उत्तर गढ़वाल का वह भूभाग है, जहाँ बद्रिकाश्रम और गन्धमादन पर्वत अवस्थित है। ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र उस पर्वत के निवासी थे जहाँ २१ पर्वत थे और जहाँ सप्तसिन्धुओं के अतिरिक्त ९९ नदियाँ बहती थीं। आचार्य सायण ने उसे स्पष्टतः 'गंगा का क्षेत्र' घोषित किया है।

पुरुरवा और उर्वशी- इनका स्वर्ग मंदाकिनी और अलकनन्दा का तटवर्ती प्रदेश है।[२०३] चन्द्रवंशी सम्राट पुरुरवा मनुपुत्री इला के गर्भ से उत्पन्न महर्षि बुध के पुत्र थे जिनका आश्रम वधान (बुध-अयन) में था। पुरुरवा की राजधानी जोशीमठ (प्राग्ज्योतिषपुर) थी। मत्स्यपुराण में मंदाकिनी और अलकनन्दा के इस क्षेत्र में स्थित प्रकृति श्री सम्पन्न इस क्रीड़ास्थली का विस्तारपूर्वक वर्णन है।[२०४] केदारखण्ड में भी इसका वर्णन मिलता है।[२०५] महाकवि कालीदास के विक्रमोर्वशीयम में भी इसी क्षेत्र का उल्लेख आया है।[२०६]

---

२०१. मन्दाकिन्यास्तटे रम्ये नानामुनिजनाश्रमे।
अगस्त्यादिन्महाभागन्नात्वा विप्रनलाश्रमे॥
- केदारखण्ड,

२०२. भृगवे ददोनुष्ठो वृहता बदरिकाश्रमे।
- ब्रह्मवैवर्त पुराण, १५/३०

२०३. वि.च.लाहा- प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृष्ठ १२९-३२

२०४. मत्स्य पुराण (अ. ११६ से १२० तक)

२०५. पश्चिमे क्रोश खंडार्द्धे वदरीनाथधामताः।
उर्वशी कुण्डमाख्यातं सर्वसौन्दर्यदायकम।
- केदारखण्ड, ५८/१३६-३७

२०६. प्राचीन चरित्रकोश, पृष्ठ ४४, ८९

बालखिल्य- मिल्वंग्सा- बालखिल्य संगम (बालखिल्य प्रयाग) में बालखिल्य ऋषियों ने तपस्या की थी। महाभारत भी इसकी पुष्टी करता है।

देवल- पुराने श्रीनगर में वर्तमान 'शंकरमठ' के निकट देवल ऋषि का तपस्थान था।

मान्धाता- बद्रिकाश्रम में अवस्थित मुचुकुंद आश्रम और गुफा में मान्धता की स्मृति सुरक्षित है। ऊखीमठ में भी आर्य नरेश मान्धता ने तप किया था।

कण्व- ऋग्वेद आठवें मण्डल के ऋषि कण्व का आश्रम प्राचीन हस्तिनापुर से लगभग ५० मील की दूरी पर चौकीघाट (कोटद्वार) के निकट गढ़वाल की अजमेर पट्टी से निकलने वाली मालिनी नदी के तट पर है।[२०७] कण्वाश्रम हस्तिनापुर से पर्याप्त दूर बेर, आक, खैर, कपिन्थ एवं धव के वृक्षों से आच्छादित एक रमणीक वन में था। उसकी भूमि ऊँची-नीची थी और उसमें पर्वत से लुढ़के प्रस्तर खण्ड इधर-उधर पड़े थे। वह निर्जन प्रदेश कई योजन तक फैला हुआ था। उस वन में मालिनी नदी से लगा हुआ काश्यप गोत्रीय कुलपति कण्व ऋषि का आश्रम था। महाकवि कालीदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' में इसकी पुष्टि की है। कण्वाश्रम हिमालय के ऐसे निम्रतम छोर पर अवस्थित था जिसके दोनों ओर हिमालय की तलहटी थी। इस क्षेत्र को मुगल इतिहासकारों ने 'दामने कीह' कहा है। इसका वर्तमान नाम 'तराई भाभर' है।

रुद्र- आयुर्वेद के आचार्य प्रकृति के उग्र देवता रुद्र का कैलास क्षेत्र में स्थापित इनका आश्रम सुर और असुर स्नातकों से परिपूर्ण अनेक विद्याओं का प्रमुख शिक्षा केन्द्र था। नागपुर परगने में कील पर्वत, जहाँ मंदाकिनी और गंगा का संगम होता है, रुद्र का क्षेत्र है।[२०८] केदारनाथ, तुंगनाथ, रुद्रनाथ, रुद्रप्रयाग नामक तीर्थों से रुद्र का सम्बन्ध बताया गया है। गोपेश्वर से आगे अत्रि-अनसूइयादेवी के मंदिरों से जो मार्ग जाता है, उससे दुर्गम चढ़ाई के उपरान्त ११,५०० फुट की ऊँचाई पर रुद्रनाथ का प्राचीन तीर्थ स्थान है।

विष्णु- ऋग्वेद के अनुसार देवताओं का लोक 'सुरलोक' विष्णुप्रयाग में स्थित था।[२०९] मनु का निवास स्थान पर्वत प्रदेश में सरस्वती नदी के तट पर था,

---

२०७. विमल चरण लाहा- प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृष्ठ ५८१

२०८. केदारखण्ड, १९४/१०

२०९. ऋग्वेद, १/१२/१६

वहाँ विष्णु का निवास भी था। यह स्थान विष्णु प्रयाग या केशव प्रयाग है। विष्णु प्रयाग के निकट जोशीमठ में भी विष्णु भगवान् का एक भव्य मंदिर है।[२१०]

दक्ष प्रजापति- दक्ष सर्वप्रथम आर्य नरेश थे और उनकी राजधानी हरिद्वार के कनखल में थी। इन्होंने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ किया। कनखल में शिव द्वारा इनके यज्ञ का विध्वंस हुआ।

महर्षि जह्नु- इनका आश्रम हर्सिल से आगे जाह्नवी (जाडगंगा) के तट पर जांगला में है।

वेदव्यास- गढ़वाल में चार स्थान व्यास आश्रम के नाम से प्रसिद्ध है- दो बद्रिकाश्रम के निकट बद्रीनाथपुरी से दो मील उत्तर की ओर माणा गांव के पास सरस्वती नदी के तट पर अवस्थित व्यास आश्रम और व्यास गुफा में है। तीसरा भैखण्डा (महिषखण्ड) के संगम स्थल व्यासघाट में है। विमल चरण लाहा लिखते हैं कि बद्रीनाथ के समीप ही व्यास आश्रम है।[२११] उन्होंने वहाँ पर महाभारत की रचना की और वेदों को चार संहिताओं में व्यास किया। उनके साहित्यिक जीवन का अधिकांश भाग हिमालय में गढ़वाल में इन्हीं उपत्यकाओं में व्यतीत हुआ। इस प्रकार आर्यों की तपोभूमि में वैदिक ऋषियों के तप एवं आध्यात्मिक अनुसंधान के पश्चात् उत्तर वैदिक ऋषियों का काल आता है।

❑ उत्तर वैदिक काल में तप की परम्परा

मध्य हिमालय का यह क्षेत्र हरिद्वार से लेकर बद्रिकाश्रम तक वैदिक काल से समस्त आर्य ऋषियों और महापुरुषों की तपोभूमि रहा है। आठवीं-नवीं शताब्दी अर्थात् स्वामी शंकराचार्य तक इस क्षेत्र की उस अविच्छिन्न आध्यात्मिक परम्परा से प्राचीन आर्य साहित्य ओत-प्रोत है।

❑ उत्तर वैदिक काल के महान् तपस्वी

त्रेता युग में रावण वध के पश्चात् कुछ वर्ष अयोध्या में राज्य कर पुरुषोत्तम श्रीराम ब्रह्महत्या के निवारणार्थ सीता और लक्ष्मण सहित देवप्रयाग में गंगा-भागीरथी के संगम पर तपस्या करने आये थे। केदारखण्ड में इसका वर्णन मिलता है।[२१२]

---

२१०. . Walten- Garhwal gajetier, p. 169

२११. विमल चरण लाहा- प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृष्ठ १२९

२१२. पुनदेवप्रयागे वै देव भूसुरः।
आययो भगवान विष्णु राम रूपात्मकः स्वयम॥ १५०/८०-८१
त्रेतायुगे दशरथी रामो लक्ष्मणसंयुतः।

इसी प्रकार देवप्रयाग से आगे श्रीनगर में श्री रामचन्द्र जी द्वारा प्रतिदिन सहस्त्र कमल-पुष्पों से कमलेश्वर महादेव की पूजा करने का वर्णन है। साथ ही मन्दाकिनी तटस्थ अगस्त्य मुनि तक उनके जाने की लोकोक्तियाँ हैं।[२१३] यज्ञ में बैठे हुए इन्द्रजीत का वध करने के कारण दशरथ तनय जब राजयक्ष्मा से पीड़ित हुए तो उन्होंने लंका विजय के पश्चात् ब्रह्महत्या निवारणार्थ इस क्षेत्र में आकर बारह वर्ष तक शिव की आराधना की थी।

रामायण में सीता जी के दूसरे वनवास के समय श्रीराम के आदेशानुसार लक्ष्मण द्वारा सीताजी को ऋषियों के तपोवन में छोड़ आने का उल्लेख है। देवप्रयाग से दो-तीन मील पर सीताकुटी-विदाकुटी नामक स्थान है, जहाँ पर सीताजी का मंदिर है। मुक्ष्याली गांव से ऊपर सीतावन-स्यूँ और सल्ड गाँव में भी सीताजी का मंदिर है। सल्डगाँव से ४-५ मील आगे एक परम रमणीक और समतल उपत्यका है जिसका नाम सीताजी के नाम पर 'सीतावनस्यूँ' है। इस क्षेत्र के देवल गाँव में सीता और लक्ष्मण जी का तेरह मंदिरों से घिरा हुआ एक प्राचीन मंदिर है। रामायण में भागीरथी के तट पर वाल्मीकि आश्रम का वर्णन है। परगना दशौली में नन्दप्रयाग से सात मील दूर 'वैरासकुण्ड' में दशमौली रावण ने अपने दसों सिरों की आहुति देकर महादेव को प्रसन्न किया था।

आर्यों के आराध्य पुरुषोत्तम राम ही नहीं, द्वापरयुग में स्वयं श्रीकृष्ण ने भी हिमालय की उपत्यका में गंगातट पर कठिन तपश्या कर रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न को जन्म दिया। इसीलिए गंगाजी को 'प्रद्युम्नस्यैकजननी' कहा गया है। महाभारत के अनुसार भगवान् कृष्ण द्वारा गन्धमादन पर्वत पर दस सहस्त्र वर्ष तक कठिन तपस्या करने का उल्लेख है।[२१४] अर्जुन ने भी गन्धमादन पर तपस्या की

आयास्यति तदा तत्र दर्शनं प्राप्स्यसि प्रिय॥ १५८/५५
अथ त्रेतायुगांते वै आगतो रामलक्ष्मणौ।
देवप्रयागे क्षेत्रे यत्र सा पुष्पमालिके॥ १५८/६४
रामो भूत्वा महाभाग गतो देवप्रयाग के।
विश्वेश्वरं शिवं स्थाप्य पूजयित्वा यथाविधि॥ १६२/५०

२१३. Philosophy of Vasista Canfirms Rama's Visiting These localities.
- Dr. Pitaram, Garhwal Ancient and modern, p. 159

२१४. दशवर्ष सहस्त्राणि यत्र सायंगृहो मुनिः।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने॥
दशवर्ष सहस्त्राणि दशवर्ष शतानि च।
पुष्करेष्व्वसः कृष्ण त्वमयो मक्षयन पुरा।

थी। देवर्षि नारद ने यहाँ एक सहस्त्र वर्ष तक व्रत अनुष्ठान किया था। हिमवान पर देवर्षि नारद का आश्रम है। महाराज पाण्डु ने कुन्ती और माद्री सहित पाण्डुकेश्वर में गन्धमादन क्षेत्रान्तर्गत तपस्या की थी। विष्णुपुराण में यदुवंश के पतन पर भगवान् कृष्ण ने इस क्षेत्र को पवित्रतम बतलाते हुए अपने प्रिय सखा उद्धव को बद्रीकाश्रम में तप करने का उपदेश दिया था।[२१५] आज भी वहाँ 'उद्धवचौरी' नामक स्थान है। इसी उत्तराखण्ड में ऋषिकेश के निकट गान्धारी, कुन्ती, संजय और विदुर ने भागीरथी के पावन तट पर कठिन तप करते हुए दावानल में भस्म होकर शरीर त्याग किये थे। इसी प्रदेश में श्रीकृष्ण ने महात्मा उपमन्यु का आश्रम देखा था। महामुनि शुकदेव ने उर्द्धलोक में गमन करने के लिए इसी पर्वत प्रदेश में पदार्पण किया था।

योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार ने यहीं कनखल के पास गंगातट पर मोक्ष प्राप्त किया। ऋषि देवशर्मा जो जन्मेजय के सर्पयज्ञ के सदस्य थे देवप्रयाग में रहते थे। शेषनाग यहीं तपस्या करते थे। बद्रिकाश्रम में चार्वाक ने तपस्या की थी। कैलास पर राजा सगर और भगीरथ ने घोर तप किया था। हनुमानजी भी इसी गन्धमादन क्षेत्र में हनुमान चट्टी के निकट निवास करते थे। हिमालय के इसी क्षेत्र में श्रीनगर के पास ऋषि अष्टावक्र भी रहते थे। आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती भी यहाँ की आध्यात्मिक प्रेरणा से प्रभावित हुए और केदारनाथ-बदरीनाथ की यात्रा का लोभ संवरण नहीं कर सके।[२१६]

युगनायक स्वामी विवेकानन्द ने भी हिमालय की इस तपोभूमि की महत्ता को प्रतिपादित किया है। वे स्वयं अल्मोड़ा क्षेत्र का भ्रमण किये थे। इस प्रकार अतीत से आर्य ऋषि व महापुरुषों ने अपने आदि देश उत्तराखण्ड को तप और साधना द्वारा दिव्य व संस्कारित किया।

संस्कृति की पहली किरण

आर्य ऋषियों ने तप के द्वारा जीवन को संस्कारवान बनाने की विधा विकसित की यही संस्कृति कहलाई। अनगढ़ व्यक्तित्व को सुगढ़ बनाने-ढालने के लिए उन्होंने प्रभावकारी रीति-नीति बनायी। जीवन नीति के सृजन में आर्य

---

२१५. यद्वदर्याश्रम पुण्यं गन्धमादनपर्वते।
नरनारायणे स्थाने तत्पवित्रं महीतले॥

२१६. श्रीमद् दयानन्द प्रकाश, पृष्ठ २८-३८

ऋषियों का मूल प्रयोजन था- मानवी चेतना पर सूक्ष्म विधि से उन आदर्शों की प्रतिष्ठापना करना जिसके द्वारा व्यक्तित्व परिष्कृत एवं श्रेष्ठ बनता हो। आर्य ऋषियों का यह अन्वेषण अनुसंधान संस्कृति के सत्य एवं गहन स्वरूप को उजागर करता है। संस्कृति वही है जो संस्कारित करे। और संस्कारित करने का अर्थ है- परिमार्जन, परिष्करण, शुद्धीकरण, परिपक्वीकरण। संस्कृति के आधारभूत तत्त्व 'संस्कार' में यही अर्थ सन्निहित है। जब मनुष्य अपनी कायिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आस्थागत प्रवृत्तियों को परिष्कृत उदात्त एवं श्रेष्ठ बना लेते हैं, तब उनके संस्कार गहराई से अंकित हो जाते हैं और प्रत्येक क्रिया में अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति ही संस्कृति है।

जीवात्मा ने तीन केलवर ओढ़ रखे हैं, इन्हें शरीर संस्थान, मन:संस्थान एवं अन्त:करण संस्थान भी कहा जाता है। क्रमश: क्रिया, चिन्तन एवं आस्था- इनकी मूलभूत शक्तियाँ हैं। इन तीनों शक्तियों का श्रेष्ठतम सदुपयोग ही काय, वाणी एवं चित्त का संस्कार है। संस्कृत मानव वही है, जो इन संस्कारों से सम्पन्न हो। अपने शरीर को उसमें निवास करने वाली परम पवित्र, परम प्रकाशवान, परम चैतन्य परमात्म सत्ता का मंदिर समझकर उसे सदा पवित्र, पुष्ट, प्रखर, क्रियाशील बनाये रखना ही काय संस्कार है। सक्रियता, श्रमशीलता, शुचिता का समुचित सुदुपयोग ही उसकी विशेषता है। वाक् संस्कार का अर्थ वाणी पर नियंत्रण एवं नियमन है। सत्यवन-वाक् ही संस्कारित वाक् है। ऐसी वाणी को वैदिक ऋषियों ने कल्याणी वाणी कहकर विशेष महत्ता प्रतिपादित की है। हमारे पूर्वज विचारक-मनीषियों का मत है 'शब्द ब्रह्माणी निष्णात: परं ब्रह्माधि गच्छति' अर्थात् शब्द ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है। इस प्रकार वाक् शक्ति का समग्र रूप चिन्तन शक्ति है, परिष्कृत, उदात्त, सत्यनिष्ठ चिन्तन ही वाक् संस्कार को सम्भव बनाता है। इसलिए वैदिक ऋषि कहते हैं मैं अपनी वाणी में सत्य को प्रतिष्ठित करूँगा।[२१७] सत्य भाषण द्वारा मैं सब बुराइयों से अपने को बचाता रहूँ।[२१८] वस्तुत: मनुष्य को सार्थक वाणी का सर्वोत्तम सदुपयोग करना वाक् संस्कार द्वारा सम्भव है। उस हेतु ज्ञान साधना, चिन्तन परिष्कार, विचार संयम आवश्यक है। शब्द की सहायता के बिना विचार नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार

---

२१७. वाच: सत्यमशीय

- यजुर्वेद, ३९/४

२१८. सा मा सत्योचित्त: परिपातु विश्वत:।

- ऋग्वेद, १०/३७/२

जी नारद से कहते हैं- वाक् नाम से बढ़कर है। वही ऋग्वेद को विज्ञापित करती है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पंचम वेद, इतिहास, पुराण, वेदों के वेद व्याकरण आदि समस्त विद्याएँ, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, साधु-असाधु यह सब वाक् ही विज्ञापित करती है।[२१९] अतः वाक् की उपासना करो। शंकराचार्य ने अपने मुख्य परोक्षानुभूति में कहा है- ज्ञान की उपलब्धि विचार के अतिरिक्त अन्य किसी साधना से सम्भव नहीं है।[२२०]

चित्त संस्कार तीसरा एवं सर्वोपरि संस्कार है। चित्त का लक्षण 'चेतयितृत्व' अर्थात् बोधयुक्त होता एवं निर्णय-समर्थ होता है। मन-बुद्धि, अंहकार आदि उसी के प्रयोजन-भेद से रखे गये नाम हैं। अन्तःकरण समुच्चय इन्हीं का नाम है। काय संस्कार एवं वाणी संस्कार की प्रेरणा भी परिष्कृत, सुसंस्कृत चित्त में उठती है। अतः चित्त सर्वोपरि संस्कार है। संकल्प की दृढ़ता चित्त संस्कार पर निर्भर है। वैशेषिक दर्शन में संस्कार की तीन विशेषताएँ बतायी गयी हैं- भावना, वेग एवं स्थिति-स्थापकत्व। चित्त संस्कार से प्रज्ञा का उन्मेष होता है। संस्कारित चित्त की सबसे बड़ी शक्ति है-श्रद्धा। सुसंस्कारित चित्त में सात्विक श्रद्धा घनीभूत होती है। काय संस्कार का प्रतिफल है- सत्कर्म। वाक् संस्कार का परिणाम है- सद्विचार तथा चित्त-संस्कार की परिणति है- सद्भाव। जब इस त्रिविध उत्कर्ष की सामूहिक धाराएँ बहती है, तो उसे संस्कृति कहते हैं।

सांस्कृतिक चेतना का अर्थ होता है- जीवन मूल्यों की चेतना। जीवन-दर्शन एवं जीवन व्यवहार दोनों ही उसके अंग हैं। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य सांस्कृतिक परम्परा एवं सांस्कृतिक उत्तराधिकार का सम्प्रेषण भी होता है। अतः जिस प्रकार संस्कृति के साधनात्मक आधार तीन है- काय संस्कार, वाक् संस्कार एवं चित्त संस्कार। उसी प्रकार उसके व्यावहारिक आधार भी तीन हैं। व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण एवं समाज निर्माण। तीन स्तरों पर सम्पन्न संस्कृति की यह त्रिविध साधना तीन परिणामों के रूप में सामने आती है- सामूहिक सद्भाव, सामूहिक सद्विचार एवं सामूहिक सत्कर्म या सदाचार। इस प्रकार संस्कृति की साधना-जीवन की साधना है।

---

२१९. बाग्वाव नाम्नो भूयसी, बाग्वा ऋग्वेद, विज्ञापयति, यजुर्वेदं, सामवेद, आथर्वण चतुर्थमितिहास पुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशि दैवं निधि, ... धर्म चाधर्मं, च सत्यं चानृतं च, साधुः चासाधु च....... वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति, वाचमुपास्वेति।
– छान्दोग्य, ७/२/१

२२०. नोत्पद्यते बिना ज्ञानं विचारेणाऽन्य साधनैः।

संस्कृति की इसी महान् विशेषतायुक्त आर्यों की आदि भूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' कहा गया है। यहाँ किसी समय ३३ करोड़ की जनसंख्या थी। उज्ज्वल चरित्र और आदर्श कर्तृत्व की दृष्टि से उन्हें देवता की पदवी दी जाती रही है। इस देश में ३३ कोटि देवता रहते हैं यह विश्व विख्यात था। इस देश को जगद्गुरु कहा जाता था क्योंकि उसने विश्व वसुधा के कोने-कोने में ज्ञान विज्ञान का प्रकाश फैलाया। उसे चक्रवर्ती शासक माना जाता था, क्योंकि उसने समाज व्यवस्था और शासन सत्ता की स्थापना का मार्ग सुझाया और अनगढ़ मानव को व्यवस्था बनाकर रहने का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया। उसे स्वर्ग सम्पदाओं का स्वामी कहा जाता था, क्योंकि शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, व्यवसाय, कृषि, पशुपालन आदि के सुझाव और साधन सर्वत्र यही से पहुँचाए गये। जो अपने आप में भरा-पूरा और पृथ्वी भर को सम्पन्न बनाने के लिए अनुदान बिखेर रहा हो, उसे कुबेर का देश, स्वर्ण-सम्पदाओं का स्वामी तो कहा ही जाना चाहिए। इस देश की गौरवमयी गरिमा प्रागैतिहासिक काल से गगनचुम्बी बनी और एक सहस्राब्दी से पूर्व तक अक्षुण्ण बनी रही।[२२१]

आर्यों के आदि देश का इतिहास इस देश में जन्में नर-रत्नों का इतिहास है। इस भूमि ने अन्न, वृक्ष, खनिज जैसी प्रकृति सम्पदाएँ उत्पन्न करके भौतिक सम्पदाओं के ही भण्डार नहीं भरे, वरन् देव मानवों का भी प्रचुर मात्रा में उत्पादन किया। घर-घर में नर रत्नों की खान थी। किसकी चमक कितनी प्रखर है, इसकी प्रतिस्पर्द्धा रहती थी। महानता की कसौटी पर किसका कितना बढा-चढ़ा मूल्यांकन होता है, उसी महत्वाकांक्षा से हर किसी का मन उद्वेलित रहता था। शूरवीर उन दिनों तलवार चलाने वाले नहीं माने जाते थे, वरन् उन्हें भी योद्धा घोषित किया जाता था, जिसने अपनी पशु प्रवृत्तियों को, तृष्णा-वासना को, संकीर्ण स्वार्थपरता को, पैरों तले रौंदकर सच्ची विजय प्राप्त की। ऐसे आत्मजयी योद्धा ही अभिनन्दन और अभिवादन के पात्र समझे जाते थे। हर वर्ग में, हर क्षेत्र में ऐसे आत्मजयी योद्धा भरे पड़े थे। उनके गौरवशाली अस्तित्व भारत माता की कीर्ति ध्वजा दशो दिशाओं में उड़ाते थे। इस आधार पर सुविकसित आदि देश की गौरव गरिमा के सामने समस्त विश्व श्रद्धावनत मस्तक झुकाये खड़ा रहता था। उनकी विजय दुंदुभि विश्व के कोने-कोने में गूँजती, प्रतिध्वनित होती सुनाई पड़ती थी। प्राचीन इतिहास में जितने भी पृष्ठ पलटे जायें उनमें इस देश की इसी विशिष्टता का उल्लेख स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ मिलता चला जायेगा। ऐसी संस्कृति का देश है आर्यों का यह आदि देश।[२२२]

---

२२१. श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृष्ठ ६
२२२. वही, पृष्ठ ८

सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा

भारतीय संस्कृति प्राचीनतम संस्कृति है। यजुर्वेद के एक ही सुक्त में उसकी विशद् व्याख्या करते हुए ऋषि ने लिखा है 'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा' अर्थात् वह विश्ववारा सबके वरण करने योग्य वह सबसे प्रथम संस्कृति है। संस्कृति की पहली किरणें इसी भारत भूखण्ड में उतरी। संस्कृति रूपी प्रभातकालीन सूर्योदय का श्रेय भी इसे मिला। पर वे किरणें समूची जगती को प्रकाशवान बनाने के लिए निःसृत होती रहीं। इसीलिए इसे प्राचीन संस्कृति कहा जाता है। भीखनलाल आत्रेय भारतीय संस्कृति से अभिभूत हो कह उठे- 'ज्ञात संसार की सभी संस्कृतियों में कदाचित्, भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन है और सभी संस्कृतियों की माता है।'[२२३] भारतीय संस्कृति प्राचीनतम होने के कारण संसार की समस्त संस्कृतियों की सिरमौर है। अपनी इस विशेषता के आधार पर वह विश्व संस्कृतियों में अग्रणी है।[२२४] वेदमूर्ति पं. दामोदर सातवलेकर ने कहा है- मेरा तो यही मत है कि भारत में जो धर्म अनादिकाल से है वही वैदिक धर्म भारत का धर्म है और उसी पर आधारित भारतीय संस्कृति है।[२२५] अतः प्रत्येक रूपों में भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है।

इस परिप्रेक्ष्य में डॉ. रामजी उपाध्याय कहते हैं- भारतीय संस्कृति अतिशय प्राचीन है। उसका प्रसार अत्यन्त सुविस्तृसत भूभाग पर हुआ था। ऐसी परिस्थिति में देश देशान्तर में जो सांस्कृतिक परम्पराएँ विकसित हुई सर्वप्रथम सारे भारत में उसका प्रसार हुआ था।[२२६] आर्यों का आदि देश भारत एक विशिष्ट संस्कृति का पोषक रहा है।[२२७] हिमालय भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्रों में था। यही प्रदेश देव और ऋषि संस्कृति का मूल स्थान था।[२२८] चुँकि हिमालय की कहानी मनुष्य जाति के आविर्भाव और उसके क्रमिक विकास की कहानी है। अतः यहाँ की संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। हिन्दी साहित्य की महान् कवियित्री महादेवी वर्मा इस बारे में कहती हैं वस्तुतः हिमालय भारतीय संस्कृति के हर नए चरण का पुरातन साथी रहा है। भारतीय संस्कृति उसकी उजली छाया में

---

२२३. भीखनलाल आत्रेय- भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ८
२२४. सोती विरेन्द्र चन्द्र- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृष्ठ १४
२२५. पं. दामोदर सातवलेकर- भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ७
२२६. डॉ. रामजी उपाध्याय- भारतीय संस्कृति का उत्थान, पृष्ठ ११
२२७. डॉ. गिरिराज शाह- उत्तराखण्डः आर्य संस्कृति का मूल स्त्रोत, प्राक्कथन,
२२८. डॉ. रामजी उपाध्याय- भारतीय धर्म और संस्कृति, पृष्ठ ६

पलकर सुन्दर हुई है, शुभ्र ऊँचाई छूने के लिए उन्नत बनी है, उसके हृदय में प्रवाहित नदियों में धुलकर निखरी है।

डॉ. वैजनाथ पुरी इस विषय में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं 'भारतीय संस्कृति जो आदिकाल से धार्मिक उदारता तथा 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की चट्टान पर सुरक्षित थी, राजनैतिक थपेड़ों के सामने उज्वल और अटल होकर खड़ी रही और आज भी वह प्राचीनतम होते हुए भी नवीन प्रतीत होती है।'[२२९] इसका तात्पर्य है कि भारतीय संस्कृति विश्व की आदि संस्कृति है। श्री अरविन्द ने भी 'भारतीय संस्कृति के आधार' में भारतीय संस्कृति को सबसे प्राचीन बताया है। गौरशंकर पण्ड्या ने भारतीय संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव में कहा है कि हमारी प्राचीनतम संस्कृति काल के क्रूर थपेड़ों को खाने के पश्चात् आज भी विजय पताका फहरा रही है। आर्यों के इतिहास में सर्वप्रथम ऋग्वेद की रचना हुई थी। इसमें आर्यों की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का दिग्दर्शन होता है। इसी युग में आर्यों की संस्कृति का निर्माण हुआ। हिन्दु अनुश्रुति का विश्वास है कि ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति के उषाकाल के स्थान पर उसके मध्याह्नकाल के दर्शन होते हैं।[२३०] इस तथ्य में अपनी सहमति व्यक्त करते हुए डॉ. शिवदत्त ज्ञानी कहते हैं- भारत की भौगोलिक परिस्थिति के ही कारण अत्यन्त प्राचीनकाल से यहाँ सांस्कृतिक विकास प्रारम्भ हो चुका था, जिसके सर्वप्रथम दर्शन हमें ऋग्वेद में होते हैं।[२३१] इसी कारण महेन्द्र कुमार वर्मा ने भारतीय संस्कृति को संसार की प्राचीनतम संस्कृति घोषित किया है।[२३२]

भारतीय संस्कृति का आदि स्रोत अमरवाणी वेदों पर आधारित वैदिक संस्कृति है। अतएव जिसे भारतीय संस्कृति कहते हैं उसका मूलरूप वैदिक संस्कृति है। इसी कारण सुदर्शन सिंह चक्र ने कहा 'आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति है। वही प्राचीनतम संस्कृति है।'[२३३] हमारी वैदिक संस्कृति सनातन है।[२३४] आचार्य

---

२२९. डॉ. बैजनाथ पुरी- भारतीय संस्कृति और इतिहास, पृष्ठ १
२३०. डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी- हिन्दु सभ्यता, पृष्ठ ८६
२३१. डॉ. शिवदत्त ज्ञानी-वेदकालीन समाज, पृष्ठ ५८
२३२. महेन्द्र कुमार वर्मा- भारतीय संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ २३७
२३३. सुदर्शन सिंह चक्र- हमारी संस्कृति, पृष्ठ ७
२३४. रेवती रमन पाण्डेय- उमेश चन्द्र दुबे कृत श्री अरविन्द का संस्कृति दर्शन, प्राक्कथन, पृष्ठ ५

श्रीराम शर्मा ने भी इस संस्कृति को विश्व की प्राचीनतम संस्कृति[२३५] माना है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति विश्व में सर्वोपरि है।[२३६] इसका कारण है- इसमें निहित तत्त्वों एवं सत्यों की सतत विकासशील प्रवृत्ति।

वैदिक संस्कृति का विकास

प्रत्येक संस्कृति का विकास एक भौगोलिक तथा वांशिक वातावरण में होता है, इसलिए प्रत्येक संस्कृति का स्वरूप भिन्न दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में उनको अपनाने तथा ग्रहण करने वाले विभिन्न मानव-वंशों के समूहों की विशिष्ट मौलिक शक्ति ही संस्कृतियों के विभिन्न स्वरूपों के निर्माण का मूल कारण है। इतिहासकारों का मत है कि एक संस्कृति वाले मानवों का समूह पूर्णरूप से दूसरी संस्कृति को कभी अपना ही नहीं पाता। प्रत्येक मानव समूह अपने से भिन्न संस्कृति का अनुकरण केवल बाहरी रूप में ही कर पाता है। वह अन्य संस्कृतियों के आदर्शों, भावनाओं, प्रेरणाओं, विधि विधानों तथा संस्थाओं को अपनाते समय उसमें अपनी मौलिक बीजभूत प्रकृति तथा प्रवृत्ति के अनुरूप परिवर्तन कर लेता है। संक्षेप में संस्कृति का विकास तीन प्रकार से होता है-

१. परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष करते रहने पर जब मानव उन पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब वह अपनी जीवन प्रणालियों में परिवर्तन करता है। इससे संस्कृति के विभिन्न अंगों में परिवर्तन होता है।

२. मानव समाज की अन्त:शक्तियों के स्वाभावितक विकास से संस्कृति में परिवर्तन तथा विकास होता रहता है।

३. जब विभिन्न संस्कृतियों पर परस्पर संघर्ष, मिलन तथा आदान-प्रदान होता है तब भी संस्कृति में विकास तथा परिवर्तन होता है।

भारत की यह सांस्कृतिक एकता मुख्यत: दो कारणों से उत्पन्न हुई। पहला कारण तो भारत का भूगोल है, जिसने उत्तर और पूरब की ओर से पहाड़ों तथा दक्षिण और पश्चिम की ओर समुद्रों से घेरकर भारत को स्वतंत्र भू-भाग का रूप

---

२३५. आचार्य श्रीराम शर्मा- सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृष्ठ २

२३६. आचार्य श्रीराम शर्मा- भारतीय संस्कृति मानवता का वरदान, अखण्ड ज्योति, वर्ष २६, अंक ४, पृष्ठ १०

दे दिया है। दूसरे, एकता का प्रमुख कारण है वैदिक चिन्तन भी है, जो किसी भी विश्वास-विशेष के लिए दुराग्रह नहीं करता, जो सहिष्णुता, स्वाधीन चिन्तन एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता का संसार में सबसे बड़ा हामी रहा है। ईश्वर को मानो या या मानो, उपासना साकार की करो या निराकार की, अनेक देवताओं में विश्वास रखो या फिर किसी भी देवता को मत मानो, किन्तु यदि तुम उदार रहना चाहते हो तो इस समाज से तुम्हें कोई भी नहीं निकालेगा। इतनी स्वतंत्रता अपने अनुयायियों को संसार में किसी भी चिन्तन में नहीं दी थी। एक यह भी कारण हुआ कि बाहर के लोग उदार होना चाहते थे, वे आसानी से ऐसा हो गये। यही नहीं, उनके अपने विश्वास और रीति-रिवाज भी धीरे-धीरे इसी ओर परिवर्तित हो गये। उसका एक अन्यतम परिणाम यह हुआ कि ज्यों-ज्यों विदेशी जातियाँ वैदिक समाज में प्रवेश पाती गयीं, वैदिक संस्कृति का रूप त्यों-त्यों अधिक से अधिक समृद्ध होता गया। यहाँ तक कि आज समस्त संसार में केवल वैदिक संस्कृति ही ऐसी संस्कृति है, जिसमें अधिक से अधिक संस्कृतियों के रंगों का मोल है, जो अधिक से अधिक भिन्न जातियों की मानसिक एवं आध्यात्मिक एकता का प्रतिनिधित्व कर सकती है।

संसार की पीड़ाओं का आध्यात्मिक निदान यह है कि अभिनव मनुष्य अति भोगवादी हो गया है। वह अपनी रोटी दूसरों के साथ बाँट कर नहीं खाना चाहता। उसे पूरी रोटी केवल अपने लिए चाहिए बल्कि बस चले तो वह दूसरों की भी रोटियाँ छीन कर बेच डालेगा और जो पैसा मिलेगा, उनसे और नहीं तो घूँट भर शराब ही पी लेगा। बुद्ध से पहले, उपनिषदों के आलोकपूर्ण काल में, भारत को अतिभोगवाद की यंत्रणाओं का कहीं न कहीं आभास मिला था और इसी कारण एक ऋषि ने चेतावनी देते हुए घोषणा की थी, 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' भोग भी त्याग के साथ करो।

आज विश्व की भावी एकता की भूमिका भारत की सामासिक संस्कृति में है। जैसे भारत ने किसी भी विचार प्रणाली को दलन किए बिना अपने यहाँ सांस्कृतिक एकता स्थापित की, जैसे भारत ने किसी भी जाति विशेषता को नष्ट किये बिना सभी जातियों को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किया, जैसे भारत ने किसी भी भाषा की गरिमा घटाये बिना संस्कृत को अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की भाषा बनाकर देश की भाषागत कठिनाइयों का समाधान निकाला, कुछ उसी प्रकार, वैदिक संस्कृति संसार के सभी देशों, सभी जातियों एवं सभी विचारों के बीच एकता स्थापित कर सकती है। बड़े पैमाने पर जैसी समस्या आज विश्ववादियों

के सामने खड़ी है, छोटे पैमाने पर कुछ वैसी ही समस्या उन दिनों थी, परन्तु वैदिक संस्कृति की उदारता ने उन सबको आत्मसात कर लिया।

वैदिक काल से लेकर गांधीजी के समय तक दृष्टि दौड़ाई जाये तो वैदिक संस्कृति की जो एक विशेषता हमेशा उसके साथ मिलेगी वह है उसका उदार चिन्तन। वस्तुतः संस्कृतियों के बीच सात्विक समन्वय का काम इसके बिना चल ही नहीं सकता। तलवार से हम मनुष्य को पराजित कर सकते हैं, उसे जीत नहीं सकते। मनुष्य को जीतना असल में, उसके हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समरभूमि की लालकीच नहीं, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर समुद्र है। सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति आदि ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में यही वैदिक संस्कृति की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है, जिसे आत्मसात कर सारा संसार एकता के सूत्र में आबद्ध हो सकता है। वैदिक संस्कृति का सारा दारोमदार उदारता पर है। सुकोमल भावना पर है। जिसके सांस्कृतिक दरवाजे बराबर खुले रहते हैं, उसके सरोवर का जल कभी नहीं सुखता। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और नये-नये कमल के फूल खिलते रहते हैं। संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। ऐसा लगता है कि मानों समस्त विश्व को एक सूत्र में पिरोने के लिए प्रकृति ने इस संस्कृति का प्रयोग किया हो। इसी के आधार पर ही धरती पर स्वर्ग का अवतरण सम्भव हो सकता है। **यही वे तत्त्व हैं जिन्होंने वैदिक संस्कृति को सतत विकासशील बनाये रखा है। विकास की यह परम्परा वैदिक काल के चिन्तन और कर्म के साथ ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों में अनुभव की जा सकती है।**

❑
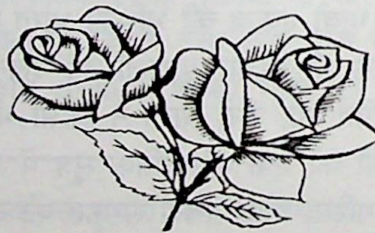
अध्याय-२

आदिकालीन संस्कृति में ज्ञान-विज्ञान

ज्ञान-विज्ञान का बहुआयामी विकास ही किसी संस्कृति को समृद्ध, सर्वांगीण एवं प्रगतिशील बनाता है। वैदिक काल में भारतीय समाज ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्च शिखरों पर पहुँच गया था। इसी विशेषता के बल पर सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से भारत महादेश अति विकसित था। इस तथ्य को अब पाश्चात्य मनीषी भी स्वीकार करने लगे हैं।

वैदिक वाङ्मय में उल्लेख मिलता है कि प्राचीन समय में यहाँ विमानों का प्रचलन था। भारतीय वैज्ञानिक विमानों का आविष्कार करने में सफल हो गये थे। परन्तु इसे तथाकथित विद्वानों ने उपहास उड़ाया और इस अकाट्य तथ्य को तभी स्वीकारा गया जब वास्तव में इस विज्ञान का आविष्कार हो गया। विदेशी दासता से आक्रान्त भारतीय मानस पर आत्मविश्वास घटा था और वे इस सन्ताप की अग्नि में बराबर झुलसते रहे थे कि हमारे पास वैज्ञानिक प्रतिभा का अभाव है। लेकिन अब तो हम स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती मना चुके हैं। फिर भी वैदिक संस्कृति के प्रति वैदिक ज्ञान-विज्ञान के प्रति इतनी उदासीनता या उपेक्षा क्यों है कि उसका अन्धानुकरण करते चले जा रहे हैं।

किन्हीं अन्य कारणों से आई गुलामी ने उन कड़ियों को तोड़ भले ही दिया हो और इस कारण ज्ञान-विज्ञान की प्राचीन धारा टूट भले ही गई हो, पर अभी भी मृत नहीं हुई है। उसे अभी भी पुनर्जीवित किया जा सकता है। इस क्रम में सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं में उन दिनों भवन निर्माण कला तथा नगरों का विकास प्रगति के चरम को छू चुका था। इस संदर्भ में प्रसिद्ध वास्तुकलाविद् ई.बी. हैवेल ने कहा है 'भवन निर्माण के लिए आजकल जो प्रविधियाँ प्रचलित हैं वे बहुत अधूरी हैं। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विनिर्मित अजन्ता ऐलोरा की गुफाएँ तथा उसके भित्तिचित्र, उन्हीं दिनों बनाये गये भव्य मंदिर और प्रासादों में दृष्टिगोचर होने वाली श्रेष्ठतम कलाकारिता को देखकर दाँतों तले उँगली दबा कर रह जाना पड़ता है।' इस विषय में अब तक १४१ ऐसे ग्रंथों का पता लगाया जा चुका है, जिनमें वास्तुकला और शिल्प शास्त्र का विस्तृत विवेचना हुआ है। 'विश्वकम प्रकाश' 'मानसार' तथा भोजदेव कृत 'समरांगण', 'सूत्रधार' आदि ग्रंथों में प्रतिपादित विद्वानों का विवेचन पढ़कर विस्मय विमुग्ध रह जाना पड़ता है।

चुँकि विज्ञान उसकी एक और देन है। आधुनिक प्रौद्योगिकी मूलतः अंक गणित पर आधारित है। गणित के अंकों का आविष्कार इसी वैदिक संस्कृति की देन है। उस सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वान जी.वी. हालस्टेड ने विश्व को इस संस्कृति की ऋणि बताते हुए कहा कि यहाँ पर शून्य के आविष्कार ने मानव जाति की बुद्धि और शक्ति की प्रगति में अभूतपूर्व योगदान दिया है। इस संस्कृति ने आध्यात्मिक क्षेत्र में तो विश्व को अनेकानेक अनुदान दिये हैं। उन दिनों वैज्ञानिक उपलब्धि भी प्रगति पर थी। पश्चिमी वैज्ञानिकों से सैकड़ों वर्ष पूर्व आर्यभट्ट ने यह पता लगाया था कि पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर है। अब से दो हजार वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के समय में नक्षत्र विद्या के क्षेत्र में उन तथ्यों को खोजा जा चुका था। अपने विद्वान् एवं वैज्ञानिक वेधशाला में बैठकर अनेकों अनुसंधान कर डाले थे जिसे पश्चिमी वैज्ञानिकों को प्रमाणित करने में सैकड़ों वर्ष लग गये। न्यूटन से पाँच सौ वर्ष पूर्व भास्कराचार्य ने अपने 'सिद्धान्त शिरोमणी' ग्रंथ में लिख दिया था कि पृथ्वी का कोई आधार नहीं है, वह अपनी ही शक्ति से स्थिर है।

वास्तुकला, विज्ञान, अंक गणित, ज्योतिष तथा भूगोल के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् साहित्य, संगीत और अन्य कलाओं में भी वैदिक प्रतिभाओं ने निष्णात दक्षता प्राप्त की थी। वैदिक वाङ्मय विश्व का सर्वाधिक विकसित और समृद्ध वाङ्मय है। रस, सम्प्रदाय, अलंकार, रीति, ध्वन्यात्मकता तथा गत्यात्मकता के सिद्धान्तों की जितनी गहन और जितनी सूक्ष्म अभिव्यक्ति संस्कृत तथा अन्य वैदिक भाषाओं में हुई है उतनी अन्य भाषाओं में कहीं भी दिखाई नही देती। परन्तु उस विवशता एवं अवसता को क्या कहा जाय जो इस विषय में अनभिज्ञ रहा है। ऐसी बात नहीं है कि इस संस्कृति के पास प्रतिभाओं का अभाव है। प्रतिभाओं के लिए उर्वर यह संस्कृति अभी इतनी सक्षम है कि तथ्यों के प्रकाश में प्रतिभाओं के विकास की दृष्टि से हम प्रथम क्रम में आते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा हाल ही में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार कुशल इंजीनियर, टैक्निशियन और डाक्टर तैयार करने में हम अन्य सभी देशों से अग्रणी हैं। लेकिन कमी यही है कि हम अपनी प्रतिभा के साथ विरासत में मिली ज्ञान सम्पदा को जोड़ने में अभी तक समर्थ नहीं हो सके हैं।

ज्ञान-विज्ञान की इन अनेकों धाराओं का उद्गम खोजा जाय तो निश्चित ही दृष्टि सर्वप्रथम भाषा एवं लिपि के विकास की ओर जाएगी। क्योंकि ज्ञान-विज्ञान की सभी उपलब्धियाँ इसी के माध्यम से होती और जन-जन के लिए सुलभ बनती हैं।

भाषा और लिपि का विकास

भाषा और लिपि की इन दोनों विधाओं में सर्वप्रथम भाषा की विवेचना की जाती है। भाषा ही भावों को अभिव्यक्ति देती है। भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। भाषा का अर्थ है स्पष्ट वाणी। स्पष्ट वाणी से तात्पर्य उस ध्वनि से है जो उच्चारण-अवयवों द्वारा साफ-साफ उच्चारित हो और साथ ही अर्थपूर्ण भी हो। दूसरे शब्दों में, अर्थयुक्त सायास उच्चरित ध्वनियों की संज्ञा भाषा है।

❑ भाषा का अर्थ और परिभाषा

महान् भाषा विज्ञानी पाणिनि के अनुसार 'व्यक्तवाचा' भाषा है। यहाँ व्यक्त का अभिप्राय 'स्पष्ट बोलना' है और इसलिए व्यक्तवाणी को मनुष्य की वाणी तथा मानव समाज तक ही सीमित रखा गया है।[१] शब्द कल्पद्रुम में ऐसा अवश्य उल्लिखित है कि शास्त्र और व्यवहार के लिए जिसका प्रयोग होता है, उसे भाषा कहते हैं।[२] परन्तु यह परिभाषा बहुत स्पष्ट नहीं है क्योंकि शास्त्र और व्यवहार में अन्य वस्तुओं का भी व्यवहार होता है। न्यायकोश में जिस सन्दर्भ में भाषा को परिभाषित किया गया है, वह अत्यन्त सीमित है और भाषा विज्ञान की दृष्टि से मान्य नहीं है, क्योंकि उसमें न्यायालय के शपथ-वाक्य को भाषा के नाम से अभिहित किया गया है।[३] इसी प्रकार जैन संयम के अनेक उपायों में भाषा संयम को भी परिभाषित करने का निर्देश है।[४] वस्तुत: यहाँ आचरणशास्त्र की दृष्टि से भाषा के स्वरूप पर विचार किया गया है। उसके प्रयोग में शुद्धता, बोधगम्यता, संक्षिप्तता, मधुरता आदि का निर्वाह होना चाहिए। पर यह शुद्ध दृष्टि मान्य नहीं है।

भाषा की कोई निश्चित परिभाषा प्रस्तुत करने के पूर्व इसकी कुछ प्रचलित परिभाषाओं का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। डॉ. बाबूराम सक्सेना के अनुसार 'जिन ध्वनि चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार विनिमय करता है, उसकी

---

१. व्यक्तवाचां समुच्चारणे। – अष्टाध्यायी, १/३/४८

२. भाष्यते शास्त्र व्यवहारादिन प्रयुज्यते इति भाषा।
– शब्दकल्पद्रुम, खण्ड ३

३. व्यवहारशास्त्र ज्ञास्तु प्रतिज्ञा सूचकं वाक्यं भाषा।
– न्यायकोश, पृष्ठ ६२७

४. अनवद्य मृतं सर्वजनीनं मितभाषाणम्।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमिति रुच्यते॥ – सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ १६४

समष्टि को भाषा कहते हैं।'[५] परन्तु यह परिभाषा भी उतनी मान्य प्रतीत नहीं होती है क्योंकि इसमें उच्चारण अवयवों का उल्लेख नहीं है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने भाषा का जो लक्ष्य बताया है, वह इस प्रकार है 'भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किए गए वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।'[६] इस परिभाषा में उच्चारण की स्पष्टता पर तो बल दिया गया है, पर इसमें अर्थयुक्तता एवं प्रतीकात्मकता का निर्देष नहीं है, जो भाषा के लिए परम अपेक्षित है। आगे इस बारे में पं. किशोरीदास वाजपेयी ने अपना मत इस तरह व्यक्त किया है 'विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द समूह भाषा है जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरसता से प्रकट करते हैं।'[७] भाषा की इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि इसमें लिखित भाषा का भी समावेश हो जाता है। आधुनिक भाषा विज्ञानी इसे नहीं स्वीकारते। प्राचीन भाषा विज्ञानी भी मौखिक भाषा को उत्कृष्ट मानते थे, लिखित को नहीं।[८] डॉ. उदयनारायण तिवारी ने भाषा के स्वरूप विश्लेषण के क्रम में कहा है 'भाषा मनुष्य के प्रतीकात्मक कार्यों का प्राथमिक एवं बहुविस्तृत रूप है।'[९] यह परिभाषा भी बहुत स्पष्ट नहीं है।

पाश्चात्य भाषाविदों में ए.एच. गार्डीनर ने विचाराभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले ध्वनि संकेतों को भाषा कहा है।[१०] इसमें सार्थक ध्वनियों के उच्चारण पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, जो भाषा के लिए नितान्त अपेक्षित है। हेनरी स्वीट की परिभाषा इससे कुछ ज्यादा सटीक लगती है। उनके अनुसार 'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति को भाषा की संज्ञा दी जा सकती है।'[११] यह

---

५. डॉ. बाबूराम सक्सेना- सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ६
६. डॉ. मंगलदेव शास्त्री- तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषा विज्ञान, दूसरा परिच्छेद, पृष्ठ १७
७ पं. किशोरीदास वाजपेयी- भारतीय भाषा विज्ञान, पृष्ठ ६७
८. पाणिनीय शिक्षा, पृष्ठ ३२
९. डॉ. उदय नारायण तिवारी- भाषा शास्त्र की रूपरेखा, पृष्ठ ६
१०. The Common definition of speech is the use of articulate sound symbols for the expression of thought.
- A.H. Gardiner- speech and language
११. Language may be defined as the expression of thought by means of speech- sounds
- Henry Sweet- The History Language

परिभाषा ठीक तो है परन्तु इसमें भी ध्वन्यात्मक शब्दों के पहले 'सार्थक' शब्द जोड़ने की आवश्यकता थी। निरर्थक अथवा अनुपयुक्त शब्दों के उच्चारण से सम्यक विचाराभिव्यक्ति सम्भव नहीं हो सकती। ब्लूमफील्ड लिखित भाषा को भाषा नहीं मानते हैं।[१२] यह परिभाषा भी सदोष है, क्योंकि इसमें विध्यात्मकता के बदले निषेधात्मकता की प्रधानता है। चाम्सकी ने अर्थपूर्ण उच्चरित ध्वनियों की नियमानुशासित व्यवस्था को भाषा की संज्ञा प्रदान की है।[१३] नियमानुशासन और मनोविश्लेषण द्वारा उन्होंने भाषा के अर्थ को बहुत कुछ तो स्पष्ट किया है, पर उसकी कोई सटीक परिभाषा नहीं प्रस्तुत की। मैरियो ए. पेई[१४] ने भाषा का जो स्वरूप-विश्लेषण किया है, वह अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक प्रतीत होता है, परन्तु उनकी परिभाषा समग्र नहीं बन सकी। ब्लाक-ट्रैगर के अनुसार 'भाषा सादृच्छिक वाचिक ध्वनि-संकेतो की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मनुष्य परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है।'[१५] यह परिभाषा वैज्ञानिक तो है परन्तु इसमें लोक-प्रतीति का उल्लेख नहीं किया गया है, जो भाषा के लिए अपरिहार्य है।

अतः भाषा को एक समग्रता का स्वरूप दें तो यह कह सकते हैं कि मानव उच्चारण अवयवों द्वारा निःसृत स्पष्ट एवं सार्थक ध्वनियों की उस क्रमबद्ध समष्टि

---

१२. writing is not language, but merely way of recording language by means of visible marks.
- Bluemfield- Language, p. 21

१३. It (Language) is a rule- governed system, definable in terms of grammer which separates grammitical from ungramitical sentences, assigning a pronunciation and a meaning to teach grammitical sentence.
- Modern Linguistics. The result of Chomsky's Revolution. p. 31, Niel smith and Dicrdre Wilson.

१४. A system of communication by sound, i.e. through the organs of speech and hearig, among human being of certain group of community, using vocal symbols, possessing arbitrary conventional meanings.
- Maria A. Pei and Frank Gayanor- Dictionry of Linguistics, p. 119

१५. A Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group cooperate.
- B. Bloch and G.L. Trager- An outline of Linguistic Analysis. p. 5

को भाषा कहते हैं, जो लोकप्रतीति के अनुसार विभिन्न प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त होती है। इन अर्थों में अभिव्यक्त भाषा का विकास कहाँ से प्रारम्भ हुआ? इसके लिए यह आवश्यक होगा कि मानव भाषा और उसके अभिलक्षण पर विचार करने से पूर्व मानवेत्तर भाषाओं की विवेचना की जाये।

❑ मानवेत्तर भाषा

भाषा केवल मनुष्य की ही नहीं हो सकती बल्कि मकड़ी, मधुमक्खी, गिबन, सिकिलबैंक तथा चिम्पेंजी आदि अनेक ऐसे जीव-जन्तु हैं, जो किसी न किसी प्रकार भाषा का प्रयोग करते हैं।[१६] यही नहीं पेड़-पौधों की भी भाषा का अनुमान लगाया जा सकता है।

मधुमक्खियों की भाषा

मानवेत्तर भाषाओं में मधुमक्खियों की भाषा प्रमुख है। मधुमक्खियाँ अपने साथ की मधुमक्खियों को अपनी सांकेतिक भाषा के माध्यम से कई तरह की सूचनाएँ देती हैं। कोई मधुमक्खी जब अपने सहवासी मधुमक्खी को कई प्रकार के संदेश देना चाहती है तो वह छत्ते के ऊपर नृत्य करती है। यह नृत्य दो प्रकार का होता है। एक गोलाकार नृत्य तथा दूसरा पुच्छचालन नृत्य। गोलाकार नृत्य से वह यह सूचना देती है कि खाद्य स्रोत लगभग दस मीटर के भीतर है। इसमें वे एक बिन्दु से नृत्य करती गोलाकार पथ पर बढ़ती है तथा उस बिन्दु के पास पहुँचकर उल्टे वापस होकर फिर उसी बिन्दु पर पहुँचकर फिर वापस मुड़ती है। यही प्रक्रिया कई बार चलती है। बीच-बीच में रुक-रुककर वे यही प्रक्रिया बारम्बार दुहराती है। इससे सहवासिनी मधुमक्खियों को इस बात का पता चलता है कि सामग्री प्राप्ति स्थान लगभग दस मीटर के अन्दर है। बीच में जब वे थोड़ी देर के लिए रुकती है तो जो नमूना वे अपने साथ लायी रहती है उसकी गंध से अन्य मधुमक्खियों को वे यह भी बता देती है कि किस प्रकार की सामग्री वे लाएँ।

इन दो के अतिरिक्त यह भी पाया गया है कि यदि स्रोत स्थान पर खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में है तो वे तेजी से और देर तक नृत्य करती हैं तथा कम मात्रा में है तो धीरे-धीरे और थोड़ी ही देर तक नाचती हैं। इस प्रकार नृत्य की अवधि और उसकी गति में तीव्रता या अतीव्रता से वे सामग्री की मात्रा का भी संकेत कर देती हैं। मधुमक्खियों का एक और नृत्य होता है, जिसके आधार पर

---

१६. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषा विज्ञान, पृष्ठ ५

वे सौ मीटर के बाहर तक की सामग्री का पता अपनी सहवासिनी मक्खियों को देती हैं। इस नृत्य को पुच्छचालन नृत्य कहते हैं। इसमें दो अर्धवृत्त बनाते हुए मधुमक्खीयाँ नाचती हैं। यह नृत्य तीन प्रकार का होता है। यदि सामग्री सूरज की ओर है तो यह नृत्य सीधी रेखा में ऊपर की ओर होता है, यदि सामग्री सूरज के विपरीत दिशा में है तो सीधी रेखा में नीचे की ओर यह नृत्य होता है या फिर अन्य दिशा में तो अस्सी अंश के कोण पर बाएँ सीधी रेखा में। इस प्रकार पुच्छचालन नृत्य द्वारा की गई अभिव्यक्ति सूर्य से सम्बन्धित है। दिशा के अतिरिक्त इस नृत्य से मधुमक्खियाँ दूरी का भी संकेत करती है। समीप के लिए नृत्य थोड़ी देर तक तथा दूर के लिए काफी देर तक या फिर नाच के बीच में भिनभिनाकर भी वे दूरी का संकेत करती हैं। भिनभिनाना कम देर तक हो तो समीप और नहीं तो दूर। कभी-कभी पुच्छचालन नृत्य से मधुमक्खियाँ ११ किमी. तक का संकेत देती पाई गयी हैं।

मधुमक्खियों की अलग-अलग प्रजातियों की भाषा में तो अन्तर होता ही है, एक या सम्बद्ध प्रजाति की मधुमक्खियों की भाषाएँ भी पूर्णतः एक नहीं होती। आस्ट्रिया की काली मधुमक्खियों की भाषा जो ऊपर में वर्णित है, इटली की उसी प्रजाति की मधुमक्खियों की भाषा से कुछ भिन्न है। यूँ मधुमक्खियाँ चाहें कहीं की हों, पर यह पाया गया है कि आदमियों की तरह वे अपनी समाज से भाषा नहीं सीखती, उनमें यह क्षमता सहज होती है।

पक्षियों की भाषा

प्राचीन समय से पक्षियों के बोलने तथा गाने की ओर लोगों का ध्यान जाता रहा है। पक्षी कई चाक्षुष-संकेतों को भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करते हैं। भाषा के रूप में पक्षी मुख्य रूप से दो प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते हैं।[१७] एक तो संगीतात्मक होती है जिसे पक्षियों का गाना (Bird song) कहते हैं। दूसरे में 'पक्षी पुकार' (Bird call) आती है। पक्षीगान अपनी संरचना में काफी जटिल होता है। इनका प्रयोग प्रायः नर पक्षी ही करते हैं। नर पक्षी सहवास-ऋतु में अपनी मादा को बुलाने के लिए इनका प्रयोग करते हैं। नरपक्षी अपने क्षेत्र विशेष में अपना अधिकार जताने के लिए भी जोर-जोर से गाते हैं। यह बात पक्षी विशेषज्ञों के अनुसंधानों से स्पष्ट हो चुकी है। एक ही नर पक्षी को उपर्युक्त दोनों प्रकार की संगीतात्मक आवाजें पूर्णतः एक नहीं होती। मादा को बुलाने के लिए जब वह गाता है तो उसके संगीत में एक सरलता तथा मादकता होती है, किन्तु अपने क्षेत्र

---

१७. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषा विज्ञान, पृष्ठ ७

में दूसरे नरपक्षी की आवाज सुनकर प्रतिक्रिया स्वरूप वह जो गाता है उसमें क्रोधयुक्त चुनौती होती है और साथ ही उसका अनुतान अपेक्षाकृत आराहोत्मक होता है। पक्षियों की कई प्रजातियों में मादा पक्षी भी गाती हैं। पक्षियों के गाने में भी बोलियाँ पायी जाती हैं।

पक्षियों की दूसरी प्रकार की भाषा पक्षी पुकार है। इसका प्रयोग पक्षी साथ-साथ खाने की खोज में जाने, उड़ने, उतरने, खतरे की चेतावनी देने तथा साथ-साथ अपने घोंसलों में जाने के लिए करते हैं। इस बोलने में कुछ में तो एक आवाज होती है तथा कुछ में आवाजों की एक श्रृंखला। सौ सवा सौ के झुण्ड में रहने वाले गौरेया पक्षी उड़ने के लिए तीन तरह से बालेते हैं। एक उड़ने से पूर्व, दूसरा उड़ने के बीच में तथा तीसरा उतरते समय। इसका उद्देश्य होता है पूरे झुण्ड का साथ-साथ उड़ना तथा उतरना। पक्षियों की भाषाओं में भी बोली (idiolect)होती है। पक्षी पुकार की संरचना सरल एवं सहज होती है। गिलीमोट (मरे) पक्षी के बच्चों के साथ प्रयोग करके यह पाया गया कि अण्डे से निकलने के तीन-चार दिन के बाद वे अपने जन्मदाता की आवाज को अन्य पक्षियों से अलग पहचान लेते हैं।

प्राइमेट की भाषा

प्राइमेट के अन्तर्गत स्तनपायी प्राणियों के लेम्युर बन्दर, लंगूर, बैबून, गिबन, गोरिल्ला, चिम्पैंजी, वनमानुस तथा आदमी आदि सर्वाधिक विकसित प्राणी आते हैं। इस वर्ग के प्राणियों में कइयों की भाषा पर खोज हुई है तथा अनेकों को तरह-तरह की सांकेतिक भाषाएँ सिखाने के भी यत्न हुए हैं। चिम्पैंजी शिशु गुआ सोलह महीनों में सौ शब्द समझने लगा, किन्तु उससे अधिक शब्द वह कभी नहीं समझ सका। एक दूसरा चिम्पैंजी शिशु बहुत परिश्रम करने पर मामा, पापा आदि शब्द बोलने लगा। यह पाया गया कि आदमी के बच्चे की तरह थोड़े संकेतों से वाक्य नहीं बना सकते। सहज रूप से उनकी अपनी भाषा में अभिव्यक्त-व्यवस्था उद्दीपन-अनुक्रिया (Stimilus-responsed System) रूप में होती है। बन्दर तरह-तरह की आवाजों तथा मुखाकृति से क्रोध, आवेश, प्यार आदि विभिन्न प्रकार के भावों को व्यक्त करते हैं। यह अभिव्यक्तियाँ भी उद्दीपन-अनुक्रिया रूप में ही होती हैं।[१८]

---

१८. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषा विज्ञान, पृष्ठ ९

डॉल्फिन की भाषा

यह एक प्रकार का समुद्री जीव है जो तरह-तरह की आवाजें करता है। इन ध्वनियों का प्रयोग अन्य डाल्फिनों से कुछ कहने के लिए नहीं होता, बल्कि राडार के समान वे आवाजें रास्ते में आने वाली चीजों की उसे जानकारी देती हैं। कुछ ध्वनियाँ उसके मुँह से परेशानी में सहजता से निकल जाती हैं तथा कुछ सहवास-ऋतु में मादा डॉल्फिन को पास आने का संकेत देने के लिए होती हैं। वस्तुतः डॉल्फिन की ध्वनियाँ अभिव्यक्तिक न होकर सहज भावात्मक अधिक होती हैं।

पेड़-पौधों की भाषा

वैदिक संस्कृति में जड़ चेतन की संकल्पना में 'जड़' में पेड़-पौधे भी आते हैं, परन्तु उनकी एक विशेष चेतनता को स्वीकार किया गया है जो मनुष्य एवं अन्य जीव-जन्तुओं से भिन्न प्रकार की होती है। इस मान्यता को प्रमाणित आधार प्रदान किया प्रसिद्ध भारतीय वनस्पतिविद् जगदीश चन्द्र बसु ने। उन्होंने अपनी कृतियों में इसका विशद वर्णन किया है।[१९] इन्होंने वनस्पति जगत् को यह कहकर एक नई दिशा दी कि पेड़-पौधों में भी अभिव्यक्तियों की भावना होती है। इस विषय में आधुनिक अनुसंधानों से यह भी पता चल चुका है कि कुछ पेड़ अपनी जाति के अन्य पेड़ों को विशिष्ट प्रकार के संदेश देते हैं और वे अन्य पेड़ संदेश पाकर तद्नुसार कार्य करते हैं। दो अमेरिकी वनस्पतिशास्त्रियों ने विलो और वर्च नामक पेड़ों पर अनुसंधान करके यह निष्कर्ष निकाला है कि पेड़ संकट के समय एक दूसरे को चेतावनी देते हैं। पालिसिमन्स के अनुसार प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित पौधों को यदि स्नेह भरा स्पर्श दिया जाय तो वे जीवित हो उठते हैं।[२०] पौधों में संवेदना होती है और इसी वजह से वे मनुष्य के स्पर्श, विचार एवं भावनाओं को समझते हैं। सजीवों की भाँति पौधों में भी तंत्रिका तंत्र तथा सूक्ष्म रसायन का अनोखा संसार होता है।[२१] संत बरबैंक ने पौधों की संवेदना को सृजनात्मक दिशा में मोड़ कर वनस्पति जगत् को सैकड़ों वर्णसंकर वनस्पतियाँ प्रदान की हैं। उनके अनुसार पौधों की इच्छाशक्ति की तुलना में मनुष्य की इच्छाशक्ति अत्यन्त कमजोर है।[२२]

---

१९. जगदीश चन्द्र बसु- वनस्पतियों का अभिक्रियाएँ
२०. Paul Simons- Secret feelings of plants., New Scientist, Oct. 17, 1992
२१. आचार्य श्रीराम शर्मा- वृक्ष वनस्पतियों में होती हैं संवेदनशीलता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक ५, पृष्ठ १९
२२. Luther Berbank- The Training of the Human plant.

❑ मानव भाषा

मानव भाषा के अभिलक्षण वे हैं जो उसे अन्य सभी प्राणियों से की भाषाओं से भिन्न करते हैं। हाकिट इस प्रसंग में सात अभिलक्षणों का उल्लेख करते हैं। यादृच्छिक अर्थात् 'जैसी इच्छा हो' या 'माना हुआ' मानव की मूलभूत विशेषता है। वह जैसी इच्छा करता है वैसा बोलता है। इसमें सृजनात्मकता का भी समावेश रहता है। वह आवश्यकतानुसार सादृश्य के आधार पर नित्य नए असीमित वाक्यों का सृजन करके उनका प्रयोग करता है। मानव भाषा समाज विशेष रूप से अनुकरण द्वारा सीखी या ग्रहण की जाती है। इसी कारण मानव भाषा परिवर्तनशील भी होती है। इस भाषा का स्वरूप ऐसा नहीं है जो पूरा अविच्छिन्न रूप से एक हो। वह तत्त्वत: कई घटकों या इकाइयों में विभाज्य है। भाषा में किसी भी वाक्य या उच्चारण के दो स्तर होते हैं। एक स्तर की इकाईयाँ सार्थक होती है तथा दूसरे स्तर की इकाईयाँ निरर्थक होती हैं। इन दो स्तरों को ही द्वैतना कहते हैं जो केवल मानव भाषा का ही अभिलक्षण है। वार्तालाप के दौरान वक्ताश्रोता की भूमिकाओं की परस्पर परिवर्तनीयता होती है। अन्य जीवों की भाषा में इतने दीर्घ अवधि तक यह लक्षण प्राप्त नहीं होता है। मानव भाषा कालान्तरण कर सकती है। इस प्रकार दिक्कालान्तरण मानव भाषा का एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। मानव भाषा मुँह से बोली जाती है तथा कान से सुनी जाती है इस तरह वह मौखिक श्रव्य सरणि का प्रयोग करती है। यह भाषा मूलत: असहजवृत्तिक होती है। जीवन की सहजवृत्तियों से उसका सम्बन्ध नहीं होता।

मानव ने आंगिक भाषा, जो बड़ी स्थूल और सीमित थी का प्रयोग किया। फिर इससे उत्पन्न कठिनाइयों को वाचिक भाषा के रूप में समाधान किया। अन्त में इसे लिखित रूप देकर देशकाल से मुक्त हो गयी। जिसके लिए उसे लिपि की आवश्यकता पड़ी।

❑ लिपि से लेखन का प्रारम्भ

काल और स्थान की सीमा के बंधन से भाषा को निकालने के लिए लिपि का जन्म हुआ। इस तरह भाषा विकास के पश्चात् लिपि का विकास हुआ और लेखन की परम्परा प्रचलित हुई। भाषा अपने मूलरूप में ध्वनियों पर आधारित है, लिपि में उन ध्वनियों को रेखाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। वैदिक मनीषी एवं विद्वान इसका विकास ब्राह्मी लिपि से मानते हैं। आज तक लिपि के सम्बन्ध में जो प्राचीनतम सामग्री उपलब्ध है उस आधार पर कहा जा सकता है कि ४,००० ई. पूर्व के मध्य तक लेखन की किसी भी व्यवस्थित पद्धति का कहीं

भी विकास नहीं हुआ था। इस प्रकार प्राचीनतम प्रयास १०,००० ई.पू. से भी पूर्व किये गये थे। इससे ज्ञात होता है कि १०,००० ई.पू. और ४,००० ई.पू. के बीच लगभग ६००० वर्षों में धीरे-धीरे लिपि का प्रारम्भिक विकास हुआ।[२३]

लिपि के विकास क्रम में इस प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं- १. चित्रलिपि, २. सूत्र लिपि, ३. प्रतीकात्मक लिपि, ४. भावमूलक लिपि, ५. भावध्वनिमूलक लिपि, ६. ध्वनिमूलक लिपि।

चित्रलिपि- चित्रलिपि ही लेखन के इतिहास की पहली सीढ़ी है। उन्हीं चित्रों से चित्रकला और लेखन दोनों का इतिहास आरम्भ हुआ। उस काल के मानव ने कन्दराओं की दीवालों पर या अन्य चीजों पर वनस्पति, मानव शरीर या अंग तथा ज्यामितीय शक्लों आदि के टेढ़े-मेढ़े चित्र बनाये होंगे। इस प्रकार के पुराने चित्र दक्षिण फ्रांस, स्पेन, कीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया, उज्बेकिस्तान, सीरिया, मिस्त्र, ग्रेट ब्रिटेन, केलिफोर्निया, ब्राजील तथा आस्ट्रेलिया आदि अनेक देशों में मिले हैं। चित्रलिपि में किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए उसका चित्र बना दिया जाता था। प्राचीन काल में यह लिपि बहुत व्यापक रही होगी। इसे एक अर्थ में अन्तराष्ट्रीय लिपि भी माना जा सकता है। यह लिपि विकसित होते-होते प्रतीकात्मक हो गई।

सूत्रलिपि- सूत्रलिपि का इतिहास भी बहुत पुराना है। इसकी परम्परा प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। प्राचीन काल में सूत्र, रस्सी तथा पेड़ों की छाल आदि में गांठ दी जाती थी। सूत्रों में गांठ आदि देकर भाव व्यक्त करने की परम्परा भी काफी पुरानी है। इस तरह के लेखन का उल्लेख ५ वीं सदी के ग्रंथकार हेरोडोट्स ने किया है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पीरु की 'क्वीपू' है। उनके द्वारा गणना की जाती थी तथा ऐतिहासिक घटनाओं का भी अंकन होता था। पीरु के सैनिक अफसर इस लिपि का विशेष प्रयोग करते थे।

प्रतीकात्मक लिपि- शुद्ध अर्थ में यह लिपि न होते हुए भी इसे भावाभिव्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता था। कई देशों और कबीलों में प्राचीन काल से इसका प्रचार मिलता है। गार्ड का लाल या हरी झण्डी दिखलाना, युद्ध में सफेद झण्डा फहराना आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। अवसर विशेष पर हल्दी बांटकर निमंत्रण देना भारत के कई प्रदेशों में अभी भी प्रचलित हैं। इस प्रकार विचाराभिव्यक्ति के साधन विभिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से

२३. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषाविज्ञान, पृष्ठ ४३४-३५

मिलते हैं। परन्तु यह बहुत व्यापक नहीं हुआ और इसका प्रयोग बहुत ही सीमित रहा।

भावमूलक लिपि- यह लिपि चित्रलिपि का ही विकसित रूप है। चित्रलिपि में चित्र वस्तुओं को व्यक्त करते थे, परन्तु भाव लिपि में स्थूल वस्तुओं के अतिरिक्त भावों को भी व्यक्त करते हैं। जैसे- सूर्य देवता, गर्मी, दिन तथा प्रकाश। उसके उदाहरण उत्तरी अमेरिका, चीन तथा पश्चिमी अफ्रीका आदि में मिलते हैं। इस लिपि के द्वारा बड़े-बड़े पत्र आदि भेजे जाते हैं। इस प्रकार यह बहुत ही समुन्नत रही। चीनी आदि कई लिपियों के बहुत से चिह्न आज तक इस श्रेणी के हैं।

भावध्वनिमूलक लिपि- चित्रलिपि का विकसित रूप ध्वनिमूलक लिपि है।[२४] मेसोपोटेमियन, मिस्री तथा हित्ती आदि लिपियों को भावमूलक कहा जाता है, परन्तु यथार्थतः ये भाव ध्वनिमूलक हैं अर्थात् कुछ बातों में भावमूलक और कुछ में ध्वनिमूलक। आधुनिक चीनी लिपि भी कुछ अंशों में इसी के अन्तर्गत आती है। कुछ विद्वानों के अनुसार सिन्धुघाटी की लिपि भी इसी श्रेणी की है।

ध्वनिमूलक लिपि- इसमें चिह्न किसी वस्तु या भाव को न प्रकट कर ध्वनि को प्रकट करते हैं और उसके आधार पर किसी वस्तु या भाव का नाम लिखा जा सकता है। नागरी, अरबी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं की लिपियाँ ध्वनिमूलक ही हैं। इसके दो भेद हैं- आक्षरिक एवं वार्णिक। आक्षरिक लिपि में चिह्न किसी अक्षर को व्यक्त करता है। अरबी, फारसी, बंगला, गुजराती, उड़ीया तथा तेलगु आदि लिपियाँ अक्षरात्मक ही हैं। लिपि के विकास की अंतिम सोपान है वार्णिक लिपि। इसमें ध्वनि की प्रत्येक इकाई के लिए अलग चिह्न होते हैं और उनके आधार पर सरलता से किसी भी भाषा का कोई शब्द लिखा जा सकता है। इसे आदर्श लिपि माना जाता है। रोमन लिपि प्रायः इसी प्रकार की है।[२५]

इस प्रकार लिपि के विकासक्रम में चित्रलिपि प्रथम अवस्था की एवं वार्णिक ध्वनिमूलक लिपि अंतिम अवस्था की है। संसार की प्रमुख लिपियों के दो प्रधान वर्ग हैं

१. जिनमें अक्षर या वर्ण नहीं हैं, जैसे क्यूनीफार्म तथा चीनी आदि।

---

२४. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषाविज्ञान, पृष्ठ ४४०

२५. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषाविज्ञान, पृष्ठ ४३४-३५

२. जिनमें अक्षर या वर्ण हैं जैसे रोमन तथा नागरी आदि।

प्रथम वर्ग की मुख्य लिपि है- क्यूनीफार्म, हीरोग्लाफिक, क्रीट की लिपि, सिन्धु घाटी की लिपि, हिट्टाइट लिपि, चीनी लिपि, प्राचीन मध्य-अमेरिका तथा मैक्सिको की लिपियाँ। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आती है- दक्षिणी सामी लिपि, हिब्रू लिपि, फोनेशियन लिपि, खरोष्ठी लिपि, आर्मेइक लिपि, अरबी लिपि, भारतीय लिपि, ग्रीक लिपि तथा लैटिन लिपि।

क्यूनीफार्म लिपि- यह भी बहुत पुरानी लिपि है। इसका प्राचीनतम प्रयोग ४,०००० ई. पूर्व के आस-पास मिलता है। इसके तिकोने स्वरूप के कारण आधुनिक काल में १७०० ई. के आसपास इसे क्यूनीफार्म नाम दिया गया। मूलतः यह लिपि सिन्धु की मूल लिपि की भाँति चित्रात्मक थी। बेबिलोनिया में गीली मिट्टी की टिकियों या ईटों पर लिखने के कारण धीरे-धीरे यह तिकोनी रेखात्मक हो गई है। इसका स्वरूप त्रिभुजाकार रेखा-सा हो गया । चित्रात्मकता से विकसित होकर यह लिपि भावमूलक हुई।

हीरोग्लाइफ़िक लिपि- इसे पवित्राक्षर, गूढ़ाक्षर, चित्राक्षर या बिजाक्षर आदि भी कहते हैं। इसका यह नाम यूनानियों को 'पवित्र खुदे अक्षर' से लिया जाता है। प्राचीन काल में मंदिर की दीवारों पर लेख खोदने में इसका प्रयोग होता था। सम्भवतः इस लिपि में अक्षरों का सर्वप्रथम विकास हुआ। इस लिपि में स्वर नहीं थे केवल व्यंजन थे। इसके घसीट कर लिख जाने वाले रूप का नाम 'हारीटिक' है। बाद में इसका एक और भी घसीट रूप विकसित हो गया, जिसकी संज्ञा 'डेमोटिक' है। हीरोग्लाफ़िक लिपि का प्रयोग ४,००० ई.पूर्व से छठी ई. तक, हीराटिक का २००० ई.पूर्व से तीसरी सदी तक तथा डेमोटिक का ७वीं सदी ई. पूर्व से ५वीं सदी तक मिलता है।

क्रीट की लिपियाँ- क्रीट में चित्रात्मक तथा रेखात्मक दो प्रकार की लिपियाँ मिलती है। इस लिपि में मिस्र की हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रभाव पड़ा था। इसमें लगभग १३५ चित्र मिलते हैं। इसका प्राचीनतम प्रयोग ३,००० ई. पूर्व में होता था। १७०० ई. पूर्व के लगभग इसकी समाप्ति हो गई।[२६]

हिट्टाइट लिपि- इसे 'हिट्टाइट हीरोग्लाइफ़िक लिपि' भी कहते हैं। इसका प्राचीनतम प्रयोग १५०० ई. पूर्व का मिलता है। यह लिपि मूलतः चित्रात्मक थी पर बाद में कुछ अंशों में भावात्मक तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक हो गई थी। इसे कभी दाँए से बाएँ और कभी इसके उल्टे लिखते हैं।

---

२६. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषाविज्ञान, पृष्ठ ४४३

चीनी लिपि- यह लिपि आठ प्रकार की त्रिपंक्तिय रेखाओं से निकली है। इन विशिष्ट रेखाओं का प्रयोग वहाँ के धार्मिक कर्मकाण्डों में होता था। मान्यता है कि ३२०० ई. पूर्व फू हे नाम के एक व्यक्ति ने इस लेखन का आविष्कार किया। परन्तु मूलतः 'त्सं-की' को ही चीनी लिपि का आविष्कारक माना गया है। चीनी लिपि में लगभग ५०,००० चिह्न हैं। ये चिह्न चार प्रकार के होते हैं चित्रात्मक, संयुक्त चित्रात्मक, भावचिह्न, ध्वन्यर्थ चिह्न।

अरबी लिपि- यह लिपि विश्व की बहुप्रचलित लिपियों में एक है। प्राचीनकाल में एक पुरानी सामी लिपि थी जिसकी आगे चलकर दो शाखाएँ हो गईं। एक उत्तरी सामी लिपि और दूसरी दक्षिणी सामी लिपि। बाद में उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक तथा फोनेशियन लिपियाँ विकसित हुई। इनमें आर्मेइक ने विश्व की बहुत सी लिपियों को जन्म दिया जिसमें हिब्रू, पहलवी तथा नेवातेन आदि प्रधान हैं। नेवातेन से सिनेतिक और सिनेतिक से पुरानी अरबी लिपि का जन्म हुआ। परन्तु इसके निश्चित प्रमाणों का अभाव है। अरबी लिपि दाँए से बाँए को लिखि जाती है। इसमें कुल २८ अक्षर हैं। इस लिपि को यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के कई देशों ने अपना लिया, जिसमें तुर्की, फारस, अफगानिस्तान तथा हिन्दुस्तान प्रधान हैं।

❑ भारतीय लिपियाँ

भारत में लिखने की कला का ज्ञान लोगों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। इसमें सिन्धुघाटी की लिपि को सबसे प्राचीन माना जाता है। इसके उत्पत्ति के विषय में प्रधानतः तीन मत हैं- द्रविड़ उत्पत्ति, सुमेरी उत्पत्ति तथा आर्य या असुर उत्पत्ति। भारत के पुराने शिलालेखों और सिक्कों पर दो लिपियाँ (ब्राह्मी या खरोष्ठी) मिलती हैं। किन्तु पुस्तकों में अधिक लिपियों के नाम मिलते हैं। जैनों के पन्नवणासूत्र में १८ लिपियों के नाम हैं

बंसी, जवणालि, दोसापुरिया, खरोष्ठी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, पहाराइया, उपअत्तरिक्खिया, अक्खरापिट्टया, तेवणइया, गि (णि) सहइया, अंकलिपि, गणित लिपि, गंधलिपि, आंदस लिपि, महेसरी, दामिनी, पोलिंदी।

इस प्रकार बौद्धों की संस्कृत पुस्तक ललित विस्तार में ६४ लिपियों के नाम दिये गये हैं- ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुपकरसारी, अंगलिपि, मगध लिपि, मांगल्य लिपि, मनुष्य लिपि, अंगुलीयलिपि, शकारिलिपि, ब्रह्मवल्लीलिपि, द्रविड़िलिपि, कनारीलिपि, दक्षिणिलिपि, उग्रलिपि, संख्यालिपि, अनुलोम लिपि, उर्ध्वधनुलिपि, दरदलिपि, खारयलिपि, चीनलिपि, हूणलिपि, मध्याक्षरविस्तरलिपि, पुष्पलिपि,

देवलिपि, नागलिपि, यक्ष लिपि, गन्धर्वलिपि, किन्नरलिपि, महोरगलिपि, असुरलिपि, गरुड़लिपि, मृगचक्रलिपि, चक्रलिपि, वायुमरुलिपि, भौमदेवलिपि, अंतरिक्षदेव लिपि, उत्तरकुरुद्वीपलिपि, अपरगौड़ादिलिपि, पूर्वविदेहालिपि, उत्क्षेपलिपि, निक्षेपलिपि, विक्षेपलिपि, प्रक्षेपलिपि, सागर लिपि, वज्रलिपि, लेखप्रतिलेखलिपि, अनदलिपि, शास्त्रवर्तलिपि, गणावर्तलिपि, द्विरुत्तरपदसंधिलिखित लिपि, दशोत्तरसंधिलिखित लिपि, अध्याहारिणी लिपि, सर्वरुत्संग्रहणीलिपि, विद्यानुलोमलिपि, विमिश्रितलिपि, ऋषितपस्तप्तलिपि, धरणीप्रेक्षणी लिपि, सर्वेषधनिष्यनन्दलिपि, सर्वसारसंग्रहणी लिपि, सर्वभूतरुद्‌ग्रहणीलिपि।

इनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी दो लिपियों का ही आज पता है।

खरोष्ठी- इस लिपि के प्राचीनतम लेख शहवाजगदी और मनसेरा में मिले हैं। आगे चलकर बहुत से विदेशी राजाओं के सिक्कों पर तथा शिलालेखों आदि में यह लिपि प्रयुक्त हुई है। इसकी प्राप्ति सामग्री मुख्य रूप से ४ थी सदी ई.पू. से ३ री सदी ई. तक मिलती है। इसके इंडोबैक्ट्रियन, बैल्ड्रियन, काबुलियन, बैक्ट्रोपालि या आर्यन आदि और भी कई नाम मिलते हैं परन्तु अधिक प्रचलित नाम खरोष्ठी ही है जो चीनी साहित्य में ७ वीं सदी तक मिलता है।

ब्राह्मीलिपि- ब्राह्मी प्राचीन काल में भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि रही है।[२७] इसकी रचना ब्रह्मा नाम के आचार्य ने की थी इसलिए इसे ब्राह्मी लिपि कहते हैं।[२८] इसमें ६३-६४ मूल उच्चारण हैं जो विश्व की किसी और लिपि में नहीं है। यह एक अत्यन्त पूर्ण अद्वितीय वैज्ञानिक लिपि है।[२९] इसके कई और मत है, चीनी विश्वकोश[३०] में इसके निर्माता कोई ब्राह्म या ब्रह्मा नाम के आचार्य लिखे गये हैं अतएव उनके नाम के आधार पर इसका ब्राह्मी पड़ना सम्भव है। डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार भारतीय आर्यों ने ब्रह्म (वेद अर्थात् ज्ञान) की रक्षा के लिए इसको बनाया। इस आधार पर भी इसके ब्राह्मी पड़ने की सम्भावना हो सकती है।

ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में हुई। इसमें मुख्य रूप से द्रविड़ीय उत्पत्ति, सांकेतिक चिह्नों से उत्पत्ति, वैदिक उत्पत्ति तथा आर्य उत्पत्ति के माध्यम से विश्लेषित किया जाता है। डाउसन, कनिंघम, लासन, थामस तथा डासन आदि विद्वानों का

---

२७. डॉ. भोलानाथ तिवारी- भाषाविज्ञान, पृष्ठ ४५४
२८. डॉ. रामेश्वर दयाल गुप्त- वैदिक वाङ्मय में विज्ञान, पृष्ठ २८७
२९. वही
३०. फा-वान-शु-लिन (६६८ ई.)

मत है कि आर्यों ने ही भारत की किसी पुरानी लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि को विकसित किया। बूलर ने पहले इसका विरोध करते हुए लिखा था कि जब भारत में कोई चित्रलिपि मिलती ही नहीं तो चित्रलिपि से ब्राह्मीलिपि के विकसित होनेकी कल्पना निराधार है। परन्तु संयोग से सिन्धु घाटी में चित्रलिपि मिल गयी है, अतएव बुलर की इस आपत्ति के लिए अब कोई स्थान नहीं है। और सम्भव है कि यह लिपि आर्यों की अपनी चीज हो। इसे प्रमाणित करने के लिए और अनेक तथ्य प्राप्त हो चुके हैं, जिससे सिद्ध होता है कि इसकी उत्पत्ति आर्यों ने की है।

❑ संस्कृत भाषा का विकास

संस्कृत आदि भाषा है। सब भाषाओं की जननी संस्कृत है।[३१] विल्सन ने विष्णु पुराण के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि सब भाषाओं के मूल में संस्कृत होने से संसार के समस्त राष्ट्रों के एक ही स्थान से निकलकर यत्र-तत्र-सर्वत्र फैलने का निश्चय होता है।[३२] संस्कृत एक ऐसा महत्त्वपूर्ण शब्द है जिसके बिना हमारा सांस्कृतिक एवं भाषायी इतिहास की कल्पना भी नहीं की जा सकती, इसी के उपादानों से अपनी संस्कृति एवं भाषाओं का विकास हुआ है। इतना ही नहीं, अपितु इस महाद्वीप की विभिन्न भाषाओं एवं संस्कृतियों के उपादानों का समीकरण करते रहने के कारण यह उन सभी भाषाओं और संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती है जो इसके इस भूमि में पहुँचने से पूर्व यहाँ विद्यमान थी तथा जो बाद में भी समय-समय पर यहाँ आकर स्थिर होती रही। संस्कृत में अपने अतीत से ही विभिन्न विजातीय तत्त्वों को आत्मसात करने की अद्‌भुत क्षमता थी, जिसके फलस्वरूप वह अन्य भाषाओं में उपलब्ध तत्त्वों का निरन्तर समीकरण करती रही है।

भाषायी विकास की दृष्टि से संस्कृत का इतिहास बहुत प्राचीन तथा इसकी ऐतिहासिक परम्परा विश्व की सभी भाषाओं से अधिक दीर्घकालीन है। अपने वैदिक

---

३१. स्वामी विद्यानन्द सरस्वती- आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता, पृष्ठ ९२

३२. The offinities of the sanskrit language prove a common origin of the now widely scattered nations amongst whose dialects they are traceable and render it unquestionable that they must have all spread abroad from some centrical spot in that part of the globe first inhabitated by mankind.
- Wilson- Visnu Puranes. Oxford, 1864

काल के स्वरूप को प्राप्त करने से पूर्व यह भाषा अपने विकास का एक लम्बा रास्ता पार कर चुकी थी। इसका वह वैदिक कालीन रूप सैकड़ों वर्षों के निरन्तर, किन्तु शनैः शनैः होने वाले विविध प्रकार के सम्मिश्रणों एवं परिवर्तनों का परिणाम था। अनुसंधान के पश्चगामी क्रम से खोज करने पर पता चलता है कि संस्कृत की विकास परम्परा का यह इतिहास सैकड़ों नहीं अपितु हजारों वर्ष पुराना है। स्वयं वैदिक भूमि में हमें इसका लगभग ३५०० वर्ष पुराना इतिहास अपने अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भारत, ईरानी मूल के रूप में इससे पूर्व का लगभग १००० वर्ष का इतिहास भी हमें इस रूप में उपलब्ध हो जाता है कि उसके प्रकाश में हम इसके वैदिक-पूर्वकालीन रूप की झाँकी स्पष्टतः पा सकते हैं। इस प्रकार ४५०० वर्षों का इतिहास लगभग अपने क्रमबद्ध विकास के रूप में आ जाता है, परन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत का वास्तविक इतिहास इससे भी अत्यधिक पुराना है। भाषा तत्त्वविदों की सूक्ष्मेक्षिका ने इसके उस मूल रूप तक को देख लिया है जो आज से हजारों वर्ष पूर्व इस उप महाद्वीप से हजारों मील की दूरी पर प्रचलित रहा होगा। वस्तुतः संस्कृत भाषा अत्यन्त प्राचीन भाषा है।

सामान्यतः 'संस्कृत' का अभिप्राय उस पूर्ण विकसित भाषायी रूप से है जो संस्कृत साहित्य के सृजन के लिए पाणिनि तथा उनके बाद के युग में इस वैदिक भूमि में प्रयुक्त होता रहा है, किन्तु इसके भाषायी इतिहास को समझने तथा इसके विकास क्रम को देखने के लिए इसका प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया जाता है। संस्कृत शब्द से जिस भाषा का बोध होता है उसका विकास इसी वैदिक भूमि में हुआ है। प्राचीन वैदिक साहित्य में भाषा की दृष्टि से मध्य देशीय भाषा (संस्कृत) को बड़ा महत्त्व दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण[३३] में कुरु-पांचाल प्रदेश की भाषा को आदर्श भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार कौषीतकी ब्राह्मण[३४] में भी एक स्थान पर कहा गया है कि जो भाषा सीखना चाहता है उसे उत्तर की ओर जाना चाहिए या फिर जो उस दिशा से आता है उससे भाषा सीखनी चाहिए। भाषा-विषयक इन प्राचीनतम उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा के विकास का प्रारम्भिक भारतीय केन्द्र मध्यदेश अर्थात् आर्यावर्त प्रदेश था। केन्द्र प्रदेश की भाषा होने के कारण इसने मानक भाषा का रूप ग्रहण कर लिया तथा साहित्य एवं विज्ञान की माध्यम बनकर महत्त्वपूर्ण

---

३३. शतपथ ब्राह्मण- ३/२/३/१५

३४. कौषीतकी ब्राह्मण- ७/६

स्थान प्राप्त कर लिया। इसीलिए प्राचीन समय में धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त गणित, राजनीति, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, दर्शन, शिल्प, रसायन आदि सभी विषयों का प्रणयन भी इसी भाषा के माध्यम से होने लगा। संस्कृत ही वैदिक काल की शिष्ट भाषा थी।

वैदिक परम्परा में इसका उद्गम वैदिक भाषा से ही माना जाता रहा है।[३५] भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण में पाया जाता है।[३६] इस भाषा की प्राचीनता के विषय में सुदर्शन सिंह का कहना है कि जब मनुष्य-सृष्टि एक ही स्थान पर हुई तो उसकी भाषा भी एक ही होगी।[३७] वे आगे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति है अतः इसकी आदि भाषा भी संस्कृत होनी चाहिए। संस्कृत व्याकरण सर्वप्रमुख तथा सर्वादिम भाषा शास्त्र है।[३८] भाषा वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से संस्कृत प्राचीन एवं जीवित भाषा मानी जाती है। डॉ. वेंकटराघवन ने 'कन्टेम्पररी इंडियन लिटरेचर' के संस्कृत-साहित्य नामक निबन्ध में संस्कृत की इसी गतिशीलता एवं प्राचीनता पर प्रकाश डाला है। स्व. पं. भट्टमथुरानाथ शास्त्री के ग्रन्थ 'गीर्वाणगिरा-गौरवम्' में भी इसी विवेचना को स्थान मिला है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है- संसार में इतने दीर्घकाल से बनते रहने वाले और इतने विशाल जन समूह को हजारों वर्षों में अनेक प्रकार के उत्थान-पतन के भीतर यह भाषा कभी म्लान नहीं हुई। पीढ़ियों तक आन्दोलित और प्रेरित करने वाली संस्कृत जैसी भाषा शायद कोई दूसरी नहीं हुई है। यह प्रदेश के प्रत्येक संकट को झेलकर व अधिकाधिक तेजोदृप्त होकर प्रकट होती गयी है। अपूर्व जीवनी शक्ति और प्रौढ़ विचारधारा की दृष्टि से निःसंदेह संस्कृत संसार में प्राचीन एवं बेजोड़ है। इसलिए आचार्य देवीशंकर मिश्र ने कहा है 'संस्कृत निर्विवाद रूप से विश्व की प्राचीनतम भाषा है।'[३९]

---

३५. अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्यता यतः सर्वा प्रवृत्तया॥
– महा. शान्तिपर्व, २३१/५६

३६. तुलसी, वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, ३०/१७
हनुमान- वाचं चौदहरिष्यामि मानुषीभिह संस्कृताम्।

३७. सुदर्शन सिंह चक्र- हमारी संस्कृति, पृष्ठ ५

३८. कलानाथ शास्त्री- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६४

३९. आचार्य देवी शंकर मिश्र एवं डॉ. राजकिशोर सिंह- संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, पृष्ठ २

पुरुषोत्तम दास नागेश ओक के अनुसार संस्कृत जैसी अप्रतिम भाषा मानव बना ही नहीं सकता है।[४०] रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन में पढ़े गए एक प्रबंध में कहा गया है कि 'बड़े आश्चर्य की बात यह है कि जिस भारत के ऊपर कई क्रुद्ध आक्रामकों का आक्रमण होता रहा और जिनके पद्चिह्न उस भूमि पर पाए जाते हैं, उसी भूमि में समय और शासन बदलते रहने पर भी एक भाषा ऐसी टिकी हुई है कि उसके विभिन्न पहलुओं की और वैभव की तो कोई सीमा ही नहीं, जो ग्रीक, लैटिन जैसी मान्यता प्राप्त यूरोपीय भाषाओं की जननी है, जो ग्रीक से भी लचीली और रोमन भाषा से भी सशक्त है, जिसके काव्यों में व्यक्त प्रतिमा अकल्पित-सी है और जिसके शास्त्रीय ग्रंथ इतने प्राचीन है कि उनका कोई अनुमान नहीं लगा सकता। वह सारा साहित्य इतना विपुल और विशाल है कि उसका जितना भी वर्णन किया जाय कम ही पड़ेगा। उस सारे साहित्य का अपना एक विशिष्ट स्थान है। वह साहित्य एकाकी निजी बल पर टिका हुआ है। ऐसी उस भाषा में प्रवीण बनना जीवन-भर को भव्य बना सकता है।'[४१] हालहीड की मान्यता है कि संस्कृत भाषा ही पृथ्वी की मूल भाषा है।[४२] इसी तरह पाश्चात्य के कई अन्य विद्वानों ने भी संस्कृत को मानवों की मूल भाषा के रूप में स्वीकारा है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने संस्कृत भाषा को देववाणी या सुरभारती कहकर उल्लेख किया है कि संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में संस्कृत ही प्राचीनतम है। सभी भाषाएँ मूल आर्य भाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। संस्कृत आर्य भाषाओं में सबसे प्राचीनतम है।[४३] श्री अरविन्द ने इसे इस तरह अभिव्यक्ति दी है 'संस्कृत भाषा की प्राचीनता अपने गुण तथा उत्कर्ष के स्वरूप एवं बाहुल्य दोनों में शक्तिशाली, मौलिकता, ओजस्विता और सुन्दरता में अपने सारतत्त्व, कौशल और गठन में, वाक्शक्ति के वैभव, औचित्य और आकर्षण में और अपनी भावना के क्षेत्र में उच्चता और विशालता में अत्यन्त स्पष्टतः ही विश्व के महान् साहित्य के बीच अग्रपंक्ति में प्रतिष्ठित है। निर्णय देने योग्य व्यक्तियों ने सर्वत्र ही यह स्वीकार किया है कि स्वयं संस्कृत भाषा भी मानव-मन के द्वारा विकसित किए हुए अत्यन्त

---

४०. पुरुषोत्तम दास नागेश ओक- वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास, पृष्ठ १८४

४१. पृष्ठ ३९२ Appendix No. XVI, W.C. Taylor का दिसम्बर प्रबन्ध, Journal of the Royal Asiatic Society, Vol II, E Pococke द्वारा लिखित India in Greece ग्रंथ से उद्धृत।

४२. Thomas Maurice- Indian Antiquities, Vol, IX, p. 415

४३. आचार्य बलदेव उपाध्याय- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२

महान्, अत्यन्त पूर्ण अद्भुत रूप से समर्थ साहित्यिक साधनों में से एक है, जो एक साथ ही भव्य, मधुर एवं नमनीय है।'[४४]

इस प्रकार संस्कृत मूल भाषा है और यह वैदिक भाषा भी है।[४५] स्वयं ऋग्वेद में इसे 'दैवी वाग' कहा गया है।[४६] काव्यादर्श में भी इसी तरह का उल्लेख मिलता है।[४७] आर्य भाषा की जननी के रूप में संस्कृत का प्राचीनत रूप ऋग्वेद में देखने को मिलता है। वैदिक साहित्य के उत्तरवर्ती रूपों में इसके शनैः शनैः विकसित रूपों के दर्शन होते हैं। निरुक्तकार यास्क के समय तक आते-आते इसका यह वैदिक रूप काफी परिवर्तित हो चुका था। इसके पश्चात् आचार्य पाणिनि के समय में वैदिक एवं लौकिक भाषा में इतना अन्तर आ चुका था कि यह दो भिन्न-भिन्न नामों से परिचय प्राप्त करने लगी। स्वयं पाणिनि इसका स्पष्टीकरण 'छेदस' (वैदिक) एवं भाषा (लौकिक) के रूप में करते हैं। कात्यायन और पतंजलि के समय तक भेद की यह दीवार और ऊँची उठ चुकी थी। महाभाष्य के प्रारम्भ में ही 'अथ शब्दानुशासनम' पर लिखते हुए उन्हें 'केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च।'[४८] कहकर दोनों का स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् निर्देश करना पड़ा था। उत्तर वैदिक काल में वैदिक तथा लौकिक दोनों भाषाओं में ध्वनि प्रक्रिया, रूप रचना, वाक्य रचना एवं शब्दार्थों की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर आ चुका था। पाणिनि के बाद भी इसमें प्राकृत एवं द्रविड़ भाषाओं के अनेक तत्त्वों का सम्मिश्रण होता रहा। समय के साथ शुद्धतावादियों के कारण संस्कृत की ग्रहण शक्ति का ह्रास होता गया। परन्तु संस्कृत मूल रूप में सबसे प्राचीन भाषा है और वैदिक वाङ्मय में यही वैदिक भाषा के रूप में प्रयुक्त हुई है। यह भाषा उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्वयं वेद।

वेदों का काल निर्धारण

वेद अत्यन्त प्राचीनतम साहित्य है। मानव समाज के कल्याण की पूरी आचार संहिता जिस संस्कृति में बनाई गई है उसके मूलाधार हैं वेद। इस प्राचीनतम साहित्य के बारे में मैक्समूलर ने कहा है कि ईजिप्त और निनेव्हे के लेखों से

४४. श्री अरविंद- भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ३०७
४५. पं. रघुनन्दन शर्मा- वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ २२०
४६. देवीं वाचभजनयंत देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदंति। - ऋग्वेद, ८/१००/११
४७. संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। - काव्यादर्श, १/३३
४८. महाभाष्य वा.।

प्राचीन वेद हैं।[४९] प्राध्यापक वेबर लिखते हैं 'हम दावे से कह सकते हैं कि प्राचीनतम लिखित साहित्य भारत के अतिरिक्त और कहीं इतनी विपुल मात्रा में उपलब्ध नहीं है।'[५०]

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वेदों का काल ईसा से १२०० से ३००० वर्ष पूर्व ठहरता है। इससे अधिक पीछे ले जाना उनके लिए सम्भव नहीं, क्योंकि बाइबल के अनुसार उनके मन में यह संस्कार बैठा हुआ है कि वर्तमान सृष्टि को बने ६००० वर्ष से अधिक नहीं हुए। जब ६००० वर्ष पूर्व सृष्टि ही नहीं थी तो कोई किसी ग्रंथ की रचना उससे पहले कैसे सम्भव है? परन्तु इस दिशा में किए गये वैज्ञानिक अनुसंध्रानों ने इस मत को परिवर्तित कर दिया। रेडियम के आविष्कार से स्पष्ट होता है कि सृष्टि को बने लगभग दो अरब वर्ष हो गये हैं क्योंकि इससे कम अवधि में कार्बन रेडियम में रूपान्तरित नहीं हो सकता।[५१]

यूरोप के विद्वानों में जर्मनी के प्रो. मैक्समूलर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' में वैदिक वाङ्मय को चार कालखण्डों में बांटा। इनमें से अंतिम को सूत्रकाल की संज्ञा देकर उसके लिए ईसा पूर्व ६०० से २०० वर्ष की न्यूनतम काल सीमा निर्धारित करते हुए सुझाया कि १,००० ईसा पूर्व तक सम्पूर्ण ऋग्वेद अपने वर्तमान रूप में आ गया। इस प्रकार वेदों का काल १२०० ई. पूर्व से पहले नहीं रखा जा सकता।[५२] मैक्समूलर के वेदों के काल १२०० वर्ष ईसा पूर्व को डाक्टर हाग ने प्रत्येक के ५०० वर्ष मानकर वेदकाल २४०० से २००० वर्ष ईसा पूर्व तक ले जाने का सुझाव दिया। आर्यन भाषा की कल्पना का प्रभाव लोगों के मस्तिष्क पर इतना हुआ कि लोकमान्य

---

४९. Maxmuller- History of Ancient Sanskrit Literature, p. 557

५०. Weber- History of Indian Literature, p. 4

५१. (i) The world's highest mountain range could be 200 million years old- twice as old as previously thought- a group of scientist said in a statement issued here (Bonn) By the West German Research Group, 'DFG' on Friday - Hindustan Times, 18/10/87

(ii) Scientist (Prof. Nagi and Prof. Zumberge of the university of Arizona) have found traces of ancient life and matter dating back to 2300 million years. The discovery was made in rocks found in Transaval area of South Africa, 320 K. M. north of Johansberg. - Tribune, Dated, 13/7/75

५२. F. Maxmuller- History of Ancient Sanskrit Literature, p. 244

बालगंगाधर तिलक, सुनीति कुमार चाटुर्जी और श्री अरविन्द तक के विचारों पर छा गया। कालान्तर में तिलक ने साहित्यिक पद्धति को छोड़कर ऋग्वेदान्तर्गत ज्योतिष्कीय सन्दर्भों के आधार पर यज्ञ से सम्बन्धित वक्षज, मास, ऋतु, सम्पात आदि का विवेचन करते हुए इससे और पीछे की ओर ले जाने का प्रयास किया। परन्तु वे उषा सुक्तों पर विचार करते हुए आर्यों का मूल उत्तरी ध्रुव में खोजने लगे। इसका कारण था उनके मन में आर्यों के बाहर से आगमन की बद्धमूल धारणा। न्यायमूर्ति काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग के अनुसार यूरोपीय संस्कृत विद्वान अत्यन्त दुर्बल तथ्यों पर सिद्धान्त बनाकर उनपर अपनी काल्पनिक इमारतें खड़ी कर लेते हैं। इसके बाद वे अपनी कच्ची नींव को छिपाने की व्यवस्था करते हैं।[५३]

उस समय के संस्कृत के अधिकृत विद्वानों में से अधिकांश ने मैक्समूलर द्वारा किये गये काल निर्धारण को सही नहीं माना और वे बराबर इस बात पर बल देते रहे कि ऋग्वेद का रचनाकाल कम से कम २,००० ईसा पूर्व तो होना ही चाहिए। स्वयं मैक्समूलर भी अपने काल निर्धारण से सन्तुष्ट नहीं थे। कुछ काल के पश्चात् मैक्समूलर ने स्वीकार किया कि उनके द्वारा ब्राह्मण आदि के विकास और परिपक्वता के लिए जो कालावधि सुझाई गई थी, वह दूसरे राष्ट्रों के बौद्धिक इतिहास में इसी तरह के बौद्धिक विकास के लिए नियत औसत कालावधि से कम है। जब विल्सन, ह्विटनी आदि ने उनके काल-निर्धारण पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की तो विल्सन की आपत्तियों को ठीक ठहराते हुए मैक्समूलर ने स्वीकार किया कि 'हम वेदकाल की कोई अंतिम सीमा निर्धारित कर सकने की आशा नहीं कर सकते। वैदिक सूक्त ईसा पूर्व १००० में बनाये गये या १५०० में या २००० में या ३००० में संसार की कोई शक्ति इसका निर्धारण नहीं कर सकती।'[५४] इस तरह विल्सन, ह्विटनी, हिलेरी, गोल्डस्कर, जैकोबी, वूल्हर, ब्लूमफील्ड, विन्टरनिट्ज आदि की तरह मैक्समूलर भी इस बात से सहमत थे कि वैदिक साहित्य की भाषा और अन्तर्वस्तु को ध्यान में रखते हुए इसका रचना काल २००० से पीछे ले जाना चाहिए। परन्तु अधिकतर विद्वान पहले कही हुई बात को ब्रह्मवाक्य मानकर उसे पकड़कर बैठ गये। उनके इस आग्रह के पीछे

---

५३. काशीनाथ त्रैम्बक तेलंग- भगवद्गीता का अंग्रेजी समवृत्त भाषान्तर, प्रस्तावना, पृष्ठ ३३-३९

५४. We could not to be able to laydown any terminus a 940 whether the Vedic hymn were composed in 1000 or 1500, or 2000 or 3000 years BC, no power on earth could ever fix.

दो अन्य आग्रह काम कर रहे थे। इनमें से एक था, भारत में आर्य भाषा-भाषियों का किसी भी रूप में आगमन और दूसरा भारत से बाहर इन्हीं लोगों की उपस्थिति के उपलब्ध प्रमाण। इन दोनों को मान लेने पर भारत में आर्यों का आगमन १५०० से पीछे नहीं ले जाया जा सकता था। इसलिए उन्हें २००० ईसापूर्व की बात अग्राह्य लगती थी। ऐसे लोगों ने मध्यम मार्ग निकालने की दृष्टि से सुझाव दिया कि हो सकता है कि ऋग्वेद की रचना का आरम्भ २००० ईसापूर्व में आर्यों के बाहर रहते हो गया हो और इसे पूर्ण भारत में आने के बाद किया गया हो। परन्तु इसे अधिकतर उन विद्वान-अध्येताओं का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका जो यह मानते थे कि समूचे ऋग्वेद की रचना भारत में हुई थी।

कुछ विद्वानों ने अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा को ऋग्वेद की रचना काल के निर्धारण के लिए आधार मानते हुए इसको १००० ईसापूर्व में नियत करना चाहा। उनका तर्क इस प्रकार है- शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से वर्तमान रूप में ऋग्वेद को १००० ईसापूर्व से पहले नहीं रखा जा सकता। ऋग्वेद की भाषा अवेस्ता की भाषा से अधिक भिन्न नहीं है, जितनी पुरानी अंग्रेजी उच्च जर्मनी से। हाँ जिस संस्कृत को ऋग्वेद में प्रस्तुत किया गया है, वह अवश्य इससे पहले की हो सकती है, परन्तु उसे भी १५०० ईसापूर्व से पीछे नहीं ले जाया जा सकता है।[५५] परन्तु जिस शुद्ध और वैज्ञानिक दृष्टि की बात बड़े विश्वास के साथ की जाती है, वह अपनी अंतिम व्याख्या में मृगमरीचिका सिद्ध होती है। सच्चाई यह है कि ऋग्वेद और अवेस्ता का कोई गम्भीर अध्ययन भाषा की तुलना करते हुए किया ही नहीं गया है। इसलिए वैदिक काल निर्धारण में अवेस्ता हमारी कोई सहायता नहीं करती।

पाश्चात्य विद्वान् वेद का जो काल मानते हैं, वह निम्न तालिका से प्रकट है-

१.	मैक्समूलर	१२०० से १५००	वर्ष ईसापूर्व
२.	मैकडानल	१२०० से २०००	,,
३.	कीथ	१२००	,,
४.	वूल्हर	१५००	,,
५.	हॉग	२०००	,,
६.	ह्विटनी	२००० वर्ष	ईसा पूर्व
७.	विल्सन	,,	,,
८.	ग्रिफिथ श्योडीर	,,	,,

५५. The Aryan Problem- p.207

९.	विण्टरनिट्ज	२५००	''
१०.	जैकोबी	३००० से ४००००	''

भारतीय विद्वान वेद काल को पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा अधिक पीछे ले जाते हैं जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

१.	शंकर बालकृष्ण दीक्षित	३००० ईसा पूर्व	
२.	लोकमान्य तिलक	६००० से १०,००० ईसापूर्व	
३.	सम्पूर्णानन्द	१८,००० से ३०,०००	''
४.	अविनाशचन्द्र दास	२५,००० से ५०,०००	''
५.	देवेन्द्र मुखोपाध्याय	२५,००० से ५०,०००	''

उन्नीसवीं शती के अन्त में जर्मनी में जैकोबी ने और भारत में तिलक ने स्वतंत्र भारत से वैदिक साहित्य में उल्लिखित नक्षत्रों की स्थितियों के विश्लेषण से वेदों का काल निश्चय करने का प्रयास किया। दोनों के निष्कर्ष वैदिक रचनाकाल को इतना पीछे खींच ले गये कि इससे पाश्चात्य विद्वानों में हड़कम्प सा मच गया। ये विद्वान भिन्न मार्गों से इस परिणाम पर पहुँचे कि ब्राह्मणों के समय में कृत्तिका नक्षत्र, जो कि नक्षत्र गणना में उस समय आरम्भ बिन्दु था, मधु सम्पात के साथ घटित होता था। वैदिक ग्रंथों में इससे भी पुराने पंचांग के संकेत मिलते हैं, जब मधु सम्पात मृगशिरा में होता था। पूर्व वर्णन का मान निकाल लेने पर पता चला कि कृत्तिका में मधु सम्पात २५०० ईसा पूर्व में होता था और मृगशिरा में ४५०० ईसा पूर्व में। पर जहाँ तिलक वैदिक कृतियों के लिए ६००० ईसा पूर्व की तिथि नियत करते हैं, वहाँ जैकोबी ४५०० ईसा पूर्व मानकर सन्तोष कर लेते हैं। उनके अनुसार सभ्यता का यह काल मुख्य रूप से ४५००-२५०० ईसा पूर्व तक फैल जाता है। और वह सम्प्रति उपलब्ध सूक्तों का रचना-काल इस अवधि के उत्तरार्द्ध में मानते हैं।[५६]

मैक्समूलर और मैकडानल की तुलना में जैकोबी वेदों को और पीछे की ओर ले जाते हैं। उनके मत में ऋग्वेद का काल ४००० वर्ष ईसा पूर्व के बाद का नहीं है। उन्होंने ऋतुओं के आधार पर सिद्ध किया है कि वेद में ऐसे स्थल हैं जिनका निर्माण ४५०० ईसा पूर्व में ही हो सकता था। उस बारे में उन्होंने ऋग्वेद

---

५६. Buhler, Notes on Prof, Jacobis Age of The Veda and on Tilak's Orien, Winternitz, pp.295-97

के मण्डूक सूक्त की एक ऋचा का उल्लेख किया है।[५७] इस ऋचा में 'संवत्सरे प्रावृषि आगतायाम' संवत्सर की गणना में वर्षा ऋतु के आने पर, 'जुगुपुः द्वादशस्य ऋतुम' संवत्सर के जो १२ महीने होते हैं, उनके क्रम में वर्षा ऋतु के प्रथम स्थान की लोग रक्षा करते हैं। जैकोबी के अनुसार इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऋग्वेद के समय ऋतुओं की ऐसी स्थिति थी जिसमें वर्ष गणना में वर्षा ऋतु प्रथम स्थान होने के कारण ही सन् को वर्ष कहा जाता है। जैकोबी के अनुसार ऋतुओं में वर्षा ऋतु का प्रथम स्थान ईसापूर्व ४५०० में ही सम्भव है। जैकोबी के इस कथन का खण्डन करते हुए मैकडानल लिखते हैं 'इस बात में सन्देह है कि भारत के ऋषि-मुनि ज्योतिष शास्त्र के इतने ज्ञाता थे कि नक्षत्रों की स्थिति की इतनी गहराई तक पहुँच सकते, जितनी गहराई तक जाकर ही जैकोबी के मत की पुष्टि हो सकती है। परन्तु इस विषय में मैकडानल की आलोचना सारहीन होने से असंगत है। क्योंकि आर्यभट्ट (५वीं शताब्दी) व भास्कराचार्य (७ वीं शताब्दी) आदि के ग्रंथों से सिद्ध होता है कि ज्योतिष शास्त्र के विषय में यहाँ के ज्योतिषविद्या में निष्णात विद्वानों का ज्ञान अगाध था। नारद ने सनत्कुमार को उन सभी विद्याओं के साथ उसने चारों वेदों की नक्षत्र विद्या का परिचय दिया था, उसमें उसने उन सभी विद्याओं का परिगणन किया था।[५८]

लोकमान्य तिलक ने वेद में निर्दिष्ट नक्षत्रों की विशेष स्थिति के आधार पर वेद काल का निश्चय किया है। उनके अनुसार आर्य सभ्यता का पहला युग पूर्व मार्गशीर्ष का अदितियुग है। इसका काल उन्होंने ६००० से ४००० ईसा पूर्व निर्धारित किया है। तिलक के मत में अदितियुग में परिष्कृत वैदिक सुक्त नहीं थे। दूसरा युग मृगशीर्ष युग है। यह लगभग ४००० से २५०० ईसा पूर्व तक था। वेद के अनेक सूक्त इस युग में गाये गये थे। तीसरा युग कृत्तिका युग था। इसका आरम्भ २५०० ईसा पूर्व में हुआ और यह १५०० ईसा पूर्व तक रहा।[५९] इस तरह लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद का काल ईसवी सन् से ७००० वर्ष पूर्व माना है। इस तथ्य के लिए उन्होंने गीता[६०] का उद्धरण दिया है। उनका कहना

---

५७. देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिन्त्येते।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता धर्मा अश्नुवते विसर्गम्॥
- ऋग्वेद, ७/१०३/९

५८. वृहदारण्यकोपनिषद् - ७/१
५९. Lokmanya Tilak - Orien, pp. 206-7
६०. मासानां मार्गशीर्षोऽहं ऋतुनां कुसुमाकरः। - गीता, १०/२५

है कि वसन्त को ऋतुराज कहना तो समझ में आता है, किन्तु 'मासों में मार्गशीर्ष हूँ' इस कथन का सामंजस्य कैसे किया जाये? गीता में ही नहीं, अन्यत्र महाभारत[६१], वाल्मीकि रामायण[६२] तथा भागवत[६३] में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है। तिलक ने अपने ग्रंथ ओरायन में कहा है कि गीता में ही नहीं ऋग्वेद में भी मृगशिरा नक्षत्र के विशेष महत्त्व का पता चलता है। उस महत्त्व का कारण यह था कि वसन्त सम्पात (Vernal Equinox) तथा शिशिर सम्पात (Winter Equinox) उस समय मृगशिरा नक्षत्र में होते थे।

वसन्त-सम्पात तथा शिशिर सम्पात वह समय है, जब दिन-रात बराबर होते हैं। ऐसा वर्ष में दो बार होता है। गर्मियों में ऐसा दिन २१ मार्च और सर्दियों में २३ सितम्बर को आता है। २१ मार्च के बाद दिन बढ़ने लगते हैं और रातें छोटी होने लगती हैं इसे वसन्त-सम्पात कहते हैं। २३ सितम्बर से दिन घटने लगते हैं और राते बढ़ने लगती हैं इसे शिशिर-सम्पात कहते हैं। इन सम्पातों का सम्बन्ध नक्षत्रों से है। ज्योतिष शास्त्र में २७ नक्षत्र माने जाते हैं। ईसवीं सन् के काल में वसन्त सम्पात और शिशर सम्पात उत्तराभाद्रपद में होते आ रहे हैं, जबकि वेद के काल में ये सम्पात मृगशिरा नक्षत्र (Orion)में होते थे। तिलक के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र को महत्त्व दिये जाने का कारण यही है। उत्तराभाद्रपद नक्षत्र से उल्टी ओर चलें तो मृगशिरा नक्षत्र इससे ६ नक्षत्र पहले पड़ता है। वसन्त सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र तक जाने में ९६० या १००० वर्ष लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि जब पृथ्वी या सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में थे, वह समय ईसवी सन् से ६००० (९६०×६) वर्ष पूर्व का था। ईसवी सन् में वसन्त तथा शिशिर सम्पात उत्तराभाद्रपद में रहे हैं। इसलिए ऋग्वेद का समय ईसा से लगभग ६००० वर्ष पूर्व का है।

वेद की अन्तःसाक्षी से किसी इतिहास सम्बन्धी बात का निश्चय नहीं हो सकता। इसलिए वेद के संदर्भों को देखकर एक दो शब्दों के आधार पर किया गया कोई निर्णय तर्क सम्मत नहीं हो सकता। वेद में वर्णित यह नक्षत्र स्थिति आज से ६००० वर्ष पहले की है, उससे पहले की नहीं, इसके लिए कोई भी निश्चायक हेतु नहीं है। वस्तुतः वेदों में ज्योतिष सम्बन्धी ऐसी कोई घटना का वर्णन नहीं है, जिससे वेदों का समय निर्धारित करने में सहायता मिल सके। सभी जानते

---

६१. महाभारत, अनु. १०६, १०९

६२. वाल्मीकि रामायण, १३/१६

६३. भागवत- ११/१६-२७

हैं कि विवाह के समय वधु को ध्रुव तारे का अवलोकन कराया जाता है। इसका विधान ग्रंथों में मिलता है, किन्तु वेदों में इसका संकेत नहीं है। यदि वेदों में काल सूचित करने वाले ज्योतिष सम्बन्धी वर्णन होते तो उनमें वधु को ध्रुव तारे के अवलोकन का विधान होता। यदि वेदों में ध्रुव तारे के अवलोकन का वर्णन होता तो वह ज्योतिष की गणना के द्वारा वेदों का काल निश्चय करने में सहायक हो सकता था। ध्रुव तारा सदा से इस स्थान पर नहीं है। सन् ईसवी से २८२७० वर्ष पूर्व इसके स्थान पर कोई दूसरा तारा रहा होगा। परन्तु वेदों में इसका वर्णन भी नहीं है।[६४] इस प्रकार वेदों का समय न इतिहास की प्रतीति कराने वाले शब्दों से निकाला जा सकता है और न ज्योतिष सम्बन्धी किसी घटना से।

परन्तु तिलक ने ओरायन के पश्चात् लिखे अपने ग्रंथ में 'आर्कटिक होम इन द वेदास' में वेदकाल को दस हजार वर्ष पूर्व बताकर स्वयं ही अपनी बातों का खण्डन कर दिया। वेदों में उपलब्ध भूगर्भ सम्बन्धी संकेतों के आधार पर अविनाशचन्द्र दास ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में ऋग्वेद का काल ईसवी सन् २५००० से ५०००० वर्ष पूर्व का सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने भी वेदमंत्र[६५] का सहारा लिया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के एक मंत्र में भूगर्भ शास्त्र के अनुसार ईसवी सन् ५०००० वर्ष पूर्व की भौगोलिक स्थिति का वर्णन है। मंत्र में उल्लेखित पूर्व तथा पश्चिम के दो समूह कौन से हैं, इस तथ्य

---

६४. In the Hindu marriage ceremony according to the Grihya Sutra the Polar Star is pointed at the bridge as an ideal of steadiness and faithfulness. The custom is observed all over India. The Present Polar Star an the northern hemisphere is Alpha of the little bear. But already 2000 years ago this star was so distant from the celesteal pole that in the Vedic antiquity could not possibly by cossidered as the Polar Star. Its place was at that time, accurately in 28270 BC. occupied by Alpha Dacovis, This being the only star bright enough to serve the purpose of the Polar Star since in the Rigveda hymns them selves this custom of pointing out the polar star is not yet mentioned.

- Hymns from Rigveda, Appendix by R Zinimerman.

६५. वास्तस्यास्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः।
उमौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥

- ऋग्वेद, १०/१३६/५

को स्पष्ट करते हुए दास बाबू कहते हैं कि जब वैदिक आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश में रहते थे तो उसके पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओर समुद्र था। पश्चिम में तो अब भी है परन्तु पूर्व में ५० हजार वर्ष पूर्व का था। इसी को ऋग्वेद में अपर समुद्र कहा है। इस आधार पर ऋग्वेद का काल ५० हजार वर्ष ईसापूर्व तक पहुँच जाता है। पावगी महोदय ने अपनी 'वैदिक फादर ऑफ जिओलॉजी' में भूगर्भ शास्त्र के प्रमाणों के आधार पर वेदों का काल कम से कम २४,००० वर्ष पूर्व सिद्ध किया है।

राजापुर के पाटणकर शास्त्री वेदों में उल्लेखित नक्षत्रादि स्थिति के अनुसार वेदों को २१,००० वर्ष पूर्व के मानते थे। लेले शास्त्री का अनुमान ४०,००० वर्ष था। पं. सुधाकर त्रिवेदी का निष्कर्ष था वेद ५४,००० वर्ष पूर्व के हैं। पं. कृष्ण शास्त्री गोडबोले का अनुमान था कि वेद उस संख्या से भी १८,००० वर्ष पूर्व के हैं। पं. दीनानाथ चुलैट ने ज्योतिष के आधार पर लिखा है कि वेदों का रचनाकाल तीन लाख वर्ष से कम नहीं हो सकता। डॉ. ज्वाला प्रसाद की साक्षी के अनुसार भूगर्भ शास्त्री की साक्षी के आधार पर यह अनुमान ५ लाख वर्ष का है। उनके अनुसार यह अवश्विसनीय भले ही प्रतीत होता है, परन्तु इससे बचा नहीं जा सकता।[६६] स्वामी दयानन्द सरस्वती तो वेदों को दो अरब प्राचीन मानते थे। इस प्रकार वेदकाल के निर्धारण के विषय में जितना बारीकी से विचार किया जाता है, उतना ही वह पीछे की ओर सरकता जाता है। अत: वेद अति प्राचीनतम साहित्य है तथा ज्ञान, धर्म, दर्शन आदि सारी विद्याओं और कलाओं का भण्डार है।

वैदिक वाङ्मय का स्वरूप

वैदिक संस्कृत में प्रणीत ईश्वरत्व-प्राप्त ऋषियों के साहित्य को वैदिक वाङ्मय कहा जाता है। इसकी समय-सीमा सामान्यत: ३००० ई.पूर्व से लेकर १०००० ई.पूर्व तक है। वैदिक वाङ्मय को मुख्यत: चार भागों में बांटा जाता है १. संहिता, २. ब्राह्मण, ३. आरण्यक एवं उपनिषद् तथा ४. वेदांग साहित्य।

---

६६. This is staggering, but what is the escape?
- Rigvedic Geology and the land of Saptasindhu, Vol. II, Part II, pp.205-14.

❑ संहिता

संकलित अथवा संग्रहित ग्रंथ को संहिता नाम से जाना जाता है। प्रमुख संहिताएँ चार हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। जिस संहिता में ऋचाओं अर्थात् पद्य या मंत्रों का संकलन है, उसे ऋग्वेद कहते हैं। प्राचीन काल में ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थी- शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शाखायन तथा माण्डूक्य। आगे चलकर ऋग्वेद की २७ शाखाएँ विकसित हुई। ऋग्वेद संहिता में १० मण्डल, ८५ अनुवाक तथा १०५८९ तक मंत्र उपलब्ध होते हैं। इस संहिता का रचनाकाल ३००० ई. पूर्व के लगभग माना जाता है। कई विद्वान इसे ६००० वर्ष पूर्व मानते हैं। यजुर्वेद संहिता में 'यजुष' या गद्य की प्रधानता है। इस संहिता के कृष्ण तथा शुक्ल नामक दो भाग हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा कठ शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद में 'काण्व' तथा वाजसनेय शाखाओं को गिना जाता है। प्रस्तुत संहिता में ४० अध्याय हैं। यजुर्वेद संहिता के रचनाकारों में कण्व, याज्ञवल्क्य, वैशम्पायन, आत्रेय आदि ऋषि प्रमुख हैं। उस संहिता का रचनाकाल २५०० ई. पूर्व है।

सामवेद संहिता में 'साम' या गीति-तत्त्व की प्रधानता है। इस संहिता की तीन शाखाएँ कौथुम, जैमिनीय तथा राणायणीय हैं। सामवेद संहिता के प्रणेताओं में जैमिन., कुथुमी, राणायण जैसे ऋषियों का योगदान है। इस संहिता का रचनाकाल २५०० ई. पूर्व स्वीकार किया जाता है। अथर्व संहिता के प्रमुख प्रणेता 'अथर्वन' हैं। वेद की इस चौथी संहिता में २० अध्याय हैं। आयुर्वेद तथा तन्त्रादि से प्रस्तुत संहिता का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। इस संहिता का निर्माण काल २००० ई.पूर्व मान्य है।

❑ ब्राह्मण

वेदों की रचना के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। संहिता साहित्य के यज्ञ-भाग को ब्राह्मणों में विस्तार दिया गया है। इनका सम्बन्ध चारों वेदों से रहा है। ब्राह्मण ग्रंथों का प्रणयन २००० ई.पूर्व के आस-पास मान्य है। ऋग्वेद से दो ब्राह्मण ऐतरेय तथा कौषीतकी हैं। इसकी रचना क्रमशः महीदास तथा कुषीतक ऋषि परम्परा ने की। इन दोनों ब्राह्मणों में यज्ञ विधान के वर्णन के अतिरिक्त सृष्टि रचना तथा इतिहास-भूगोल से सम्बन्धित जानकारी प्रस्तुत की गई है। यजुर्वेद की कृष्ण शाखा से तैत्तिरीय तथा शुक्ल यजुर्वेद से शतपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध माना जाता है। सामवेद की कौथुमीय संहिता या शाखा के पाँच ब्राह्मण
का सम्बन्ध माना जाता है। सामवेद की कौथुमीय संहिता या शाखा के पाँच ब्राह्मण

हैं- ताण्डव, षड्विंश, अद्भुत, मंत्र तथा छान्दोग्य। इसकी अन्य शाखा जैमिनीय से जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण विकसित हुए। अथर्ववेद से सम्बन्धित एकमात्र ब्राह्मण गोपथ है। यह ब्राह्मण ग्रंथ होने पर भी वेदान्त से ज्यादा निकट है।

❑ आरण्यक

अरण्य या वन में रचित तथा पठित होने की परम्परा के कारण इन ग्रंथों को आरण्यक कहा जाता है। ऋग्वेद के आरण्यक हैं एतरेय तथा कौषीतकी। यह ब्राह्मण परम्परा से उद्भुत हुआ है। इसी तरह यजुर्वेद के आरण्यकों में तैत्तिरीय तथा शतपथ हैं। सामवेद में जैमिनीयोपनिषद् आरण्यक तथा छान्दोग्यारण्यक हैं। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

आरण्यकों में उपनिषद् तत्त्व पर्याप्त प्रवेश पा चुका था। इसलिए आरण्यक और उपनिषद् एक दूसरे से सम्बन्धित पाये जाते हैं। अध्यात्म विद्या से पूर्ण ग्रंथों को उपनिषद् कहा जाता है। प्रमुख तथा प्रामाणिक उपनिषद् बारह हैं जिन पर शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य जैसे वेदान्तविदों के भाष्य उपलब्ध हैं। ये हैं- ईसावास्य, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, वृहदारण्यकोपनिषद्, कौषीतकी उपनिषद् तथा श्वेताश्वरोपनिषद्। उपनिषदों को वेदों के अंतिम भागों से अवस्थित देखने के कारण उन्हें 'वेदान्त' भी कहा गया है। इनका रचनाकाल १००० ई.पू. स्वीकार किया जा सकता है।

❑ वेदांग साहित्य

वैदिक साहित्य के मर्म को वेदांग साहित्य में वर्णित किया गया है। वेद के छैः अंग हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। स्वर ज्ञान को शिक्षा कहते हैं। पाणिनीय शिक्षा स्वर ज्ञान को सूचित करने वाला ग्रंथ है। सूत्र ग्रंथों को कल्प के अंतर्गत रखा गया है। आश्वालायन, शाखायन तथा आपस्तम्ब आदि कल्पसूत्रों के रूप में प्रसिद्ध हैं। सूत्र ग्रंथों को गृह्यसूत्र, श्रौत्रसूत्र, तथा धर्मसूत्र नामक भेदों में विभाजित किया गया है। प्रतिशाख्य ग्रंथ वैदिक व्याकरण से सम्बन्धित ग्रंथ है। आचार्य यास्क का निरुक्तम एक निरुक्त ग्रंथ है। निरुक्त के माध्यम से वेदार्थ का ज्ञान कराया जाता है। छन्दोऽनुशासन ग्रंथ में गायत्री, उण्णिक, जगती जैसे वैदिक छन्दों के लक्षणों एवं स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वेदांग ज्योतिष में ज्योतिष तत्त्व का वर्णन है। आज वेदांग साहित्य से सम्बन्धित अनेक ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते। सूत्र ग्रंथों का रचना काल ६०० ईसा पूर्व माना गया है।

वैदिक संस्कृति में ज्ञान

वैदिक ऋषियों की वृत्ति अन्वेषणात्मक एवं अनुसंधानात्मक थी। उन्होंने न केवल बाह्य जगत् में बल्कि अन्तर्जगत में बड़े ही गम्भीर एवं मौलिक अनुसंधान किये। बाह्य प्रकृति एवं अन्तर्चेतना की अनेकों रहस्यमयी परतों को उकेरा और उनमें निहित विभूतियों को जन-जन के लिए सुलभ बनाया। वैदिक ऋषियों द्वारा अन्वेषित ज्ञान का यह समुच्चय ही वेद के रूप में लोक प्रचलित हुआ। जिसके स्वरूप के बारे में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इन वेदों में ज्ञान की दो धाराएँ धर्म एवं दर्शन के रूप में प्राप्त होती हैं।

❑ वेदों में धर्मानुशीलन

वैदिक वाङ्मय की रचना करने वाले ऋषि धार्मिक वृत्ति से ओत-प्रोत थे तथा उन्होंने धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही उक्त वाङ्मय का निर्माण किया। अतएव वेदों में तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें जिन देवताओं की स्तुति में बहुत सारे मंत्रों को सृजन किया गया है, वे दिव्य शक्तियों के रूप में एक सर्वोपरि सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस सत्य का उल्लेख करते हुए वैदिक ऋषियों ने 'एकम्सत विप्राः बहुधा वदन्ति' का सूत्र उद्घोषित किया। इस परम सत्य की प्राप्ति के विविध रूप वैदिक धर्म में प्राप्त होते हैं।

❑ यज्ञीय कर्मकाण्ड

वैदिक साहित्य का प्रधान विषय यज्ञ ही है।[६७] न्याय के वात्सायन भाष्य में यही सूचना मिलती है। यज्ञों का कर्मकाण्ड वेदकालीन धार्मिक जीवन का एक विशेष अंग था। वैदिक ऋषि यज्ञ से बहुत प्रेम करते थे, वे दैनिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, वार्षिक आदि यज्ञ करते थे। इस प्रकार वैदिक ऋषियों का जीवन यज्ञमय था।[६८] वेदों में निम्न प्रकार के यज्ञों का विधान है- १. गार्हपत्य यज्ञ, २. दश पूर्णमास यज्ञ, ३. चातुर्मास्य यज्ञ, ४. निरुढ़ पशुबन्ध यज्ञ, ५. अग्रयण यज्ञ, ६. सौत्रामणि यज्ञ, ७. सोम याग- सोम याग के सात भेद हैं- अग्निष्टोम, उक्थ्य साम, षोडसी साम, वाजपेय साम, अतिरात्र साम, आसोर्याम। ८. द्वादशाह

---

६७. डॉ. मन्दाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ २२७

६८. डॉ. शिवदत्त ज्ञानी- वेदकालीन समाज, पृष्ठ २७८

यज्ञ, ९. गवानयन यज्ञ, १०. वाजपेय यज्ञ, ११. राजसूय यज्ञ, १२. चयन याग, १३. पुरुषमेघ यज्ञ, १४. सर्वमेध यज्ञ, १५. पितृमेध यज्ञ, १६. एकाहयज्ञ, १७. अहीन यज्ञ, १८. अश्वमेध यज्ञ।

वैदिक यज्ञ अत्यन्त व्यापक अर्थों का वाचक है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में यज्ञमय परमात्मा ही संसार की उत्पत्ति का मूल है।[६९] सृष्टि का सृजन करते हुए आदि पुरुष परब्रह्म ने स्वयं अपनी आहुति देकर संसार की प्रत्येक वस्तु बनायी। ब्रह्माण्ड में निरन्तर एक यज्ञ हो रहा है। वह यज्ञ सर्वथा परोपकारार्थ है, अतः यज्ञ का मूल त्याग है। जिसके अभाव में यज्ञ के अन्य सभी अंग पंगु बन जाते हैं।[७०] आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार यज्ञ शब्द के तीन अर्थ हैं- १. देवपूजा, २. दान, ३. संगतिकरण।[७१] संगतिकरण का अर्थ है संगठन। यज्ञ का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों को सत्प्रयोजन के लिए संगठित करना भी है। हर युग में संघ शक्ति ही सबसे प्रमुख है। परास्त देवताओं को पुनः विजयी बनाने के लिए प्रजापति ने उनकी पृथक्-पृथक् शक्तियों का एकीकरण करके संघ शक्ति के रूप में दुर्गा शक्ति का प्रादुर्भाव किया था। मानव जाति की समस्या का हल सामूहिक शक्ति एवं संघबद्धता पर निर्भर है, एकाकी, व्यक्तिवादी, असंगठित लोगों को दुर्बल और स्वार्थी की संज्ञा दी जाती थी। यह बात अपने वैदिक ऋषि अच्छी तरह जानते थे और यज्ञ के माध्यम से संगतिकरण का प्रयास करते थे।

यज्ञ का तात्पर्य है-त्याग, बलिदान, शुभ कर्म।[७२] अपने प्रिय खाद्य पदार्थों एवं मूल्यवान सुगंधित पौष्टिक द्रव्यों को अग्नि एवं वायु के माध्यम से समस्त संसार के कल्याण के लिए यज्ञ द्वारा वितरित किया जाता है। भगवद्गीता में यज्ञ की व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने स्पष्ट बताया है कि व्रतधारी जितेन्द्रिय पुरुषों में से कई द्रव्य-यज्ञ करने वाले होते हैं, कई शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन रूप तपोयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, कई चित्तवृत्ति संयमी रूपी यज्ञ करते हैं और कई स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।[७३] अतः यज्ञीय कर्म बंधन मुक्त होता है।[७४] आगे

---

६९. ऋग्वेद, पुरुष सूक्त, १०/९०

७०. डॉ. दिलीप वेदालंकार- वेदों में मानववाद, पृष्ठ ८१

७१. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्मकाण्ड भास्कर, प्रथम भाग, पृष्ठ २३

७२. वही,

७३. द्रव्ययज्ञास्तपो यज्ञा योग यज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ - भगवद्गीता, ४/२८

७४. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोत्र्यं कर्मबंधनः। - भगवद्गीता, ३/९

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि परोपकार के लिए निष्काम भाव से जितने भी शुभ कर्म किये जाते हैं उन सबको यहाँ यज्ञ के नाम से जाना जाता है। यज्ञ विषय मुख्यत: प्रतिपादन करने वाले यजुर्वेद के प्रथम मंत्र में स्पष्ट है कि यज्ञ का अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है।[७५] ब्राह्मण ग्रंथों में भी अनेक स्थानों पर प्रत्येक शुभ कर्म के लिए यज्ञ शब्द का प्रयोग किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है 'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म'।[७६] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी उल्लेख है 'यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म।'[७७]

यज्ञ का एक और अर्थ है देव पूजा। यज धातु का पहला अर्थ देवपूजा है।[७८] शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् व्यक्तियों को देव कहा गया है 'विद्वांसो हि देवा:'। स्वयं ऋग्वेद के विश्वदेव विषयक मंत्रों में देवजनों के अनेक गुणों का वर्णन हुआ है। जो यज्ञ और दक्षिणा से सम्पन्न होकर परमेश्वर की मित्रता को और मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ऐसे अग्नि के समान तेजस्वी प्रतिभाशाली देवो! तुम्हारा सदा कल्याण हो। तुम कृपा करके साधारण मनुष्यों को अपने संरक्षण में ग्रहण करो अर्थात् अपने उपदेश और संग से उन्हें उठाओ।[७९] ऋग्वेद के अन्य मंत्र में भी देवों को सम्मान दिया गया है।[८०] यजुर्वेद के एक मंत्र में भी देवों को परोपकारी प्रवृत्ति का बताया गया है।[८१] उपर्युक्त वैदिक मंत्रों में वर्णित गुणों से युक्त व्यक्ति देव हैं। उनकी पूजा करना ही मुख्यतया यज्ञ का अर्थ है।

वैदिक आदर्श के अनुसार गृहस्थ आश्रम एक यज्ञ है। इसमें पति-पत्नी का मेल होकर सन्तान पैदा की जाती है। सामवेद में कहा गया है- 'यज्ञाग्नि को गृहपति रूप में भली प्रकार स्थापित करो।'[८२] हे अग्निदेव! तुम हमारे घरों के स्वामी

---

७५. देवो व: सविता प्रापयेतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।

७६. शतपथ ब्राह्मण, १/७/१/५

७७. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/२/१/४

७८. डॉ. दिलीप वेदालंकार- वेदों में मानववाद, पृष्ठ ८२

७९. ते यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो मद्मङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधस:।
- ऋग्वेद, १०/६२/१

८०. ये ऋतेन सूर्यभारोहन् दिव्य प्रथयन पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधस:।
- ऋग्वेद, १०/६२/३

८१. तेहि पुत्रासो अदिते: प्रजीवसे मर्त्याय।
ज्योतिर्यच्छन्त्यज सृम्। - यजुर्वेद, ३/३३

८२. निहोतारं गृहपतिं दधिध्वम्- साम, पूर्वा., १/७/१

हो।[८३] तथा गृहपति पुरुष को सम्बोधित करके कहा गया है- 'हे घर के स्वामी! तुम घर से बाहर न जाते हुए भी पूज्य हो। तुमने घर की इच्छा कर द्युलोक को सुरक्षित कर लिया है।'[८४]

इसके अतिरिक्त यज्ञ का एक पूर्णतः आध्यात्मिक रूप भी है। शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त मार्मिक ढंग से अग्निहोत्र कर्म से सम्बन्ध विभिन्न वस्तुओं की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इसमें बताया गया है कि यज्ञ केवल भौतिक ही नहीं होता अपितु इसका मर्म समझने के लिए या उसका उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिए उसका आध्यात्मिक दृष्टि से समझकर उसको नित्य जीवन में यज्ञीय कर्म के रूप में उतरना चाहिए। भगवान् मनु का कथन है कि यज्ञों के अनुष्ठान से मनुष्य अपने शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप बना लेता है। यज्ञ वह दिव्य संकल्प है जो पूर्णरूप से दिव्य बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है। यज्ञ वह शक्ति है जिससे सत्यचेतना क्रिया करती है।

यज्ञ जीवन का आधार है। यह वह धुरी है जिसपर ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, दर्शन आदि अपना वृत्त पूरा करते हैं। यज्ञ वस्तुतः उस आन्तरिक और बाह्य प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा यजमान यज्ञ-पुरुष के प्रति समर्पित हो जाता है। यज्ञ भाव है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है उसे वह ब्रह्मार्पण कर दे। यज्ञ कर्म की यही श्रेष्ठता है। ऋग्वेद में तो यहाँ तक कह दिया है कि जो यज्ञमयी नौका पर चढ़ने में समर्थ नहीं होते वे कुत्सित आचरण वाले होकर यहीं इस लोक में नीचे गिर जाते हैं।

❑ गायत्री महामंत्र

वैदिक संस्कृति का उद्गम ज्ञान-गंगोत्री गायत्री है। वैदिक धर्म में यज्ञ को पिता माना जाता है। गायत्री को सद्विचार और यज्ञ को सत्कर्म का प्रतीक मानते हैं। वेदों में दोनों का सम्मिलित स्वरूप गायत्री यज्ञ द्वारा सद्भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाते हुए विश्व शान्ति एवं मानव कल्याण का माध्यम माना गया था। चौबीस अक्षरों के इस गायत्री मंत्र में अगणित रहस्य भरे पड़े है। इसकी विशिष्टता का बोध इसी बात से किया जा सकता है। कि ऋग्वेद[८५], यजुर्वेद[८६],

---

८३. त्वमग्रे गृहपतिः - साम,पूर्वा., १/६/७

८४. अप्रोषिवान गृहपते महां असि दिवस्पायुर्दुरोणयः। - सामवेद, पूर्वा., १/४/५

८५. ऋग्वेद- ३/६२/१०

८६. यजुर्वेद- ३/३५, २२/९, ३०/२, ३६/३

सामवेद उत्तरार्चिक[८७], तथा अथर्ववेद[८८] में इसका बड़े आदर के साथ उल्लेख हुआ है। आचार्य श्रीराम शर्मा जिनका जीवन इसी महामंत्र के रहस्यों की शोध में बीता है- कहते हैं इसकी व्याख्या के लिए वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृति, नीति एवं सूत्र ग्रंथों की रचना की गई है।[८९] वेदों में इस मंत्र को सद्बुद्धि प्रदान करने वाला बताया गया है। वैदिक ऋषि गायत्री संध्या के अलावा इसका अनुष्ठान भी करते थे।

❑ अष्टांग योग

वेदों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीता ने समत्व[९०] और कर्म की कुशलता[९१] को योग कहा है। पातंजलि के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[९२] योगदर्शन में ब्रह्म साक्षात्कार का उपाय अष्टांग योग बताया गया है। ये आठ अंग है- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये आठों अंग वेद से ग्रहण किये गये हैं। सामवेद कहता है सात मंजिलों को पार कर जो वहाँ पहुँचता है तो परमात्मा प्रकट हो जाता है।[९३] सातवीं मंजिल है ध्यान। इस ध्यान की मंजिल में पहुँचकर मनुष्य ईश्वर दर्शन करता है।[९४] पतंजलि प्रोक्त यम-नियम भी वेद मंत्रों के ही अनुसार है।[९५]

अहिंसा- 'भागामनागाम दितिं बधिष्ट' में, सत्य- 'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरण्' में, अस्तेय- 'मा वः स्तेन ईशत' तथा 'न स्तेयमद्मि' में, ब्रह्मचर्य- 'ब्रह्मचर्येण तपसा देव मृत्युमपाघ्नत' में, अपरिग्रह- 'शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर' में, 'शौच- शुचिः पुनानस्तन्वम्' में, सन्तोष- 'एवावस्वः इन्द्र सत्य सम्राट' में, तपः- 'अभीद्धत्तपसो अध्यजायत,' तथा 'तपसा ये अनाधृष्या' आदि में, स्वाध्याय- 'संवत्सरे शशयानाः' में और ईश्वर प्राणिधान- 'तवामित् हि त्वायवो' में मूलतः विद्यमान है। इन मंत्रों में जीवन निर्माण के साथ जीवन उद्देश्य के दोनों

---

८७. सामवेद उत्तरार्चिक- १३/४/३
८८. अथर्ववेद- १९/७१/१
८९. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री महाविज्ञान, भाग १, भूमिका प्रकरण, पृष्ठ ५
९०. समत्वं योग उच्चयते, गीता २/४८
९१. योगः कर्मसु कौशलम, गीता २/५०
९२. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः- योगदर्शन, १/२
९३. जज्ञानः सप्तभातृभिर्मेधामाशासत् श्रिये। - सामवेद, आ.का. १०१
९४. तं पश्चते निष्कलं ध्यायमानः। -मुण्डक. ३/१/८
९५. डॉ. मुंशीराम शर्मा- वेद और योग, पृष्ठ ३१६

पक्ष भोग और अपवर्ग भी इनके द्वारा सिद्ध होते हैं। अतः योग वैदिक धर्म में एक आवश्यक अंग था।

❑ भावसूचक देवता

यज्ञीय कर्मकाण्ड के पश्चात् वैदिक युग के धार्मिक जीवन में एक और धारा, भक्ति की धारा प्रवाहित होती है। वैदिक वाङ्मय में देवताओं की जो स्तुति की गई है उसमें भक्ति की भावना स्पष्टतया झलकती है। वरुण, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं से सम्बन्धित वेदमंत्र इसी प्रकार की भक्ति के अमित भण्डार हैं। जहाँ से वैदिक युग के पश्चात् भक्ति मार्ग ने प्रेरणा प्राप्त की। ऋग्वेद काल के धार्मिक विकास में बाह्य उपकरणों से आन्तरिक तत्त्व की बढ़ने की वृत्ति स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। इसी का एक परिणाम भावसूचक देवताओं के रूप में पाया जाता है, जो कि अधिकांश ऋग्वेद के दसवें मण्डल में पाये जाते हैं। विभिन्न भाववाचक संज्ञाओं को देवता के रूप में वर्णित किया गया है, जैसे श्रद्धा, मन्यु, अदिति, धाता, त्वष्टा, वाक् आदि। इन भाव सूचक देवताओं के वर्णन में आध्यात्मिकता का पुट स्पष्टतया दिखाई देता है।

यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि वेदों में धार्मिक जीवन में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इनमें कुछ नये देवताओं का महत्त्व बढ़ गया है। ऋग्वेद में यत्र-तत्र उल्लिखित प्रजापति यजुर्वेद में महत्त्वपूर्ण हो जाता है। ऋग्वेद का रुद्र, शंकर, शिव, पशुपति, शम्भु, भव, नीलग्रीव, कपर्दी आदि नामों से विभूषित किया गया है और इस प्रकार हमें यजुर्वेद में पौराणिक शिव के दर्शन होते हैं। विष्णु का भी महत्त्व बढ़ गया था और यज्ञ के साथ उनका तादात्म्य स्थापित किया गया है। इस तथ्य की पुष्टि मैकडॉनेल ने 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृति लिटरेचर' में की है। देव व असुर क्रमशः भले व बुरे से सम्बन्धित किये गये हैं। यजुर्वेद में उपनिषदों के ब्रह्म के भी सर्वप्रथम दर्शन होते हैं। यह धार्मिक परिवर्तन अथर्ववेद में भी परिलक्षित होता है। वरुण सुक्त में नैतिकता के उच्च आदर्शों का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस प्रकार व्रात्यसूक्त व काल सुक्त अपने नैतिक व आध्यात्मिक आदर्शों के विवेचन के कार्य में ऋग्वेद से भी आगे बढ़ गये हैं। अथर्ववेद के धार्मिक सिद्धान्तों के बारे में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें उदात्त धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ यंत्र-तंत्र आदि से युक्त धार्मिक विश्वासों का भी समावेश है। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि में जिन देवताओं का उल्लेख किया गया है वे वेदकालीन धार्मिक विकास के प्रेरणा स्रोत थे।

वैदिक ऋषियों ने धर्मानुशीलन के इन विविध पक्षों को अपने जीवन में आत्मसात करके ऋत् और सत्य का बोध प्राप्त किया। उनका यही बोध दार्शनिक ज्ञान का आधार बना।

वेदों में दार्शनिक ज्ञान

वैदिक दर्शन का विकास वेदों से प्रारम्भ हुआ। वैदिक ऋषियों ने आत्मतत्त्व को पहचाना था। उन्होंने जीवन मरण की गुत्थी को सुलझाने के लिए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भी विकास किया। प्रकृति, जीव, ब्रह्म आदि के पारस्परिक सम्बन्धों को उपनिषदों के ढंग से स्पष्ट किया गया। सृष्टव्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। इस तरह विभिन्न विषयों पर वैदिक ऋषियों की अनुभूतियाँ दर्शन की आधारशीला बनीं।

❑ ईश्वर की अवधारणा

समूचे वैदिक साहित्य में ईश्वर शब्द रुढ़ि रूप से परमेश्वर के लिए कहीं भी प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता।[९६] इसलिए वेदों में ईश्वर की अवधारणा को लेकर भ्रम सा हुआ जान पड़ता है। इसे देवी-देवताओं की स्तुतियाँ मात्र समझा जाने लगा। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। ईश्वर शब्द ने भले ही परवर्ती काल में विकास पाया हो पर भाव सनातन है। यही सनातन तत्त्व वेदों में पुरुष, सत्, तत् और परम सद्‌वस्तु आदि रूप में वर्णित है।[९७] एक ही सद्‌वस्तु है, उस एक ही वस्तु को ज्ञानी लोग अनेक नाम देकर वर्णन करते हैं। उसी एक सद्‌वस्तु को ज्ञानी इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सपुर्ण, गरुत्मान, यम-मातरिश्वा आदि नामों से वर्णित करते हैं।[९८] वह ब्रह्म ही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म और प्रजापति पदों से वेदमंत्र में वर्णित है।[९९] संक्षिप्त रूप में ईश्वर के विशेषण को इस प्रकार देखा

---

९६. मंगलदेव शास्त्री- वैदिक संहिताओं में ईश्वर या पुरुष, कल्याणं, ईश्वरांक, पृष्ठ ३२०

९७. डॉ. मंदाकिनी शर्मा, आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ ६८-६९

९८. इन्द्र मित्रं वरुणं, अग्निमाहुः, अथोदित्यः स सुपर्णा गुरुत्मान। एकं सत विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं, यमं, मातरिश्वानमाहुः।
– ऋग्वेद, १/१६४/६

९९. तदेवाग्निः, तदादिव्यः तद्वायुः, तेदुचन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, ता आपः सः प्रजापतिः॥ – यजुर्वेद, ३२/१

जा सकता है- ईश्वर सत्[१००] है, चित्[१०१] है, और आनन्द[१०२] है- अर्थात् सच्चिदानन्द है। वह निराकार[१०३], सर्वशक्तिमान[१०४], न्यायकारी[१०५], और दयालु[१०६] है। अजन्मा[१०७], निर्विकार[१०८], अनादि[१०९], अनुपम[११०], सर्वाधार[१११] और सर्वेश्वर[११२] होने के साथ-साथ सर्वव्यापक[११३] है। वह सर्वान्तर्यामी[११४] और सर्वज्ञ[११५] भी है। अजर[११६], अमर[११७], अभय[११८], नित्य[११९], पवित्र[१२०] स्वभाव वाला वही जगत्कर्त्ता[१२१] है। वह उपास्य[१२२] देव है।

वैदिक सूक्तों के 'एक संत' के उद्घोष को उपनिषत्कार 'ब्रह्म' कहकर

---

१००. ऋग्वेद, १/१६४/४६, अथर्व., १०/८/६, यजु., ३२/८
१०१. अथर्व. १८/४/१४, ऋ., ४/३१/२, यजु., ३६/५
१०२. वही, २/१/५, यजु. ११/१०, ऋक., १०/१२१/१
१०३. यजु., ४०/८, ३१/३-४, ३२/१, ऋक., ८/६८/११, १/२६/१४, १९/७/६
१०४. ऋक., ८/१४/२१, ८/३२/१५, १०/५५/६, ६/२५/५, अथर्व., १०/८/२४
१०५. ऋक., ७/४३/२४, अथर्व., १/२०/४, ४१/६६
१०६. वही, ५/६४/३, २/४१/११, ७/८७/७
१०७. वही, १/६७/३, ७/३५/१३, यजु., ३१/१९, ४०/८
१०८. वही, १०/११/३, ८/४७/९, अथर्व, १०/८/४४
१०९. साम., पूर्व. ५/२/१, उत्त.- १/१/२२, यजु., ३२/२
११०. ऋक., ७/३२/२३, साम., ३/१/१०, ऋक., ८/५१/३, १०/१२१/१०
१११. यजु., ३१/११, १३/४, ऋक., १/५९/१, अथर्व., १०/८/६, १०/७/१३०, १०/८/११,
११२. ऋक. ८/६४/३, १०/८९/१०, १/३२/१५, १०/१२१/३, अर्थ., १३/३/३
११३. वही १/९७/६, १०/२६/१४, यजु., ३२/८, ४०/५, ३२/११, अथर्व., ७/८७/१
११४. वही, ३/६२/९, १/२५/१०-११, १/२५/७, अथर्व., ५/११/४, ४/१६/२ व ५-६
११५. वही, ८/१०/११४
११६. अथर्व., १०/८/४४, ऋक., ६/४९/१०, ६/५/७, ६/१९/२
११७. ऋक., ५/१४/२, ६/४/२, १०/४८/५, ४/१/१
११८. वही, ३/३०/५, २/२७/१४, अथर्व. १/२१/१
११९. अथर्व., १०/८/२२-२३, ऋक., १०/१५/६
१२०. ऋक., ८/९५/७-९, ७/३५/६
१२१. वही, १०/११०/९, १०/१२१/८, १०/१९०/३, यजु., १७/१८-१९, साम. पू. ६/४/३, अथर्व. १६/१/६
१२२. वही, १/७५/४, २/१/४, ५/८/४, १/१/१, १०/१२१/१

स्वीकारते, अनुमोदन करते और अनुभव करते हैं।[१२३] समूची दुनिया में ब्रह्म ही सक्रिय तत्त्व है और फिर भी वह सबसे शान्त और अचल है। यह विश्व ही उसका शरीर है और वह स्वयं उसके अंतर में निवास करने वाली आत्मा है। 'वह सृष्टिकर्त्ता है। उसकी इच्छा के अनुसार ही ज्ञानी जन सम्पन्न होते हैं। वह रस और गन्ध की खान भी है, सर्वव्यापक है, शान्त और शाश्वत है, जो किसी वस्तु से प्रभावित नहीं होता।'[१२४] एक एक स्थान पर ठहरा भी दूर देश में जा सकता है और सर्वव्यापक होने से लेटे हुए के समान वह व्याप्त वस्तुओं को सब ओर घेरे हुए है। वह आनन्द स्वरूप होने से अभाव और इन्द्रिय जन्य हर्ष के न होने से अमद कहलाता है।[१२५] जिस तरह पूर्व पश्चिम से बहने वाली नदियों का समुद्र से ही उद्‌गम होता है और वे पुनः समुद्र में विलिन होकर समुद्र बन जाती है, यद्यपि वे इसको नहीं जानती। इसी तरह प्राणी मात्र उस महान् आत्मा से उत्पन्न होकर उसी में विलिन हो जाते हैं और ये नहीं जानते कि वे उस महान् तत्त्व के ही चेतन अंश है।[१२६]

न्याय दर्शन में ईश्वर जीवों को समस्त कर्मफलों को देने वाला है।[१२७] जीवों के पाप पुण्यों के अनुसार वह उन्हें सुख-दुःख देता है। वैशेषिक सूत्र में कणाद ने स्पष्ट रूप से ईश्वर का नाम कहीं नहीं लिया है। परन्तु आचार्य शंकर ने वैशेषिक मत को प्रस्तुत करते हुए उसमें ईश्वर के स्थान को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।[१२८] सांख्य दर्शन प्रकृतिवादी है और वह सृष्टि रचना में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं समझता। आचार्य श्रीराम शर्मा ने 'इदृेशेश्वर सिद्धिः सिद्धा' सूत्र से बताया है कि ईश्वर की सिद्धि इस दर्शन में दृढ़ता से की गई है तात्पर्य यह है कि यद्यपि सांख्य ईश्वर को जगत् का उपादान कारण स्वीकार नहीं करता अर्थात्

---

१२३. डॉ. मन्दाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ ७०

१२४. छान्दोग्य, ३/१४/४

१२५. आसीनो दूरं व्रजति शयातो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥
- कठोपनिषद्, १/२/२१

१२६. छान्दोग्य, ६/१०

१२७. ईश्वरः कारणं पुरुष कर्मफल दर्शनात्। - न्यायदर्शन, ४/१/१४

१२८. कणादस्तु एतेभ्य एवं वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्त कारण मनुभिमते अणुश्च समवायिकरणम्।
- ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, १/१/५

वह यह नहीं स्वीकार करना चाहता कि हमारे पैरों के नीचे जो पत्थर कंकड़ पड़ा है वह ब्रह्म है पर वह ईश्वर को जगत् का नियंता व अधिष्ठाता के रूप में निश्चित रूप से स्वीकार करता है।[१२९] मीमांसा दर्शन की भूमियों में परमात्मा के ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभव की क्रमशः पूर्णतया सिद्धि की गई है। ऐश्वर्य, परमात्मा, अदृष्ट के विधाता पुण्य के फलदाता, पापियों के शासनकर्त्ता और धर्म के प्रतिष्ठाता सर्वशक्तिमान ईश्वर है। यज्ञ उनका स्वरूप है, वेद उनकी वाणियाँ निःश्वास है।[१३०]

❑ आत्म सत्ता पर प्रकाश

वेदों में आत्मा को नित्य माना गया है और पुनर्जन्म को स्पष्ट रूप में स्वीकारा है। ऋग्वेद में स्पष्ट है- 'मृत्यु के पश्चात् अगले जन्म में पुनः इन्द्रियाँ शरीर आदि प्राप्त होते हैं। जीवात्मा कहता है कि हे ईश्वर मुझे अगले जन्म में शरीर और इन्द्रियाँ सुन्दर एवं स्वस्थ प्रदान करना।'[१३१] यजुर्वेद में अनेक मंत्रों में जीवात्मा को अनेक कर्मकाण्डों द्वारा पवित्रता प्राप्त करने का उपदेश है। वहाँ कहा गया है कि मोक्ष अवस्था में न शोक रहता है और न ही मोह रहता है।[१३२] सामवेद में अधिकतर मंत्र इस बात पर जोर देते हैं कि प्रभु के मिलन हेतु उपासना तथा साधना करनी चाहिए। इससे आत्मा पवित्र होती है। जीवात्मा ज्योति है। यह ऐसी ज्योति जो कि नित्य जलती है, कभी समाप्त अर्थात् प्रकाशहीन नहीं हो सकती है। अथर्ववेद में जीवात्मा को कहा गया है कि विज्ञान को जानने तथा परम विज्ञान को साक्षात्कार रूप में जानना ही वस्तुतः जीवन का चरम उद्देश्य है। अनेक जन्म में भी सिद्धि हो सकती है तो भी उन सभी जन्मों में साक्षात्कार के उपाय निरन्तर करता रहे।[१३३]

तात्विक रूप से ईश्वर तथा आत्मा एक ही है। उनमें अन्तर नहीं है।[१३४] उपनिषद् इस बात को स्वीकार करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् कहता है

---

१२९. आचार्य श्रीराम शर्मा- सम्पादित सांख्य दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृष्ठ २८-३२

१३०. स्वामी जी श्री दयानन्दजी- दर्शनों में ईश्वर, कल्याण-ईश्वरांक, पृष्ठ ३१०

१३१. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक पश्येय सूर्यचुच्चरन्तमनुमते मृज्या नः स्वस्ति।
- ऋग्वेद, १०/५९/६

१३२. यजुर्वेद, ३३/८६, २०/३२, ३२/११, ४०/१-४

१३३. अथर्ववेद, १८/४/६०, १२/२/२६

१३४. श्रीमद्भगवत्, १२/१३/१२

'तत्त्वमसि।'[१३५] वृहदारण्यक घोषणा करता है- 'अहं ब्रह्मास्मि।'[१३६] श्वेताश्वर उपनिषद् जीव का एक ऐसे हंस से तुलना करता है, जो ऊँचा-ऊँचा ही उड़ता है और जब ब्रह्म से तदाकार हो जाता है, तो अमर हो जाता है।[१३७] वेदान्त सूत्र में भी आत्मा तथा परमात्मा की एकता पर जोर दिया गया है।[१३८] एक ही तत्त्व के अनेक रूप में इसलिए दिखाई देता है कि माया का प्रभाव दर्शन पर छा जाता है। जिस तरह एक चन्द्रमा सरिता की तरंगों में अनेक रूपों में प्रकाशित होता है। उसी तरह एक ही जीव अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है। जिस तरह चन्द्रमा अपने प्रतिबिम्ब की पीड़ा से असंपृक्त होता है उसी तरह परमेश्वर जीवात्मा की वेदना से अप्रभावित रहता है।[१३९]

❑ सृष्टि विचार

वैदिक साहित्य में यह रहस्य काव्य बनकर ऋचाओं में मुखरित हुआ है। वैदिक ऋषि आश्चर्य प्रकट करते हुए कहता है- 'कौन सा काष्ठ अथवा कौन सा वृक्ष है, जिसमें द्यावा पृथ्वी का निर्माण हुआ है?'[१४०] साधारण दृष्टि से देखें तो वृत्त प्रकाश तथा 'आप:' चुरा ले जाता है तो इन्द्र अपने वज्र से उसके ऊपर आघात करता है और आप: सूर्य तथा उषा की उससे मुक्ति हो जाती है।[१४१] दार्शनिक दृष्टि से वृत्त वाक् या प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था है और इन्द्र (परमात्मा) उसी में से सूर्यादि को निकाल कर उसकी सृष्टि कर देता है।[१४२] अत: वृत्र-वध के बाद मुक्त होने वाले 'आप:' वही आप हैं, जो सृष्टि के कारण बताये गये हैं।

संसार का मूल कारण क्या है? यह विचित्र संसार किससे उत्पन्न हुआ है? और इसका मूल कारण क्या है? इत्यादि प्रश्न ऋग्वेद और यजुर्वेद में मिलते हैं। यजुर्वेद के 'पुरुषसूक्त' में सबसे मूल प्रकृति के पश्चात् विराड् की उत्पत्ति को बतलाया है। विराड् के पश्चात् भूतों की उत्पत्ति उसके अनन्तर वनादि की उत्पत्ति हुई, इसके बाद पशु आदि उत्पन्न हुए। इस प्रकार सृष्टि रचना का संक्षिप्त वर्णन

---

१३५. छान्दोग्य, ६/८/७
१३६. वृहदारण्यक उ., १/४/१०
१३७. श्वे. उ., १/६
१३८. वे. सूत्र, १/३/३३
१३९. भागवत, ३/७/१०
१४०. ऋग्वेद, १०, ३१, तु. क., ८, ८१, ४, १०, २८८ आदि
१४१. ऋग्वेद, १/१५१/४, ५२, ८, २/१९/३, ३/३४/८,९, १/३२/४
१४२. वही,

इस 'पुरुष सूक्त' में वर्णित है।[१४३] यजुर्वेद के अनेक अध्यायों में भी छोटे-छोटे प्रश्न सृष्टि कि विषय में किये गये हैं- 'कः एकाकी चरति, कः पुनर्जायते, कोऽस्याध्यक्षः' आदि। अथर्ववेद में भी 'स्कम्भ सूक्त' में ईश्वर का वर्णन करते हुए सृष्टि रचना का विषय प्रस्तुत किया गया है।[१४४] वेदों में विश्व संरचना का उपादान कारण मूल प्रकृति है।

वैदिक चिन्तन की परम्परा ही उपनिषदों में प्रवाहमान हुई है। श्वेताश्वर उपनिषद् में ऋषि ने इस प्रकार जिज्ञासा व्यक्त की है। यह प्रश्न कहाँ से आया है। किस प्रकार हम जीवन धारण करते हैं। हम कहाँ से उत्पन्न होते हैं। किस कारण से जीवित कहे जाते हैं, प्रलयकाल में हमारी स्थिति कहाँ और कैसी रहती है।[१४५] तैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि रचना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस ब्रह्म (निमित्त कारण) से (की प्रेरणा से, उसकी स्वाभाविक ईक्षण शक्ति से) आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और पृथ्वी से औषधियाँ रूप भिन्न जगत् निर्मित हो जाता है।[१४६] मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि रचना का प्रतिपादन उपादान कारण की दृष्टि से न करके निमित्त कारण की दृष्टि से किया गया है। अपने संकल्प रूप तप से ब्रह्म इस सृष्टि को रचता है। उस तप के परिणाम स्वरूप अन्न, प्राण, मन, पंचमहाभूत समस्त लोक और कर्म तथा कर्मों से अवश्यंभावी सुख-दुःख रूप फल उत्पन्न होते हैं।[१४७] प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि से लेकर समस्त विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी पर्यन्त सभी उसी से उत्पन्न हुए हैं।[१४८] कठोपनिषद् में भी कार्य से कारण

---

१४३. यजुर्वेद, अ. ३१/५-९

१४४. अथर्ववेद, १०/२३, ४/३०-३९, १३/४/१६-२१

१४५. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता।

– श्वेताश्वर उपनिषद्, १/१

१४६. तस्माकं एतस्मादात्मम् आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायु। वायोरग्निः। अग्नेराय। अदम्यः पृथ्वी। पृथिव्या ओषधयः।

– तै.उ.ब्र.व., अनुवाक

१४७. तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥

– मुण्डकोपनिषद्, १/१/८

१४८. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियार्मण च।
स्वं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।

–मुण्ड., २/१/३

की ओर संकेत करते हुए कहा है कि इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है। बुद्धि से ऊपर महत्तत्त्व है और महत्तत्त्व से अव्यक्त प्रकृति अतिसूक्ष्म है।[१४९] प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट है कि जैसे पक्षीगण निवास के लिए वृक्ष पर ठहरते हैं।[१५०] इसी प्रकार प्रलय काल में सभी स्थूल और जड़ जगत् अपने-अपने क्रमशः कारण को प्राण होता हुआ मूल प्रकृति परमेश्वर में अवस्थित रहता है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा इनकी तन्मात्राएँ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, गंध और रस जो महाभूतों के कारण हैं, इनमें पृथ्वी आदि का लय हो जाता है। इसके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियों का लय अपने पाँच विषयों में अर्थात् उन्हीं स्पर्शादि सूक्ष्म तन्मात्राओं में लय हो जाता है।[१५१] छान्दोग्य उपनिषद् में परमेश्वर द्वारा संकल्पपूर्वक सर्गारम्भ करने का वर्णन है।[१५२] वहीं आगे चलकर सृष्टि रचना का रहस्य समझाने के लिए त्रिवृत्करण की चर्चा आती है।[१५३] सृष्टि का मूल असत् है। ऐसा उल्लेख छान्दोग्य, तैत्तिरीय और वृहदारण्यक की श्रुतियों में मिलता है।

दर्शन की भूमि में न्याय दर्शन का कहना है कि प्रलय-क्रम में सृष्टि की ही समस्त वस्तुओं का आण्विक विघटन होने लगता है। सारी पृथ्वी और सारी सृष्टि विघटित होकर अणुओं में बदल जाती है। फिर ये अणु जल, तेजस और अन्तस वायु के रूप में स्थित हो जाते हैं। वैशेषिक के रचयिता महर्शि कणाद ने समस्त जगत् की रचना परमाणुओं से बतलाई है। सृष्टि निर्माण की क्रिया को स्पष्ट करने के लिए वैशेषिक ने छह प्रकार के पदार्थों की कल्पना की है। जिनको कि १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय कहा गया है।[१५४] सांख्य के अनुसार यह मूल प्रकृति ही तीन गुणों सत्व, रज, तम की न्यूनाधिकता के कारण जगत् के विभिन्न तत्त्वों तथा नाम-रूपों में प्रकट होकर विश्व रचना करती है।[१५५] योगदर्शन का तत्त्व चिन्तन सांख्य के समान होते हुए भी

---

१४९. इन्द्रियेभ्यः परं मनोः मनसः सत्वमुत्तमम्।
सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।
- कठोपनिषद्, २/३/७

१५०. प्रश्नोपनिषद्, ४/७

१५१. वही, ४/८

१५२. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति- छान्दो., ६/२/३

१५३. छाग्दोग्य, ६/३/३

१५४. आचार्य श्रीराम शर्मा- वैशेषिक दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृष्ठ ५

१५५. आचार्य श्रीराम शर्मा- सांख्य दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृष्ठ ७

मौलिक भेद लिए हुए है। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। और उनके विच्छेद से प्रलय।[१५६] योग ने इसी को ईश्वर कहा है। यही सृष्टि का मूल कारण है।[१५७] सृष्टि रचना के सम्बन्ध में मीमांसा के सांख्य से लगभग एकमत है। मीमांसाकारों ने आत्मा तथा परमाणु को नित्य माना है और सृष्टि रचना के मूल में कर्मों के संचय को कारण रूप स्वीकार किया है।[१५८] वेदान्त की सृष्टि प्रक्रिया का विषय अत्यन्त सूक्ष्म तथा जटिल है। इस सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में श्रुति एक सामान्य सा अभिमत प्रकट करती है। वह कहती है 'जैसे जीवित मनुष्य के शरीर में केश, नाखुन आदि उत्पन्न होते रहते हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती रहती है।'[१५९]

❑ ज्ञान मीमांसा

ऋग्वेद में ज्ञान प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुए कहा है कि यह बृहस्पति अर्थात् जीवात्मा जब वृहद् अनुभूति रूपी अर्थ अर्थात् विषय की तद्वाहक सामग्री द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह उसका ज्ञाता अथवा वृहस्पति कहलाता है। यहाँ मंत्र में अभिव्यजंना करते हुए कहा है कि दिव्य अंगिरस वृहस्पति अज्ञान अर्थात् ज्ञान के व्यवधान कारकों की पहाड़ी को तोड़ डालते हैं। अर्थ सम्पदा अर्थात् उसके पीछे अर्थ अथवा विषय का ज्ञान प्राप्त करके वाणी की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं अथवा ज्ञान के व्यवधान कारक नष्ट हो जाते हैं तो सत् ज्ञान का उदय होता है तभी वह ज्ञान वाणी के द्वारा कहने योग्य होता है। उसी ज्ञान को सप्त स्वर-छन्दों द्वारा कहने की सामर्थ्य प्राप्त कर उस ज्ञान या विषय को प्राप्त कर लेता है।[१६०]

ज्ञान प्राप्ति में किन-किन कारकों को धारण करने की आवश्यकता है तथा कैसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं को मन में प्राप्त करके उनके द्वारा समुचित ज्ञान

---

१५६. डॉ. मन्दाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ १४१

१५७. वही,

१५८. डॉ. मन्दाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ १४२

१५९. वही,

१६०. यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा वृहस्पतिरांगिरसोहविस्मान।
वृहस्पति समजयद् वसूनि महो वज्रान गोमतो देव एष॥
– ऋग्वेद, ६/७३/१-३

हो। इस उद्देश्य से यजुर्वेद में कहा गया है कि विषयगत ज्ञान के लिए मन और हृदय का संतुलन होना आवश्यक है। ज्ञान की उद्घोषण के लिए आवश्यक है चेतना, अवचेतना एवं तर्क का समंजन हो। यह स्थिति ही विषय के विविध अर्थों को खोलती हुई, उसके ज्ञान को सुस्पष्ट तभी कर सकती है, जब वह अर्थ की परतों से पार होकर यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर सके।[१६१] सायणाचार्य ने वाणी के साथ वाजि शब्द प्रयोग किया है। वाजि का अर्थ ज्ञान भी होता है। अतः ज्ञान को प्राप्त करने को वेद ने 'स्थिर पितमाहु' शब्द का प्रयोग किया है। वेद में जो ज्ञान प्राप्ति के स्रोत हैं, उन में मुख्य रूप में मन की स्थिरता, एकाग्रता और इन्द्रियों का स्वस्थ होना बताया गया है। इससे उनके द्वारा प्राप्त संवेदनायें मन में यथार्थ रूप धारण करती हैं। अन्ततः यही संवेदनायें ही यथार्थ ज्ञान में परिवर्तित हो जाती हैं, जो यहाँ ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले ज्ञान के क्रम को तथा प्राप्त ज्ञान के अन्दर उसकी गहराई की परतों की ओर संकेत करती हैं।[१६२]

ऋषि को द्रष्टा के भाव से अलंकृत किया जाता है। वेद में सात इन्द्रियों को, जो ज्ञान का स्रोत बनती हैं, उन्हें ऋषि नाम दिया गया है।[१६३] वसिष्ठ को प्राण, भारद्वाज को मन कहा गया है। चक्षु ही जमदग्नि है। श्रोत ही विश्वामित्र है, वाक् ही विश्वकर्मा है। आदि इन्द्रियों द्वारा उनमें स्थित हैं। उन्हीं के द्वारा वह ब्रह्म मानव ऋषियों में संक्रमित करता है। वेद में कहा है कि सुन्दर स्वर्णमय पात्र से सत्य का मुख बन्द है।[१६४] यदि तत्त्व का बोध करना है तो 'तत्त्वपूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।' अर्थात् यदि वस्तु के सत्य धर्म का तत्त्वबोध करना है तो अज्ञान के ढक्कन को उतार कर फेंक दो। इस तरह वेदों में ज्ञान का अनन्त स्रोत भरा पड़ा है, जिसका ज्ञान के माध्यम से बोध किया जा सकता है।

---

१६१. यन्मेछिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृष्णं वृहस्पतिर्मे तद्दातो। शनो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।

– यजुर्वेद, ३६/२

१६२. अक्षण्वंतः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वंसभा वभूवः।
आदघ्नास उपकक्षास उत्वेन्हदाइव स्नात्वा उत्वेददृश्रे॥

– ऋग्वेद, १०/७१/७

१६३. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे।

– यजुर्वेद, ३४/५५

१६४. हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यास्यापिहितंमुखेम्।

– यजु., ४०/१७

❑ मोक्ष-मिमांसा

वेदों में मोक्ष के अर्थ में अमृत शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। इसी कारण विद्वानों में यह भ्रम होता है कि वेद में मोक्ष शब्द का अभाव है। परन्तु ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। ऋग्वेद और अथर्ववेद का वह मंत्र जिसमें स्पष्ट कहा है कि 'हमें मृत्यु से पार करो' और 'हम अमृत तथा मोक्ष को अवश्य प्राप्त हों।'[१६५] अमृत को कभी न छोड़ें। वेदों में मोक्ष के अर्थ में नाक: शब्द भी अनेक बार आया है।[१६६] अथर्ववेद में तत्त्वज्ञान से नाक (मोक्ष) की प्राप्ति कही है।[१६७] यजुर्वेद में मोक्ष प्राप्ति के साधन में कर्मकाण्ड को मुख्यरूप में प्रतिपादित किया है। विद्या-अविद्या, संभूति-असंभूति, यज्ञ और ज्ञान के समन्वय से आत्मा पवित्र होकर अमृत की अवस्था को प्राप्त करता है।[१६८] अर्थात् वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। आगे ऋग्वेद का प्रमाण देते हुए महर्षि दयानन्द ऋग्वेद भाष्य भूमिका में लिखते हैं कि सख्य भाव को प्राप्त करक ही जीवात्मा मोक्ष आनन्द को प्राप्त करता है।

उपनिषदों में भी मोक्ष स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इशोपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञान से अमृत प्राप्त होता है।[१६९] जब वह ज्ञान की अवस्था प्राप्त कर लेता है तो वह उसकी पराकाष्ठा ही है। केन उपनिषद् में भी मोक्ष को अमृत रूप में ही माना है। धीर विद्वान ज्ञानी लोग समस्त पदार्थों को छोड़कर जो श्रोत का श्रोत, मन का मन, परमेश्वर है उसको जानकर अमृतावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।[१७०] कठोपनिषद् में उल्लेख है कि जीवनमुक्तावस्था से जीवात्मा मोक्ष में चली जाती है। इसमें 'परमं पदम' पद मोक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् जीवात्मा का सर्वोच्च पद मोक्ष ही है। वही उसकी सर्वोच्च अवस्था, पराकाष्ठा या परागति नाम से द्योतित की गई है।[१७१] मुण्डकोपनिषद् में मुक्त और विमुक्त शब्द का प्रयोग मोक्ष के अर्थ में हुआ है। मोक्ष का वर्णन करते हुए इस उपनिषद् में कहा है कि 'जब मनुष्य पुण्य प्राप्त करके मोहजाल को समाप्त कर लेता है, तब वह

---

१६५. .... उर्वारुक्मिवबन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतान्।

१६६. नाक्मृष्वोग्रि ....। - ऋग्वेद, ३/५/१०, ८/११/८, ९/८३/१, ५/२३/१२, १/६८/१०, ३/३७/३, १/१४५/२

१६७. अथर्ववेद, ३/२९/३, ११/३/२५, ८/४/११, २०/५७/११

१६८. यजु., ४/७, ३९/७१-१५, ४०/१-१५, ३८/२४

१६९. विद्यया अमृतमनुश्नते। - ई.उ.

१७०. केनोपनिषद्, १/२

१७१. कठोपनिषद्, १/३/११

निरंजन परमात्मा परम साम्यता को प्राप्त कर लेता है।'[१७२] तैत्तिरीय उपनिषद में उल्लेख हुआ है कि जब ब्रह्म-ज्ञानी महाआकाश रूप गुहा में स्थित उस ब्रह्म को जान लेता है तब वह सब कुछ प्राप्त कर मोक्ष अवस्था में चला जाता है।[१७३] श्वेताश्वर उपनिषद् में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है 'जीवात्मा परमेश्वर को जानकर उस अमृत रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।' छान्दोग्योपनिषद् में भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कि जो परमात्मा अपहत पात्पा, सब पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा के रहित है, उसे जानना चाहिए, जो ऐसे परमात्मा को जान लेता है, उस परमात्मा को जानने के पश्चात् 'उसके' सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है।[१७४] वृहदारण्यक उपनिषद् में भी इस प्रकार जीवात्मा स्वच्छन्द होकर सब कामों को पूर्ण करता सर्वत्र ब्रह्म में विचरता, जीवात्मा का वर्णन किया गया है।

इस तरह वैदिक ऋषियों ने, ईश्वर, जीव, प्रकृति, ज्ञान और मोक्ष का चिन्तन किया है। आन्तरिक जगत् की एकता आत्मा या पुरुष के रूप में स्थापित की और परमात्मा की प्राप्ति के लिए ज्ञान के माध्यम से मोक्ष की महत्ता का प्रतिपादन किया। आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध को स्पष्ट करके अन्त में 'तत्त्वमसि' शब्द द्वारा एकत्व और तादात्म्य का वर्णन किया गया। अनुभव से प्राप्त इन सभी सिद्धान्तों को जीवन में व्यवहृत करने के लिए नैतिकतापूर्ण जीवन का कार्यक्रम तैयार किया गया। इस प्रकार वेदकालीन ऋषियों ने अपने धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में मानव जाति को एक महान् अनुदान दिया, जो देशकाल आदि से परिबाधित नहीं हो सकता।

वैदिक विज्ञान की विविध धाराएँ

वैदिक ऋषियों के अनुसंधान धार्मिक एवं दार्शनिक ज्ञान तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने प्रकृति एवं पदार्थ के रहस्यों के वैज्ञानिक पक्षों को उजागर किया। वैज्ञानिक अनुसंधान की उनकी रीति-नीति आधुनिक विज्ञान की संकीर्ण सीमाओं में न बँधते हुए भी उच्चस्तरीय, आकर्षक और सम्मोहक है। वेदों में विज्ञान की

---

१७२. मुण्डकोपनिषद्, ३/१/३

१७३. य आत्मा अपहतपाप्मा... सत्यकामः, सत्यसंकल्पः .....सर्वाश्यलोकान आप्नोति सर्वांश्च कामान ....।

१७४. सर्वान् कामान् सहब्राह्मणा विपश्चितेति।

– तै.ब्रा.व., २/१०

विविध धाराएँ- तंत्र, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, मनोविज्ञान, भौतिकी, शिल्प, संगीत आदि रूपों में प्रवाहित हुई हैं।

❑ तंत्र विज्ञान का विस्तार

वैदिक ऋषियों ने अन्त: प्रकृति व बाह्य प्रकृति के क्षेत्र में जो कुछ बहुमूल्य प्रयोग किए, प्रक्रियाएँ विकसित की, तंत्र को उन सब में बेशकीमती ठहराया जा सकता है। तंत्र का आविर्भाव वेदों से हुआ है। हरित ऋषि के अनुसार 'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तांत्रिकी' अर्थात् श्रुति के दो प्रकार हैं- वैदिकी और तांत्रिकी। ऋग्वेद का दैवी सूक्त, वैदिक ऋषि विश्वामित्र द्वारा किये गए बला-अतिबला सावित्री महाविद्या के प्रयोग इन ऋषियों की तांत्रिक समर्थता और वेदों से इनकी अविच्छिन्नता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। अथर्ववेद के प्रवर्तक महा अथर्वण की परम्परा तो इसका भरा-पूरा भण्डार है। तंत्र ग्रंथों से अथर्ववेद में वर्णित प्रक्रियाएँ इतना अधिक साम्य उपस्थिति करती हैं कि किसी को भी आश्चर्य चकित कर सकती हैं।

वैदिक वाङ्मय दो भागों में विभक्त है आगम और निगम। सामान्यतया आगम तंत्र के लिए और निगम वेद हेतु प्रयुक्त होता है। वेदों की महत्ता तो सर्वविदित है ही, तंत्र भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उच्चकोटि के साहित्य में गिने जाते हैं। इसका प्रमाण इसी तथ्य से मिलता है कि आगम शब्द पहले वेदों के लिए प्रयुक्त किया जाता था, परन्तु जब तंत्रों का आविर्भाव हुआ तो वेद निगम और तंत्र आगम के अन्तर्गत आ गये। जिस तरह वेद ईश्वर की वाणी माने जाते हैं, उसी तरह तंत्र भी भगवान् विष्णु, शिव, देवी की वाणी है।[१७५] तंत्र के लक्ष्यों की ओर संकेत करते हुए मनीषियों ने कहा है 'ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति का जागरण, इन शक्तियों को खोजकर कार्य करना, अपने देवत्व को पहचानना और अपने चारों ओर दृष्टि में विशालतर देवत्व का आलिंगन करना ही वह आदेश है जिसे समस्त आगम उद्घोषित करते हैं। आत्मिक विज्ञान के सिद्धान्त को क्रियारूप देना ही वस्तुत: तंत्रशास्त्र का कार्य है।'[१७६] तंत्र रूपी अन्तर्जगत का यह विस्तृत विज्ञान वैदिक वाङ्मय में दस भागों में बंटा हुआ है १. उद्गीय विद्या, २. संवर्ण

---

१७५. आचार्य श्रीराम शर्मा- तंत्र शास्त्र उपयोगी, विज्ञान सम्मत भी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५८, अंक १, पृष्ठ २१

१७६. आचार्य श्रीराम शर्मा- तंत्र शास्त्र उपयोगी, विज्ञान सम्मत भी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५८, अंक १, पृष्ठ २१

विद्या, ३. मधु विद्या, ४. पंचाग्नि विद्या, ५. उपकोशल विद्या, ६. शांडिल्य विद्या, ७. दहर विद्या, ८. भूमा विद्या, ९. गंध विद्या, १०. दीर्घायुष्य विद्या। यह विद्याएँ ही ऋषियों की सम्पत्ति थीं। इन्हीं के द्वारा वे अपरिग्रही व निर्धन रहते हुए भी इस भूलोक में कुबेर भण्डारी बने हुए थे। तंत्र मार्ग में यही दस विद्याएँ अन्य नामों से उपलब्ध हैं। यद्यपि तंत्रोक्त विधान वैदिक विधान से भिन्न है। फिर भी उनके द्वारा भी उन्हीं सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

श्रीकण्ठ के शैवभाष्य में तंत्र को वेदवत प्रमाण माना गया है। उसमें लिखा है कि वेद तथा आगम के प्रामाण्य में कोई अन्तर नहीं है।[१७७] शिवार्कमणिदीपिका में तंत्र के विषय में अधिकार भेद से व्यवस्था की गई है जो वेद के अधिकारी हैं, उनका वेद के अनुकूल तंत्रों में अधिकार है।[१७८] शारदातिलक नामक तंत्रशास्त्र के विख्यात ग्रंथ के टीकाकार राघव भट्ट ने अपनी टीका के आरम्भ में आगम शास्त्र को वेद से उत्पत्ति माना है। उनकी सम्मति में आगम शास्त्र का मूल वेद का उपासना काण्ड है।[१७९] वेदों को आगम कहा जाता है।[१८०] आगम की व्याख्या चार प्रकार से सम्भव है। १. आप्तोपदेशात्मक आगम, २. अनिबद्धप्रसिद्धि रूप आगम, ३. निबिद्ध प्रसिद्धि रूप आगम, ४. प्रतिभात्मक आगम। इन सभी की व्याख्या में एक वेद ही मूल मंत्र रहा है। निगम अथवा वेद में सूर्य मुख्य है। सूर्य को त्रयी[१८१] वेदत्रय का रूप ही बताया गया है। आगम में वही बिन्दु प्रकृति अथवा शब्द ब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध है। शब्द ब्रह्म के वाच्य तत्त्व सदाशिव अथवा पंचमुख महेश्वर को वैदिक 'आदित्य' में देखा जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है आदित्य[१८२] देवमधु है, द्यु लोक उसका तिरछा बांस है, अन्तरिक्ष मधुमक्षिकाओं का छत्ता है, किरणें बच्चे हैं। आदित्य के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं की किरणों से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि रस प्रवाहित

---

१७७. श्री कण्ठ- शैव भाष्य, २/२/३८
१७८. शिवार्कमणि दीपिका, २/२/३८, ४२
१७९. साधना अंक, कल्याण, तंत्र की प्रामाणिकता, पृष्ठ ६०४
१८०. आचार्य पं. शत्रुघ्न लाल शुक्ल, संकलक, अलौकिक शक्तियों की साधना, यंत्र, मंत्र, तंत्र, पृष्ठ ४८
१८१. सैषा त्रयी एव विद्या तपसि। – शतपथ ब्राह्मण, १०/५/२/२
१८२. असौ वा आदित्यो देवमधु, तस्य द्यौरवे तिरश्चीनवंशोऽन्तरीप्रम अयूपः मरीचयः पुत्राः।
– छान्दोग्य उपनिषद्, ३/१

होता है। उर्ध्वगत रश्मियों से गुह्य आदेशात्मक मधुकर एवं ब्रह्म (प्रणव) का तत्त्वात्मक प्रवाह हुआ है। आदित्य के पूर्वादि मुखों को अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम और ब्रह्मा के नाम से कहा गया है। ये अग्नि आदि सदाशिव के सद्योजात, तत्पुरुष, वामदेव, अघीर और ईशान मुख हैं। आदित्य अथवा सदाशिव के ईशानात्मक उर्ध्वमुख से निर्गत गुह्य आदेश ही आगम है।[१८३] वस्तुतः महेश्वर के वक्त्र से निर्गत एवं गिरिजा के मुख में आगत ज्ञान को 'आगम' कहने में भी कोई अनुपपति नहीं है। सदाशिव रूपी सूर्य के उर्ध्व मुख से ज्ञान अहर्निश निर्गत हो रहा है। उसको ग्रहण करने के लिए तदनुरूप शक्ति की आवश्यकता होती है। यह गिरिजाख्य शक्ति किसी भाग्यशाली व्यक्ति के अंतःकरण में जागरूक होकर उस ज्ञान-धारा को आत्मसात करती है। अनन्तर उसी व्यक्ति को निमित्त बनाकर यह शक्ति उस माहेश्वर ज्ञान को वाक्यों में निबद्ध करती है। इस प्रकार का निबन्धन ही लोक में आगम के नाम से ख्यात होता है।[१८४]

ऋग्वेद में तंत्र 'वाक् प्रपंच'[१८५] अथवा ताने-बाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद में तंत्रायी शब्द का आदित्य के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[१८६] कालचक्र ही तंत्र है उस तंत्र में वर्तमान आदित्य को ही तंत्रायी कहा जाता है। आश्वलायन एवं कात्यायन श्रोत सूत्रों में कहा गया है कि कर्मात्मक अंगों की संहति ही तंत्र है, अर्थात् आरात उपकारक कर्मो का सुकृत अनुष्ठान ही तंत्र के नाम से कहा जाता है।[१८७] दुर्वासा श्रीविद्या तथा परशिव के उपासक थे। वे एक निष्णात तंत्र के ज्ञाता एवं वैदिक ऋषि थे।[१८८] तंत्रमत से परावाक् ही अखण्ड आगम है।[१८९] वैदिक तंत्र में ईश्वर को नारी के रूप में प्रतिष्ठित एवं पूज्य माना है एवं उसकी साधना

---

१८३. डॉ. शिवशंकर अवस्थी- मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, विषय प्रवेश, पृष्ठ ८, ९

१८४. वही, पृष्ठ ९

१८५. इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेक रासः।
त ऐते वात्तमभिपाद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञया॥
– ऋग्वेद, १०/७१/९

१८६. तंत्रायिणे नमः। – यजुर्वेद, ३८/१२

१८७. दर्शपूर्ण मासौ तु पूर्व व्याख्यास्यामः तंत्रस्य तंत्राभ्नतत्वात्।
– आश्वलायन श्रौतसूत्र, १/१/३

१८८. गोपीनाथ कविराज- तांत्रिक साधना और सिद्धान्त, पृष्ठ १७

१८९. वही, पृष्ठ १५

उपासना की है।[१९०] वेदों में तंत्र का शुद्ध स्वरूप निहित है। इस बात की पुष्टि एन.एन. भट्टाचार्य ने अपनी कृति 'हिस्ट्री ऑफ द तांत्रिक रिलिजन' में की है।

ऋग्वेद के दो छोटे-छोटे सूक्त शकुनशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं।[१९१] एक अन्यसूक्त विषय निवारक है।[१९२] दसवें मण्डल में उपदिष्ट कुछ सूक्त राजयक्ष्मा तथा अन्य असाध्य रोगों के निवारणार्थ है।[१९३] यजुर्वेद में व्यक्तिगत सुख-समृद्धि एवं राज्य की समृद्धि के लिए दो मंत्रों का वर्णन है, जिसमें रुद्र देवता से समृद्ध-कामना हेतु प्रार्थना की गई है।[१९४] यजुर्वेद में यागानुष्ठानों के अवसर पर यजुष मंत्रों के पाठ के अतिरिक्त यज्ञों के सम्पादन में प्रयुक्त पात्रों और अन्य सामग्रियों का भी तांत्रित कृत्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।[१९५] सामवेद में यज्ञादि सात्विक कार्यों के सम्पादन में विघ्न डालने वाली हिंसक प्रवृत्तियोंके विनाश के लिए दो यंत्र का उल्लेख हुआ है।[१९६] स्मरणशक्ति की वृद्धि के लिए तथा यश-प्राप्ति हेतु भी कई जगह मंत्रों का वर्णन है।[१९७] वेदों में तंत्र की और अधिक व्याख्या करने के लिए हम विचार करें, चिन्तन को कुछ अधिक सूक्ष्म और संवेदन को कुछ और सुकुमार बनाएँ तो लगेगा कि सारा विस्तार अपने आप में तंत्र है। वेद ने उदात्त चिन्तन के रूप में जो ऋचाएँ दी, वे बुद्धि की निर्मल ज्योत्सना में समग्रता से एकाकार हो जाने की प्रतीतियाँ थी। अंतर्मन में झँकृत वीणा के अनुवादक की आह्लादक अनुभूति थी। यह ऋक जब वैखरी वृत्ति का विषय बनी तो साम की अनवरत गीति बनी। वेदत्रयी का आत्मबोध संसार के कामना वितान का व्याख्यान बनकर अथर्व के रूप में चतुर्थ वेद बना। यह विस्तार विशेषत: वेदत्रयी का चौथे वेद में प्रकट होना ही तंत्र की मूल परिभाषा है।

अथर्व वेद में तंत्र का विस्तार हुआ है। अथर्ववेदीय तंत्र एक सशक्त अंत:प्रक्रिया है।[१९८] यह तंत्र विज्ञान केवल भौतिक लक्ष्य और रोग-निवृत्ति तक

---

१९०. Studies on the Tantras, p. 2

१९१. ऋग्वेद - २/४२-४३

१९२. ऋग्वेद - १/१९१

१९३. ऋग्वेद - १०/६०, ६१, ६३

१९४. यजुर्वेद - १४/२५, १६/२०

१९५. यजुर्वेद- १/२९

१९६. सामवेद - १३४, ६२७

१९७. सामवेद - २४८, ५७६, १९८

१९८. पं. देवदत्त शास्त्री - अथर्ववेदीय तंत्र विज्ञान, पृष्ठ १९

ही सीमित नहीं है। इसकी साधना का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसका सम्बन्ध अध्यात्म-साधना और योग-साधना से भी है। अथर्ववेदीय तंत्र-विधान से जलावसेचन, हस्ताभिमर्श, मणि-बंधन और हवन, रोग-दोष, दैन्य, दारिद्रय आदि सभी प्रकार के कष्टों, संकटों का निवारण का समाधान स्पष्ट किया गया है।[१९९] अथर्ववेद की ऋचाओं का समुदाय सूक्त कहा जाता है। एक प्रयोग कर्म विधान में उपर्युक्त अनेक सूक्तों के समुदाय को गण कहा जाता है। ये गण है- अनुष्ठा-यृचः, २. अभयगण, ३. अपराजितगण, ४. आसनीय जपगण, ५. अप्रजनगण, ६. आयुष्यगण, ७. अंहोलिंगादिगण, ८. लघुशान्तिगण, ९. वृहच्छात्तिगण, १०. अर्थोत्थापनगण, ११. कृषि संवर्द्धनगण, १२. कल्पजा ऋचाएँ, १३. काम-सूक्तगण, १४. कुष्ठलिंगादिगण, १५. गोष्ठ कर्म स्वस्त्यनगण, १६. गोहरेण अभिचारगण, १७. गृहिणी ऋचाएँ, १८. चातनगण, १९. कृत्यागण, २०. तक्मनाशनगण, २१. वास्तुगण, २२. यक्ष्मनाशनगण, २३. रक्षोहण अनुवाक, २४. रौद्रगण, २५. वन्ध्यात्वशमनगण, २६. कपिंजल स्वस्त्यानिगण, २७. सरंभाणिसूक्तानि, २८. शर्मवर्मगण, २९. स्वस्त्यनगण, ३०. ग्राम-नगर-गृह-राष्ट्रादि स्वस्त्यनगण, ३१. दुःस्वप्रनाशनगण, ३२. पवित्रगण, ३३. पत्नीवत्तगण, ३४. पाप्मगण, ३५. पिप्लादिगण, ३६. वर्चसगण, ३७. मातृगण एवं सलिलगण, ३८. सम्प्रोक्षण-आचमनीयगण, ३९. शान्तिजल, ४०. व्याघ्र, सिंह, चरक, चौरभय में स्वस्त्यनगण।

अथर्ववेद में आयु, बल, वीर्य, शौर्य, वर्चस्व, यश[२००] को बढ़ाने का मंत्र विधान है। इसमें स्त्री-वशीकरण का मंत्र विधान है।[२०१] सौमनत्यानि अर्थात् जिनके प्रयोगों द्वारा मनुष्य के मन, चित्त और हृदय को अपने अधीन किया जाता है। यह मंत्र ऋग्विधान में उल्लेख है।[२०२] राजकर्माणि के अन्तर्गत राज्याभिषेक[२०३], राजा का निर्वाचन[२०४], निर्वासित पराजित राजा को पुनः सिंहासनारुढ़ करना[२०५], अन्यायी राजाओं के ऊपर आधिपत्य स्थापित करना[२०६], राज्य शासन को सुदृढ़ करना[२०७],

---

१९९. पं. देवदत्त शास्त्री - अथर्ववेदीय तंत्र विज्ञान, पृष्ठ १९

२००. अथर्ववेद - २/२८, ३/११, ४/९/१०, ५/३०, ७/५३, ८/१, १९/२६

२०१. अथर्ववेद - ६/१३, ७/९०, १/१४

२०२. ऋग्विधान - १/२/५, २/३५/२, १/१/३, २१/४

२०३. अथर्ववेद - ४/८

२०४. अथर्ववेद - ३/४

२०५. अथर्व - ३/३

२०६. अथर्व - ४/२२

२०७. वही, ३/५

राजशक्ति के ओज और तेज को बढ़ाना[२०८], राज्य शासन और शासक के यश को बढ़ाना[२०९], संग्राम में विजय प्राप्त करना आता है।[२१०] अथर्ववेदीय तंत्रविधान में किए जाने वाले यज्ञ बाइस प्रकार के हैं। इसमें तंत्रभूत जलों द्वारा शान्ति कर्म करने का विधान भी है। तंत्रभूत महाशान्ति कर्म के लिए पुण्य जल का विधान अथर्ववेद के शान्तिकल्प में मिलता है।[२११]

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में यातु की उपासना का एक आधार है। यह तीसरे प्रकार की उपासना अथर्ववेद में प्रायः धर्म के साथ संयुक्त मिलती है।[२१२] ब्रह्मकवच एक प्रकार का आत्मयज्ञ है।[२१३] इसमें मन, बुद्धि, हृदय आदि पवित्र होते हैं। इसका धारण करने पर साधक की सभी प्रकार से रक्षा होती है। विश्वकर्मण गण के अन्तर्गत स्वस्तिऋचाएँ, मेधाजनन, वर्चस्वप्राप्ति, कल्याण कर्म के अतिरिक्त दीर्घायुष्य, धन सम्पत्ति संवर्द्धनार्थ, पुत्र, पौत्र, मित्र, मृत्यु के कुशल क्षेमार्थ, भाग्य की वृद्धि के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए, शान्ति और पुष्टि प्राप्ति हेतु मंत्र आते हैं।[२१४] कृत्या एक प्रकार का यातुकर्म है। अथर्ववेद[२१५] से यह स्पष्ट है कि कृत्या का प्रयोग स्त्री, पुरुष, राजा, ब्राह्मण और शुद्रजनों द्वारा किया जाता है, उन्हें प्रत्यभिचरण, प्रतिहरण, प्रतिसर, प्रत्यक और प्रतीची कहा जाता है। रक्षोहण अनुवाक के अन्तर्गत आग्नेयास्त्र और सम्मोहनास्त्र सिद्ध कर शत्रुओं या शत्रु समूहों को पराङ्मुख कर हथियार डाल देने के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। इन्हीं से भयंकर पिशाचों को भी नष्ट किया जाता है।[२१६] पाशुपतास्त्र शत्रुबाधा का निवारण करता है। यह भूत, प्रेत, ब्रह्मराक्षस, पिशाच की बाधाओं को तुरन्त दूर करता है।

---

२०८. वही, ६/३८

२०९. वही, ६/३९

२१०. वही, १/१९, ३/१, ३/२, ५/२०/२१, ६/९७, ९९, ८/८, ११/९-१०

२११. तंत्र भूतां महाशान्ति प्रवक्ष्यामो यथाविधिः।
अन्यासां सर्वशान्तीनाममृतां विश्वभेषजीय।
तदीभ्यो वा हृदेभ्यो वा जलं पुण्यं समाहरेत्।
सं. स स्त्रवन्तु तद् विद्वानभिमंत्रयते जनः।
– अथर्ववेद, शान्तिकल्प, २०/१/२

२१२. अथर्ववेद – १/९, ३/११, ४/४०, १९/३४, ४४

२१३. वही, ५/१०

२१४. अथर्ववेद, ३/१६

२१५. वही, १०/१/३

२१६. वही, ३/१,२, ८/३

अथर्ववेद में सभी प्रकार के रोग, दोष, भय, बाधा, आधि-व्याधि, संकट, संघर्ष, आपत्ति, विपत्ति, दुःख-दैन्य, अरिष्ट-अनिष्ट निवारण के हेतजु मणि-बन्धन के प्रयोग निर्दिष्ट हैं। इसमें वरणमणि[२१७], हरिणमणि, जङिड़मणि[२१८], औदुम्बरमणि[२१९], शतावरणमणि[२२०], दर्भमणि[२२१], प्रतिसरमणि[२२२], स्त्राक्यमणि (रुद्राक्ष) आदि का उल्लेख मिलता है। मणिबंधन से अनेक प्रकार के रोग, कष्ट, भय, बाधा, संकट, संघर्ष आदि दूर होते हैं। वृहच्छान्ति का प्रयोग अंत समय में किया जाता है जब किसी भी प्रयोग से साधक को सफलता नहीं प्राप्त होती हो। वृहच्छान्ति कर्म अत्यनत सफल और अमोघ प्रयोग है।[२२३]

वैदिक संस्कृति में तंत्र का सीधा सम्बन्ध चेतना-चित्तशक्ति से है। यह साधना पंच कोषों को पार करने एवं षट्चक्र जागरण- कुण्डलिनी उन्नयन की उच्चतम प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त करती है। अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष की ओर बढ़ते हुए चलना इनका उद्देश्य है। तंत्र साधनाएँ शक्ति के स्रोत हैं। वैदिक ऋषि अपने सूक्ष्म शरीर में स्थित षट्चक्रों और यौगिक ग्रंथियों-उपत्यिकाओं को जगाकर स्वयं को एक शक्तिशाली चुम्बक बना लेते थे। अंग-प्रत्यंग से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और यही आकर्षण शक्ति ईश्वर की विभिन्न शक्तियों जिन्हें देवता कहते हैं, को अपने अनुकूल बनाकर अपनी ओर आकर्षित करती हैं और मनोवांछित सिद्धियाँ प्रदान करती है। वैदिक विज्ञान की यह सूक्ष्म धारा आगे चलकर ज्योतिष के रूप में ज्योतित हुई।

❑ ज्योतिष विज्ञान की ज्योति

वैदिक साहित्य में ज्योतिष के अनेक सिद्धान्त चमत्कारिक ढंग से बताये गये हैं। ज्योतिषशास्त्र की व्युत्पत्ति 'ज्योतिषां सूर्यादिग्रहणां बोधकं शास्त्रम्' की गयी है। अर्थात् सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिष शास्त्र कहा जाता है। इसमें प्रधानतः ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु आदि ज्योतिः पदार्थों का स्वरूप, संचार, परिभ्रमण काल, ग्रहण और स्थिति प्रभृति समस्त घटनाओं का

---

२१७. अथर्ववेद - १०/३
२१८. वही, २/४, १९/३४,३५
२१९. वही, १९/३१
२२०. वही, १९/३६
२२१. वही, १९/२८, २९, ३०, ३२, ३३
२२२. वही, ८/५
२२३. अथर्ववेद - ४/२३-२९, ३३, ५/६, ६/१९,२३,२४,५१,५३,५७,५९, ६१,६२, ९३, १०७, ७/५२,५९,६६-६९, ११/६

निरुपण एवं ग्रह नक्षत्रों की गति, स्थिति और संचारानुसार शुभाशुभ फलों का कथन किया जाता है। कुछ मनीषियों का अभिमत है कि नभोमण्डल में स्थिति ज्योति सम्बन्धी विविध विषयक विद्या को ज्योतिर्विद्या कहते हैं, इस विद्या का सांगोपांग वर्णन, ज्योतिषशास्त्र है। इसकी मूल व्युत्पत्ति वेदों से प्रारम्भ हुई।

मास विचार- ऋग्वेद में वर्ष को १२ चान्द्रमासों में विभक्त किया है तथा प्रत्येक तीसरे वर्ष चान्द्र और सौर वर्ष का समन्वय करने के लिए एक अधिकमास-मलमास जोड़ा करते थे। एक स्थान पर ऋग्वेद में वर्ष के १२ माह, ३६० दिन और ७२० रात्रि दिन- ३६० दिन + ३६० रात्रि का वर्णन करते हुए लिखा है-

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणी नभ्यानि कउतश्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिता: षष्टिर्न चलाचलास: ॥[२२४]

तैत्तिरीय संहिता में १२ महीनों के नाम मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहस, सहस्य, तपस एवं तपस्य आये हैं। इसी प्रकरण में संसर्प अधिमास का द्योतक और अहस्पति क्षयमास का संकेत भी आया है।[२२५] ऋग्वेद में चान्द्रमास और सौरवर्ष की चर्चा कई स्थानों पर आयी है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि चान्द्र और सौर का समन्वय करने के लिए अधिमास की कल्पना ऋग्वेद के समय प्रचलित थी। काल का वाचक वर्ष शब्द शतपथ ब्राह्मण में है।[२२६]

ऋतु विचार- वेदकाल में ऋतुविचार किया जाता था। ई. पूर्व ८०० में वसन्त ऋतु ही प्रारम्भिक ऋतु मानी जाती थी, किन्तु ई.पू. ५०० में प्रारम्भिक ऋतु वर्षा ऋतु मानी जाने लगी। इसका उल्लेख तैत्तिरीय संहिता में हुआ है। मधु और माधव वसन्त ऋतु शुक्र और शुचि ग्रीष्म ऋतु, नभस और नभस्य वर्षा ऋतु, इष और ऊर्ज शरद् ऋतु, सहस और सहस्य हेमन्त ऋतु और तपस और तपस्य शिशिर ऋतु वाले मास हैं।[२२७] ऋग्वेद में ऋतु शब्द कई स्थानों पर आया है परन्तु वहाँ

---

२२४. ऋग्वेद, १/१६४/४८

२२५. मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च, शुचिश्च, नभश्च, नभस्यश्चेषश्चोर्जश्चसहश्च।
सहस्यश्च, तपश्च, तपस्यश्चोपयामगृहीतोऽसि सँ सर्वोश्च हस्पत्याय त्वा॥
-तै. सं., १/४/१४

२२६. शतपथ ब्राह्मण, २/२/३

२२७. मधुश्च माधवश्च वासन्ति का वृतु शुक्रश्च, शुचिश्च, ग्रैष्मावृतू नभश्च नभरस्यश्च वार्पिकावृतू इषश्चोर्गश्च शारदा वृतू सहश्च सहस्यश्च हेमन्तकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। - तै. सं., ४/४/११

इस शब्द का प्रयोग वर्ष के अर्थ में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में पाँच ही ऋतु आयी हैं। उसमें हेमन्त और शिशिर इन दोनों को एक ही रूप में माना है।[२२८] तैत्तिरीय ब्राह्मण में बताया गया है कि वर्ष का सिर वसन्त, दाहिना पंख ग्रीष्म, बायां पंख शरद, पूंछ वर्षा और हेमन्त को मध्य भाग कहा गया है।[२२९] तात्पर्य यह है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण काल में वर्ष को पक्षी के रूप में माना गया है और ऋतुओं को उसका विभिन्न अंग। इसमें ऋतु का एक पात्र के रूप में वर्णन किया गया है।[२३०] जिसके दोनों ओर मुख रहते हैं। लेकिन इन मुखों की दिशा का ज्ञान करना कठिन है। ऋतु की स्थिति सूर्य पर निर्भर है। एक वर्ष में सौर मास का आरम्भ चान्द्रमास के आरम्भ के साथ ही होता है। प्रथम वर्ष के सौरमास का आरम्भ शुक्लपक्ष द्वादशी तिथि को और आगे आने वाले तीसरे वर्ष में सौर मास का प्रारम्भ कृष्णपक्ष की अष्टमी को बताया गया है। सारांश यह है कि सर्वदा सौर मास और चान्द्रमास का आरम्भ एक तिथि को न होने के कारण ऋतु आरम्भ की तिथि अनियमित है। पूर्व वैदिक युग में वर्षा ऋतु की शुरुआत निरयन मृगशि नक्षत्र के आरम्भ के कुछ पूर्व या उत्तर मानी जाती थी।

शतपथ ब्राह्मण में ऋतु के सम्बन्ध में सुन्दर प्रकाश मिलता है।[२३१] प्रजा उत्पन्न करने के बाद प्रजापति के पर्व शिथिल हो गये। इस सूत्र में प्रजापति से संवत्सर अभिप्रेत है और पर्व शब्द से आहोरात्र की दोनों संधियाँ पूर्णमासी अमावस्या एवं ऋतु आरम्भ-तिथि ग्रहण की गयी हैं तथा चातुर्मास ज्ञान से ऋतुओं की व्यवस्था की गयी है। इसका अर्थ होता है कि शतपथ ब्राह्मण के पूर्व ऋतु

---

२२८. द्वादशमासा: पंचर्तवा हेमन्तशिशिरयो: समासेन। - ऐ. ब्रा., १/१

२२९. तस्य ते वसन्त: शिर:। ग्रीष्मो दक्षिण: पक्ष:। वर्ष: पूच्छम्। शरद. मध्य पक्षा। हेमन्तो मध्यम्।

- तै.ब्रा., ३/१०/४१

२३०. उभयतो मुखममृतुपात्रं भवति को हि तद्वेददग्यदृतूनां मुखम।

- तै. स., ६/५/३

२३१. प्रजापतेर्ह वै प्रजा: ससृजनास्य पर्वाणि विसस्त्रँ- सु: स वै संवत्सर एव प्रजापति स्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयो: सन्धी पौर्णमासी चामावास्या चतुर्मखानी॥ स विस्त्रास्तै: पर्वभि: न शशाक सँहातुं तेमेतैर्ह विर्यज्ञैदेवा अभिषज्यन्नाग्नि होत्रेणैवाहोरात्रयो: सन्धी तन्यर्वाभिज्यंस्ततसमदधु: पौर्णमासेन चैवामाषास्येन च पौर्णमासीं चामावास्यां च तन्पर्वा भिषज्यंस्ततसमदधुश्चातुर्मास्यैरे श्चेर्तुमुखानी तन्पर्वाभिषज्यंस्ततसमदधु:।

- श. ब्रा., १/६/३

व्यवस्था सौर और चान्द्रमास के अनुसार तिथि में सिद्ध नहीं हुई थी अतः ऋतु आरम्भ की तिथि का ज्ञान करना असम्भव सा लगता था। इसलिए बाद के ऋषियों ने चार महीने की ऋतु मानकर ऋतु संधि को ज्ञात किया था तथा अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा ये तीन ऋतुएँ मानी गयी थीं। इस काल में ऋतु संधि और पक्ष संधि के विचार की व्यवस्था का एकदम उदय ही हुआ था।

अयन आख्यान- वेदकाल में अयन के सम्बन्ध में भी शास्त्रीय विवेचन होना प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद में कई स्थानों पर अयन शब्द आया है। अयन शब्द सूर्य के दक्षिणायन या उत्तरायण के द्योतक होने में मतान्तर है। शतपथ ब्राह्मण इसे स्पष्ट करता है-[२३२] शिशिर ऋतु से ग्रीष्म ऋतु पर्यन्त उत्तरायण और वर्षाऋतु से हेमन्त ऋतु पर्यन्त दक्षिणायन होता था लेकिन उदयकाल की अंतिम शताब्दियों में हेमन्त के मध्य में से ग्रीष्म के मध्य तक उत्तरायण माना जाने लगा था। यद्यपि उपर्युक्त मंत्र में उत्तरायण और दक्षिणायन का स्पष्ट कथन नहीं है, परन्तु प्रकरण के अनुसार अर्थ करने पर उक्त अर्थ सिद्ध हो जाता है। तैत्तिरीय संहिता के 'तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति पडुत्तेरण' मंत्र से सूर्य के छह महीने का उत्तरायण और छह महीने का दक्षिणायन सिद्ध होता है।

मैत्रायणी उपनिषद् में उदग् अयन, उत्तरायण ये शब्द कई स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। उद्क अयन के पर्यायवाची शब्द देवयान, देवलोक और दक्षिणायन के पर्यायवाची पितृयाण, पितृलोक बताये गये हैं। वैदिक काल के अंतिम शताब्दियों में उत्तरायण और दक्षिणायन का ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म विचार होने लग गया था। वैदिक ऋषियों ने इस विषय को आगे खूब पल्लवित और पुष्पित किया।

वर्ष विश्लेषण- ऋग्वेद में वर्ष के वाचक शरद और हेमन्त शब्द आये हैं, वहाँ इन शब्दों का अर्थ ऋतु न मानकर संवत्सर बताया गया है। गोपथ ब्राह्मण में वर्ष के लिए हायन शब्द आया है। वाजसनेयी संहिता में वर्ष के लिए समा शब्द व्यवहृत हुआ है। वर्ष की दिन संख्या ३५४ अथवा ३६५ मानी गई है। शतपथ ब्राह्मण में आजकल के अर्थ में वर्ष शब्द का व्यवहार किया गया है। ऋग्वेद के १० वें मण्डल में 'समानां मास आकृतिः' इस मंत्र में समा शब्द के द्वारा ही वर्ष शब्द का प्रतिपादन किया गया है। वैदिक काल में सायन वर्ष ग्रहण

---

२३२. वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवाऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो.... स (सूर्यः) यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति......... यत्र दक्षिणा वर्तते पितृषु तर्हि भवति।
- श.ब्रा., २/१/३

किया जाता था, यह सायन या सौर वर्ष की प्रणाली ई.पू ५०० तक पायी जाती है। आदि काल में निरयन वर्ष का विचार भी होने लग गया था। वर्ष या संवत्सर की व्यत्पत्ति करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है जिसमें ऋतुएँ वास करती हों वह वर्ष या संवत्सर कहलाता है।[२३३]

वर्ष का आरम्भ कब होता था, इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु यजुर्वेद में वसन्तारम्भ में वर्षारम्भ कहा गया है। वेदकाल की अंतिम शताब्दियों में दक्षिणायन के प्रारम्भिक दिन से भी वर्षारम्भ माना जाने लगा था। लेकिन नाक्षत्र, बार्हस्पत्य आदि विभिन्न प्रकार के वर्ष नहीं माने जाते थे। इस काल के ऋषि मधु और माधव आदि मासों को भी सौर मास के रूप में ही मानते थे, क्योंकि वर्षारम्भ सौरमास कालिक था। वैसे तो मासों की गणना चान्द्र मास के अनुसार भी मिलती है तथा सौर और चान्द्र के समन्वय करने के लिए प्रत्येक तीसरे वर्ष एक अधिकमास भी जोड़ा जाता था। वैदिक काल की व्यावहारिक वर्ष प्रणाली आजकल की वर्ष प्रणाली से भिन्न थी। युग वर्षों के क्रमानुसार प्रत्येक वर्ष का नाम भी पृथक्-पृथक् होता था। ठाणांग और प्रश्नव्याकरणांग में सायन और सौर वर्ष का कथन मिलता है। समवायांग में चान्द्र वर्ष दिन संख्या ३५४ से कुछ अधिक बतलायी गयी है। ६२ वें समवाय में चान्द्र वर्ष की उत्पत्ति का कथन भी किया गया है। इस तरह वैदिक काल में वर्ष के सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टि से मीमांसा की गयी है।

युग चिन्तन- ऋग्वेद में काल-मान का द्योतक युग शब्द कई स्थानों में आया है। लेकिन कल्प शब्द का प्रयोग इस अर्थ में कहीं पर भी दिखलाई नहीं पड़ता है। ऋग्वेद[२३४] के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने उल्लेख किया है-[२३५] 'सतयुग, त्रेतायुग युग शब्द से ग्रहण किये गये हैं।' इससे स्पष्ट है कि वेदों के निर्माणकाल में सतयुग, त्रेतायुग का प्रचार था। ऋग्वेद का एक मंत्र

---

२३३. ऋतुभिर्हि संवत्सरः शक्रोति स्थातुम।
- श.ब्रा., ६/७१,१८

२३४. तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मधवा नाम विभ्रत।
उपप्रमंदस्युहत्याय वज्री युद्ध सुनुः श्रवसे नाम दधे।
- ऋग्वेद संहिता, १/१०३/४

२३५. मनुष्याणां सम्बन्धीनि इमानि दृश्यमानानि युगानि अहोरात्रसंघ निष्पाद्यामि कृतत्रोतादीनि सूर्यात्मना निष्पादयतीति शेषः।

युग के सम्बन्धमें एक नया प्रकाश डालता है।[२३६] इस मंत्र के एक आख्यायिका में कहा गया है कि ममता के पुत्र दीर्घताम नाम के महर्षि अश्विन के प्रभाव से अपने दु:खों से छुटकर स्त्रीपुत्रादि कुटुम्बियों के साथ दस युग पर्यन्त सुख से जीवित रहे। यहाँ दस युग शब्द विचारणीय है। यदि पाँच वर्ष का युग माना जाये जैसा कि आदि काल में प्रचलित था, तो ऋषि की आयु ५० वर्ष की आती है और यदि दस वर्ष का युग माना जाये तो १०० वर्ष की आयु आती है।

सायणाचार्य ने युग की इस समस्या को सुलझाने के लिए 'दशयुगपर्यन्तं जीवन् उक्तरूपेण पुरुषार्थसाधकोऽभवत' अथवा 'जीवन् उत्तररूपेण पुरुषार्थ साधकोऽभवत।' इस व्याख्या से युग-प्रमाण की समस्या सरलता से सुलझ जाती है अर्थात् दीर्घतम ने अश्विन के प्रभाव से दु:ख से छुटकारा पाकर जीवन के अवशेष दस युग-५० वर्ष सुख से बिताये थे। अत: इस आख्यायिका से स्पष्ट हे कि वेदकाल में युग का मान पाँच वर्ष लिया जाता था। ऋग्वेद के अन्य दो मंत्रों से युग शब्द का अर्थ काल और अहोरात्र भी सिद्ध होता है। 'नहुषा युगा मन्हारजांसि दीयथ:'[२३७] पद में युग शब्द का अर्थ 'युगोपलक्षितान कालान् प्रसरादिसवानान् अहोरात्रादिकालान् वा' किया गया है। इससे स्पष्ट है कि वेदकाल में युग शब्द का अन्य अर्थ अहोरात्र विशिष्ट काल भी लिया जाता था। ऋग्वेद के 'युगे युगे विदथ्यं'[२३८] पद में युगे-युगे शब्द का अर्थ 'काले-काले' किया गया है। वाजसनेयी संहिता में 'देव्यं मानुषा युगा'[२३९] का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में देवयुग और मनुष्य-युग से दो युग प्रचलित थे। तैत्तिरीय संहिता के 'या जाता ओ वधयो देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा' मंत्र से देव-युग की प्रतीति होती है। वैदिक काल में युग पाँच वर्ष का था यह तथ्य ठाणांग[२४०] तथा समवायांग[२४१] में भी प्रकाशित हुआ है। प्रश्नव्याकरणांग में भी युग-प्रक्रिया का विवेचन किया गया है।

---

२३६. दीर्घतमा मामेतयो जुजुर्वान दशमे युगे।
अपामर्थ यतीनां ब्रह्मा भवति सारथि:॥

– ऋग्वेद, १/१५८/६

२३७. ऋग्वेद, ५/७३/३

२३८. वही, ६/९/४

२३९. वाज. संहिता, १२/१११

२४०. ठा. ५, उ. ३, सू. १०

२४१. स., ६१/१

उपर्युक्त युग प्रक्रिया के ऊपर आलोचनात्मक एवं विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो अवगत होता है कि वैदिक काल में युग शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता था। जहाँ कालगणना अभिप्रेत थी, वहाँ पाँच वर्ष का ही युग ग्रहण किया जाता था। इस समय पंच वर्षात्मक युग के संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर एवं इद्वत्सर ये पाँच पृथक्-पृथक् वर्ष माने जाते थे। ऋग्वेद[२४२] में संवत्सर और परिवत्सर वर्षों के नाम आये हैं तथा इन वर्षों में विधेय यज्ञों का वर्णन किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक मंत्र से ध्वनित होता है कि उस काल में संवत्सर का स्वामी अग्नि, परिवत्सर का आदित्य, इदावत्सर का चन्द्रमा, इद्वत्सर एवं अनुवत्सर का वायु होता था। वाजसनेयी संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मणों के मंत्रों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वेद काल के इन वर्षों में विशेष-विशेष कृत्य निर्धारित थे तथा वर्तमान वर्ष के स्वामी को सन्तुष्ट करने हेतु विशेष यज्ञ किये जाते थे।

ग्रहकक्ष विवेचना- वेदकाल में केवल समय-विभाग तक ही ज्योतिष सीमित नहीं था, बल्कि ज्योतिष के मौलिक सिद्धान्त भी ज्ञात थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण के कई मंत्रों से सिद्ध होता है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, सूर्य और चन्द्रमा ये क्रमशः ऊपर-ऊपर हैं। इस विषय में तैत्तिरीय संहिता का कहना है सूर्य आकाश की, चन्द्रमा नक्षत्र-मण्डल की, वायु अन्तरिक्ष की परिक्रमा करते हैं और अग्निदेव पृथ्वी पर निवास करते हैं। सारांश यह है कि सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र क्रमशः ऊपर-ऊपर कक्षावाले हैं।[२४३] तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक और मंत्र से विश्व व्यवस्था के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश मिलता है लोक अनन्त और अपार है, इसका कभी विनाश नहीं होता। पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष के ऊपर द्यौ है। इस द्यौ लोक में सूर्य भ्रमण करता है। अन्तरिक्ष में केवल वायु गमन करता है। सूर्य के ऊपर चन्द्रमा स्थित है, इसका गमन नक्षत्रों के मध्य में होता है। मेघ, वायु, विद्युत ये तीनों भी अन्तरिक्ष और द्यौ लोक के मध्य में हैं। सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों का स्थान भी द्यौ लोक है।[२४४]

---

२४२. ऋग्वेद, ७/१०३/७,८

२४३. यथाग्निः पृथिव्या समनमदेवं मध्यं भद्रा, सन्नतयः सन्नमस्तु वायवे समनमदन्तरिक्षाय समनभद यथा वायुन्तरिक्षेण सूर्याय समनमद् दिवा समनमद् यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनभन्नक्षेत्रभ्यः समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रैर्वरुणाय समनमत।
- तै. सं., ७/५/२३

२४४. तै. सं., ३/११/१

ऋग्वेद में सूर्य और लोक का वर्णन स्पष्ट आया है। पता चलता है कि उस काल में उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक की कल्पना ने ज्योतिष में स्थान प्राप्त कर लिया था।[२४५] यह विवेचना बताती है कि वर्तमान ग्रहकक्षा से भिन्न उस समय की ग्रहकक्षा थी। आजकल चन्द्रकक्षा को नीचे और सूर्य कक्षा को ऊपर मानते हैं। परन्तु उदयकाल में चन्द्रमा की कक्षा को सूर्य की कक्षा से ऊपर माना जाता था। इस कक्षाक्रम का समर्थन उस काल के अन्य ग्रन्थों में भी हुआ है। वैदिक ऋषियों की यह प्रारम्भिक कल्पना स्वाभाविक मालूम पड़ती है, क्योंकि जब सूर्य दिखलाई पड़ता है उस समय नक्षत्र दृष्टिगोचर नहीं होते अत: सूर्य का गमन नक्षत्र कक्षा के अन्दर नहीं होता। परन्तु चन्द्रमा के सम्बन्ध में सूर्य के गमन वाला नियम काम नहीं करता है, इसलिए चन्द्रमा के गमन के समय उसके पास के नक्षत्र दिखलाई पड़ते हैं। इसका प्रधान कारण यही ज्ञात होता है कि चन्द्रमा नक्षत्रों के मध्य से गमन करता है। तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा ऊँचा होने के कारण नक्षत्र प्रदेशों से गुजरता है, इसलिए इसके गमन समय में नक्षत्र दिखलाई पड़ते हैं। सूर्य नक्षत्रों से बहुत नीचे है, इसलिए उसके गमनकाल में नक्षत्र दिखलाई नहीं पड़ते हैं। इसी प्रकार बुध, शुक्र आदि की कक्षाएँ भी युक्ति युक्त प्रतीत होती हैं।

नक्षत्र विचार- वेदकाल में वैदिक ऋषियों को नक्षत्रों का पूर्ण ज्ञान था। इनहोंने अपने पर्यवेक्षण द्वारा मालूम कर लिया था कि सम्पात बिन्दु भरणी का चतुर्थ चरण है। अतएव कृत्तिका से नक्षत्र गणना की जाती थी। कुछ विद्वानों का मत है कि उदयकाल में कृत्तिका का प्रथम चरण ही सम्पात बिन्दु था अतएव उस काल के ज्योतिर्विद कृत्तिका से नक्षत्र गणना करते थे। ऋग्वेद में वर्तमान प्रणाली के अनुसार नक्षत्र चर्चा मिलती है।[२४६] इससे रात्रि में नक्षत्र-प्रकाश एवं दिन में नक्षत्र प्रकाशाभाव का निरुपण किया गया है। इसके एक और मंत्र में चित्रा और मघा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[२४७] यजुर्वेद के एक मंत्र में भी २७ नक्षत्रों को गंधर्व कहा गया है, जिससे ध्वनित होता है कि उस काल में २७ नक्षत्रों का प्रचार था। अथर्ववेद में कृत्तिकादि २८

---

२४५. ऋग्वेद, १/१६४

२४६. अमी य ऋक्षा निहितास उध्रा नकन्दहश्रे कुहचिद्दवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकसश्चन्द्रमा नक्तमेति॥

२४७. वाजनावती सूर्यस्य योषा चित्रा मघा राय ईशे वसूतां।
- ऋ सं., ७/७/५

नक्षत्रों का वर्णन हुआ है।[२४८] इसी प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में नक्षत्रों के नाम, उनके देवता, वचन और लिंग भी बताये गये हैं।

इसके अनुसार कृत्तिका का अग्नि देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन, रोहिणी का प्रजापति देवता, मृगशिर का सोम देवता, आर्द्रा का रुद्र देवता, पुनर्वसु का आदित्य देवता, तिष्य या पुष्य का बृहस्पति देवता, आश्लेषा का सर्प देवता, मघा का पितृ देवता, पूर्वाफाल्गुनी या उत्तरा फाल्गुनी का भग देवता, हस्त का सविता देवता, चित्रा का इन्द्र देवता, स्वाति या निष्टया का वायु देवता, विशाखा का इन्द्राग्नि देवता, अनुराधा का मित्र देवता, ज्येष्ठा का इन्द्र देवता, मूल, विचृती या मूल बर्हिणी का निऋतु देवता, आषाढ़ा या पूर्वाषाढ़ा का अप् देवता, आषाढ़ा या उत्तराषाढ़ा का विश्वेदेव देवता, अभिजीत् का ब्रह्म देवता, श्रवण या श्रोणा का विष्णु, श्रविष्ठा का वसु, शतभिषक् का इन्द्र या वरुण, प्रोष्ठपद या पूर्व प्रोष्ठपद का अज-एकपाद, प्रोष्ठपद या उत्तरप्रोष्ठपद का बहिर्बुध्न्य, रेवती का पूषा, अश्वियुज् या अश्विनी का अश्विन देवता, भरणी का यम देवता। इसी स्थान पर नक्षत्रों के फलाफलों का सुन्दर विवेचन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय संहिता में भी यही क्रम मिलता है। वेदकाल के अंतिम समय में नक्षत्रों के फलाफल में पर्याप्त विकास हो गया था। अथर्ववेद में मूल नक्षत्र में उत्पन्न बालक की दोष-शान्ति के लिए अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना की गयी है।[२४९]

---

२४८. चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
अष्टाविंशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम्।
सुध्वं मे कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे।
पुण्यं पूर्वाफाल्गुन्यौ चात्र हस्तचित्रा शिवा स्वातिः सुखो मे।
अनुराधो विशाखे सुहनानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षभरिवहं मूलम्॥
अन्नं पूर्वा रासन्तां मे आषाढ़ा ऊर्ज ये द्युतर आ वहन्तु।
अभिजन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठा कुर्वतां सुपुष्टिम्॥
आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वयः प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं मे आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु॥
– अथर्व., १९/७

२४९. ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतीर्यमस्य मूलवर्हणात् परिपालयेनम्।
अत्येनं नेषद्दुरितानी विश्वा दीर्घायुत्वा शतवारदाय॥

वाजसनेयी संहिता में 'प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्श यादसे गणकं' सूक्ति आयी है। इसमें प्रयुक्त नक्षत्रदर्श और गणक ये दो शब्द बहुत उपयोगी हैं, इनसे प्रकट होता है कि वेदकाल में ज्योतिष की मीमांसा शास्त्रीय दृष्टि ज्ञात होने लगी थी। इस काल में नक्षत्र ज्ञान की इतनी उन्नति हुई थी, जिसमें नक्षत्रों की ताराएँ और उनके आकार भी विचार के विषय बन गये थे। हस्त नक्षत्र की पांच ताराएँ हाथ के आकार की हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों की आकृति प्रजापति के रूप में मानी गयी है। इसमें कहा गया है कि नक्षत्र रूपी प्रजापति का चित्रा सिर, हस्त हाथ, निष्ट्या-स्वाति हृदय, विशाखा जंघा एवं अनुराधा पाद हैं। उसी ग्रन्थ में एक स्थान पर आकाश को पुरुषाकार माना गया है। इस पुरुष का स्वाति हृदय बताया गया है।[२५०] शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण नक्षत्रों की आकृति का बड़ा सुन्दर विवेचन है। इन ग्रंथों से सुस्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक काल में नक्षत्र विद्या अत्यधिक विकसित थी। इसके प्रभाव और गुणों का वर्णन भी अथर्ववेद के कई मंत्रों में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के एक मंत्र में बतलाया गया है कि सप्तर्षि नक्षत्रपुंज जाज्वल्यमान नक्षत्रपुंज है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के कुछ मंत्रों में आग्याधान, विशेष यज्ञ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों के लिए शुभाशुभ नक्षत्रों का कथन किया गया है।

ग्रह विचार- वैदिक वाङ्मय में ग्रहों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में ग्रहों के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान मिलता है। ये महाप्रबल पाँच (देव) विस्तीर्ण द्युलोक के मध्य में रहते हैं, मैं उन देवों के सम्बन्ध में स्रोत तैयार करना चाहता हूँ। वे सब एक साथ आने वाले थे, लेकिन वे सब निकल गये।[२५१] इसमें भौमादि पाँचग्रह सिद्ध होते हैं, क्योंकि भौमादि पाँच ग्रह आकाश में कभी-कभी एक साथ भी दिखलाई पड़ते हैं। व्रेदमंत्रों में देव शब्द का अर्थ सृष्टि-चमत्कार और प्रत्यक्ष तेज ही माना गया है, अतएव उपर्युक्त मंत्र में देव शब्द का तात्पर्य देवविशेष नहीं, प्रत्युत धात्वर्य की अपेक्षा चमत्कार या प्रकाश है। अतएव सुस्पष्ट है कि प्रकाशयुक्त पाँच ग्रह भौमादि ग्रह ही है। इसका अन्य कारण यह भी है कि वेदों में अश्विनी

---

२५०. यो वे नक्षत्रियं प्रजापतिं वेद। उभयोरेनं लोकयोर्विदुः। हस्त एवास्य हस्तः। चित्रा शिरः। निष्ट्या हृदयं। उरु विशाखे। प्रतिष्ठानु राधाः। एष वै नक्षत्रियः प्रजापतिः।
- तै. ब्रा., १/५/२

२५१. अमी ये पंचीक्षणो मध्ये तस्युर्महो दिवः।
देवत्रा नु प्रावाच्यं सध्रीचीनामि वावृतुवित्तं मे अस्य रोदसी॥
- ऋग्वेद, १/१०५/१०

आदि दो देव अथवा द्वादश देव या तैंतीस देवों का उल्लेख मिलता है। पाँच देव कहीं भी देवरूप में नहीं आये हैं। ऋग्वेद[२५२] के एक अन्य मंत्र में पाँच देवों का अर्थ पाँच ग्रह ही लिया गया है। वहाँ उन पाँच देवों का घर नक्षत्र मण्डल में बताया गया है, इससे सिद्ध होता है कि पाँच देव भौमादि पाँच ग्रहों के ही द्योतक हैं।

एक बात यह भी है कि वेद काल में प्रकाशमान शुक्र और गुरु भारतीयों की दृष्टि से ओझल नहीं रहे होंगे। उन दिनों उनके सम्बन्ध में विशेष बात भी जानते होंगे। शुक्र का ज्ञान उस समय विशेष रूप से था। ऋग्वेद के कई मंत्रों से स्पष्ट होता है कि प्रति बीस मास में नौ मास शुक्र प्रात:काल में पूर्व दिशा की ओर दिखलाई पड़ता था, जिससे ऋषिगण स्नान, पूजा आदि के समय को ज्ञात कर अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करते थे। वे उसे प्रकाशमान नक्षत्र नहीं समझते थे, बल्कि उसे ग्रह रूप में मानते थे। वैदिक वाङ्मय में यह भी उल्लेख है कि दो-तीन महीने तक बृहस्पति शुक्र के पास भ्रमण करता था। इस दौरान वह कुछ दिन तक शुक्र के बहुत नजदीक रहता है, परन्तु शुक्र की गति तेज होने के कारण बृहस्पति पीछे रह जाता है और शुक्र पूर्व की ओर आगे बढ़ जाता है। इस गमन का फल यह होता है कि शुक्र पूर्व की ओर उदित होता है और उसी काल में बृहस्पति पश्चिम की ओर अस्त को प्राप्त होता है। उन दिनों गुरु को ग्रह माना गया प्रतीत होता है। शुक्र और गुरु ग्रह माने जाते थे इस कल्पना पर ऋग्वेद में एक मंत्र से सुन्दर प्रकाश पड़ता है[२५३] 'हे अश्विन तुमने अपने रथ के एक तेजस्वी चक्र को सूर्य की शोभायमान करने के लिए रख दिया है और दूसरे चक्र से तुम लोक के चारों ओर घूमते हो।' इससे सूर्य के पास शुक्र और गुरु को ग्रहण किया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में गुरु के सम्बन्ध में स्वतंत्र कल्पना भी मिलती है।[२५४] इस कल्पना का तैत्तिरीय ब्राह्मण के मंत्र से भी समर्थन होता है[२५५] बृहस्पति प्रथम तिष्य नक्षत्र से उत्पन्न हुआ था। इसका परम शर १ अंश ३० कला था

---

२५२. ऋग्वेद १० वें मण्डल का पाँचवा सूक्त।

२५३. इर्मान्यद्वपुषो वपश्चक्रं रथस्य येमथु:।
पर्यन्या नाहुषा युगा महा रक्षांसि दीयथ:।
– ऋग्वेद, ५/७३/३

२५४. ऋग्वेद संहिता, ४थे मण्डल के ५०वें सूक्त।

२५५. वृहस्पति: प्रथमं जायमान:। तिष्यं नक्षत्रमपि संवभूव॥
– तै. ब्रा., ३/१/१

इसलिए २७ नक्षत्रों में इसके निकट पुष्य, मघा, विशाखा, अनुराधा, शतभिष और रेवती थे। पुष्य नक्षत्र का स्वामी भी गुरु माना गया है, अतएव सिद्ध होता है कि वेदकाल में गुरु की गति का ज्ञान था इससे उसका ग्रहत्त्व स्वयं सिद्ध है।

राशि विवेचना- ऋग्वेद में राशियों की कल्पना की गयी है।[२५६] यहाँ 'द्वादशार' शब्द से द्वादश राशियों को ग्रहण किया गया है। ऋग्वेद में और भी कई स्थानों पर चक्र [२५७] शब्द आया है, जो राशि चक्र का बोधक ही प्रतीत होता है। युक्तियों से स्पष्ट होता है कि आकाश मण्डल की राशि एक स्थूल अवयव और नक्षत्र सूक्ष्म अवयव है। वैदिक ऋषियों के अनुसंधानों ने जहाँ सूक्ष्म अवयव नक्षत्रों को साहित्यिक मूर्तिमान रूप प्रदान किया है, वहाँ स्थूल अवयव राशियों को भी अवश्य साहित्य का मूर्तिमान रूप प्रदान किया होगा।

ग्रहण आख्यान- ऋग्वेद में सूर्य ग्रहण और चन्द्रग्रहण का वर्णन मिलता है।[२५८] इस स्थान पर ग्रहणों की उपद्रव शान्ति के लिए इन्द्र आदि देवताओं से प्रार्थनाएँ की गयी हैं। ग्रहण लगने का कारण राहु और केतु को भी माना गया है। अभिप्राय यह है कि सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण की मीमांसा व विवेचना वेदकालीन ज्योतिष में शामिल हो गयी थी।

विषुव और दिन वृद्धि का विचार- तैत्तिरीय ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में विषुव का कथन किया गया है। यहाँ विषुव को पुरुष की उपमा दी गयी हे। जिस प्रकार पुरुष के दक्षिणांग और वामांग होते हैं उसी प्रकार विषुवान् संवत्सर का सिर है और उससे आगे पीछे आने वाले छः-छः महीने दक्षिण और वामांग है।[२५९] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है संवत्सर रूपी पक्षी का विषुवान सिर है और उससे आगे-पीछे आने वाले छः-छः महीने उसके पंख हैं।[२६०]

---

२५६. द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिधामृतस्य।
आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
-ऋग्वेद, १/१६४/११

२५७. द्वादश प्रथयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत्। - ऋग्वेद, १/१६४/४९

२५८. ऋग्वेद संहिता, ५वां मण्डल, ४०वाँ सूत्र।

२५९. यथा वै पुरुष एवं विषु वांस्तस्य यथा दक्षिणोर्ध एवं पूवार्धो विषुवत्ती यथोत्तरोर्धो एव मुत्तरोर्धो विषुवतस्तस्मादुत्तरे इत्याचक्षेत प्रबाहुक्सतः शिर एवं विषुवान्।
- ए.ब्रा., १८/२२

२६०. संतातिर्वा एते ग्रहाः। यत्परः समानः। विषुवान दिवाकीर्त्य। यथा शालावे पक्षसी। एवं संवत्सरस्य पक्षसी। - तै. ब्रा., १/२/३

ऋग्वेद के मंत्र में प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार सूर्य दिन की वृद्धि करता है, उसी प्रकार हे अश्विन, आयु वृद्धि करिए। दिन वृद्धि और दिनमान की चर्चा गोपथ और शतपथ ब्राह्मणों में बीज रूप से मिलती है। वैदिक काल के अन्त में ज्योतिष के गणित का प्रतिपादन प्रारम्भ हो चुका था।

❑ गणितीय परिकल्पना का प्रारम्भ

वेदों में गणित की कल्पना मिलती है। गणित की यात्रा वेदों से प्रारम्भ होती है। वैदिक ऋषियों ने उन दिनों गणितों का उच्चस्तरीय अनुसंधान किया था। ऋग्वेद की एक ऋचा में चक्र के समान एक गति से परिक्रमा करने वाली (पृथ्वी) ७ युक्त करते हैं। ७ नाम वाला एक अश्व (सूर्य) उसे वहन करता है। ३ नाभी (२ केन्द्र और १ मध्य) वाला दीर्घ-वलयिक चक्रसदा के जोरदार और विपरित गति से बद्ध है।[२६१] इसमें युंजन्ति अंकों को गुणित करना आदि प्रयोग में आता है। ऋग्वेद की अन्य तीन ऋचाओं से भी १६ स्थिरांक[२६२] निकाले गये हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं

स्थिरांक का नाम कटपयादि से	वर्तमान मान्यता
१. भूमि-सूर्य-अन्तर मध्यम प्रमाण	९२९५६०२० मील
	९२६८१२८० मील
२. प्रकाश गति	१८६०१०० मी. से.
	१८६००० मी. से.
३. मित्रतारा अन्तर	४.२३ प्रकाश वर्ष
	४.२४ प्रकाश वर्ष
४. गांगेय नीहारिका-व्यास	१०,००० प्रकाश वर्ष लगभग
	अंतर ९०२५८ प्रकाश वर्ष
५. पृथ्वी द्रव्यमान	१३.१७×१०^{४२} पौण्ड
	१२.९६×१०^{४२}

---

२६१. सप्त युंजन्ति रथम् एकचक्रम एको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रि नाभिः चक्रम अजरम् अनर्वम् यत्र इमा विश्वा भुवनाअधिः तस्युः॥
– ऋग्वेद, १/१६४/२

२६२. पत्रिका वेद ज्योति लखनऊ के १९८२ के तीन अंकों में भैय्या साहब पंत का लेख

६. सूर्य का द्रव्यमान	३३३००० गुना	३३२३४१ गुना
७. सूर्य का व्यास	८६२७०० मील	८६२५४९ मील

द्वितीय प्रणाली दशमलवांक- भारतीय अंकों में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय अक्षरों का होना इस बात का प्रमाण है कि उनकी उत्पत्ति वैदिक काल ही में हो चुकी थी। एक शैली में १ से ९ तक के ही अंक थे और दहाई से गणना करने का नियम था। दूसरी शैली में शून्य की योजना थी और दहाई से गिनते थे। योगसूत्र के भाष्य में व्यास ने दशगुणोत्तर अंकक्रम अपनाया है।

संख्याओं का नामकरण भी विशुद्ध वैज्ञानिक हैं। अपनी निरुक्त पुस्तक में ३/२/९ में यास्काचार्य संग्रामी वाची ४६ पर्यागों का उल्लेख करते हैं। और उदाहरण रूप उद्घृत करते हैं मंत्र ऋग्वेद[२६३] जिसमें १-२-३-४ संख्याओं का उल्लेख यह करते हैं कि एक योद्धा गर्वोक्ति करता है कि मैं अकेला एक-दो या तीन शत्रुओं को दबोच सकता हूँ। यजुर्वेद में लाख और करोड़ व अरब संख्या के द्योतक शब्दों का प्रयोग हुआ है[२६४] हे (अग्रे) विद्वान पुरुष! मेरी ये ईष्ट सुख को सिद्ध करने हारी यज्ञ की सामग्री (धेनवः) दुग्ध देने वाली गौओं के समान होवें आपके लिए भी वैसी ही हो। जो एक दशगुणा दश और दश, दश गुणा (शतम्) सौ और सौ दशगुणा (सहस्त्रतम) हजार दशगुणा दस हजार और दश हजार दस गुणा (लाख) दश गुणा दश लाख इसका दश गुणा करोड़, इसका दशगुणा दश करोड़, इसका दश गुणा अरब, इसका दशगुणा खरब, इसका दश गुणा महापदम, इसका दश गुणा शंकु, इसका दश गुणा आदि। सृष्टि की उत्पत्ति का काल बताने के लिए अथर्ववेद में एक मंत्र आया है।[२६५] इसके अनुसार सौ=०००, अयुतम (दस हजार)=०००००, द्वे=२००००००००, त्रीणी= ३००००००००, चत्वारी= ४००००००००००, इसका योग ४३२००००००० (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष)।

---

२६३. ऋग्वेद, १०/४८/७

२६४. इमा में अग्रे इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्त्रं च सहस्त्रं चायुतं चायुर्त च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चावुर्दं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्रइष्टका धेनव सन्त्वभुत्राभुवियंल्लोके।
– यजुर्वेद १७/२

२६५. शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृष्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास तेऽनुमन्यामिह नोऽभावाः॥

'शून्य' शब्द का प्रयोग 'यावद् तावद्' अर्थात् 'जो है वही' के अर्थ में होता है। अर्थात् वेदों में शून्य के अविष्कार ने दशमलव प्रणाली को जन्म दिया। इसका मूल ऋग्वेद में है।[२६६] दश के अंक की प्रतिष्ठा में यहाँ ये विशेषण आये हैं- अवनिभ्य:= रक्षा करने वाला, कक्ष्येभ्य:= कर्मों को प्रकाशित करने वाला, योजनेभ्य:= जोड़ने वाला, दशमलव पद्धति में जोड़ने की सुविधा का संकेत, अमीशुभ्य:=गुणा करने की सुविधा, अजरेभ्य:= विभाजन की सुविधा। इससे स्पष्ट होता है कि दशमलव प्रणाली वैदिक ऋषियों की देन है।

शून्य एवं अन्य संख्याओं का महत्त्व- वैदिक ऋषियों ने शून्य का आविष्कार किया था। इसलिए तो यजुर्वेद के एक मंत्र से अनन्त रूपी उस शून्य का सुन्दर वर्णन मिलता है।[२६७] यजुर्वेद में ही जिन संख्याओं का प्रयोग किया गया है[२६८] उनका समुच्चय निम्न प्रकार है १,२,३,४,५,६,७,८,९,१०,११,१२, १३,१४,१५,१६,१७। इस समुच्चय को निम्न प्रकार भी लिखा जा सकता है- स= (य:य= प्रकृत संख्या य>१८) दूसरे मंत्र में संख्याओं का समुच्चय है (१,३,५,७,९,११,१३,१५,१७......)[२६९] इसका सूत्र है स= (य:य= विषम प्राकृत संख्या, य<३४)। अगले अंश में प्रयुक्त संख्याओं का समुच्चय स= (४,८,१२,१६, २०,२४, ३२.....)[२७०] अथवा स= (य:य= ४, न न १,२,३,४,५,६,७,८,९,१०....)। एक अन्य मंत्र में पूर्ण संख्या की आधी संख्या का प्रयोग किया गया है।[२७१] स: १ १/२, २, २ १/२, ३ अथवा ३/२, ४/२, ५/२, ६/२ अथवा स= (य: य= १-२, क, क= ३,४,५,६)।

---

२६६. दशावनिभ्यो दशकश्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्य:।
दशामीशूभ्योअर्चताजरेभ्यो दश धुरो दशयुक्ता वहद्भ्य:। - ऋग्वेद, १०/९४/७

२६७. अंसख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।
तेषां सहस्र योजनेऽव धन्वानि तन्मसि। - यजुर्वेद

२६८. अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत तमज्जेषमाखतो द्वयक्षरेण द्विपदो मनुष्यानु दजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्रयक्षरेण त्रीह्लोका नुदजयत्तानुज्जेषं सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पद: पशुनुदजयत्ता नुज्जेषम्। सप्तदशाक्षरेण सप्तदेशं स्तोममुदजयत मुज्जेषम्॥
- यजुर्वेद

२६९. एका च मे तिस्त्रश्च मे तिस्त्रश्च मे पंच च मे सप्त च मे सप्त च में नव ....।

२७०. तचमस्त्रश्च मे ऽष्टौ च मे ऽष्टौ च मे द्वादश च मे षोड़श च मे षोड़श च मे विंशतिश्च ....।

२७१. त्र्यवयो गायत्रै पंचावयस्त्रिवष्ठु मे दिव्यवाहो जात्यं त्रिवत्साऽअनुष्टुमे तुर्यवाह ऽउषणि हे॥

वैदिक ऋषि ने सर्वप्रथम ऋणात्मक संख्याओं के अस्तित्व को पहचाना। धनात्मक और ऋणात्मक संख्याओं का अंतर उन्होंने प्राप्ति और ऋण के भावों से प्रकट किया। वे धनात्मक और ऋणात्मक संख्याओं को एक सीधी रेखा पर विपरीत दिशाओं में प्रकट करना जानते थे। वे बीज गणित में भी निष्णात व पारंगत थे।

सांख्यिकी- सांख्यिकी शब्द का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण[२७२] में हुआ है। ऐतरेय आरण्यक[२७३] में भी वह प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद[२७४] में जनसंख्या तथा अन्य वस्तुओं की गिनती कराने की अनुज्ञा है। संभावना का सिद्धान्त (Theory of Probability) का ऋग्वेद[२७५] में पूरा आख्यान है।

इस तरह वैदिक ऋषियों ने गणित के कई सूत्रों का अन्वेषण किया और उसका प्रयोग करके सत्यता का परिमाप भी किया। वैदिक ऋषि का यह अनुसंधान एवं खोज गणित के सूत्रों को सुलझाने वाले मानसिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि उनकी दूर दृष्टि मानवी शरीर को स्वस्थ, सुखी और नीरोग बनाये रखने हेतु भी बराबर बनी रही। इसी का परिणाम व निष्कर्ष था कि आयुर्वेद रूपी नूतन शास्त्र ने जन्म लिया।

❑ आयुर्वेद की वैज्ञानिकता

वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद की गौरवमयी परम्परा है। ऋषियों ने इसे अतिपुरातन एवं शाश्वत कहा है। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव माना है। वेदों में आयुर्वेदीय तथ्यों का पाया जाना इसका प्रमाण है। महर्षि चरक के अनुसार ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया था। प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने और उनसे इन्द्र ने उस ज्ञान को प्राप्त किया।[२७६] ऋषियों ने आयुर्वेद को उपवेद के रूप में स्वीकार किया है। कुछ विद्वान् इसे ऋग्वेद तथा अधिकांश अथर्ववेद का अविच्छिन्न अंग मानते हैं।

ऋग्वेद में आयुर्वेद

चिकित्सा का सम्बन्ध यद्यपि अथर्ववेद से अधिक है तथापित अन्य वेदों में भी इस विषय के मंत्र हैं। ऋग्वेद सबसे प्रथम माना जाता है। इसलिए इसमें

---

२७२. शतपथ ब्राह्मण, ३/७/३/१

२७३. ऐतरेय आरण्यक, ११/३/४

२७४. यजुर्वेद, २७/२४-२५

२७५. ऋग्वेद, १०वां मण्डल ३४वां सूक्त।

२७६. ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः। जग्राह निखिलेनावादावश्विनौ तु पुनस्ततः।

आयु से सम्बन्धित मंत्रों का होना स्वाभाविक है। इन मंत्रों में आप-जल, औषधि आदि प्राकृतिक वस्तुओं से स्वास्थ्य की प्राप्ति का निर्देश है। औषधियों में वनस्पति का ही उल्लेख है और वह भी पृथक्-पृथक् रूप में। दो या अधिक वनस्पतियों का मिश्रण नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि यह ज्ञान प्रारम्भिक था।

ऋग्वेद में आयुर्वेद के आचार्यों का उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद के ऐसे आचार्य मुख्यत: दिवोदास और भरद्वाज हैं। इनसे शल्य और काय चिकित्सा का प्रचार पृथ्वी पर हुआ है। इसलिए दिवोदास, भरद्वाज और अश्विनों इन तीनों का नाम ही मंत्रों में आता है। लोहे की टांग का उल्लेख ऋग्वेद में है। युद्ध में पुरोहित सदा साथ में रहता था।[२७७] ऋजाश्व को अश्विनों ने पुन: आँखें प्रदान की थीं।[२७८] वेद में वैद्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है- १. सम्पूर्ण औषधियों को अपने पास ठीक रखने वाला, २. विशेष प्रबुद्ध अपने शास्त्र का पूर्ण सांगोपांग ज्ञाता, ३. युक्ति और योजना को जाननेवाला (भिषज्यति), ४. राक्षसों का नाश करने में समर्थ और ५. रोगों को जड़ से उखाड़ सके (चातन)। राक्षसों के लिए वेद में रक्ष, असुर, यातुधान आदि शब्द आते हैं। इनके बारे में शतपथ ब्राह्मण का कहना है 'वह चर्म को झटक देता है और कहता है कि राक्षसों का नाश हो गया, असुरों का, शत्रुओं का नाश हुआ। इस प्रकार विनाशक राक्षसों का संहार होता है।'[२७९] ऋग्वेद में विभिन्न प्रकार के चिकित्सा का उल्लेख मिलता है।

औषधि चिकित्सा- औषधि का अर्थ ही वेदना को दूर करने वाली वस्तु है। वेद में औषधि के लिए माता शब्द आता है।[२८०] औषधियों के लिए ऋग्वेद में एक सम्पूर्ण सूक्त है जिसमें कहा गया है कि जो औषधि या वनस्पति देवों से तीन युग पहले उत्पन्न हुई थीं, उन भरण-पोषण करने वाली औषधियों के सौ और सात स्थान या जातियाँ हैं, ऐसा मैं जानता हूँ।[२८१] वीर्यवती औषधियों के

---

२७७. चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितकम्पायाम्।
सधो जंघामायसीं विष्पलायै धनेहि ले सर्त्तवे प्रव्यधतम्॥
-ऋग्वेद, १/१७६/१५

२७८. ऋग्वेद, १/११६/१६

२७९. शतपथ ब्राह्मण, १/१/४

२८०. औषधि रीति मातरस्तद्वो देवी रूप ब्रुवे- ऋग्वेद, १०/९७/४

२८१. या औषधि: पूर्वा जाता देवेभ्य स्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त चे।
- ऋग्वेद, १०/९७/१

सेवन से रोग के बीजों का नाश होता है। वाजयन शब्द वाजीकरण नामक आयुर्वेद के एक अंग को सूचित करता है। वाज का अर्थ बल है, घोड़ा बलवान होता है, उसे वाजी कहते हैं।[२८२] इसमें आगे कहा गया है, हे मरुत! जो तुम्हारी रोग नाशक औषधियाँ निर्मल हैं, तुम्हारी जो औषधियाँ अतिशय सुखकारी हैं और जिन औषधियों को हमारे पिता मनु ने पहचाना है, उन औषधियों को, जिनका रुद्र से सम्बन्ध है, जो रोग को शान्त करती हैं, उनको मैं चाहता हूँ।[२८३] रोगों के नाश में इस तरह मंत्र प्रयुक्त हुए हैं- 'यक्ष्म रोग से पीड़ित व्यक्ति! तेरी आँखों से, कानों से, चिबुक से, सिर से, मस्तिष्क से और जिह्वा से रोग को पृथक् करता हूँ।'[२८४]

जल चिकित्सा- वैदिक मंत्रों में मरुत, अग्नि, सूर्य, अप् इनको भी देवता माना गया है। इनके द्वारा मनुष्य तथा दूसरे प्राणियों का जीवन चलता है। अप भी इनमें एक देवता है, उनसे भी आरोग्य की कामना की गई है, सोम ने मुझसे कहा कि जल के अन्दर सम्पूर्ण औषधियाँ हैं, जल ही सब औषधि है, अग्नि सबको आरोग्य रूप देने वाला है।[२८५] पानी में अमृत है, पानी में औषध है।[२८६] जल निःसन्देह औषध है, जल निःसंशय रोगों को दूर करे वाला है, जल सब रोगों की एक ही दवा है, यह जल तुम्हारे लिए औषध है। इस मंत्र में स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण रोग एक जल के प्रयोग से दूर हो सकते हैं। जल चिकित्सा का विकास इसका उदाहरण है।

प्रसूति सम्बन्धि ज्ञान- गर्भाशय तथा योनि के रोगों को दूर करने के लिए ऋग्वेद में अग्नि तथा अन्य साधनों का उपयोग बतलाया गया है।[२८७] ऋग्वेद के मंत्रों में कृमि या संक्रमण के गर्भाशय में पहुँचने के मार्गों तथा उनसे गर्भाशय को होने वाली हानियों का उल्लेख है।

सौर चिकित्सा- कृमि- जिनके लिए वेद और आयुर्वेद में रक्ष या राक्षस,

---

२८२. ऋग्वेद, १०/९७/११०

२८३. ऋग्वेद, २/३३/१३

२८४. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां चुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षव्य मस्तिष्काज्जिव्हाया विवृहामिते।
- ऋग्वेद, १०/१६४/१

२८५. ऋ, १/२३/२०

२८६. वही, १०/१३७/६

२८७. वही, १०/१६२/१-४

निशाचर या यातुधान शब्द आये हैं, वे सूर्य से नष्ट होते हैं। सूर्य के प्रति वेदमंत्रों में प्रार्थना है।[२८८] सूर्य स्थावर जंगम की आत्मा है। उपनिषद् में सूर्य को प्राण कहा गया है।[२८९]

वायु चिकित्सा- वायु, मातरिश्वा भी देवता है। उपनिषद् में कहा गया है कि वायु ही प्राण बनकर शरीर में आकर रहता है। वायु में अमृत का खजाना है, ऐसा ऋग्वेद की घोषणा है।[२९०] हे वायु! अपनी औषधि ले आओ और यहाँ से सब दोष दूर करो, क्योंकि तुम ही सब औषधियों से युक्त हो।[२९१]

मानस चिकित्सा- रोग के दो ही अधिष्ठान हैं- मन और शरीर। मन के दो दोष हैं- रज और तम। शरीर में रोग होने से पूर्व मन रुग्ण होता है। ऋग्वेद कहता है- दस शाखाएँ जिनकी हैं ऐसे अपने दोनों हाथों से तुमकों स्पर्श करता हूँ। ये मेरे हाथ निरोग करने वाले हैं।[२९२] मन की महत्ता यजुर्वेद में इस प्रकार स्पष्ट की गयी है 'मन प्राणियों के अन्दर अमृतरूप है। मन को वश में लाने का साधन प्राणायाम है और इन्द्रियों को नियंत्रित रखने वाला मन है। मन के बल से बहुत से रोग नष्ट होते हैं।'

यजुर्वेद में आयुर्वेद

यजुर्वेद में औषधियों के लिए अनेकों मंत्र आये हैं। इनसे स्पष्ट है कि औषधियों का उपयोग यज्ञकर्म तथा स्वास्थ्य के लिए विशेष होता है। औषधियों से कई प्रकार की प्रार्थना की गई है। इसमें औषधियों को राज्ञी कहा गया है।[२९३] औषधियाँ माता की तरह रक्षा करती हैं। जिस मनुष्य को औषधियों का सम्यक ज्ञान होता है, उसे ही भिषक् कहा जाता है। राजा लोग जिस प्रकार आस्थान मण्डप में एकत्रित होते हैं, उसी प्रकार जिसमें औषधियाँ एकत्र रहती हैं वही विप्र सच्चा भिषक् है, और वही राक्षस और रोगों को दूर कर सकता है।[२९४]

वेद में औषधियों की माता को इष्कृति 'सर्वेषां रुग्णानां निष्कर्त्री' कहकर

---

२८८. नः सूर्यस्य संदृशे मा युयोथा। - ऋग्वेद, २/३३/१
२८९. आदित्या ह वै प्राणः, प्रश्न.उप., १/५
२९०. आ वात वाहि भेषजे विवात् वाहि यद्रुपः। - ऋक, १०/१८६
२९१. त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥ - ऋक, १३७/३
२९२. ऋग्., १०/१३७/७
२९३. या औषधीः सोमराज्ञीर्वहीः शतविचक्षणाः। - यजु., १२/९२
२९४. यजुर्वेद, १२/८

प्रार्थना की गयी है। हे औषधियों! तुम भी मेरे रोगों को निकालो।[२९५] औषधियाँ कहती हैं कि आकाश द्युलोक से आती हुई हम जिस व्यक्ति के पास पहुँच जाती हैं, वह किसी तरह भी नष्ट नहीं होता।[२९६] इसमें दिव्य वैद्य के बारे में कहा गया है- कम न होने वाले, सदा बढ़ने वाले रोगबीजों को नष्ट भ्रष्ट करने वाला और सब राक्षसों को नीचे की ओर से निकालने वाला है, वह उपदेशक पहला दिव्य वैद्य है।[२९७]

सामवेद में आयुर्वेद

सामवेद में आयुर्वेद-विषय सामगी अत्यन्त न्यून है। इसमें आयुर्वेद से सम्बद्ध कुछ मंत्र निम्नलिखित विषयों के प्रतिपादक हैं- वैद्य, चिकित्सा, दीर्घायुष्य, तेज, ज्योति, बल, शक्ति आदि।[२९८]

अथर्ववेदीय परम्परा

अथर्ववेद में आयुर्वेद का विषय विशेष विस्तार से आया है। अथर्ववेद का सम्बन्ध ही आयुर्वेद उपांग से है। अथर्ववेद का सम्बन्ध मनुष्य जीवन के साथ क्रियात्मक रूप में होने से आयुर्वेद का तारतम्य इसी से विशेष है। अथर्ववेद में आए हुए आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों की सूची निम्नलिखित है जिससे चिकित्सा विषयक सूक्तों की विस्तृत जानकारी मिल जाती है-

वनस्पति- अंजन ७/३०/३६, अपामार्ग ४/१७-१९, अपांभेषज १/४-६, ६/२३-२४, अक्षिरोग भेषज ६/१६, आंजन ४/९, १९/४५, आप१/३३, ३/१३, ७/३९, १९/२, आस्त्राव की ओषधि २/३, ओषधि ८/७, ६/५९, कुष्ठौषधि ६/९५, केश वृहण ६/१३६, केशवर्धन ६/१३७, केशवर्धनी औषधि ६/२१, गर्भसंत्राव २०/९६, ११/१६ पिप्पली भैषज्य ६/१०९, पृश्निपर्णी भैषज्य ६/२२, ५२, ८३, १९/४४, रोहिणी वनस्पति ४/१२, लाक्षा ५/५, वनस्पति ३/१८, वाजीकरण ४/४, विष भैषज्य-७/५६, सौभाग्यवर्धन ६/१३९

रोगादि निवारण- इषु निष्कासन ६/९०, उन्मत्तता मोचन ६/१११, कास शमन ६/१०५, कुष्ठ तक्म नाशन ५/४, कुष्ठानाशन १९/३९, क्लीत्व नाशन ६/१३८,

---

२९५. अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि। - यजुर्वेद, १२/८३

२९६. यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पुरुषः॥ - यजुर्वेद, १२/९१

२९७. यजुर्वेद, १६/५

२९८. वेदामृतम भाग १०, सामवेद सुभाषितावली, पृष्ठ १३७-४१

गर्भवृंहण ६/१७, गर्भदोष निवारण ८/६, गण्डमाला चिकित्सा ७/७४-७६, चिकित्सा ६/९६, जल चिकित्सा ६/५७, ज्वर शमन १/२५, ७/११६, तक्म नाशन ५/२२, दुस्वप्न नाशन २०/९६, नारी सुख प्रसुति १/११, वलास नाशन ६/१४, मूत्र मोचन १/३, यक्ष्म नाशन १/१२, ३/७,३१, ६/२०,८५,९१,१२७, १२/२, १९/३८, २०/९६, रुधिर स्राव को रोकने के लिए धमनी को बांधना १/१७, रोग नाशन ६/४४, रोग निवारण ४/१३, रोगोपशमन १/२, ५/१५, वृष रोग नाशन ५/१६, श्वेत कुष्ठ नाशन १/२३/२४, समंगलदन्त ६/१४०, हृदरोग, कामलाशमन १/२२, क्षेत्रिय रोग निवारण २/८।

कृमि नाशन- कृमिघ्न ५/२३, कृमि जम्भन २/३१, कृमि नाशन २/२३, ४/३७,

विष नाशन- विपघ्न ४/६, विष दूषण ६/१००, विष नाशन ४/७, सर्पविष दूरीकरण १०/४, सर्प विष नाशन ५/१३, ७/८८, सर्पविष निवारण ६/१२, सांपों से रक्षा ६/५६।

अरिष्ट नाशन- अरिष्ट क्षपण ६/२७, २८, २९, ८०, अलक्ष्मी नाशन १/१८, असुर क्षपण ६/७, १९/६६, ईर्ष्या विनाशन ६/१८, ७/४५, कृत्यादूषण १०/१, कृत्यापरिहरण ५/१४-३१, दस्युनाशन २/१४, पिशाच क्षपण ४/२०, मन्यु शमन ६/४३, यातुधान नाशन १/७-८, यातुधान क्षपण ६/३२, रक्षोघ्न १/२८/५२९।[२९९]

इस प्रकार से आयुर्वेद से सम्बन्धित विषयों का अथर्ववेद में विस्तार से वर्णन होने के कारण आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है।

अथर्व चिकित्सा- अथर्वा ऋषि ने इस चिकित्सा को कहा है, यह चिकित्सा चार प्रकार की है- आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानुषी। इनमें मानुषी चिकित्सा औषधियों से सम्बन्धित है। दैवी चिकित्सा वायु-जल-पृथ्वी आदि से तारतम्य रखती है। आंगिरसी चिकित्सा को मानसिक शक्ति के सदृष्य माना जाता है। आथर्वणी चिकित्सा का तात्पर्य है जप, होम, दान, स्वस्तिवाचन आदि।[३००]

इसमें आगे उल्लेख है- हे प्राण! जब तक तू प्रेरणा करता है, तब तक

---

२९९. अथर्व संहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित

३००. आथर्वणीरांगिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥

ही आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानुषी औषधियाँ फल देती है। प्राण रहने पर ही औषधियों से लाभ होता है। हे प्राण! तेरा प्रिय शरीर है और जो तेरे प्रिय भाग है तथा जो तेरी औषध हैं, उसे दीर्घजीवन के लिए हमको दे। प्राण या जीवन का नाम ही आयु है। इसी आयु का सम्बन्ध इन चारों चिकित्साओं से है। आयु का ज्ञान ही आयुर्वेद है।

वात, पित्त, कफ का उल्लेख

वेद में रोग के तीन कारण बताये गये हैं १. शरीरान्तर्गत विष, जिसके लिए 'यक्ष्म' शब्द आता है।[३०१] २. रोगों के कारण कृमि-यातुधान।[३०२] ३. वात, पित्त, कफ तीसरा कारण रोगों का है। अथर्ववेद में पिप्पली को वातरोग नाशक कहा है।[३०३] इसमें पित्त को पित्त शब्द से कफ को कफ या बलास शब्द से कहा गया है।

कृमियों के नाम

कृमि वर्णन वेदों में बहुत प्रकार से आया है। अत्रिण[३०४] -भक्षण करने वाला, अराति[३०५] -शत्रु, अर्जुन[३०६] -श्वेत वर्ण वाला, अलिंश[३०७] -चिपटने वाला, कुत्याद[३०८] -कच्चा मांस खाने वाला। इस प्रकार लगभग सौ से अधिक नाम कृमियों के लिए वेदों में प्राप्त होते है।[३०९]

औषधियों के नाम

किन-किन रोगों में अमुक औषधि लाभ करती है, इसका ज्ञान परम्परा से होता था। अंगिरा द्वारा जानी गयी औषधियों को 'आंङ्गिरसी' कहा जाता है। ब्राह्मण, ऋषि और देव औषधियों को पहले से जानते चले आये हैं।[३१०] औषधियों के गुणों

---

३०१. अथर्व., ९/८/१०

३०२. अथर्व., ५/२९/६-७

३०३. वाणीकृतस्य भेषजी, अथर्व., ६/१०९/३

३०४. अथर्ववेद, ६/३२/३

३०५. वही, ५/२३/२

३०६. वही, २/३२/२

३०७. वही, ८/६/१

३०८. वही, ५/२९/८

३०९. श्री रामगोपाल शास्त्री - वेद में आयुर्वेद

३१०. यद् ब्रह्मभिर्यद्वृषिभिर्यद्देवैः विदितंपुरा- अथर्व, ६/१२/२

का ज्ञान पुरुषों को पशु पक्षी आदि प्राणियों से होता है। इन प्राणियों में गौ, अजा, अवि, वराह, नकुल, सर्प, गंधर्व, गरुड़, रघट, हंस का नाम वर्णित है। इनके अतिरिक्त सब पक्षी, सब पशुओं से ज्ञान करने का उल्लेख है। पशु-पक्षियों के स्वभाव से वनस्पतियों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

रोग निदान

वेद में त्रिधातुवाद की मान्यता है। तीन धातुओं की विषमता से रोग होते हैं।[३११] अथर्ववेद में एक स्थान पर अभुज, वातज, और शुष्म तीन प्रकार के रोग कहे गये हैं। इसमें वातज रोग स्पष्ट है, अभुज का अर्थ कफज और शुष्म का अर्थ पित्तज रोग सायण ने किया है। वेद ब्राह्मण ग्रंथों में शारीरिक और आगन्तुक ये दो कारण रोगों के माने गये हैं।

शल्य तंत्र

अथर्ववेद में क्षत,[३१२] विद्रधि,[३१३] छिन्न-भिन्न,[३१४] व्रण[३१५] आदि रोगों का उल्लेख है। टूटी या कटी अस्थियों को जोड़ने, जुड़े हुए या कटे हुए अंग को ठीक करने तथा पृथक् हुए मांस और मज्जा को स्वस्थ करने की औषधि से प्रार्थना है। रक्तस्राव के लिए पट्टी बाँधने तथा रेत से भरी थैलियों से दबाव देने का उल्लेख है। एक मंत्र में व्रण पकाकर उससे पूय-स्राव करने का वर्णन है।[३१६] अपची रोग के लिए वेधन और छेदन उपचार कहा गया है। परन्तु मुख्यतः वनस्पति, पानी और मंत्र से चिकित्सा का काम लिया गया है।[३१७]

रसायन

अथर्व वेद में रसायन विद्या से वयःस्थापन, आयु तथा बल प्राप्ति की विवेचना है। इससे रोगों को दूर करने की सामर्थ्य आती है।

---

३११. ऋग्वेद, १/३४/६
३१२. अथर्व, ७/७६/४
३१३. वही, ६/१२७/१
३१४. वही, ४/१२
३१५. वही, २/३
३१६. अथर्व., २/३/५
३१७. अरुणास्त्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्धृतम्।
तदास्त्रावश्य भेषजं तदु रोगमनीनरात्॥

वैदिक काल के अन्त में तथा सूत्रग्रंथों के समय तक आयुर्वेद में विकास क्रम प्रारम्भ हो गया था। वेदों में वर्णित रोगों और वनस्पतियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा, खोज प्रारम्भ हो गयी थी।

ब्राह्मण ग्रंथ

ब्राह्मण ग्रंथों में रोगों से बचने के उपाय यज्ञ बताये गये हैं। इन यज्ञों में जो सामग्री बरती जाती है वह प्रत्येक ऋतु के अनुसार ही होती थी। जिस प्रकार प्रत्येक ऋतु का अपना खान-पान, रहन-सहन आयुर्वेद शास्त्र में कहा गया है, उसी प्रकार ब्राह्मणों में प्रत्येक ऋतु के लिए पृथक्-पृथक् सामग्री का विधान यज्ञों के लिए किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ ही मानी गयी है।[३१८] अश्विनों को देवताओं का चिकित्सक कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन,[३१९] औषधियों से रोग निवारण, अंजन से नेत्र रोगों की निवृत्ति, शापादि से उन्माद, साम विधान ब्राह्मण में सापों से रक्षा, भूताक्रांति रोगाक्रांति है। तैत्तिरीय आरण्यक में कृमि वर्णन है। आश्वालायन गृहसूत्र में सूर्योदय और सूर्यास्त में सोना रोग का कारण कहा गया है।[३२०] कौशिक सूत्रों में रोग शान्ति में मंत्रों का विनियोग मिलता है।

उपनिषदों में आयुर्वेद

उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का आधार शरीर माना गया है। अतः अन्न का पाचन आदि के बारे में स्पष्ट वर्णन मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् में तीन प्रकार का स्थूल, सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म पाक अन्न का उल्लेख मिलता है। इसमें कुष्ठ के एक भेद पामा रोग से मुक्ति का विधान है।[३२१] वृहदारण्यक में हृदय क्रिया को समझाया गया है।[३२२] चरक के विषय में उपनिषद् में उल्लेख होने से यह स्पष्ट हो गया कि 'चरक' बहुतों के लिए आता है। जो लोग विचरण करते रहते हैं, उनको चरक कहते थे। इस तरह उपनिषदों में आयुर्वेद के विचारों की छाया दीखती है। यही विचार आगे चलकर विस्तृत रूप से मनोविज्ञान का स्वरूप धारण किया है।

---

३१८. शतपथ ब्राह्मण, १२/३/२
३१९. ऐतरेय ब्राह्मण, ५/२२
३२०. आ. गृ. सूत्र, ३/७/१/२
३२१. छान्दोग्य., ४/१/८
३२२. वृहदा., ५/३

❑ मनोविज्ञान का मन्तव्य

मन एक अति सूक्ष्म एवं चंचल है। इसी से शारीरिक एवं मानसिक गतिविधियों का नियंत्रण एवं नियमन होता है। इसका भी एक विस्तृत विज्ञान है। वैदिक ऋषियों ने इसे मनोविज्ञान का नाम दिया एवं इसके बारे में गहन व उच्चस्तरीय शोध और अन्वेषण किया। वैदिक ऋषि सूक्ष्मदर्शी एवं मनोवैज्ञानिक होते थे। अतः इस शाखा का जन्म भी वेद में हुआ है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत स्नायु मण्डल, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, अवधान या ध्यान, सीखना, स्मरण, विस्मरण, कल्पना चिन्तन, भाव या अनुभूति, संवेग, प्रेरणा, चेतना, स्वप्न, बुद्धि, योग्यताएँ, व्यक्तित्व, वंशानुक्रम एवं वातावरण आदि आते हैं।

मन के गुण

यजुर्वेद में 'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' कहकर मन के सभी महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख किया गया है। इसमें मन को अतिदूरगामी बताते हुए उसकी तीव्रता का वर्णन किया गया है। मन न केवल जाग्रत् अवस्था में ही इधर-उधर दूर तक जाता है, अपितु स्वप्न अवस्था में भी उसी तरह दूर-दूर तक जाता है। इसको ज्योतियों की ज्योति अर्थात् प्रकाशों का प्रकाशक कहा गया है। यह एक प्रकाश है, जो ज्ञान और विज्ञान के सभी तत्त्वों को प्रकाशित करता है। यह चेतना का आधार है।[३२३] मन ही श्रेय और प्रेय का मार्ग प्रशस्त करता है, अतः उसे यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में दिव्य सुखपूर्वक या 'पाथ्य वृषा' कहा गया है।[३२४] इस मन को मानव हृदय में रहने वाली अमर ज्योति और अपूर्व यक्ष अर्थात् आदरणीय तत्त्व माना गया है। मन आत्मा का प्रतिनिधि है। अतः आत्मतत्त्व के तुल्य वह अमर है और प्रकाशरूप है। मन की सत्ता से सब काम होते हैं, अतः उसे अनुपम यक्ष कहा गया है। मन ही प्रेरणा का स्रोत है। इनकी प्रेरणा से सारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कार्य होते हैं।[३२५]

यजुर्वेद में मन के तीन महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख है। ये हैं- प्रज्ञान (Cognition), चेतस (Recollection) और धृति (Retention)। साथ ही

---

३२३. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृष्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्व यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
- यजुर्वेद, ३४/२

३२४. मनो वै पाथ्यो वृषा। - यजुर्वेद, ११/३४; श. ब्रा., ६/४/२/४

३२५. यजुर्वेद, ३४/३

यह भी कहा गया है कि यह एक ज्योति है। इसके बिना संसार का कोई काम नहीं होता है। मन वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में व्याप्त है। तीनों काल मन की सीमा में आते हैं। मन के द्वारा तीनों कालों का दर्शन होता है। कोई ऐसा काल नहीं है, जिसके विषय में मन चिन्तन और मनन न कर सकता हो। मन में ही संसार का सारा ज्ञान और बुद्धि निहित है। इसमें ही चित्त अर्थात् प्रज्ञा शक्ति का समावेश है।[३२६] मन एक योग्य साथी है। वह इन्द्रिय रूपी घोड़ों को ठीक ढंग से नियंत्रित करता है। इसका निवास स्थान हृदय है। इसकी गति अद्वितीय है और इसमें असाधारण कार्यक्षमता है। अनेक मंत्रों में मन की तीव्र गति का उल्लेख है। मन को वायु के तुल्य तीव्रतम गतिवान बनाया गया है। मन की गति न केवल पृथ्वी तक ही है, अपितु यह अन्तरिक्ष और द्युलोक तक जाता है। मन चंचल है, अत: विशिष्ट कार्य के लिए उसको रोककर नियंत्रित करना आवश्यक है। मन ही वाक् तत्त्व का धारक है। वाक्तत्त्व में संसार का सारा ज्ञान निहित है, अत: मन ज्ञान मात्र का धारक और प्रेरक है।

मन का कार्य चिन्तन और संकल्प-विकल्प है। ऊहापोह, तर्क-वितर्क, गुण-दोष का विचार और विविध कल्पनाएँ मन के विषय हैं। अत: कहा गया है कि मन संकल्प करता है।[३२७] यजुर्वेद में भी मन के गुण काम (Desire) और आकूति(Intention, Will) बताए गए हैं।[३२८] ऋग्वेद में मन के दो गुणों का उल्लेख है। मन ज्ञान और कर्म का साधन है अत: उसे दक्ष अर्थात् ज्ञान युक्त और क्रतु तात्पर्य क्रियाशील कहा गया है।[३२९] मन ज्ञेय वस्तुओं को ग्रहण करता है, अत: ज्ञान का साधन है। वह उस ज्ञान के आधार पर तदनुकूल प्रेरणा देता है और कार्य करता है, अतएव वह प्रेरणा का स्रोत है। एक मंत्र में बुद्धि का कार्य बताया गया है कि वह मन को चेतना देती है। मन को प्रेरणा देना, उसे कार्यों में नियुक्त करना तथा ध्यान और एकाग्रता की क्षमता प्रदान करना बुद्धि का कार्य है।[३३०] अथर्ववेद

---

३२६. सुषारशिरश्वानिश्व यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु॥ -यजुर्वेद, ३४/६

३२७. अथर्ववेद, १२/४/३१

३२८. यजुर्वेद, ३९/४

३२९. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुल क्रतुम्।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदेरणन् गावो न यवसे विवक्षसे॥
- ऋग्वेद, १०/२५/१

३३०. ऋग्वेद, ८/९५/५

में प्रत्यक्षीकरण (Perception) की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। संवेदनाओं को ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं और मन के द्वारा इनका प्रत्यक्षीकरण होता है। अतः पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये ६ मिलाकर प्रत्यक्षीकरण का कार्य पूरा करते हैं।[३३१]

मन की विशेषताएँ

मन की अनन्त विशेषताएँ हैं। संसार का ऐसा कोई सुख-दुःख, हानि-लाभ, ज्ञान-विज्ञान, उद्योग, संघर्ष, द्वन्द्व, चिन्तन, कल्पना, अनुभूति और अभीष्ट लाभ नहीं है, जो मन के कार्य क्षेत्र में न आता हो। मन को सहस्त्रकिरण या असंख्य शक्ति कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। मन द्यावापृथिवी, लोक-परलोक, वर्तमान, भूत और भविष्य सभी को अपनी परिधि में रखता है। अतः वेदों में इसकी अनन्त शक्तियों का उल्लेख है।

अथर्ववेद का कथन है कि मन वशीकरण का साधन है। मन दूसरे के मन को आकृष्ट करता है, उसे वश में कर लेता है और इच्छानुसार उसे यथास्थान प्रवृत्त करता है।[३३२] मेस्मेरिज्म और हिप्नॉटिज्म मन के द्वारा वशीकरण के सफल प्रयोग हैं। साधना और तप के द्वारा मन की चुम्बकीय शक्ति को विकसित किया जाता है। शुद्ध एवं पवित्र मन की विशेषता बतायी गयी है कि इसके द्वारा तेजस्विता, समृद्धि और शारीरिक नीरोगता आदि प्राप्त की जाती है।[३३३] शारीरिक निरोगता का साधन मानस चिकित्सा है। मन की शुद्धि शरीर के मल और विक्षेपों को दूर करती है। मन संजीवनी शक्ति है। यह शक्ति निर्जीव को सजीव और अक्षम को सक्षम बना देती है। मन चेतना प्रदान करता है और कर्म में प्रवृत्त कराता है। इस प्रकार मन चेतना और प्रेरणा का मूल है।[३३४] मन की शक्तियों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मनोबल से मृत्यु को वश में किया जा सकता है। मरणासन्न को मृत्यु से बचाया जा सकता है। जिस प्रकार मोटी रस्सी से जूए को कसा जाता है, उसी प्रकार मन के द्वारा मृत्यु को भी कस कर वश में लिया जा सकता है।[३३५]

---

३३१. अथर्ववेद, १९/९/५

३३२. वही, ३/८/६, ६/९४/२

३३३. यजु., २/२४, ८/१४, अथर्व., ६/५३/३

३३४. आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ज्योक् च सूर्य दृशे।
- यजु., ३/५४

३३५. ऋग्वेद, १०/६०/८,१०

मन की पवित्रता, विचारों की शुद्धि और तपस्या को मुक्ति का साधन माना गया है।[३३६] मन यदि शुद्ध है तो मनुष्य जीवन मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। यदि वह अशुद्ध है तो मनुष्य सदा बन्धन ग्रस्त रहता है। अतएव कहा गया है- 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधनमोक्षयो:।'

विचारों की शुद्धता का फल बताया गया है कि इससे सारे मनोरथ सफल होते हैं। साथ ही यह भी बताया गया है कि विचारों की शुद्धता का एकमात्र साधन है- पापों से निवृत्ति, बुराइयों से बचना या कुकर्मों को छोड़ना।[३३७] मन की पवित्रता से पापों पर विजय प्राप्त की जाती है। मन की पवित्रता सभी प्रकार के युद्धों में विजय प्राप्ति का अमोघ साधन है। जैसा मनुष्य का हृदय होता है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि होती है। विचारों और भावनाओं की शुद्धि बुद्धि के परिष्कार का साधन है। अत: कहा गया है कि शुद्ध हृदय से बुद्धि परिष्कृत होती है।[३३८] अनेक मंत्रों में मनोबल या इच्छाशक्ति का महत्त्व वर्णन किया गया है। मनोबल वह शक्ति है, जिसे कोई दबा नहीं सकता है। यह अवर्णनीय है। मनोबल पहाड़ से अधिक शक्तिशाली है। दृढ़ निश्चय को पहाड़ भी नहीं रोक सकते हैं। मनोबल का यह महत्त्व है कि मनुष्य जीवन में कभी हारना नहीं जानता, सदा विजय लाभ करता है।[३३९] मनोबल वह शक्ति है, जिससे विश्वविजय की जाती है। एक मंत्र का कथन है कि मनोबल से द्युलोक और पृथ्वी को जीतता हूँ। मनोबल से युक्त व्यक्ति को चारों दिशाएँ प्रणाम करती हैं। सारी पृथ्वी उसके लिए सुख समृद्धि देती है।[३४०] मनोबल को काम या कामना शब्द से सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि वह अपनी सामर्थ्य से प्रतिष्ठित है। उसके लिए किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं है।

मनोबल का उपयोग जनहित या जन कल्याण के लिए भी होता है। जनहित के लिए मंत्र में नाराशंस शब्द का प्रयोग है। जनहितकारी मन का आह्वान किया गया है।[३४१] मनोबल एवं तीव्र संकल्प का फल बताया गया है कि मनुष्य जो कुछ चाहता है, वह उसे प्राप्त हो जाता है। उसके मनोरथ सिद्ध होते हैं। मन

---

३३६. अथर्व. ६/१२२/४

३३७. ऋग., १०/१२८/४, अथर्व., ५/३/४

३३८. ऋग., १०/११९/५

३३९. ऋग., १०/४८/५

३४०. अथर्व., ९/२/११

३४१. यजु., ३/५३, ऋग., १०/५७/३

अभीष्ट सिद्धि में रथ का काम करता है। मनोबल से असम्भव कार्यों को भी सम्भव बनाया जा सकता है। मनोबल शक्ति का स्रोत है।[३४२] मनोबल मनुष्य को अजेय बना देता है। मनोबल से पापी और आक्रामक को निष्प्रभाव बना दिया जाता है।[३४३]

इच्छाशक्ति के विविध उपयोग

वेदों में इच्छाशक्ति के लिए आकूति और काम शब्द मिलते हैं। इच्छा शक्ति का अनेक प्रकार से महत्त्व बताया गया है। इच्छाशक्ति सौभाग्य की देवी है। यह मन में रहती है। यह विचार और चिन्तन की जननी है। इसको आगे रखकर सभी महत्त्वपूर्ण कार्य किए जाते हैं। यह इच्छा शक्ति, ऐश्वर्य का स्रोत है। यही मनुष्य को सफलता दिलाकर समृद्ध करती है।[३४४] इच्छा शक्ति को मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अध्यक्ष या संचालक बताया गया है। इच्छाशक्ति को अभेद्य कवच बताया गया है। इसका संरक्षण सर्वोत्कृष्ट है। यह तीन प्रकार से रक्षा करती है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकार की विपत्तियों से यह मानव की रक्षा करती है। इसके द्वारा सभी विपत्तियों, कष्टों और शत्रुओं को जीता जाता है।[३४५]

यह कामना रूपी इच्छा शक्ति स्थावर जंगम और समुद्र आदि से भी महान् है। यही मानव मात्र की कामनाएँ पूर्ण करती हैं और अभीष्ट की साधक है।[३४६] इच्छाशक्ति से ही जीवन में श्रेष्ठता आती है। अतएव इसे 'काम ज्येष्ठाः' कहा गया है। इसको कामधेनु भी कहा जाता है। इच्छा शक्ति से विचार उद्‌बुद्ध होते हैं। संकल्प (विचार) की पुत्री इच्छा है। और इसका मन्यु (उत्साह) के साथ विवाह हुआ। संकल्प या विचारों से इच्छाशक्ति जन्म लेती है और वह उत्साह के साथ कार्य में प्रवृत्त होती है।[३४७]

विचारों का प्रभाव

विचार मानव को सदा प्रभावित करते रहते हैं। जीवन का निर्माण विचार

---

३४२. ऋग्., १०/११९/९
३४३. अथर्व., ५/६/१०
३४४. आकूत्या ने बृहस्पते, आकूत्या न उपा गहि।
अथो भगस्य नो धेहि-अथो नः सुहवो भव॥ - अथर्व., १९/४/३
३४५. अथर्व., ९/२/१६
३४६. अथर्व., १९/५२/५
३४७. अथर्व., ११/८/१

के अनुसार होता है। शुभ विचार उन्नति, विकास, प्रगति और दीर्घायु के साधन है तथा अशुभ विचार रोग, शोक, दैन्य और अल्पायु के कारण हैं।[३४८] शुभ विचार पाप भावना नष्ट करते हैं। जीवन में विजय दिलाते हैं और वृत्ररूपी पाप को नष्ट करके आत्मशक्ति को विजयी बनाते हैं। विचार शक्ति में ऊर्जा है, गति है, शक्ति है और प्रभावकता है। विचार शक्ति का उद्‌बोधन, सम्प्रेषण और संक्रमण सभी कुछ हो सकता है। इसमें अजेयता है, आकर्षक शक्ति है और दुर्गुणों के निरोध की क्षमता है। इसके आधार पर जीवन में समरसता और विषमता आती है।

विचार शक्ति का सम्प्रेषण होता है। भक्त की कामनाओं को अभीष्ट देव सुनते हैं और पूरा करते हैं। विचारों का संक्रमण होता है। अपने हृदय के विचार दूसरे के हृदय में संक्रमित किये जाते हैं।[३४९] विचारों में आकर्षण शक्ति है। दूसरे के भटके मन को लौटाकर लाया जा सकता है। विचारों की पवित्रता मनुष्य को अजेय बना देती है। दुर्जनों आदि के कटुप्रहार उस पर निष्प्रभाव हो जाते हैं।[३५०]

संकल्प शक्ति का महत्त्व

वेदों में संकल्पशक्ति का वर्णन काम शब्द के द्वारा हुआ है। संसार में सर्वप्रथम संकल्प शक्ति का आविर्भाव हुआ। उससे ही सारी सृष्टि बनी। संकल्प शक्ति मन का सार भाग है अतः उसे मन का रेतस् या वीर्य कहा गया है।[३५१] संकल्प शक्ति आग्नेय तत्त्व है, अतः इसे अग्नि कहा गया है।

वेदों में मनोबल या मनःशक्ति को क्षीण करने वाले कुछ तत्त्वों का उल्लेख है। इनमें मुख्य है- पाप भावना, ईर्ष्या और काम भावना। इनके निरोध से मनोबल पुष्ट होता है।

वैदिक चिन्तन की धारा

वेदों में मनोविज्ञान की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, उसका कुछ विकसित रूप ब्राह्मण और उपनिषदों में प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को

---

३४८. भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितंयदायुः॥
- यजु., २५/२९, ऋग.; १/८९/८,
साम.; १८/७४

३४९. अथर्व., १९/५२/४

३५०. ऋग., ७/१०४/८, अथर्व., ८/४/८

३५१. अथर्व., १९/५२/१

ब्रह्म कहा गया है।[३५२] मन सृष्टि का कर्त्ता है, अतः उसे ब्रह्म कहते हैं। इसी कर्तृत्व के आधार पर उसे प्रजापति या सृष्टि-निर्माता बताया गया है।[३५३] मन की शक्ति अनन्त है अतः उसे अनन्त और अपरिमित कहा गया है।[३५४] मन विचारों का भण्डार है, महानदी है और उसका प्रकाशन वाणी के द्वारा होता है, अतः वाणी को मन की नहर कहा है।[३५५] मन प्राणों का अधिपति है। मन के आदेशानुसार स्नायु मण्डल एवं रक्त प्रवाह का संचालन होता है। समस्त प्रत्यक्षीकरण का काम मन करता है। मन ही देखता है और मन ही सुनता है।[३५६] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मन के विभिन्न रूप है- काम (इच्छा), संकल्प, विचिकित्सा (ऊहापोह- सन्देह), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धैर्य), अधृति, द्वी (लज्जा), धी (ज्ञान), भी (भय, डर, आतंक)।[३५७]

इसी प्रकार उपनिषदों में मन के विविध गुण-धर्मों का वर्णन किया गया है। मन महान् शक्ति है, उसका सब पर अधिकार है, वह परमेश्वर-रूप है, अतः उसे सम्राट और परब्रह्म कहा गया है।[३५८] मन प्रकाशक और ज्योतिरूप है। वही ज्ञान का दाता है, अतः उसे ज्योति कहा गया है। मन चेतना रूप है। उपनिषद् का कथन है कि मनुष्य मनोमय है।[३५९] मनुष्य के मन का अध्ययन उसके व्यक्तित्व का अध्ययन है। उसकी इच्छाएँ, उसके संकल्प, उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। अतः उपनिषद् ने पुरुष को काममय या इच्छा स्वरूप कहा है। मन को शरीर में आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। मन में कर्त्तृत्व और निर्मातृत्व है, अतः वह आत्मरूप है। मन ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है।[३६०] वैदिक ऋषियों की इस मनोमयी कल्पना ने पदार्थ जगत् में भौतिकी आदि का स्वरूप निर्धारित किया।

---

३५२. मनोब्रह्म..। गोपथ, १/२/११
३५३. मनौ वै प्रजापतिः। तैत्ति., ३/७//१/२
३५४. अनन्तं वै मनः । शत., १४/६/१/११
मनो वा अपरिमितम। कौषी., २६/३
३५५. तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद्वाक्। जैमिनीय उप.ब्रा., १/५८/३
३५६. मनौ वै प्राणानाम अधिपति। शत., १४/३/२/३
३५७. शत., १४/४/३/९
३५८. मनौ वै सम्राट परंब्रह्म। वृहदा. उप., ४/१/६
३५९. अयं पुरुषो मनोमयः। तैत्ति. १/६/१, वृहदा. ५/६/१
३६०. मनसैवेदमाप्तव्यम्। कठ., २/१/११

❑ भौतिकी का स्वरूप

भौतिक विज्ञान में शक्ति के कार्य का अध्ययन होता है। साधारण गति, ताप, विद्युत, प्रकाश तथा शब्द सब एक दूसरे में परिवर्तनशील हैं। शक्ति विनष्ट नहीं होती उसका केवल स्वरूप बदलता है। इसे ही भौतिक विज्ञान कहते हैं। इसकी मूल स्थापना ऋग्वेद के दो स्थलों पर हुई है। एक सूक्त कहता है कथित शक्ति के प्रयोग में लाने के इच्छुक उस शक्ति को जो अक्षय है, अन्य शक्ति के रूप में परिवर्तित करें।[३६१] ये सम्पूर्ण शक्ति निश्चय बढ़ाती है, पदार्थों की शक्ति का समुद्र कभी क्षय नहीं होता।[३६२] यहाँ पर अश्व को शक्ति का द्योतक माना गया है। विज्ञान इसी को हार्सपावर कहता है। एक अन्य मंत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'मैंने यह यज्ञ रचाया है। उसमें निमंत्रित आप दो घोड़ों की शक्ति से युक्त यान के द्वारा आइये। छै, आठ, या दश घोड़ों की शक्ति वाले यान से आइये।'[३६३]

विमानों का वर्णन

ऋग्वेद के अनेक स्थलों में विमानों का वर्णन मिलता है।[३६४] अश्व शब्द का मूल यौगिक अर्थ होता है- तीव्र गति से मार्गतय करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाने वाला। विमानों में भी यह गुण होता है और इसलिए इन मंत्रों में विमान का अश्व कहा गया है। इनमें विमानों का स्पष्ट वर्णन है। मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है- 'हे अश्व! मैं इस पृथ्वी से उठकर दूर आकाश-मार्ग से उड़ते हुए तुम्हारे पक्षी रूपी शरीर को मन से जानता हूँ, बिना किसी बाधा के सुखपूर्वक संचार के योग्य धूल से रहित मार्गों से उड़ते हुए तुम्हारे पक्षी के सिर को मैने देखा है।' आगे कहा गया है- ' इसके शृंग सुवर्ण के अथवा सुवर्ण की भाँति चमकने वाले हैं, इसके पैर लोहे के हैं और उसका वेग मन की भाँति तीव्र है।' अगला मंत्र कहता है- 'जब ये अश्व बहुसंख्या में आकाश मार्ग से उड़ते हैं, तो पार्श्व की ओर फैले हुए, बीच भाग में संकुचित, तीव्रगति से चलने वाले और निरन्तर देर तक चलने वाले हंसों जैसे पंक्ति बांधकर चलते हैं।'

---

३६१. अया ते अग्ने विधेमोर्जो: नपादश्वमिष्टे एना सूक्तेन सुजात। ऋग., २/६/२

३६२. इमा हि त्वामूर्जो वद्धयन्ति वसूयवः सिन्धवोः न क्षरन्तः। ऋग., २/११/१

३६३. आ द्राभ्यां हरिभ्यामिन्द याहयाचतुर्भिरामिन्द षड्भिर्हयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपयेभयं सुतः सुमरव या मृधस्कः।
- ऋग्वेद, २/१८/४

३६४. ऋग्वेद, १/१६३/६,९,१०

ऋग्वेद की ऋचाओं से स्पष्ट होता हे कि वस्तुतः यहाँ घोड़े या हंस का वर्णन नहीं किया गया है। वरन् तीव्रगामी विमानों को सांकेतिक ढंग से प्रयोग किया गया है। विमान ही आकाश में उड़ सकता है। उसकी ही आकृति पक्षी जैसी होती है और उसी का शरीर लोहे आदि धातुओं से बना होता है। अश्व शब्द वेद में अन्यत्र कई स्थानों पर अश्वपशु के अर्थ में प्रयुक्त न होकर यंत्रकला से संचालित होने वाले विमान, रथ आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अश्व मार्ग को शीघ्र तय कर लेता है और इसलिए यंत्र संचालित विमान रथादि भी अश्व हैं, क्योंकि वे भी मार्ग को शीघ्र समाप्त कर लेते हैं।[३६५] महर्षि दयानन्द ने भी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के 'नौविमानादि विषय' प्रकरण में उद्धृत किया है कि जो व्यक्ति आकाश मार्ग से उड़ते हुए पक्षियों की गति को समझ लेता है वह आकश में चलने वाली नौका के सम्बन्ध में जान सकता है, अर्थात् उसके निर्माण और संचालन के रहस्य को समझ सकता है।[३६६] वर्तमान विमानों की तकनीकि भी पक्षियों के आकाश में उड़ने और उनके पंखों की बनावट के रहस्य की सूक्ष्मता से अध्ययन पर आधारित है।

विद्युतवाही रथ

ऋग्वेद में तीन स्थानों पर विद्युत से चलने वाले शीघ्र व द्रुतगामी रथों का उल्लेख हुआ है।[३६७] यहाँ निर्दिष्ट प्रथम मंत्र में अग्नि अर्थात् सम्राट का वर्णन है। इस वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि उसके रथ को चलाने के लिए रथ में विद्युत का प्रयोग होता है। दूसरे मंत्र में मरुतों अथवा सैनिकों का वर्णन है, जिसमें वर्णित है कि ऋष्टि आदि शस्त्रों से सुसज्जित उनके पास ऐसे रथ भी है जिनमें चलने के लिए विद्युत प्रयुक्त होती है। तीसरे मंत्र में भी मरुतों अर्थात् सैनिकों का जिक्र है। ये सैनिक विद्युत चालित रथों पर अपने ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्र रखकर चलते हैं।

ऋष्टि का सामान्य अर्थ दुधारी तलवार होता है। मंत्रों के अनुसार यह बिजली से चलने वाली बन्दूक के सदृश्य कोई आयुध प्रतीत होता है। ऋग्वेद के मंत्रों में उसे इस प्रकार कहा गया है-[३६८] १. ऋष्टियाँ कंधों पर रखी जाती

---

३६५. आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति- वेद और उसकी वैज्ञानिकता भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ ३३६

३६६. वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। ऋग., १/२५/७

३६७. ऋग., ३/१४/१, ३/५४/१३, १/८८/१

३६८. वही, १/३७/२, १/६४/८, १/१६८/५, ५/५२/६,१३, १/१८८/३, ५/६०/३

हैं, २. जब ये चलती हैं तो बड़ा भारी शब्द करती है, ३. इनमें विद्युत का प्रयोग होता है, ४. चलने के समय इनकी विद्युत् ध्वनि करती है और उसमें से प्रकाश निकलता हैं। इससे पता चलता है कि ऋष्टि तलवार नहीं अपितु यह बन्दूक के समान विद्युत् चालित शस्त्र है।

शत्रु संहारकारी सीसे की गोली

अथर्ववेद में[३६९] सीसे द्वारा शत्रु को बींधने का वर्णन है। सीसे की गोली बनाकर ही सीसे द्वारा दुश्मन को प्रहार किया जा सकता है। इस प्रकार इस मंत्र में स्पष्ट गोली नामक अस्त्र बनाने का निर्देश है।

महासंहारकारी अस्त्र- वज्र

वेद में पचासों स्थान पर वज्र शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्द्र के साथ इसका इतना सम्बन्ध है कि इन्द्र को ही वज्री और वज्रभृत कहा गया है। वज्र को महासंहारकारी अस्त्र बताया गया है। उसे 'सहस्त्रभृष्टि'[३७०] कहा गया है। जिसका अर्थ है कि वह एक प्रहार में हजारों शत्रुओं को भून डालता है। यह लोहे की प्राचीरवाली नगरियों को भी नष्ट कर सकता है।[३७१] वज्र का मुख्य घटक धातु लोहा बताया गया है। वेद में वज्र के आयस[३७२] अर्थात् लोहे से बनाया जाने वाले अस्त्र का निरुपण है। इसके साथ हिरण्य शब्द का प्रयोग करने पर वज्र का विशेषण तेजोमय एवं लक्ष्यभेदी हो जाता है। वज्र पुरुधा अर्थात् अनेक प्रकार से बनाया जाता है।[३७३] अर्थात् वज्र सौ मुखों वाले तथा आवश्यकतानुरूप छोटे-बड़े भी निर्मित किया जा सकता है। वेद में इस प्रकार के वज्रों का उल्लेख भी मिलता है, जिनसे भूमि खोदी जा सके और शिलाएँ काटी का सके।

मद्गु (पनडुब्बी) का वर्णन

पानी के भीतर चलने वाले जलयान का वर्णन ऋग्वेद में आया है 'ये मरुत कभी तो शुन्ध्यु अर्थात् मद्गु पक्षी की तरह कुटिलगामिनी नदी में छिपकर रहते हैं। और कभी अपने रथों की पवि के ओज से पर्वतों को तोड़

---

३६९. अथर्ववेद, १/१६/४

३७०. ऋग., १/८०/१३, १/८५/९, ५/१७/१०, अथर्व., १९/६६/१

३७१. ऋग., २/२०/८

३७२. वही, १/८०/१२, १०/९६/१४, १०/४८/३

३७३. अयं यो वज्रः पुरुधाः विवृत्तः। ऋग., १०/२७/२९

गिराते हैं।'[३७४] मद्‌गु एक उदकचर पक्षी होता है जो जल में डुबकी लगाकर भीतर ही भीतर चलता रहता है। सैनिकों को मद्‌गु पक्षी से उपमा देकर कहा गया है कि वे बड़ी-बड़ी कुटिलगामिनी नदियों में पानी के भीतर छिपे रहते हैं। यजुर्वेद में भी इसी से सम्बन्धित एक मंत्र है 'प्लव, मद्‌गु पक्षी और मछली, ये तीन नदीपति अर्थात् समुद्र में संचार के लिए हैं।'[३७५] इसी अध्याय के आगे के मंत्रों में 'उक्ता: सन्चरा एते' ऐसा कहकर स्वयं वेद ने ही स्पष्ट कर दिया है कि इन्हीं पक्षियों आदि को देखकर जल में संचार के साधन आविष्कृत किए गये हैं। संस्कृत में 'प्लव' का तात्पर्य जहाज होता है। अत: प्लव नामक जलचर पक्षी को देखकर साधारण जहाज बनाये गये। इस प्रकार भौतिकी के विभिन्न स्वरूपों के पश्चात् शिल्प कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

वैदिक युगीन शिल्प

वैदिक युग में विविध शिल्पों का विकास हो चुका था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि कभी-कभी एक परिवार के अनेक सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय अपनाते थे जैसे पुत्र शिल्पी का, पिता वैद्य का तथा माता उपले पाथने का। वैदिक मंत्रों में अनेक धातुओं का प्राय: उल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि धातु उद्योग का प्रारम्भ हो चुका था। युद्ध के हथियारों के अलावा भी कृषि के अनेक उपकरणों के निर्माण में भी विभिन्न धातुओं का उपयोग होता था। अयस को लाल वर्ण का धातु होने के कारण ताम्बे का पर्यायवाची माना जाता है। ऋग्वेद में लोहार के लिए संभवत: 'कर्मार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ताम्र का उपयोग शल्य क्रिया द्वारा कृत्रिम टांग के निर्माणार्थ भी होता था। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पात्रों के निर्माण किये जाने की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता। यजुर्वेद में उल्लिखित, सुराधानी, स्थाली आदि पात्र धातु से ही बने थे। अन्य धातुओं में सुवर्ण, हिरण्य तथा निष्क का वेदों में प्राय: वर्णन मिलता है। हिरण्य से उस काल में आभूषण बनते थे।[३७६]

वैदिक काल का एक अन्य महत्त्वपूर्ण शिल्प तक्षा (बढ़ई) का था। तक्षा

---

३७४. उतस्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यव:।
उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्यो जसा॥
- ऋग., ५/५२/९

३७५. प्लवो मद्‌गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये। - यजु., २४/३४

३७६. महेश चन्द्र जोशी- युग-युगीन भारतीय कला, पृष्ठ ५३

अथवा त्वष्ट्र काष्टकर्म से सम्बन्ध शिल्पी था। वह लकड़ी से विभिन्न प्रकार के लोकोपयोगी उपकरण बनाता था। ऋग्वेद में बढ़ई व्यवसाय का उल्लेख हुआ है। बढ़ई स्वधिति (बसूला या कुल्हाड़ी) की सहायता से लकड़ी को सुन्दर आकृति में परिवर्तित करता था। भृगुवंशियों की प्रतिष्ठा ऋग्वेद में रथकार के रूप में थी। यजुर्वेद में लोहार कुम्हार आदि जिन विविध शिल्पकारों को अभिवादन किया गया है, उनमें तक्षक और रथकार भी सम्मिलित हैं।[३७७] ऋग्वेद के एक मंत्र में रथ के साथ-साथ अनस शब्द प्रयुक्त हुआ है।[३७८] अनस के प्रयोग का संदर्भ शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है। यह संभवतः एक ऐसा स्थूल वाहन था जो अपेक्षया उबड़-खाबड़ मार्ग पर भी चलाया जा सकता था। उन दिनों रथ एक उन्नत शिल्प का नमूना था। वैदिक साहित्य में रथ के विभिन्न अनुभागों यथा अक्ष (धुरा), चक्र (नहिसर), अर (पहिये के डण्डे) आदि का बारम्बार प्रयोग हुआ है। इसके अलावा विविध प्रकार की चौकियाँ तथा आसन्दियाँ भी बनते थे। यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में इस बात की पुष्टि होती है। ऋग्वेद के एक मंत्र में वरुण द्वारा समुद्र के बीच में ले जाई गई नौका का जिक्र है। नौका अनेक प्रकार की होती थी। इनका निर्माण बढ़ई द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में एक सौ चप्पू वाली नाव का वर्णन हुआ है।[३७९]

वैदिक काल में उद्योगों की श्रृंखला में वस्त्र बुनाई उद्योग भी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। वेदों में बुनाई की कला से सम्बन्धित अनेक शब्द मिलते हैं यथा ताना, बाना, करघा, वयन (बुनाई), सुची (सुई), कौश (रेशमी), तसर (दरकी) आदि। इसमें ऊन और ऊन से बने वस्त्र का भी उल्लेख हुआ है। बुनाई का कार्य कलात्मक शिल्प की श्रेणी में रखा जाता था। आर्य इस शिल्प कला से परिचित थे। वैदिक काल में चमड़ों का उद्योग भी प्रचलित था। अथर्ववेद में हिरन के चमड़े (अजिन) का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के चमड़े का उपयोग प्रायः वैदिक युगीन परिव्राजकों एवं वानप्रस्थियों द्वारा किया जाता रहा होगा। शतपथ ब्राह्मण में चर्म के वस्त्र को 'अजिन वास' कहा गया है। चर्म से जूते बनाने का कार्य भी किया जाता था। सुअर की खाल से कमाये गये चमड़े द्वारा पैर के लिए जूते बनाये जाते थे। इस प्रकार के वराह चर्म से निर्मित जूतों का 'उपानहों' के रूप में शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। उन दिनों धनुषबाण

---

३७७. यजुर्वेद, १६/२७
३७८. ऋग्वेद, ८/९१/७
३७९. वही, १/११६/३-५

तथा प्रत्यंचा बनाने का भी विकसित उद्योग था। प्रत्यंचा बनाने वाला ज्याकार और कवच के निर्माता को वर्मकार कहा जाता था।[३८०] वैदिक काल में शिल्प कला के पश्चात् वास्तुकला का प्रादुर्भाव देखा जा सकता है।

❑ वैदिक वास्तु

ऋग्वेद में स्थापत्य सम्बन्धी विविध उल्लेख मिलते हैं। आर्यों को भवन-निर्माण की अच्छी जानकारी थी। ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं जो स्थापत्य के विविध अंगों पर प्रकाश डालते हैं। विशेषतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भवन विन्यास की उत्कृष्टतम् परम्परा की जानकारी मिलती है। वैदिक वाङ्मय में विश्वकर्मा को सर्वप्रथम सृष्टि रचनाकार माना गया है। यह विश्व जिसका कर्म है, उसे विश्वकर्मा कहा गया और उसके आधार पर प्रजापति के विश्वकर्मा रूप की कल्पना की गई और उसी आधार पर भवनों को रचने वाले को 'भौम विश्वकर्मा' कहा गया। इसी कला का साकार रूप वैदिक कालीन भवन निर्माण काल में देखा गया।

वैदिक भवनों के तीन मुख्य अंग थे। पहला भाग गृह-द्वार था, जिसमें सामने का आंगन या अजिर भी सम्मिलित था। दूसरा अंग बैठक थी, जिसके नाम 'सभा' तथा बाद में 'आस्थान मण्डप' मिलते हैं। यहीं आगन्तुकों का स्वागत किया जाता था। तीसरा भाग 'पत्नी सदन' था, जिसे अंतःपुर कहा जाता था। आर्य लोक अग्नि-आधान हेतु भवन में एक कक्ष या आच्छादित स्थान को 'अग्निशाला' के रूप में रखते थे। विहित श्रौत कर्मों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था। बड़े प्रासादों में इस पवित्र स्थान को 'देवगृह' कहा जाने लगा। कालान्तर में भी इसका उपयोग पूजा के कमरे के रूप में होता रहा। सौन्दर्य बोध वैदिक आर्यों में विद्यमान था। ऋग्वेद[३८१] में 'मान' तथा 'वसिष्ठ' नामक दो ऋषियों की घड़े से उत्पत्ति की कथा आती है। सायण ने 'मान' को कुम्भज (अगस्त्य) का ही दूसरा नाम माना है। बाद के वास्तु-शास्त्रकोश ने अगस्त्य को वास्तुविद्या का आचार्य कहा है। 'मान' का अर्थ मापन है। हो सकता है कि अगस्त्य का सम्बन्ध वैदिककालीन वास्तुकला से रहा हो।[३८२]

---

३८०. महेश चन्द्र जोशी- युग-युगीन भारतीय कला, पृष्ठ ५४-५५

३८१. ऋग्वेद, ७/३३/१३

३८२. Tarapad Bhattacharya - A study on VastuVidya, p. 13

ऋग्वेद में कई स्थलों पर 'वास्तोस्पति' नामक देवता का उल्लेख है।[३८३] गृह निर्माण के पूर्व इस देवता का आवाहन किया जाता था। एक स्थान पर वास्तोस्पति तथा इन्द्र तथा अन्यत्र वास्तोस्पति तथा त्वष्ट्रा को एक ही माना गया है। भवन निर्माण में प्राय: बांसों, लकड़ी, घास-फूस तथा पत्तों का प्रयोग किया जाता था। धीरे-धीरे ईटों का प्रयोग भी किया जाने लगा। दुर्गों के निर्माण में पत्थर तथा धातु के उपयोग का पता ऋग्वेद के आर्यों को था।

ग्राम

ग्राम शब्द ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में बहुत मिलता है। 'ग्राम' वर्तमान गाँव का द्योतक है। कुछ वैदिक ग्राम एक दूसरे के निकट थे।[३८४] कुछ दूर-दूर बसे तथा सड़कों के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित थे।[३८५] गांव प्राय: खुले हुए होते थे। ग्राम बसाते समय शुद्ध जल और वायु का ध्यान रखा जाता था। बड़े ग्रामों को 'महाग्राम' कहते थे।[३८६] हैवेल के मतानुसार ये ग्राम आयताकार होते थे तथा उनके चारों ओर एक-एक द्वार होता था।[३८७] पर्सी ब्राउन का अनुमान है कि वैदिक ग्रामों के चारों ओर लकड़ी की बाड़ बनायी जाती थी। बाड़ के चारों ओर एक या अधिक तोरण (द्वार) भी बनाये जाते थे।

पुर

'पुर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[३८८] तथा ब्राह्मण[३८९] ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह शब्द नगर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक वाङ्मय में पुर का प्रयोग दुर्ग, गढ़, या प्राकार के लिए भी हुआ है।[३९०] ऋग्वेद में पुर पर घेरा डालने तथा उन्हें विनष्ट करने के उल्लेख मिलते हैं। प्रतीत होता है कि उस युग में पुरों की संख्या अधिक रही होगी। उनकी रचना सुगमता से कर ली जाती होगी। प्रारम्भ में पुर मिट्टी के बनाये जाते रहे होंगे। ऋग्वेद में

---

३८३. ऋग्वेद, ७/५४-५५, ८/१७/१४
३८४. शतपथ ब्राह्मण, १३/२/४/२
३८५. छान्दोग्य उ., ८/६/२
३८६. Mcdonal and Kith- Vedic Index, pp.244-245
३८७. Havel- The History of Aryan rule in India, pp. 23-24
३८८. ऋग्वेद, १/५३/७, ९५८/८, १/१३१/४
३८९. तैत्ति., १/७/७/५, ऐतरेय, १/२३, २/११
३९०. Mcdonal and Kith- Vedic Index, p. 538

दीवालों वाले पुरों का वर्णन प्राप्त होता है।[३९१] कुछ पुर आकार में बड़े होते थे। ऋग्वेद में एक पुर को चौड़ा या विस्तृत दर्शाया गया है। इसमें पत्थर के बने पुरों (अश्ममयी पुर) का जिक्र भी हुआ है। कुछ में धातुओं का प्रयोग होता था। एक स्थान पर पशुओं से युक्त (गोमती) पुर का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि पशुओं के समूह को एक स्थान पर बांधने की व्यवस्था भी इन पुरों के भीतर थी। मैकडानल तथा कीथ का यह विचार है कि वैदिक पुर मुख्यतः बाह्य आक्रमणों से रक्षा के साधन थे। वे खाई तथा शंकु आदि से सुरक्षित और कड़ी मिट्टी के प्राचीरों से युक्त होते थे।

गृह

ऋग्वेद में 'गृह' शब्द निवास अथवा घर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[३९२] अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में यह शब्द मिलता है।[३९३] 'दम' 'पस्त्या' तथा 'हर्म्य' शब्दों का प्रयोग घर तथा उससे सम्बन्धित पारिवारिक सम्पत्ति के अर्थ में हुआ है। वैदिककालीन कुछ गृहों में अनेक कमरे होते थे। घरों की सुरक्षा हेतु बंद भी किया जा सकता था।[३९४] अथर्ववेद में एक स्थान पर गृह की उपमा अलंकृत हथिनी से दी गयी है।[३९५] हथिनी के पीठ की तरह वैदिक घरों की छते ढोलाकार होती थीं। घरों की बाहरी तथा भीतरी दीवारों पर विविध प्रकार के आकर्षक चित्र बनाये जाते थे। सुन्दर घर की तुलना सुसज्जित वधु से की गयी है।[३९६] घर को पवित्रता, समृद्धि, सौन्दर्य तथा आनन्द का केन्द्र माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में घर के विभिन्न कक्षों का रोचक एवं सुन्दर वर्णन मिलता है।[३९७] ऋग्वेद में निवास स्थानों तथा उसके विविध उपांगों के लिए लगभग तीस शब्दों का प्रयोग हुआ है। छत के लिए 'छरढी', द्वार हेतु 'दुरोण' तथा 'दुर्यसु' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। कई स्थानों पर गृहों के लिए 'पृथु' 'साम्प्राव्य' 'मोही' 'वृहत्' 'ऊरु' 'दीर्घ' 'गभीर' जैसे विशेषणों से अलंकृत किया गया है। वरुण के गृह को अत्यन्त विस्तृत एवं सहस्र द्वारों वाला कहा गया है।[३९८] त्रिधातु का अर्थ तीन

---

३९१. ऋग्वेद, १/१६६/८, ७/१५/१४

३९२. वही, ३/५३/६, ४/४९/६, ८/१०/९

३९३. अथर्व., ७/८३/१, १०/६/४, ऐतरेय, ८/२९

३९४. ऋग., ७/८५/६

३९५. अथर्व. ९/३/१७

३९६. वही, ९/३/२४

३९७. शतपथ, ३/५/१/११

३९८. ऋग्वेद, ७/८८/५

मंजिलों वाला अथवा मानव शरीर के तीन तत्त्व हैं। एक अन्य स्थान पर सायण ने 'त्रिधातु का तात्पर्य तीन स्थानों पर निवास बताया है।[३९९]

वैदिककालीन कुछ भवन इतने बड़े होते थे कि उनमें संयुक्त परिवार के लोग रह सकते थे। कुछ मकान कई मंजिलों वाले होते थे। मुख्य भवन से जुड़ा या उसके समीप पशुओं के लिए बाड़ा (गोष्ठ) होता था। अथर्ववेद में 'पत्नीनां-सदन' का उल्लेख है, जिससे गृहों में स्त्रियों के विशेष कक्ष का बोध होता था। घरों की नींव बहुत दृढ़ (ध्रुव) बनायी जाती थी। दीवालों के ऊपर पहले कोरे बांस आड़े-तिरछे बिछा दिये जाते थे। उनके ऊपर चीरे हुए बांसों को रखा जाता था। फिर मजबूत रस्सियों से वे कस दिये जाते थे। जिससे छत पर की बिछावन हिले-डुले नहीं। बांसों की यह बिछावन 'आयाम' कहलाती थी। उस पर तृण तथा पत्तों की तहें बिछायी जाती थीं। इन तहों को 'वर्हण' कहते थे। पर्सी ब्राउन के अनुसार वैदिक गृह झोपड़ियों या पर्णशालाओं के रूप में थे। इसका आकार गोल रहा होगा। उनकी दीवालें गोल थी। इन गोल दीवालों के ऊपर पत्तों की सहायता से गुम्बदाकार छत बनायी जाती थी। बाद में इनका स्वरूप अण्डाकार बना। इसके पश्चात् तीन-चार झोपड़ियों को पास-पास बनाकर उनके बीच एक आंगन सा निकाला जाने लगा। उनकी छत क्रमशः लकड़ी के तखतों या खपरैलों की बनाई जाने लगी। गृह निर्माण सुन्दर होने लगा। घरों की दीवालें प्रायः कच्ची ईंटों की बनायी जाती थी। उनमें चौकोर दरवाजे भी बनाये जाने लगे और दो किवाड़ों के लगाने का भी प्रचलन हुआ। ढोल के आकार की छतों से ही आगे चलकर 'अश्वनाल' आकार वाले चाप का विकास हुआ।[४००]

वैदिक वाङ्मय में कला विषयक अन्य संदर्भ

वेदों में जन जीवन के बहुआयामी स्वरूप का दिग्दर्शन मिलता है। वैदिक युग में स्थापत्य, चित्र एवं मूर्तिकला के क्षेत्र में प्रगति का क्रम अनअवरुद्ध था। उन दिनों कला के सूक्ष्म तथा व्यापक सूत्रों का शिलान्यास हो चुका था। समाधियों या टीलों पर प्रतिमायुक्त वेदों में 'यूप' शब्द खम्भों के लिए मिलते हैं। यूप को भूमि पर खड़ा करने के पूर्व उसकी स्तुति में कुछ मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों में यूपों की ऊँचाई आदि के विषय में उल्लेख मिलते हैं। एक

---

३९९. Tarapad Bhattacharya- A study on Vastu-Vidya, pp.97-18
४००. Persi Brown- Indian Architecture, p. 3-4

से अधिक यूप को पंक्तिबद्ध स्थापित किया जाता था। इसके ऊपर पुष्पमालाएँ टांगी जाती थी। इसमें आठ पहल वाले यूपों का वर्णन है। यूप का जो भाग भूमि के अन्दर गड़ा होता है वह पितरों का होता है। भूमि के ऊपर मेखला तक का भाग मनुष्यों का, मेखला वाला भाग पौधों का, मेखला के ऊपर एवं शीर्ष के नीचे का भाग सभी देवताओं का होता है।[४०१] इस प्रकार की मान्यता ने स्तम्भों पर पितरों, मनुष्यों, पौधों, देवताओं आदि के चित्र या प्रतीकों को उत्कीर्ण करने की प्रथा को जन्म दिया होगा।

इस प्रकार आर्यों ने अनेक प्रकार के देवी-देवताओं का सृजन किया। उनके द्वारा उन्होंने दृष्टि विषयक विश्व के अनेक रूपों को चिह्नयुक्त करने का प्रयत्न किया। कलाकारों ने इन प्रतिमाओं को पूजा करने के लिए काष्ठ एवं प्रस्तर में रूप दे दिया। वेदों में इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, रुद्र, विष्णु आदि देवताओं की पूजा अर्चना पद्धति, उनके मानवीय आकारों की परिकल्पना उनके आयुधों, चिह्नों, युद्धक एवं विनाशक क्षमताओं, उपलब्धियों, अपेक्षित वरदान देने की सामर्थ्य आदि का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि देवताओं की प्रतिमाएँ निर्मित होती थी। मैकडानल तथा वृन्दावन भट्टाचार्य ने वैदिक युग में मूर्तियों के अस्तित्व वाले मत का समर्थन किया है।[४०२] कई स्थानों पर विशाल सुनहरी द्वार देवियों का यज्ञ शालाओं की चौखट पर अंकित अलंकृत नारी आकृतियों के रूप में उल्लेख हुआ है। यज्ञशालाओं के द्वारों पर स्वर्णांकित इन देवी आकृतियों को पाणिनि ने प्रतिकृति कहा है। ऋग्वेद में चर्म पर अग्निदेव का चित्र अंकित किये जाने का भी सन्दर्भ मिलता है।[४०३] ऋग्वेद के अन्तिम दो मण्डलों में ऋषियों द्वारा उषा देवी और रात्रिदेवी की श्रीयुक्त उज्जवल आकृति को देखे जाने का विवरण है। सम्भवतः ऋषियों ने इनके प्रतीक चित्र निर्मित किये थे। वस्तुतः वैदिक साहित्य में कला के प्रतीकात्मक प्रतिमानों के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति एवं आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग सुझाया गया है। कला को सृष्टि का पर्याय मानकर ईश्वर की 'सत्यं शिवं सुन्दरम' नामक चिरन्तन विभूतियों का उसमें समावेश किया गया है। कला के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टि से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण सृष्टि अमूर्त ब्रह्म की एक कृति है, अभिव्यक्ति है। इसी अभिव्यक्ति में वैदिक संगीत की सुर लहरी लहरायी।

---

४०१. कृष्ण यजुर्वेद, ६/३/४

४०२. रायकृष्ण दास- भारतीय मूर्तिकला, पृष्ठ १९-२०

४०३. गैरोला- भारतीय चित्रकला, पृष्ठ ८१

वैदिक संगीत की स्वर लहरी

वैदिक ऋषियों की सहस्त्रों वर्ष की साधना, तपस्या के परिणाम स्वरूप ही संगीत उच्चस्तरीय कला की अवस्था को प्राप्त किया। संगीत मानव के लिए नैसर्गिक वस्तु है। संगीत वह सुन्दर सुरभि, सरस पद्म है जो बिना स्वर्ग के प्राणदायक, शीतल ओषकण के खिलता ही नहीं। वैदिक ऋषियों का यह विश्वास है कि शंकर के डमरु से वर्ण और स्वर दोनों उत्पन्न हुए। ब्रह्मा भी संगीत के प्रेरक के रूप में स्मरण किये गये हैं। ब्रह्मा के मूल में ही शब्द या नाद है। संगीत कला के रूप में दैवी प्रेरणा से मानव में उद्‌भुत हुआ और इस कला का आदि रूप गीत या गान था। वैदिक काल में सबसे प्राचीन, नियमित और सुसम्बद्ध संगीत मिलता है।

❑ ऋग्वेद में संगीत

संगीत का मुख्य सम्बन्ध सामवेद से है, किन्तु ऋग्वेद में भी संगीत का समावेश हुआ है। ऋग्वेद में स्वर के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद पाये जाते हैं। संगीत में स्वरों की संख्या सात मानी गयी है। वैदिक काल में इन स्वरों की संज्ञाएँ इस प्रकार थी- कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य। आगे चलकर संगीत के स्वरों को षड्‌ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषादनाम दिया गया। उदात्त, अनुदात्त स्वरों की विशेष उच्चारण विधि है। इसलिए इन्हें अच अर्थात् स्वरों का वर्णधर्म कहा है। ये सापेक्ष हैं। समान स्थान में ऊँचे उच्चारण को उदात्त, नीचे उच्चारण को अनुदात्त और जिसमें दोनों का समाहार हो जाता. है उसे स्वरित कहते हैं।[४०४]

उदात्तादि स्वर धर्मों पर मैकडानल ने कहा है 'वैदिक स्वर धर्म यूनानी भाषा के स्वर धर्म की तरह संगीतमय था क्योंकि वह मुख्यतः स्वर की तारता पर अवलम्बित था।'[४०५] फाल्स स्ट्रैंगवेज के अनुसार ऋग्वेद का तीन स्वरों में सर्वदा पाठ होता आया है उसका उदात्त इत्यादि वर्णधर्म पहले संगीतमय तारता

---

४०४. डॉ. ठाकुर जयदेव सिंह- भारतीय संगीत का इतिहास, पृष्ठ १८

४०५. The Vedic like ancient Greek, accent was a musical one, depending mainly on pitch, as is indicated both by its not affecting the rhythm of meter, and by the name of the chief tone, udatta, raised. - Mcdonal - A Vedic Grammar for students. p. 448

का द्योतक था।[४०६] कुर्ट साख्स का भी यही मत है कि यह वर्ण धर्म तारता (Pitch) का द्योतक है, आघात का नहीं।[४०७] अनोल्ड वाके की भी यही धारणा है 'ऋग्वेद के मंत्रों के गुंजन का विशिष्ट सांगीतिक महत्त्व है, क्योंकि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये वर्णधर्म तारता के विशेष भेद को व्यक्त करते हैं।'[४०८] इस तरह वैदिक मंत्रों का सस्वर पाठ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित वर्णधर्मों के कारण संगीतमय लगता है।

अथर्व प्रतिशाख्य में लिखा है 'एक ही स्थान में ऊँचा स्वर उदात्त होता है, नीचा अनुदात्त होता है, आक्षिप्त (गिरता हुआ) स्वर स्वरित होता है। स्वरित की पहली आधी मात्रा उदात्त होती है। स्वरित में उदात्त और अनुदात्त धर्मों का समाहार होता है।'[४०९] इसका स्पष्टीकरण तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने इस प्रकार किया है- 'स्वरित में उदात्तानुदात्त दोनों वर्णधर्मों का समाहार होता है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के अतिरिक्त एकश्रुति, प्रचय, तानस्वर, प्रावचन स्वर इत्यादि भेद भी हैं। स्वरित के ही नौ भेद मिलते हैं- १. संहितज, २. जात्य, ३. अभिनिहित, ४. क्षैप्र, ५. प्रश्लिष्ट, ६. तैरोव्यंजन, ७. वैवृत अथवा पादवृत्त, ८. तैरोविशम, ९. प्रतिहित। इससे पता चलता है ऋग्वेद संगीत का ग्रंथ नहीं होने के बावजूद इन स्वरों से उसका पाठ मधुर, संगीतमय लगता है।

ऋग्वेद का स्वरांकन

ऋग्वेद का स्वरांकन संसार का सबसे प्राचीन स्वरांकन है। वेद के स्वरांकन के कई प्रकार थे। ऋग्वेद में एतद्देश्यीय स्वरों के कुछ संकेत मिलते हैं। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी उक्त स्वरों के चिह्नों में भेद हैं। वेद मंत्र दो प्रकार

---

४०६. The Rgveda is recited now, as it has always been, to three tones for the accent was originally a mark of musical pitch ....,
- Fox Strangways- Music of Hindustan, p. 246

४०७. Kurt Sachs - The Rise of Music in the Ancient World. p. 158

४०८. The way of chanting the Rgvedic hymns has definite musical importance, as the three accents employed, the Uddatta, the Anudatta and the Svaritra, denote a distinct difference in pitch. - In The new Oxford History of Music, Articles of Annold Bake.
- The Music of India, p. 200

४०९. समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम् नीचैरनुदात्तम् अक्षिप्तं स्वरितम् स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम्।
- अथर्व प्रतिशाख्य- १/१४-१७

के हैं- निर्भुज और प्रतृण।[४१०] सायण ने उपयुक्त कथन का अपने भाष्य में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है- 'जो उच्चारण संधि अर्थात् पूर्व और उत्तर के दोनों पदों के अत्यन्त सन्निकर्ष का विशेष रूप से सम्पादन करता है वह 'निर्भुज' का रूप है।' निर्दिष्ट किया गया है भुजा के समान पूर्व और उत्तर शब्द जिस संहिता रूप उच्चारण में है वह उच्चारण निर्भुज कहलाता है। आरण्यक की उक्ति में जो 'अथ' शब्द आया है, वह पूर्व से विलक्षणता बतलाने के लिए है। जो पहले और बाद के दोनों अक्षरों को शुद्ध अर्थात् विकार-रहित रखकर उनका स्पष्ट उच्चारण करता है वह प्रतृण कहलाता है। प्रतृण शब्द से विच्छिन्न अर्थात् स्वतंत्र पद समझना चाहिए।

जिस अक्षर के नीचे पड़ी रेखा हो उसे अनुदात्त समझना चाहिए- अ॒ग्निमी॑ले पु॒रोहि॑तम् ....। यहाँ अ और पु का उच्चारण अनुदात्त है। खड़ी रेखा स्वरित होता है। जैसे मी और हि।

जिससे पूर्व कोई स्वर न हो अथवा जिसके पूर्व में अनुदात्त हो ऐसा चिह्न रहित अक्षर उदात्त होता है यथा- अग्रे में जो 'अ' है उससे पूर्व कोई स्वर नहीं है। इन्हीं तीन स्वरों के द्वारा वेद का पाठ गानप्राय बन जाता है।

ऋग्वेद में संगीत विषयक सामग्री

ऋग्वेद में सबसे प्रसिद्ध तार का वाद्य बाण अथवा वाण था। यह वीणा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। 'वाणस्य सप्तधातुः'[४११] में वाण इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में और भी कई स्थानों में 'वाण' शब्द इसी अर्थ में आया है। 'दानवीर मरुतों ने वाण बजाते हुए, सोम से मस्त होकर (यजमानों को) रम्य दान दिये।'[४१२] 'वाण शब्द का अर्थ सायण ने बतलाया है- सौ तारों से युक्त वीणा विशेष।' इससे पता चलता है कि वेदकाल में वीणा शब्द नहीं मिलता, वाण या बाण शब्द प्राप्त होता है। इस तंत्री वाद्य के कई प्रकार थे। इसमें सात से लेकर सौ तार होते थे। उदुम्बर या गूलर की लकड़ी का कोष्ठ बनाकर उस पर लाल बैल का चमड़ा मढ़ा जाता था। कोष्ठ के अधःस्थल में दस छेद किए जाते थे। इसमें दस-दस कुशों का बनाया हुआ तार डाला जाता था। इस तरह प्रायः सौ कुश या मूंज के तारों का वाण वाद्य बनता था।[४१३]

---

४१०. ऐतरेयाण्यक, ३/१/३
४११. ऋग्वेद, १०/३२/४
४१२. वही, १/८५/१०
४१३. प्रो. कृष्णराव गणेश मूले- भारतीय संगीत, पृष्ठ ४३-४४

दूसरा तंत्री वाद्य जो वेदों में मिलता है वह कर्करि। ऋग्वेद[४१४] के एक मंत्र में कर्करि शब्द का अर्थ सायण, मोनियर, विलियम्स्, विल्सन, आपटे इत्यादि ने तंत्री वाद्य ही लिया है। ऋग्वेद में अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए) दुंदुभी वाद्यों का उल्लेख आया है।[४१५] अथर्व वेद[४१६] में भी इसका वर्णन है। दुंदुभि मिट्टी, कांसे और ताम्बे की बनी होती थी। वह चमड़े से मढ़ी हुई होती थी। हरिन के सींग या लकड़ी से बनाई जाती थी। यह संग्राम, उत्सव, मंगल अथवा जयघोष के लिए बजाई जाती थी। धातु या लकड़ी का वाद्य जो आघात से बजता है, घनवाद्य कहलाता है। जैसे झांझ, घण्टा, मंजीरा इत्यादि। ऋग्वेद में आद्यादि नामक घनवाद्य का प्रयोग आया है।[४१७] 'जब चिंचिक वृषारव के प्रत्युत्तर में बोलता है, तब अख्यानी अघाटि की भाँति ध्वनि करती हुई पूजित होती है। छेदवाले वाद्य सुषिर वाद्य कहलाते हैं। ऋग्वेद में दो सुषिर वाद्यों का उल्लेख आया है- बाकुर और नाड़ी।'[४१८] सायण के अनुसार 'बाकुर' फूँककर बजाने वाला वाद्य था। इन्होंने नाड़ी को वेणु (बांसुरी) के समान माना है।

❑ यजुर्वेद में संगीत

वीणा शब्द सबसे पहले यजुर्वेद में मिलता है। यजुर्वेद[४१९] के दो मंत्रों में निम्नलिखित वाद्यों के नाम आये हैं। १. आडम्बर, २. वीणा, ३. तूणव, ४. शंख, ५. पाणि, ६. तलव। चारों ओर जो ध्वनि को जोर से फेंके वह है 'आडम्बर'। तूणव एक प्रकार का फूँककर बजाया जानेवाला सुषिर वाद्य था। शंख फूँककर बजाया जाता था। पाणिघ्न का अर्थ है हाथ से मारने वाला अर्थात् ताली देने वाला। तलव- यह ताल से सम्बद्ध है।

❑ साम संगीत

वेदों में 'साम' संगीत का पर्यायवाची शब्द बन गया है। सामवेद का ग्राम अवरोही क्रम का था। साम के स्वर 'निघन प्रकृति' के कहलाते थे। जिसका अर्थ यह है कि उसके स्वर स्वभावतः नीचे की ओर उतरते चले आते हैं। प्रो. मुले

---

४१४. ऋग्वेद, २/४३/३
४१५. वही, ६/४७/२१,३०,३१
४१६. अथर्ववेद, ५/२०/४,५,६
४१७. ऋग्वेद, १०/१४६/२, अथर्व, ४/३७/५
४१८. वही, ९/१८
४१९. यजुर्वेद, ३०/१९-२०

ने अपने भारतीय संगीत में कहा है कि यह अवरोही क्रम वेणु के आधार पर स्थापित हुआ था। नारदीय शिक्षा में वेणु के द्वारा सामवेद के स्वर स्पष्ट किये गये हैं। इसलिए इन चिन्तकों ने यह स्थापना की है कि सामग्राम का अवरोही क्रम वेणु के आधार पर निर्धारित हुआ और गान वाद्य से पूर्व हुआ। फाक्स स्ट्रैंगवेज के अनुसार गान के ग्राम प्राय: अवरोही होते हैं। कारण यह है कि मानव जब गान प्रारम्भ करता है तो उसके सक्षम या समर्थ स्वर पहले ऊपर के स्थान वाले होते हैं और ये उसके गान-ग्राम के आरम्भिक स्थल बन जाते हैं।

सामवेद में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ इन चार स्वरों के नाम संख्यात्मक शब्दों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। और मन्द्र, क्रुष्ट, अतिस्वार इन तीन स्वरों के नाम वर्णनात्मक शब्दों द्वारा।[४२०] इससे ऐसा जान पड़ता है कि पहले साम में केवल इसे चार स्वरों का प्रयोग होता था। यज्ञ के प्रयोगों में जब ऋचाओं को एक ही स्वर के आश्रय से गाते थे तो उस गान को आर्चिक कहते थे। श्री सातवलेकर ने सामवेद-संहिता की भूमिका में जैमिनीय और कौथुमीय शाखाओं की गान संख्या की सारणी इस प्रकार दी है-

	जैमिनीय शाखा के गान	कौथुमीय शाखा के गान
ग्रामेगेयगान	१२३२	११९७
अरण्यगेयगान	२९१	२९४
ऊहगान	१८०२	१०२६
उह्यगान	३५६	२०५
	३६८१	२७२२

जैमिनीय शाखा में कौथुमीय शाखा की अपेक्षा लगभग एक सहस्र अधिक गान हैं।

गान के इस क्रम में गाथाएँ दो स्वरों में गाई जाती थीं। अत: उन्हें गाथिक कहते थे। तीन स्वर का गान साम से सम्बन्ध रखता था। अत: उसे 'सामिक' कहते थे। इससे यह जान पड़ता है कि सामगान का प्रारम्भ पहले तीन स्वरों से

४२०. नारदीय शिक्षा, १/१/१२

हुआ। चौथे स्वर का नाम 'रूपान्तर' है। वैदिककाल के प्रारम्भ में स्वर की संज्ञा 'यम' थी। सायण भाष्य ने स्पष्ट कहा है 'क्रुष्टादय एव यमा उत्यन्ते'।[४२१] क्रुष्टादिस्वर ही यम कहलाते हैं। सामग्राम का विकास दो प्रक्रमों में हुआ। पहला वह जिसमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ यमों की प्राप्ति हुई। दूसरा वह जिसमें क्रुष्ट, मन्द्र और अतिस्वार यमों का परिचय मिला। सामग्राम का पूरा सप्तक इस प्रकार बना 'क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अतिस्वार।' अन्य स्वरों को देखा जाय तो पता चलता है कि वैदिक काल में ही स्वरों की षड़ज, ऋषभ, गान्धार इत्यादि संज्ञाएँ प्रचार में आ गयी थी। प्रतिशाख्यों में तो इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है।

संग्रह चूड़ामणि के उपोद्घात में अंग्रेजी में श्री श्रीनिवास ऐयंगर ने सामवेद के स्वरों के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है 'संगीत के प्रथम शास्त्रकार भर और बाद के शास्त्रकार सार्ङ्गदेव ने सामवेद के स्वरों को ही शुद्ध स्वर माना है। सामवेद का गान परम्परागत रूप से आज तक वैसा ही चला आया है जैसा कि यह आदि में था। इस वेद के गान का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से पता चलेगा कि ग रे स नि ध प जो तार स्थान से मध्य स्थान तक आते हैं और जिनकी संज्ञाए सामवेद में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य है, अवरोही क्रम में हैं। कभी-कभी जब गान्धार स्वर लगाया जाता है तो मध्यम भी जिसे सामवेदी क्रुष्ट कहते हैं गमक के रूप में आता है। यदि ये सातों स्वर मध्यस्थान में रखे जायें तो उनके स्वरूप और स्थान इस प्रकार होंगे-

स	रे	ग	म	प	ध	नि
तृतीय	द्वितीय	प्रथम	क्रुष्ट	अतिस्वार्य	मन्द्र	चतुर्थ।[४२२]

यही सामवेद का शुद्ध ग्राम था। आधुनिक संगीत की संज्ञाओं में हम कहें तो यह कहना पड़ेगा की सामवेद का गान्धार और निषाद् कोमल था, शेष पाँच स्वर शुद्ध थे। सामवैदिक संगीत का विकास होने पर आगे विकृत स्वर भी प्रयोग में आ गये। अतः सामवेद का गान केवल शुद्ध सात स्वरों में परिसीमित नहीं था।

---

४२१. बर्नेल- सामविधान ब्राह्मण, पृष्ठ ४
४२२. संग्रह चूड़ामणि में श्रीनिवास अयंगर का उपोद्घात्, पृष्ठ ७-८

श्रुतिजाति

सामगान में स्वर को विशेष प्रकार से लगाने का बहुत महत्त्व था। जितने प्रकार से स्वर का सुन्दर लगाव हो सकता था उसे सामगायक 'श्रुतिजाति' कहते थे। सामवेद में पाँच श्रुतिजाति मानी गयी है। इन श्रुतिजातियों के चिह्न भी सामवेद के स्वरांकन में मिलते हैं। स्वरों के अन्तराल को स्थापित कराने के लिए जो श्रुतियाँ मानी गयी उनमें से प्रत्येक श्रुति की जाति बतलाई गयी। षड्ज की जो चार श्रुतियाँ हैं उनमें से प्रथम अर्थात् तीव्र की श्रुतिजाति 'दीप्ता', द्वितीय अर्थात् कुमुद्वती की 'आयता', तृतीय अर्थात् मन्द्रा की 'मृदु', चतुर्थ अर्थात् छन्दोवती की 'मध्या' श्रुतिजाति मानी गयी। इसका प्रयोग भावाभिव्यक्ति के लिए ही होता था।[४२३]

सामविकार

साम के छै प्रकार के विकार होते हैं

१. विकार- अर्थात् अक्षर में हेरफेर करके गाना। २. विश्लेषण- इसमें शब्द का खण्ड-खण्ड करके परिवर्तित रूप में गाया जाना है। ३. विकर्षण- विशेष प्रकार से कर्षण करके, खींच करके गाना, अक्षर के स्वर को लम्बा करके गाना। ४. अभ्यास- अर्थात् पुनरावृत्ति करना, बार-बार उच्चारण करना। ५. विराम- थोड़ी विश्रान्ति देकर, रुक-रुककर गाना। ६. स्तोभ- ऋचा के जो अक्षर हैं उनके अतिरिक्त उनसे विलक्षण अक्षर का प्रयोग स्तोभ कहलाता है।

सामगान

सामगान पर श्री लक्ष्मण शंकर भट्ट ने विशद् वर्णन किया है।[४२४] उन्होंने साम की स्वर लिपि को विस्तृत रूप से समझाया है। उनके अनुसार प्रत्येक साम का जो पहला अंक होगा वह आरम्भक स्वर या 'कीनोट' हो जायेगा। भिन्न-भिन्न स्वरों को आरम्भक स्वर मानकर गान करने से सामगायकों को प्रायः सभी स्वर मिल जाते हैं। यदि ऋचा के अक्षर के सिरे पर एक अंक है और उसके बगल में कोई दूसरा अंक है तो वही अक्षर या बोल दो स्वरों में गाया जायेगा। ऋचा के सिरे पर अंक के साथ यदि 'र' अक्षर अंकित हो तो उसका अर्थ यह है कि उस अक्षर का स्वर दीर्घ है अर्थात् वह स्वर दो मात्रा तक खींचा जायेगा। यदि

---

४२३. संगीत रत्नाकर पर सिंह

४२४. Laxman Shankar Bhatta Drawid Samvedi- The Ancient Mode of Singing Sāma Gāna.

किसी अक्षर के अनन्तर अवग्रह है तो वह उस अक्षर का दीर्घत्त्व सूचित करता है। दो खड़ी रेखाओं के बीच का भाग 'पर्व' कहलाता है। एक पर्व को प्राय: एक सांस में गाया जाता है। प्रत्येक साम के पूर्व प्रणव या ओ३म का गान होता है।

सामगीत के भाग

सामगीत के प्राय: पाँच भाग होते हैं। ये पाँच भक्तियाँ कहलाती हैं। यहाँ पर भक्ति का अर्थ भाग है। ये इस प्रकार हैं १. हुंकार अथ हिंकार, २. प्रस्ताव, ३. उद्‌गीथ, ४. प्रतिहार, ५. निधन। साम के गायक तीन होते हैं- प्रस्तोतो, उद्‌गाता और प्रतिहर्ता। मुख्य गायक उद्‌गाता होता है। प्रस्तोता और प्रतिहर्ता उसके सहायक होते हैं। कभी-कभी साम की सात भक्तियाँ की जाती हैं १. हिंकार, २. प्रस्ताव, ३. आदि, ४. उद्‌गीथ, ५. प्रतिहार, ६. उपद्रव, ७. निधन। उद्‌गीथ के पूर्व भाग को आदि कहते हैं और प्रतिहार के अंतिम भाग को उपद्रव।

वैदिक काल में सामवेद के गान के साथ वीणा बजती थी। साम संगीत की विकसित अवस्था में गीत और वीणावादन दोनों में अलंकार और गमक का प्रयोग होने लगा। सामगान में लय को सुनिश्चित रखने के लिए तीन मात्राओं का आश्रय लेते थे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। ये क्रमश: एक दो और तीन मात्रा के होते थे। अथर्व वेद में भी गान का उल्लेख मिलता है। संगीत की यह परम्परा विकसित होकर अनेकों पड़ाव को पार करती बढ़ती गयी।

ब्राह्मणों में गायन परम्परा

संगीत सम्बन्धी यह यात्रा सामविधान में विचरती और गाती दिख पड़ती है। तैत्तिरीय, एतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में इस परम्परा का अवलोकन होता है। सामविधान में उल्लेख है 'उसने इस विश्व की सृष्टि की और साम को उसके जीवन का साधन दिया।'[४२५] इस विषय में सायण भाष्य कहता है 'क्रुष्ट स्वर देवों के जीवन का साधन है। अन्य स्वरों में से प्रथम स्वर मनुष्य के जीवन का साधन है, द्वितीय गंधर्व और अप्सराओं के, तृतीय पशुओं के, चतुर्थ पितरों और अण्डजों के, पंचम असुर और राक्षसों के, अतिस्वार्य औषधि और वनस्पतियों के जीवन का साधन है। इसलिए कहा है 'साम ही जीवन है।' ब्राह्मण काल तक तीनों स्थानों (अवरोही स्वरग्राम) का भी ज्ञान हो गया था। उन्हें उस समय मन्द्र, मध्यम और उत्तम कहते थे।'

---

४२५. सा वा इदं विश्वभूतमसृजत् तस्य सामोपजीवनं प्रायच्छत्।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तूणव का उल्लेख है।[४२६] इसमें वीणा, दुंदुभि, शंख और तूणव चारों का वर्णन है। इसके एक मंत्र में 'आन्दाय तलवम्' कहकर तलव वाद्य को रेखांकित किया गया है।[४२७] ऐसा जान पड़ता है कि ब्राह्मण काल तक श्रुतिजाति स्वर इत्यादि का भेद संगीताचार्यों ने समझ लिया था और इसके आधार पर गीत गाते थे। इसी ब्राह्मण में आगे वीणा पर ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों गाथा गाते थे।[४२८] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण काल में कई वीणाएँ एक साथ बजती थीं। और वीणा वादकों के नायक को गणगित् कहते थे। उसमें उल्लेख है 'हे वीणागण के नायक, देवों के साथ-साथ इस यजमान के विषय में भी गान करते।'[४२९] इस काल तक मूर्च्छना का विकास हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण में 'उत्तरमन्द्रा' का वर्णन है।[४३०] शतपथ ब्राह्मण में ही एक दूसरे स्थल पर उत्तरमन्द्रा में मिली हुई वीणा पर गान करने वाले को राजन्य बतलाया है 'सायंकाल के धृति नामक होम के समय वीणा पर गाने वाला राजन्य (क्षत्रिय) वेदी के दक्षिण की ओर से जो वीणा उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना में मिली हुई थी, उसको बजाते हुए स्वरचित तीन गाथाओं को गाता है।'[४३१]

❑ आरण्यक में गेय-गान

इस समय तक संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। तैत्तिरीय आरण्यक में भूमि दुंदुभि का उल्लेख मिलता है। ऐतरेयारण्यक में शरीर को दैवी वीणा माना है और मानुषी वीण जो काष्ठ वीणा मनुष्य द्वारा बनाई और बजाई जाती है को दैवी वीणा की अनुकृति मात्र माना है। इसमें वीणा के निर्माण की प्रक्रिया बतायी गई है। 'आरण्यक के समय तक संहिता काल के 'वाण' के अनुसार वीणा मुख्यतः धनुषाकार होती थी, जिसे अंग्रेजी में हार्प कहते हैं।'[४३२] उस काल में जितने तंत्री वाद्य थे सभी वीणा कहलाते थे। उसके प्रकार को बतलाने के लिए उसके पूर्व एक विशेषण लगा दिया जाता था। जैसे एकतंत्री, त्रितंत्री, पंचतंत्री, शततंत्री इत्यादि।

---

४२६. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ६/१/४/१, ३/४/१३/१
४२७. वही, ३/४/१५/१
४२८. वही, ३/९/१/४
४२९. शतपथ ब्राह्मण, १३/४/४/२
४३०. शतपथ ब्राह्मण, १३/४/२/८, ११, १४
४३१. वही, १३/४/३/५
४३२. Dr. Anand Kumar Swami- Journal of American Oriental Society, Vol. 50, pp. 244-53

ऐतरेयारण्यक में मानुषी वीणा का वर्णन मिलता है 'मानव शरीर, देवताओं द्वारा बनाई हुई दैवी वीणा है। मानुषी वीणा अर्थात् मनुष्य द्वारा बनाई हुई काष्ठ वीणा इसी दैवी वीणा की नकल है। जिस प्रकार दैवी वीणा का सर्वोपरि भाग शिर कहलाता है उसी प्रकार मानुषी वीणा का सबसे ऊपरी भाग भी शिर कहा जाता है। दैवी और मानुषी वीणा में इस प्रकार समानता मिलती है उदर-अम्भण, जिह्वा-वादन, अंगुलियाँ-तंत्रियाँ, स्वर-स्वर आदि।'

❑ उपनिषदों में गायन शैली

उपनिषदों में छान्दोग्य और वृहदारण्यक में संगीत का विशेष रूप से उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है- वह जो आत्म साक्षात्कार कर लिया है गीतवाद्य का लोक चाहता है तो उसके संकल्प मात्र से गीत और वाद्य उसके निकट उपस्थित हो जाते हैं। वह गीत और वाद्य से सम्पन्न होकर महात्म्य का अनुभव करता है।[४३३] इससे सिद्ध होता है कि उन दिनों गीत और वाद्य की महत्ता पर्याप्त रूप से स्वीकृत हो चुकी थी। इससे सामवेद के गान के आधार पर उपासना के क्रम का सुन्दर वर्णन है। इसमें वीणा का भी वर्णन है।[४३४] वृहदारण्यक में दुंदुभि, शंख और वीणा का उल्लेख आया है।[४३५] कठोपनिषद् में नचिकेता यम से कहता है 'यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा है। आपके वाहन और नाचगान आपके ही पास रहें।'[४३६]

इस तरह आर्य ऋषियों ने अपनी तप साधना एवं मनस्विता से ज्ञान-विज्ञान एवं कलात्मक संवेदना का बहुविधि विकास किया। उनके द्वारा की गयी इस सांस्कृतिक समृद्धि ने उस काल की सामाजिक चेतना के विकास में नए-नए आयाम जोड़े।

❑

४३३. छान्दोग्य उपनिषद्, ८/२/८

४३४. छान्दोग्य उपनिषद्, १/७/६

४३५. वृहदारण्यक, २/४/७-९

४३६. कठोपनिषद्, १/१/२६

अध्याय-३

संस्कृति एवं सामाजिक चेतना

संस्कृति और समाज परस्पर गुंथे हुए है। संस्कृति-मानव में सामाजिकता को जन्म देती है। इसी तरह समाज अपने गर्भ से सांस्कृतिक संवेदना को विकसित करता है। यह संवेदना समाज में दृष्प्रवृत्ति का उन्मूलन करके सत्प्रवृत्ति रूपी दिव्य, स्वर्गीय एवं सुखद वातावरण को विनिर्मित करती है। जिससे समाज में सद्भाव, सदाशयता, सहिष्णुता, सहयोग, निजत्व, ममत्व, प्रेम तथा त्याग की भावना पोषण होती है। सांस्कृतिक संवेदना समाज को भावात्मक और आदर्श विचारों की ओर प्रेरित करती है। समाज में समानता, उदारता व मातृभाव के सिद्धान्तों का आधार भी यही है। इन्हीं कारणों से कहा गया है 'संस्कृति समाज की आत्मा है।'[1] इसी बात को जयशंकर प्रसाद ने अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी है 'संस्कृति समाज में सौन्दर्य बोध को विकसित करने की मौलिक चेष्टा करती है।' इस सौन्दर्यधारा में महादेवी वर्मा ने भी अपनी अभिव्यंजना इस प्रकार प्रकट की है 'समाज गति का उन्मेष है तो संस्कृति इस गति की दिशा-निबद्ध सयंमित मर्यादा का पर्याय।' इस विषय में एमर्सन का कहना है कि संस्कृति समाज में सौन्दर्य भावना को विकसित एवं जाग्रत् करती है।

चूँकि संस्कृति और समाज एक दूसरे के पर्याय हैं इसलिए उसमें से किसी में भी परिवर्तन दूसरे को प्रभावित करता है। सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन का मूल बिन्दु नवीन विचारों का अंगीकरण है। इसी प्रकार हॉबल का मत है कि 'संस्कृति उन समकालीन सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो किसी समाज के सदस्यों का अभिलक्षण होते हैं। और जो किसी जैवकीय वशांगति का परिणाम नहीं होते।'[2] संस्कृति वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित नहीं होती बल्कि सामाजिक आविष्कारों का परिणाम होती है तथा शिक्षा के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती है। अत: संस्कृति में सामाजिक परिवेश की छाप होती है। इस विषय में मैकाईवर तथा पेज कहते हैं कि हमारे रहन-सहन के तरीकों में, दैनिक अंत:क्रियाओं में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन में तथा आमोद-प्रमोद में संस्कृति हमारे स्वभाव की अभिव्यक्ति है।[3] सोरोकिन ने अपने प्रसिद्ध

---

१. काका कालेलकर, परम सखा मृत्यु, पृष्ठ १५
२. E.A. Hobble- Man in the Primitive World, p.7
३. R.M. Maciever and C.H. Page- Society, p.499

ग्रंथ 'सोशल एण्ड कल्चरल डायनैमिक्स' में सामाजिक परिवर्तन से सांस्कृतिक प्रभाव का गहन विश्लेषण किया है। कुछ विद्वानों का ऐसा मानना है कि सामाजिक परिवर्तन एक चक्रीय ढंग से होता है, उसी प्रकार से संस्कृतियों का विकास भी चक्रीय गति से धावमान होता है। कुछ मनीषी समाज के निरन्तर एक दिशा में विकसित होने का विचार प्रस्तुत करते हैं। सोरोकिन सामाजिक परिवर्तन के इन दोनों मतों को स्पष्टतया अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार संस्कृति के बुनियादी स्वरूपों का उतार-चढ़ाव, सामाजिक सम्बन्धों का उतार-चढ़ाव, शक्ति के केन्द्रीकरण का उतार-चढ़ाव है। इसी उतार-चढ़ाव में समस्त सामाजिक घटनाओं और परिवर्तनों का रहस्य छुपा हुआ है। सोरोकिन के इस तथ्य से पता चलता है कि सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के उत्थान-पतन में व्यक्त होता है। यह परिवर्तन संस्कृति की दो व्यवस्थाओं अर्थात् चिन्तनात्मक संस्कृति तथा संवेदित संस्कृति के बीच होता है। समाज चिन्तनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था से संवेदित सांस्कृतिक व्यवस्था में तथा संवेदित सांस्कृतिक व्यवस्था से चिन्तनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था में बदलता है तभी सामाजिक परिवर्तन होता है।[४]

संस्कृति और समाज के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में कहें तो प्रश्न उठता है कि संस्कृति और समाज क्रमशः व्यक्तिगत चित्तवृत्तियों की और व्यक्ति-देहियों की समूहवाचक संज्ञाएँ हैं या कि व्यक्ति के सामानान्तर अतिवैयक्तिक अस्तित्व हैं? साधारणतः संस्कृति को कृति कहने वाले अथवा कृति नहीं कहकर उसे समाज की भौतिक वस्तुस्थितियों से उद्भूत मानने वाले भी उसे अस्तित्वतः व्यक्ति मूलक ही मानते हैं। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति का उद्भव व्यक्ति-चित्त में प्रतिभा साक्षात्कार के रूप में होता है और यह साक्षारात्मक प्रतिभा प्रतीक के रूप में सामाजिक परम्परा में प्रवेश करता है।[५] इसी प्रकार क्रोबर के अनुसार भी 'संस्कृति का अधिष्ठान या निवास स्पष्टतः मानव व्यक्तियों में है जिनके व्यवहार से संस्कृति अनुमित या कल्पित की जाती है।'[६] दुर्खाइम यहाँ इन दोनों से आगे जाकर कहता है 'सामूहिक चेतना ऐसे विश्वासों और भावनाओं के समग्र को कहा जा सकता है जो किसी समाज के औसत् सदस्यों में सर्वसाधारण होते हैं। इन विश्वासों और भावनाओं के संस्थान का व्यक्ति विशेषों से स्वतंत्र अपना

---

४. डॉ. हिम्मत सिंह सिन्हा- संस्कृति दर्शन, पृष्ठ ९८-९९

५. The Meaning and Process of Culture, p.2

६. A.L. Krober- in "The Nature of Culture" eassy collection "Couses of Culture" p.107

एक निजी जीवन होता है। यह सामूहिक चेतना जिसका अस्तित्व व्यक्तियों की चेतना में विद्यमान् विश्वासों और भावनाओं पर निर्भर करता है व्यक्ति चेतनाओं से विश्लेषणात्मकतया पृथक् अवधार्य होती है अस्तित्वत: चाहे उनसे पृथक नहीं भी हो। इसके विकास के अपने नियम होते हैं यह केवल व्यक्ति-चेतनाओं की अभिव्यक्ति या उनका प्रतिफल नही है।'[७] संस्कृति के स्वतंत्र सत्य को इस प्रकार स्वीकार करते रहने पर भी इन विचारकों के ये उद्धरण अस्तित्व विषयक इस सर्वसाधारण धारणा से मुक्त हो पाने की असमर्थता के द्योतक हैं जिसके अनुसार समाज अन्तत: देहाधिष्ठित व्यक्तियों का समवाय है। वस्तुत: यह सब होने के बावजूद सांस्कृतिक संवेदना सामाजिकता का सर्वांगीण विकास करती है। वह समाज को प्रगति व समृद्धि की ओर अभिप्रेरित करती है। दूसरी ओर समाज भी सांस्कृतिक संवेदना के मूलभूत व आधारभूत तत्त्वों को पोषित और संरक्षित करता है। सुसंस्कृत समाज में ही संस्कृति पल्लवित व विकसित हो सकती है। समाज के माध्यम से ही संस्कृति उत्थान के चरमोत्कर्ष शिखर को स्पर्श कर सकती है। संस्कृति समाज के लिए समस्त का योगदान है। सांस्कृतिक संवेदना समाज को स्वर्गीय अलंकरण से अलंकृत करती है। इसी सांस्कृतिक चेतना और संवेदना से सामूहिकता का विकास होता है। सामूहिकता की प्रथम इकाई के रूप में परिवार संस्था का उदय होता है।

सांस्कृतिक संवेदना का अंकुरण
परिवार संस्था का उदय

वैदिक समाज निर्माताओं ने मनुष्य के आन्तरिक व बाह्य जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत, उन्नत, विकसित करने के लिए भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के प्रयोग किए। उन्होंने अनेक आदर्शों, संस्थाओं की स्थापना की । धर्म, दर्शन, विज्ञान, वर्ण व्यवस्था, आश्रम आदि इसी प्रकार के प्रयोग थे। लेकिन जीवन में विभिन्न पहलुओं का एकीकरण करते हुए उन्होंने परिवार संस्था का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया था, जो व्यावहारिक, सहज, सुलभ, सुखकर सिद्ध हुआ। परिवार संस्था ने मनुष्य जीवन को वैदिक काल से ऐसा मार्गदर्शन किया है जैसा अन्य किसी भी संस्था ने नहीं किया होगा। यह संस्था अडिग, अविचलित खड़ी है। इसलिए कि उसके मूल में विशाल भावना, जीवित प्रेरणा काम कर रही है। वैदिक ऋषियों ने परिवार संस्था की नींव में अनन्त अमृत तत्त्वों के बीज

---

७. Remond Auro- Main currents in Sociological Thought's, Vol.2, p.24

वपन कर दिये हैं। इसलिए इसके अस्तिस्व का प्रवाह अनन्तकाल तक प्रवाहमान होता रहा है। परिवार संस्था के मूल में वैदिक ऋषियों के सूक्ष्म अन्वेषण का रहस्य छुपा हुआ है। यह केवल स्थूल व्यवस्था मात्र नहीं है अपितु उसमें भी सूक्ष्म सनातन सत्य की जीवन ज्योति समाई हुई है। वैदिक समाज शिल्पियों ने पारिवारिक जीवन के अन्तराल में विशाल कल्पना अंकित कर दी है।

वैदिक परिवार संस्था में जहाँ स्त्री पुरुष की अभेदता का प्रतिपादन किया गया है वहाँ पूरे संस्थान को कर्त्तव्य धर्म की मर्यादाओं में बांधकर उसे सभी भाँति अनुशासन, सेवा, त्याग, सहिष्णुता प्रिय बनाया गया है और इन पारिवारिक मर्यादाओं पर ही समाज की सुव्यवस्था, शान्ति, विकास निर्भर करता है। परिवार में माता, पिता, पुत्र, बहिन, भाई, पति, पत्नी, नाते-रिश्तेदार परस्पर कर्त्तव्य धर्म से बंधे हुए होते हैं। कर्त्तव्य की भावना मनुष्य में एक दूसरे के प्रति सेवा, सद्भावना, उत्सर्ग की सत्प्रवृत्तियाँ पैदा करती हैं। वैदिक परिवार में समस्त व्यवहार कर्त्तव्य की भावना पर टिका हुआ है। सभी सदस्य एक दूसरे के लिए सहर्ष कष्ट सहन करते हैं, त्याग करते हैं। दूसरों के लिए अपने सुख और स्वार्थ का प्रसन्नता के साथ त्याग करते हैं। ऋषियों ने इसे ही स्वर्गीय जीवन माना है। 'यदि धरती पर स्वर्गीय जीवन का प्रत्यक्ष रचना कहीं हुई है तो वह है वैदिक परिवार संस्था। रस, आनन्द, त्याग, उत्सर्ग, सेवा-सहिष्णुता का स्वर्गीय वातावरण इसी संस्था में दृष्टिगोचर होता है। इसमें स्वार्थपरता, पदलोलुपता, बुराइयों के ऊपर त्याग, सेवा, सद्गुणों की विजय बताई गई है।'[८] परिवार संस्था तपस्थली है जहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से तप-त्याग, धर्माचरण का अवलम्बन लेता है। परिवार में मनुष्य का आत्मिक, मानसिक विकास सरलता से हो जाता है। परस्पर एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्य निभाने का धर्म मनुष्यों का जीवन निखार देता है।[९] पारिवारिक जीवन का लक्षण है 'प्रेम, आत्मीयता, सहयोग, सहायता, संवेदना, सद्भाव तथा सबके प्रति यथायोग्य व्यवहार। सबकी मंगल कामना, सबकी सुख-सुविधा का विचार आदि के सात्विक गुण।'[१०]

सामाजिक जीवन का मूल परिवार है, जो दाम्पत्य जीवन से विकसित होता है। युवा नर-नारी के पारस्परिक स्नेह के वशीभूत होकर साथ रहने तक

---

८. श्रीराम शर्मा आचार्य वाड्मय- समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र, खण्ड ४८, पृष्ठ १.८

९. वही,

१०. वही,

सन्तानोत्पत्ति होकर पुरुष को पितृत्व एवं नारी को मातृत्व का गौरव प्रदान होता है और उनकी वात्सल्यपूर्ण निर्भय छाया में सन्तानें सबल होकर सांसारिक संघर्ष के योग्य बनती हैं। इस प्रकार के संघटन की प्रथम इकाई परिवार है, जो मानव समाज के विकास की प्रथम सीढ़ी है।[११] वैदिक परिवार पितृ सत्तात्मक होते थे तथा एक रक्त से सम्बन्धित व्यक्ति एक स्थान पर रहते थे। इस संयुक्त परिवार प्रणाली पद्धति में माता-पिता, उनके युवा विवाहित पुत्र-पुत्रवधु, भाई, चाचा आदि एक परिवार के सदस्य होते थे। पिता के कुल गोत्र के अनुसार पुत्र का कुल गोत्र होता था।[१२] डॉ. सत्यनारायण पाण्डेय के अनुसार वैदिक काल में पारिवारिक जीवन की प्रतिष्ठा थी, गृहपति और गृहणी का महत्त्वपूर्ण स्थान इसका प्रमाण है। परिवार में माता का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।[१३] डॉ. शिवदत्त ज्ञानी ने उपरोक्त तथ्य को स्वीकारते हुए कहा है पारिवारिक जीवन में माता का स्थान विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण माना गया था। ऋग्वेद[१४] में 'जायेदस्तं' अर्थात् 'जाया ही घर है।' शब्दों द्वारा पत्नी के गृहिणी पद का सुन्दर विवेचन किया गया है। परिवार के आन्तरिक जीवन में माता का स्थान सर्वोत्तम था।[१५] घर की व्यवस्था, बच्चों का लालन-पालन आदि माता की ही जिम्मेदारियाँ थी। घर के धार्मिक जीवन में भी उसे अपना हाथ बटाना पड़ता धा। गृहपति अपनी पत्नी के साथ गार्हपत्याग्नि में सभी धार्मिक कृत्यों को सम्पादित करता था। गार्हस्थ्य जीवन के प्रत्येक कार्य में पति-पत्नी का साहचर्य रहता था जिसके कारण वैदिक आर्यों का गार्हस्थ्य जीवन बड़ा ही सुखी रहता था। इसलिए इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है 'हे इन्द्र तुमने सोम पी लिया है अब अपने घर जाओ जहाँ तुम्हारी कल्याणकारी पत्नी है व जो आनन्दपूर्ण है।'[१६] इन शब्दों में गार्हस्थ्य सौख्य का सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। पत्नी न केवल पति की भार्या ही थी, किन्तु उसकी आज्ञाकारिणी व सर्वदा उसके साथ कदम से कदम मिलाकार चलती थीं।[१७]

---

११. कृष्ण कुमार- प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ ३१७

१२. वही,

१३. डॉ. सत्यनारायण पाण्डेय और डॉ. आर.बी. जोशी- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृष्ठ १-३

१४. ऋग्वेद, ३/५३/४

१५. डॉ. शिवदत्त ज्ञानी- वेदकालीन समाज, भूमिका, पृष्ठ ९७

१६. अपाः सोममस्तमिद् प्रपाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। - ऋग्वेद, ३/५३/६

१७. ऋग्वेद, १/१२२/२

पत्नी अपने को सुन्दर वेषभूषा से सुसज्जित करती थी।[१८] तथा सर्वदा स्मितमुख रहती थी।[१९] पत्नी का हार्दिक सौन्दर्य माता के रूप में अधिक निखर आता था व घर को स्वर्ग स्थली बना देता था। वेदों के अनुसार दाम्पत्य जीवन तभी सुखमय हो सकता है, जब वे समन्वित ढंग से कार्य करेंगे। उनमें परस्पर सद्भाव, स्नेह, विचारों का आदान-प्रदान और मिलकर काम करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। जहाँ पति और पत्नी केवल अपने हित की बात सोचते हैं, वहाँ दुःख क्लेश, मनोमालिन्य आदि प्रारम्भ होते हैं। अतः पति-पत्नी मिलकर गृहस्थ धर्म का निर्वाह करें।[२०] पत्नी का कर्त्तव्य स्पष्ट किया गया है कि वह पति से सदा मधुर और शांतियुक्त वाणी बोले। मधुर वचन पारस्परिक स्नेह को दृढ़ करता है, सौमनस्य लाता है और आन्तरिक आनन्द देता है। कटु वचन घृणा, द्वेष, ईर्ष्या और असहिष्णुता को जन्म देता है। अतः कटु वचन और व्यंग्य करना सर्वथा त्याज्य है।[२१] यजुर्वेद में पत्नी के कुछ गुणों और कर्त्तव्यों का वर्णन है। पत्नी स्वयं तेजस्विनी हो, योग्य एवं विदुषी हो, स्वयं नियमों का पालन करने वाली हो, परिवार की मर्यादाओं की रक्षा करे और परिवार को पुष्ट करे। उसका कर्त्तव्य है कि वह परिवार को नियंत्रण में रखे, सभी के भोजनादि की व्यवस्था करे, परिवार की सुरक्षा करे।[२२]

❑ पारिवारिक सदस्यों के कर्त्तव्य

माता-पिता एवं सास-ससुर का कर्त्तव्य बताया गया है कि वे अपनी संतान से तथा पुत्र वधु आदि से अत्यन्त मधुर वचन बोलें तथा उदार हृदय से उन्हें धन दें। मधुर वचन पारिवारिक शान्ति का कारण है। कटु वचन से पिता-पुत्र, सास-बहू आदि में निकृष्ट विवाद, मनोमालिन्य और कटुताएँ उत्पन्न होती हैं, अतः कटुवचन और उग्र व्यवहार को वर्जित माना गया है। उदार हृदय से पुत्रादि

---

१८. जायेव पत्य उशती सुवासाः। -ऋग्वेद, ४/३/२

१९. अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्यमानासो अग्निम्। - ऋग्वेद, ४/५८/९

२०. वयुम त्वा गृहपते जनानाम अग्ने अकर्म समिधा वृहन्तम्।
अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु, तिग्मेन नस्तजेसा सं शिशाधि॥ - ऋग्वेद, ६/१५/१९, तेति., ३/५/१२/१

२१. अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं, वाचं वदतु शंतिवाम्॥
- अथर्व., ३/३०/२

२२. यंत्री राड़ यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासी धरित्री।
इषे त्वर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ - यजुर्वेद, १४/२२

और वधुओं को धन देने से पारिवारिक शान्ति बनी रहती है और परिवार की श्रीवृद्धि होती हे।[२३] पुत्रादि का कर्त्तव्य है कि वे अपने माता-पिता का सदा कल्याण सोचें और उनका हित करें। यही पितृयज्ञ है। इससे संतान पैतृक ऋण से उऋण होती है।[२४] माता का दायित्व है कि वह शिशुओं की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखे। वे बच्चों के लिए नए वस्त्र बुने और बनावें।[२५]

माता बच्चों का पालन पोषण करके उन्हें उछेरती थी। खेलते हुए विकासशील बालक घर के विशेष आकर्षण थे।[२६] ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर वात्सल्य रस से परिपूर्ण पारिवारिक जीवन की सुन्दर झाँकियाँ अंकित हैं। छोटा बालक अपने पिता के वस्त्रों के छोर को पकड़ता है, जिससे पिता का ध्यान उसी ओर आकर्षित हो तथा उत्सुकतापूर्ण व प्रेमपूर्ण शब्दों में अपनी मांग उपस्थित करता है।[२७] अपनी गोद में बच्चों को लेकर बैठी हुई माता का चित्रण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है।[२८]

भाई-बहिन

वेद की शिक्षा है कि भाई-भाई, भाई-बहिन और बहिन-बहिन परस्पर प्रेम से रहें। वे अपने पारस्परिक मतभेदों आदि को प्रेम से सुलझा लें। उनका कोई विवाद कटुता धारण न करे।[२९] भाई-भाई भी आत्मीयता एवं भातृत्व भाव से रहे। वे छोटे बड़े का भेद-भाव न करें। वे मिलकर काम करें तो उन्हें सदा सौभाग्य प्राप्त होगा।[३०] भाई-बहिन का प्रेम अत्यन्त सात्विक है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने देनी चाहिए। उनका स्नेह, सौहार्द्र और ममत्व आदर्श रूप में ही रहना चाहिए।[३१]

---

२३. पिता माता मधुवचाः सुहस्ता। - ऋग., ५/४३/२

२४. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु। - अथर्व., १/३१/४

२५. वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।
उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्वथा वध्वो यन्त्यच्छ। - ऋग., ५/४७/६

२६. ऋग्वेद, ७/५६/१६

२७. वही, ३/५३/२

२८. वही, ७/४३/३

२९. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्-मा स्वसारभुत स्वसा।
सम्यंचः सव्रता भुत्वा वाचं वदत भद्रया। - अथर्व., ३/३०/३

३०. ऋग्वेद, ५/६०/५

३१. न वा उ ते तनुं तन्वा सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः श्येन यच्छयीय।
- अथर्व., १८/१/१४, ऋग., १०/१०/२०

पुत्र-पुत्री

पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह माता-पिता का आज्ञापालक हो। उनकी सदा सेवा करे। पुत्र एवं पुत्री प्राप्ति का बहुत महत्त्व है। पुत्र की प्राप्ति से माता-पिता अपने पूर्वजों के ऋण से उऋण होते हैं। अतः योग्य संतान का होना वंश वृद्धि के लिए आवश्यक है।[३२] पुत्री को रत्न के समान समझा जाता है। पुत्री घर में श्रीवृद्धि एवं कल्याण करती है। पुत्र के गुण बताए गए हैं कि वह सुन्दर हो, शुभ कर्म करने वाला हो, माता-पिता का कृतज्ञ हो, वीर एवं कर्मठ हो, उत्तम गुणों से युक्त हो, आस्तिक हो, सज्जन एवं सुशील हो, स्वस्थ, समृद्ध एवं सुखी हो।[३३]

❑ पारिवारिक गुण

परिवार को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए वेदों में कुछ गुणों का निर्देश है। इन गुणों को धारण करने वाले परिवार सदा सुखी, प्रसन्न और खुशहाल होते हैं। उस घर में श्री का निवास होता है, पारस्परिक स्नेह और विश्वास बढ़ता है तथा शान्ति का वातावरण विनिर्मित होता है। वेद की उक्ति है कि आस्तिकता सब सुखों का मूल है, जिस परिवार में आस्तिकता है वहाँ दोष, दुर्गुण और पाप स्वयं नष्ट हो जाते हैं। अतः परिवार के सभी व्यक्तियों में आस्तिकता एवं ईश्वर विश्वास का भाव जाग्रत् होना चाहिए।[३४] परिवार में संगठन और एकता होनी चाहिए। सब एक दूसरे से प्रेम करें। सबके हृदय मिले हुए हों। पारस्परिक द्वेष की भावना को दूर करें। सबमें आत्मीयता एवं सौहार्द्र की भावना हो। सभी समन्वित एवं प्रेमपूर्वक रहें एवं आपस में विश्वास हो। छोटे-बड़े का भेदभाव भुलाकर सौभाग्य के लिए निरन्तर यत्नशील हों। मिलकर चलें, मिलकर बोलें और एकमत होकर निर्णय करें।[३५]

परिवार में प्रेम, धैर्य और स्वावलम्बन गुण होने चाहिए तभी परिवार में योगक्षेम रहता है।[३६] प्रसन्नचित्त रहना न केवल परिवार की सुख शान्ति के लिए

---

३२. यजुर्वेद, १९/११

३३. ऋग., १/१५९/३, ३/४/९, ७/२/९, २/३/९, यजु., ३/३७, अथर्व., २/१३/४, २०/१२९/५, तैति. सं., ३/१/११/१,२

३४. यजुर्वेद, ४०/१

३५. अथर्ववेद, ३/३०/१,२,७, ६/४२/२, ७/६०/३, ६/७३/३, १/१५/२, ऋग., ५/६०/५, १०/१९१/२,४

३६. इह रतिरिह रमध्वम्, इह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा। – यजुर्वेद, ८/५१

उपयोगी है, अपितु अपने स्वास्थ्य और विकास के लिए भी आवश्यक है।[३७] परिवार के व्यक्ति नीरोग और स्वस्थ हों। स्वस्थ मनुष्य ही इस संसार के सुखों का भोग कर सकते हैं और जीवन सुखमय बना सकते हैं।[३८] इसी पारिवारिक गुणों के आधार पर स्वस्थ, सुखी एवं सभ्य परिवार का निर्माण होता है।

❑ पारिवारिकता के निश्चित मापदण्ड

परिवार के सदस्यों का कर्त्तव्य है कि वे उत्तम गुणों को अपनावें, जिससे परिवार सदा सुखी रहे। इसके लिए वेदों में अनेक साधन बताए गए हैं। परिवार के व्यक्ति सद्‌गुणों को अपनावें और दुर्गुणों को छोड़ें। भद्र को ग्रहण करें और पापों से बचते रहें। इन्द्रियों द्वारा सद्वस्तुओं को ही ग्रहण करें। अशुभ वचन आदि का भी परित्याग करें। सद्‌गुण जीवन की आधारशिला है। पाप विनाशक तत्त्व है।[३९] परिवार को सुखी बनाने का एकमात्र उपाय है कि परिवार के सभी व्यक्ति पुरुषार्थी हों। वे यथाशक्ति पूरा परिश्रम करें। परिश्रम से सभी प्रकार की सफलता प्राप्त होती है। कर्महीन की सारी योजनाएँ असफल होती है।[४०] परिश्रम के साथ ही स्वावलम्बन गुण को भी अपनाना आवश्यक है। स्वालम्बी को दुःख और कष्ट नहीं सताते। उसे संसार सुखमय दीखता है। स्वावलम्बी के पास श्री और सुख स्वयं आते हैं।[४१] परिश्रम और स्वावलम्बन के साथ ही जागरूकता आवश्यक है। यदि व्यक्ति जागरूक नहीं रहेगा तो उसका सारा परिश्रम नष्ट हो सकता है। जागरूक को ही विद्या, ऐश्वर्य, प्रभुत्व आदि सब कुछ हस्तगत होता है। अतः प्रमाद रहित होकर सदा जागरूक रहना चाहिए।[४२] परिवार को स्वर्ग बनावें। जहाँ परिवार में स्नेह, सद्भाव, पुरुषार्थ आदि गुण होते हैं, वहाँ निरोगता, स्वास्थता और आनन्द की प्रचुरता होती है।[४३] सन्तोष ही सुख का साधन है। असन्तोष से सदा दुःख मिलता है।

---

३७. विश्वदानीं सुमनसः स्यायाम। - ऋग्वेद, ६/५२/५

३८. स्वावेशो अनमीवो भवा नः । - ऋग्वेद, ७/५४/१, तैत्ति. स., ३/४/१०/१

३९. विश्वानि देव सवितर्दुरितान परासुव यद् भद्रं तन्नआसुव।
- ऋग., ५/८२/५, यजु., ३०/३, तैति. ब्रा., २/४/६/४

४०. ऋ., १०/४२/१०, १०/४३/१०, १०/४४/१०, अथर्व, ७/५०/७,८ २०/१७/१०, २०/८९/१०, २०/९४/१० यजु., ३८/१४

४१. यजुर्वेद, ८/५१

४२. ऋग., ५/४४/१४,१५, साम., १८/२६,२७, अथर्व., २/६/३

४३. यत्रा सुहार्दः सुकृतो भदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङगैर हताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान। - अथर्व, ६/१२०/३

परिवार में आनन्द का वातावरण बनाने के लिए आवश्यक है कि परिवार में स्वस्थ हास्य-विनोद, प्रसन्नता और प्रेम बना रहे। यह सब परिवार के प्रसन्नता के लिए शुभ है।[४४] परिवार सुख के लिए व्यक्ति को निर्भय, निडर एवं साहसी होना चाहिए। वे सभी आपत्तियों और संकटों का सामना करने के लिए सनद्ध रहें। जहाँ निर्भयता और साहस है वहाँ संकट नहीं रहता।[४५] पारिवारिक अभ्युदय हेतु व्यक्ति को ओजस्वी तेजस्वी और यशस्वी होना चाहिए। सत्यनिष्ठा, सद्व्यवहार और उचित साधनों के माध्यम से परिवार में समृद्धि बढ़ती है। जहाँ सत्यभाषण, वाणी में माधुर्य है वहाँ सौभाग्य है और धनादि की समृद्धि है।[४६] मधुर वचन को पारिवारक शांति का साधन बताया गया है। माता-पिता बालकों को मधुर वचन बोलें। पत्नी पति से मधुर वचन बोले और सब परस्पर मधुर वचन ही बोलें।[४७] प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह निर्धनों, निराश्रितों और दीन-हीनों को अवश्य दान दे। जो दान नहीं देता है और केवल स्वार्थ पूर्ति व उदरपूर्ति करता है उसे वैदिक कालीन परिवारों में निकृष्ट माना जाता था। अत: दान देने से श्री और यश में वृद्धि होती है।[४८] वेदों में अतिथि सत्कार का बहुत महत्त्व वर्णित है। उन दिनों अतिथि को देवता के समान माना जाता था, उसे खिलाए बिना भोजन नहीं करते थे। वेदज्ञ ही सबसे पूज्य अतिथि है। जिस परिवार में अतिथि को खिलाए बगैर भोजन किया जाता है उनकी समस्त समृद्धि और पुण्य नष्ट हो जाते हैं।[४९] ऐसी मान्यता है। गृहस्वामी का कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि कोई भूखा-प्यासा न रहे।[५०] परिवार में तप एवं त्याग का आवश्यक निर्देश दिया गया है। अशुभ काम भोग एवं विषय-वासना को बढ़ाता है तथा विषयासक्ति के द्वारा जीवन नष्ट हो जाता है। शुभ कार्य संकल्प-शक्ति और इच्छा शक्ति में अभिवृद्धि

---

४४. ऋग., ६/५२/५, यजु., १७/८५

४५. यजु., ३/३५,४१, अथर्व., २/१५/३,४

४६. अथर्व., ७/६०/६

४७. ऋग्वेद, ५/४३/२

४८. ऋग., १/८१/६, १०/११७/१,६, अथर्व., २०/१२७/१२, ३/२४/५, तैत्ति. ब्रा., २/८/८/३

४९. एष वा अतिथिर्यत् श्रोत्रियः तस्मात पूर्वो नाश्नीयात.
अथर्व.,९/६/३७/३८

५०. उपहूता भूरिधनाः, सखाय स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् विभीतान्। – अथर्व., ७/६०/४

करता है। यह जीवन को उन्नत करता है अतः यह ग्राह्य है।[५१] इन गुणों से परिवार सभ्य एवं समृद्ध बनता है।

❑ वर्जित कर्म

वैदिक काल में पारिवारिक विघटन, टूटन की मूलभूत समस्याओं को भी जान लिया गया था एवं उसका समाधान भी खोज लिया गया था। अतः परिवार को सुखी बनाने हेतु कुछ वर्जित कर्मों को उन दिनों भी रेखांकित कर दिया गया था। ये सभी तत्त्व वेद में प्राप्त होते हैं। वैदिक ऋषियों के अनुसार परिवारों के टूटने का मुख्य कारण है स्वार्थपरता, धनलिप्सा और स्वकेन्द्रित होना। जब मनुष्य केवल अपने स्वार्थ को मुख्य समझने लगता है और सारी सम्पत्ति पर एकाधिकार एवं आधिपत्य कर लेता है तो ईर्ष्या, द्वेष, कटुता और कलह उत्पन्न होते हैं। अतः स्वार्थ को महत्ता न देकर परिवार के हित को महत्त्व देना चाहिए। इसलिए वेदों का कथन है कि अपने अंश की ही मांग करो, दूसरों की सम्पत्ति की ओर लालच से न देखो। त्याग की भावना बढ़ाओ।[५२]

क्रोध, ईर्ष्या और कटुभाषण परिवार के नाशक तत्त्व हैं। इनका परित्याग आवश्यक है।[५३] विषय-वासनाओं में न फँसें। अधिक भोगवादी प्रवृत्ति सदा दुख का कारण है अतः अधिक सुखमय जीवन की लालसा भी दुःखद परिणति उत्पन्न करती है। यह शारीरिक और मानसिक शक्ति को क्षीण करती है।[५४] दुर्गुणों, पापों और दुर्व्यसनों से बचें। दुर्व्यसनी व्यक्ति, परिवार और समाज तीनों को नष्ट करता है। अतः इनको परिवार में प्रविष्ट न होने दिया जाय।[५५] असत्य को छोड़ें। असत्य-व्यवहार परिवार का नाशक है। यह जीवन को नरक बना देता है। मनुष्य को अपने लक्ष्य से च्यूत कर देता है।[५६] वेद के अनुसार यदि इन वर्जित कर्म एवं दुर्गुणों से दूर रहें तो परिवार सदा सुखी और प्रसन्न रहेगा।

इस तरह देखा जाय तो परिवार एक पवित्र तथा उपयोगी संस्था है। इसमें मानव की सर्वांगीण उन्नति का आधार सहयोग, सहायता और पारस्परिकता का भाव रहता है। यह भाव ही वह विशेषता है जिसे वैदिक परिवार संस्था के रूप

---

५१. यजुर्वेद, ३/२७, अथर्व., ९/२/१९-२५
५२. तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः करयस्विद. धनम्। - यजु., ४०/१
५३. सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदात्वाः। - अथर्व., २/१४/१
५४. अन्यत्र पापीरप वेशया धियः। - अथर्व., ९/२/५
५५. पाप्या हतो न सोमः। - यजुर्वेद, ६/३५
५६. पापासः सन्तो अनृता असत्या...। - ऋग., ४/५/५

में देखा जा सकता है। पारिवारिक जीवन का लक्षण है 'प्रेम, आत्मीयता, सहयोग, सहायता, संवेदना, सद्भाव तथा सबके प्रति यथायोग्य व्यवहार। सबकी मंगल कामना, सुख सुविधा का विचार आदि के सात्विक गुण।' इसी लक्षण से परिप्लावित होकर ही सच्ची पारिवारिक भावना का विकास होता है और परिवार का प्रत्येक सदस्य अपना अस्तित्व पूरे परिवार में मिलाकर अभिन्न हो जाता है। इस आत्मविसर्जन के पुण्य से ही लोगों में सच्चे प्रेम और सच्ची आत्मीयता का विकास होता है। यहाँ त्याग-सहिष्णुता को स्वेच्छा से खुशी के साथ वहन किया जाता है। सद्भाव, सदाशयता, स्नेह और आत्मीयता ही वह आधार है जिस पर पारिवारिक एकता और संगठन निर्भर करते हैं। परस्पर स्नेह-सद्भाव से भरा समाज तभी विनिर्मित किया जा सकता है जब उसकी इकाई परिवार संस्था को अक्षुण्ण रखा जाय, उसमें अन्तर्निहित मानवी मूल्यों को आघात न पहुँचने पाये। सहयोग-सहकार भरी परिवार व्यवस्था ही सुख शान्ति से युक्त समाज का मूल आधार है। वस्तुतः परिवार संस्था में ही अभिनव आदर्श समाज की संक्षिप्त झाँकी देखने को मिलती है। परिवार समाज संस्था की इकाई मानी जाती है। इसका समन्वित रूप एवं विकास ही समाज का दिग्दर्शन कराता है। परिवारों से मिलकर समाज का निर्माण होता है।

परिवार का विकास समाज के रूप में

पारिवारिकता का विकास समाज के रूप में होता है। समाज का अर्थ ही है विभिन्न प्रकार की अभिरुचियों, आदतों एवं गुणों से युक्त नर-नारियों, बाल-वृद्धों का समुच्चय। सभ्य समाज वह है जिसमें हर नागरिक को अपने व्यक्तित्व विकास करने एवं प्रगति पथ पर बढ़ने के लिए समान रूप से अवसर मिले।[५७] वैदिक ऋषियों ने ऐसा ही एक सभ्य समाज की परिकल्पना की थी। आधुनिक समाज का जन्म, उद्भव एवं विकास उसी वैदिक समाज से ही हुआ मानना तर्क संगत है। क्योंकि वर्तमान में समस्त समाज शास्त्रियों की व्याख्याएँ एवं परिभाषाएँ किसी न किसी तरह उसी आदर्श समाज की ओर संकेत करती प्रतीत होती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में प्रसिद्ध समाजशास्त्री रोबर्ट विरस्टड अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सोशियल आर्डर' में समाजशास्त्र का अर्थ बतलाते हुए मानते हैं कि सोशियोलॉजी दो शब्दों से मिलकर बना है। सोशियस् और लोगस्। सोशियस का अर्थ है सहचर तथा

---

५७. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- भव्य समाज का अभिनव निर्माण, भाग ४६, पृष्ठ १.२

संगी साथी या साथ देना। लोगस का तात्पर्य है ज्ञान। इस प्रकार सोशियस शब्द लैटिन है और लोगस शब्द ग्रीक है।[५८] इस क्रम में सबसे पहले सोशियोलॉजी शब्द का प्रयोग हर्बट स्पेन्शर ने अपने समाजशास्त्र के सिद्धान्त में किया है। उनके अनुसार मनुष्य जाति के व्यवहार को तब तक समग्र रूप में नहीं समझा जा सकता जब तक उसके समूह पर विचार न किया जाय। सामान्य रूप में सामाजिक विज्ञान विशेषत: सोशियोलॉजी का विकास अपने-अपने चरणों में, समूहों में, घटनाओं के परिणामों में, जातियों के उत्थान-पतन में, केन्द्रीयभूत होकर अनेक समूहों के भूत कालिक रिवाजों तथा व्यवहारों का परिणाम कहा जा सकता है।[५९]

वस्तुत: समाजशास्त्र के स्वरूप एवं उसकी परिभाषा के विषय में सामाज के विद्वानों ने अपने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। साधारण शब्दों में समाज शास्त्र समाज का विज्ञान है। समाज की विविध गतिविधि तथा सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने, जिसका निर्माण सामाजिक अन्त: क्रियाओं के परिणाम स्वरूप होता है। इसके अन्तर्गत सामाजिक संगठन तथा विघटन के तमाम कारणों का विश्लेषण एवं अध्ययन किया जाता है एवं सभ्य व उदार समाज के विकास की रूपरेखा तैयार की जाती है। इस विषय में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार हैं। ओगबर्न एवं नीमकॉफ ने इसे सामाजिक जीवन का एक वैज्ञानिक अध्ययन स्वीकारा है।[६०] मैकाइवर और पेज ने इस सम्बन्ध को नया आयाम देने का प्रयास किया है। उन्हीं के शब्दों में 'समाज शास्त्र को समाज का अध्ययन करना चाहिए। समाज सामाजिक सम्बन्धों का एक बुना हुआ जाल है जो सतत परिवर्तनशील होता है। इसका विषय

---

५८. "Sociology" is comprised of two words: Socious meaning companion ar associate; and Logos; meaning word; Socious is a Latin word and Logas is greek word.
- Robert Biersted- The Social Order, p.4

५९. The behaviour of human beings cannot be fully understood unless their membership in groups is taken into consideration; The social science in general- but sociology in particular have developed around this central fact. Significante aspects of man's behaviour are product of the groups to which he belongs at any moment and of the many groups which have influenced him in the past.
- Herbert Spencer- Principles of Sociology, p.1

६०. Sociology is the scientific study of social life.

वस्तु सामाजिक सम्बन्ध है।'[६१] गिन्सवर्ग के अनुसार समाजशास्त्र मानव अन्त:क्रियाओं तथा अन्तः सम्बन्धों, उनकी दशाओं एवं परिणामों का अध्ययन है।[६२] सिमेल ने गिन्सबर्ग की भाँति समाज में व्यक्तियों की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए कहा है 'समाज शास्त्र व्यक्तियों के अन्तः सम्बन्धों के रूपों का विज्ञान है।'[६३] इसी क्रम में बिलिन एण्ड बिलिन ने भी अपनी अभिव्यक्ति दी है 'समाज शास्त्र के अनतर्गत मानव की अन्तः क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, जो उस समाज में रहते हैं।'[६४]

इस तरह विद्वानों ने समाज को सामूहिक चेतना के रूप में देखना प्रारम्भ किया। ई. दरर्वीम ने अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि समाज शास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व का विज्ञान है।[६५] प्रसिद्ध सामजविद् एलेक्स इंकेलेस ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है 'समाज शास्त्र समाज का अध्ययन करता है। इसे केवल समाज के किसी एक भाग के अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि इसे सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करना चाहिए। अत: यह कहा जा सकता है कि समाज शास्त्र वह विशेष विज्ञान है जो समाज को अपने अध्ययन की इकाई मानता है।'[६६] किंग्सले डेविस ने समाजशास्त्र के अन्तर्गत समस्त समाज के व्यवहारों के अध्ययन एवं अनुसंधान पर जोर दिया है।[६७] एम. जान्सन ने इसी मत को प्रतिपादित किया है 'समाज शास्त्र एक विज्ञान है जो सामाजिक समूहों के बारे में विश्लेषण करता है।'[६८]

आधुनिक समाजशास्त्र के इन परिभाषाओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि

---

६१. It is the web of social relationship, and is always changing. The subject matter of sociology is social relationships as such.
६२. Sociology is the study of human interactions and interelations, their conditions and consequences.
६३. Sociology is the science of the forms of human interactions.
६४. Sociology .... is the study of interaction of human beisgs living in society.
६५. Sociology is the science of collective representations.
६६. Sociology is the study of society. Sociology need not be the study of anyone part. It may be the study of the whole- that is sociology may be a special discipline which takes society as its unit of analysis.
६७. It (Sociology) studies society and social behaviour.
६८. Sociology is the science that deals with social groups.

विभिन्न तत्त्वों के द्वारा समाज संस्था का निर्माण होता है। इसलिए फ्राँसीसी समाजवेत्ता काम्टे के अनुसार सामाजिक स्थिति शास्त्र का कार्य सामजिक संरचना में स्थित अनेक भागों के आपसी क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करना है ताकि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को समझा जा सके। समाजशास्त्र की विषय वस्तु का निर्धारण एवं उसके विभिन्न कारणों का सुस्पष्ट वर्णन हर्बट स्पेंसर ने करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार समाज शास्त्र की विषय वस्तु के अन्तर्गत परिवार, राजनीति, धर्म, सामाजिक नियंत्रण तथा उद्योग आदि को सम्मिलित करना चाहिए।[६९] इन पाश्चात्य समाजविदों का मत समग्र नहीं है। इसकी सम्पूर्णता एवं समग्रता तो वेदकालीन समाज में देखा जा सकता है। जहाँ वैदिक ऋषियों ने अपने गहन अनुसंधानों एवं दिव्य दृष्टि के द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर सामाजिक सिद्धान्तों की परिकल्पना की थी। वैदिक ऋषि मनोविज्ञानी थे इसलिए सामाजिक संरचना को निर्मित करते समय समाज के समस्त बिन्दुओं को स्पर्श किया था। वेदों में जिस समाज की संरचना का या समाज दर्शन का चमत्कृत ज्ञान उपलब्ध होता है वह अद्वितीय एवं अनुपमेय है। वह एक आदर्श समाज व श्रेष्ठ सामाजिक संरचना है।[७०] वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों का समाज दर्शन ऋषियों का वह समाधि के द्वारा प्राप्त ज्ञान है जैसा कि उन्हें आत्मा के शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप के कारण ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ था। अतः स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज में अधिक सात्विकता रही हो तथा समाज अब से अधिक सुखी रहा हो।[७१]

समाज समष्टि है। समाज व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करता है, समन्वय स्थापित करता है और दिशा-निर्देश करता है। समाज गुण-धर्मानुसार कार्यों का विभाजन करता है। समाज के समन्वित विकास के लिए आवश्यक है कि वह सभी दृष्टियों से समुन्नत हो। समाज के सभी पक्षों का उत्कर्ष हो। इस दृष्टि से समाज को सुखी बनाने के लिए उसका सामाजिक और चारित्रिक आदि सभी पक्षों का उन्नयन आवश्यक है। वेदों में समाज के उत्थान व उन्नयन के लिए प्रायः

---

६९. The science of sociology has to give an account of (how) successive generations of units are produced, reared and fitted for cooperation. The development of family thus stands first in order...... development of political organisation..... evolution of ecclesia stical structures and functions...... The system of restraints...... The stages through which the industrial part passes....... have to be studied.

७०. जयदेव विद्यालंकार- वैदिक दर्शन, पृष्ठ ३५२

७१. वही,

सभी पक्षों का प्रतिपादन किया गया है।[७२] समाज को सुखी रखने के लिए आवश्यक है कि उसमें आस्तिकता, सच्चरित्रता, मानसिक प्रसन्नता और मानसिक सुख की अनुभूति हो। इसके अभाव में समाज में अनाचार, पाप-भावना, हिंसा, अत्याचार और अनैतिकता का वातावरण तैयार होता है। अत: सदा शुभ करना चाहिए। जीवन में त्याग के भाव में ही समाज का आधार टिका रहता है। अथर्ववेद का कथन है कि सत्य और आस्तिकता से यह पृथ्वी रुकी हुई है।[७३] जिस समाज में सत्य और आस्तिकता है, वहाँ सुख और शान्ति है, जहाँ इनका अभाव है, वहाँ दु:ख और अशान्ति है। आस्तिकता के वातावरण में ही मनुष्य और सभी प्रकार के जीव सुख से जीते हैं।[७४]

समाज को संगठित करने के लिए आवश्यक है कि समाज में परस्पर सहयोग की भावना हो। समाज में परस्पर सहानुभूति, सौजन्य, सेवा, सहायता, संगठन आदि पर समाज का विकास निर्भर करता है। ये सब परमार्थ परार्थ दूसरों के लिए जीवन-दान से ही सम्भव है। स्वार्थ और संकीर्णता से समाज में विघटन आदि का ही पोषण होता है। संगठन का अर्थ है सहयोग। समाज में सहयोग का स्वभाव बनाये रखना चाहिए और जहाँ भी आवश्यकता हो अवसर हो सहकारिता की, सत्प्रवृत्ति चरितार्थ करने में पूरी तत्परता बरतनी चाहिए। सद्भाव और सहयोग के बल पर ही समाज बनते, सुदृढ़ होते और बढ़ते हैं। संगठन का मूल तत्त्व यही है। वैदिक समाज उन दिनों इन्हीं सांगठनिक गुणों के कारण चरम शिखर पर था। संगठन के इस महान् रहस्य को जानकर ही ऋषियों के हृदय में वेद भगवान् का पवित्र आदेश झंकृत हुआ- हे मनुष्यों! साथ-साथ चलो, तुम्हारे मन के भाव एक हों। जैसे पहले देवता सम्यक् ज्ञान रखकर कार्य करते थे वैसे तुम भी करो। निश्चय ही वेद भगवान् का यह आदेश समाज में संगठनबद्ध रहने के लिए है। अत: वैदिक समाज इसके रहस्य को जानकर परस्पर संगठित, सामूहिक व एकता का मंत्र अपनाया हुआ था। ऐसे समाज में ही सहानुभूति और संवेदना होती है। यह भावना ही समाज को प्रगति की ओर अग्रसर करती है। अतएव वेद का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे की रक्षा करे। उन्हें कष्टों एवं संकटों से बचावे।[७५]

---

७२. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी- वेदामृतम् सुखी समाज, भाग ४, पृष्ठ ५,६

७३. अथर्ववेद, १२/१/१

७४. सर्वो वै तत्र जीवति, गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते, परिधि र्जीवनाय क्रम। - अथर्व., ८/२/२५

७५. ऋग., ६/७५/१४, यजु., २९/५१, तैत्ति. स., ४/६/६/५

समता मनुष्य समाज के सुख, शान्ति और सुव्यवस्था का प्रमुख आधार है। लोगों में जब भी और जहाँ भी ऐसी प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही होंगी, वहाँ देवत्व की प्रचुर मात्रा विद्यमान होगी। समाज को एक सूत्र में पिरोये रखने का आधार समता की भावना है। जिस समाज में ऊँच, नीच का भेदभाव नहीं रहता, वह लौह-जंजीर की भाँति कभी न टूटने वाला रहा है और आगे भी उन्हीं का अस्तित्व रहेगा। समता-संगठन की रीढ़ है जिससे सामाजिक शक्ति जीवित रहती है। अतः ऋग्वेद कहता है 'संसार में न कोई बड़ा है और न कोई छोटा, परमात्मा के पुत्र सभी मनुष्य भाई-भाई हैं। सब मनुष्य आपस में मिलकर जीवन सुखमय बनाने का प्रयत्न करें। एक ही प्रकृति माता की गोद से उत्पन्न सब समान हैं, कोई ऊँच नहीं, कोई नीच नहीं।'[७६] सामूहिक कार्यों में मनुष्य की सद्बुद्धि होनी चाहिए। सामूहिक या सामाजिक कार्यों को सहयोग की भावना से करें। सामाजिक कार्यों में असहयोग या उपेक्षा से प्रगति अवरुद्ध होती है।[७७] प्रत्येक समाज की कुछ प्राचीन परम्पराएँ होती हैं। ये परम्पराएँ उस समाज की प्राचीन संस्कृति की द्योतक हैं। अनुपयोगी और अनावश्यक परम्पराओं का परित्याग उचित है, परन्तु उपयोगी एवं उपदेय परम्पराओं को पूर्ववत् प्रचलित रखना समाज की वृद्धि एवं विकास हेतु परमावश्यक है। अतः वदोक्त कथन है कि प्राचीन परम्पराओं का परित्याग न करें।[७८] समाज सेवा एक पवित्र व्रत है। जो व्यक्ति समाज या देश के लिए जीवन अर्पित करते हैं, उनका सम्मान करना समाज का कर्त्तव्य है। ऐसे व्यक्ति वस्तुतः समाज के लिए पथ-प्रवर्तक और प्रकाश-स्तम्भ होते हैं। ये जन साधारण में जागृति और चेतना उद्‌बुद्ध करते हैं। अतः इन्हें वेद में 'लोककृतः' और 'पविकृतः' कहा गया है। वैदिक उद्‌घोषणा है कि ऐसे समाजसेवियों का सदा सम्मान किया जाना चाहिए।[७९]

❑ नैतिक कर्त्तव्य

नैतिक कर्त्तव्य जीवन की आधारशिला है। नैतिक कर्त्तव्यों के पालन से

---

७६. युवा पिता स्वपारुद्र एषां, सुदुधा पृश्निः सुदिना मरुदभ्यः। – ऋग., ५/६०/५

७७. ऋग., १०/१४१/४, यजु., ३३/८६, अथर्व., ३/२०/६

७८. यथाहान्यनुपूर्व भवन्ति यथ ऋतव ऋतुमिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहाति, एवा घातरायूंषि कल्पयैषाम्॥
– ऋग., १०/१८/५, अथर्व., १२/२/२५, तैत्ति. आर., ६/१०/१

७९. अथर्व., १८/३/२५

ही जीवन उन्नत और विकसित होता है। जिस समाज में नैतिक गुणों का आदर होता है वह समाज दिन-प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर होता है। वेदों में इसके लिए असंख्य मंत्र हैं। समाज में उन्नायक तत्त्वों का विशाल भण्डार है। ये गुण समाज को सुखी, समृद्ध और प्रगतिशील बनाते हैं। इनमें सबसे प्रमुख ऋत् और सत्य है। ईश्वरीय शाश्वत नियमों को ऋत् कहते हैं। ऋत् से ही संसार रुका हुआ है। सत्य महान् है और ऋत् उग्र है। इसका पालन न करने वाला नष्ट हो जाता है।[८०] जीवन में चेतनता, जागृति और प्रबुद्धता का आश्रय सत्य है।[८१] अत: उसे जीवन में अपनाना चाहिए।[८२] सत्य का मार्ग निष्कटंक है। इसमें कभी पतन नहीं है। सदा उन्नति और विकास है। यही जीवन-यात्रा के लिए सर्वोत्तम सरणी है।[८३] सत्य तेजस्विता का आधार है। सत्य की अग्नि पापों और पापियों को नष्ट करती है। पापी सत्यवादी के सम्मुख टिक नहीं सकते हैं।[८४]

समाज में व्यक्ति को निष्काम कर्म की ओर अभिप्रेरित होना चाहिए। निष्काम कर्म करने से मनुष्य कर्म-बंधन में नहीं फँसता है।[८५] उन्नति के लिए आवश्यक है कि शुभ विचारों और सद्गुणों को सभी ओर से अपनावें। शुभ विचार जीवन को पवित्र और उत्कृष्ट बनाते हैं।[८६] शुभ कर्म श्री वृद्धि के साधन हैं। परोपकार, सद्व्यवहार निरर्थक नहीं जाते हैं। ये मनुष्य और समाज को सदा उत्कर्ष की ओर ले जाते हैं।[८७] शुभ कार्यों से ही मनुष्य समाज में आदर पाता है। समाज का नेतृत्व भी सत्कर्मशीलों को प्राप्त होता है।[८८] अत: सदा शुभवचन सुनें, शुभ वस्तुओं को ही देखें, हृष्ट-पुष्ट रहते हुए सौ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त करें। सदाचार, संयम और नैतिक मूल्यों को अपनाने से ही मनुष्य दीर्घायु होता है। अतएव प्रार्थना

---

८०. अथर्व., १२/१/१

८१. ऋग., ७/७६/५

८२. तेन सत्येन जागृतम्, अधि प्रचेतुने पदे।
इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम्। – ऋग., १/२१/६

८३. सुग: पन्था अनृक्षर, आदित्यास ऋतं यते।
नात्रावखादो अस्ति व:। – ऋग., १/४१/४

८४. अथर्व., ४/३६/१

८५. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ꣳ समा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे॥ – यजु., ४०/२

८६. यजुर्वेद, २५/१४

८७. ऋग., ८/८३/६

८८. ऋग., ४/३/१९, अथर्व., २/१८/३/२४

की गई है कि दुर्गुणों को छोड़ें और सदा सद्गुणों को अपनावें। समाज अभ्युदय के लिए उपरोक्त बातों की आवश्यकता होती है। इसी से समाज स्थिर, सुखी और समृद्ध रहता था।

❑ त्याज्य कर्म

समाज का कर्त्तव्य है कि वह सुखी रखने के लिए सर्वप्रथम दुर्गुणों का परित्याग करे। ऋग्वेद का कथन है 'कायरता, दुर्बुद्धि, पर छिद्रान्वेषण और ईर्ष्या-द्वेष के भावों से मुक्त हों।'[८९] पाप, पाप-भावना और निन्दा की प्रवृत्ति से दूर हों। कोई कटुववचन भी कहता है तो उससे कटुवचन न बोलें, अपितु नम्रतापूर्वक बोलें।[९०] जीवन में कभी भी ऋणि न रहें और दुर्वचन न बोलें।[९१] कटुवचन से ईर्ष्या, द्वेष आदि भाव जाग्रत् होते हैं, अतः यह त्याज्य है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में सात कर्मों को त्याज्य बताया गया है। इनमें से एक भी कर्म करने वाला पापी होता है, १. चोरी, २. व्यभिचार, ३. ब्रह्महत्या, ४. मद्यपान, ५. कुकर्म में लिप्त रहना, ६. गर्भपात, ७. पाप करके झूठ बोलना।[९२] ये कर्म सदा त्याज्य एवं वर्जित हैं।

वेदकालीन समाज इन वर्जित गुणों से मुक्त था। उन दिनों समाज में सुसंस्कृत समुन्नत बनाने की आधारशिला मौजूद थी। समाज के नव निर्माण का मूल आधार भी यही है। सामाजिकता ही मानवीय प्रगति की एकमात्र जननी है। इसे वे भली भाँति समझते थे। मुनष्य के मनोविज्ञान का अध्ययन उन्होंने गहराई तक किया और समाज के द्वारा उन पर पड़ने वाले प्रभाव को भी उन्होंने पूरी तरह आंका। उसकी सत्प्रवृत्ति को जाग्रत् करने के लिए सामाजिक आचारशास्त्र का निर्माण किया, जिससे मनुष्य समाज से अच्छा ही अच्छा ग्रहण करे और स्वयं उच्चतर श्रेणी का नागरिक बने।

सामाजिक आचार शास्त्र

सभ्य और सुसंस्कृत समाज के लिए आचार शास्त्र के सिद्धान्त विकसित हुए। वेद में मनुष्य के सच्चे विकास एवं प्रगति हेतु, उसके आत्मिक बल के लिए, बहुत उदात्त आचार शास्त्र का संकलन है। मनुष्य किसी विशेष लक्ष्य के लिए

---

८९. ऋग., ३/१६/५

९०. वही, १/४१/८

९१. न दुरुकाय स्पृहयेत। ऋग., १/४१/९

९२. ऋग., १०/५/६, अथर्व., ५/१/६

जन्म लेता है। मानव-जन्म पूर्वार्जित सत्कर्मों का फल है। इसकी सफलता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए साधन को आचार या चरित्र कहा जाता है। आचार मानव जीवन के सर्वांगीण विकास की एक प्रक्रिया है। किस प्रकार जीवन का उत्थान-पतन होता है, किस प्रकार सफलता या असफलता प्राप्त होती है, किन साधनों से मानव को श्रेय और प्रेय की प्राप्ति होती है और किस प्रकार मानव भौतिक उन्नति के द्वारा सांसारिक सुखों का उपभोग करके अपवर्ग या मोक्ष का पात्र होता है, इन सब विषयों का चिन्तन एवं अध्ययन आचार शास्त्र कहलाता है। आचार-शास्त्र मानव जीवन में सुसंस्कृति का काम करती है। यह दुर्गुणों, दुर्विचारों, दुर्भावों और दूषित तत्त्वों को हृदय से निकाल कर उनके स्थान पर सद्गुणों, सद्विचारों, सद्भावों और सत्प्रवृत्तियों को बद्धमूल करती है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आचार ही मनुष्य का स्वरूप है। मानव जीवन का इतिवृत्त मानव के नैतिक स्वरूप की व्याख्या है। वेदों में इस शास्त्र का मूल सन्निहित है। वेद समता, भातृभाव, विश्व-बन्धुत्व सम्बन्धी शिक्षाओं तथा सदाचार की शिक्षाओं का विश्वकोष ही सिद्ध होता है।

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति अपने ग्रन्थ 'वैदिक-कर्त्तव्य शास्त्र' में वैदिक-कर्त्तव्य शास्त्र (Ethics) के आधारभूत सिद्धान्तों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं-

१. 'परमेश्वर सब प्राणियों का एक ही पिता है।' अत: हम सबको परस्पर भातृभाव तथा मित्रता दृष्टि धारण करनी चाहिए। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए प्राणियों की हिंसा करना अनुचित है। द्वेषभाव को दूर करके प्रेमभाव की वृद्धि करनी चाहिए।

२. 'परमेश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है।' उसकी अध्यक्षता में सार्वभौम अटल नियम कार्य कर रहे हैं। इनके पालन करने से ही मनुष्य मात्र का कल्याण हो सकता है। इनका उल्लघंन करना अपने को आपत्तियों के मुँह में डालना है।

३. 'मनुष्य-जीवन का उद्देश्य दिव्य-शक्ति, दिव्य-शान्ति, दिव्य-ज्योति, दिव्य-आनन्द अथवा मोक्ष प्राप्त करना है।' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना तथा निष्काम शुभ कर्मों का अनुष्ठान (यज्ञ) करना मुख्य साधन है।

४. 'आत्मा दिव्य, शान्ति-सम्पन्न, अमर है और शरीर, मन एवं बुद्धि का अधिष्ठाता है।' सब प्राणियों में आत्मोपम्य दृष्टि धारण करते हुए व्यवहार

करना चाहिए। आत्मा के अंदर काम, क्रोधादि, शत्रुओं को वश में करने की पूर्णशक्ति विद्यमान है, उसे ईश्वर-भक्ति, आत्म विश्वासादि द्वारा विकसित करते हुए पवित्र जीवन बनाना चाहिए।

५. 'कर्म-नियम संसार में कार्य कर रहा है।' किये हुए कर्म के फल से कोई अपने को बचा नहीं सकता। परमेश्वर कर्म-फलदाता है। प्रार्थना आदि का उद्देश्य भावी पाप से स्वयं को मुक्त करता है।

६. 'प्रत्येक व्यक्ति को सदा अंधकार से प्रकाश, मृत्यु से अमृत और पाप से पुण्य मार्ग की ओर आने का यत्न करना चाहिए।' इसके लिए दृढ़ निश्चय अत्यावश्यक है।

७. 'शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का समविकास होना चाहिए।' इनमें से किसी एक ही शक्ति का विकास होना पर्याप्त नहीं है। समविकास ही उन्नति का मूलमंत्र है।

८. 'व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में लगभग एक जैसे अटल नियम, व्यापक नियम कार्य कर रहे हैं।' व्यक्ति और समाज का अटूट सम्बन्ध समझते हुए व्यक्ति को अपनी शक्तियाँ समाज की सेवा में लगा देनी चाहिए।

९. 'बाह्य और आन्तरिक स्वाधीनता अथवा स्वराज्य को प्राप्त करने से ही सुख लाभ हो सकता है।' स्वतंत्रता में ही आनन्द है तथा परतंत्रता में दुःख है। अतः स्वतंत्रता का संरक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति का तथा समाज का मुख्य धर्म है।

१०. 'कर्त्तव्य का निर्णय ईश्वरीय ज्ञान, वेद तथा पवित्र अन्तःकरण की साक्षी से ही हो सकता है।' सदाचार आदि भी उसमें सहायक हैं।

११. 'सत्य ही के कारण इस पृथ्वी का धारण हो रहा है।' सत्य, यश और श्री इन तीनों को उत्कृष्ट समझते हुए सत्य-रक्षा के लिए सर्वस्व तक अर्पण करने को उद्यत रहना चाहिए।

१२. 'परमेश्वर को सदा अपना रक्षक समझते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्दर पूर्णरूप से निर्भयता धारण करनी चाहिए।'[९३]

इस प्रकार वेद में उपलब्ध आचारशास्त्र मानव एवं समाज को समग्र विकास की ओर संकेत करता है। जिसे यहाँ आगे और भी स्पष्ट किया गया है।

---

९३. धर्मदेव विद्यावाचस्पति- वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र, पृष्ठ २-४

❑ प्राणिमात्र में मित्रदृष्टि

वेद में उद्घोष पूर्वक कहा गया है कि मैं, मनुष्यों समेत सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।[९४] अथर्ववेद में गौओं, जगत् के अन्य प्राणियों एवं मनुष्य मात्र के कल्याण की कामना की गयी है।[९५] एक अन्य मंत्र में कहा गया है 'प्रभु हमारे दो पाये और चौ पाये पशुओं के लिए कल्याणकारी और सुखदायी हों।'[९६] इस प्रकार यहाँ दो पाये मनुष्य, पक्षी आदि तथा चौपाये पशुओं की कल्याण कामना की गयी है। अर्थववेद में ही एक अन्य स्थल पर कामना की गयी है कि भगवन्! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ, ... यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि।[९७]

❑ समता एवं समवष्टि की भावना

ऋग्वेद का अंतिम सूक्त समता का अत्यन्त दिव्य वर्णन प्रस्तुत करता है 'हे भगवन्! समस्त सुखों के बरसाने वाले! हे ज्ञान के प्रकाश प्रभो! तू सबका प्रेरक होकर समस्त प्राणियों और सम्पूर्ण तत्त्वों को मिलाता है। तू भूमि पर अग्नि के तुल्य इस अन्न के बने देह में आत्मा के तुल्य, वाणी के परम प्रासव्य, ज्ञातव्य पद ओंकार रूप में प्रकाशित होता है। वह तू हमें अनेक ऐश्वर्य और लोक प्राप्त करा। हे मनुष्यों! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से वार्तालाप करो। विरोध छोड़कर एक समान वचन कहो। आप लोगों के सब मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करो। विरोध छोड़कर एक समान वचन कहो। आप लोगों के सब मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पहले के विद्वान् जन सेविनीय और भजन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुए अच्छी प्रकार उपासना करते रहे हैं और उसी प्रकार आप लोग भी ज्ञान-सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न का सेवन और उपास्य प्रभु की उपासना करो। इन सबका वचन और विचार एक समान हो। परस्पर संगति, मेल-जोल भी एक समान, भेद-भाव से रहित हो। इनका मन एक समान हो। इनका चित्त एक-दूसरे के साथ मिला हो। मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूँ और एक समान अन्नादि पदार्थ प्रदान कर आप लोगों का पालित-पोषित करता हूँ। आप लोगों के संकल्प और

---

९४. यजुर्वेद ३६/१८

९५. स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्य:। –अथर्व., १/३१/४

९६. शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। – यजु., ३६/८

९७. अथर्व., १७/१/७

भाव-अभिप्राय एक समान रहें। आपके हृदय में एक समान रहें। आप लोगों के मन समान हों, जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोग पूर्वक अच्छे प्रकार हो सके।'[९८]

सम-भावना की प्रेरणा देने वाला यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें सब जनों की क्रियाओं, गति, विचारों और मन, बुद्धि के पूर्ण सामंजस्य की प्रेरणा दी गयी है। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इस सूक्त में प्रार्थित समान विचार वाले सभा समाज का कितना उत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सभी सभासदों को एक-सा जन कल्याण का दृष्टिकोण असंदिग्ध रूप से राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाता है। समस्त विश्व में इस भावना की प्रबल आवश्यकता है।[९९]

❑ सौमनस्य चिन्तन

वेदों में सौमनस्य सूक्तों में जो उदात्त भाव प्रकट किये गये हैं, वे भी वैदिक धारा की महान् निधि हैं। सौमनस्य प्रत्येक काल में रहे जिससे समाज में कलह न हो और सब कार्य सुचारू रूप से चलते रहे। स्नेह और सौहार्द्र का यह मंत्र अथर्ववेद से झंकृत होता है। अथर्व वेद कहता है 'मैं तुमको समान हृदय वाला बनाता हूँ। मैं तुम्हें विद्वेष से मुक्त करता हूँ। तुम एक-दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े को प्रेम करती है। अपने सम्मान की रक्षा करो। अपने व्यवहार में सावधान रहो। एक-दूसरे के ऐश्वर्य में वृद्धि करो और पहिये के अरों के समान मिलकर घुमों। एक साथ कार्य करो। मैं तुमको एक साथ प्रेम-सूत्र में बाँधता हूँ। तुम्हारे आदर्श समान व उच्चस्तरीय हों। तुम मिलकर यत्न करने वाले बनों। प्रातः और सायं तुम्हारे मन में शुभ भाव रहे तथा प्रसन्नता का

---

९८. सं समिद्ययुवसे वृषन्नग्रे विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥
सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं स वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाता उपासते॥
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रामभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी वा आकृतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
– ऋग्वेद, १०/१९१

९९. डॉ. कृष्णलाल- वैदिक संग्रह, पृष्ठ १७३

सदा निवास हो।' 'साथ-साथ चलने, कार्य करने वालों, एक समान गति वाले जनों का मन स्वाभाविक रूप से समान हो जाता है। अमरत्व या दीर्घायुष्य की रक्षा करती हुई दिव्य शक्तियों का मनोभाव जिस प्रकार एक जैसा शुभ होता है, उसी प्रकार समान भावना वाले समाज हित के एक उद्देश्य में निरत जनों का मनोभाव भी शुभ हो।'[१००]

❑ सहभोजन का भाव

वेद में सहभाव के लिए सहभोजन पर बहुत बल दिया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है 'सहभक्षाः स्याम'[१०१] अर्थात् हम मिलकर खान-पान करने वाले हों। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी कहा है 'अपने साथियों से सह-पान और सहभोज मुझे प्राप्त हो।'[१०२] वेद में चार प्रकार के व्यक्तियों को अन्न आदि देने का पात्र बतलाया है तथा कहा है कि जो इन चारों में से किस को भोजन न देकर इनसे पूर्व खा लता है वह सुख देने वाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता। वह मित्र नहीं जो साथ रहने वाले सखा के लिए अन्न नहीं देता है। उसका मित्र उससे अलग हो जाता है और यह मानता है कि वह रहने का स्थान नहीं है। वह अन्य सद्भाव से तृप्त करने वाले अपरिचित व्यक्ति तक को चाह सकता है।[१०३] इस प्रकार जो व्यक्ति समय पर काम आने वाले अपने मित्र का अन्नादि से यथावसर स्वागत-सत्कार नहीं करता या अवसर पड़ने पर प्रेम-पूर्वक खाने-पीने का आग्रह नहीं करता ऐसे शुष्क व्यक्ति से उसका मित्र अलग हो जाता है। इस प्रकार वह व्यक्ति एक दिन सब मित्रों से वंचित हो जाता है।[१०४] वेद आज्ञा देता है कि समृद्ध व्यक्ति को याचना करते हुए सुपात्र अतिथि आदि को तृप्त करना ही चाहिए। उसे उदारता के मार्ग को समझना चाहिए क्योंकि धन-सम्पत्तियाँ रथ की पहियों की भाँति सदा आवर्तन किया करती हैं तथा अन्य व्यक्तियों के पास आती जाती हैं। वेद का कथन है कि नासमझ व्यक्ति व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। सच कहता हूँ वह अन्न उसके लिए घातक ही है जो अपने अन्न से न तो ईश्वरोपासक पूजनीय विद्वान् का पोषण करता है और न ही बन्धु-बान्धवों का। ऐसा वह मात्र स्वयं खाने वाला नितान्त पापी होताहै।[१०५]

---

१००. सातवलेकर- जनता का हित करने का कर्त्तव्य, पृष्ठ २

१०१. अथर्व., ६/४७/१

१०२. सग्धिश्च में सपीतिश्च में। यजु., १८/९

१०३. ऋग., १०/११७/३

१०४. वही, १०/११७/४

१०५. वही, १०/११७/५-६

❑ भद्र-भावना

वैदिक मंत्रों की एक दूसरी अनोखी विशेषता उसकी भद्र-भावना है। यह कल्याण-भावना भोगेश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय लोलुप या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, संयत जीवन, आपत्तियों के आने पर भी अपने कर्त्तव्य से मुँह न मोड़ना, उसके स्वभाव, उसके व्यक्तिगत के अन्तःस्वरूप की आवश्यकता है। इस सात्विक भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण भावना निहित है। मानव को परमोच्च देव-पद पर बिठाने वाली यह भद्र भावना वैदिक प्रार्थना में झलकती है 'हमें सभी ओर से भली भावनाएँ मिलें। उनमें धोखा न हो। उनमें बाधा न हों। उनमें उन्नति ही उन्नति हो, उनसे देवता तुष्ट होकर दिन-दिन हमारी रक्षा करें। वृद्धि करें, हमारा सदा साथ दें। देवताओं की भली कल्याणी धारणा हमारे अनुकूल हों। देवताओं के दान का मुख हमारी ओर हो। हमने देवताओं की मित्रता प्राप्त की है। वे हमारी आयु बढ़ावें और हम पूर्ण जीवन पावें। हे देवताओं! हम कानों से भला सुनें। हे पूजनीयों! हम आँखों से भला देखें। हमारा अंग-अंग स्थिर हो। हम सदा स्तुतिशील बने रहें। हमारे तन दैव-प्रदत्त आयु भर ठीक चलें। हे सर्वजगदुत्पादक परमेश्वर, आप हमारे सब दुःखों और दुर्गुणों को दूर भगा दो। जो कुछ मंगल-कारक हो, उसे हमारे यहाँ ले आओ।'[१०६]

वेद स्वस्ति कामना करते हुए कहता है 'सुविस्तृत मार्गों पर हमें सुख लाभ हो। भूमि के मरु-भागों में हमें सुख प्राप्त हो। जल प्रधान प्रदेशों में हमें सुख लाभ हो। खुले मैदानों में हमें सुख लाभ हो। घनी बस्तियों में हमें सुख लाभ हो। सन्तति कारक गृह-सम्बन्धों में हमें सुख लाभ हो। हे मरुतों! सुख बढ़े, समृद्धि बढ़े, जो श्रेष्ठ धनवती शुभ स्थिति दूर यात्रा में भी हमारा पूरा साथ देती है् और त्वरित गति से इष्ट सिद्धि का द्वार खोल देती है, उसके रखवाले

---

१०६. आ नो भद्रः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सद्मिद् वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥
देवानां भद्रा सुमितिर्ऋजूयतां, देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुपमेदिता वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
– ऋग., १/८९/१-२, ८

सब देवता स्वयं हैं। वह सदा हमारी बनी रहे। वही घर पर और वही हमारी रक्षा करे।'[१०७]

❑ विश्व शान्ति

वेद की उद्घोषणा है कि मित्र हमारे लिए सुखकारी हो। वरुण हमारे लिए सुखकारी हो। अर्यमा हमारे सुखकारी हो। इन्द्र हमारे लिए सुखकारी हो। बृहस्पति हमारे लिए सुखकारी हो। विशालगामी विष्णु हमारे लिए सुखकारी हो। विस्तृत प्रकाश वाला सूर्य हमारे लिए सुखकारी होता हुआ उदय हो। चारों प्रदेश हमारे लिए सुखकारी हों। रक्षा करता हुआ सविता हमारे लिए सुखकारी हो। प्रकाशवती उषाएँ हमारे लिए सुखकारी हों। हमारे मेघ सुखकारी हो, जिससे हम प्रजावान् हो सकें। खेती की रक्षा करने वाला शंभु हमारे लिए सुखकारी हो। हमारे लिए द्युलोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए पृथिवीलोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए जो हो चुका और हो रहा है सभी कुछ शान्तिकारी हो। वायु हमारे लिए सुखकारी होता हुआ चले। सूर्य हमारे लिए सुखकारी होता हुआ चमके। प्रबल मेघ हमारे लिए सुखकारी होता हुआ घन गर्जन कर बरसे। द्यु-लोक शान्ति स्वरूप हो रहा है। मध्य लोक शान्ति स्वरूप हो रहा है। पृथिवी लोक शान्ति स्वरूप हो रहा है। जल शान्ति स्वरूप हो रहा है। औषधियाँ और वनस्पतियाँ शान्ति स्वरूप हो रही हैं। सब देवता शान्ति स्वरूप हैं। ब्रह्म शान्ति स्वरूप हैं। सर्वत्र शान्ति है। शान्ति है। शान्ति है। वही शान्ति मुझे मिले।[१०८] विश्व शान्ति का यह मंत्र अद्भुत एवं आश्चर्यजनक है।

---

१०७. स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्पप्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन॥
स्वस्ति रिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वस्त्यभि या वाममेति।
सा नो अमासो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवमोपा॥
—ऋग्वेद, १०/६३/१५-१६

१०८. शन्नो मित्रः शं वरुणः, शन्नो भवत्वर्य्यमा।
शन्न इन्द्रो वृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
शन्न सूर्यउरुचक्षा उदेतु शन्नश्चतस्त्रः प्रदिशो भवन्तु।
शन्नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शन्नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥
शन्नो देवः सविता त्रायमाणः शन्नो भवन्तूषसो विभातीः।
शन्नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः॥
शान्ता द्योः शान्ता पृथिवी, शान्तिमिद्भुर्वन्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः॥

❑ भूमि हमारी माता है

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'[१०९] अथर्ववेद के भूमिसूक्त में मानव साहित्य में प्रथम बार पृथ्वी माता को माता कहकर अपने आपको उसका पुत्र की घोषणा हुई। 'मातृभूमि' की धारणा का यह प्रथम उद्‌गार है। इस सूक्त में विविधरूपा वसुन्धरा की अनेक सुन्दर तथा कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में स्तुति की गयी हैं। यह विविध औषध वनस्पतियों से सब प्राणियों का भरण पोषण उसी प्रकार करती है जिस प्रकार कोई माता दूध से अपने शिशुओं का करती है। भूमि अटल है, दृढ़ है, अपने शिशुओं के लिए सब कुछ सहन करती है। सूर्य, चन्द्रमा, पर्जन्य प्रभृति महती दिव्य शक्तियाँ निरन्तर पृथ्वी की रक्षा करती हैं। पृथ्वी रत्नगर्भा है। प्राणी मात्र के लिए ऊर्जा का महान् स्रोत है। यह ऊर्जा और दृढ़ता मनुष्य को सतत् दृढ़ और स्वतंत्र रहने की प्रेरणा देती रहती है।

भूमि सबके लिए समान है, सबको समता का व्यवहार सिखाती है। इसलिए पाँचों मनुष्य उसके ही बताये गये हैं।[११०] भूमि को अदिति, कामनाओं का दोहन करने वाली, विस्तृत और प्राणियों का बीजवपन करने वाली बताया गया है।[१११] बारम्बार भूमि से प्रार्थना की गयी है कि वह सब प्रकार से सुरक्षा प्रदान करे, दीर्घायुष्य बनाये, धन-धान्य से सम्पन्न तथा औषधि रस, गोरस, जल आदि से समृद्ध होकर सभी प्राणियों को सुखी बनाये।

जिस विस्तार और ख्याति देने वाली मातृभूमि की सदा जागरूक रहने वाले विविध व्यवहारों में कुशल विद्वान् प्रजाजन प्रमाद रहित होकर रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए प्रिय मधु को दुहा करें। पूर्ण रूप से दिया करें और

शान्तानि सर्वाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः॥
शं नो वातः पवताꣳ शं नस्तपसु सूर्यः।
शं नः क्रनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु॥
द्‌योः शान्तिर अन्तरिक्षꣳ शान्तिः।
पृथिवी शान्तिर् आपः शान्तिर् ओषधयः शान्तिः॥
वनस्पतयः शान्ति र्विश्वेदेवा शान्ति ब्रह्म शान्तिः।
सर्व ꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि॥
– ऋग., १०/९०/९, ७/३५/८-१०, अथर्व., १९/९/१-२, यजु., ३६/१०-१७

१०९. अथर्व., १२/१/१२
११०. अथर्व., १२/१/१५
१११. त्वमस्यावपती जनानामदितिः कामदुधा पप्रयाना। – अथर्व. १२/१/६१

हमें तेजी के साथ वृद्धि प्रदान करें। जो पहले समुद्र में, जल में थी, जिसकी बुद्धिमान लोग अपनी कौशलयुक्त बुद्धियों से सेवा करते हैं, जिससे हमारा विस्तार करने वाली और हमें ख्याति देने वाली मातृभूमि का अमर हृदय परम रक्षक और आकाश की भाँति परम व्यापक परमात्मा में सत्य से ढका हुआ है, वह हमारी मातृभूमि हमारे दीप्त तेज को, बल को धारण करें। जिसमें सेवक होकर चारों ओर बहने वाले जल दिन-रात प्रमाद रहित होकर बह रहे हैं। अनेक धाराओं वाली हमारी मातृभूमि हमारे लिए जल और दूध को दुहे, पूर्ण रूप से प्रदार करे और हमें तेज से सींचे और बढ़ावे।[११२]

❑ वैदिक वीर भावना

यह संसार एक समर स्थली है। मनुष्य बड़े-बड़े संघर्षों में से होकर गुजरता है। चारों ओर विघ्न-बाधाएँ और शत्रु मुँह बाये खड़े हैं और उसे हड़पना चाहते हैं। इधर आन्तरिक क्षेत्र में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि की पैशाची सेना मन पर आक्रमण करने को तैयार खड़ी है, तो उधर भयंकर व्याधियों की सेना शरीर पर आक्रमण करने का उपक्रम कर रही है। इधर धूर्त-वंचक, छली मनुष्य को अपने चंगुल में फँसाने की चेष्टा कर रहे हैं, तो उधर अत्याचारी लोग उसकी गर्दन को तलवार का निशाना बनाने पर उतारू हो रहे हैं। ऐसे में वेद की प्रेरणा है कभी तू आततायी राक्षस के अत्याचार को सहन मत कर। हे वीर! राक्षस को जड़ समेत उखाड़ फेंक।[११३] वेदों में वीरता का पर्याय अशान्ति फैलाने वाले राक्षसों के विरुद्ध जेहाद ही आमंत्रण है। पाप, अन्याय, अत्याचार, अविद्या किसी भी कोटि के राक्षस को सहन मत कर, सभी राक्षसों को संसार में मिटाकर सुख शान्ति के साम्राज्य को स्थिर करो, अपने और अपने समाज को राक्षसहीन करके देवतुल्य बनाओ यही वेद का संदेश है। वेद आगे उद्बोधन करता है वीरों! उठो, आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो। तुम्हारी भुजाओं में बल हो, उसे परास्त कर दे। तेरे शस्त्र को कोई रोक नहीं सकता। शत्रु को झुका देने वाला बल तुझमें विद्यमान है। आततायी को मार भगाओ।[११५]

---

११२. यस्या हृदयं परमे व्योम न्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भिरिधारा पयो दुहामयो उक्षतु वर्चसा॥ – अथर्ववेद, भूमिसूक्त

११३. उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र।– ऋग., ३/३०/१७

११४. ऋग., १०/१०३/१३

११५. वही, १/८०/३

❑ जुआ मत खेलो

ऋग्वेद का अक्ष सूक्त एक जुआरी का आत्म-प्रलाप है। इसमें बहुत काव्यात्मक रूप में जुए के प्रति जुआरी का अनायास आकर्षण, उसके द्वारा सम्पादित गृह विनाश और समाज द्वारा उसकी गर्हणा और अन्त में इस सबके फलस्वरूप स्वयं जुआरी के द्वारा हाथ से कमा करके खाने का उपदेश दिया गया है।[११६] सूक्त का अर्थ है 'इस बेचारी ने मुझे कभी रोका नहीं, न इसने मेरा कभी तिरस्कार किया है। मेरे द्यूतकार मित्रों के तथा मेरे साथ वह बड़े सौजन्य से पेश आती थी, किन्तु प्रायः एक अंक से अधिक इन अक्षों के लिए मुझसे एकनिष्ठ रहने वाली भार्या को भी मैं तिरस्कृत करता आया हूँ। उसकी सास उसका तिरस्कार करती है और उसकी भार्या भी उसको रोकती है। जब वह याचना करने लगता है तब दया दिखाने वाला कोई भी मनुष्य उसे मिलता नहीं। मूल्य कम करने योग्य बूढ़े घोड़े की तरह, मुझ उस जुआरी का कुछ भी उपयोग नहीं होगा।'[११७] हारा हुआ जुआरी भिखारी बन जाता है। वह ऐसा भिखारी है, जिससे किसी की सहानुभूति नहीं होती। उसके सभी सगे सम्बन्धी पराये हो जाते हैं। इस प्रकार जुआरी का कोई भोग दिखायी नहीं देता, जिससे औरों को सुख हो।

जुआरी को जुआ खेलने का ऐसा व्यसन हो जाता है कि वह उससे विमुख होने में विवशता का अनुभव करता है। वह बार-बार जुआ छोड़ने का निश्चय करता है। जुआरी मित्र उसे हरा कर उसके घर तक छोड़ने आते हैं और फिर द्यूत स्थल को जाते हैं, तब वह सोचता है कि मैं इनके साथ न जाऊँ और फिर द्युत-विरक्त हो जाऊँ। परन्तु द्यूत-पटल पर पासों के पड़ने का शब्द मानों उसे विचलित कर देता है और फिर वह जाये बिना नहीं रहता।[११८] कम से कम आज मेरी जीत होगी। इस प्रकार विचार करके अक्ष उसके प्रतिस्पर्धी को ही 'कृत' संज्ञा का दान समर्पित करके उसकी अभिलाषा को मिट्टी में मिला देते हैं। सचमुच ये अक्ष हाथ में अंकुश हैं और प्रतिपक्षी को व्यथित करने वाले, मानो दूसरे को अपमान करने वाले, पीड़ा देने के लिए दूसरों को प्रवृत्त कराने वाले ही हैं। ये अक्ष नीचे पड़े रहते हैं लेकिन द्यूतकार के ऊपर काटते रहते हैं। ये स्वयं बिना हाथ के होकर भी हाथ वाले द्यूतकार को परास्त करते हैं। द्यूत पटल पर फैले हुए ये स्वर्गीय धधकते अंगार स्वयं शीतल होकर भी द्यूतकार के हृदय को जला देते हैं।[११९] अन्त

---

११६. डॉ. कृष्णलाल- वैदिक संग्रह, पृष्ठ १४४

११७. ऋग्वेद, १०/३४/२-३

११८. वही, १०/३४/५

११९. वही, १०/३४/६,७,८

में जुआरी पासों से प्रार्थना करता है कि वे उसके मित्र हो जायें और उसे अपने जाल में फँसाकर कष्ट न दें। अब वह अपना पूर्ण जीवन सुधारना चाहता है। इसलिए वह द्यूतक्रीड़ा से पृथक् होना चाहता है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार से अक्ष देवताओं का उसके प्रति क्रोध और दानहीनता की भावना शान्त हो जायेगी। अब तो कोई दूसरा ही उसके समान दुःखी होकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए वभ्रुवर्ण पासों के बंधन में फँसेगा।

❑ निष्पाप होने की प्रार्थना

ऋग्वेद में परमात्मा से पापों को भस्म कर देने की अत्यन्त मार्मिक प्रार्थना की गयी है। पाप-विनाशन की भावना का यह प्रवाह समस्त वैदिक धारा में प्रवाहमान है। ऋषि परमात्मा से प्रार्थना करता है 'हे प्रकाश स्वरूप देव! हमारे पाप को भस्म कर हमारी सद्‌गुण-सम्पति को प्रकाशित कीजिए। हम बार-बार प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाप को भस्म कर दीजिए। उन्नति के लिए समुचित क्षेत्र, जीवन-यात्रा के लिए सन्मार्ग और विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति की कामना से हम आपका यजन करते हैं। भगवन्! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे हम और साथ ही हमारे तत्त्वदर्शी विद्वान् भी विशेषतः सुख और कल्याण के भाजन बन सकें। हम आपके गुणों का गान करते हुए जीवन में उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त कर सकें। भगवन्! आप विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाले हैं। आपके प्रकाश की किरणें सर्वत्र फैल रही हैं।आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए। महिमाशील भगवान्! नाव से जैसे नदी को पार किया जाता है, उसी प्रकार आप हमें कल्याण प्राप्ति के लिए वर्तमान परिस्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्रदान कीजिए। हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।"[१२०]

---

१२०. अप नः शोशुचदधमग्ने शशुग्ध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदधम्॥
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अपः न शोशुचदधम्॥
प्रयद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।
अपः न शोशुचदधम्॥
प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।
अपः न शोशुचदधम्॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति मानवः।
अपः न शोशुचदधम्॥
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।

❑ पवित्र एवं मधुर जीवन

निष्पाप होकर ही पवित्रता की कल्पना की जा सकती है। अतः वेद कहता है 'हे अग्नि देव! जो पवित्र और विशाल ब्रह्म तेरी ज्वाला में लस-लस कर रहा है, उसमें हमें पवित्र करो। देव-जन मेरे विचार पवित्र करें, मनु-गण मेरे विचार पवित्र करें। सब भूत-गण मेरे विचार पवित्र करे। पवित्रकारी भगवन् मुझे पवित्र करे। मेरे अन्दर भक्ति भाव तथा कर्मण्यता का विकास हो। मुझे जीवन और अरोग्य प्राप्त हो। हे सविता देवता। पवित्रता और प्रेरणा दोनों द्वारा हमें पवित्र करो। हम देखकर चलने वाले बनें।'[१२१] पवित्र जीवन में ही मधुर जीवन का उदय सम्भव है। वेदोक्त कथन है 'मैं मिठास को पैदा करूँ । मैं मिठास को आगे बढ़ाऊँ। हे अग्नि देव! मैं पुष्टि से भरा हुआ आया हूँ। मुझे प्रतापी बनाओ। हे अग्नि देव! मुझे प्रताप से युक्त करो। मुझे प्रजा से युक्त करो। मुझ आयु से युक्त करो। देवताओं तक मेरा परिचय हो। इन्द्र तक और ऋषियों तक मेरा परिचय हो। जैसे मधुमक्खियाँ मधु के ऊपर मधु जोड़ती रहती हैं, हे अश्विनी देवों! वैसे ही मेरे अन्दर प्रताप नित्य जुड़ता रहे। मुझमें प्रताप, तेज, बल और ओज एकत्रित होता रहे। जो टीलों पर मिठास होती है, जो पर्वतों पर मिठास होती है, जो गौओं में मिठास होती है, जो घोड़ों में मिठास होती है वही स्वाभाविक मिठास मेरे अन्दर उमगती रहे।'[१२२]

❑ शारीरिक स्वास्थ्य की प्रार्थना

वैदिक ऋषि कामना करता है कि उसके समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें। वाणी, प्राण, आँख और कान अपना-अपना काम ठीक तरह से कर सकें। बाल काले रहे। दाँतों में कोई रोग पैदा न हो। बाहुओं में बहुत बल हो। ऊरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो। इस उक्ति को वेद कहता है 'मेरे मुख में उत्तम वक्तृत्व शक्ति रहे, मेरे नाक में बलवान् प्राण संचार करता रहे, मेरी आँखों में उत्तम दर्शन शक्ति रहे, मेरे कानों में उत्तम श्रवण

अपः न शोशुचदधम्॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नाववे पारय।
अपः न शोशुचदधम्॥
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अपः न शोशुचदधम्॥ – ऋग्वेद, १/९७/१-८

१२१. ऋग., ९/६९/२३, अथर्व., ६/१९/१-३

१२२. अथर्व, ९/१/१४-१८

शक्ति रहे, मेरे बाल श्वेत न हों, मेरे दाँत मलिन न हों, मेरे बाहुओं में बहुत बल रहे, मेरी जाँघों में बड़ी शक्ति रहे, मेरी पिण्डलियों में बड़ा वेग रहे, मेरे पाँवों में स्थिरता रहे, पाँव कभी कांपने न लगें, मेरे सभी अंग अच्छी अवस्था में रहें, रोगी न हों, मेरी आत्मा निरुत्साही न हो।'[१२३] इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य की प्रार्थना की गयी है।

इसके अलावा भी वैदिक आचारशास्त्र जीवन के तमाम बिन्दुओं को स्पर्श करता है। ऐसा कोई पक्ष नहीं, जो अनछुआ हो। वेद कहता है ' बुरी संगत से मनुष्य आनत होता है। हम सदा ज्ञानियों की संगत में रहा करें। सैकड़ों हाथों से इकट्ठा कर हजारों हाथों से बिखेरें। तपस्वी तप से उन्नति करता है। तप के द्वारा बुढ़ापे को दूर करो एवं मृत्यु से विजय प्राप्त करो। ईश्वर भक्त न कभी मारा जाता है और न कभी पराजित होता है। जहाँ परमेश्वर की ज्योति है वहाँ सदा कल्याण ही है। हे ईश्वर! मैं तुझे किसी कीमत पर भी न छोड़ूँ। जो उस ब्रह्म को जान लेते हैं वे मोक्ष पद पाते हैं। आत्मा को जानने पर मनुष्य मृत्यु से नहीं डरता। एक परमेश्वर ही पूजा योग्य और प्रजाओं में स्तुत्य है। ईश्वर के आनन्द में मस्त हो जाता है। बड़ों को मान रखने वाले और उत्तम चित्त वाले तुम लोग अलग-अलग न होओ। उस ब्रह्म को जानने से मृत्यु से छुटकारा है। प्रभो! मरुदेश में तू प्याऊ की भाँति है। पुरुष तेरे लिए आगे बढ़ना है न कि पीछे हटना। उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीवन का धर्म है। सज्जन व्यक्ति सत्य के मार्ग पर चलता है। अपने समान लोगों से आगे बढ़ो और श्रेय प्राप्त करो। हे ईश्वर आप हमारे जीवन-रथ को सबसे आगे प्रथम स्थान पर कर दो। हम उन सबमें श्रेष्ठ हो जावें। हम यशस्वी बनें। उत्तम संतान पैदा करें। जागना ऐश्वर्यप्रद है। सोना दरिद्रता का मूल है। प्रभु हमें फिर प्रबुद्ध करो।'[१२४]

---

१२३. वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णो श्वोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दत्ता बहु वाह्वोर्बलम्॥
ऊर्वोरोजो जङ्धयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा।
अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्ठः॥ – अथर्व., १९/६०/१-२

१२४. ऋग., ५/५१/१५, ७/१/७, १०/१५२/१, ८/१/५, ९/५८/१, १०/४/१, ८/८०/५, १०/५३/६; यजु., ३१/१८, ३९/४, ४/१४; अथर्व., १०/८/१५, ३/२४/५, १३/२/२५, ७/१८/२, ९/१०/१, १०/८/४४, २/२/१, ३/३०/५, ८/१/६, ५/३०/७, २/११/१, ६/५८/२

❑ उपनिषदों में आचारशास्त्र

वेदों के मंत्रों में सन्निहित आचारशास्त्र की व्यापक व्याख्या उपनिषदों में मिलती है। उपनिषदों में शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदि नैतिक प्रत्ययों की विशद् विवेचना हुई है। आचारशास्त्र वेत्ताओं के समक्ष एक प्रश्न खड़ा होता है कि मनुष्य किसी भी संकल्प के चुनने में स्वतंत्र है या नहीं। मनुष्य यदि इसमें स्वतंत्र है तो विकास कर सकता है। अन्यथा उसका विकास अवरुद्ध हो जाएगा। उपनिषदों का मत है कि जीवात्मा अविद्या आदि को छोड़कर अपना विकास कर लेता है। अत: संकल्प स्वातंत्र्य पर उपनिषदों में अलग से विचार नहीं किया परन्तु यह भी कहीं नहीं कहा कि वह परतंत्र है। कुछ उपनिषदों के ऐसे स्थल हैं जो उसकी संकल्प स्वातंत्र्य को सिद्ध करते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि मानव काम, संकल्प और कर्म का समीकरण मात्र है। जैसी उसकी कामना होगी, वैसे ही उसके संकल्प होंगे और संकल्प के आधार पर कर्म होंगे। यह काम, संकल्प और कर्मफल के सम्बन्ध में बड़ा समीचीन विवेचन है। कठोपनिषद् में नचिकेता ने श्रेय और प्रेय मार्ग की पूर्ण स्वतंत्रता में श्रेय मार्ग का अवलम्बन किया। इसी प्रकार इशोपनिषद् में विद्या एवं अविद्या, सम्भूति और असंभूति इन सभी विकल्पों में से उसे चुनने की स्वतंत्रता है।[१२५] उपनिषद् की इस व्याख्या को रामचन्द्र दत्तात्रेय कहते हैं यह स्वतंत्रता आत्मदर्शन के पश्चात् ही प्राप्त होती है।[१२६] परन्तु ऋषि दयानन्द कहते हैं कि जीव संकल्प या कर्म करने में स्वतंत्र है।[१२७]

कर्म स्वातंत्र्य सिद्धान्त को अस्वीकारने पर नियतिवाद मण्डराने लगता है। जहाँ पुरुषार्थ शून्य प्रतीत होता है। इसलिए उपनिषदों में तप को पुरुषार्थ का पर्याय माना गया है। केनोपनिषद् में ब्रह्म ज्ञान की प्रतिष्ठा का आधार या स्तम्भ उसकी नींव तप, दम, और कर्म पर आधारित है।[१२८] शारीरिक नियंत्रण को तप व मानसिक नियंत्रण को दम कहा गया है। इन दोनों का क्रियात्मक रूप ही कर्म है। अत: उपनिषदों का सिद्धान्त प्रसिद्ध रूप में माना जाता है 'चरैवेति-चरैवेति' अर्थात् चलते रहना है। कर्म और ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उपनिषद्कार ने कर्म करते रहने का आदेश दिया है।[१२९]

---

१२५. कठोपनिषद्, २/१/२, ईशावास्योपनिषद्, ९/१२

१२६. रामचन्द्र दत्तात्रेय- उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृष्ठ २०८

१२७. दयानन्द- स्वमन्तव्यामन्तव्या प्रकाश, पृष्ठ २५

१२८. तस्यै तपो दम: कर्मेति प्रतिष्ठा। – केनोपनिषद्, ४/८

१२९. केनोपनिषद्, २/५

नीतिशास्त्र का आदर्श है आप को जानना। उपनिषद् का कहना है कि मनुष्य को स्वयं को पहचानना चाहिए।[१३०] आत्मा के विकास के लिए एवं परम सत्ता को प्राप्त करने के लिए जो रुकाव है और विरोधी प्रभाव है उन्हें शमन करना चाहिए। उपनिषदों का नैतिक जीवन तर्कसंगत एवं विचारशील है। नैतिक जीवन केवल विषय उपभोग का जीवन नहीं है। आत्मा को रथ में बैठने वाला स्वामी जानो तथा मन लगाम की तरह है, इन्द्रियाँ घोड़ों की जगह हैं और सांसारिक पदार्थ मार्ग हैं। इसे समुचित ढंग से जीवन में उतारना चाहिए। अत: इससे स्पष्ट होता है कि अच्छा आचरण करने वाला अच्छा होता है और पाप कर्म करने वाला पापात्मा। उपनिषद् इसी कर्मफल के अनुसार आत्मा की अच्छी और बुरी गति भी मानते हैं। कर्म के अनुसार जीवात्मा को उच्च एवं निम्न योनियाँ प्राप्त होती हैं।[१३१] जो तपस्वी और पवित्र आचरण वाले हैं, जो सत्य पर आरुढ़ हैं उन्हें ब्रह्मलोक मिलता है।[१३२] परन्तु जिनका जीवन पवित्र हो चुका है वे विकसित होकर जिस-जिस लोक व पदार्थ की प्राप्ति का मन से संकल्प करते हैं उन लोकों व पदार्थों की उपलब्धि होती है।[१३३] इसी तथ्य का छान्दोग्योपनिषद् भी समर्थन करता है। उसके अनुसार उत्तम कर्म करने वाले उत्तम लोक तथा निन्दित कर्म वाले निम्नतर योनियों को प्राप्त होते हैं।[१३४]

आत्मा की विविध गतियों को जानते हुए ऋषियों ने उपनिषदों के माध्यम से मनुष्यों को शुभ कर्म करने और अशुभ कर्म त्यागने का उपदेश दिया है। शुभ कार्य कष्टप्रद एवं अशुभ कर्म भोगमय होता है। एक प्रिय लगने वाला और दूसरा श्रेष्ठमार्ग परन्तु दुर्गम्य कहा जाता है। हे पूषन्! सत्य का द्वार सुवर्ण के ढक्कन से ढंका हुआ है, आप इसको हमारे सामने से हटाइये ताकि मैं सत्य का दर्शन कर सकूँ।[१३५] इस तरह कर्म की विभिन्नता व व्यवहार का वर्णन उपनिषदों में हुआ है।

---

१३०. कठोपनिषद्, १/५/२४

१३१. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्। – प्रश्नोपनिषद्, ३/७

१३२. प्रश्नोपनिषद्, १/१५/१६

१३३. यं ये लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध सत्व: कामयते योश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यचयेदे भूति काम: ॥
मुण्डको., ३/१/१०

१३४. छान्दोग्य, ५/७/१०

१३५. वृहदारण्यक, ४/४/४, ५/१५/१

❑ उपनिषद् में सद्‌गुण विवेचन

तैत्तिरीय उपनिषद् में अनेक सद्‌गुणों का उपदेश प्राप्त है। यहाँ पर सत्य बोलने, तप, संयम और शान्ति की साधना करने, अतिथि सत्कार करने, मनुष्यता का पालन करने का विवेचनात्मक अध्ययन मिलता है। सत्य वचन अधिकतर सद्‌गुण का उपेदश देते थे। तपोनिष्ठ पौरुषादि तपोगुण को प्रधान रूप में महत्त्व देते हैं। इस उपनिषद् में आचार्य शिष्य को कहता है कि देव और पितृ कार्य में से विमुख न होना तथा माता, पिता, गुरु और अतिथि को देवतुल्य मानना चाहिए। जो अपने से ज्ञान में श्रेष्ठ है उन्हें सम्मान प्रदान करना चाहिए। प्रत्येक अवस्था में श्रेष्ठ कर्म करना एवं दान देना चाहिए। इसमें लेने की प्रवृत्ति की अपेक्षा हमेशा देने का ही उपेदश किया गया है।[१३६] सद्‌गुणों का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में भी मिलता है। घोर अंगिरस के अनुसार मनुष्य के प्रधान सद्‌गुण हैं; तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य। इसमें पाँच महापातकों का वर्णन किया गया है। ये हैं चोर, मद्यप, व्यभिचारी, ब्रह्मघाती और उनके सहकारी। वृहदारण्यक में भी सद्‌गुणों की उद्‌घोषणा हुई है। उसके अनुसार दान की वृत्ति के द्वारा समाज समृद्धशाली बनता है। दमन, दान और दया तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति प्रधान मनुष्यों के लिए तीन अलगं-अलग मुख्य गुण हैं।

आचारशास्त्री उपनिषदों को निराशावाद को प्रोत्साहन का आरोप मढ़ते हैं। परन्तु यह युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। इस विषय में रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे का विचार है कि यहाँ सुख निरपेक्षवाद परिवर्तित होकर परमनिराशावाद के स्वरूप में परिणत हो गया है। वे आगे कहते हैं एक अजर-अमर जीवन के शाश्वत आनन्द का अनुभव कर लेने के पश्चात् कौन क्षमाशील मनुष्य सौन्दर्य और वासना के क्षणिक सुखों के चिन्तन में आनन्द पा सकेगा।[१३७] मैत्री उपनिषद् में भी वासनाओं की तृप्ति से ऊपर उठने को कहा गया है। काम, क्रोध, लोभादि से ऊपर उठने का उपदेश स्पष्ट रूप में दिया गया है। उपनिषद् प्रेमी शोपेन हावर का भी यही मत है कि मनुष्य को केवल भौतिक सुख को ही प्रधानता नहीं देनी चाहिए अपितु उससे श्रेष्ठ जो आत्म तत्त्व है उसे जानने का प्रयास करना चाहिए।

उपनिषद् ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि संसार को छोड़कर कहीं भाग जाओ। अपितु वे तो यहीं रहते हुए सौ वर्ष तक कर्म करने का उपदेश देते हैं।[१३८]

---

१३६. तैत्तिरीयोपनिषद् शीक्षावल्ली, एकादशः नवम अनुवाक।
१३७. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे- उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृष्ठ १९२
१३८. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। - ईशावास्य, २

डॉ. राधाकृष्णन की मान्यता है कि बाह्य पदार्थों के बंधन से मुक्त होने के लिए हमें वन में एकान्त रहने की आवश्यकता नहीं, न एकान्तवास को बढ़ाने की आवश्यकता है और न तपस्या की आवश्यकता जिससे की सांसारिक पदार्थों का सम्बन्ध एक साथ ही छूट जाय।[१३९] डॉ. राधाकृष्णन आगे कहते हैं उपनिषद्काल में इन्द्रियों के दमन व आत्याचार के विरोध में प्रबल आवाज सुनाई दी थी। यूकन के अनुसार उपनिषदों का लक्ष्य अधिकतर सांसारिकता के अन्दर विजय प्राप्त करने के अलावा उससे अनासक्ति एवं मुक्ति पाना है। कठोर से कठोर बाधा के विरुद्ध स्थिर रहने के लिए जीवन को दीर्घ बनाना नहीं है, वरन् प्रत्येक प्रकार की कठोरता को कम करना एवं नरम करना है तथा एक प्रकार की विलीनता धीरे-धीरे तिरोधान हो जाना एवं गम्भीर चिन्तन है।[१४०] गफ की मान्यता है कि उपनिषदों के अनुसार ऋषि दैवीय जीवन में भाग लेने का प्रयत्न केवल पवित्र भावना, उच्च विचार एवं अथक परिश्रम द्वारा नहीं बल्कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा सत्य कर्म द्वारा एकान्तवास, अनासक्ति, निष्क्रयता एवं समाधि द्वारा भी करते हैं।[१४१] उपर्युक्त मतों का प्रत्याख्यान करते हुए डॉ. राधाकृष्णन की मान्यता समीचीन प्रतीत होती है कि नैतिक जीवन का सार इच्छा को एवं स्वप्न व भ्रान्तिमात्र समझना है और जो भी कुछ उसके विरुद्ध जाता है वह उपनिषदों के व्यापक भाव से सर्वथा विपरीत है।[१४२]

इन मतों से तथ्य की पुष्टि होती है कि उपनिषद् संसार को त्याग करने का उपदेश नहीं देते हैं। इस विरक्ती का तात्पर्य मनुष्य जाति के लिए निराशा एवं संसार को त्यागने का एकमात्र अवलम्बन नहीं है अपितु इन्द्रियजन्य सुख के परे की सद्वस्तु को दिग्दर्शन कराना है। मोक्ष का अवलोकन इसी का ज्वलन्त उदाहरण है। उपनिषदों में जहाँ आध्यात्मिकता का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में वर्णन उपलब्ध है वहाँ सामान्य ज्ञान एवं समाज में आचार शास्त्र के प्रचलन की भी विवेचना है। कठोपनिषद् में नचिकेता सर्वप्रथम अपने पिता को शान्त करना ही अपेक्षित समझता है।[१४३] श्वेताश्वर उपनिषद् में आया है कि हमें अपने बच्चों और पुत्रों के वियोग से

---

१३९. डॉ. राधाकृष्णन्- अनु. नन्दकिशोर गोमिल, उपनिषदों का दर्शन, धृ., १९९
१४०. Uken- Main Currents, p.13
१४१. Guf- Philosophy of the Upanishads, pp.266-267
१४२. डॉ. राधाकृष्णन्- भारतीय दर्शन, पृष्ठ २०
१४३. शान्तसंकल्पः सुमनायथा स्याद्वीतमन्युर्गोतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एततयाणां प्रथमं वरं वृणे। - कठो., १/१/१०

पीड़ित न करो। हमारे बलवान वीरों को मत मारो।[१४४] उपनिषद् कहती है कि जब तक पूर्णरूपेण हम अन्तर्मुखी नहीं होते या हमारे मन की सामान्य स्थिति होती है तो हमें अपने सामाजिक कर्त्तव्यों को कदापि विस्मरण नहीं करना चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मानुभूति के नैतिक तथा रहस्यात्मक पक्षों का उत्तम रीति से समन्वय मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में भी यही तुलना सूक्ष्म रूप में प्रदर्शित की गई है।

आचारशास्त्र में कई प्रकार की मान्यताएँ है। उनमें से एक मान्यता है- सुखवाद। यह सुखवाद दो प्रकार का होता है १. स्वार्थ सुखवाद, २. परार्थ सुखवाद। ऋषि दयानन्द नैतिक सिद्धान्त को निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित मानते हैं-

१. यह आत्मा अभौतिक है, असृष्ट है और अमर है।

२. यह चेतन है, इसमें ज्ञान, संवेदन है और प्रयत्न होते हैं।

३. आत्मा स्वतंत्र है। स्वतंत्रता इसकी मौलिक सम्पत्ति है। इसकी स्वतंत्रता किसी बाहरी तत्त्व से नहीं अपितु स्वतः प्राप्त है। यह स्वतंत्रता कर्म करने में है, फल भोगने में नहीं।

४. आत्मा असीमित नहीं है। इसका ज्ञान, कार्य सब सीमित है। इसकी उन्नति और अवनति दोनों सम्भव है। उन्नति के लिए सदैव प्रयासरत रहना चाहिए।

५. मनुष्य को बहुत ऊँचे उद्देश्य तक जाना है। अतः उसके उत्तरदायित्व का क्षेत्र बहुत बड़ा है। अनेक विकल्पों में से किसी एक को चुनना है। उस चुनाव के लिए आचारशास्त्र सहायक होता है।

६. केवल मनुष्य ही नहीं अपितु प्राणीमात्र के पीछे एक उद्देश्य है।

७. आत्मा सक्रिय तथा विकासशील है। इसी प्रकार संसार भी विकासशील है। संसार की गति के साथ अपनी गति को मिलाना यही नैतिकता सिखाती है।

८. इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य नैतिक सिद्धान्तों का केन्द्र बिन्दु है। व्यक्ति समाज के लिए है और समाज व्यक्ति के लिए। इन दोनों का निर्माण आवश्यक है। इस तरह आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य एवं समाज में उच्च

---

१४४. श्वेताश्वर., ४/२२

आदर्शों की स्थापना कर उसे शिष्ट आचरण युक्त बनाना है। आदर्शों से अभिप्राय उन स्वीकृत मापदण्डों से है जिसके आधार पर किसी मनुष्य के आचरण का आकलन किया जाता है। आचारशास्त्र ही तो समाज के समस्त क्रिया कलाप का मानदण्ड स्थिर करते हैं। यही मानदण्ड आगे चलकर सामाजिक जीवन व्यवस्था के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

सामाजिक जीवन व्यवस्था

वैदिक ऋषि महर्षि एवं तत्त्वदर्शी सामाजिक जीवन व्यवस्था में सुख शान्ति एवं प्रगति की सर्वोपरि आवश्यकता का महत्त्व भली प्रकार समझते थे। इसके लिए उन्होंने प्रबल प्रयत्न भी किये, अपने बहुमूल्य जीवन को इसी आवश्यकता की पूर्ति के साधन विनिर्मित एवं प्रचलित करने में घुला दिया। उनकी इस पुण्य प्रक्रिया को संस्कृति का सृजन कहा जाय तो उपर्युक्त होगा। उनकी जीवन पद्धति में सर्वोपरि, सर्वाधिक स्थान इसी बात का था कि वे सामाजिक जीवन में इस प्रक्रिया को सजीव एवं सुविकसित बनाये रखें। इन्हीं पुण्य प्रक्रियाओं को ही 'संस्कार' कहा जा सकता है। संस्कार वे उपचार हैं जिनके माध्यम से समाज में मनुष्य को सुसंस्कृत बनाया जाता है। मनुष्य जीवन को सुन्दर और उच्च बनाने की विद्या ही संस्कार है। वेदकालीन समाज ने संस्कारों को अपने सांस्कृतिक विकास के आधार स्तम्भ बनाया था। संस्कार जीवन को शुद्ध, पवित्र, परिष्कृत एवं विकसित करते हैं। वे जीवन में उत्साह का संचार करते हैं। ये संस्कार मानव जन्म से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाते हैं तथा मृत्यु पर्यन्त चलते हैं।

जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओं का लेप जीवात्मा पर रहता है। मनुष्य योनि में बंधकर ही वस्तुतः आत्म तत्त्व पकड़ में आता है। मानवी चोले पर ही शुभ संस्कारों का नया रंग चढ़ता है। अतः समाज में व्यक्ति को अच्छे संस्कारों के दुकूल में लपेटने की व्यवस्था की गई है। यह ऐसी व्यवस्था है कि आत्मा के पुराने बुरे संस्कार हटाये जा सकें और उस पर नये संस्कार डाले जा सकें। वर्तमान जन्म में इच्छित संस्कारों को आत्मा पर डालकर उसके जीवन का, नवीन दिशा का निर्धारण किया जाता है। कर्मों के निचोड़ से संस्कार या वासनाएँ बनती हैं। संस्कार के माध्यम से उन्हें सुसंस्कारित किया जाता है। संस्कारों द्वारा ही संस्कारों को बदला जा सकता है।[१४५] संस्कार शब्द का दूसरी भाषा में यथातथ्य अनुवाद करना सम्भव नहीं है। इसके लिए सेरीमनी शब्द का प्रयोग संस्कृत 'कर्म' अथवा

---

१४५. डॉ. दिलीप वेदालंकार- वेदों में मानववाद, पृष्ठ ९०

सामान्य रूप से धार्मिक क्रियाओं के लिए अधिक उपर्युक्त है।[१४६] इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले उन अनुष्ठानों से है जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके। इसका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार न होकर संस्कार्य व्यक्ति से सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है।[१४७]

वैदिक ऋषियों ने संस्कारों की प्रक्रिया को दो भागों में विभक्त किया था। एक उसका वैज्ञानिक स्वरूप, जो मंत्रोचारण, यज्ञानुष्ठान आदि कर्मकाण्डों के रूप में प्रयुक्त होता है। दूसरा प्रशिक्षण जो मंत्रों की व्याख्या तथा विधि-विधानों के रहस्योद्घाटन के रूप में उपस्थित व्यक्तियों तथा जिसका संस्कार हो उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।[१४८] यदि ठीक विधि-विधान से उचित समय और उचित वातावरण में इन संस्कारों को कराया जा सके तो उसका प्रभाव असाधारण ही होगा। जिसका अन्नप्राशन ठीक प्रकार से हुआ हो उसे उदर विकारों से ग्रसित नहीं रहना पड़ेगा। जिसका विद्यारम्भ विधिवत् किया गया है, उसका अध्ययन रुकेगा नहीं। जिसका यज्ञोपवित उचित तरीके से किया जाय वह अजीवन मानव धर्म का अनुयायी ही रहेगा। जिन वर-वधू का विवाह उचित रीति के साथ सम्पन्न किया जाय, उनके जीवन में प्रेम की गंगा अविच्छिन्न रूप से ही बहेगी और उनमें द्वेष-दुर्भाव का बीजारोपण कदापि न होगा। इसी प्रकार अन्य संस्कारों की बात है। हर संस्कार का अपना महत्त्व, प्रभाव और परिणाम है।[१४९]

संस्कारों की चर्चा वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है। गर्भाधान संस्कार का वृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन किया गया है। समावर्तन संस्कार की विवेचना तैत्तिरीय उपनिषद् में हुई है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद उपनयन संस्कार की व्याख्या करते हैं। इस तरह संस्कारों का प्रादुर्भाव वैदिक काल में हो गया था। संस्कारों की संख्या १६ है। इन्हें पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया है- जन्म से पूर्व संस्कार, बाल्यावस्था के संस्कार, शिक्षा सम्बन्धी संस्कार, आश्रम के संस्कार एवं मृत्योत्तर संस्कार।

१. जन्म से पूर्व संस्कार- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन।
२. बाल्यावस्था के संस्कार- जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णबेध।

---

१४६. डॉ. राजबली पाण्डेय- हिन्दू संस्कार, पृष्ठ १७
१४७. वही, पृष्ठ १९
१४८. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाड्मय- षोडश संस्कार विवेचन, भाग ३३, पृष्ठ १.४
१४९. वही,

३. शिक्षा संस्कार- उपनयन, विद्यारम्भ, समावर्तन।
४. आश्रम संस्कार- विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास।
५. मरणोत्तर संस्कार- अन्त्येष्टि।[१५०]

❑ गर्भाधान संस्कार

षोडश संस्कारों में सबसे प्रथम संस्कार गर्भाधान का है। जिसका अर्थ यह है कि यह दम्पत्तियुग्म अपनी प्रजनन प्रवृत्ति से समाज को सूचित करता है। प्रजनन वैयक्तिक मनोरंजन नहीं वरन् सामाजिक उत्तरदायित्व है। इसलिए समाज में विचारशील लोगों को निमंत्रित कर उनकी सहमति लेनी पड़ती है। यही गर्भाधान संस्कार है। अखण्ड ब्रह्मचारी एवं शरीर मन से निरोग पति-पत्नी का एक बार समागम में ही गर्भ स्थापित हो जाना सम्भव है। वैदिक काल में यही सब होता था। इसलिए गर्भाधान संस्कार की आवश्यकता महसूस की जाती रही है। वस्तुत: यह प्रजनन विज्ञान की आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्थिति का मार्गदर्शन कराने वाला प्रशिक्षण ही है।[१५१]

वैदिक काल में गर्भ धारण की ओर इंगित करने वाली अनेक प्रार्थनाएँ हैं। 'विष्णु गर्भाशय निर्माण करें, त्वष्टा तुम्हारा रूप सुशोभित करें। प्रजापति बीज वपन करें, धाता भ्रूण स्थापन करें। हे सरस्वती! भ्रूण को स्थापित करो, नील-कमल की माला से सुशोभित दोनों अश्विन् देव तुम्हारे भ्रूण को प्रतिष्ठित करें।'[१५२] अथर्ववेद के एक मंत्र में गर्भ धारण करने के लिए देवों से प्रार्थना की गई है।[१५३] गर्भाधान एक प्रकार का वैवाहिक हवन है। इस हवन में पति परमेश्वर से प्रार्थना करता है है कि 'धाता गर्भ दधातु ते' अर्थात् परमेश्वर तुम्हें गर्भ धारण करने योग्य बनाए।[१५४] पति और पत्नी गर्भाधान की क्रिया से पूर्व यज्ञ तथा परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं, जिससे गर्भ में स्थित शिशु पूर्ण अवधि तक स्वस्थ और सुरक्षित रहे।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से गर्भाधान संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रक्रिया

---

१५०. महेन्द्र कुमार वर्मा- भारतीय संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ २४
१५१. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- षोडश संस्कार विवेचन, भाग ३३, पृष्ठ ४.२,३
१५२. ऋग्वेद, १०/१८४/१-२
१५३. अथर्व., १४/२/३१
१५४. डॉ. सत्यनारायण पाण्डेय एवं डॉ. आर.बी. जोशी- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृष्ठ ७

सन्तति-उत्पति रूप एक निश्चित उद्देश्य को लेकर ज्येष्ठ से श्रेष्ठ संतान की उत्पत्ति के लिए की जाती हे।[१५५] वैदिक काल में पति-पत्नी शरीर, मन और अर्थ की दृष्टि से सन्तानोत्पादन का भार उठा सकने में पूर्ण सक्षम एवं समर्थ होने के पश्चात ही इस संस्कार के क्रम को आगे बढ़ाते थे। इसे वैयक्तिक मनोरंजन नहीं सामाजिक कार्य समझा जाता था। पति-पत्नी बालक के गुण, कर्म, स्वभाव, स्वास्थ्य, विचार, संस्कार आदि सभी कुछ सुव्यवस्थित करने के पश्चात् ही गर्भाधान संस्कार के लिए प्रस्तुत होते थे।

❑ पुंसवन की प्रेरणा

गर्भ स्थापना के उपरानत आठ मास में दो बार पुसंवन और सीमन्त दो संस्कार बालक पर सुसंस्कारों की छाप डालने और माता-पिता एवं कुटुम्बियों को उत्तरदायित्व बताने के लिए किये जाने का विधान है। पुसंवन का अभिप्राय सामान्यतः उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से पुं-पुमान् (पुरुष) सन्तति का जन्म हो।[१५६] अथर्ववेद तथा सामवेद मंत्र ब्राह्मण में पुमान् (पुरुष) सन्तति की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ उपलब्ध होती हैं।[१५७] पति-पत्नी के निकट प्रार्थना करता है 'जिस प्रकार धनुष पर बाण का संधान किया जाता है उसी प्रकार तेरी योनि में पुत्र को जन्म देने वाले गर्भ का आधान हो। दस मास व्यतीत होने पर तेरे गर्भ से वीर पुत्र का जन्म हो। तू पुरुष को, पुत्र को जन्म दे, उसके पश्चात् पुनः पुसन्तति का प्रसव हो। तू पुत्रों की माता बन उन पुत्रों की जो उत्पन्न हो चुके हैं तथा जिनका तू भविष्य में प्रसव करेगी।[१५८] पुसंवन संस्कार गर्भ धारण के पश्चात् तीसरे अथवा चौथे मास में या उसके पश्चात् उस समय सम्पन्न किया जाता था जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र, विशेषतः तिष्य में संक्रमण कर जाता था।

इस संस्कार के कई प्रयोजन थे। उन दिनों गर्भ का महत्त्व समझा जाता था। जिससे वह विकासवान शिशु, माता, पिता, कुल परिवार तथा समाज के लिए विडम्बना न बने, सौभाग्य और गौरव का कारण बने। गर्भस्थ शिशु के शारीरिक, बौद्धिक तथा भावनात्मक विकास के महत्त्व को समझा जाता था। गर्भिणी के लिए

---

१५५. डॉ. राजबली पाण्डेय- हिन्दू संस्कार, पृष्ठ ७२

१५६. पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत पुंसवनभीरितम्। - शौनक, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १, पृष्ठ १६६

१५७. अथर्व., १/४/८-९

१५८. आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान बाण इवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥ - अथर्व., ३/२३/२

अनुकूल वातावरण, खान-पान, आचार-विचार का उचित निर्धारण किया जाता था। गर्भ के माध्यम् से अवतरित होने वाले जीव के पहले वाले कुसंस्कारों के निवारण तथा सुसंस्कारों के विकास के लिए नये सुसंस्कारों की स्थापना हेतु संकल्प, पुरुषार्थ एवं देव अनुग्रह के संयोग का प्रयास किया जाता था। गर्भिणी को औषधि अवघ्राण कराया जाता था। इसके लिए वह वृक्ष की जटाओं के मुलायम सिरों का टुकड़ा, गिलोय, पीपल की कोमल मुलायम पत्ते को मिलाकर एवं पिसकर औषधि बनायी जाती थी। उसे अवघ्राण करने का तात्पर्य है औषधियों के श्रेष्ठ गुण और दिव्य संस्कार को खींचकर आत्मसात करना। गर्भ कौतुक नहीं एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है इसी कारण गर्भ पूजन का भी विधान था। ताकि गर्भस्थ शिशु को सद्भाव और देव अनुग्रह का लाभ मिले।[१५९] इस संस्कार में यज्ञ की व्यवस्था की जाती थी। यज्ञीय जीवन वैदिक संस्कृति का विशेष उपलब्धि रही है। जीवन एक आहुति है। कृत्य विशेष को यज्ञमय बनाकर उसमें विशेष आहुति देकर इस संस्कार बोध को जीवन्त बनाया जाता था। यज्ञ से बची खीर गर्भिणी को सेवन के लिए दी जाती है। यज्ञ से संस्कारित अन्न ही मन में देवत्त्व की वृत्तियाँ पैदा करता है। अंत में सभी सम्बन्धी एवं बुजुर्ग पुण्य वृष्टि कर गर्भिणी को आशीर्वचन देते थे। सुपर्णोऽसि आदि मंत्रों द्वारा सुन्दर तथा स्वस्थ शिशु के जन्म की कामना की जाती थी।

❑ सीमन्तोन्नयन

गर्भ का तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन था।[१६०] इस नाम का कारण यह है कि उस कृत्य में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर उठाया (उन्नयन) जाता था। गर्भ के पाँचवें मास से भावी शिशु का मानसिक निर्माण आरम्भ हो जाता है।[१६१] जब बच्चे के मानसिक शरीर का निर्माण होने लगता है तब सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता था। इस संस्कार में प्रतीक के द्वारा माता को अपनी संतान में लीन रहने का संदेश दिया जाता था। और वह नौ मास तक अपने संस्करों के ढाँचें में अपनी सन्तान के संस्कारों को ढालने के प्रयत्न में रहती थी। इस संस्कार का एक अन्य प्रयोजन था गर्भिणी स्त्री को यथासम्भव हर्षित तथा उल्लसित रखना। जहाँ सस्कार भी किसी पुरुष नक्षत्र के समय सम्पन्न किया जाता था।

---

१५९. यजुर्वेद, १२/४

१६०. सीमन्त उन्नीयते यस्मिन कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्।

१६१. पंचमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः।

❑ जातकर्म की शुद्धि

बालक के जन्म के उपरान्त उसकी रक्षा के निमित्त जातकर्म संस्कार का सम्पादन किया जाता है। पिता यज्ञ करने के साथ ही बच्चे के स्वास्थ्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। बाधाओं के निवारण के लिए पिता विभिन्न क्रियाएँ करता है। बच्चे को स्नान भी कराया जाता है। बालक को मधु, घृत एवं माँ का दूध मिलाकर पिलाया जाता है। जातकर्म संस्कार के द्वारा शिशु का अभिनन्दन करके उसे अपना व्यक्तिगत प्रभाव पदान करता है। यज्ञ आदि करने के पश्चात् बालक के आयुष्मान, मेधावी, बलशाली तथा ज्ञान सम्पन्न होने की प्रार्थना की जाती है। वह संतान के शतायु होने की कामना करता है तथा संसार की विषमताओं तथा कठिनाइयों में संतान के पत्थर के समान कठोर तथा परशु के सदृश्य समस्त बाधाओं को काटने में समर्थ होने की देवताओं से प्रार्थना करता है।

❑ नामकरण संस्कार का प्रयोजन

नामकरण संस्कार जन्म के दसवें दिन किया जाता है। इन संस्कारों के माध्यम से शिशु रूप में अवतरित जीवात्मा को कल्याणकारी यज्ञीय वातावरण का लाभ पहुँचाने का सत्प्रयास किया जाता है। जीव के पूर्व संचित संस्कारों में जो निकृष्ट एवं हीन हों, उनसे मुक्त कराना, जो श्रेष्ठ हों उनका उभार-अभीष्ट होता है। उन दिनों नामकरण संस्कार कराते समय शिशु के अन्दर मौलिक कल्याणकारी प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं के स्थान, जागरण के सूत्रों पर विचार करते हुए उनके अनुरूप वातावरण बनाया जाता था। शिशु कन्या है या पुत्र इसके भेदभाव को स्थान नहीं दिया जाता था। वैदिक संस्कृति में कहीं भी इस प्रकार भेद नहीं है।[१६२] इसलिए पुत्र या कन्या जो भी हो, उसके अन्दर के अवांछनीय संस्कारों का निवारण करके श्रेष्ठतम की दिशा में प्रवाह पैदा करने की दृष्टि से नामकरण संस्कार का विधान है। यह संस्कार कराते समय शिशु के अभिभावकों और उपस्थित व्यक्तियों के मन में शिशु को जन्म देने के अतिरिक्त उन्हें श्रेष्ठ व्यक्तित्व सम्पन्न बनाने के महत्त्व का बोध कराया जाता था। यज्ञ एवं संस्कार का क्रम वातावरण में दिव्यता लाकर अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति करता है।[१६३]

जीवात्मा शिशु रूप में ईश्वर प्रदत्त सुअवसर का लाभ लेने अवतरित हुई है। ईश्वरीय योजना के अनुरूप अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह की क्षमता उसमें पैदा करने के लिए श्रेष्ठ संस्कारों तथा सत् शक्तियों के स्रोत से उस पर अनुदानों

---

१६२. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- षोडश संस्कार विवेचन, भाग ३३, पृष्ठ ५.१२
१६३. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- षोडश संस्कार विवेचन, भाग ३३, पृष्ठ ५.१२

की वृष्टि हेतु अभिषेक मंत्र का उच्चारण किया जाता है।[१६४] मंत्रोच्चार के साथ शिशु के पिता उसकी कमर में मेखला बांधता है। इस संस्कारित सूत्र के साथ बालक में तत्परता, जागरूकता, संयमशीलता जैसी सत्प्रवृत्तियों की स्थापना की जाती है। मधुप्राशन में बालक को चाँदी के उपकरण से शहद चटाया जाता है। इसका उद्देश्य है बालक की जिह्वा में शुभ, प्रिय, हितकारी, कल्याणप्रद वाणी के संस्कारों का आरोपण। बालक को सूर्य नमस्कार कराया जाता है। सूर्य निरन्तर गतिशीलता, तेज प्रकाश एवं उष्णता का प्रतीक है। उसकी किरणें इस संसार में जीवन संचार करती है। बालक में उन गुणों के विकास की भावना की जाती है।[१६५] बालक को सूतक के दिनों में जमीन पर नहीं बिठाते। नामकरण के बाद उसे भूमि पर बिठाते हैं, इससे पूर्व धरती का पूजन किया जाता है। भूमि को केवल मिट्टी ही न मानकर उसे देवभूमि, जन्मभूमि, धरती माता मानकर सदैव उसके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति का परिचय देना चाहिए। मातृभूमि के अनुदानों से बालक के विकास में भी माली जैसी सावधानी अभिभावकों को बरतनी चाहिए। माता बालक को मंत्रोच्चार के साथ उस पूजित भूमि पर लिटा देती है, ताकि माता वसुंधरा इस बालक को अपना लाल मानकर गोद में लेकर धन्य बना रही है।[१६६]

नामकरण एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य को जिस तरह के नाम से पुकारा जाता है, उससे उसी प्रकार की एक छोटी सी अनुभूति होती रहती है। नाम को सार्थक बनाने की कई हल्की अभिलाषायें मन में जगती रहती हैं। पुकारने वाले भी किसी के नाम के अनुरूप उसके व्यक्तित्व की हल्की या भारी कल्पना करते हैं। इसलिए नाम का अपना महत्त्व है। मंत्रोच्चार के साथ नाम की घोषणा की जाती है। इसके पश्चात् बालक को परस्पर परिवर्तन करने का विधान है। अपने रक्त मांस से उदरस्थ बालक के शरीर का निर्माण कर माता बालक के सर्वांगीण विकास हेतु घर के सभी लोगों की गोदी में उसे देती है। अन्त में लोकदर्शन की प्रथा का पालन किया जाता है। उसे खुले में जाकर विभिन्न दृश्य दिखाये जाते है, जिसका तात्पर्य है कि बालक को इस विराट् विश्व को सही दृष्टि से देखने, समझने एवं प्रयुक्त करने की क्षमता देव अनुग्रह और सद्भावना के सहयोग से प्राप्त हो।

❑ अन्नप्राशन क्यों?

जो खाया जाता है उससे रस, रक्त, मांस, मज्जा, हड्डी, मेद, वीर्य सप्त धातुएँ

---

१६४. यजु., ११/५०-५२

१६५. वही, ३६/२४

१६६. वही, ३५/२९

बनती हैं और शरीर का ढाँचा बनकर खड़ा हो जाता है। शरीर का कलेवर जो कुछ भी खड़ा दीख रहा है उसमें अन्न ही प्रथम कारण है। उपनिषद्कार ने अन्न को प्राण भी कहा है। अन्न को विष्णु, अन्न को यज्ञ और अन्न को ही ब्रह्म भी कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य की विचारणा, भावना आकांक्षा एवं अन्तरात्मा भी बहुत कर अन्न पर निर्भर रहती है। 'जो जैसा खाता है, वह वैसा ही बन जाता है।' वैदिक ऋषियों ने अन्न की इसी महत्ता के कारण अन्नप्राशन की नींव रखी। बालक के छैः महीने के हो जाने पर यह संस्कार कराया जाता है। अन्नप्राशन में यज्ञ के साथ तुलादान, चम्मच पूजन, क्षीर प्राशन तथा विशेष पंचाहुतियों का विधान है।

अन्न का शरीर से गहरा सम्बन्ध है। उसका उचित महत्त्व समझकर उसे सुसंस्कार युक्त बनाकर लेने का प्रयास करना उचित है। अच्छे प्रारम्भ का अर्थ हैं आधी सफलता। अस्तु बालक के अन्नाहार के क्रम को श्रेष्ठतम संस्कारयुक्त वातावरण में करना अभीष्ट है। तुलादान के अन्तर्गत बालक के शरीर के बराबर अन्न तौल कर दान किया जाता है। एक नये पलड़ों की सुन्दर तराजू में एक ओर बालक को बिठाते हैं और दूसरी ओर अन्न रखकर तौलते हैं। तोलते समय मंत्रोच्चारण किया जाता है।[१६७] यह अन्न किसी सत्पात्र को अथवा सत्कार्य में दान कर दिया जाता है। तुलादान में इसी पुण्य परम्परा को प्रधान रूप से प्रदर्शित किया जाता है। इसके उपरानत खीर चटाने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। इसके लिए चाँदी का चम्मच प्रयुक्त होता है। उद्देश्य यही है कि आहार पवित्र साधनों के माध्यम से ग्रहण किया जाय। यज्ञ हवन के पश्चात् बालक को सर्वप्रथम यज्ञ से बचा हुआ आहार ही खिलाया जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा उस पर यही संस्कार डाला जाता है कि जब वह कमाने लायक हो, श्रम करने लायक समर्थ हो तो अपनी शक्ति, सम्पदा एवं विभूति का एक बड़ा अंश सर्वप्रथम लोकमंगल के सत्कार्यों में लगाने के लिए सुरक्षित रख ले। पात्र में खीर के साथ शहद,[१६८] घी,[१६९] तुलसी[१७०] एवं गंगाजल[१७१] मिलाया जाता है। शहद के माध्यम से शिशु के आचरण, वाणी, व्यवहार में मधुरता बढ़ाने, घी से जीवन में स्नेह स्नीग्धता, सरसता का संचार

---

१६७. ॐ तेजोसि शुक्रममतृम्।
१६८. यजुर्वेद, १३/२७-२९
१६९. वही, ६/११
१७०. वही, १२/७५
१७१. वही, ३४/११

करने, तुलसी से आधि दैविक और आध्यात्मिक रोगों, विकारों का शमन करने एवं गंगाजल के माध्यम से पाप वृत्तियों का हनन करके उसमें पुण्य सम्वर्द्धन के संस्कार पैदा करने की भावना की जाती है।

❑ चूड़ाकर्म का मर्म

शिर के बाल जब प्रथम बार उतारे जाते हैं तब वह चूड़ाकर्म या मुण्डन संस्कार कहलाता है। वैदिक काल में यह समारोह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था क्योंकि मस्तिष्कीय विकास एवं सुरक्षा पर इस समय विशेष विचार किया जाता था और वह कार्यक्रम भी शिशु-पोषण में सम्मिलित किया जाता है जिससे उसका मानसिक विकास व्यवस्थित रूप से आरम्भ हो जाय। बालक के बालों को गौ दुग्ध, दही, घी में जल मिलाकर भिगोते हैं। इस क्रिया को 'मस्तक लेपन' कहते हैं। यह क्रिया चूड़ाकर्म में इसलिए कराई जाती है कि इस आधार पर यह स्मरण रखा जा सके कि इस बालक का मानसिक विकास रुखा, संकीर्ण तथा अनैतिक-अवांछनीय दिशा में न होने पावे। बालों के गीले हो जाने पर सम्पूर्ण बालों को दाँये-बाँये तथा बीच में तीन भागों में विभक्त करते हैं। उन्हें कुशाओं तथा कलावे से जूड़े की तरह बांध देते हैं। यह तीनों केन्द्र क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र से सम्बन्ध माने जाते हैं। इसे ब्रह्म ग्रंथि बंधन,[१७२] विष्णु ग्रंथि बंधन,[१७३] रुद्र ग्रंथि बंधन[१७४] भी कहा जाता है। इसके बाद इन शिखाओं का कर्त्तन किया जाता है। ब्रह्म ग्रंथि के साथ भावना की जाती है कि निर्माण की शक्ति विनाशक प्रवृत्तियों को काट रही है। अब रचनात्मक प्रवृत्तियों के लिए यह केन्द्र सुरक्षित रहेंगे।[१७५] विष्णु ग्रंथि कर्तन के साथ प्रार्थना की जाती है कि भगवान् विष्णु की शक्ति अपने प्रतिकूल प्रवृत्तियों का उन्मूलन निवारण कर रही है। मस्तिष्क अब अनैतिक पोषण न दे सकेगा। नीति सत्ता में ही प्रयुक्त होगा।[१७६] रुद्र ग्रंथि कर्तन के

---

१७२. ब्रह्मजज्ञानां प्रथमं पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचो वेनऽआव।
सुबुध्यन्याऽउपमाऽअस्य विष्ठाः सतश्च योनिम सतश्च विवः॥ - यजुर्वेद, १३/३

१७३. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढ़मस्य पा ७ सुरे स्वाहा। - यजुः, ५/१५

१७४. नमस्ते रुद्र मन्यव उतो तऽइषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः। - यजु., १६/१

१७५. येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपते दमस्य गोमानश्वानयमस्तु प्रजावान्॥ - अथर्व., ६/६८/३

१७६. आश्व., १/१७/१२

साथ यह भाव किया जाता है कि रुद्र त्रिपुरारि की प्रचण्ड शक्ति दुर्धर्ष दुष्प्रवृत्तियों पर चोट कर रही है, अब उसका निवारण होगा, ताकि मस्तिष्क में दिव्य दृष्टि, दिव्यानुभूति क्षमता विकसित हो सके।[१७७] इस तरह यह संस्कार सम्पन्न होता है।

❑ विद्यारम्भ का श्रीगणेश

विद्यारम्भ संस्कार द्वारा बालक-बालिका में उस मूल संस्कार की स्थापना का प्रयास किया जाता है, जिसके आधार पर उसकी शिक्षा मात्र अक्षर ज्ञान न रहकर जीवन निर्माण करने वाली हितकारी विद्या के रूप में विकसित हो सके। समारोह द्वारा बालक के मन में ज्ञान प्राप्ति के लिए उत्साह पैदा किया जाता है। उत्साह भरी मनोभूमि में देवाराधन तथा यज्ञ के संयोग से वांछित ज्ञानपरक संस्कारों का बीजारोपण भी सम्भव हो जाता है। इसके अन्तर्गत गणेश एवं सरस्वती, दवात, पट्टी एवं गुरूपूजन किया जाता है। इसके पश्चात् अक्षर लेखन व पूजन का विधान है।

पूजन प्रक्रिया में गणेश का स्थान प्रथम है और सरस्वती का दूसरा है। गणेश विद्या के देवता हैं तो सरस्वती शिक्षा की अधिष्ठात्री देवी। गणेश को बुद्धि प्रदाता कहा गया है। शिशु में उच्चस्तरीय दूरदर्शिता आ जाय, उचित-अनुचित का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की पहचान हो जाय, इस कारण इस संस्कार में गणेश पूजन का विधान है।[१७८] सरस्वती माता का सतत् अनुग्रह विद्या के रूप में मिलता रहे। इसलिए सरस्वती की आराधना की जाती है। सतत् अध्ययन ही सरस्वती की आराधना है।[१७९] लेखनी का पूजन कराते समय 'धृति' की अभियोजना इस प्रकार करायी जाती है कि शिक्षार्थी की अभिरुचि अध्ययन में निरन्तर बढ़ती चली जाय।[१८०] कलम का उपयोग दवात के द्वारा होता है। इसलिए कलम के बाद दवात के पूजन का नम्बर आता है। दवात की अधिष्ठात्री देवी 'पुष्टि' है। पुष्टि का अर्थ है एकाग्रता। एकाग्रता से ही अध्ययन की प्रक्रिया गतिशील-अग्रगामी होती है। पूजा के साथ भावना की जाती है कि पुष्टि शक्ति के सान्निध्य में बालक

---

१७७. आश्व., १/१७/१२

१७८. यजु., २३/१९

१७९. पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञ वस्तु धियावसुः। - यजु., २०/८४

१८०. पुरुदस्त्रो विपुरुप इन्दुरन्तर्महिमानभानंजधीरः।
एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदीमष्टापदी भुवनातु प्रणन्ता ७७ स्वाहा॥
- यजु., ८/३०

में बुद्धि की तीव्रता एवं एकाग्रता की उपलब्धि होती है।[१८१] विद्यारम्भ का तीसरा उपकरण है 'पट्टी-स्लेट या कापी-कागज', इसकी अधिष्ठात्री है 'तुष्टि'। तुष्टि का अर्थ होता है श्रम की अभिरुचि। श्रम के बिना इस संसार में कुछ भी प्राप्त कर सकना कठिन है। अत: विद्यार्थी को तो खासतौर पर परिश्रमी होना चाहिए। अभिरुचि, एकाग्रता और श्रमशीलता का आधार लेकर विद्या लाभ के महत्त्वपूर्ण मार्ग पर बढ़ा जाय।[१८२] अशिक्षा एवं अज्ञान के अंधकार को गुरु ही दूर करता है। गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। अत: गुरुपूजन का विधान है।[१८३] इसके बाद आचार्य पट्टी पर 'ॐ भूर्भुव: स्व:' शब्द से अक्षर लेखन कराता है। ज्ञान का उदय अन्त:करण में होता है पर यदि उसकी अभिव्यक्ति करना न आये तो अनिष्ट हो जाता है। ज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति अक्षरों को पूजकर अभिव्यक्ति की महत्ता और साधना के प्रति उमंग पैदा करके की जाती है।

❑ यज्ञोपवीत की प्रेरणा

शिखा और सूत्र वैदिक संस्कृति के दो सर्वमान्य प्रतीक हैं। शिखा वैदिक संस्कृति के प्रति आस्था का प्रतीक है जो मुण्डन संस्कार के समय स्थापित की जाती है। यज्ञोपवीत सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर अपने जीवन में आमूलचूल परिवर्तन के संकल्प का संकेत है। उसके साथ ही गायत्री मंत्र की गुरुदीक्षा भी दी जाती है। दीक्षा यज्ञोपवीत मिलकर द्विजत्व का संस्कार पूरा करते हैं। इसका अर्थ होता है 'दूसरा जन्म' होना। यज्ञोपवीत द्विजत्व का चिह्न है। अथर्ववेद में इसकी उक्ति मिलती है 'गर्भ में माता और पिता के सम्बन्ध से पहला जन्म होता है। दूसरा जन्म विद्या रूपी माता और आचार्य रूप पिता द्वारा गुरुकुल में उपनयन और विद्यारम्भ के माध्यम से होता है।'[१८४] सामवेदीय छान्दोग्य सूत्र में लिखा है कि यज्ञोपवीत के नौ धागों में नौ देवता निवास करते हैं १. ओ३मकार, २. अग्नि, ३. अनन्त, ४. चन्द्र, ५. पितृ, ६. प्रजापति, ७. वायु, ८. सूर्य, ९. सब देवताओं का समूह। वेदमंत्रों से अभिमंत्रित एवं संस्कारपूर्वक कराये यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में एक और

---

१८१. देवीस्तिस्त्रस्तिस्त्रे देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्धयन्।
जगत्या छन्दसेन्द्रिय ७ शूषमिन्द्र वयो दधवसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज।
– यजु., २८/४१

१८२. यजुर्वेद, १९/९४

१८३. यजु:, २६/३, तै.स., १/८/२२/१२

१८४. आचार्य उपयनयमानो ब्रह्मचारिणम् कृणुते गर्भभन्त:।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विमर्ति तं जातंदृष्टुमभि संयन्ति देवा:॥ – अथर्व, ११/५/३

महत्त्वपूर्ण उल्लेख है 'ब्रह्मा जी ने वेदों से तीन धागे का सूत्र बनाया। विष्णु ने ज्ञान, कर्म, उपासना इन तीनों काण्डों से तिगुना किया और शिवजी ने गायत्री से अभिमंत्रित कर उसमें ब्रह्म गांठ लगा दी। इस प्रकार यज्ञोपवीत नौ तार और ग्रंथियों समेत बनकर तैयार हुआ।'[१८५]

ऋग्वेद की ऋचा कहती है 'तपस्वी, ऋषि और देवतागणों ने कहा कि यज्ञोपवीत की शक्ति महान् है। यह शक्ति शुद्ध चरित्र और कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा देती है। इस यज्ञोपवीत को धारण करने से जीव जन भी परम पद को पहुँच जाते हैं।'[१८६] ऋग्वेद ने इसके लक्षण को स्पष्ट करके कहा है 'इस यज्ञोपवीत के परम श्रेष्ठ तीन लक्षण हैं- १. सत्य व्यवहार की आकांक्षा, २. अग्नि जैसी तेजस्विता, ३. दिव्य गुणों से युक्त प्रसन्नता, इसके द्वारा भली प्रकार प्राप्त होती है।'[१८७] इस संस्कार के अन्तर्गत अनेकों विधान आते हैं। मेखला और कोपीन धारण करने का प्रयोजन ब्रह्मचर्य पालन और प्रत्येक कर्म में जागरूक, निरालस्य एवं कर्त्तव्य पालन में कटिबद्ध रहने की प्रेरणा देना हैं। इसके उपरान्त दण्ड धारण कराया जाता है। उसे आत्मरक्षार्थ एवं अन्य कई प्रकार के उपयोग में लिया जाता है। तदुपरान्त सूर्य दर्शन एवं सूर्य ध्यान की क्रिया आती है। सूर्य के समान तेजस्वी बनना, उष्णता धारण किये रहना, गतिशील रहना, लोक कल्याण के लिए जीवन समर्पित करना जैसे अनेक प्रेरणायें सूर्य दर्शन करते हुए ग्रहण की जाती है। इसके पश्चात् यज्ञोपवीत पूजन और धारण किया जाता है। इसी संस्कार के साथ दीक्षा प्रकरण भी जुड़ा हुआ है।

❑ विवाह के आदर्श-कर्त्तव्य

विवाह दो आत्माओं का पवित्र बन्धन है। वैदिक समाज में विवाह संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हुआ करता था। इस संस्कार के अन्तर्गत स्वागत सत्कार, मंगलाष्टक, विवाह घोषणा, वस्त्र उपहार, वर एवं वधू की प्रतिज्ञायें, कन्यादान, गुप्तदान का दहेज, पाणिग्रहण, ग्रंथि बन्धन, विवाह का विशेष यज्ञ, सात परिक्रमा, शिलारोहण, लाजा होम, सप्तपदी, आसन परिवर्तन, ध्रुव या सूर्य दर्शन, शपथ आश्वासन, सुमंगली, आदि क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं।

वर का अतिथि के नाते सत्कार किया जाता है। कन्यादान करने वाले कन्या

---

१८५. ब्राह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुनां त्रिगुणीकृतम्।
कृतो ग्रंथिस्त्रिनेत्रेण गायत्र्याचाभिमंत्रितम्॥

१८६. देवा एतस्याभवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीम जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धा दधाति परमे व्योमन्॥ - ऋग., १०/१०९/४

१८७. ऋग्वेद, ४/१/७

के हाथों में हल्दी लगाते हैं। हरिद्रा मंगल सूचक है।[१८८] वर द्वारा मर्यादा स्वीकारोक्ति के बाद कन्या अपना हाथ वर के हाथ एवं वर कन्या के हाथ में सौंपता है। पाणिग्रहण दिव्य वस्त्र-वरण में किया जाता है।[१८९] इसके पश्चात् समाज द्वारा दोनों को एक गांठ में बाँध दिया जाता है ताकि जीवन लक्ष्य यात्रा में पूरक बनकर चलें।[१९०] इस यात्रा में साथ चलने के लिए समाज में वर वधू को शपथ लेनी पड़ती है। इस प्रकार शिलारोहण एवं लाजाहोम की प्रक्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। ऋग्वेद में इसका वर्णन आता है।[१९१] संस्कार पूरा होने पर फिर अनेक प्रचलित शिष्टाचारों का क्रम चलाया जाता है।

❑ अन्त्येष्टि रूपी अंतिम संस्कार

वैदिक संस्कृति यज्ञीय आदर्शों की संस्कृति है। जिन्दगी जीने का सही तरीका यह है कि उसे यज्ञीय आदर्शों के अनुरूप जिया जाये। उसका जब अवसान हो तो भी उसे यज्ञ भगवान. की परम-पवित्र गोदी में ही सुला दिया जाय। जीवन की समाप्ति यज्ञ आयोजन के लिए ही होनी चाहिए। इसके अन्तर्गत भूमि शुद्धि प्रक्रिया, मर्यादा परिधि की चार समधाएँ, शव-संस्कार, शरीर-यज्ञ, कपाल क्रिया आदि सम्पन्न होते हैं। अन्त्येष्टि संस्कार के साथ पाँच पिण्डदान किये जाते हैं, यह एक कठोर सत्य को मान्यता देना है। जीव चेतना शरीर से बँधी नहीं है, उसे सन्तुष्ट करने के लिए शरीरगत संकीर्ण मोह से ऊपर उठना आवश्यक है। जीवात्मा की शान्ति के लिए व्यापक जीव चेतना को तुष्ट करने के लिए मृतक के हिस्से के साधनों को अर्पित किया जाता है। पिण्डदान इसी महान् परिपाटी के निर्वाह की प्रतीकात्मक प्रक्रिया है।

मृत्यु के साथ जीवन समाप्त नहीं होता, अनन्त जीवन श्रृंखला की एक कड़ी मृत्यु भी है। जब वह एक जन्म पूरा करके अगले जीवन की ओर उन्मुख होता है, कामना की जाती है कि सम्बन्धित जीवात्मा का अगला जीवन पिछले की अपेक्षा अधिक संस्कारवान् बने। इसे ही मरणोत्तर संस्कार या श्राद्ध कर्म कहते हैं। इस तरह वैदिक सामाजिक जीवन व्यवस्था संस्कारों से ओत-प्रोत था। सतत् विकसित होती हुई जीवन व्यवस्था वर्णाश्रम एवं पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

---

१८८. ऋग्वेद, २९/५१

१८९. पार. गृ., १/४/१५

१९०. ऋग्वेद, १०/८५/४७, पार. गृ., १/४/१४

१९१. ऋग., १०/८५/३८

वैदिक वर्ण-व्यवस्था

वेदों में वर्ण-व्यवस्था का विधान रखा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णों में सम्पूर्ण समाज विभक्त कर दिया गया है। चार वर्णों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अपना निर्धारित कार्य मिल-बांट कर पूरी कुशलता से सम्पन्न करें। वैदिक समाजशिल्पियों ने व्यक्ति की योग्यता एवं प्रवृत्ति तथा समाज में विभिन्न क्रिया-कलापों की आवश्यकता का सन्तुलन बिठाते हुए वर्ण व्यवस्था का निर्धारण किया था। यह अपने समय की दूरदर्शिता एवं व्यवहार कुशलता से भरी-पूरी पद्धति थी। वैदिक वर्ण व्यवस्था उदार वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विकास का पूरा अवसर मिलता था। इसी कारण समाज का सारा क्रिया-व्यापार व्यवस्थित रूप से चलता था। शूद्रवर्ग को सेवा-कार्य सौंपा गया था। वैश्य वाणिज्य-व्यापार को सँभालते थे। पराक्रम-पुरुषार्थ एवं युद्ध विद्या का उत्तरदायित्व क्षत्रियों के कंधों पर था, जबकि सद्ज्ञान का प्रसार, पुण्य, परमार्थ एवं लोकमंगल जैसे कार्य ब्राह्मण वर्ग के जिम्मे थे। यह सब मिलजुलकर उस समय की समाज-व्यवस्था को सुन्दर-सुगढ़ बनाये हुए थे। किसी का किसी से कोई टकराव नहीं था, फलतः वातावरण सतयुगी बना हुआ था।[१९२]

वर्ण व्यवस्था में वंश या कुल प्रधान नहीं, कर्म प्रधान है।[१९३] वैदिक युग में गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार मानव समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भागों में व्यवस्थित किया गया था, जो अपने-अपने कर्त्तव्यों, अधिकारों एवं मर्यादा का पालन करते हुए सामाजिक इकाई को सुदृढ़ रखते थे।[१९४] वर्ण व्यवस्था वैदिक समाज की विश्व को अपनी अद्भुत देन है। वैदिक ऋषियों ने मानव स्वभाव को भली प्रकार समझा था। अतः उन्होंने मनुष्य के गुण, कर्म व स्वभाव के आधार पर समाज में श्रम विभाजन किया। इसके अनुसार जो मनुष्य जिस कार्य में दक्ष हो वह उस कार्य को करे, यही श्रम विभाजन का सिद्धान्त है। आर्यों की वर्ण व्यवस्था इसी मानवी स्वभाव पर आश्रित है। आर्यों ने सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ आधार पर स्थापित करने के लिए वर्ण व्यवस्था को अपनाया था।[१९५]

---

१९२. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- भारतीय संस्कृति का आधारभूत तत्त्व, भाग ३४, पृष्ठ ४.२३

१९३. वही, पृष्ठ ४.२०

१९४. लाला ज्ञानचन्द्र आर्य- वर्ण व्यवस्था का वैदिक रूप, सम्पादकीयम, पृष्ठ २९

१९५. प्रो. कैलाशचन्द्र गुप्त- भारतीय धर्म और संस्कृति, पृष्ठ २५

वर्ण व्यवस्था का आरम्भ ऋग्वेद से ही मिलता है। वैदिक ऋषियों ने ऋग्वेद[१९६] की एक ऋचा के आधार पर मानव समाज को चार भागों में विभक्त किया है। इसका विवरण इस प्रकार निर्दिष्ट है

	वर्ण	अवयव	प्रतीक	कार्य
१.	ब्राह्मण	मुख	ज्ञानतत्त्व	ज्ञान, चिन्तन, निर्देशन, आदेश, सन्देशादि (Intelligence)
२.	क्षत्रिय	बाहू	शक्तितत्त्व	शासन, रक्षण, परित्राणादि (Defence)
३.	वैश्य	उरु	धनतत्त्व	धनार्जन, पालन, पोषणादि (Commerce)
४.	शूद्र	पाद	क्रियातत्त्व	सेवा, सुश्रुषा, तप, श्रमादि[१९७] (Service)

ऋग्वेद में समस्त समाज को पुरुष का रुपक देकर उसके विभिन्न अंगों का विवरण देकर कहा है 'उस पुरुष का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजाएँ क्षत्रिय बनायी गयीं, उसकी जघाएँ ही वैश्व बनीं तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।'

❑ ज्ञानवान ब्राह्मण

ब्राह्मण अपने सद्ज्ञान से बिना किसी फल की आकांक्षा रखे सारे समाज को उसका लाभ देने का प्रयत्न करता है। जन समाज का भाव-स्तर ऊँचा बनाने के लिए वह प्राण-पण से प्रयत्न करता है। उसका व्यक्तित्व श्रद्धास्पद बना रहे इसलिए दूसरों की तुलना में अधिक त्यागी, तपस्वी, संयमी, अपरिग्रह में रहकर अपनी वाणी से ही नहीं चरित्र से भी यह शिक्षा देता है। ऋक् संहिता में पुरुष सूक्त में अग्नि को तत्त्वदर्शी (ऋषि) पंचजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद इन सब प्रकार के मनुष्यों का हित करने वाला (पांचजन्यः), महान् (विद्यादि), ऐश्वर्यो से सम्पन्न (महागयम्), मृदु स्वभाव (मन्द्रः), सम्पूर्ण काव्यों को जानने वाला (विश्वानि काव्यानि विद्वान्), विस्तृत सत्य का प्रकाश करने वाला (वृहतः ऋतस्य विचर्पणिः), महान् व्रतों वाला (व्रता ते अग्ने महतो महन्ति) आदि

---

१९६. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, बाहू राजन्य कृतः।
उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ – ऋग., १०/९०/१२, यजु., ३१/११, अथर्व., २९/६/६

१९७. लाला ज्ञानचन्द आर्य- वर्ण व्यवस्था का वैदिक रूप, सम्पादकीय, पृष्ठ ३१

विशेषणों से वर्णित किया गया है। ये विशेषण भौतिक अग्नि एवं ईश्वर की अपेक्षा ज्ञानी ब्राह्मण के अर्थ में अधिक संगत है।[१९८]

इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा गया है 'यह ब्राह्मण (अग्निः) है वही हवनादि करने वाला, सब कीर्तियुक्त श्रेष्ठ ऐश्वर्यों को धारण करता है, जो मनुष्य इसे देता है, उसको विद्यादि उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता है।'[१९९] ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में भी ब्राह्मण के प्रति इसी प्रकार की उक्ति है।[२००] ऋग्वेद में ब्राह्मण का उल्लेख १४ बार हुआ है तथापि ये सभी उल्लेख वंश मण्डलों में नहीं है। अथर्ववेद में भी ब्राह्मणों का यशोगान हुआ है।[२०१]

❑ बलशाली क्षत्रिय

क्षत्रिय अपने प्राण हथेली पर रखकर अनैतिक तत्त्वों से संघर्ष करता है। वह क्षत्रिय जिसने समाज की सुरक्षा का दुर्बलों की हिमायती करने का व्रत लिया है, वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए शरीर बल, शस्त्र बल एवं सत्ता बल प्राप्त करके उद्दण्डताओं को नियंत्रित करने के कार्य में लगता है। उसका कार्य किसी भी त्यागी, तपस्वी, आत्म-बलिदानी से कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः' अर्थात् जो घाव अथवा खतरे से बचाये वह क्षत्रिय है। क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद में ९ बार उल्लिखित है परन्तु अधिकांश उल्लेख वंशेतर मण्डलों में है। ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त में प्रायः क्षत्रियों के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। 'हे बलशाली, वज्र धारण करने वाले, आदरणीय वीर तुझमें बड़ा साहस (वीर्य) निहित है, तू उससे पापी एवं अनाचारी को विनष्ट करके सज्जनों की रक्षा कर।'[२०२] यजुर्वेद में इन्द्र को रक्षक, ज्ञान प्राप्त करने वाला, अच्छा दान देने वाला, शूर, शक्ति युक्त, बहुत पुरुषों द्वारा आहूत तथा धनयुक्त कहा है।[२०३] ये सब एक वीर राजा व क्षत्रिय पर ही घटते लगते हैं। अथर्व वेद में इन्द्र देवता के मंत्रों में क्षत्रिय के कर्त्तव्यों का उत्तम वर्णन है।[२०४]

---

१९८. पं0 धर्मदेव विद्यावाचस्पति- वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र, १३९/१४२

१९९. ऋग्वेद, १/१४९/५

२००. वही, ८/४४/२१

२०१. अथर्व., ५/१८/४-५

२०२. ऋग., १/८०/७

२०३. यजु., २०/५०

२०४. अथर्व., २०/११/६, २०/५५/१

❑ श्रमशील वैश्य

वैश्य उत्पादन और उद्योग के प्रत्येक पहलू को विकसित करते हुए जन साधारण की जीवनोपयोगी सुविधाओं को बढ़ाता है। आवश्यकीय साधनों से जनता को वंचित न रहना पड़े इसलिए वह उत्पादन एवं वितरण के लिए आवश्यक व्यवस्था करते हुए सर्वसाधारण की एक बड़ी कठिनाई को दूर करता है। श्रम के बिना कोई भी कार्य पूरा नहीं हो सकता। छोटे से बड़े हर काम में श्रम ही सफलता उत्पन्न करता है। उस अभाव की पूर्ति शूद्र वर्ण को करनी पड़ती है, इसलिए इस सहयोग के अनुरूप उसका गौरव भी अधिक माना गया है। वेद में वैश्यों के कर्त्तव्यों का निर्देश अनेक स्थानों पर हुआ है। अथर्ववेद में उल्लेख है कि 'द्युलोक और पृथिवी लोक के अन्दर जो देवयान अनेक मार्ग हैं उन सबसे मुझे घृत और पेय अथवा दीप्ति और रस की प्राप्ति हो ताकि मैं दूर-दूर देशों में यानों द्वारा भ्रमण करके धन एकत्रित करूँ।'[२०५] यहाँ देवयानों द्वारा धन सम्पादन करने से तात्पर्य उत्तम धर्मयुक्त साधनों द्वारा धन संचय करता है। आगे के मंत्रों में कहा गया है कि जिस धन को लेकर मैं व्यापार प्रारम्भ करता हूँ, उसमें मुझे लाभ ही लाभ होता जाये और राजादि के द्वारा मुझे व्यापार के लिए प्रोत्साहन मिलता रहे।[२०६] धन का अर्जन अपने लिए नहीं प्रत्युत ब्राह्मण आदि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए होना चाहिए।[२०७]

❑ सेवाव्रती शूद्र

शूद्र में वह बुद्धि या विवेक, दूरदृष्टि इत्यादि नहीं जिससे वह स्वयं स्वतंत्र कार्य कर सके। अतः उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा, सहयोग और सहायता ही कर सकता है। शूद्र पहले तीन वर्णों की सेवा कर अपना उदरपूर्ति करते हैं।[२०८] यजुर्वेद में तपसे शूद्रम[२०९] कहकर श्रम के कार्य के लिए शूद्र को नियुक्त करो, यह आदेश दिया गया है।

इन चारों वर्णों के लोगों को एक दूसरे के साथ अत्यन्त प्रेम से व्यवहार

---

२०५. ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥
– अथर्व., ३/१५/२

२०६. अथर्व., ३/१५/५

२०७. वही, ३/१५/८

२०८. पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति- वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र, पृष्ठ १५२-५३

२०९. यजु., ३०/५

करना चाहिए।[२१०] वैदिक वर्ण व्यवस्था वस्तुतः वैदिक संस्कृति का प्राण थी। यह व्यवस्था पूर्णरूपेण गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित थी। वैदिक 'वर्ण' 'वर्ग' नहीं है, वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात बहुत गहन सिद्धान्तों पर हुआ था। वर्ण व्यवस्था वैदिक समाज के उन महान् आध्यात्मिक सामाजिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण तथा नियमन था, जिनके बिना कोई समाज एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। वर्ण व्यवस्था की इस अवधारणा के गर्भ से ही आश्रम प्रणाली का जन्म हुआ।

आश्रम प्रणाली

वैदिक संस्कृति ने जीवन के हर क्षेत्र में गम्भीरता से विचार किया है। आयुष्य का समय विभाजन करने की दृष्टि से आश्रम धर्म की परम्परा का निर्माण किया गया है। वैदिक ऋषियों ने मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष मानी थी तथा उसे वेदानुसार चार भागों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास में विभक्त किया था। यही जीवन के चार आश्रम हैं। आश्रम का तात्पर्य है पड़ाव, अर्थात् जीवन रूपी यात्रा को इन्होंने चार पड़ावों में बांट दिया था, जिससे यह यात्रा सरलतापूर्वक हो सके। मनुष्यों की जीवन यात्रा का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। वैदिक ऋषि मानव स्वभाव से भली-भाँति परिचित थे। वे जानते थे कि मनुष्य वासनाओं का त्याग एकदम नहीं कर सकता है। अतः उन्होंने मोक्ष प्राप्त करने के लिए आश्रम रूपी एक सीढ़ी बनाई। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य में व्यक्ति जीवनोपयोगी समस्त ज्ञान को प्राप्त कर भविष्य के जीवन की तैयारी करता है, तत्पश्चात् गृहस्थ में आकर धर्मपूर्वक भोगों से वासनाओं को शान्त करता है। वानप्रस्थ आश्रम में मानव क्रमशः सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने लगता है तथा संन्यास में साधक पूर्ण त्यागी हो केवल मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है।

❑ ब्रह्मतेज ब्रह्मचर्य

जीवन का यह प्रथम आश्रम है। शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से वयस्क होने तक की अवधि ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत आती है। ब्रह्मचर्य दो शब्दों से बना है- 'ब्रह्म' और 'चर्य'। ब्रह्म से तात्पर्य है महान् और चर्य का अर्थ है चलना। महानता की ओर चलना, महानता का विकास करना, ब्रह्मचर्य का लक्ष्य है। स्थूल अर्थों में ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय निग्रह भी माना जाता है। परन्तु समग्र अर्थों में ब्रह्मचर्य का भाव है, तप के माध्यम से जीवन साधना। अर्थात् तपस्वी जीवन

---

२१०. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत् उत शूद्र उतार्यै॥ - अथर्व, १९/६२/१

व्यतीत करते हुए, शारीरिक, मानसिक संयम बरतते हुए सद्‌गुणों का धारण एवं विकास ब्रह्मचर्य का लक्ष्य है। वैदिक कालीन गुरुकुलों में बालकों को कठोर अनुशासन में रहना पड़ता है। तप तितिक्षा से युक्त उनकी दिनचर्या रहती थी। अभ्यास द्वारा वे संस्कार पड़ जाते थे जो भावी जीवन के सुसंचालन के लिए आवश्यक होते थे। अथर्ववेद में इसके तेज की झलक मिलती है।[२११] इसी के एक मंत्र में वर्णित है 'ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा ज्ञानी लोग मृत्यु को मारते हैं अर्थात् स्वाधीन कर लेते हैं।'[२१२]

वैदिक संस्कृति के इस ब्रह्मचर्य विचार पर अनेकानेक पाश्चात्य मनीषी मुग्ध हुए हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फ्राँस के प्रसिद्ध समाजशास्त्री पाल ब्यूरो ने बहुत सुन्दरता के साथ इस बात का प्रतिपादन किया है कि संयम और ब्रह्मचर्य से ही मनुष्य समाज की रक्षा हो सकती है। डॉ. पैरियर का मन्तव्य है 'नौजवानों के शरीर, चरित्र और बुद्धि का रक्षक ब्रह्मचर्य है।'[२१३] डॉ. एकटेन के अनुसार विवाह से पहले पूर्ण ब्रह्मचारी रहा जा सकता है और नौजवानों को रहना चाहिए।[२१४] इस विषय में सर जेम्स पेजट का कहना है कि ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचती। स्वयं को नियंत्रण में रखना सबसे अच्छी बात है।[२१५] अतः कहा जा सकता है ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थ आश्रम के लिए तैयारी का आश्रम है।

❑ गृहस्थाश्रम का मर्म

गृहस्थाश्रम कर्म का वह स्थल है, जहाँ कि ब्रह्मचर्याश्रम में प्राप्त शिक्षाओं को मूर्त रूप दिया जाता है। वैदिक ऋषि व मनीषियों ने गृहस्थाश्रम को धुरी माना है, जिस पर सम्पूर्ण आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व टिका हुआ है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि जिस तरह वायु का आश्रय लेकर सब जीव-जन्तु जीते हैं, उसी

---

२११. अथर्व., ११/५/१७

२१२. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाध्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत्॥ – अथर्व., ११/५/१९

२१३. Virginity is a physical, moral and intellectual safeguard to youngmen.
- E. Perier

२१४. Befor marriage absolute continence can and ought to be observed by youngmen. - Dr. Acten.

२१५. Chastity no more injures the body than the soul. discipline is better than any other line of conduct.
-James Paget

प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सभी आश्रम जीवन प्राप्त करते हैं।[२१६] जिस प्रकार सभी छोटी और बड़ी नदियाँ अन्त में समुद्र में ही स्थायी रूप से विश्राम पाती हैं, उसी तरह सब आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ के हाथों सुरक्षा एवं स्थायित्व प्राप्त करते हैं। युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द के अनुसार-गृहस्थ सारे समाज की नींव सदृश्य है, सम्पूर्ण समाज उसी से साधन प्राप्त करता है।

वैदिक गृहस्थाश्रम भोग, त्याग व संयम का आश्रम है। वेद का संदेश है कि 'हे गृहस्थाश्रम की इच्छा करने वाले मनुष्यों! तुम स्वयंवर करके गृहस्थाश्रम को प्राप्त होओ और बिना शंका, संदेह व भय से उससे बल, पराक्रम करने वाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो तथा गृहस्थाश्रमी पुरुषों से कह दो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहस्थ व्यवहार करूँ।'[२१७] इसमें सन्दहे नहीं कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपने कर्त्तव्यों को करने में मनुष्य को त्याग, तप, संयम, सेवा, श्रम आदि व्रतों का पालन करना पड़ता है। अथर्ववेद के सम्पूर्ण चौदहवें काण्ड में गृहस्थाश्रम की चर्चा है।[२१८] इस प्रकार गृहस्थाश्रम में विभिन्न क्षेत्रों का अनुभव प्राप्त करके तथा कर्म भूमि में ज्ञान को परिपक्व होने का अवसर मिल जाता है। ऐसे में जबकि शारीरिक एवं मानसिक परिपक्वता अर्जित कर ली गयी है, यह आवश्यक हो जाता है कि अधिक गुरुतर उत्तरदायित्वों का निर्वाह किया जाये।

❑ वानप्रस्थ की मर्यादा

वानप्रस्थ आश्रम इसी प्रयोजन के लिए बनाया गया था कि व्यक्ति अधिक व्यापक क्षेत्र में निकले। अपने ज्ञान, अनुभवों एवं क्षमताओं को उच्चस्तरीय प्रयोजनों में नियोजित करते हुए आत्म-विकास एवं आत्म-संतुष्टि का दिव्य लाभ ले। वानप्रस्थ केवल जंगल में भाग जाने का नाम नहीं है। वानप्रस्थ निवृत्ति, त्याग और अपरिग्रह का नाम है।[२१९] इस आश्रम की स्थाना करना अभूतपूर्व क्रांतिकारी कदम था। वैदिक काल में वानप्रस्थ आश्रम के कारण समाज अनुभवी व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित नहीं था। उन्हें इनके अनुभव एवं ज्ञान का लाभ मिलता

---

२१६. वद्या वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहसस्थामाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमः॥ - मनु., ३/७७

२१७. गृहा मा विभीत मा वेपध्वमूर्ज विभ्रतऽएमसि।
ऊर्जं विभद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः। - यजु., ३/४१

२१८. अथर्व., १४/१/४२, १४/२/२७, ७/२०/५

२१९. डॉ. दिलीप वेदालंकार - वेदों में मानववाद, पृष्ठ १७५

था।[२२०] उन दिनों पचास से पचहत्तर वर्ष की आयु वानप्रस्थ आश्रम मानी गयी थी, तब प्रायः अधिकांश व्यक्ति शरीर से समर्थ भी रहते थे। गृहस्थाश्रम के दायित्वों से मुक्त होकर हर कोई लोकमंगल के कार्यों के लिए सहर्ष निकल पड़ता था। वह अकर्मण्य जीवन नहीं व्यतीत करता था बल्कि अधिक तत्परता एवं सजगता से समाज के श्रेष्ठ कार्यों में लग जाता था। वह न्यूनतम साधनों में गुजारा करता था तथा अपने समय एवं क्षमता का अधिकाधिक लाभ समाज को देता था। इस आश्रम में वानप्रस्थी सांसारिक सुखों से धीरे-धीरे विरक्त होने का प्रयास करता। उपासना, साधना, तप-तितिक्षा के माध्यम से वह अपनी प्रवृत्तियों को परिमार्जित करता। ज्ञान आलोक में उसे जो कुछ भी उचित प्रतीत होता उसका लाभ दूसरों का प्राप्त कराता। इस परम्परा का ही परिणाम था कि वैदिक संस्कृति समस्त संसार को ज्ञान एवं विज्ञान की विभिन्न धाराओं का अजस्र अनुदान समय-समय पर मिलता रहा। वानप्रस्थों की एक विशाल सेना विश्व वसुधा की सेवा में सतत् संलग्न रहती थी।[२२१]

❑ संन्यास आश्रम का महत्त्व

वैदिक काल में ससीम से असीम में प्रवेश करने का आश्रम था- संन्यास आश्रम, जिसमें व्यक्ति को सीमित व्यक्तियों एवं वर्ग से निकलकर 'वसुधैव कुटुम्बकम' के क्षेत्र में प्रविष्ट होना पड़ता था। संन्यास में नाम परिवर्तन की परम्परा का प्रचलन था, जिसके साथ मूल प्रेरणा यह है कि मनुष्य अपने सभी ढर्रे को भुला दे। संन्यासी का अर्थ था काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंता जैसी दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा पा जाना।[२२२] इस अवस्था में मनुष्य का आत्म-विस्तार समस्त विश्व के चराचर मात्र के लिए हो जाता है। उसका जीवन सेवा, परमार्थ एवं कल्याण का प्रत्यक्ष स्वरूप बन जाता है। संन्यासी अपनी शारीरिक आवश्यकताओं, सुख-दुःखों की परवाह न करते हुए निरन्तर जनहित, जनसेवा में प्रवृत्त हो जाता है। उसके अन्तःकरण में प्राणिमात्र की सेवा के लिए प्रबल भावनाएँ जाग उठती हैं, जिनके संयोग से उसकी शान्ति, सामर्थ्य, स्वास्थ्य, प्रतिभा अनेकों गुना बढ़ जाती है। प्रकृति भी अपनी मर्यादाओं का व्यतिरेक कर उस

---

२२०. डॉ. दिलीप वेदालंकार - वेदों में मानववाद, पृष्ठ १७५

२२१. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाड्मय- भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व, भाग ३४, पृष्ठ ४.३८

२२२. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाड्मय- भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व, भाग ३४, पृष्ठ ४.३८

सर्वजनहिताय, परमार्थगामी, विश्वबन्धु संन्यासी को अनुकूल परिणाम प्रदान करती है।[२२३] इस तरह आश्रम व्यवस्था वैदिक मनोवैज्ञानिकों की तीव्र बुद्धि कौशल की सूचक है। आश्रम प्रणाली पुरुषार्थ सिद्धान्त की चरम अभिव्यक्ति है।

पुरुषार्थ चतुष्टय

मानव जीवन के सम्पूर्ण दायित्वों को पुरुषार्थ चतुष्टय सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वैदिक दृष्टि से इस संसार में मानव जीवन का प्रमुख उद्देश्य एवं प्रयोजन पुरुषार्थ सिद्धान्त का अनुपालन रहा है। मानव जीवन के आधारभूत कर्त्तव्यों को चार मुख्य भागों में विभक्त करने वाली विद्या को पुरुषार्थ चतुष्टय की संज्ञा दी गई है, ये हैं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन चारों दायित्वों का निर्वाह मनुष्य तभी कर सकता है, जब वह अपना शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करे, अभीष्ट स्तर की क्षमता सम्पादित करे, व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास करे। इस व्यवस्था के द्वारा अर्थ एवं काम का उपयोग करते हुए धर्म तथा मोक्ष को भी अन्ततः प्राप्त करता है। अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष की प्राप्ति में साधन मानते हुए वह जीवन व्यतीत करता है।

❑ आत्मोत्कर्ष का साधन - धर्म

धर्म अर्थात् नीति नियमों का अवलम्बन, व्यक्तित्व का विकास, परिष्कार।[२२४] धर्म का जिस व्यापक अर्थ में प्रयोग होना चाहिए उसे व्यक्ति की परिष्कृत प्रामाणिकता ही कहा जा सकता है। धर्म पारलौकिक भी है और लौकिक भी। उसके सहारे व्यक्तित्व निखरता है और लोगों का स्नेह सहयोग मिलता है। धर्म को मानवी गरिमा के अनुरूप कर्त्तव्य पालन कहा जाय तो भी कुछ हर्ज नहीं। यह मनुष्य की सर्वोपरि आवश्यकता है।[२२५]

वैदिक संस्कृति के अनुसार धर्म के आधार पर एक उच्चतर जीवन व्यवस्था का प्रतिपादन करना है। धर्म मनुष्यों को उनके सही कर्त्तव्यों का बोध कराता है। धर्म उन्हें सदाचार पूर्वक मानवीय मूल्यों के आधार पर कार्य करने को प्रेरित करता है। धार्मिक निर्देश मनुष्य के वास्तविक कर्त्तव्यों का निरूपण करते हैं। इसके

---

२२३. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व, भाग ३४, पृष्ठ ४.३६

२२४. श्रीराम शर्मा आचार्य- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष; अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अंक १०, पृष्ठ ५

२२५. वही,

फलस्वरूप वे मनुष्यों को शुद्र वृत्तियों से दूर रखते हैं तथा चित्त-वृत्तियों को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध होते हैं। यह तथ्यात्मक सत्य है कि धर्म मनुष्य का अन्तःकरण है। धर्म मनुष्य को उन सभी परिस्थितियों एवं मानवीय गुणों का, जो व्यक्ति के समाजिकरण में सहायक होते हैं, ज्ञान कराता है। धर्म जीवन में ऊँचा उठाने वाले सिद्धान्तों से अवगत कराता है। सारांशतः धर्म मानव-मूल्यों के प्रति सचेत करता है। और उनसे विचलित होने से रोकता है। धर्म का सर्वाधिक योगदान पुरुषार्थ के सम्बन्ध में यह है कि वह अर्थ एवं काम सम्बन्धी अनुचित कार्यों को नियंत्रित करता है। धर्म मर्यादा के अन्दर कार्य करने के लिए प्रेरित करता है तथा व्यक्तियों को पथ-भ्रष्ट होने से रोकता है। इस प्रकार यह आत्मोत्कर्ष का साधन है।[२२६]

❑ सदाचरण की सम्पदा- अर्थ

धर्म के बाद अर्थ का प्रसंग आता है। अर्थ का तात्पर्य है विपुल सम्पदा से नहीं वरन् उन साधनों से है जो जीवित रहने के लिए आवश्यक है। इतनी साधन सामग्री तो हर किसी के पास होनी चाहिए। सही उपार्जन और सही उपयोग की कसौटी पर कसा हुआ धन ही सुख, सन्तोष, प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता प्रदान करता है।[२२७] अर्थ का अर्थ है धन सम्पत्ति। धन सम्पत्ति आदि वित्तीय साधनों को अर्थ की संज्ञा दी गई है। जीवन को यथोचित रूप से चलाने के लिए तथा उसकी मौलिक एवं प्राकृतिक आवश्कयताओं और इच्छाओं की सम्पूर्त्ति के लिए धन अनिवार्य है। उसके बिना जीवन-निर्वाह असम्भव है। समाज का पोषण धन से ही सम्भव है। भौतिक सुख अर्थ के अर्जित करने पर ही निर्भर करते हैं। पुरुषार्थ सिद्धान्त भी सांसारिक कर्त्तव्यों के पालन एवं दायित्व की पूर्ति के लिए अर्थ का उपार्जन आवश्यक समझा जाता है। अतः आर्थिक आत्मनिर्भरता अपेक्षित है। वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत पुरुषार्थ सिद्धान्त का मौलिक दृष्टिकोण अर्थ के सम्बन्ध में यह है कि भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के अद्वैत अथवा सम्यक् समन्वय के बिना मानव का वास्तविक उत्थान नहीं हो सकता है। इसलिए तो ऋग्वेद की ऋचा कहती है 'मनुष्य ईश्वर की उपासना और अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रतिदिन पुष्टि देने वाले, निरन्तर बढ़ने वाले, कीर्ति देने वाले ऐसे धन को प्राप्त करें।'[२२८] इसमें आगे

---

२२६. सोती वीरेन्द्र चन्द्र- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृष्ठ १६०-६१

२२७. श्रीराम शर्मा आचार्य- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अंक १०, पृष्ठ ६

२२८. अग्निना रयिमग्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम्। - ऋग्वेद, १/१/३

वर्णन है 'हे राज्य मैं अन्य की कमाई न खाऊँ।'[२२९] अर्थात् हमें नैतिकता पर आधारित साधन द्वारा धन प्राप्ति के लिए प्रेरित कीजिए। इस प्रकार यजुर्वेद,[२३०] अथर्ववेद[२३१] में भी अर्थ की महत्ता का प्रतिपादन मिलता है। अत: अर्थ साध्य नहीं साधन है। सम्पन्नता अर्जित करने की प्रवृत्ति एक सहज मानवी आकांक्षा का अंग है। इसी कारण इसे महत्त्व दिया गया है।

❑ उल्लास का मर्म- काम

काम को भी पुरुषार्थ के रूप में मान्यता मिली है। प्राय: काम से अभिप्राय यौन तृप्ति समझा जाता है, पर यह काम का एक नगण्य छोटा रूप है। काम से अर्थ विनोद एवं उल्लास की उन समस्त प्रवृत्तियों से है जो मनुष्य को सुख एवं आनन्द की अनुभूति कराती है। काम का उच्चस्तरीय स्वरूप यही है जो मानव व्यक्तित्व के विकास में सहायक है। मानव के भावुक जीवन की अभिव्यक्ति को काम का नाम दिया गया है। ऋग्वेद के नारदीय सूक्त की एक ऋचा आदि सृष्टि का मूल कारण प्रतिपादित करती है। काम को मन का प्रथम रेत या सार कहा गया है।[२३२] प्रकृति ने काम के अन्तर्गत प्रणय एवं सौन्दर्य दोनों का समावेश किया है। काम मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, अत: काम की कामना प्राकृतिक है। सृष्टि के विकास के लिए ईश्वर ने ही इस प्रवृत्ति को मानव को प्रदत्त किया है। काम एक नैसर्गिक कामना है। पुरुषार्थ सिद्धान्त काम की आवश्यकता को तो मानता है परन्तु उसका इस सम्बन्ध में सार यह है कि मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुए ही विषयों को नियंत्रित रूप में भोगें। धर्माचरण को दृष्टि में न रखकर यदि काम के सम्बन्ध में कार्य किया जाय तो वह पुरुषार्थ के अन्तर्गत काम नहीं अपितु वासना और व्यभिचार की श्रेणी में आ जाता है। अत: काम का व्यापक अर्थ है- हँसते-हँसाते जीना, स्नेह और सहयोग बढ़ाना और उसकी परिधि में सुनिश्चित समुदाय को लपेटना।

❑ जीवन मुक्ति- मोक्ष

वैदिक संस्कृति में जीवन का उच्चतम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। यह मनुष्य का अंतिम लक्ष्य है। यही जीवन का परम साधन है। यही मानव का मुख्य गन्तव्य है। वह स्थिति जिमसें मनुष्य जन्म-मरण के बंधन से निस्तार पा जाय

---

२२९. माहं राजन्नन्य कृतेन भोजनम्। - ऋग., २/२८/९

२३०. यजुर्वेद, ४०/१

२३१. अथर्व., ७/११५/४, ७/८२/१

२३२. ऋग., १०/१२९/४

उसे मोक्ष कहते हैं। श्रीराम शर्मा आचार्य जी के शब्दों में कहें तो मोक्ष का शब्दार्थ है- बंधनमुक्त होना। बंधन तीन ही हैं, लोभ, मोह और अहंकार। यही वास्तविक बन्धन है। इन लिप्सा लालसाओं से जो अपने को मुक्त कर लेता है, समाज का एक विनम्र घटक बनकर सेवा साधना में संलग्र रहता है, उसी के बारे में यह समझना चाहिए कि जीवित रहते ही उसने मुक्ति प्राप्त कर ली। जीवन मुक्त होने का तात्पर्य बन्धन मुक्ति होना ही है। बन्धन दुष्प्रवृत्तियों के ही होते हैं।

धर्म, अर्थ एवं कामत्रयी के अनुसार कार्य करने से इस लोक में जीवन अत्यन्त सुखकर होता ही है मरणोपरान्त भी यह मोक्ष का हेतु होता है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य अपनी आत्मिक आकांक्षाओं की पुरुषार्थ सिद्धान्त का अनुसरण करके पूरा कर सकता है। जिस अभ्यास या साधना के आधार पर व्यक्ति धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थत्रयी के यथार्थ ज्ञान को पा लेता है वह ज्ञान ही मोक्ष की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है। अत: पुरुषार्थ धर्म, अर्थ एवं काम की त्रिवेणी है। परन्तु वैदिक ऋषियों का प्रयास पुरुषार्थ यहाँ तक सीमित नहीं रहा बल्कि समाज के सांस्कृतिक प्रतीकों के अन्वेषण एवं अध्ययन में भी प्रयुक्त हुआ।

प्राचीन संस्कृति के प्रतीक

वैदिक संस्कृति की प्रतीकों के माध्यम से लोक शिक्षण की पद्धति की समीक्षा विश्व भर के मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों तथा मनीषियों ने की है व ऋषियों की इस खोज को स्वयं में एक अद्‌भुत विद्या का नाम देते हुए लोक शिक्षण की इस प्रक्रिया की भूरि-भूरि सराहना की है। चेतना के महत्त्वपूर्ण सूत्रों के माध्यम से मानव जीवन की शोध करने वाले वैज्ञानिक मनीषा धारण करने वाले ऋषिगणों की मानवी मनोविज्ञान पर पकड़ बड़ी गहरी थी। उन्होंने पाया कि मानवी मन प्रतीकों की भाषा को ठीक से समझ सकता है। भावों, क्रियाओं, घटनाक्रमों को प्रतीकों के माध्यम से समझाकर मन को तथा उसके माध्यम से अचेतन को भली भाँति प्रशिक्षण दिया जा सकता तथा नए संस्कारों का, अवधारणाओं का आरोपण कर पाना सम्भव है। यह निष्कर्ष ऋषियों की प्रज्ञा ने निकाला व अनेकों प्रतीक खोज निकाले, जिनके गूढ़तम अर्थ है व जिनके माध्यम से एक विशाल समूह व समाज का शिक्षण कर पाना सम्भव है। वेदों में प्रतीकों का दृष्टान्त मिलता है।

वेदकाल से ही प्रतीकों की भाषा का जीवन व्यवहार में उपयोग होता आया है। पुरातन समाज इसीलिए 'सिम्बालिक सोसायटी' कहलाया।[२३३] वैदिक संस्कृति

---

२३३. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व, पृ. ३.१५

के प्रणेता ऋषिगण जीवन की अखण्डता में विश्वास करते आये हैं। उनका मत है कि यह सृष्टि चैतन्यमयी है। चैतन्य सत्ता का प्रवाह ही अनेकानेक रूपों में अभिव्यक्त होता है, ऐसी उनकी धारणा है। यही कारण है कि वे चर-अचर, अप्राणियों जैसे नदी, पर्वत, पत्थर, पेड़-पौधों से लेकर प्राणियों तक में उसी ब्रह्म सत्ता-चैतन्य की सत्ता निवास मानते हैं। 'डीप इकॉलॉजी' की अवधारणा तो विज्ञान जगत् में अभी आई है किन्तु वैदिक संस्कृति पहले से ही अन्तः प्रकृत्ति व बाह्य प्रकृति में साम्य मानते हुए प्रकृति व जीव जगत् को परस्पर अन्योन्याश्रित दोनों में एक ही चेतना का अस्तित्व बताते हुए एक दूसरे के संरक्षण की महत्ता का प्रतिपादन करती आयी है। यही कारण है कि ऋषियों ने प्रतीक रूप में सृष्टि के हर अंग को स्वीकार कर उनसे शिक्षण या प्रेरणा लेने का प्रयास किया। ऋषि यह जानते थे कि प्रतीकों के माध्यम से निराकार ब्रह्म की सत्ता का ध्यान कराते हुए मन को एकाग्र कराना सम्भव है। मन के एकाग्र होन के बाद इस प्रक्रिया के माध्यम से संस्कारों का आरोपण भी किया जा सकता है। प्रतीकवाद के मूल में ऋषियों का यही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रधान है जो मूर्तिपूजा से लेकर चर-अचर सभी में अभिव्यक्त होता है।

प्रतीकों को जुंग व अर्नाल्ड टायनबी ने आर्चीटाइप्स (भाव प्रतिमाओं) से संगति बिठाते हुए अपने व्याख्यानों में उन्हें अचेतन मन के शिक्षण की विधा के रूप में वैदिक संस्कृति की विश्व संस्कृति को विलक्षण देन बताया है।[२३४] कुण्डलिनी शक्ति का बड़े गहराई से चक्र रूपी प्रतीकों के माध्यम से विवेचन अपनी कृतियों में जुंग ने किया है व अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति हेतु उन्हें सुपरचेतन सत्ता का माध्यम माना है। मातृसत्ता के रूप में 'मदर आर्चीटाइप' की महाकाली आद्यशक्ति गायत्री की तथा गुरुसत्ता के रूप में 'गुरु आर्चीटाइप' की व्याख्या सर जान वुडरफ के ग्रंथों में विस्तार से देखी जाती है। फ्राइड ने प्रतीकों को मानव जाति की सबसे पुरातन व मौलिक कल्पनाओं की अभिव्यक्ति नाम दिया है। वस्तुतः प्रतीकवाद के माध्यम से सृष्टि के विभिन्न घटकों में मेक्रोकॉस्मास की चैतन्य की अभिव्यक्ति की वैदिक अवधारणा की विदेशी विद्वान् भूरि-भूरि सराहना करते आए हैं, क्योंकि इससे मन के शिक्षण की विलक्षण विद्या उन्हें प्राप्त हुई है।

वैदिक प्रतीक प्राचीन समाज और संस्कृति के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं।[२३५] इनमें कुछ पशु एवं पक्षी जगत्, कुछ वनस्पति जगत् तथा कुछ अन्य

---

२३४. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व, पृ. ३.१६

२३५. महेशचन्द्र जोशी- युग-युगीन भारतीय कला, पृष्ठ ६१

देव समूह से सम्बन्धित हैं। हंस, श्येन, द्विशीर्ष, वृषभ, गिद्ध, नन्दी, शेषनाग, वृषभ धेनु, वराह, महिष, ऐरावत आदि पशु एवं पक्षी जगत् से सम्बन्धित प्रतीक हैं। पद्म, कल्पवृक्ष, कल्पलता, पुण्डरीक, आदि वनस्पति जगत् से सम्बन्धित हैं। देव समूह से सम्बद्ध प्रतीकों में श्री लक्ष्मी, रुद्र, महादेव, यम, यज्ञ, नाग, सूर्य, चन्द्र, वामन-विराट, त्रिविक्रम विष्णु, अर्धनारीश्वर, गणपति, अम्बिका, पशुपति, सप्तमातर, मातृका, हिरण्यगर्भ, नारायण, दक्ष, असुर, राक्षस, सप्तर्षि, अष्टमूर्ति शिव, गन्धर्व, अप्सरा, रुद्र आदि उल्लेखनीय हैं। विविध विषयों से सम्बन्धित अभिप्रायों में पूर्ण कलश, त्रिशूल, वज्र, मण्डल (कुण्डल, कर्णाभरण), चक्र, यूप, स्तंभ, वेदिका, सप्त रत्न, देवजमणि, धर्म (दूध औटाने का घड़ा), भुजिष्यपात्र (भिक्षा पात्र), चतुर्थमस, मिथुन, द्यावा-पृथिवी, आप: समुद्रम, विमान (देवगृह), वातरशना (दिगम्बरता), काली आदि का उल्लेख किया जा सकता है।[२३६]

देव प्रतिमाएँ भावात्मक उत्कृष्टता का प्रतीक हैं। देवत्व की परिधि में जो गुण, कर्म स्वभाव आते हैं, उन सभी को आकृतियाँ देकर कल्पनात्मक रहस्यवाद का परिचय दिया गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल[२३७] में दारु ब्रह्म श्री पुरुषोत्तम की मूर्ति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। दारु ब्रह्म अर्थात् काष्ठमय पुरुषोत्तम देव शरीर। कैम्ब्रिज हिस्ट्री में इन्द्र की मूर्ति की उपासना का उल्लेख वैदिक काल में होता मिलता है। कल्याण के 'हिन्दू संस्कृति अंक' में इसकी स्पष्ट विवेचना हुई है।[२३८]

स्वस्तिक वैदिक संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वशाली प्रतीक है। इसका अर्थ चिरन्तन सत्य, शाश्वत शान्ति और अनन्त सौन्दर्य समझा जाता है। स्वस्ति का उल्लेख सर्वप्रथम वेदों में ही मिलता है। सत्य, शिव और सुन्दर के रंगमंच पर अवस्थित विवेकी आर्य ही सभ्यता के आदि काल में कहने का साहस कर सकता था- 'हमारा माता के लिए कल्याण हो। पिता के लिए कल्याण हो। हमारे गोधन का मंगल हो, विश्व के समस्त प्राणियों का मंगल हो। हमारा यह सम्पूर्ण विश्व उत्तमधन और उत्तमज्ञान से सम्पन्न हो। हम लोग चिरकाल तक प्रतिदिन सूर्य का दर्शन करते रहें। हम दीर्घजीवी हों।'[२३९] यजुर्वेद में इसे कल्याणवाची माना गया है।[२४०] मानव

---

२३६. महेशचन्द्र जोशी- युग-युगीन भारतीय कला, पृष्ठ ६२

२३७. ऋग्वेद, १०/१५५/३

२३८. कल्याण- हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ २२५

२३९. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु, स्वस्ति गोम्यो जगते पुरुषेभ्य:।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगंव दृशेम सूर्यामा॥ - अथर्व, १/३१/४

२४०. यजुर्वेद, २५/१९

समाज के कल्याण का यह प्रतीक है।[२४१] स्वस्तिक में व्यष्टि और समष्टि के कल्याण का भाव ग्रन्थित है। यह विश्व के प्राणियों को कल्याण की ओर जाने का अपूर्व और अमर संदेश देता है। स्वस्तिक अनादि है, अभेद्य है, अनन्त, पृथ्वियाँ, स्वस्तिक में आबद्ध हैं और स्वस्तिक उनमें अपने जुदे-जुदे स्वरूप को लिखे हुए अंकित और प्रकाशित है।

सृष्टि के आरम्भ में केवल नाद था, ध्वनि थी। ध्वनि से शब्द बने। आदि, अनादि, अन्त, अनन्त में इसी नाद की, शब्द की सत्ता स्वीकार की। उस नाद का, शब्द का स्वरूप ॐकार है। माण्डूक्योपनिषद् का मंत्र इस तथ्य को स्वीकारता है।[२४२] इसी तरह सूर्य को सविता देवता माना गया है व सूर्योपासना गायत्री साधना पद्धति का प्राण है। वैदिक संस्कृति के अनुयायी के लिए सूर्य आग का गोला या हीलियम-हाइड्रोजन का समन्वय नहीं, वरन पापनाशक भर्ग है। प्रतिभा परिष्कृत करने वाली दैवी शक्ति का पुंज है। यजुर्वेद में सूर्य को ज्योति एवं ज्योति को सूर्य का अलंकरण मिलता है।[२४३] ऋग्वेद में कर्म भेद से पाँच सौर देवता हैं। सूर्य के विषय में मनोरम कल्पनाएँ वेद में प्राप्त हैं। कहीं उषा की गोद में खेलने वाला बालक है। कहीं सूर्य उषा के पति हैं। सूर्य को आरोग्य का देवता, शत्रुओं का नाशक, काल, संवत्सर, मास, ऋतु आदि का विभाजक माना गया है। सूर्य के समान अग्नि का भी महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। ऋग्वेद में इन्द्र के बाद महत्त्वपूर्ण देवता 'अग्नि' को माना गया है। इसमें २०० मंत्र अग्नि के विषय में हैं। अग्नि के पाँच विशेष नाम हैं- १. घृत-पृष्ठ, घृत का जलने वाला, २. शोचिराकेश-ज्वालाकेश, ३. रक्तश्मश्रु-लाल मूछों वाला, ४. तीक्ष्णदंष्ट्र- बड़े तीखे दाँतों वाला, ५. रुक्मदंत-सोने के दाँतों वाला। वेदों में अग्नि की अनेक उपमाएँ दी गयी हैं। कहीं पर उन्हें गरुड़, कहीं पर श्येन तथा कहीं हंस के समान कहा गया है। वैदिक वचन है 'चन्द्रमा मनसो जातः, सूर्यो ज्योतिरजायत' अर्थात् चन्द्रमा मन के देवता हैं तथा सूर्य प्रकाश के देवता हैं।

चक्र का कालचक्र में भी उल्लेख मिलता है। चक्र वह है जिसमें नियमित

---

२४१. परिपूर्णानन्द वर्म्मा- प्रतीकशास्त्र, पृष्ठ २१

२४२. ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपत्याक्ष्यानम्।
भूतं भव्यं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव, यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदत्योङ्कार एव।

२४३. अग्नि ज्योंति ज्योतिरग्निः स्वाहा। सूर्यो ज्योंति ज्योंतिः सूर्यः स्वाहा, अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वचः स्वाहा, सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वचः स्वाहा, ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा।
- यजु., ३/९

गति या छन्दोगति होती है। विराट् विश्व की स्थिति को ब्रह्मचक्र कहा जाता है। इसे संसार चक्र का भी प्रतीक माना जाता है। ऋग्वेद में इसे विष्णु का व्रतचक्र कहा गया है।[२४४] वैदिक साहित्य में पूर्ण कलश महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। ऋग्वेद में जिस पूर्ण कलश या भद्र कलश का वर्णन है वह सोम रस से भरा पात्र है। अथर्ववेद में घृत और अमृत से भरे पूर्ण कुम्भ का उल्लेख है। उसी में पूर्णकुम्भ नारी का संदर्भ आया है। इसे मांगलिक प्रतीक माना जाता है। फूल-पत्तियों से सज्जित पूर्णघट सुख सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। कमल का उल्लेख ऋग्वेद, गोपथ ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में हुआ है। यह ऐश्वर्य तथा सुख का सूचक है। कमल प्रतीक है- पवित्रता, निर्मलता, शुद्धता, जीवन, अमरता, सौन्दर्य, कोमलता, सुरभि, निश्चलता, निष्कपटता तथा सृजन का।[२४५] शतपथ ब्राह्मण में कहा है 'जल कमल है और पृथ्वी कमल पत्र है। जैसे जल पर कमल पत्र रखा जाता है उसी प्रकार जल पर पृथ्वी ठहरी हुई है। यह कमल-पत्र रूपी पृथ्वी अग्नि की योनि है।'[२४६] ऋग्वेद में जल से कमल भूमि की उत्पत्ति का वर्णन है।[२४७] छान्दोग्योपनिषद् में कमल को हृदय का प्रतीक माना गया है।

वस्तुतः मानव मनोविज्ञान के ज्ञाता ऋषियों ने प्रतीक पूजन की प्रथा चलाई ही इसलिए ताकि इन प्रतीकों के माध्यम से व्यक्ति अनन्त सत्ता को साकार रूप में अपने सामने देख सके, आस्तिक बन सके। इसी तरह हर सभ्यता तथा संस्कृति प्रतीकों से ओतप्रोत होती है। निजी व्यवहार भी, व्यक्तिगत व्यवहार भी प्रतीक से ओत प्रोत होते हैं।[२४८] इसके मूल में भी वही तात्विकता समायी हुई है। वैदिक संस्कृति का प्रतीक शास्त्र एक ही सत्य का प्रतिपादन करता है कि अभिव्यक्ति हेतु निमित्त व आकृति चाहिए। ईश्वरीय सत्ता का निवास बताते हुए उसे समझाने व आत्मसात करने हेतु वैदिक संस्कृति अध्यात्म प्रतीकों की महत्ता का प्रतिपादन करता आया है। मन प्रतीकों से ही एकाग्र हो सकता है व इस प्रकार सृष्टि के कण-कण में ईश्वरीय सत्ता का निवास बताते हुए उसे समझने व आत्मसात करने हेतु वैदिक ऋषि अध्यात्म प्रतीकों की महत्ता का प्रतिपादन करता आया है। यही

---

२४४. ऋग्वेद, १/११५/६

२४५. विजय कुमार मल्होत्रा- कमल शाश्वत सांस्कृतिक प्रतीक, पृष्ठ १५

२४६. शतपथ ब्राह्मण, ७/४/१/८

२४७. ऋग., ७/३३/११

२४८. Edward Sapir- "Symbolism" in Encyclopaedia of the Social Science, p.494

वह पृष्ठभूमि है जहाँ समाज एवं संस्कृति के आध्यात्मिक आधार की रूपरेखा प्रादूर्भाव होती है एवं विकसित होती है।

समाज एवं संस्कृति के आध्यात्मिक आधार

वैदिक तत्त्वदर्शी ऋषियों ने बुद्धिमत्ता, सूक्ष्मदृष्टि, उपयोगिता एवं स्थिति को पग-पग पर ध्यान में रखकर ही कदम उठाये हैं। समाज के विकास एवं उत्कर्ष के लिए नितान्त आवश्यक और उपयोगी सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों व नीतियों को यदि सुसंबद्ध किया जाय तो वह महत्त्वपूर्ण सूत्र तीन चरणों व चौबीस अक्षरों वाली गायत्री मंत्र है। इसमें वह सभी तत्त्व समाहित है, जो समूचे समाज के लिए आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत कर सकें।[२४९] गायत्री मनुष्य के विचारों में सद्विवेक की स्थापना करती है।[२५०] गायत्री उपासना को सद्ज्ञान, सद्विवेक की उपासना भी कहा जाता है। गायत्री महामंत्र के चौबीस अक्षरों में बीज रूप से वह सभी तत्त्व ओत-प्रोत है, जो उपासक के हृदय, अन्तःकरण में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्वस्थ, समर्थ एवं विवेकपूर्ण बनाने वाला प्रकाश जाग्रत् करते हैं। अनेक तरह की दार्शनिक, सामाजिक मान्यताओं के रहते हुए भी गायत्री उपासना, तत्त्वज्ञान के प्रति वैदिककाल से ही ऋषि, मनीषी सभी एकमत रहे हैं। जितने भी अवतार हुए हैं, उन सबने उपासना के रूप में आद्यशक्ति गायत्री को इष्टदेव चुना है। उसके पीछे इस दर्शन का ही प्रतिपादन हो रहा है कि मनुष्य जाति की समस्याओं का निराकरण विवेक और सद्ज्ञान से ही सम्भव है।[२५१]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'समत्कृत्सवां गायत्रीमन्वाह, तत कृत्सतं प्राणं दधाति' अर्थात् जो व्यष्टिगत एवं समष्टिगत जगत् की व्यवस्था बिठाती है एवं सामंजस्य स्थापित करती है, वही गायत्री है और जो इस व्यवस्था को पूर्णता देता है- वह यज्ञ है। इसी कारण गायत्री को देव संस्कृति की माता और यज्ञ को मानवीय धर्म का पिता कहा गया है, दोनों का युग्म है। आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार 'यज्ञ अपने में एक समर्थ और समग्र दर्शन है। इसकी सरल और सुबोध प्रेरणाओं में मनुष्य को उदार एवं उदात्त बनाने के वे सारे तत्त्व मौजूद हैं जो संसार के किसी अन्य दर्शन में नहीं हैं। यही कारण है कि उसे वैदिक संस्कृति का

---

२४९. डॉ. मन्दाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ २७४

२५०. आचार्य श्रीराम शर्मा- युग शक्ति गायत्री का अवतरण, अभिप्राय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक ११, पृष्ठ ४५

२५१. वही,

पिता कहा गया है। पिता अर्थात् पालनकर्त्ता। समाज का परिपालन एवं संरक्षण देने वाला। यही वह आधार है जिससे समाज प्रगति करता है एवं समुन्नत बनता है। यज्ञीय दर्शन व्यक्ति एवं समाज को श्रेष्ठ, शालीन एवं समुन्नत बनाने में समर्थ है। अपने में वह समग्र है। यज्ञीय प्रेरणाओं को व्यवहार में उतारा जा सके तो स्थायी सुख शान्ति का मजबूत आधार बन सकता है।'[२५२]

❑ सद्बुद्धिदात्री गायत्री

गायत्री वैदिक संस्कृति का प्राण है। वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता के रूप में उसकी भूमिका वैदिक काल में भी महान् थी। गायत्री के चौबीस अक्षरों में ज्ञान विज्ञान के वे सभी तत्त्व मौजूद हैं जिनके सहारे व्यक्ति की उत्कृष्टता और समाज की सुव्यवस्था का पुनः निर्धारण सम्भव हो सके।[२५३] गायत्री वेदमाता है। गायत्री से ही चारों वेद और उनकी ऋचाएँ निकली हैं। वेद समस्त विद्याओं के भण्डार हैं। समस्त तत्त्वज्ञान और भौतिक विज्ञान वेदों के अन्तर्गत मौजूद हैं। जो कुछ वेद में है उसका सार गायत्री में है। वेद गायत्री की व्याख्या है।[२५४] ऐतरेय ब्राह्मण में गायत्री शब्द का अर्थ करते हुए कहा गया है 'गायान प्राणान् त्रायते सा गायत्री।' अर्थात् जो गय (प्राणों की) रक्षा करती है, वह गायत्री है। याज्ञवल्क्य ऋषि के अनुसार उसे गायत्री इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह प्राणों की रक्षा करती है।[२५५] श्री शंकराचार्य जी ने अपने भाष्य में इसको स्पष्ट किया है। वे कहते हैं प्राणों की रक्षा करे वही गायत्री है। जिससे तत्त्व जाना जाये वह गायत्री है। जिसे विवेक बुद्धि से, ऋतम्भरा प्रज्ञा से तत्त्व को वास्तविकता को जाना जा सकता है वह गायत्री है।[२५६] भारद्वाज ऋषि के मत से 'गय' प्राणों को कहते हैं, जो प्राणों की रक्षा करती है वह गायत्री है।'[२५७] वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है 'जिससे प्राणों की रक्षा होती है वह गायत्री है।'[२५८]

---

२५२. आचार्य श्रीराम शर्मा- यज्ञ विश्व का सर्वोत्कृष्ट दर्शन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक ९, पृष्ठ ४७

२५३. आचार्य श्रीराम शर्मा- २४ गायत्री शक्तिपीठों की स्थापना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अंक ४, पृष्ठ ५१

२५४. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय - गायत्री साधना का गुह्य विवेचन, भाग-१०, पृष्ठ १.४

२५५. गायत्री प्रोच्यते तस्माद् गायन्तां त्रायते यतः ।- याज्ञवल्क्य

२५६. गयान् त्रायते गायत्री। गीयते तत्वमनया गायत्रीति। - शंकर भाष्य

२५७. प्राणा गया इति प्रोक्ता त्वायते तानशापि वा। - भारद्वाज

२५८. तद्यत्प्राणं त्रायते तस्माद् गायत्री। - वृहदारण्यक, ५/१४/४

इन प्रमाणों पर विचार करने से प्रकट हो जाता है कि गायत्री वह तत्त्व है जो हमारे प्राणों की रक्षा करता है। गायत्री उस बुद्धि का नाम है, जो सतोगुणी दैवी-तत्त्वों से आच्छादित होती है, जिसकी प्रेरणा से मनुष्य का मस्तिष्क और शरीर ऐसे मार्ग पर होता है, जिस पर चलते हुए पग-पग पर कल्याण के दर्शन होते हैं। जिससे हर कदम पर आनन्द का संचार होता है। सात्विक विचार और कार्यों को अपनाने से मनुष्य एवं समाज की प्रत्येक शक्ति की रक्षा और वृद्धि होती है। उसकी प्रत्येक क्रिया उसे अधिक पुष्ट, सशक्त एवं सुदृढ़ बनाती है और वह दिन-दिन अधिक शक्ति सम्पन्न बनता है। सतोगुणी ऋतम्भरा विवेक बुद्धि हमारे शारीरिक आहार-विहारों को सात्विक रखती है। संयम, ब्रह्मचर्य, श्रमशीलता, सादगीमय प्राकृतिक दिनचर्या होने से बलवीर्य बढ़ता और शरीर सक्रिय रहता है और दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। मन में अपरिग्रह, परमार्थ, सेवा, त्याग, सहिष्णुता, तितिक्षा, दया, सहानुभूति, मैत्री, करुणा, नम्रता, निरहंकारिता, श्रद्धा, ईश्वरपरायणता आदि की भावना काम करती है। यह भावना जहाँ रहती है वहाँ का समाज सदैव प्रफुल्ल, चैतन्य और जाग्रत् रहता है तथा उनका विकास होता है।

गायत्री ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं बुद्धि विवेक को भी कहते हैं। भली-बुरी वस्तु को निरखने परखने तथा उचित-अनुचित को जान सकने की शक्ति सामर्थ्य को विवेक के नाम से जाना जाता है। यद्यपि यह मनुष्य की आन्तरिक शक्ति है, फिर भी इसका अभिप्राय यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह मनुष्य की जन्मजात अन्त:प्रवृत्ति है, जिसका बाह्य जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक सामाजिक गुण भी है, जिसके रहते किसी भी व्यक्ति की गणना सभ्य समाज में की जा सकती है। समाज के सही सच्चे स्वरूप की जानकारी तो विवेक के अनुशासन का अवलम्बन लेकर ही आसानी से की जा सकती है। वैदिक समाज में मनुष्य गायत्री की उपासना करके विवेकवान होता था एवं अपने समाज को सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाता था। विवेक के अनुशासन को जितनी मात्रा में अपनाया जाता रहेगा, उसी अनुपात से समाज और संस्कृति का स्वरूप परिमार्जित एवं परिशोधित होता चला जायेगा। समाज की स्थिरता, सुख और समृद्धि विवेक के अनुशासन पर निर्भर करनी है। समाज के उद्देश्य एवं मान्यतायें भी इसी पर अवलम्बित हैं। सद्व्यवहार का उपक्रम इसी आधार पर निभता है। विवेक रूपी गायत्री माता का हंस ही सभ्य समाज की भव्य संरचना खड़ा कर सकता है। अत: कहा जा सकता है कि विवेक का अवलम्बन ही सभ्य समाज की नव्य संरचना करने में समर्थ है और सक्षम भी।[२५९]

---

२५९. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाड्मय- भव्य समाज का अभिनव निर्माण, भाग ४६, पृ. १.१३

गायत्री सद्बुद्धि, सद्व्यवहार की प्रतीक है। गायत्री उदारता, प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति, भ्रातृत्व, सेवा, संयम एवं सच्चरित्रता का प्रतिनिधित्व करती है। एक दूसरे के प्रति सद्व्यवहार करने से समाज में परस्पर स्नेह, संतोष, सद्भाव और प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। प्रेम का उद्गम सज्जनता और सद्व्यवहार से होता है। जहाँ स्वाभाविक, सरल एवं सच्ची सद्भावनायें रहती हैं वहाँ प्रेम, विश्वास स्वयमेव उत्पन्न होता है। ऐसा समाज सुसंस्कृत समाज कहलाता है। समाज में स्थित इसी सद्भावना के कारण कुटुम्ब, रिश्तेदारी, मैत्री या विवाह के दौरान निकटता, समीपता एवं आत्मीयता का भाव विकसित होता है। आन्तरिक सद्भावना के अभाव में जो पारम्परिक मैत्री सम्बन्ध, कुटुम्ब, विवाह, रिश्तेदार आदि के माध्यम से बनते हैं वे भी अवास्तविक सिद्ध होते हैं। उसके विपरित इन बंधनों में बँधे हुए लोक भी केवल मानवता और सज्जनता के नाम पर एक दूसरे के प्रति बहुत कुछ कर गुजरते हैं और इतना सद्व्यवहार रखते हैं कि उसकी तुलना में रिश्तेदारी आदि का सम्बन्ध बिलकुल तुच्छ प्रतीत होता है। पारस्परिक सच्चे प्रेम से उत्पन्न होने वाले सुख निस्संदेह इस संसार का सबसे बड़ा वरदान है।[२६०] इस तरह गायत्री उपासना समाज में सद्व्यवहार एवं पारस्परिक प्रेम में अभिवृद्धि करती है।

असमानता मनुष्य जाति के बीच भारी खाई उत्पन्न करती है और एकता की जड़ पर भयानक कुठाराघात करती है। ईर्ष्या और द्वेष की आग भड़काने का युद्ध और संघर्ष की विभीषिकायें उत्पन्न करने का, अपराध और पाप बढ़ाने का कारण यह असमानता ही है। यह एक ही समाज को असंख्य गुटों में विभक्त करने की क्षमता रखती है। और अगणित प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न करके सरल-सौजन्य को बेतरह कुचल मसल डालती है। सभी मनुष्य भगवान् के समान प्रिय पुत्र हैं। सभी के कर्त्तव्य और अधिकार एक से हैं। सभी को प्रकृतिप्रदत्त अनुदानों का समान रूप से लाभ उठाने का अधिकार है। असमानता के इस दुष्परिणाम को वैदिक ऋषियों की दूरदृष्टि ने परखा और जाँचा था इसलिए वे गायत्री महामंत्र के तत्त्वज्ञान को विकसित कर समाज में समानता, एकता एवं समता का दृढ़ आधार प्रदान किये थे। गायत्री महामंत्र का चमत्कारिक परिणाम ही है जिसे आत्मसात करने पर मनुष्यों में संकीर्णता की भावना मिटकर उनमें एकता, आत्मीयता, प्रेम, स्नेह के विचारों तथा भावों का समावेश होता है और वे आपस में अधिक मिलजुल कर सहयोगपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगते हैं। आत्मीयता सरसता उत्पन्न करती

---

२६०. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- भव्य समाज का अभिनव निर्माण, भाग ४६, पृ. १.१९

है। आत्मीयता का आरोपण जिस पर भी किया जायेगा वह अपना ही लगेगा और आत्म विस्तार का सदस्य बनकर आनन्द की अभिवृद्धि करेगा। आत्मीयता के विस्तार का अर्थ है जीवितों को अपनेपन की परिधि में जकड़ लेना। अधिक सुविधा साधनों से प्रसन्नता अनुभव होती है, गर्व, गौरव प्रतीत होता है। उसी प्रकार जिसके जितने अधिक अपने हैं, वह आत्म दृष्टि से अपने को उतना ही अधिक सुसम्पन्न अनुभव करता है। यही है प्रसन्नता का केन्द्र बिन्दु। अनेकों के दुःख बाँट लेने और अपने सुख अनेकों को बाँटा देने पर ही मनुष्य हँसती-हँसाती, हलकी-फुलकी जिन्दगी जी सकता है।[२६१]

गायत्री मंत्र से समता की एक धारा प्रस्फुटित होती है। यही समता मनुष्य समाज के सुख, शान्ति और सुव्यवस्था का प्रमुख आधार है। वैदिक समाज और संस्कृति में ऐसी प्रवृत्तियाँ बहुतायत से विकसित रहीं, इन्हीं कारणों से उन दिनों देवत्व की प्रचुर मात्रा विद्यमान थी। समाज को एक सूत्र में पिरोये रखने का आधार समता की भावना है। जिस समाज में समता का भाव बना रहता है वह समाज लौह-जंजीर की भाँति कभी न टूटने वाला होता है। सच्चे साम्यवाद के दर्शन वैदिक संस्कृति व समाज में ही देखने को मिलते हैं। समाज निर्माण के लिए समान व्यक्तित्व निर्माण की आवश्यकता होती है। जब मनुष्य अपने लिए, समाज के लिए, प्राणिमात्र के लिए और ईश्वरीय विधान के लिए सहयोगी के रूप में कर्त्तव्य पालन करता है तभी ऊँच-नीच की अज्ञानता मिटती सम्भव होती है। साम्यावस्था को प्रकृति और विषमता को विकृति कहते हैं। समता के बल पर ही सर्वसाधारण को सुविधापूर्वक जीवन सुलभ होता है[२६२] इस तरह गायत्री का तत्त्वज्ञान समाज में समता की अवधारणा को पुष्ट करता है।

गायत्री उपासना समाज में नम्रता, सज्जनता, कृतज्ञता, कर्त्तव्यपरायणता की भावना का विकास करती है। इसमें दूसरों के दुःख सुख को लोग अपना दुःख सुख समझते हैं और एक दूसरों की सहायता के लिए तत्परता प्रदर्शित करते हुए सन्तोष अनुभव करते हैं। आदर्शवादी आचरण अपनाने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धात्मक भाव अपनाते हैं। गायत्री मंत्र का भर्ग शब्द समाज में पशुप्रवृत्तियों का उन्मूलन कर मानवीय सभ्यता का अभिवर्धन करता है। यह अनीति, अत्याचार एवं आतंक को दूर कर समाज में शान्ति, सौहार्द्र एवं सद्भावना का उदय करता

---

२६१. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- भव्य समाज का अभिनव निर्माण, भाग ४६, पृष्ठ ४.३

२६२. वही, पृष्ठ ४.२४

है। गायत्री मंत्र का 'तत्' शब्द परमेश्वर की ओर संकेत करते हुए सतत याद दिलाता है कि साधक समाज में उसी की झलक देखकर सद्भावना पूर्ण व्यवहार करे। गायत्री में सविता तत्त्व समाज में सतेज, सक्रियता एवं जागरूकता की वृद्धि करता है। ऐसा समाज ही समग्र विकास को परिकल्पित कर सकता है। वरेण्य कहते हैं श्रेष्ठ को वरण करने, ग्रहण करने योग्य को, धारण करने योग्य को। अगर समाज में ऐसा भाव जाग्रत् हो जाय तो वह श्रेष्ठ पथ पर अग्रसर हो जाएगा। देव कहते हैं दिव्य को, अलौकिक को, असाधारण को। साधारणत: दुनियाँ के सब लोक अपनी स्वार्थ पूर्ति में, अपनी कामनाओं की तृप्ति में लगे रहते हैं उनकी इच्छा रहती है कि दूसरों से जो कुछ छीन सकें, ले सकें, ले लें। वह साधारण व्यक्ति को हर किसी से लेने की इच्छा करते हैं। परन्तु ऐसे असाधारण व्यक्ति अपनी शक्तियों, सामर्थ्यों को अपनी स्वार्थपूर्ति, वासनाओं की तृप्ति और छल कपट में न लगाकर परमार्थ के लिए अर्पण करते हैं, उन्हें दूसरों की सेवा में लगाते हैं, सदैव देते रहने की इच्छा करते हैं। वैदिक समाज ऐसे ही देव तत्त्वों से ओत-प्रोत था।[२६३]

अर्थ की दृष्टि से गायत्री में सद्बुद्धि की देव प्रज्ञा की आराधना है। समाज में यदि इस तत्त्व के अभिवर्धन की महत्ता समझी जा सके तो सहज ही यह भाव दिखाई पड़ता है कि समाज में न्यायप्रियता, निष्ठा एवं विवेक को प्रश्रय दिया जाय। जीवन को आदर्शवादिता से सघन रूप से जोड़े रखा जाय। गायत्री मंत्र में अहम नहीं वयम का प्राधान्य है। उसके न: शब्द का अर्थ होता है- हम सब। जो कुछ भी सोचा जाय, जो कुछ भी चाहा जाय, जो कुछ भी किया जाय, वह ऐसा होना चाहिए, जिसमें सर्वजनीन हित-साधना होता हो। सार्वभौम प्रगति एवं सुख शान्ति का आधार खड़ा होता है। यही विराट् ब्रह्म की, विश्व-मानव की अर्चना, अभ्यर्थना है। इसमें निजी स्वार्थ की संकीर्ण लोभ मोह की अवहेलना की गई है। गायत्री के चौबीस अक्षरों की जो व्याख्या परिभाषा शास्त्रकारों ने की है, उसका गम्भीरतापूर्वक अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि समाज व्यवस्था के समस्त आदर्शवादी सूत्र इन अक्षरों में गागर में सागर की तरह भर दिये गये हैं।[२६४] प्रचोदयात् कहकर परमात्मा से समाज के सभी मनुष्यों के लिए सद्बुद्धि की प्रार्थना की गई है। सद्बुद्धि रूपी गायत्री ही सद्कर्म रूपी यज्ञ में प्रकट होती है।

---

२६३. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- गायत्री साधना का गुह्य विवेचन, भाग १०, पृष्ठ १.१९

२६४. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, भाग २५, पृष्ठ १.१७

❑ सत्कर्म का प्रतीक यज्ञ

यज्ञ को सत्कर्म का प्रतिनिधि माना जा सकता है। वेद वाङ्मय में जितना प्रकाश यज्ञ रूपी सत्कर्म पर डाला गया है और यज्ञादि का जितना महात्म्य बताया गया है उतना और किसी का नहीं। वैदिक ऋचा 'अग्ने नय सुपथ राये ....' में इस सर्व समर्थ शक्ति से सन्मार्ग पर घसीट ले चलने की अभ्यर्थना की गई है। यज्ञीय कर्म के विषय में जितनी गहराई में उतरा जाता है- जितना अन्वेषण अध्ययन किया जाता है, उतनी ही रहस्यमय परतें खुलती चली जाती हैं और प्रतीत होता है कि इस प्रचलन में ज्ञान और विज्ञान का पूरी तरह समावेश है। आत्मिक और भौतिक प्रगति के सभी तथ्य इसमें बीज रूप में विद्यमान हैं। व्यक्ति और समाज की सुख-शान्ति के अति महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त इसमें सन्निहित हैं।

यज्ञ का भावार्थ है- परमार्थ, उदार कृत्य।[२६५] इसे देवत्व, संगठन और दान के रूप में भी अभिव्यक्त किया जाता है। यज्ञ में सद्भावनाओं को सत्कर्मों के रूप में परिणत करने की प्रेरणा है। ज्ञान और कर्म का समन्वय ही प्रगति का आधार खड़ा करता है। सत्कर्म को तप और सद्ज्ञान को योग कहा गया है। आत्मिक प्रगति के ये आधार हैं। भौतिक प्रगति के लिए भी इनमें समुचित स्थान है। देवताओं ने यज्ञ में देवत्व प्राप्त किया जैसी सूक्तियाँ मिलती हैं। इन प्रतिपादनों में समाज परायणता की प्रेरणा है। संक्षेप में यज्ञदर्शन-व्यक्तिगत जीवन में चरित्र निष्ठा और लोक व्यवहार में समाज निष्ठा के आदर्श को अपनाये जाने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति और समाज की सर्वतोमुखी प्रगति और सुख-शान्ति का यही एक मार्ग है।

यज्ञ की प्रतीक प्रतिमा में सन्निहित सूक्ष्म प्रेरणाओं की व्याख्या करते हुए व्यक्ति को पवित्र और समाज को समर्थ बनाने का लोक-शिक्षा जितनी अच्छी तरह से दी जा सकती है, वैसा अन्य किसी धर्मकृत्य के माध्यम से सम्भव नहीं हो सकता।[२६६] इसी कारण ऋषियों ने यज्ञ को समाज व संस्कृति का आध्यात्मिक आधार माना है। यज्ञाग्नि की कितनी ही विशेषतायें हैं यथा; १. सदा ऊँचा सर रखना-कैसा भी दबाव पड़ने पर सिर नीचे न झुकाना, २. जो भी सम्पर्क में आये उसे अपने समतुल्य बना लेना, ३. जो मिले उसका संचय न करके समाज के लिए बिखेर देना, ४. अपने अस्तित्व में गरमी और रोशनी की कमी न पड़ने देना, ५. अपनी सामर्थ्य को लोकहित में नियोजित किये रहना। यज्ञाग्नि ऋग्वेद के अनुसार

---

२६५. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, भाग २५, पृष्ठ १.२
२६६. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, भाग २५, पृष्ठ १.३

ईश्वर प्रेरित पुरोहित है और वाणी के मूक रहने पर भी अपनी गतिविधियों से सर्वसाधारण को समग्र प्रगति और सुख शान्ति की प्रेरणा देता रहता है। इस तरह देखा जाय तो व्यक्ति और समाज का सारा क्रम यज्ञ चक्र की धुरी पर ही परिभ्रमण कर रहा है। उदार सहयोग का यज्ञ दर्शन ही सर्वत्र सजीवता, सुव्यवस्था, प्रगतिशीलता की परिस्थितियाँ बनाये हुए हैं। नैतिक तत्त्वों से भी यज्ञाग्नि का अभिन्न सम्बन्ध है। अग्नि सर्वदर्शी है। उसकी १०० अथवा १००० आँखें हैं। जिससे वह मनुष्य के सभी कर्मों को देखता है।[२६७] उसके गुप्तचर हैं। वह मनुष्य के गुप्त जीवन को भी जानता है। वह ऋत का संरक्षक है।[२६८] अग्नि पापों को देखता है और पापियों को दण्ड देता है।[२६९] वह पाप को भी क्षमा करता है।[२७०]

यज्ञ की प्रेरणा है- दान, त्याग एवं बलिदान के लिए सहर्ष अपने को प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित व सहमत करना। संसार में जो दैवी और आसुरी शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनमें से देवत्व की, सतोगुण की, न्याय और धर्म पक्ष की पूजा-उपासना एवं सहायता की जाय, उसी में श्रद्धा रखी जाय और अपना प्रत्येक कदम उसी दिशा में अग्रसर किया जाय। असुरता को हटाने, उससे लड़ने और उसका विरोध करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। यदि मजबूरी के कारण बुराई की परिस्थिति में रहना पड़े तो भी उसको मानसिक रूप से कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए। वरन् कम से कम उससे मानसिक बहिष्कार तो करना ही चाहिए और उस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए प्रभु-प्रार्थना तथा प्रयत्न करना चाहिए। असुरता का पथ ग्रहण करना और उसी में तल्लीन हो जाना असुर पूजा है। यज्ञीय प्रेरणा इससे बचने एवं लड़ने की सामर्थ्य प्रदान करती है। यज्ञीय कर्म समाज में फूट, द्वेष, विलगाव, घृणा के भाव के बदले एकता, मेल, संगठन, सहयोग तथा पारस्परिक आत्मीयता का वातावरण विनिर्मित करता है। यह कर्म एक दूसरे के साथ उदारता तथा सेवा-सहायता के व्यवहार को सुदृढ़ और मजबूत करता है। इससे समाज में, जाति-जाति में, वर्ग-वर्ग में जो विद्वेष, छीना, झपटी, आपा-धापी, फूट-फिसाद, चढ़ा-ऊपरी फैली हुई है उसमें वृद्धि नहीं होती है बल्कि अनेकता को एकता में, मतभेद को समन्वय में परिवर्तन होने का मार्ग प्रशस्त होता है। समाज में अनेक विचारधाराएँ, मान्यतायें, दर्शन, वाद, सिद्धान्त, मत रहते हुए

---

२६७. ब्रा. ऋ, १०/७९/५

२६८. ऋग., १०/८/५

२६९. वही, ४/३/५-८, ४/५/४-५

२७०. वही, ९/७/३-७

भी मनुष्य सद्भाव और सहिष्णुता पूर्वक आपस में रह सकते हैं और विद्वेष की अपेक्षा प्रेमपूर्वक, विचार विनिमय द्वारा संगतिकरण द्वारा परम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। यह संगतिकरण ही समाज को एक सूत्र में पिरोये रखता है। संगतिकरण की फलश्रुति है मानव मात्र, प्राणि मात्र में अपनी ही सत्ता की अनुभूति करना। यही है वह मानवी आधार जिसकी भाव-अभिप्रेरणा द्वारा मनुष्य उदात्त बन जाता है। मनुष्य को समाज के समष्टि की प्रगति में ही अपनी उन्नति दिखाई देती है। संकीर्णताओं के बंधन कट जाते हैं। परमार्थ में मनुष्य मात्र के कल्याण में ही सुख की अनुभूति होती है। संगतिकरण का सिद्धान्त समाज व विश्व में वसुधैव-कुटुम्बकम के सपने को साकार करने में सशक्त भूमिका सम्पादित करता है।[२७१]

परमात्मा ने जो कुछ हमें दिया है वह हमारे भोगने या संचय करने के लिए नहीं है। यह यज्ञ भावना के विपरीत है। हमारे पास जो कुछ बल बुद्धि, विद्या, धन, वैभव, ऐश्वर्य, प्रभाव आदि है उसे अपने से छोटों को ऊपर उठाने में और अपने से बड़ों को आगे बढ़ाने में लगाना चाहिए। अपनी निजी आवश्यकताओं को कम से कम रखकर पूर्ण श्रम एवं लगन के साथ अपनी सांसारिक, मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक शक्तियों में अभिवृद्धि करनी चाहिए। इसका उद्देश्य कमाना अधिक और उससे भी अधिक दान करना चाहिए। अपनी कमाई को संसार में सद्गुण, सद्विचार, सद्भाव एवं सुख-शान्ति बढ़ाने में लगाना चाहिए। दान से अभिप्राय अपनी क्षमता, प्रतिभा एवं सम्पन्नता को लोक-कल्याण के लिए समर्पित करने के लिए तैयार कर लेना। यह उदारवादी दृष्टिकोण ही मनुष्य के लिए समर्पित करने के लिए मन को तैयार कर लेता है। यह उदारवादी दृष्टिकोण ही मनुष्य को त्याग-बलिदान के लिए परमार्थ पथ पर बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। सहयोग की, त्याग की प्रवृत्ति पर ही व्यक्ति एवं समाज का विकास निर्भर करता है। माँ की त्यागमयी ममता, पिता के संरक्षण, परिपोषण से लेकर सामाजिक सहयोग की परम्परा में यज्ञ में दान की ही प्रवृत्ति काम करती दृष्टिगोचर होती है। दान के महत्त्व और इसके व्यक्ति एवं समाज के उत्कर्ष में योगदान के रहस्य से ऋषि अवगत थे। यही धारणा है कि यज्ञ के माध्यम से उन्होंने सूक्ष्म एवं समर्थ व्यक्ति को अपनी क्षमता एवं प्रतिभा को समाज के लिए उत्सर्ग करने की प्रेरणा दी है।[२७२] समर्थों का अनुदान अभावग्रस्तों, निर्बलों को मिले तो समाज की सुव्यवस्था स्थिर रह सकती है। समर्थ यदि अपनी समर्थता को समाज के लिए

---

२७१. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, भाग २५, पृष्ठ २.१८,१९

२७२. वही,

प्रस्तुत करें तो अव्यवस्थाएँ दूर होती हैं। यह यज्ञीय प्रवृत्ति मानवी गरिमा के अनुकूल और सहज मानवीयता की परिचायक है।

यज्ञ का एक अर्थ है-देवपूजन। लोक व्यवहार में उसे सेवा कहते हैं। देवपूजन अर्थात देव प्रवृत्तियों की अभ्यर्थना, आराधना। इसके लिए सेवा का मार्ग अपनाना होता है। समाज में देवत्व बढ़े, स्वर्गीय परिस्थितियों का निर्माण हो, यह सेवा अवलम्बन द्वारा ही सम्भव है। सेवा अर्थात् अपनी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता को पीड़ा एवं पतन के निवारण में नियोजित करना। यह मनुष्यता का मेरुदण्ड है। देव प्रवृत्तियों के संरक्षण, प्रचलन एवं परिवर्धन की आपूर्ति सेवा मार्ग के अवलम्बन से होती है। अभावग्रस्तों, पीड़ितों को राहत मिलती और समाज में सत्प्रवृत्तियाँ पनपती हैं। दान, संगतिकरण और देवपूजन का यज्ञीय दर्शन मनुष्य को उदार एवं उदात्त बनाने में हर दृष्टि से सक्षम है। ऋषि प्रणीत इस परम्परा में सन्निहित प्रेरणा एवं शिक्षा से समस्त मनुष्य जाति एवं समाज की समग्र प्रगति का पथ प्रशस्त हो सकता है।[२७३]

यज्ञ विशुद्ध रूप से समाज में सामूहिक प्रयोजनों के लिए उपयुक्त हुआ है। आप्टे की संस्कृत टू इंग्लिश डिक्शनरी में यज्ञ 'टू सेक्रीफाइस' बलिदान त्याग के अर्थ में परिभाषित किया गया है। इसे व्यक्तित्व निर्माण के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है, जिसका लक्ष्य लोक सेवा के माध्यम से आत्म-कल्याण का लक्ष्य प्राप्त करना भी समझा जा सकता है। एन.सी. वंद्योपाध्याय ने अपने ग्रंथ 'डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू पॉलिटी एण्ड पालिटिकल थीअरीज' में इस तथ्य को स्वीकारते हुए ऋग्वेद के मण्डल २ से ९ तक की अनेक ऋचाओं का हवाला दिया है। पश्चिमी मनीषी ए. बार्थ ने रिलीअंस ऑफ इण्डिया में यज्ञ को मानव समाज और प्रकृति के बीच मधुर सम्बन्धों की व्यवस्था बताया है। ऋग्वेद[२७४] के एक मंत्र का हवाला देते हुए यज्ञ को समाजनिष्ठ सहकारिता का अलौकिक प्रयोग बताया गया है। सच्चाई भी यही है- यज्ञीय प्रवृत्ति यह है कि उपयोगी पदार्थों को निज के लिए सार्वजनिक हित के लिए वायुभूत बनाकर बिखेर दिया जाय। वसोधारा में समष्टि में व्यष्टि के समर्पण की ही भावाभिव्यक्ति है। यज्ञ कृत्य के प्रायः सभी क्रिया-कृत्यों में सामूहिकता-सहकारिता की आवश्यकता पड़ती है। मंत्रोच्चारण से लेकर आहुतिदान, परिक्रमा जैसे सभी कृत्यों में एकरुपता, समस्वरता

---

२७३. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, भाग २५, पृष्ठ २.१८,१९

२७४. सजोश - स्त्वादिवो नरो यज्ञस्य केतुमिन्ध्यते।
मानुषोजनः सुम्रायुर्जुहवे अह्वो॥ - ऋग्वेद, ६/२/३

का यह तत्त्वदर्शन ही दृष्टिगोचर होता है। यज्ञ के प्राय: सभी प्रतिपादनों में समाज परायणता की प्रेरणा है। इन्हीं यज्ञीय दर्शन एवं प्रेरणाओं के कारण सद्‌बुद्धिदात्री गायत्री सत्कर्म रूपी यज्ञ को समाज एवं संस्कृति का आध्यात्मिक आधार माना गया है। सद्‌बुद्धि और सत्कर्म ही प्रकारान्तर में शिक्षा व विद्या की भावधारा में प्रवाहित एवं विकसित होते हैं।

वैदिक शिक्षा का स्वरूप

वैदिक ऋषियों व मनीषियों ने मनुष्य के चरित्र निर्माण में शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया। इसके लिए विशेष शिक्षा प्रणाली और शिक्षालयों की योजना वैदिक काल में की गई थी। योग्य गुरुओं की सेवा में रहकर, चरित्र, चिन्तन एवं व्यवहार के सभी पक्षों को जीवन में उतारने के लिए शिक्षा प्राप्त की जाती थी। शिक्षा से तात्पर्य मूलत: व्यक्तित्व के समग्र विकास से है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली प्रक्रिया का नाम ही शिक्षा है।[२७५] वैदिक काल में गुरुकुल रूपी विकसित एवं परिष्कृत शिक्षण संस्थानों में छात्र के व्यक्तित्व को इसी तरह प्रखरता तथा ओजस्विता युक्त बनाया व ढाला जाता था। वैदिक मनीषी इस लक्ष्य से भली भाँति परिचित थे अत: समाज व जीवन में सुसंस्कृत आचरण की आवश्यकता की पूर्ति के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। सुमित्रानन्दन पंत ने अपनी काव्य 'किरण वीणा' में इस तथ्य का बखुबी चित्रण किया है।[२७६] वस्तुत: शिक्षा जीवन का शाश्वत मूल्य है। मानवीय चेतना जिन दो प्रकार के मूल्यों की परिधि में पल्लवित होती है। उनमें कुछ शाश्वत मूल्य होते हैं और कुछ परिवर्तनशील। शिक्षा को जीवन का शाश्वत मूल्य कहा जा सकता है, क्योंकि कोई अज्ञानी अथवा अशिक्षित व्यक्ति अपने जीवन को विकासशील नहीं बना पाता। ज्ञान की इस अनिवार्यता को ऋषियों ने अपनी गहन समाधि बोध से जाना है।

---

२७५. स्वामी विवेकानन्द- सिंगारावेलु मुदालियार को पत्र में, ३ मार्च १८९४

२७६. जो शिक्षा धरती की जीवन- वास्तवता से
सम्बन्धित ही न हो, न जन-भू की संस्कृति से,
जिसे प्राप्त कर युवक न अपना घर संजो सके
औ न देश सेवा कर पाएँ- किसे लाभ
उस रिक्त ज्ञान से ? जो बाह्यारोपित अनुकृति भर।
- सुमित्रानन्दन पंत- किरण वीणा, पृष्ठ २२१

शिक्षा उद्देश्य

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मानव के अन्तर्निहित सद्‌गुणों को विकसित करना है। वैदिक शिक्षा के मुख्य रूप से चार उद्देश्य थे; १. चरित्र निर्माण, २. मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, ३. व्यक्ति में उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य की भावना जाग्रत् करना तथा ४. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति को संरक्षण प्रदान करना।[२७७] अंग्रेजी भाषा में शिक्षा को 'एज्यूकेशन' कहते हैं। यह लेटिन शब्द 'एज्यूकेयर' से बना है, जिसका तात्पर्य है व्यक्ति को व्यक्तिगत क्षमता का, जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए पूरी तरह सदुपयोग करना। व्यक्तिगत क्षमता मनुष्य के अन्तराल में ज्ञान के रूप में निहित है। इस ज्ञान के प्रकटीकरण में अपने को लगाने वाले छात्र (शिक्षार्थी) हैं। इस प्रक्रिया में सहायता करने वाला गुरु (शिक्षक) कहलाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट के अनुसार 'शिक्षा व्यक्ति की उस पूर्णता का विकास है, जिस पर वह पहुँच सकता है।' शिक्षा शास्त्री रस्क भी इन्हीं विचारों से सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं 'शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व को ऊँचा उठाना है मानव जाति को इस योग्य बनाना है कि परस्पर आत्मीयता का भाव विकसित हो।' शिक्षाविद् बी. रेमाण्ट स्पष्ट करते हैं कि 'शिक्षा विकास का वह क्रम है जिससे व्यक्ति अपने को धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार से भौतिक, सामाजिक वातावरण के अनुरूप बना लेता है, साथ ही नैतिक मूल्यों को अपनाता है।' एडीसन के अनुसार 'मानव जीवन के लिए शिक्षा वैसी ही है जैसे किसी संगमरमर खण्ड के लिए मूर्तिकला।'[२७८] इस तरह देखा जाय तो विद्वानों और मनीषियों ने शिक्षा की जो परिभाषाएँ की हैं उन सबका समन्वित अर्थ व्यक्तित्व का समग्र विकास है।

❑ शिक्षा प्रणाली

यास्क ने अपने निरुक्त में वैदिक कालीन शिक्षा प्रणाली पर अच्छा प्रकाश डाला है।[२७९] उनका कथन है कि अध्यापक को चाहिए कि पढ़ाने में अच्छा व्यवहार का बर्ताव करे। ऐसे विद्यार्थियों को न पढ़ाये जिन्हें व्याकरण का ज्ञान न हो (अवैयाकरणाय)। न उसको जो गुरु के पास रहने वाला विधिवत अध्येता न हो (न अनुपसन्नाय)। उसको चाहिए कि केवल ऐसे अध्येताओं को पढ़ावे जो नियमित हों और मेधावी, तपस्वी या ज्ञान-पिपासु हों। यह उद्धरण प्रकट करता

---

२७७. एस.एल. नागोरी- प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ४२

२७८. "What sculpture is to a block of marble, education is to the human soul." - Edison

२७९. यास्क - निरुक्त, २/३/४

है कि एक स्वतंत्र विषय के रूप में व्याकरण का प्रचलन उस वैदिक काल में ही हो चुका था। जब वेदों के पदों को समझने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक काल में विद्यार्थियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरु के साथ ही रहना भी आवश्यक तथा अनिवार्य था। गुरु तथा शिष्य में परस्पर सुखदतम सम्बन्ध रहता था। शिष्य अपने गुरु को पिता के समान समझता था।[२८०] शिष्य तथा गुरु एक ही समान लक्ष्य से सम्बन्धित होते थे और वह था पवित्र ज्ञान की रक्षा तथा प्रचार करना और अपने जीवन तथा चरित्र में उसका मूल्य उद्घाटन करना। कभी-कभी कोई शिष्य यावज्जीन गुरु गृह में रहने की अनुमति भी प्राप्त कर लेता था।[२८१] गुरु को उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक गुणों से युक्त होना आवश्यक है। कठोपनिषद् का कथन है कि निम्न कोटि के मनुष्य के द्वारा उपदिष्ट यज्ञ सत्य गृहित नहीं हो पाता।[२८२] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार उसे श्रोत्रिय और पूर्णतया ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए ताकि वे अपने शिष्यों को प्रबुद्ध कर सके।[२८३] गुरु का कर्त्तव्य है कि जब योग्य शिष्य उसके पास पहुँचे तो उसे अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का उपदेश करे।[२८४] और उससे कुछ भी छिपाये नहीं, क्योंकि इस प्रकार का दुराव उसके लिए हानि का कारण बनेगा।[२८५] तैत्तिरीय आरण्यक कहता है कि गुरु को सम्पूर्ण हृदय से अध्यापन कार्य करना चाहिए।[२८६] उन दिनों वह अपने शिष्य के समक्ष प्रत्येक बात उद्घाटन करने के लिए बाध्य होता था जो किसी भी मूल्य पर उसके साथ एक वर्ष पर्यन्त निवास कर चुका हो।[२८७] इस प्रकार देखा जाय तो वैदिक शिक्षा प्रणाली के विषय में निम्न तथ्यों का उद्घाटन होता है; १. गुरु का गृह ही अध्ययन का केन्द्र होता था, जहाँ शिष्य को गुरु के साथ रहना पड़ता था और वह उसी से भोजन भी पाता था। २. विद्यार्थी को शिष्यत्व तभी प्रदान किया जाता था जब उसे नैतिक दृष्टि से सर्वथा योग्य समझ लिया जाता था, ३. ब्रह्मचर्य रुपी अनुशासन का पालन शिष्य के लिए आवश्यक था, ४. शिष्य का कर्त्तव्य था कि वह गुरु

---

२८०. प्रश्नोपनिषद् , ६/८

२८१. छान्दोग्य, २/२३/२

२८२. कठोपनिषद्, १/२/८

२८३. मुण्डकोपनिषद्, १/१२/२

२८४. वही, १/२/१३

२८५. प्रश्न., ६/१

२८६. तैत्तिरीय आ., ७/४

२८७. शतपथ ब्राह्मण, १/४/१/१, २६,२७

का सम्मान उन्हें माता-पिता के समान समझते हुए मन, वचन और कर्म से करे, ५. जो शिष्य इन कर्त्तव्यों का पालन सम्यक रूप से न करे उसे निष्कासित कर दिया जाता था।[२८८]

वैदिक युग में शिक्षा का बहुत महत्त्व था। यह माना जाता था कि सब बालकों और बालिकाओं को शिक्षा के लिए आचार्य कुलों में भेज देना चाहिए, और उन्हें माता-पिता से पृथक होकर आचार्यों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।[२८९] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार बच्चे एक आयु तक माता के प्रभाव में रहते हैं, फिर पिता के और बाद में आचार्य के।[२९०] उनकी अन्तर्निहित शक्तियों व गुणों का विकास पहले माता करती है, फिर पिता और अन्त में आचार्य के पास रहकर शिक्षा प्राप्त करके ही वे अपना विकास करने में समर्थ होते हैं। वैदिक काल में लिपिबद्ध ग्रंथ के अभाव में शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। विद्यार्थियों को श्लोकों को कंठस्थ करना पड़ता था।

❑ स्त्री शिक्षा

वैदिक युग में स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थीं। वैदिक युग में स्त्रियों और पुरुषों को समान रूप से विद्या अध्ययन के अवसर प्राप्त थे। ऋग्वेद में अनेक सूक्तों की ऋषि स्त्रियाँ हैं। लोपामुद्रा, विश्वारा, आत्रेयी, अपाला, काशीवती, घोषा आदि स्त्रियाँ प्रसिद्ध ऋषिकाएँ हैं। ऋग्वेद के कई सूक्तों की ऋषि भी स्त्रियाँ हैं।[२९१] इसी कारण वेद का उपदेश है कि पुत्रियों को सम्पूर्ण शिक्षा व विद्या भली प्रकार प्राप्त करानी चाहिए 'सब माता-पिता और पढ़ाने वाली विदुषी स्त्रियों को चाहिए कि कन्याओं को सम्यक बुद्धिमती करें अर्थात् समझायें कि हे कन्या! तुम जो पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्या और अच्छी शिक्षा को प्राप्त युवती होकर अपने तुल्य वरों के साथ स्वयंवर विवाह करके गृहस्थाश्रम का सेवन करो।'[२९२] अतः स्त्री को ज्ञान एवं सुशिक्षा को धारण करने वाली बताया गया है।[२९३] अथर्ववेद में

---

२८८. डॉ. सत्यनारायण पाण्डेय एवं डॉ. आर. बी. जोशी- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृष्ठ १३६-३७

२८९. सत्यकेतु विद्यालंकार- प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ २८३

२९०. मातृमान पितृमान आचार्यवान् पुरुषो वेद। - शतपथ १४/६/१०/५

२९१. ऋग्वेद, १/१७९, ५/२८, ८/९१, १०/३९,४०

२९२. चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद।
परिचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥ - यजु., १२/५३

२९३. यजु., ८/४२

भी वर्णन मिलता है कि बालकों के समान बालिकाएँ भी आचार्य कुलों में रहकर ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या का अध्ययन किया करती थीं।[२९४] ऋग्वेद के एक मंत्र में कन्याओं को नृत्यकला की शिक्षा का भी संकेत है। उषा देवी को एक नर्तकी के तुल्य नृत्य करते हुए प्रस्तुत किया गया है।[२९५]

उपनिषदों में पुत्री के विदुषी होने की इच्छा की गई है।[२९६] याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने भौतिक सम्पत्ति की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान को पाना अधिक पसंद किया।[२९७] याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी थी। ऐतरेय उपनिषद् में दिये हुए दो अनुशासनों के अनुसार यह भी ज्ञात होता है कि विवाहित स्त्रियों को वेदान्त के विषयों पर होने वाले विवादों को सुनने की आज्ञा थी।[२९८] वृहदारण्यक में एक मनोरंजन अनुष्ठान का वर्णन है जिसमें एक व्यक्ति ऐसी कन्या को प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है जो पण्डित हो।[२९९] कौषीतकि ब्राह्मण में एक आर्य स्त्री पश्यावस्ति का वर्णन है जो उत्तर की ओर आगे इसलिए पर्यटन करती है कि उच्चतर अध्ययन कर सके। अपनी विद्वता के बल पर इसे वाक् (सरस्वती) की उपाधि प्राप्त होती है।[३००] इसके अलावा स्त्रियों को उन ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी जिनके लिए पुरुष अयोग्य थे, जिसका ज्ञान स्त्रीत्व को पूर्णत्व प्रदान करने वाला समझा जाता था। नृत्य और गान ऐसी ही कलायें थी।[३०१]

❑ अध्यापन के विषय

वेद के अध्ययन के लिए 'स्वाध्याय' एक रुढ़ शब्द के रूप में प्रयुक्त मिलता है। स्वाध्याय के महत्त्व और उससे प्राप्त होने वाले विशिष्ट सत्परिणामों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है। स्वाध्याय का मुख्य उद्देश्य ऋक्, यजुः और साम की सभी विद्या का ज्ञान करना था जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण के अनेक स्थलों पर मिलता है। इससे विदित होता है कि वैदिक युग में शिक्षा का मुख्य विषय वेद एवं उसकी विद्या थी। गुरुकुलों में वेदों का अध्ययन अनिवार्य

---

२९४. अथर्व., ११/५५
२९५. ऋग., १/१२४/७
२९६. वृहदा., ४/५/५,१५
२९७. वही, २/४/३
२९८. ऐतरेय, २/१
२९९. वृहदा., ६/४/१७
३००. कौषीतकि ब्रा., ७/६
३०१. तैत्तिरीय सं., ६/१/६/५, मैत्रायणी सं., ३/७/३, श. ब्रा., ३/२/४/३,४

था तथा प्रतिदिन वेदों का पाठ किया जाता था।[३०२] वेद पाठ की शुद्धता की ओर भी बहुत ध्यान दिया गया था। वेदों के कई प्रकार के पाठ प्रचलित थे। यथा संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ और धनपाठ। कालान्तर में वेदों की व्याख्याओं के फलस्वरूप ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद आदि साहित्य का विकास हुआ। उपनिषद-साहित्य का विकास होने पर ब्रह्मविद्या या पराविद्या को महत्त्व दिया जाने लगा। उपनिषदों के युग में विद्याओं की संख्या चौदह या अठारह परिगणित की गई थी। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद ने शिक्षा के विषयों को इस प्रकार गिनाया है- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण, पित्र्यविद्या (पितरों से सम्बन्धित विद्या), राशि (गणित), देव (प्राकृतिक शक्तियाँ), निधि (खानों की विद्या), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या (प्राणीशास्त्र), क्षत्रविद्या (युद्ध की शिक्षा), नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या और देवयजन विद्या (शिल्प और कलायें)।

वैदिक काल की शिक्षा के अध्ययन के विषयों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है धर्म, कला, शिल्प और विज्ञान। उस युग में भौतिक उत्कर्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया गया था। अत: धार्मिक शिक्षा का महत्त्व अधिक था। वैदिक युग के अनन्तर संस्कृति के विकास के साथ-साथ अध्ययन के विषयों का भी विस्तार हुआ। धार्मिक शिक्षा के साथ ही कला, विज्ञान और शिल्प के तकनीकि ज्ञान में वृद्धि हुई। गुरुकुलों में अनेक लौकिक विषयों के अध्यापन का प्रबंध होने लगा। कलाओं के शिक्षण की व्यवस्था की गई। इनमें चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य, गीत और वाद्य मुख्य थे।[३०३] डा. आर. के. मुखर्जी[३०४] ने वैदिक काल में पढ़ाये जाने वाले शिक्षा विषयों का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार चार वेदों से अतिरिक्त शिक्षा के विषय निम्न थे; १. अनुशासन- इसके अन्तर्गत छः वेदांगों; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का अध्ययन कराया जाता था। २. विद्या- इसमें न्याय, मिमांसा आदि दर्शन अथवा सर्पविद्या, विषविद्या आदि सम्मिलित थे, ३. वाकोवाक्य- तर्कशास्त्र, ४. इतिहास पुराण[३०५] ५. आख्यान-कथायें, ६. अन्वाख्यान-पूरक कथायें, ७. अनुव्याख्यान-

---

३०२. नागानन्द, १/११, पद्मप्राभृतक, श्लोक ९

३०३. कृष्ण कुमार- प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ ४२१

३०४. Dr. R.K. Mukerjee- Ancient Indian Education, pp.108-10

३०५. अथर्व., १५/६/४, शतपथ ब्रा., ४/३/१२/१३, ५/६/७/८-९, छान्दोग्य, ४/१/२

मंत्रों की व्याख्यायें, ८. व्याख्यान, ९. गाथा, १०. नाराशंसी[३०६] मनुष्यों से सम्बन्धित गाथायें, ११. ब्राह्मण ग्रंथ, १२. क्षत्रविद्या-युद्ध विद्या, १३. राशि-गणित, १४. नक्षत्रविद्या, १५. भूतविद्या-वशीकरण, इन्द्रजाल, १६. सर्पविद्या, १७. अथर्वाङ्गिरसः[३०७]-अथर्ववेद की विद्या। इसके अन्तर्गत भेषज, यातु (जादूगिरी) तथा अभिचार है। १८. दैव- उत्पात-ज्ञान, १९. निधि-निधि दर्शन के उपायों का ज्ञान। २०. पित्र्य-श्राद्ध-कल्प, २१. सूत्र- यज्ञ करने की शिक्षा, २२. उपनिषद्[३०८] २३. श्लोक, २४. वेदानां वेद- वैदिक संस्कृत व्याकरण, २५. एकायन-नीतिशास्त्र, २६. देवविद्या, देवताओं की उपासना की विद्या, २७. ब्रह्मविद्या, २८. देवयजन विद्या- इसके अन्तर्गत विविध कलाओं- सुगन्धि बनाना, रंगना, नृत्य, गान, वाद्य, क्रीड़ा, चिकित्सा आदि हैं। इसके अलावा भी ज्योतिष, आयुर्वेद, रसायन विज्ञान, धनुर्वेद, पशुविज्ञान, वनस्पति विज्ञान, यंत्र विज्ञान, विमान विज्ञान, मनोविज्ञान, स्वप्न विज्ञान, शिल्प कलाओं आदि विषय का अध्ययन किया जाता था।

इस तरह विश्लेषण से पता चलता है कि वैदिक काल में शिक्षा का उद्देश्य था- यथार्थ का ज्ञान। दुनिया वैसी ही नहीं है जैसी की हमें दिखाई देती है या बताई जाती है। व्यक्ति और समाज की समस्याएँ वही नहीं हैं जिनकी चर्चा की जाती रही है। यथार्थता की तली तक पहुँचने के लिए किस प्रकार की गोताखोरी की जानी चाहिए? इसी कला का सिखाना शिक्षा का उद्देश्य है। भ्रांतियों, विकृतियों और कुरीतियों के बंधन से छुटकारा पाकर स्वतंत्र चिन्तन की क्षमता प्राप्त करने और जीवन तथा विश्व का यथार्थ स्वरूप समझ सकने के योग्य तीक्ष्ण दृष्टि प्राप्त करना इसी का नाम मुक्ति है। तत्त्वदर्शियों के कथनानुसार इसी मुक्ति को करतलगत बनाना शिक्षा का मूलभूत प्रयोजन है।[३०९] वैदिक ऋषियों के अनुसार शिक्षा का सीधा अर्थ सुसंस्कारिता का प्रशिक्षण है उसे नैतिकता, सामाजिकता, सज्जनता, प्रामाणिकता आदि किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। इस शिक्षा का महत्तर स्वरूप इसका विद्यारूप है।

---

३०६. ऋग्वेद, १०/८५/६

३०७. तैत्तिरीय ब्रा., ३/१२/८/२, श.ब्रा., ११/५/६/७, वृह. उप., २/४/१०, ४/१/२/,५,११, छान्दोग्य, ३/४/१२, तैत्तिरीय उप., २/३/१, तैत्तिरीय आ., २/९/१०, अथर्व., १०/७/२०

३०८. वृह. उप., २/४/१०, ४/१२/५,११

३०९. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- शिक्षा एवं विद्या, भाग ४९, पृष्ठ १.२०

विद्या विस्तार का तंत्र

ज्ञान की दूसरी धारा है- विद्या। विद्या का अर्थ है दृष्टिकोण का परिष्कार-चिन्तन और भावोल्लास में उत्कृष्टता का निखार। इसके बिना मनुष्य के अन्तराल में छिपी हुई रहस्यमय दिव्यता का विकास नहीं हो सकता। मानवता एवं महानता की आन्तरिक श्रेष्ठता का विकास जिस क्रम से होता है उसी क्रम से मनुष्य की आकांक्षायें, विचारधाराएँ और गतिविधियाँ उच्चस्तरीय बनती जाती हैं। गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से उसका स्तर उठता जाता है। मन, वचन, कर्म में ऐसी विशेषताएँ दीख पड़ती हैं, जिनके सम्पर्क में आने वाला हर मनुष्य प्रसन्नता अनुभव करता है, प्रकाश ग्रहण करता है। इन दिव्य सम्पदाओं से सुसज्जित व्यक्ति अपने आप में हर घड़ी संतुष्ट एवं प्रफुल्ल रहता है, भले ही उसे अपेक्षाकृत अभावग्रस्त एवं कष्ट-साध्य परिस्थितियों में रहना पड़ रहा हो, यही है विद्या का चमत्कार, महात्म्य और प्रतिफल। विद्या का स्वरूप है विचारणा एवं भावना के स्तर को उच्चस्तरीय बनाने वाला ज्ञान, अनुभव एवं अभ्यास। यदि उसे प्राप्त किया जा सके तो जीवनयापन की शैली में उत्कृष्टता का समावेश होगा, जिसके आधार पर वह अपने सहचरों, सहकर्मियों, सम्पर्क में आने वालों का हृदय जीतता चला जाएगा। जहाँ भी सम्बन्ध स्थापित करेगा वहीं अपने लिए श्रद्धा एवं सम्मान का बीजारोपण करेगा। धनवान, गुणवान एवं शक्तिवान का अपना महत्त्व है। पर सबसे बड़ा महत्त्व परिष्कृत व्यक्तित्व का है। ऐसे ही परिष्कृत एवं विभूति सम्पन्न व्यक्तियों से वैदिक समाज ओतप्रोत रहता था। इसका कारण है इस विद्या विस्तार के तंत्र को नूतन आयाम व स्वरूप देना। ये तंत्र निम्न हैं-

❑ आरण्यक एवं गुरुकुल

वैदिक संस्कृति के तत्त्वज्ञान की अपेक्षा यदि उसके दर्शनीय स्वरूप का विवेचन करने के लिए कहा जाय तो उसे आरण्यक संस्कृति कहना पड़ेगा। आरण्यक अर्थात् वन। धर्म शास्त्रों में आचार संहिता प्रकरण 'आरण्यक' वाङ्मय के रूप में ही हुआ है। 'वैदिक काल में वनों की पूजा होती थी। वैदिक ऋषि-मनीषी वनों में ही निवास करते थे। घने वनों में रहकर ऋषियों ने वैदिक वाङ्मय की रचना की।'[३१०] आध्यात्मिक विशेषताओं से अनुप्राणित संगठन-गुरुकुल तथा आरण्यक समग्र शिक्षण को संभालते थे। शिक्षा ही नहीं चरित्र की विशेषता अर्जित करने के लिए बालकों को गुरुकुल भेजा जाता था। गुरुकुल अर्थात् बालजीवन

---

३१०. शिवानन्द नौटियाल- पर्यावरण समस्या और समाधान, पृष्ठ २७८

को गला-तपाकर समर्थ व्यक्तित्व के रूप में गढ़ने निखारने की कार्यशालाएँ। परिष्कार प्रशिक्षण संस्कार की इसी प्रक्रिया, अनगढ़ को गढ़ने के इसी विधान ने संस्कृति और सभ्यता के रूप में अपनी पहचान बनाई। सभ्यता संस्कृति के इस पुष्पित उद्यान की कटाई, छंटाई, गुड़ाई, निराई आदि साज-संभाल करने की जिम्मेदारी आरण्यकों पर है। इनके ऊपर लोकसेवी वानप्रस्थों के निर्माण और विकास की जिम्मेदारी रही है। इन प्रयासों ने अपने समय में संस्कार शोधन के, विद्या विस्तार के विस्मयकारी परिणाम प्रस्तुत किए हैं। अनगढ़ कुरुप कोयले जैसे दिखने वाले हीरे के टुकड़ों को सुसंस्कारित कर चमकते-दमकते देवमानवों के रूप में बदलकर वैदिक संस्कृति को जन्म देने में समर्थ हुए हैं।[३११]

गुरुकुलों का उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से विद्या को विकसित करना रहा है। गुरुकुलों की व्यवस्था-वातावरण का सृजन इसी उद्देश्य को लेकर हुआ था। गरीब अमीर बिना किसी भेद-भाव के सभी को तप-तितिक्षा, व्रत-अुनशासनों को स्वीकार कर शिक्षा का विद्या के रूप में विकास करना पड़ता था। आरण्यकों की व्यवस्था में गुरुकुलों से बहुत कुछ साम्य होते हुए भी तप-साधना, लोक आराधना का वैशिष्ट्य था। जहाँ गुरुकुलों का उद्देश्य था विद्या-अर्जन एवं व्यक्तित्व का गठन, वहीं आरण्यकों का प्रयोजन था विद्या का प्रचार तथा व्यक्तित्व का लोकहित में समर्पण। लेकिन शिक्षण की प्रक्रिया और विद्या का स्वरूप दोनों में एक सा था। समाज में सतयुगी एवं स्वर्गीय परिस्थितियाँ इन्हीं गुरुकुल-आरण्यकों की उर्वरता का परिणाम थी।[३१२] आरण्यकों में रहकर प्रकृति का वैभव आत्मसात् करना तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही यह भी कम गौरव का विषय नहीं है कि वन सम्पदा को अधिकाधिक समुन्नत और सुविकसित किया जाय। आरण्यक ऐसे केन्द्र थे जो समाज सेवा में रुचि रखने वालों तथा आत्म-परिष्कार के लिए पहुँचने वालों का प्रशिक्षण करते थे। आत्मशोधन तथा समाज सेवा के शिक्षण का दोहरा लाभ आरण्यकों में रहने वाले लेते थे। गुरुकुल एवं आरण्यक के सर्वांगपूर्ण शिक्षण व्यवस्था का ही परिणाम था कि समाज के किसी भी क्षेत्र के सुसंचालन के लिए उपर्युक्त व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्तियों की कमी नहीं रहती थी। इसी कारण वैदिक समाज समृद्ध, सुखी और समुन्नत बना रहता था।

---

३११. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- तीर्थ सेवन क्यों? और कैसे?, भाग ३७, पृष्ठ ३.४

३१२. आचार्य श्रीराम शर्मा- विद्या विस्तार की पुरातन परम्परा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक ६, पृष्ठ ५

❑ साधु-ब्राह्मण परम्परा

विद्या के प्रवाह को जन-जन तक प्रवाहित करने के लिए गुरुकुल-आरण्यकों का स्वरूप जहाँ विश्वविद्यालयों का था, वहीं साधु-ब्राह्मणों का वर्ग सचल विश्वविद्यालय के दायित्व का निर्वाह करता था। साधुता, सहृदयता पर्यायवाची शब्द हैं। करुणाद्र आत्मा अपने सुख-साधनों को पिछड़े, पीड़ित और पतितों पर न्योछावर करती रहती है। देवत्व के परिपोषण के लिए सर्वस्व की आत्माहुति समर्पित की जाती रही है। संतप्त जनसमाज इसी वर्ग के छाया तले शान्त हो पलता, बढ़ता था। साधु अपनी शारीरिक वासनाओं को, मानसिक तृष्णाओं को दुत्कारता हुआ जो मिला है उस समस्त वैभव को जनता-जनार्दन के चरणों पर चढ़ा देता है। संयम और बलिदान का दूसरा नाम ही तप है। तपस्वी ही आदर्शों को सजीव रखने वाले प्रकाश स्तम्भ होते हैं। लोग उन्हीं से जीवन विद्या के सूत्रों को अपनाने एवं तदनुसार जिन्दगी जीने का साहस प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण भी हमेशा ज्ञान साधना में संलग्न रहता है। प्रायः एक स्थान पर रहने की प्रवृत्ति के कारण वह घर-परिवार भी बना लेता है। तप में संलग्न रहकर पढ़ता और पढ़ाता है। नियत स्थान पर, नियत क्षेत्र में, नियत व्यक्तियों का पौरोहित्य करता है और सीमित क्षेत्र में उत्कृष्टता, आदर्शवादिता बनाए रहने के लिए सतत सेवा में संलग्न रहता है। यदा-कदा वह भ्रमण करके भी अपनी गतिविधियों को संचालित करता है, परन्तु यह भ्रमण सीमित समय एवं सीमित क्षेत्र के लिए ही होता है। इस दृष्टि से ब्राह्मणत्व थोड़ा सुविधाजनक है, साधुता बाह्य दृष्टि से कष्टकारक।[३१३] ब्राह्मण विचार प्रधान होता है, साधु भावना प्रधान। ब्राह्मण यथाशक्ति चलता है, जबकि साधु दुस्साहस कर आदर्श प्रस्तुत करता है। वह परिव्राजक होता है। समस्त विश्व को अपना घर, समस्त मानव जाति को अपना परिवार मानकर ससीमता के बंधन तोड़ते हुए असीमता में प्रवेश करता है और जीवन मुक्ति का इसी जन्म में लाभ लेता है। लोकमंगल ही उनका जीवन होता है। बादलों की तरह वे हर प्यासी भूमि पर पानी बरसाते हैं। रुकने में न उनको रुचि होती है और न आवश्यकता। उन दिनों जनमानस में सद्‌विचारणाएँ और लोक अन्तःकरण में सद्‌भावनाएँ विकसित करने वाले साधुओं की कमी नहीं थी।[३१४]

---

३१३. आचार्य श्रीराम शर्मा- विद्या विस्तार की पुरातन परम्परा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक ६, पृष्ठ ६

३१४. वही,

❑ प्रव्रज्या परम्परा

'चरैवेति-चरैवेति' वैदिक काल के महर्षियों का आदर्श वाक्य रहा है। इसी का अनुसरण करते हुए उन्होंने प्रव्रज्या की पुण्य परम्परा स्थापित की, जिससे विद्या विस्तार का प्रयोजन पूर्ण हो सके। वैदिक काल में विद्या विस्तार के जितने भी प्रयोग किए गए प्रव्रज्या उन सभी में अनिवार्य रूप से गुंथी रही। प्राय: सभी ऋषियों, सन्तों और धर्म प्रवक्ताओं को परिव्राजक बनकर ही रहना पड़ा है। एक स्थान को कभी भी उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र नहीं बनाया। आमतौर पर सुगमता और सुविधा लोगों को अपने परिचित निकटवर्ती तथा सगे-सम्बन्धियों वाले क्षेत्र में बसने के लिए विवश करती है। परिचित सम्बन्धियों से कई प्रकार की सहायता की आशा भी रहती है और भाषा आदि की सुविधा के कारण अनुकूलता भी। संसार में सामान्यजनों का निर्वाह इसी प्रकार होता रहता है, किन्तु महामानवों को इससे सर्वथा भिन्न रीति-नीति अपनानी पड़ती है। उनके लिए सभी अपने होते हैं। पराया कोई भी नहीं। इसलिए अपनों की निकटता जैसा मोह उन्हें सताता नहीं। वे हमेशा उपयोगिता एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हैं और जहाँ भी पिछड़ापन दिखता है, वहाँ ज्ञान देने, विद्या का आलोक पहुँचाने के लिए तत्परता से पहुँच जाते हैं।

बादल समुद्र से उत्पन्न होते हैं, पर बरसने के लिए जहाँ भी सुखी भूमि देखते हैं, वही चल पड़ते हैं। आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार ऋषियों, सन्तों की भी यही नीति रही है। विद्या-विस्तार के महाप्रयोजन हेतु सदा-सर्वदा गतिशील रहने के कारण उनके गले राग, द्वेष दोनों ही नहीं पड़ते हैं, फिर सेवा प्रयास की परिधि का भी व्यापक विस्तार होता है, इसीलिए वैदिक वाङ्मय में साधु-ब्राह्मण को प्रव्रज्या प्रवृत्ति अपनाना अनिवार्य धर्म-कर्त्तव्य कहा गया है।[३१५] तीर्थ यात्रा की पुण्य परम्परा का प्रयोजन भी यही है। वैदिक काल की इस प्रव्रज्या परम्परा के कारण समस्त आयावर्त में ज्ञान का ज्योतिर्मय आलोक ज्योतित होता रहता था। समाज सभ्य एवं सुसंस्कृत रूप ले चुका था। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिभा परिष्कार एवं चारित्रिक विकास में तद्नुरूप अवसर एवं सहयोग प्राप्त होताथा। इसी उदात्त भाव एवं श्रेष्ठ विचारों के कारण वैदिक समाज में नारी की स्थिति गौरवमयी एवं गरिमापूर्ण थी।

---

३१५. आचार्य श्रीराम शर्मा- विद्या विस्तार की पुरातन परम्परा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक ६, पृष्ठ ३५

समाज में नारी की स्थिति

मानव जीवन पद्धति में नारी विधाता की सर्वोत्तम परिकल्पना है। सृष्टि में नारी का योगदान प्रभूत है। स्पष्ट रूप से सृष्टि के विकास क्रम में स्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नारी की इस उच्चस्तरीय विभूति के कारण वैदिक काल में नारी की स्थिति उच्च, सम्मानित तथा गौरवमयी थी। वैदिक संस्कृति में स्त्रियों के नाम के साथ 'देवी' लिखने और सम्बोधित करने की परम्परा आदिकाल से चली आ रही है। यह इस बात का प्रतीक है कि वैदिक विचारधारा में नारी को देव-श्रेणी की सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। लोक कल्याण की विधायिका, पथ प्रदर्शिका और संरक्षिका शक्ति का नाम ही देवी है। अपने इस रूप में वैदिक नारी अपने गुणों को धारण किए हुए है, जिनके द्वारा उस काल में उसने समाज के समग्र विकास में योगदान दिया था। ऐसा अनायास ही नहीं हुआ। इस प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए नारियों ने गहन तपश्चर्या की है। 'उसने अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के चरम विकास द्वारा ही यह गौरव प्राप्त किया है।'[३१६]

❑ नारी का गुण एवं गौरव

उपनिषद् में सृष्टि की सम्पूर्ण रिक्तता की पूर्ति स्त्री से मानी गई है।[३१७] इसलिए ऋग्वेद का कथन है कि स्त्री ही ब्रह्मा है। इस सम्बन्ध में वेद वाणी ने यह भी उद्घोषित कियाहै- 'हे विदुषी! तुझ देवी पर सब जीवन आश्रित है क्योंकि तू सरस्वतीरूपा है।'[३१८] वैदिक संस्कृति में मंत्र दृष्टा ऋषियों ने नारी को गौरवशाली व्यक्तित्व प्रदान किया है। अतः वैदिक काल नारी का अति अभिनन्दनीय एवं उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है।[३१९] यजुर्वेद नारी को महिमापूर्ण विशेषणों से गरिमा मंडित करता है- हे नारी! तू स्तुति योग्य उत्तम वाणी युक्ता, रमणीया, पूजनीया, कमनीया, चन्द्र के समान आह्लादकारिणी, श्रेष्ठशील से प्रकाशमान अर्थात् ज्योति के समान अज्ञानान्धकार को अपने दिव्यगुणों के प्रकाश से दूर करने वाली, दीनता एवं हीनता के भावों से रहित परम्परा से पूर्ण, विविध गुणों से प्रसिद्ध अथवा विविध विद्याओं का जिसने श्रवण किया हुआ है, तथा विविध विद्याओं में प्रवीण

---

३१६. पुण्य कापि पुरन्ध्री, नारि कुलैक शिखामणिः।

३१७. अयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते।- वृहदा., १/४/३

३१८. स्त्री हिं ब्रह्मा वभूविथ।
त्वे विश्वा सरस्वती- ऋग., २/४१/१७

३१९. विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत्। - अथर्व., १४/२/७४

यह तेरे नाम हैं, तू उत्तम गुणों के लिए मुझे उपदेश दिया कर।[३२०] उपरोक्त मंत्र में जो ग्यारह गुणकारक विशेषण वैदिक नारियों के लिए प्रयोग किए गए हैं वे इस बात के सुनिश्चित रूप से द्योतक हैं कि वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त उन्नत एवं महत्त्वपूर्ण थी। इस कारण उस युग में वे असीम आदर की पात्र थीं। अथर्ववेद की एक ऋचा में स्त्रियों को शुद्ध, पवित्र एवं पूजनीय कहा गया है।[३२१] वैदिक नारी के लिए अमृतरसदायिनी की संज्ञा दी गई है- हे नारी! अमृतरस से परिपूर्ण इस घड़े को सादर ला। अमृत से मिली हुई घृत की धारा को ला। पीने वाले को अमृत से तृप्त कर। ऋग्वेद नारी को सुनृता अर्थात् मधुर एवं सत्य वचन की प्रेरक तथा सुमति देने वाली सद्गुणों से सम्पन्न बताता है।[३२२] स्त्री को अथर्ववेद में 'सुषमा' अर्थात् अच्छे गुणों की ओर प्रेरित करने वाली कहा गया है।[३२३] ऋग्वेद के अन्य मंत्र में नारी जाति के लिए पुण्यगंधा विशेषण प्रयुक्त किया गया है, जिसका अर्थ है उत्तम गंध वाली अर्थात् शुभ लक्षण एवं उत्तम यश वाली स्त्री।[३२४] ऋग्वेद नारी को सुकामिका- उत्तम लाभ अर्थात् ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाली घोषित करता है।[३२५] यजुर्वेद ने उसे सुभद्रिका अर्थात् श्रेष्ठ कल्याण करने वाली लक्ष्मी कहा है।[३२६] इसके एक अन्य मंत्र में स्त्री को दानशीला, ऐश्वरवती एवं सिर पर पगड़ी के समान आदर के योग्य वर्णित किया गया है।[३२७] एक स्थान पर ऋग्वेद नारी को शूरों के समान उत्साहवान् बनने को कहता है।[३२८]

वेदों में नारी के गौरव का अनेक प्रकार से वर्णन है। ऋग्वेद के एक सूक्त में शची का गौरव वर्णित है। शची का कथन है कि मैं समाज में अग्रगण्य हूँ।

---

३२०. इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वती महि विश्रुति।
एता तेऽहन्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं व्रूतात्॥ - यजु., ८/४३

३२१. शूद्राः पूता योषितो यज्ञिय इमा आपश्चरुभव सर्पन्तु शुभ्राः।
अदुः प्रजां बहुलान पशून नः पलौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्॥
- अथर्व, ११/१/१७

३२२. ऋग., १/३/११

३२३. अथर्व., ७/४६/२

३२४. ऋग., ७/५५/८

३२५. उवे अम्ब सुलाभिके यथेवांग भविष्यति। - ऋग., १०/८६/७

३२६. सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्। - यजु., २३/१८

३२७. रास्नासि इन्द्राष्मा उष्णीषः।- यजु., ३८/३

३२८. आपश्चिदस्मै पिन्वन्त पृथवीर्वृत्रेषु शूरा मंसन्त उग्राः। - ऋग., ७/३४/३

मैं उच्चकोटि का वक्ता हूँ। मैं विद्वानों में मूर्धन्य हूँ। पति भी मेरे कहने में हैं।[३२९] मेरे पुत्र शत्रुओं पर विजय पाने वाले हैं। मेरी पुत्री तेजस्विनी और मैं स्वयं विजयिनी हूँ।[३३०] मैं शत्रुओं का नाशक हूँ। मेरा कोई शत्रु नहीं रह गया है। मैं अन्य तेजस्वियों का तेज समाप्त कर देती हूँ।[३३१] मेरा पति और समान्य जनों पर पूर्ण अधिकार है।[३३२] इस मंत्र के अनुसार जहाँ एक ओर लज्जा स्त्री का अलंकरण है, वहाँ दूसरी ओर वीरता भी भूषण है। परिवार की स्वामिनी के लिए आवश्यक है कि उसमें स्वाभिमान और अध्यवसाय हो। वह कठिन परिस्थितियों का सामना कर परिवार के सभी लोगों पर नियंत्रण रख सकती है। यह नियंत्रण नारी की योग्यता, कर्मठता और चारित्रिक बल का द्योतक है। उस सूक्त से नारी के उच्च गौरव का ज्ञान होता है। देवियों या देव पत्नियों के गौरव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे रत्नधारण करती थी और सबसे पहले उन्हें सोमपान कराया जाता था। वे इन्द्र, वरुण और मरुत देवों के साथ यज्ञों में आती थी।[३३३] सबसे पहले उन्हें सोमपान आदि कराना उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक है। वेदों में नारी को 'ऋतुपा' कहा गया है अर्थात् वे ऋतुओं के अनुकूल भोजन और जलपान करती हैं। इनको 'अग्रेपा' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि पुरुषों से पहले नारियों का आतिथ्य किया जाता है। इस मंत्र से स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा का ज्ञान होता है। स्त्रियाँ अपने चरित्र पर विशेष ध्यान रखती थीं। कुमारी कन्याओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे शुद्ध और पवित्र आचरण करने वाली हैं, यज्ञ करने की अधिकारिणी हैं ऐसी योग्य कन्याओं का सुयोग्य विद्वान पतियों के साथ विवाह किया जाता है।[३३४] शुद्ध आचार-विचार वाले पति-पत्नी का विवाह ही आदर्श विवाह होता था।

नारी का गौरवमय स्थान इससे भी ज्ञात होता है कि नारी को ही घर कहा गया है। घर घर नहीं है, अपितु गृहिणी ही गृह है। गृहिणी के द्वारा ही गृह का अस्तित्व है। एक स्थान पर कहा गया है कि नास्तिक और कृपण पुरुष से

---

३२९. अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्। – ऋग., १०/१५९/२

३३०. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया, पत्यौ मे श्लोक उत्तमः। ऋग., १०/१५९/३

३३१. ऋग., १०/१५९/५

३३२. वही, १०/१५९/६

३३३. ऋग., ४/३४/७

३३४. अथर्व., ११/१/२७

आस्तिक और दानी स्त्री समाज में अधिक आदरणीय है।[३३५] स्त्री की प्रतिष्ठा अपने गुणों और योग्यता के आधार पर है। अतः कहा गया है कि वह अपनी योग्यता और दक्षता के आधार पर ज्ञान की स्वामिनी की तरह आदर पावे। उसका ज्ञान देवों के सुख के लिए और संसार की सुखवृद्धि के लिए हो।[३३६] इस मंत्र में नारी के चार कर्त्तव्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। ये हैं; १. अपनी योग्यता से परिवार में प्रतिष्ठित होना, २. देवों को सुख देना और आनन्द का वातावरण बनाना, ३. परिवार को सुखी रखना, ४. परिवार में अपने आपको सुखी अनुभव करना। नारी को निर्भीक और साहसी मानकर उसे समाज का नेतृत्व योग्य समझा जाता था। इन्द्राणी को एक सेनानी के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके प्रमाण का वर्णन है कि उसके पैर शत्रुमर्दन के लिए आगे बढ़ने के लिए अधीर हैं। वह सेना के आगे-आगे चलती है। वह विजयिनी है, अघृण्य और कभी पराजित नहीं हुई है।[३३७] वह शत्रु को अपने वाणों से काटती हुई चलती है। वह शिव के पिनाक धनुष की तरह धनुष धारण करती है। शत्रुओं की सभी आकांक्षाओं पर पानी फेर देती है।[३३८] ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि स्त्री अबला नहीं, सबला है।

ऋग्वेद में वर्णन है कि नारी में नर को आकृष्ट करने की क्षमता है। नारी में आकर्षण शक्ति है, जिससे वह सौन्दर्य के प्रेमी व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।[३३९] अथर्ववेद का कथन है कि नर के प्रेम का आधार नारी है। प्रणयी व्यक्ति का हृदय अपनी प्रेमिका में ही लगा रहता है।[३४०] सती साध्वी नारी का एक विशेष गुण यह बताया गया है कि उसका पति दीर्घायु होता है और स्त्री का सौभाग्य चिरस्थायी होता है। वृद्धावस्था का उसके पति पर प्रभाव नहीं पड़ता है, अतः वह दीर्घायु रहता है।[३४१] ब्राह्मण ग्रंथों में भी गौरवगान किया गया है। नारी को सावित्री कहा गया है।[३४२] नारी अर्धांगिनी है। वह आत्मा का आधा

---

३३५. उत त्वा स्त्री शशीयसी, पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः।
– ऋग., ५/६१/६

३३६. स्वैर्दक्षैपितेह सीद देवानां सुम्ने वृहते रणाय।
पिते वैधि सुनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्व। – यजु., १४/३

३३७. अथर्व., १/२७/४

३३८. वही, १/२७/२

३३९. ऋग., ८/६/२९

३४०. अथर्व., ६/७०/३

३४१. ऋग., १०/८६/११, अथर्व., २०/१२६/११, तैत्ति. सं., १/७/१३/१

३४२. स्त्री सावित्री। जैमिनीय उप. ब्रा., २७/१०/१७

अंश है।[३४३] नारी के बिना यज्ञ अपूर्ण है, अतः सपत्नीक यज्ञ करें।[३४४] पत्नी के बिना जीवन अधुरा है।[३४५] स्त्रियों का अपमान निन्दनीय है।[३४६] पत्नी गृहलक्ष्मी है, साक्षात श्री है।[३४७] इसी गौरवगान के कारण ही ऋग्वेद में २४ और अथर्ववेद में ५ वैदिक ऋषिकाओं का उल्लेख है। ऋग्वेद में २४ ऋषिकाओं द्वारा दृष्ट मंत्र २२४ हैं और अथर्ववेद में ५ ऋषिकाओं द्वारा दृष्ट मंत्र १९८ हैं। इस प्रकार दोनों वेदों में ऋषिकाओं के दृष्ट मंत्रों की संख्या ४२२ है।

❑ नारी के सामाजिक अधिकार और कर्त्तव्य

नारी को सामाजिक प्रतिष्ठा मिली हुई थी। ऋग्वेद में नारी को गृहलक्ष्मी के रूप में चित्रित करते हुए उसे 'कल्याणी जाया' अर्थात् मंगलकारिणी स्त्री कहा है। साथ ही कहा गया है कि उसके घर में संगीत की मधुर ध्वनि होती है। घर में घोड़े रथ आदि होते हैं।[३४८] वैदिक समाज में पति के पूरे परिवार की देखभाल और पोषण का उत्तरदायित्व स्त्री पर होता है। वह पूरे परिवार का भरण-पोषण करते हुए गृहस्वामिनी का पद सम्भालती थी।[३४९] कुलायिनी और पुरन्धि शब्दों से परिवार के पालन पोषण का दायित्व उस पर डाला गया है। वह कुटुम्ब की पालक है।[३५०] एक मंत्र में उसको 'कुलपा' कहा गया है।[३५१] इसका भी यही अभिप्राय है कि वह कुल या परिवार का पालन करने वाली है। 'पत्नी ही घर है' यह कह कर समाज में नारी का महत्त्व बताया गया है। नारी कुल की प्रतिष्ठा में वृद्धि करना, प्राचीन उत्कृष्ट परम्पराओं का निर्वाह करना, वंश के सामान्य जनों को उचित सम्मान देना, कुल को दूषित करने वाले दुर्गुणों का परित्याग और कुल के लिए ज्ञान-विज्ञान वैभव आदि से युक्त योग्य सन्तान को जन्म देना, उनको उत्तम आचार-विचार की शिक्षा देना आदि कार्य नारी के उत्तरदायित्व में है।

नारी के शील के विषय में कहा गया है कि उसे लज्जाशील होनी चाहिए।

---

३४३. अर्थो वा एष आत्मनः, यत पत्नी। तैत्ति. ब्रा., ३/३/३/५

३४४. अयज्ञो वा एषः। योऽपत्नीकः। तैत्ति ब्रा., २/२/२/६

३४५. यावत. जायां न विदन्ते, असर्वा हि तावद् भवति। श. ब्रा., ५/२/१/१०

३४६. न वै स्त्रियं घ्नन्ति।- श. ब्रा., ११/४/३/२

३४७. श्रिया वा एतद् रूपं यत् पत्न्यः। - तैत्ति. ब्रा., ३/९/४/७

३४८. ऋग., ३/५३/६

३४९. अथर्व., १४/२/२७, १४/१/४, ऋग., १०/८५/४६

३५०. यजु., १४/२

३५१. अथर्व., १/१४/३

उसकी दृष्टि नीचे रहनी चाहिए। वह अपने अंगों को ढंक कर रखे। इसका अभिप्राय यह है कि नारी को अपने अंगों का अभद्र प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। उसका सुशील व्यवहार उसके लिए शोभाजनक है। पत्नी का मधुरभाषी होना, पति के लिए सर्वोत्तम उपहार है। जो पत्नी मधुर वचन बोलती है, वह अपने वैवाहिक जीवन को मधुर बनाती है। पत्नी को प्रसन्नचित्त या हंसमुख होना गुण बताया गया है। कन्या का परिश्रमी होना उत्तम गुण माना गया है। परिश्रमी कन्याएँ दूसरों के मांगलिक अवसरों पर सहयोग देती हैं और उनके कार्यों में हाथ बँटाती हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उनके कार्यों में अन्य स्त्रियाँ अपना सहयोग देती हैं।[३५२] जो हर्ष और शोक के अवसरों पर दूसरे के कार्यों में सहयोग देता है, परिश्रम करता है और स्वयं सेवक के रूप में अपने आपको उपस्थित करता है, उसको समाज में सम्मानीय माना जाता है। उसी वजह से नारी समाज में प्रतिष्ठित थी।

❑ मातृत्व

नारी की चरम सार्थकता मातृत्व में ही थी। जननी से बढ़कर आशा, विश्वास, क्षमा और औदार्य का दूसरा केन्द्र वैदिक आर्य के जीवन नहीं है। पिता को छोड़कर जो उसका समभागी है उसका स्थान उसके लिए सबसे ऊपर है, पर कभी-कभी मातृत्व उसका भी अतिक्रमण कर जाता है। विश्व जननी की प्रतीक अदिति की वंदना में अपेक्षाकृत सर्वाधिक सूक्त मिलते हैं। माता अपने आदर्शों के कारण प्रेम, दया एवं सहानुभूति की मूर्ति समझी जाती थी। माता को उसके आदर्शों के कारण ईश्वर की श्रेणी में स्थान दिया गया क्योंकि वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक तत्त्वों और देवों के प्रति अपनी भावना प्रकाशित करने में उन्हें माता के ही रूप में देखा है।[३५३] माता के अंक को सुख एवं शान्ति का आश्रय समझा जाता था।[३५४] माता के वाचक कई शब्द जैसे मातर, जनि, जनित्री, प्रभु, तू, अम्बा, अम्बि अथवा अम्बी इत्यादि वेदों में उपलब्ध होते हैं। मातर शब्द वेदों में सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में मानवी माता के प्रसंग आये हैं अथवा मानवी माता का उपमान के रूप में प्रयोग हुआ है।[३५५] मातृत्व का प्रारम्भ गर्भ-धारण से ही प्रारम्भ हो जाता है। अथर्ववेद के आदर्शों के अनुसार गर्भ में पुत्र के स्थित हो जाने पर अपने पवित्र आचरण

---

३५२. अथर्व., ६/६०/२

३५३. डॉ. सुषमा शुक्ला-वैदिक वाङ्मय में नारी, पृष्ठ ५१

३५४. ऋग., १०/१६/११

३५५. ऋग., १/२४/१,२, ७/५५/५, १/१४/७

एवं पवित्र कार्यों द्वारा संस्कार प्रथा अपनायी जाती थी।[३५६] माता होने के बाद वह हमेशा पुमान पुत्र उत्पन्न करे तथा जिन पुत्रों को उत्पन्न करे वे सब स्वस्थ व सुखी हों तथा पुत्रों के लिए माता शान्तिदायिनी व कल्याण कारिणी हों, पुत्रों को माता कोई कष्ट न दे। मातृत्व-शक्ति के विकास को नारी का सौभाग्य माना जाता है। मातृत्व के साथ ही उसमें दया, ममता, सहिष्णुता आदि गुणों का विकास होता है।[३५७]

स्नेह, पोषण, लालन-पालन और संरक्षण के कारण निश्छल मानव हृदय में मातृसत्ता के प्रति श्रद्धाभाव ही उपजा होगा। वस्तुतः देखा जाय तो समाज का सारा ताना-बाना मातृत्व के आसपास ही बुना गया है। वैदिक संस्कृति में मातृत्व वाले स्वरूप को पुजनीया एवं प्रतिष्ठा का स्वरूप दिया गया है।[३५८] व्यक्ति एवं समाज में उदारता एवं उदात्तता, शालीनता एवं सदाशयता का बीजारोपण मातृत्व भाव द्वारा ही हो सका है। यही कारण है कि वैदिक संस्कृति में मातृत्व का सर्वोपरि स्थान रहा है। मां के प्रति अगाध एवं अनन्य श्रद्धा के भाव ने कभी इस देश को महानता के उच्चतम शिखर पर पहुँचाया था। प्रगति और समुन्नति की, सुख और शान्ति की वैदिक कालीन स्वर्गीय परिस्थितियों के कारणों पर दृष्टिपात करते हैं तो एक ही तथ्य हाथ लगता है आर्यों के अन्तःकरण में विद्यमान मां के प्रति अगाध श्रद्धाभाव।[३५९] महानता से अभिपूरित उदारता व उदात्तता का, त्याग और बलिदान का प्रशिक्षण मनुष्य के लिए उसी दिन से आरम्भ हो जाता है जिस दिन मां गर्भ धारण करती है। अपने शरीर से रक्त, मांस का हिस्सा काटकर शिशु के शरीर का निर्माण करती है। नौ माह तक असीम वेदना सहन करते हुए भी गर्भ में पल रहे शिशु को पोषण देती है। मातृ हृदय त्याग बलिदान का, उदारता-महानता का स्रोत है। श्रेष्ठता का, शालीनता एवं महानता का पाठ पढ़ने एवं उस पर चल पड़ने वाले प्रत्येक महापुरुष ने मातृ-हृदय में रहने वाली स्नेह की पवित्र धारा में डुबकी लगाई। उसके अजस्र अनुदानों की वजह से ही वैदिक संस्कृति मातृ-शक्ति प्रधान रही है। मातृ छत्रछाया में बैठकर पढ़ा हुआ आत्मीयता का पाठ जीवन लक्ष्य प्राप्ति का प्रेरणा स्रोत बनता है। यही वह प्रेरणा स्रोत है जिसने प्राचीन समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं की नींव डाली।

---

३५६. अथर्व., १/१८/१२
३५७. वही, ३/२३/३
३५८. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- इक्कीसवीं सदी-नारी सदी, भाग ६२, पृष्ठ २.२०
३५९. वही, पृष्ठ २.२२

प्राचीन समाज की सांस्कृतिक परम्पराएँ

परम्पराएँ चिरसंचित संस्कृति का अविभाज्य अंग होती हैं। वे एक प्रमुख सामाजिक प्रतिमान हैं। किसी देश की संस्कृति प्राचीन परम्पराओं एवं मान्यताओं से अनिवार्यत: आबद्ध होती है। वैदिक समाज में परम्पराओं का अर्थ रुढ़ियों, कुरीतियों के परिपालन से नहीं वरन् मानव जीवन की उस गौरवमयी अभिव्यक्ति से है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उल्लास-ऊर्जा और नवीन चेतना वितरित कर सके। इसलिए वैदिक परम्परागत मान्यताएँ अगणित वर्षों से अविच्छिन्न रूप से विकासमान हैं। वे वैदिक संस्कृति की गौरव पथ प्रदर्शक हैं। उनमें से कुछ परम्पराएँ ऐसी हैं जो शाश्वत हैं तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों पर अनन्तकाल से टिकी हुई हैं। परम्पराएँ एक जीवन्त एवं गतिशील प्रक्रिया है। परम्पराएँ लौकिक लीकें एवं रीति-रिवाज के समान अर्थवाची हैं। परम्पराएँ सामाजिक एकता एवं भावात्मक एकीकरण के लिए सर्वाधिक प्रभावशाली साधन बनकर सार्थक भूमिका निभा सकती हैं। वैदिक समाज व संस्कृति की विशेषता है कि वे अपनी चिन्तन परम्पराओं से आबद्ध रहे हैं। पम्पराएँ ऐसे नैतिक नियम हैं, जो मनुष्य द्वारा सद्व्यवहार एवं सदाचार करने में सहायक होते हैं। परम्पराओं का बोध मनुष्यों में आत्म नियंत्रण की भावना उजागर करता है। परम्पराएँ लोगों के व्यवहार को नियंत्रित ही नहीं करतीं बल्कि उसका मार्गदर्शन भी करती हैं।[३६०] परम्पराओं के इस क्रम में वैदिक ऋषियों ने ऋषि परम्परा, पर्व त्यौहार परम्परा, वानप्रस्थ परम्परा, आश्रम-देवालय परम्परा तथा तीर्थ परम्परा को बहुमूल्य माना है।

❑ ऋषि परम्परा

ऋषि परम्परा सभी परम्पराओं का मूल है। ऋषिगण ही समाज में गौरवमयी परम्पराओं का प्रवर्तन करते हैं तथा समय-समय पर उनमें संशोधन एवं परिमार्जन कर उन्हें औचित्यपूर्ण बनाए रखते हैं।[३६१] ऋषि परम्परा के कारण ही समाज में समस्त परम्पराएँ सजीव, जाग्रत्, जीवन्त एवं औचित्यपूर्ण बनी रहती हैं। इसके अन्तर्गत आर्ष वाङ्मय एवं अन्यान्य साहित्य का सृजन, यज्ञ का विकास-विस्तार, यज्ञ से मनोविकार के शमन द्वारा समग्र चिकित्सा पद्धति, आरण्यकों का निर्माण एवं संस्कारों का बीजारोपण, आयुर्वेद परम्परा, प्रव्रज्या के माध्यम से धर्म चेतना

---

३६०. सोती वीरेन्द्र चन्द्र- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृष्ठ १५३-५५

३६१. डॉ. मंदाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ २९१

का विस्तार, ज्योतिष-विज्ञान तथा धर्मतंत्र के माध्यम से राजतंत्र का मार्गदर्शन आदि परम्पराओं का समावेश होता है। वैदिकोत्तर काल में ये सभी ऋषि परम्परा विभिन्न ऋषियों के नाम से जानी गई एवं विख्यात हुई।

❑ पर्व त्यौहार परम्परा

पर्व त्यौहारों को सामाजिक संस्कार की प्रक्रिया कहा गया है। व्रत-साधना से व्यक्तित्व, संस्कारों से परिवार तथा पर्वोत्सवों से समाज का स्तर ऊँचा उठता है। त्यौहार वस्तुतः पर्वों व व्रतों के सम्मिश्रित रूप हैं। जन-जन की भावनाओं के परिष्कार हेतु बहुरंगी व्यक्तित्व के बहुआयामी बहुविधि पक्षों के प्रकटीकरण हेतु त्यौहारों का प्रावधान किया गया है। ऋषिगण जानते थे कि मनुष्य असामाजिक व विक्षिप्त भावनाओं के दमन व विकृत होने से ही होता है। यदि भावनाओं को परिष्कृत उल्लास में बदलकर समूह की शक्ति का उसमें समावेश किया जा सके व उसे एक आध्यात्मिक उत्सव का रूप दिया जा सके तो इससे समाज स्वस्थ बना रहेगा।[३६२] पर्व का अर्थ है गांठ-संधिकाल। पर्व सदा संधिकाल में ही पड़ते हैं। संध्या से लेकर बड़े-बड़े यज्ञ सब संधिकाल में होते हैं। इस संधिकाल के कारण ही इनको पर्व कहते हैं। प्रत्येक संधिकाल जहाँ मन की अन्तर्मुखता- दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, वही शरीर की दृष्टि से सावधानी रखने योग्य भी। ऋतुओं के संधिकाल में अनेक रोग होते हैं। उस समय संयम की अधिक आवश्यकता होती है। कर्म की भाँति ही पर्वों के तीन भेद हैं- नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य।[३६३] संध्यादि से लेकर एकादशी, चतुर्थी आदि पर्वों को नित्य पर्व कहा जाता है। कुछ पर्व हैं जो निमित्त से आते हैं, जैसे ग्रहण, जन्मोत्सव आदि। ग्रह नक्षत्रादि के योग विशेष से या किसी प्रधान घटना से पड़ने वाले पर्व नैमित्तिक हैं। इसके अतिरिक्त उनका दूसरे प्रकार से भी भेद किया जाता है। कुछ पर्व तिथि, नक्षत्र, दिन, ग्रहयोग के कारण मनाये जाते हैं, वे दिव्य पर्व हैं। कुछ पर्व विशेष देवताओं के हैं। कुछ काल पर्व हैं जैसे सृष्टि की प्रारम्भ तिथि, युग के आरम्भ की तिथि, वर्ष के आगमन की तिथि। समाज के विजय पर्व, उत्थान पर्व और उपार्जन पर्व हैं। मानव पर्व तीन प्रकार के होते हैं, एक तो ऐसे पर्व जो सामाजिक रूप से मनाये जाते हैं। दूसरे प्रकार के पर्व व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित होते हैं। किसी कामना व उद्देश्य विशेष तथा देवता को प्रसन्न करने हेतु किये गये पूजन समारोह काम्य पर्व कहलाता

---

३६२. डॉ. मंदाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ २९२-९३

३६३. सुदर्शन सिंह 'चक्र'- हमारी संस्कृति, पृष्ठ १८८

है।[३६४] इस तरह देखा जाय तो पर्व समाज के जीवन चिह्न हैं। वे समाज को जाग्रत् रखते हैं। वैदिक पर्व एवं त्यौहार तो अपने भीतर गम्भीर प्राकृतिक तथ्य रखते हैं। पर्व-त्यौहार का प्रचलन का उ्देश्य समाज की भौतिक उन्नति ही मानी जाती है।

❑ वानप्रस्थ परम्परा

वैदिक काल में ऋषिगणों ने चार वर्णों, चार आश्रमों की सुदृढ़ आधारशिला पर समाज का भव्य भवन खड़ा किया था। आचार्य श्रीराम शर्मा जी के अनुसार वानप्रस्थ जीवन तीन भागों में विभक्त है १. तपश्चर्या द्वारा संचित कुसंस्कारों का परिशोधन तथा प्रसुप्त आत्मबल का सम्वर्द्धन, २. ब्रह्मविद्या के सहारे आत्मज्ञान एवं व्यावहारिक अनुभव-अभ्यास, ३. लोक सेवा। इन तीनों का ही उचित सम्पादन करने से सच्चे अर्थों में वानप्रस्थ साधना बन पड़ती है। तीनों का समावेश रहने से ही इस पुण्य परम्परा का निर्वाह ठीक प्रकार बन पड़ता है।[३६५] समाज का नैतिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास वानप्रस्थ परम्परा की सफलता एवं व्यवस्था पर निर्भर है। सुधार एवं लोक शिक्षण के लिए जिन अनुभवी चरित्रवान तथा निस्वार्थ समाज सेवकों एवं कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है, उनकी पूर्ति वानप्रस्थ परम्परा से ही हो सकती है। वानप्रस्थ परम्परा समाज की सद्भावना, सद्वृत्तियों, सदाशयता एवं सदाचरण को जाग्रत् एवं जीवन्त रखती है।[३६६] वैदिक काल में वानप्रस्थ परम्परा का मूल उद्देश्य यही था।

❑ आश्रम-देवालय परम्परा

वैदिक परम्परा में आश्रम को जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण देने वाली संस्था का स्वरूप देने का प्रयास किया था। देवालयों के माध्यम से प्रतीकोपासना का मूलभूत तत्त्वदर्शन समझाने तथा जनमानस का जागरण करने का सफल प्रयत्न किया गया था।[३६७] इनके निर्माण का मूल उद्देश्य था जनमानस में धर्म धारणा का विस्तार करना, सत्प्रवृत्ति तथा आस्तिकता की भावना को जगाना और जमाना। वहाँ

---

३६४. वही, पृष्ठ १९९

३६५. आचार्य श्रीराम शर्मा- भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड वानप्रस्थ (१९७८), पृष्ठ २८

३६६. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- तीर्थ सेवन क्यों? और कैसे?, भाग ३७, पृष्ठ १२.७९

३६७. डॉ. मंदाकिनी शर्मा- आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण दर्शन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृष्ठ २९४

पर समस्त रचनात्मक प्रवृत्तियाँ भी पलती थीं, जो लोककल्याण के लिए आवश्यक थी। देवालयों का स्वरूप एक प्रकाश स्तम्भ, लाइट हाउस की तरह था। वे अपने-अपने क्षेत्रों में मानवीय उत्कर्ष एवं कल्याण के सभी सम्भव आयोजन करते थे। देवालय रूपी ये संस्थान उन सभी सत्प्रवृत्तियों का केन्द्र रहते थे, जो उस समय की आवश्यकताओं की दृष्टि से अभीष्ट माने जाते थे। उनका उपयोग वैदिक संस्कृति के निर्धारणों का जन-जन तक पहुँचाने, समाज के बौद्धिक, भावनात्मक उत्थान के निमित्त होता था। ऋषिगण वहाँ निवास कर दर्शनार्थी श्रद्धालुओं को प्रतीकों के माध्यम से शिक्षण देते थे एवं इस प्रकार सांस्कृतिक गौरव अक्षुण्ण बना हुआ था।[३६८] आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार देवत्व के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा और सम्मान की भावना वैदिक संस्कृति की अति पुरातन परम्परा है। देवत्व का अर्थ है- विश्व कल्याण की कामना। जो सबके हित में अपने हितों को होम कर दे वह देव-पुरुष है, ऐसे मानवी पुरुषों को सम्मान देना योग्य बात है। देवत्व के प्रति श्रद्धा और पारस्परिक सद्भावना के प्रतीक रूप में देवालयों के निर्माण का विधान है। सद्भावना का लोक जीवन की सम्पन्नता से घनिष्ट सम्बन्ध है। सामाजिक आचरण में जब दुर्भावनायें, अनाचरण, व्यामोह, विक्षिप्तता, पारस्परिक वैमनस्य तथा आध्यात्मिक विकृति पैदा हो जाती है, जो जन-जीवन में दुःख, क्षोभ और असन्तोष उमड़ पड़ता है।[३६९] इस विकृति को ठीक करने और समाज में सद्भावना, सत्प्रवृत्ति बढ़ाने हेतु आश्रम-देवालय परम्परा का प्रचलन किया गया था।

❑ तीर्थ परम्परा

प्राचीन काल में तीर्थों का स्वरूप खुले विश्वविद्यालय का था, जहाँ पर हर कोई बिना किसी भेदभाव के और बिना किसी रोक-टोक के पहुँच सकता था। यहाँ पर आत्मिक विश्रान्ति पाने तथा उद्विग्नता का शमन करने में सहायक वातावरण रहता था। योगी-तपस्वी यहाँ सतत अपनी आत्म-साधना में निरत रहते थे। तीर्थ सेवन के लिए आने वाले उनके समीप ठहरकर जीवनक्रम पर नए सिरे से विचार करते और तपस्वियों, ज्ञानियों से अपनी समस्याओं के समाधान तथा उज्ज्वल भविष्य के निर्धारण के लिए परामर्श प्राप्त करते थे। बात भी सही है, जीवन की उलझनों की समीक्षा के लिए इनके जाल-जंजाल से कुछ दूर रहकर उन पर विचार करना जरूरी होता है। व्यक्ति तीर्थ में पहुँचने पर सम्बद्ध लोगों

---

३६८. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- तीर्थ सेवन क्यों ? और कैसे ?, भाग ३७, पृष्ठ ११.५७

३६९. वही, पृष्ठ ११.३१

से दूर हो जाता है। इसलिए उनके प्रति राग-द्वेष भी झीना हो जाता है। उसी मनोदशा में अपना-पराए, गुण-दोषों को समझना आसान होता है। आधा हल तो समस्याओं का सही स्वरूप समझने में ही निकल आया मानना चाहिए। वैदिक ऋषियों ने तीर्थों के महत्त्व, तीर्थयात्रा के पुण्यफल पर प्रचुरता से प्रकाश डाला है। इस सारे वर्णन एवं विवरण का उद्देश्य जन साधारण को तीर्थ चेतना का सान्निध्य पाने के लिए प्रोत्साहित करना है। इस पारस को छूकर लोग अपने भीतर की लोहे जैसी कठोरता, कलुष-कालिमा को धो सकें और बहुमूल्य सुवर्ण जैसा अन्तःकरण बना सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु तीर्थ परम्परा का विकास किया गया था। इन्हें उस कल्पवृक्ष की उपमा दी गयी थी, जिसके सम्पर्क में आने वाले अपने आंतरिक अभावों और संकटों से छुटकारा पा सकते थे। प्रत्येक तीर्थस्थल अपने समय में किसी ऋषि की तपस्थली अथवा अवतारों की लीलाभूमि रहा है। उनकी तपश्चर्या से उद्भुत प्राण-ऊर्जा तीर्थचेतना की प्रखरता को जन्म देती थी। इसकी समर्थता से तादात्म्य साधने वाले व्यक्तित्व स्वयं की दिशाधारा और स्वरूप में वांछित बदलाव की अनुभूति किए बिना नहीं रहते थे।

तीर्थ श्रद्धा के प्रतीक हैं।[३७०] तीर्थों के निर्माता, तीर्थ-प्रक्रिया के चिन्तक, संगठक और विस्तारक दूरदर्शी ऋषियों ने अथक परिश्रम, साध्य और साधना के साथ, इनको प्रारम्भ किया, प्रतिष्ठित किया था। इन तीर्थ-केन्द्रों के द्वारा धर्म-चेतना का जन-जन में प्रसार होता था और उत्कृष्टता की प्राणवान् प्रेरणाएँ उनके द्वारा प्रसारित की जाती थीं। तीर्थ परम्परा इसी प्रयोजनों को पूरा करने के लिए थी। इन तीर्थ-तत्त्व का तात्पर्य किसी देव-मंदिर, सरित-सरोवर, पूजा कृत्य तक सीमित नहीं है। ये सब तो उसके बाहरी कलेवर भर हैं। तीर्थ-तत्त्व का प्राण वह विधि व्यवस्था थी, जिसके अन्तर्गत इन स्थानों में रहने वाले मनीषी ब्रह्मवेत्ता व्यापक जन सम्पर्क के द्वारा जन मानस में धर्म-धारणा को प्रतिष्ठित करने के प्रयास करते थे। आस्था क्षेत्र को प्रखर उन्नत बनाते थे। ऋषियों के ये सुव्यवस्थित प्रयास मेघ-मण्डलों की तरह व्यापक क्षेत्र में प्रेरणा की वर्षा करते और भावनाओं की हरियाली को उपजाते-बढ़ाते थे। अतः ऊर्जा का उत्पादन करने वाले बिजलीघरों की तरह तीर्थ प्रक्रिया की भूमिका थी।[३७१] ऋषियों ने तीर्थों को प्राकृतिक सौन्दर्य तथा ऐतिहासिक स्थलों पर स्थापित इसलिए किया था कि आगन्तुकों को प्रकृति सान्निध्य

---

३७०. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- तीर्थ सेवन क्यों? और कैसे?, भाग ३७, पृष्ठ ५.४

३७१. वही, पृष्ठ ५.९

के अतिरिक्त ऐतिहासिक प्रेरणाओं का लाभ भी मिलता रहे। यह बाह्य प्रयोजन हुआ, मूल उद्देश्य यह था कि उपयोगी वातावरण में कुछ समय ठहरकर अपनी अस्त-व्यस्त मनःस्थिति को सुसन्तुलित करने तथा भविष्य के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण प्रेरणायें प्राप्त कर सकने का बहुमूल्य लाभ मिले।

वैदिक समाज की इन्हीं गौरवमयी परम्पराओं ने आर्य संस्कृति का पुण्य प्रवाह बनाए रखा। संस्कृति के इसी उत्कर्ष एवं विकास के फलस्वरूप वैदिक समाज के अनुशासन एवं व्यवस्था के रूप में राजनैतिक चेतना का विकास हुआ।

❑

अध्याय-४

संस्कृति एवं राजनैतिक चेतना

किसी भी संस्कृति की प्रकृति, स्वरूप और गति का निर्धारण वे आदर्श या मूल्य करते हैं, जिनकी सिद्धि में ही कोई समाज या व्यक्ति अपने अस्तित्व की सार्थकता का बोध करता है। संस्कृति को इसीलिए मूल्य-दृष्टि कहा जाता है, क्योंकि उन सनातन मूल्यों के अर्जन की प्रक्रिया ही सांस्कृतिक प्रक्रिया है। शायद इसी कारण बहुत से विचारक संस्कृति का दायरा सनातन मूल्यों के धारणात्मक स्तर तक ही सीमित रखते और उनके अर्जन की सामाजिक वैयक्तिक प्रक्रिया तथा अन्य जीवनोपयोगी बातों को उससे अलग कर देते हैं। इस प्रकार की उपयोगिता के क्षेत्र को वे सभ्यता के दायरे में रखते हैं और इस प्रकार संस्कृति और सभ्यता के बीच एक विभाजक रेखा खींच देते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति सिर्फ मानसिक वस्तु रह जाती है और अन्य सारा भौतिक-सामाजिक जीवन सभ्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत समझ लिया जाता है। यह विभाजन विश्लेषण की सुविधा के लिए एक हद तक उपयोगी हो भी सकता है, लेकिन इसका प्रक्रियागत और आत्यन्तिक महत्त्व नहीं है। इस विभाजन को आत्यान्तिक मान लेने की वजह से ही इतिहासकार संस्कृति का अध्ययन करते हुए अपने को धर्म-दर्शन, कला और साहित्य तक ही सीमित रखते हैं और अन्य सारे जीवन को, जिसमें राजनीति भी शामिल है, उस क्षेत्र के बाहर मान लेते हैं। इस प्रकार संस्कृति का क्षेत्र सिर्फ मानसिक व्यापार तक सीमित रह जाता है और उस का यथार्थ जीवन से कोई रिश्ता स्थापित नहीं होता, विचार और आचरण में एक दुर्निवार असंगति विकसित हो जाती है।

अत: संस्कृति के बारे में किसी भी विचार-विमर्श से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि संस्कृति केवल मूल्यवृद्धि ही नहीं, मूल्य निष्ठा भी है। आज के राजनैतिक परिदृश्य एवं वातावरण को देखते हुए यह समझ लेना निहायत जरूरी है कि संस्कृति केवल विचार नहीं, विश्वास और आचरण भी है। संस्कृति को राजनीति से अलग समझा जाना ही शायद वह वजह है, जिसकी वजह से यहाँ विकृति ही विकृति दिखाई देने लगती है। हमें यह हृदयंगम करना होगा, चेतना के विकास का अर्थ विचार का ही नहीं यह अनुभूति का विकास भी है। अत:

जब तक हमारे बौद्धिक निष्कर्ष और हमारे दैनन्दिन और सहज अनुभव एक नहीं हो जाते तब तक संस्कृति की प्रक्रिया अधुरी रह जाती है और इसीलिए अन्तर्विरोध हो जाता है। इस कारण संस्कृति सभ्यता को, बल्कि पूरे जीवन को ही अपने दायरे में ले लेती है। यदि जीवन किन्हीं मूल्यों की ओर उन्मुख और उनसे अनुप्राणित है तो उसके हर पक्ष में उन्हीं मूल्यों की अनुप्रेरणा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। संस्कृति सम्पूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया है। किसी भी जाति की मूल्यदृष्टि, उसकी आस्थाएँ और विश्वास इस गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया और स्वरूप का निर्धारण करते हैं। इन आस्थाओं और विश्वासों का एक चरम और साध्य रूप होता है और दूसरा सापेक्ष और साधनात्मक रूप। इसलिए संस्कृति और सभ्यता में भेद-दृष्टि नहीं जाती और वह उचित प्रतिपाद्य प्रतीत होता है, जहाँ सभ्यता को संस्कृति का साधनात्मक रूप माना जाता है। आवश्यक यह है कि इन दोनों रूपों में आन्तरिक और जहाँ तक सम्भव हो बाह्य संगति भी हो और साध्य रूप साधनात्मक रूप में भी बराबर प्रतिबिम्बित होता रहे। हमारी सामाजिक व्यवस्था और आचरण यदि सनातन मूल्यों और विश्वासों को प्रतिबिम्बित नहीं करते जो वैदिक संस्कृति की केन्द्रीय प्रेरणा है तो यह मानना होगा कि संस्कृति एक समग्र स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी, बल्कि वह एक द्विभाजित संस्कृति है, जिसका अर्थ होता है कि हमारा मन एक द्विभाजित मन अतः अस्वस्थ मन है। यह द्विभाजन ही संस्कृति में अन्तर्विरोधों के विकसित होने का कारण बनता है। संस्कृति मूल्य-दृष्टि और मूल्य निष्ठा होने के साथ-साथ मूल्यों को अर्जित करने की प्रक्रिया भी है। अतः यह कालबद्ध और दिशाबद्ध है। इसलिए इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में विभिन्न भौगोलिक, मानवीय और आर्थिक राजनीतिक कारणों से कई बार अन्तर्विरोध विकसित हो सकते हैं, होते हैं। लेकिन संस्कृति की जीवन्तता या सर्जनशीलता का एक लक्षण यह भी है कि वह निरन्तर अपने अन्तर्विरोध की पहचान करती रहती है। मनुष्य एक चेतन सत्ता है, अतः उसमें यह सामर्थ्य है कि वह उन अन्तर्विरोधों को समझकर उनका समाहार करने की दिशा में सचेष्ट हो सकता है। इसके बिना संस्कृति सड़ने लगती और मर जाती है। संस्कृति जीवन्त होती है, जीवाश्म नहीं। हम यदि एक जीवित संस्कृति बने रहना चाहते हैं तो हमें देखते रहना होगा कि हम कहाँ और क्यों अपनी मूल प्रेरणाओं से विचलित हुए हैं और कैसे इस द्विभाजन को मिटा सकते हैं। यदि हम ऐसा नहीं करते-तो हमारे पास अपने को एक सुसंस्कृत कहने का कोई नैतिक औचित्य नहीं बचा रहेगा।

सामाजिक अनुशासन एवं व्यवस्था के रूप में राज्य का उदय

वैदिक ऋषियों के सांस्कृतिक उत्कर्ष के जो उत्तुंग शिखर आर्ष साहित्य में दृष्टिगत होते हैं, उसकी प्रामाणिक वजह यही थी कि राज्य की उत्पत्ति एवं विकास-व्यवस्था के पीछे उनकी सांस्कृतिक पावनता थी। वैदिक काल में राजनैतिक चेतना उस काल की सांस्कृतिक चेतना का ही एक अभिन्न अंग थी। इससे विदित होता है कि वैदिक काल में सुव्यवस्थित राजनैतिक अवस्था विद्यमान थी।[१] प्राचीन समय में राजतंत्र का इतना प्रभाव था कि राजपद की उत्पत्ति को ही नागरिक समाज की उत्पत्ति माना गया। राजा को राज्य की आत्मा कहा गया और इसलिए समाज के किसी भी सिद्धान्त का बौद्धिकरण करने के लिए राजपद की उत्पत्ति को प्रथम आवश्यकता माना गया। आर्ष साहित्य के मतानुसार राजा जनता के लिए ब्रह्म की देन है, ताकि जनता उसकी सहायता से व्यवस्थित जीवन जीने में सक्षम हो सके। असुरक्षा, हिंसात्मक संघर्ष, यज्ञों का अभाव, समाजिक मूल्यों का पतन, अत्याचारी या समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ आदि ऐसे तत्त्व हैं जो सामाजिक जीवन को असह्य, आशंकित एवं आतंकित कर देते हैं। अतः समाजशिल्पियों ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि वे इसके प्रतिकार की समुचित व्यवस्था करें। फलतः मनु को शासक के रूप में नियुक्त किया गया। अपनी सुरक्षा के बदले जनता ने अपने मवेशी और सोने का पाँचवाँ भाग तथा अन्न का दसवाँ भाग राजा को देने की घोषणा की। इस तरह यह नागरिक समाज-राजपद के साथ-साथ अस्तित्व में आया। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि समाज रूपी राज्य की रक्षा की जाय। राज्य के जन्म लेते ही समाज में अनुशासन एवं व्यवस्था की स्थापना हुई। महाभारत में राज्य की उत्पत्ति का व्यापक वर्णन मिलता है। डॉ. डी.आर. भण्डारकर ने इस विषय में गहन अनुसंधान किया है। इन तमाम निष्कर्षों से स्पष्ट होता है कि राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त कई प्रकार के हैं। ये सिद्धान्त निम्न हैं; १. दैवीय सिद्धान्त, २. ऋषियों द्वारा नियुक्ति, ३. शक्ति का सिद्धान्त, ४. सुरक्षा का सिद्धान्त, ५. कर्म के आधार पर राजा की नियुक्ति, ६. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, ७. पैतृक और वर्ण सम्बन्धी सिद्धान्त।

❑ दैवीय सिद्धान्त

इस सिद्धान्त में मानवीय स्तर की अपेक्षा दैवीय स्तर को अधिक मान्यता

---

१. डॉ. सत्यनारायण पाण्डेय- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृष्ठ ५५

प्रदान की गई है। ऋग्वेद के आचार्य उस इन्द्र को राजपद सौंपते हैं, जो सबसे अधिक सामर्थ्यवान है, संघर्ष के समय शत्रुओं का नाश करने वाला है तथा साहसी व शक्तिशाली है। इन्द्र प्रकाश का देवता है। उसके कानून शक्ति सम्पन्न होते हैं। इन्द्र दैवीय एवं अतिमानवीय व्यक्तित्व रखता था इसलिए उसे राजा बनाया गया। ऋग्वेद में राजा के राजतिलक उत्सव से सम्बन्धित वृत्तान्त आता है। इसमें यह स्पष्ट वर्णित है कि राजा बनाए जाने वाले व्यक्ति को इन्द्र द्वारा नियुक्त किया गया है उसे अनेक त्याग तपस्या के पश्चात् सुरक्षा प्रदान की गई है।[२] ऋग्वेद के आगे के छन्दों में कहा गया है कि सब लोगों को राजा के कल्याण के लिए शुभकामना करनी चाहिए, ताकि उसका राज्य दीर्घावधि तक सुखी व समृद्ध बना रहे। ऋग्वेद के ऋषि इन्द्र को राज्य का संस्थापक मानकर वरुण, बृहस्पति और अग्नि आदि तक अपनी प्रार्थनाएँ भेजते थे कि वे राजा को सुरक्षा व संरक्षण प्रदान करें। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि सूर्य अच्छे या बुरे राजा के माध्यम से संसार पर शासन करता है।[३] ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र राज्याभिषेक के समय यह कहा गया है कि प्रजापति की अध्यक्षता में सभी देवताओं ने आपस में एक दूसरे से विचार-विमर्श किया कि 'इन्द्र हम देवताओं में सबसे अधिक साहसी, शक्तिशाली, अजेय एवं पूर्ण हैं। उसे कार्यों में कुशलता एवं दक्षता प्राप्त है अत: इसे अपना राजा घोषित करते हैं।' इसी वजह से उन्होंने इन्द्र को राज्याभिषेक कर दिया। इन्द्र की सम्प्रभुता की उत्पत्ति का यह उचित अवसर बताया गया है। इस प्रसंग से विदित होता है कि देवताओं ने राज्य की रचना की। इसे सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का आधार भी माना जा सकता है, क्योंकि देवताओं ने अपने परस्पर राय से इन्द्र को राजा के रूप में नियुक्त किया। कुछ विद्वान इसे शक्ति का सिद्धान्त भी कहते हैं इसलिए कि इन्द्र सभी देवताओं से सक्षम, सामर्थ्य एवं शक्तिशाली था। ऐतरेय ब्राह्मण में ही अन्य स्थानों पर यह उल्लेख है कि वरुण ने अपने आपको जल में आसीन किया ताकि वहाँ की व्यवस्था की रक्षा कर सकें, स्वामित्व स्थापित कर सकें, सर्वोच्च शासन कायम कर सकें, आत्म प्रशासन विनिर्मित कर सकें, संप्रभु बन सकें, सर्वोच्च सत्ता अपने में निहित करें, राज्यपद प्राप्त करें, बुद्धिमान बनें और राज्य की समस्त सत्ता को अपने आप में निहित कर लें।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन्द्र के राजपद की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रसंग आया है। उसमें कहा गया है कि इन्द्र को प्रजापति द्वारा स्वर्गलोक में यह कहकर भेजा

---

२. ऋग्वेद, १०/१७३

३. शतपथ ब्राह्मण, २/६/३/८

गया कि 'तुम इन देवताओं के स्वामी बनो।' इन्द्र के पास राज्य को चलाने के लिए कला, कौशल, बुद्धि एवं सामर्थ्य मौजूद थी, इसी कारण उसे राजा बना दिया गया। यह विवरण भी सम्प्रभुता के दैवीय सिद्धान्त का अनुमोदन करता है। वृहदारण्यक उपनिषद में उल्लेख मिलता है कि प्रारम्भ में यह संसार केवल ब्रह्म था। एक होने के कारण उसका विकास नहीं हुआ। ब्रह्मा ने अपने क्षत्रफन से एक सर्वोच्च राज्य की रचना की। इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, यम, मृत्यु, मनुष्य आदि प्रशासकों को बनाया, इनके ऊपर क्षत्र को स्थान दिया। यही कारण है कि राजसूय यज्ञ के समय क्षत्रिय को ब्राह्मण से वरीयता दी जाती है। उपनिषद् के इस भाग में यह बताया गया है कि क्षत्रिय की उत्पत्ति दैवीय है। महाभारत के कई प्रसंगों में राज्य दैवीय उत्पत्ति का वर्णन हुआ है। परन्तु इसमें दैवीय नियुक्ति की मान्यता को प्रभावशाली बताया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में यह प्रतिपादन है कि मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए अनेक हिंसक व जंगली जानवरों से संघर्ष करता रहता था। उसको नियंत्रित करने के लिए ब्रह्मा ने राजा को नियुक्त किया। महाभारत में राजा की उत्पत्ति से सम्बन्धित कई कथाएँ हैं। शान्तिपर्व में युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि 'राजन' शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई और किन कारणों से राजा अधिक बुद्धि एवं बहादुरी वाले अनेक लोगों पर शासन करता है। भीष्म ने बताया कि प्रारम्भ में स्वर्ण युग था। उत्तर वैदिक काल में समय एवं परिस्थिति में परिवर्तन हुआ। परिस्थितियाँ विपरीत एवं प्रतिकूल होने लगी जिससे जूझने के लिए देवताओं ने ब्रह्मा से सहायता एवं आश्वासन मांगा। ब्रह्मा के कहने पर विष्णु भगवान् ने संसार में राज्य करने हेतु 'विरजा' नामक पुत्र को उत्पन्न किया। परन्तु विरजा ने सम्प्रभुता को स्वीकार करने से मना कर दिया और संन्यासी हो गया। उसके पुत्र करदम ने भी तपस्या व्रत का अनुसरण किया। करदम का पुत्र 'अनंग' बड़ा योग्य एवं निपुण था, किन्तु उसका पुत्र 'अतिबल' विशाल राज्य प्राप्त करने के पश्चात् इन्द्रियों का दास बन गया। मृत्यु की पुत्री 'सुनीता' से विवाह कर अतिबल ने 'बेन' को जन्म दिया। यह राजा परम अत्याचारी सिद्ध हुआ। बेन की दाईं भुजा का मंथन करने पर उसमें से न्यायप्रिय 'पृथु' का जन्म हुआ। ऋषियों और देवताओं ने उसे राजधर्म का उपदेश दिया। बेन कुमार को सारी दण्ड नीति की दक्षता प्राप्त थी। उसके राज्य में न्याय, धर्म और व्यवस्था विद्यमान थी। मान्यता है कि पृथु के समय यह धरती उबड़-खाबड़ एवं ऊँची-नीची थी। उसने ही इसे समतल बनाया। पृथु ने धर्म राज्य की स्थापना की और वे राजा कहलाए।[४]

---

४. रंजिताश्च प्रजा: सर्वास्तेन राजेति शब्द्येत। – महाभारत, शांतिपर्व, ५९/१२५

इस प्रकार की मान्यतानुसार राजा कहलाने योग्य वही शासक है जो प्रजा की प्रसन्नता का ध्यान रख सके। राजा को क्षत्रिय इसलिए कहा गया क्योंकि उसने ब्राह्मण को क्षति से बचाया।[५] महाभारत के अनुसार स्वयं सनातन भगवान् विष्णु ने उनके लिए मर्यादा स्थापित की कि उनकी आज्ञा का कोई उल्लंघन न करे। पृथु ने तपस्या की। प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने स्वयं उसके भीतर प्रवेश किया। संसार ने पृथु को देवता माना और उसके सामने सिर झुकाया। भीष्म के मतानुसार राजा का दैवीय गुण ही मुख्य कारण है जो व्यक्ति को सारे देश पर शासन करने की क्षमता प्रदान करता है। देवताओं द्वारा राजा के पद पर स्थापित हुआ मानकर कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।[६] इन सब वर्णन से यही स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक काल में राज्य को ईश्वर की कृति माना जाता है। अतः राज्य की उत्पत्ति दैवीय सिद्धान्त से हुई। महाभारत में ही यह घोषित है कि अराजकता की स्थिति से लोगों की रक्षा के लिए देवों ने राजा की नियुक्ति की।[७] मनु स्वयं राजा को दैवीय उत्पत्ति के विचार का समर्थन करते हैं। उनके मतानुसार जब संसार राज्य एवं राजा विहिन था तो सर्वत्र भय व्याप्त था। इस सृष्टि की रक्षा के लिए भगवान् ने एक राजा की रचना की। ऐसा करते समय भगवान् ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा एवं कुबेर आदि के आन्तरिक गुणों को लिया। देवताओं के उन समस्त गुणों से युक्त राजा मानवों में सर्वोच्च एवं तेजस्वी बन गया।[८] पश्चिमी विचारकों ने भी राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। परन्तु उनकी इस मान्यता एवं पूर्वी ऋषियों की मान्यता के बीच पर्याप्त अन्तर है। पाश्चात्य विचारकों के अनुसार दैव का अर्थ है- सर्वोच्च सत्ता। अतः राज्य की उत्पत्ति का दैव या सर्वोच्च सत्ता- ईश्वर के द्वारा हुई। ये राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि कहते हैं। आर्य साहित्य में स्वयं ईश्वर को राजा मान्य है। 'बृहस्पति' के कथनानुसार राजा मानवीय रूप में एक महान् दिक्पाल है। मनु इस मान्यता को कुछ आगे बढ़ाते हुए कहते हैं राजा केवल एक दिक्पाल ही नहीं है, अपितु परमात्मा की रचना भी है। इस सम्बन्ध में डॉ. डी.आर. भण्डारकर ने स्पष्ट किया है कि यहाँ हम प्रथम बार वास्तविक दैवीय सिद्धान्त का उल्लेख पाते हैं जो कि पाश्चात्य विचारकों के सदृश्य है।[९]

---

५. हरिश्चन्द्र शर्मा- प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ २०१

६. वही,

७. महाभारत, शान्तिपर्व, ६७/१५

८. मनु स्मृति, ७/३-५

९. Dr. D.R. Bhandarkar- Some Aspects of Hindu Polity, p.147

❑ ऋषियों द्वारा नियुक्ति

राजा की देवताओं द्वारा नियुक्ति का सिद्धान्त एक दृष्टि से सामाजिक समझौते का सिद्धान्त माना जा सकता है, क्योंकि राजा को शर्तों का पालन करने के लिए नियुक्त किया गया है। असल में यह सिद्धान्त सामाजिक समझौते जैसा कहा जा सकता है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से इसे सामाजिक समझौते का सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। वैदिक एवं उत्तर वैदिक कालीन राजनीति चेतना के विकास का गहन अध्ययन-अन्वेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों के बीच कुछ मध्यवर्ती सिद्धान्त भी थे। ऐसा आभास होता है कि दैवीय उत्पत्ति के बाद का सिद्धान्त ऋषियों द्वारा अर्द्ध-दैविक नियुक्ति का सिद्धान्त था।[१०] राजा की उत्पत्ति में ऋषियों द्वारा योगदान किया गया। इस प्रकार का एक प्रारम्भिक चित्रण अथर्ववेद में कुछ मंत्रों में प्राप्त हुआ है। उसमें कहा गया है कि श्रेष्ठता की इच्छा वाले और स्वर्ग की खोज करने वाले ऋषियों ने सबसे प्रारम्भ में मंत्रों और सिद्धियों को प्राप्त किया और उसके बाद राजशाही सत्ता और शक्ति का जन्म हुआ। देवताओं को भी इस सामर्थ्यवान व्यक्ति के समक्ष झुकना पड़ा। महाभारत के अनेक भागों से यह पता चलता है कि राजपद या राजा ऋषियों द्वारा स्थापित किया गया।[११] महाभारत के वनपर्व में राजा की कुछ उपाधियों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि राजा को ऋषियों द्वारा सांसारिक शक्तियाँ सौंपी गई और राजा लोग श्रेष्ठ कार्य को सम्पन्न कर सकते हैं। जब इन्द्र ने ब्राह्मणों का विरोध करना प्रारम्भ किया तो ऋषियों ने बड़े देवताओं के साथ मिलकर नहुष को राजा बनाया। जब परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रियों से रिक्त कर दिया तो इसके परिणाम स्वरूप एक बार फिर अराजकता छा गई। महाऋषि कश्यप ने पृथ्वी की प्रार्थना कर बलिदान किए और उसकी रक्षा के लिए अनके राजाओं की नियुक्ति की। ब्रह्मा के साथ मिलकर ऋषियों ने महायज्ञ किया। इसमें से संसार की रक्षा एवं न्याय के शत्रुओं के नाश के लिए तलवार निकली। जब देवताओं ने राक्षसों को परास्त कर दिया तो इन्द्र को देवताओं द्वारा तलवार सौंप दी गई। इन्द्र ने उसे 'मनु' को सौंप दिया। मनु से कहा गया कि वह समस्त प्राणियों की रक्षा करे। एक अन्य दृष्टान्त द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है कि जब असुरों ने मनुष्य में से न्याय की भावना को समाप्त कर दिया तो वे शिव द्वारा हराए गए। उसके बाद प्राचीन सप्तऋषि आए और उन्होंने इन्द्र को देवताओं का प्रमुख और स्वर्ग का राजा बनाया।[१२] इस प्रकार अनेक

---

१०. हरिश्चन्द्र शर्मा- प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ २०४

११. वही,

१२. हरिश्चन्द्र शर्मा- प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ २०४

वृतान्तों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि राजा की नियुक्ति ऋषियों द्वारा की गई।

❑ शक्ति का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का आधार शक्ति है। ऋग्वेद के एक मंत्र में इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है कि इन्द्र सोमरस पीता है, इसलिए वह शक्तिशाली है। इन्द्र दूसरों की सहायता करता है। वेदों में उल्लेख है कि एक वर्ग के प्रमुख लोगों ने इन्द्र को राजा बनाया क्योंकि इन्द्र ने हर संघर्ष में विजय प्राप्त की। वह शक्तिशाली था, दृढ़ था, दूसरों को पराजित कर सकता था, वह प्रचण्ड एवं मजबूत था, वह साहस से परिपूर्ण था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवताओं और असुरों के युद्ध में असुर जीतते थे। तभी अग्नि, वसु, इन्द्र, रुद्र, वरुण, आदित्य, बृहस्पति और अन्य सभी देवता संयुक्त हो गए। अपनी इस प्रचण्ड शक्ति से असुर को पराजित कर अपने राज्य का बचाव करते थे। शतपथ ब्राह्मण में भी इसी तरह का आख्यान आता है। देवताओं ने इन्द्र की शक्ति और योग्यता पर विश्वास करके उसे समस्त लोकों का दिक्पाल बनाया। तैत्तिरीय ब्राह्मण का वृत्तान्त भी इस वर्णन की पुनरावृत्ति करता है।[१३] इसी प्रकार अनेक आख्यान इस बात के द्योतक हैं कि राजा युद्ध में विजय प्राप्त कर अपने राज्य को व्यवस्थित व अनुशासित करता था। राजा सेना का प्रमुख एवं संचालनकर्त्ता भी होता था। उस समय के संघर्ष में शक्ति का पर्याप्त महत्त्व था। लोगों को वह राजा स्वीकृत था जो उनकी रक्षा कर सके। अतः राज्य की उत्पत्ति में शक्ति एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती थी।

❑ सुरक्षा का सिद्धान्त

आर्ष ग्रंथों में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक अन्य तत्त्व पर भी महत्त्व दिया गया है, वह है- सुरक्षा। सुरक्षा का विचार राज्य की स्थापना का मूल कारण है। यह सुरक्षा चाहे देवताओं द्वारा प्रदान की गई हो, चाहे ऋषियों द्वारा अथवा शक्ति के आधार पर। मूल रूप से सभी विचारक सुरक्षा की खोज में संलग्न थे। इस सुरक्षा सिद्धान्त के विभिन्न पहलू हैं। सुरक्षा की वजह से ही राज्य में सुव्यवस्था-शासन बना रहता था। इसके पश्चात् अपनी स्वतंत्रता को सम्प्रभु के हाथ में सौंप दिया गया। सुरक्षात्मक सिद्धान्त सामाजिक सिद्धान्त के समरूप माना जा सकता है। इसे पाश्चात्य दार्शनिक हाब्स ने भी प्रतिपादित किया है। डॉ. भण्डारकर

---

१३. हरिश्चन्द्र शर्मा- प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ २०५

के विचारानुसार सम्भवतः यही एक मात्र प्राचीन सिद्धान्त है जो पश्चिमी सिद्धान्तकारों से व्यावहारिक एकरुपता रखता है।[१४]

❑ कर्म के आधार पर राजा की नियुक्ति

यह सिद्धान्त कर्मफल सिद्धान्त की व्याख्या करता है। जिसमें कहा गया है कि जिसका कर्म श्रेष्ठ एवं पुण्यदायक होता है वही व्यक्ति राज्य पद में राजा से सुशोभित होता है। यह सिद्धान्त राजा को अच्छे कार्य करने की भी प्रेरणा देता है क्योंकि राजा का अगला जीवन राजा के रूप में ही बना रहेगा तो उसे शासन का संचालन धर्म व न्याय के अनुरूप प्रजा का पालन करना पड़ेगा। महाभारत के शांतिपर्व में इसका वर्णन मिलता है।[१५] देवता लोग याचकों को उनके शुभकर्म के बदले राज्य और धन आदि देते थे तथा अशुभ कर्म का योग उपस्थित होने पर राज्य आदि को छीन लेते थे। परन्तु राज्योत्पत्ति का यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका।

❑ सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार समाज के सभी लोग एकत्रित होकर एक सामाजिक समय (चरित्र-संहिता) का निर्माण किया। फिर एक ऐसा नेता का चुनाव किया, जो समय के अनुसार समाज-संचालन के लिए अनुबद्ध हुआ। इस तरह राज्य की उत्पत्ति हुई।[१६] इस सिद्धान्त का साक्ष्य महाभारत के शांतिपर्व में प्राप्त होता है।[१७] राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक सिद्धान्त का धुंधला सा आभास सबसे पहले दो ब्राह्मणों में मिलता है। इनमें असुंरों पर विजय प्राप्त करने के लिए देवताओं के बीच राजा के चुनाव का जिक्र है।[१८] प्रत्येक राजा किसी न किसी समझौते का परिणाम ही होता है। बिना समझौता किए हुए कोई भी संस्था अस्तित्व में नहीं आ सकती। जान स्पेलमेन के कथनानुसार सामाजिक समझौते का विचार सरल रूप में राजपद के जन्म से सम्बन्धित विचारधारा है।[१९] पश्चिमी विचारकों द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

---

१४. Dr. D.R. Bhandarkar- Some Aspects of Hindu Polity, p. 136
१५. महाभारत, शान्तिपर्व, २७१/१६
१६. डॉ. राजबली पाण्डेय- प्राचीन भारत, पृष्ठ ८३
१७. Altekar- State and Government in Ancient India, p.27
१८. ऐतरेय ब्रा., १/१४/२३, तै. ब्रा., १/५/८
१९. John W. Spellman- Political Theory of Ancient India., p.19

तीन पहलुओं से युक्त है। प्रथम पहलू में प्राकृतिक अवस्था का वर्णन आता है, जो राज्य से पूर्व स्थित थी। इस अवस्था में व्यक्ति की जीवन शैली एवं उसकी सामाजिक व्यवस्था का वर्णन आता है। दूसरे पहलू में सामाजिक समझौता आता है जो राज्य की उत्पत्ति के लिए व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किया गया था। तीसरे पहलू में समझौते के बाद की अवस्था का वर्णन है। इन तीनों पहलुओं का क्रमबद्ध रूप से वर्णन करने वाले पाश्चात्य विचारकों में हॉब्स, लॉक तथा रुसो का नाम लिया जा सकता है। यह विचार आर्ष साहित्य का क्रमबद्ध रूप है। वैदिक ऋषियों ने अलग-अलग वातावरण तथा दिशाओं में कार्य किया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में यह कहा गया है कि सभी लोगों को राजा की इच्छा करनी चाहिए। डॉ. के.पी. जायसवाल ने इसे सामाजिक समझौते का प्रतीक माना है। अथर्ववेद में उल्लेख है कि लोगों ने राजा को राजधानी पर शासन करने के लिए चुना। राजा को सज्जनों द्वारा, राज निर्माताओं द्वारा, सुतों एवं गाँव के अध्यक्ष द्वारा, रथ निर्माताओं एवं धातु निर्माताओं द्वारा चुना गया। इन उद्धरणों से भी आभास होता है कि राजपद का आधार लोगों की इच्छा पर निर्भर है, परन्तु इच्छा की अभिव्यक्ति समझौते के ही रूप में की गई थी, यह स्पष्ट नहीं होता।

सामाजिक समझौते को आधार बनाने योग्य उद्धरण ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त होता है। इसमें यह कहा गया है कि राजा को पुरोहित के सामने यह शपथ ग्रहण करनी होती थी कि 'अपनी जन्म की रात से लेकर मृत्यु की रात तक के मध्य काल में मेरा यज्ञ, मेरा दान, मेरा स्थान, मेरे अच्छे कर्म, मेरा जीवन आदि सब कुछ ले लिया जाय, यदि मैं इस राजपद का गलत रूप से प्रयोग करूँ।' पी.वी. कैने का विचार है कि इस शपथ को सामाजिक समझौते का प्रतीक नहीं मान सकते, क्योंकि इसके द्वारा राजा धर्म एवं जनकल्याण के लिए शासन करने का आश्वासन नहीं देता। स्पेलमेन ने इस सम्बन्ध में सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए स्वीकार किया है कि यह उद्धरण यद्यपि प्राचीन काल में समझौते के सिद्धान्त के प्रचलन का सन्तोषजनक प्रमाण नहीं माना जा सकता परन्तु फिर भी इसके आधार पर यह तो माना जा सकता है कि उस समय समझौते की मान्यता अपने बदले हुए रूप में स्थित थी।[२०] राजपद की उत्पत्ति के बारे में शांतिपर्व में दो सिद्धान्त परिकल्पित हैं। इन दोनों में राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक सिद्धान्त के तत्त्व समाविष्ट हैं।[२१] इसकी दूसरी परिकल्पना में सामाजिक और राजनीतिक दोनों

---

२०. John W. Spellman- Political Theory of Ancient India. p.20
२१. श्री रामशरण शर्मा- प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ ८५

प्रकार के अनुबंध सिद्धान्त वर्णित हैं। कहा गया है कि प्राचीन काल में जब अराजकता बढ़ने लगी या उसकी आशंका की गई तब लोगों ने आपस में करार किया। यही वह कारण है जिससे सामाजिक समझौता हुआ।[२२]

❑ राज्य की उत्पत्ति के पैतृक और वर्ण सम्बन्धी सिद्धान्त

महाभारत में शांतिपर्व में राजा के कर्त्तव्यों की इस मान्यता को प्रदर्शित करने वाली कई वार्ताएँ आई हैं। इसमें उल्लेख है 'वह राजाओं में सर्वश्रेष्ठ है जिसके प्रशासन में व्यक्ति अपने पिता के घर की तरह निडर होकर घुमते हैं।'[२३] जब मनु ने राजा के सात गुणों का वर्णन किया तो उसने बताया कि वह माता है, पिता है, नियमों का संचालक है, रक्षा करने वाला है, अग्नि है, वैश्रवा है और यम है। इसी प्रकार के तथ्य से स्पष्ट है कि राजा अपनी प्रजा के प्रति भावपूर्ण होता है वह निश्चय ही लोगों के पिता के समान है। डॉ. भण्डारकर के अनुसार ' जिस प्रकार बच्चे अपने माता-पिता पर पूर्ण रूप से निर्भर होते हैं और जो उनके लिए कुछ भी करने का अधिकार रखते हैं उसी प्रकार जनता भी राजा की दया पर आश्रित रहती है जो उसके लिए अपनी इच्छानुसार कुछ भी करे।'[२४] राज्य के उदय में वर्णों (सामाजिक वर्ग) की भूमिका का महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है। वर्ण व्यवस्था के परिणामों से राज्य का अस्तित्व कायम हुआ।[२५] अपने राज्याभिषेक के समय प्रथम राजा पृथु ने निम्नलिखित शब्दों में लोगों को आश्वस्त किया 'मैं स्वधर्म, वर्णधर्म और आश्रमधर्म की स्थापना करूँगा और राजदण्ड से उन्हें कार्यान्वित करूँगा।' आगे कहा गया है कि चारों वर्ण समान रूप से प्रथम राजा का आदर करते थे। मनु ने राजा द्वारा वर्ण व्यवस्था बनाए रखने पर विशेष जोर दिया है। उनके मतानुसार राज्य तंत्री तक उन्नति कर सकता है जब तक वर्णों की सुव्यवस्था बनी रहती है, अन्यथा यह समस्त निवासियों के साथ विनष्ट हो जाता है।[२६] लगभग यही विचार प्लेटो के 'रिपब्लिक' में भी व्यक्त हुए हैं।[२७] वैदिक एवं उत्तर वैदिक कालीन राज्य उत्पत्ति का सिद्धान्त ही आगे चलकर भिन्न

---

२२. श्री रामशरण शर्मा- प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ ८६
२३. महा. शान्तिपर्व, ५७/३३
२४. Dr. D.K. Bhandarkar- Some Aspects of Hindu Polity, p. 167
२५. F.Angels- The Origin of Family, Private Properties and the State, p.244
२६. मनु., १०/६१
२७. Plato- Republic, iii, p. 434

रूपों में पाश्चात्य राज संस्थाओं की उत्पत्ति का कारण बना।[२८] प्राचीन काल में राज्यों की उत्पत्ति हुई और ये छोटे-छोटे भागों में बसे हुए थे।[२९]

राज्य उत्पत्ति का एक सिद्धान्त और भी है। गण शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में ४६ बार, अथर्ववेद में ९ बार तथा ब्राह्मण ग्रंथ में अनेक बार हुआ है।[३०] प्रारम्भ में गण का अर्थ एक ही परिवार के सदस्य समूह से लिया जाता था। वैदिक साहित्य में मरुतों का वर्णन बार-बार गण के रूप में किया गया है। नौ-नौ के समूह में बँटे हुए ये ६३ मरुत[३१] एक ही पिता रुद्र के संतान थे। कालान्तर में जब परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी, तो परिवार के स्थान पर सम्पूर्ण कुल के सदस्यों को गण में सम्मिलित किया जाने लगा और आगे चलकर इसमें कुछ और भी उदारता का समावेश हुआ। तदनुसार महाभारत के आदिपर्व में छः गणों का उल्लेख हुआ; इन्द्र, साध्य, मरुत, वसु, आदित्य और गुह्यक। वैदिक युग के प्रारम्भ में अधिकांश गण या जनपदों में कोई राजा नहीं होता था। गण के सभी व्यक्ति मिलकर स्वयं अपने शासन संचालन करते थे। ऋग्वेद की एक ऋचा के अनुसार सभा में बैठने वाले सभी व्यक्ति राजा होते थे।[३२] आगे चलकर जब जनसंख्या बढ़ी तो राजाविहीन इन राज्यों में अनेक प्रकार की कमियों को महसूस किया जाने लगा। इस प्रकार राजा का पद प्रारम्भ हुआ, जिसे विभिन्न गणों में गणपति कहा गया। 'राजा' शब्द की व्युत्पत्ति भी जनता का रंजन करने वाले के अर्थ में हुई है। इस तरह राज्य की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति के पश्चात् राज्य का विकास व वृद्धि होने लगी। विकास का यह व्यापक स्वरूप ही राष्ट्र के रूप में जाना जाता है।

राज्य का राष्ट्र के रूप में सांस्कृतिक विकास

राज्य का समष्टि रूप राष्ट्र है। आत्मज्ञानी ऋषियों ने जगत् का कल्याण करने की इच्छा से सृष्टि के प्रारम्भ में जो दीक्षा लेकर तप किया, उससे राष्ट्र निर्माण

---

२८. चिन्तामणी विनायक वैद्य- महाभारत मीमांसा, पृष्ठ २९४

२९. वही,

३०. राष्ट्रीय सहारा, दैनिक समाचार पत्र, मेरठ संस्करण, २६ जनवरी १९९९ में योगेशचन्द्र शर्मा का लेख ''वैदिक काल में भी गणतंत्र''

३१. ऋग्वेद, ८/९६/९

३२. वही, १०/९७/६

हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज भी प्रकट हुआ।[33] इस तरह बने 'राष्ट्र' के प्रति श्रद्धा व भावनाएँ समर्पित हुई एवं राष्ट्र की भावना को अभिव्यक्त किया गया। किसी राष्ट्र के लिए प्रथम अपरिहार्य वस्तु एक भूखण्ड है जो यथा सम्भव किन्हीं प्राकृतिक सीमाओं से आबद्ध हो तथा एक राष्ट्र के रहने और बुद्धि एवं समृद्धि के आधार रूप में काम दे। द्वितीय आवश्यकता है उस विशिष्ट भू-प्रदेश में रहने वाला समाज, जो उसके प्रति मातृभूमि के रूप में प्रेम एवं पूज्य भाव विकसित करता है तथा अपना पोषण, सुरक्षा और समृद्धि के स्थान के रूप में उसे ग्रहण करता है। वह राज्य उस राष्ट्रभूमि के पुत्र के रूप में स्वयं को अनुभव करे। वह समाज केवल मनुष्यों का एक समुच्चय ही नहीं होना चाहिए। विजातीय व्यक्तियों का किसी स्थान पर एकत्रीकरण मात्र नहीं चाहिए। उसके जीवन की एक विशिष्ट पद्धति बनी होनी चाहिए, जिसको जीवन के आदर्श, संस्कृति, अनुभूतियों, भावनाओं, विश्वासों एवं परम्पराओं के सम्मिलन के द्वारा एक स्वरूप दिया गया हो। इस प्रकार जब राज्य समान परम्पराओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं से युक्त अतीत जीवन की सुख-दुख की समान स्मृतियाँ और शत्रु-मित्र की समान अनुभूतियों वाला तथा जिनके सभी हित संग्रहित होकर एकरूप हो गए हैं, इस सुव्यवस्थित रूप में संगठित हो जाता है, तब इस प्रकार के लोग उस विशिष्ट प्रदेश में पुत्र के रूप में निवास करते हुए एक राष्ट्र कहे जाते हैं।[34]

❑ राष्ट्र की अवधारणा

राष्ट्र सदैव एक सांस्कृतिक शब्द रहा है। वैदिक काल में राष्ट्र सदैव से एक सांस्कृतिक इकाई है।[35] राष्ट्र उपास्य है, इष्ट है। पश्चिमी देशों में राज्य को राज्य 'नेशन या स्टेट' के रूप में लिया जाता है। वहाँ राष्ट्र एवं राज्य समानार्थी माने जाते हैं। उसका अस्तित्व राज्य सत्ता पर निर्भर करता है। उसे तकनीकि-आर्थिक (टैक्नो इकॉनामिकल) इकाई भी माना जाने लगा हैं। यही कारण है वहाँ सभी ओर स्वार्थपूर्ण स्पर्धा, संघर्ष का वातावरण ही पनपता रहता है। परन्तु वैदिक ऋषियों ने संसार की प्रकृति प्रदत्त विविधताओं को बहुत सहज भाव से स्वीकार

---

३३. भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः तपो दीक्षां उपसेदुः अग्रे।
ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातम् तदस्मै देवा उपसं नमन्तु।
– अथर्व., १९/४१/९

३४. भानुप्रताप शुक्ल, सम्पादक, राष्ट्र, पृष्ठ १६४

३५. आचार्य श्रीराम शर्मा– राष्ट्र एवं दिग्विजय, राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक शब्द है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ११, पृष्ठ ३५

किया। मनुष्य के अंत:करण में स्थित परिष्कृत चेतना को लक्ष्य करके सांस्कृतिक एकता के भाव भरे सूत्रों को विकसित एवं प्रतिष्ठित करने में सफलता पायी। मानवीय चेतना विज्ञान के मर्मज्ञ ऋषियों ने अनुभव किया कि केवल भौतिक आधारों पर बनाये गये सम्बन्ध टिकाऊ- चिरंजीवी नहीं हो सकते। भौतिक आधारों को प्रधानता देकर चलने से स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, शोषण आदि का समावेश देर सबेर हो जाता है। इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय अवधारणा को कालजयी बनाने के लिए सांस्कृतिक आधारों को ही प्राथमिकता दी। सांस्कृतिक सूत्रों को उन्होंने जन-जन के भावनात्मक स्तर तक गहराई से बिठाने में सफलता पायी। राष्ट्र का शाब्दिक अर्थ है रातियों का संगम स्थल। 'राति' शब्द देने का पर्यायवाची है। राष्ट्रभूमि और राष्ट्रजनों की यह संयुक्त इकाई राष्ट्र इसीलिए कही जाती है कि यहाँ राष्ट्रजन अपनी-अपनी देन (समर्पण-त्याग-आहुति) राष्ट्रभूमि के चरणों में अर्पित करते हैं।[३६] इसलिए ही राष्ट्र के लिए सर्वस्व त्याग एवं पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना इससे उद्‌भूत होती है, राष्टजन के प्रति प्रेम, सेवा और त्याग का भाव जो व्यक्ति में मनुष्यनिष्ठा का रूप ग्रहण कर राष्ट्रीय सीमाओं को भी लांघने के लिए उत्सुक रहता है।[३७] इसी निष्ठा को लेकर दिनदयाल उपाध्याय ने अभिव्यक्ति दी है 'जब एक मानव समुदाय के समक्ष एक लक्ष्य, उद्देश्य विचार एवं आदर्श रहता है और समुदाय किसी भूमि विशेष को मातृभाव से देखता है तो वह राष्ट्र कहलाता है।' सम्पूर्णानन्द ने कहा है 'जब यह कहा जाता है कि राष्ट्र को किसी निश्चित जीवन दर्शन अंगीकार कर लेना चाहिए तो उसका अभिप्राय यही होता है कि राष्ट्र के सामने कोई निश्चित लक्ष्य एवं आदर्श होना चाहिए। जिसकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करे।'[३८] इन्हीं कारणों से हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं 'जो राष्ट्र जीवन-रस से भरा है, वह प्रभावों से डरता-फिरता नहीं। वह खुली आँखों से जगत् के समस्त पदार्थों, धर्मों, मतों को, काव्यों को, चित्रों को देखता है ओर उसके जीवन की पूर्ति के लिए ऐश्वर्य आलोकित हो उठता है, उसे दूसरों को देता रहता है।'[३९] राष्ट्रनिर्माण के प्रथम मंत्रद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द ने उद्घोष कर कहा है कि 'राष्ट्र क्या है?, व्यष्टि की समष्टि के सिवाय और कुछ

---

३६. आचार्य श्रीराम शर्मा- सबसे प्यारा, सबसे न्यारा भारत वर्ष हमारा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक ५, पृष्ठ १५

३७. फतेह सिंह- साहित्य और राष्ट्रीय स्व, पृष्ठ २८

३८. सम्पूर्णानन्द- अधूरी क्रांति, पृष्ठ २९

३९. हजारी प्रसाद द्विवेदी- विचार प्रवाह, पृष्ठ १७२

नहीं। इसलिए प्रत्येक राष्ट का एक अपना जीवन व्रत है, जो विभिन्न जाति-समूह की सुश्रृंखल अवस्थिति के लिए विशेष आवश्यक है और जब तक वह राष्ट्र उस आदर्श को पकड़े रहेगा, तब तक किसी तरह भी उसका विनाश नहीं हो सकता।'[४०] हर एक राष्ट्र का विश्व के लिए एक ध्येय होता है और जब तक वह ध्येय आक्रान्त नहीं होता, तब वह राष्ट्र जीवित रहता है, चाहे जो संकट क्यों न आये।[४१] प्रत्येक राष्ट्र को किसी विशेष संकल्प की पूर्ति करना है।[४२]

सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक राष्ट्रीयता के उद्घोषक श्री अरविन्द ने कहा है 'राष्ट्र हमारी जन्मभूमि है। यह जमीन का टुकड़ा मात्र नहीं, न ही एक शाब्दिक नाम है, न मन की कपोल कल्पना है। यह एक विराट् शक्ति है, जो लाखों-लाख लोगों की शक्तियों का, जिससे राष्ट्र बनता है, समुच्चय है, वे आगे कहते हैं, प्रत्येक राष्ट्र मानव जाति के अन्दर विकसित होते हुए आत्मा की ही एक विशिष्ट शक्ति है। जिस शक्ति तत्त्व का मूर्त रूप है, उसी के सहारे वह जीवित रहता है।'[४३] राष्ट्र एक ऐसी अप्रतिहत मनोवैज्ञानिक इकाई है, जिसे प्रकृति संसार भर में अत्यन्त विविध रूपों में विकसित करने तथा भौतिक और राजनीतिक एकता के लिए शिक्षित करने में संलग्न रही है।[४४] श्री अरविन्द कहते हैं राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है। इसलिए राजनैतिक एकता चाहे मिट जाए तब भी राष्ट्र बना रहता है, कठोर प्रयत्न करता है, कष्ट उठाता है, परन्तु नष्ट होना स्वीकार नहीं करता।[४५] इसी वजह से वे कहते हैं पहले राष्ट्र की रक्षा करना चाहिए, तभी राजनैतिक चेतना का विकास सम्भव है।[४६] श्री अरविन्द आश्रम की श्री मां के शब्दों में 'जैसे महिषासुर मर्दिनी भवानी सहस्त्रों देवताओं की सम्मिलित शक्ति से उद्भुत है, राष्ट्र उसी से अभिपूरित है।' इसलिए राष्ट्र एक भूखण्ड नहीं है, एक चेतन सत्ता है, स्वर्गादपि गरीयसी है। वह तप शक्ति एवं सद्भावनाओं को अपने अंदर धारण करने में, उन्हें बीजों की तरह फलित, विकसित करने में समर्थ है। इसलिए यजुर्वेद में कहा गया है 'तुम ओजस्वी और राष्ट्रदाता हो, मुझे राष्ट्र दो।

---

४०. विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड, पृष्ठ १३५
४१. विवेकानन्द साहित्य, दशम खण्ड, पृष्ठ ५
४२. स्वामी विवेकानन्द- उत्तिष्ठ जाग्रत्, पृष्ठ १९
४३. श्री अरविन्द- भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ६
४४. श्री अरविन्द- मानव एकता का आदर्श, पृष्ठ ३२
४५. वही,
४६. श्री अरविन्द- बंगला रचनाएँ, पृष्ठ १५४

तुम जनता के पालक और राष्ट्रदाता हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम राष्ट्रदाता हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम संसार के पालक और राष्ट्रदाता हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम बलिष्ठ सेना वाले और राष्ट्रदाता हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम अत्यन्त बलवान और राष्ट्रदाता हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम सूर्यवत् तेजस्वी और राष्ट्रदाता हो, मुझे राष्ट्र दो। तुम स्वयं तेजोमय और राष्ट्रदाता हो, इसको राष्ट्र दो।'[४७] राष्ट्र की इस गौरवान्वित अवधारणाओं से युक्त वैदिक ऋषियों ने राष्ट्रीय गीत की रचना की।

❑ वेद का राष्ट्रीय गीत

वैदिक ऋषियों ने सजीव एवं जीवन्त राष्ट्र की महिमा एवं गरिमा का गान किया है। राष्ट्र को सात महाशक्तियों ने धारण किया है। ये सात महाशक्तियाँ हैं वृहत सत्य, वृहत ऋत, क्षत्र शक्ति, दीक्षा, तप, ब्रह्मशक्ति और यज्ञ। इन सात महाशक्तियों के आधार पर ही कोई राष्ट्र खड़ा हो सकता है, स्थिर रह सकता है, आगे बढ़ सकता है और सब प्रकार की उन्नति कर सकता है।[४८] हमारी मातृभूमि के लोगों में ये सातों महाशक्तियाँ पूर्णमात्रा में विद्यमान हैं। इसलिए इस राष्ट्र का धारण- उसकी सत्ता आदर्श कोटि का है। वह दृढ़ है, अजेय है, आगे बढ़ रहा है और सब दिशाओं में भरपूर और निरन्तर उन्नति कर रहा है। हे मातृभूमि! तू हमारे भूतकाल की रक्षिका भी है और भविष्य की संरक्षिका भी। इसी कारण इसका अतीत अत्यन्त सुनहरा एवं गौरवशाली रहा है। यहाँ की संस्कृति एवं परम्परा दिव्य एवं विवेकपूर्ण रही है। अतः हमारे राष्ट्र का भविष्य भी बड़ा उज्जवल रहेगा। इन सातों महाशक्तियों से धारित हे मातृभूमि! तू हमें विस्तृत प्रकाश प्रदान कर, जीवन को ज्योतिर्मय कर। मां हमें प्रगति, उन्नति एवं विकास पथ पर अग्रसर कर। ये सात महाशक्तियाँ जो राष्ट्र का निर्माण करती हैं, इस प्रकार हैं-

---

४७. ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त। यजु., १०/३
जनमृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त। यजु., १०/४
राष्ट्रदा राष्ट्रं में देहि। यजु., १०/२
विश्वमृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त। यजु., १०/४
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं में देहि। यजु., १०/२
शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त। यजु., १०/४
सूर्यत्वच स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त। यजु., १०/४
सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त। यजु., १०/४
स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्यै दत्त। यजु., १०/४

४८. सत्यं वृहदतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पान्युरं लोके पृथिवी न कृणोतु। - अथर्व., १२/१

(क) सत्यम- राष्ट्र के अधिवासियों को सत्यप्रिय सदाचरण युक्त एवं सत्यनिष्ठ होना चाहिए। उन्हें सत्यान्वेषी व सत्यव्रती होना चाहिए। इसके लिए शान्त, गम्भीर, अध्यवसायी, सहानुभूति, सहिष्णुता, धैर्य एवं साहसी होना आवश्यक है। इसके पश्चात् सत्य का स्वरूप मन, वचन, कर्म और चिन्तन व्यवहार में दृष्टिगोचर होना चाहिए। मंत्र में सत्य के साथ वृहत् का विशेषण सत्य की महत्ता व विशेषता को प्रदर्शित करता है। ऐसे वीर व्रती नागरिक राष्ट्र को ऊँचा उठाते हैं।

(ख) ऋतम्[४९] - ऋत का अर्थ होता है सत्य ज्ञान। ऋत ज्ञान की सत्यता को द्योतित करता है। जगत् में चल रहे सत्य नियमों के सही बोध पर ही ज्ञान की सत्यता अवलम्बित होती है। फलतः ऋत विश्व में चल रहे सत्य नियमों का उनके सत्यज्ञान का और तद्नुसार सत्य-आचरण का द्योतक हो जाता है। राष्ट्र के लोगों में ऋत होना चाहिए। उन्हें भौतिक एवं आत्मिक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए। उन्हें इस ज्ञान के अनुसार आचरण व व्यवहार में उतारने में भी पूर्ण तत्पर, सजग व सक्रिय रहना चाहिए।

(ग) उग्रम[५०] - उग्र शब्द का उद्गपूर्ण शक्ति और तेज वाले क्षत्रिय का वाचक है। यहाँ यह पद् नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ है और क्षत्रिय के तेज और शक्ति को द्योतित करता है। राष्ट्र के लोगों में उग्रता रहनी चाहिए। उनमें तेज और

---

४९. ऋतम्- सत्यम् (दयानन्दः ऋग. १/४१/४ भाष्ये)। सत्यं विज्ञानम्। सत्यं कारणम् (दयानन्दः ऋग. १/७१/३ भाष्ये, ऋग १/१०५/५ भाष्ये च)। सत्यनाम। निघं. ३/१०/१ सत्यं वा ऋतम्। श. ७/३/१/२३। ऋ गतो धातोः ऋतमिति पदं निष्पद्यते। A Fixed or settled rule, law. Divine law, divine truth. (आप्टेकोश)

५०. उग्रम-उच्यति क्रुधा समवैति उग्रो रौद्रस्वभावः क्षत्रियः। उच समवाये धातोः औणादिकः (उणा. २/२८) रन प्रत्ययः। उग्रं क्षत्रियस्य रौद्रं तेजः। उग्रता गुणः। संस्कृत साहित्ये रुद्रपदवाच्यमहादेवस्य नामसूग्र इत्येकं सुप्रसिद्धं नाम। वैदेपि बहुत्र रुद्रो देव उग्रनाम्ना विशेष्यते (यथा ऋग. २/३३/९ मंत्रे, अथर्व. १८/१/४० मंत्रे, ऋग. २/३३/११ मंत्रे च)। रुद्रश्च वैदिकदेवेष्वप्यन्यतमः। सर्वेपि देवा वेदे क्षत्रिया इति वर्ण्यन्ते। (यथा ऋग. ८/२५/८, ८/६७/१, १०/६६/८)। दुष्टानां दमयिता। ऋग. ३/४७/५ मंत्र भाष्ये दयानन्दः। प्रचण्ड पराक्रमः। यजु. ७/६६ मंत्रभाष्ये दयानन्दः। अत उग्र शब्दे क्षत्रियामिधायकत्वम्। इह तु नुपुंसकममुग्रमिति पदंक्षत्रियस्य रौद्रं तेजो द्योतयति। सामान्ये नपुंसकम।
Powerfull, mighty strong, violent, intense, Shiva or Rudra, Descendant of a Kshatriya father and Sudra mother. (आप्टेकोश)

बल रहना चाहिए। प्रजाओं में भी उग्रता होनी चाहिए और शूरवीरों की संख्या भी राष्ट्र में बढ़ी-चढ़ी होनी चाहिए।

(घ) दीक्षा- किसी कार्य को दृढ़ संकल्पपूर्वक सम्पन्न करना दीक्षा कहलाता है। राष्ट्र में इस तत्त्व को विद्यमान होना आवश्यक है। जिस दृढ़ निश्चय, अटल विश्वास, प्रगाढ़ निष्ठा, श्रद्धा और पवित्र भाव से यजमान यज्ञ में दीक्षित होता है उसी भावना से राष्ट्र के लोगों को अपने समस्त कर्म सम्पादित करना चाहिए।

(ङ) तप- औरों के लिए असह्य कष्ट वरण तप कहलाता है। तप की भट्टी से राष्ट्र तपकर प्रखर व समृद्ध बनता है। तपस्वी का जीवन सरल, सहज व सामान्य होता है। परन्तु विचार उतना ही उच्च व प्रखर होता है। वैदिक राष्ट्र की महत्ता व विशेषता इस बात पर थी कि वह राष्ट्र अपने निवासियों के साथ सतत् तपस्या निमग्न रहता था। इसलिए यह राष्ट्र चक्रवर्ती एवं जगद्गुरु कहला सका।

(च) ब्रह्म[५१] - ब्रह्म ब्राह्मण को कहते हैं। ब्रह्म वेद को भी कहते हैं और ज्ञान विज्ञान को भी कहते हैं। ब्राह्मण को भी ब्रह्म कहते हैं। राष्ट्र में ब्रह्म रहना चाहिए। इसका तात्पर्य है राष्ट्र में त्यागी, तपस्वी, संयमी, परोपकारी, प्रिय एवं ज्ञानी तथा आत्मजयी लोगों में वृद्धि होना। इन विभूतियों से अलंकृत राष्ट्र समर्थ एवं सर्वजयी होता है।

(छ) यज्ञ- जिस राष्ट्र में यज्ञ की आहुति एवं वेदवाणी से सारा वातावरण गुंजीत एवं प्रतिध्वनित होता है। वह राष्ट्र एवं उसके निवासी सुखी, सबल तथा ओजस्, तेजस, वर्चस से परिपूर्ण होते हैं। उस राष्ट्र में सद्कर्म एवं सद्भावना की तरंगें तरंगित होती रहती हैं।

वैदिक ऋषि अपनी मातृभूमि का महिमागान करते हुए कहते हैं हमारे राष्ट्र के लोगों में ये सातों गुण व शक्तियों को भर दे। हमारा राष्ट्र सुखी, समृद्ध एवं सम्पन्न बनें।

---

५१. ब्रह्म- ब्रह्म वै ब्राह्मणः। श. १३/१/५/३ ॥ वेदो ब्रह्म। जै.उ. ४/२५/३ ॥ स (प्रजापतिः) श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथम सृजत त्रयीमेव विधाम्। श. ६/१/८ ॥ वाग्वे. ब्रह्म। ऐ. ६/३ ॥ श. २/१/४/१० ॥ एतेन सर्व वाङ्मयम् सर्वाणि विद्याविज्ञानानि ब्रह्मपदेन गृहयन्ते। शतपथ ब्राह्मणे विविध शास्त्राणां स्वाध्यायोपि ब्रह्मज्ञपदेन निगद्यते। स्वाध्यायो वै ब्रह्म यज्ञः। श. ११/५/६/२ ॥ ब्रह्म विद्याधनम्। (दयानन्दः यजु. १४/२ भाष्ये)।

❑ मनु के पुत्र

हे हमारी मातृभूमि! तुझमें निवास करने वाले राष्ट्र निवासी मनु की सन्तान श्रेष्ठ मानव हैं।[५२] उनके पूर्वज परम्परा से मनु[५३] होते आये हैं। मननशील, विचारवान तथा विवेक-बुद्धि के धनी होते आये हैं। राष्ट्र में ऐसे लोगों की संख्या बहुतायत में है। हे मातृभूमि! तेरे ये सपूत उन्नति-प्रगति के पथ पर आरुढ़ हैं। पर्वत श्रृंग पर खड़ी कई श्रेणियों में खड़े देवताओं की वनमाला के समान राष्ट्रवासी अग्रसर हो रहे हैं। सबकी कामना, आकांक्षा एवं इच्छा उस परमात्मा की प्राप्ति है। सभी उन्नति के उस सर्वोच्च शिखर पर चढ़ जाना चाहते हैं। हे मातृभूमि! तेरी अमृतभरी वक्षस्थल पर अनेक प्रकार की औषधियाँ उगती रहती हैं, अनेक तरह के अन्न उपजते हैं। इन्हीं अन्नों, औषधियों की फसल उगाकर ये इनका सेवन करते हैं, अत: हे मातृभूमि! तू उर्वर बन, तू इन फसलों की अधिवासी-भूमि हे मातृभूमि! तू हमारे लिए विस्तीर्ण वन, हमें प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए सामर्थ्यवान बना दे तथा प्रगति का सुअवसर प्रदान कर दे। तू ऐश्वर्य, वैभव व समृद्धि से भरी रहे। मातृभूमि के सपूतों के इन उद्‌गारों से पता चलता है कि मानव को विचारवान, कर्मठ, निष्ठावान, श्रमशील एवं लक्ष्य के प्रति सदा बढ़ते रहना चाहिए। इसी में राष्ट्र-कल्याण सन्निहित है।

❑ सोना उगाने वाले राष्ट्र निवासी

जिसमें समुद्र और नदियाँ तथा अन्य विविध प्रकार के जल हैं, जहाँ अन्न उपजता है और अनेक प्रकार की खेती होती है और सभी मनुष्य आपस में मिलकर रहते हैं। जिसमें प्राण लेता हुआ तथा प्रयास-पुरुषार्थ करता हुआ यह सब प्राणी जगत् गतिवान है अथवा अपने आप को तृप्त कर रहा है, वह मातृभूमि हमको पूर्वज पुरुषों द्वारा प्राप्त किये गये उत्तम पद पर अथवा प्रथम पान करने योग्य दुग्धादि पवित्र पदार्थों में धारण करें अर्थात् इनको प्रदान करें।[५४] हमारी मातृभूमि में नदियाँ, तालाब, झीलें आदि पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। इससे यह भूमि सदा हरी-भरी रहती है। यहाँ अनेक तरह की फसलें होती हैं। जिनसे यह राष्ट्र व्यापारिक

---

५२. असंबाधं बध्यतो मानवानं यस्या उद्वत: प्रवत: समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या विमर्ति पृथिवी न: प्रथतां राध्यतां न:॥ - अथर्व., १२/२

५३. मनु: मनुर्मननात्। निरु. १२/३३॥ मननशील:। अमनुत इति मनु:। श. ६/६/१/१९॥
ये विद्वांसस्ते मनव:। श.८/६/३/१८॥ मनोरपत्यम् मानव:।

५४. यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टय: सम्बभुवु:।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत सा नो भूमि पूर्वपेये दधातु॥ - अथर्व., १२/३

दृष्टिकोण से समृद्ध रहता है। राष्ट्र के लोग प्राणवान, बलवान, स्वस्थ और शक्ति सम्पन्न हैं। उनके सदा क्रियाशील, जागरूक एवं उद्यमी होने के कारण यह राष्ट्र सतत् प्रगतिशील है। इस प्रकार समुद्र की लहरें जिसके चरणों को चूमती रहती हैं, नदियाँ जिसके कण्ठ में रजत हार पहनाती रहती हैं और सामर्थ्यशाली व क्रियाशील नर-नारी जहाँ निवास करते हैं, ऐसी महिमाशालिनी है मातृभूमि! तू हमें सभी प्रकार के उत्तम पद और पेय पदार्थ प्रदान कर और अनेक तरह की मंगल धारा प्रवाहित कर दे। 'कृष्टयः' का तात्पर्य है सभी का मिलकर कृषि कर्म करना, जो राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। राष्ट्र निवासियों के लिए प्रयुक्त हुए 'प्राणत्' और 'एजत्' विशेषणों की ध्वनि यह है कि वह राष्ट्र उन्नति कर सकता है, सुखी व समृद्ध रह सकता है जहाँ के निवासी बलवान, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न, क्रियाशील व परिश्रमी होते हैं। इसके साथ पशु पक्षियों के भी मंगलकामना की गई है।

❑ उन्नतिशील मातृभूमि

हे मातृभूमि! तेरी चारों दिशायें बड़ी विस्तीर्ण हैं। तेरा भौतिक विस्तार अत्यन्त विशाल है। यहाँ उन्नति के मार्ग में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। प्रत्येक राष्ट्रवादी को अपनी उन्नति-प्रगति करने की भरपूर सुविधायें प्राप्त हैं। हे मां! तेरे निवासी हम सब नर-नारी परस्पर मिलकर रहते हैं, सहयोग करते हुए उन्नति करते हैं। अतः यहाँ विभिन्न प्रकार के यथेष्ट अन्न उत्पन्न होते हैं तथा पशुओं के लिए पर्याप्त मात्रा में भोजन उपलब्ध है। मातृभूमि की महिमा के इस गान द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन्नति के मार्ग और साधन खुले रहने चाहिए। राष्ट्र के लोगों को परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिए और सबको मिलकर कृषि आदि की उन्नति करनी चाहिए। सबको बलवान्, स्वस्थ और क्रियाशील रहना चाहिए। तभी राष्ट्र समुन्नत हो सकेगा और अपने निवासियों को अनेक प्रकार के भरण पोषण दे सकेगा। राष्ट्र निवासियों के घर-घर में गौवें रहनी चाहिए और इस प्रकार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को गौ का दूध, दही, मक्खन और घी खुली मात्रा में पीने और खाने को मिलना चाहिए। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को खाने के लिए यथेष्ट अन्न और गौ आदि पशुओं को खाने के लिए भरपूर चारा मिलना चाहिए।[५५]

---

५५. यस्याश्चतस्त्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संवभुवुः।
या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत सा नो भूमिर्गोध्वप्यन्ने दधातु। - अथर्व., १२/४

❑ असुर विजयी देवपुरुष

राष्ट्रों की सदा ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिए कि उनमें देवपुरुषों की परम्परा चलती रहे। उसके निवासी सदा महान् कार्य करने वाले होते रहें। उनमें देवपुरुषों द्वारा, अच्छे लोगों द्वारा, सदा असुर पुरुषों का, बुरे लोगों का पराभव होते रहना चाहिए। राष्ट्र के दुष्ट पुरुष सदा दमन किये जाते रहने चाहिए। राष्ट्र तभी उन्नति एवं विकास कर सकेगा। राष्ट्र में सब प्राणियों के सुख और आनन्द की व्यवस्था रहनी चाहिए। ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को 'भग' शब्द से सूचित होने वाले छहों प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त हो सके। ये छह ऐश्वर्य हैं, धन, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान और वैराग्य।[५६]

❑ वैश्वानर अग्नि वाली मातृभूमि[५७]

हे मातृभूमि! तेरी महिमा निराली है। तू विश्वंभरा है। तू सबका भरण और पोषण करती है। तू हिरण्यवक्षा है अर्थात् तेरी छाती में, खानों में बहुमूल्य पदार्थ भरे हुए हैं। हे मातृभूमि! तू अपने भीतर वैश्वानर[५८] अग्नि को धारण करती है। इसी हितकारी अग्नि की गर्मी के कारण सभी जीव-जन्तु प्राण धारण करते हैं। संकल्प को भी अग्नि[५९] कहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक विशेष संकल्प होता है। राष्ट्र का अपना यह संकल्प ही उसकी अपनी विशेष प्रकार की संस्कृति का निर्माण करता है। यह संस्कृति ही राष्ट्र को जीवन्त एवं जाग्रत् रखती है यह राष्ट्रीय संकल्प ही वैश्वानर अग्नि है। ब्राह्मण को भी अग्नि कहते हैं।[६०] ब्राह्मण तपस्वी, त्यागी, सत्य, न्याय, अहिंसा, दया और परोपकार की सजीव मूरत होता है। ऐसे तत्त्वदर्शी ब्राह्मण निस्वार्थ परायणता से राष्ट्र की रक्षा करते हैं। हे मातृभूमि! तू इस

---

५६. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभयवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसस्य विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ - अथर्व., १२/५

५७. विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगते निवेशनी।
वैश्वानं विभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥ - अथर्व., १२/६

५८. विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानी। निरु. २१/२३॥ विश्वान् सर्वाणि भूतानि अरः गतः प्राप्तः विश्वानरः सर्वहितकारी। विश्वानर एव वैश्वानरः। यद्वा विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः वैश्वानरः। हितार्थे ताद्धितः अण् प्रत्ययः। विश्वेषां नराणां हितकारकः। (दयानन्दः ऋग., ६/७/७ भाष्ये)।

५९. आकृतिरग्निः। यजु., ११/६६। आकूतिः संकल्पः

६०. ब्रह्म वा अग्निः। शतपथः २/५/४/८॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः। श., १३/१/५/३

दृष्टि से भी वैश्वानर अग्नि है। परमात्मा को भी अग्नि[६१] कहते हैं। वह तो विश्व ब्रह्माण्ड का निर्माता और रक्षक होने के कारण सबका हितकारी, वैश्वानर है। इसके कारण राष्ट्रवासी ईश्वर विश्वासी होते हैं। ईश्वर परायण व्यक्ति राष्ट्रीय जीवन को पवित्र तथा पावन बनाता है। हे मातृभूमि! तू इन्द्रऋषभा है। इन्द्र तेरा ऋषभ[६२] अर्थात् अधिपति है। इन्द्र[६३] का अर्थ सूर्य भी होता है। तू सूर्य के चारों ओर निरन्तर प्रदक्षिणा करती रहती है। जिससे तेरी छहों ऋतुएँ बनती हैं। इन्द्र[६४] सम्राट को भी कहते हैं। इन्द्र राष्ट्र का हित चिन्तन और रक्षण करता है। उत्तम सम्राट और कुशल राज्य प्रबन्ध द्वारा शासित और पालित-पोषित होने के कारण हे मातृभूमि! तू इन्द्र ऋषभा है। ऐसे गुणों वाली हे मां! तू हम राष्ट्रवासियों को द्रविण (धन) प्रदान करती रह। इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने आदर्श राज्य का चित्र खिंच दिया है और यह उपदेश दिया है कि हमें अपने राष्ट्र की भूमि के पृष्ठ और गर्भ से प्राप्त होने वाले सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहिए। फिर उस ऐश्वर्य का विभाजन इस प्रकार करना चाहिए कि सबको यथोचित भरण-पोषण मिल सके। और हमारी मातृभूमि विश्वम्भरा कही जा सके। राष्ट्र की आदर्श उन्नति के लिए राष्ट्र के लोगों को वैश्वानर अग्नि का उपासक होना चाहिए और इन्द्र तत्त्व को अधिपति बनाना चाहिए।

❑ जागरूक राष्ट्रवासी

मातृभूमि से प्रार्थना है कि उनका राष्ट्र उन्हें भाँति-भाँति के मधु प्रदान करें, सुख-शुभ-मंगल और समृद्धि दे तथा उनके जीवन को तेजस्वी व प्रतापी बनाता रहे। उन्हें चाहिए कि वे अपने आपको देवतुल्य बनायें, विविध व्यवहार कुशल और ज्ञान विज्ञान की विधाओं से युक्त करे। अपने इस व्यवहार कौशल और विद्याबल से जागरूक और प्रमाद रहित होकर अपने राष्ट्र की रक्षा में तत्पर रहें।[६५]

---

६१. अग्निरेव ब्रह्म। शत. १०/४/१/५॥ ब्रह्म ह्यग्निः। श., १/५/१/११॥ आत्मा वा अग्निः। श., ७/३/१/२॥ ब्रह्म वै प्रजापतिः॥ श., १३/६/२/८॥

६२. एतद्वा इन्द्रस्य रूपं यद्वृषभः। श., २/५/३/१८॥ इन्द्रपदश्च प्रजानामधिपतेः सम्राजोऽपि वाचकम्।

६३. अथ यः स इन्द्रोऽसौ च अदित्यः। श., ८/५/३/२

६४. इन्द्रश्च सम्राट। यजु. ८/३७। इन्द्रः क्षत्रम्। श. १०/४/१/५। इन्द्रो देवानामधिपतिः। तै., २/२/१०/३। सेनायाः पतिरिन्द्रः सम्राऽव। इन्द्रः समर्थो राजा, परमैश्वर्ययुक्तः सम्राट्। (दयानन्दः ऋग., ७/३२/१२, १/१६७/१)

६५. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामयो उक्षतु वर्चसा॥ — अथर्व., १२/७

❑ अमर संस्कृति राष्ट्र

जो पहले समुद्र में, जल में थी, जिसकी बुद्धिमान लोग अपनी कौशलयुक्त बुद्धियों से सेवा करते हैं, जिससे हमारा विस्तार करने वाली और हमें ख्याति देने वाली मातृभूमि का अमर हृदय परम रक्षक और आकाश की भाँति परम व्यापक परमात्मा में सत्य से ढका हुआ है, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में दीप्त तेज को और बल को धारण करे-प्रदान करे।[६६] अथर्व के इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि कोई राष्ट्र अपने धारावाही सांस्कृतिक जीवन के रूप में ही अमर रह सकता है। इस सांस्कृतिक हृदय या जीवन को अमर बनाने के लिए राष्ट्र की संस्कृति, सत्य एवं ईश्वर विश्वास और उससे प्रवाहित गहरी आध्यामिकता से अनुप्राणित रहनी चाहिए। ऐसी संस्कृति वाला राष्ट्र ही उत्तम राष्ट्र बन सकता है और उसी में सब प्रकार की कठिनाइयों और रुकावटों का प्रतिरोध करने वाला प्रदीप्त तेज और बल उत्पन्न हो सकता है।

❑ तीन रंगों वाली भूमि[६७]

हे मातृभूमि! तेरे ऊपर हिमाच्छादित, शुभ्र धवल, गगनचुम्बी उत्तुंग पर्वत शिखर हैं। तेरी ये पहाड़ियाँ, पर्वत और जंगल सब हमारे लिए सुखदायक हैं। हे मातृभूमि! तेरे अनेक रूप हैं। तू वभ्रु[६८] है, भूरे रंग की है। कृष्णा[६९] है काले रंग की है, और रोहिणी[७०] भी है, लाल रंग की। इन रंगों वाली तेरी मिट्टी में अलग-अलग प्रकार के तत्त्व और गुण हैं। इन रंगों की भूमि कृषि के लिए अनुकूल एवं उपजाऊ है। हे मातृभूमि! तू सबका भरण-पोषण करती है। तू वभ्रु है। तुझपर अनेक प्रकार की कृषि होती है, कृषि योग्य होने की वजह से तू कृष्णा है। तू

---

६६. यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यं मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतमृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विपिं बलं राष्ट्रं दधातूत्तमे॥ – अथर्व., १२/८

६७. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
वभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपं ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।

६८. वभ्रुः पिंगलवर्णा। भूरे रंगवाली। विभर्ति इति वभ्रुः इति योगार्थेन भरण-पोषण कर्त्री इति वा।

६९. कृष्णा कृष्ण वर्णा। कृष्यते विलिरव्यते हलेन कृष्यर्धमिति कृष्णा इति योगार्थेन कृषि योग्या वा।

७०. रोहिणी रोहित वर्णा। वर्णादनुदात्तात्तोपद्यात्तो नः। रोहयतीति रोहिणां इति योगार्थेन रोहणकर्त्री उर्वरा वा।

उपजाऊ है, इस कारण रोहिणी है। इस प्रकार तू विश्वरूपा है। हे मातृभूमि! तु ध्रुवा है, स्थिर है। तुझमें बड़ी स्थिरता है। तू पहाड़ों की तरह अविचल, अडिग है। तेरा राज्य प्रबन्ध और तेरी अन्य सब व्यवस्थाएँ बहुत उत्तम है। तू भूमि है, सबका आश्रय-स्थल है। राष्ट्र के सभी प्राणी तुझ पर ही आधारित हैं। इसी कारण अपने राष्ट्र को शक्तिशाली, अडिग और अपराजेय बना कर रखना चाहिए। सभी को ऐसे उत्तम कर्म करने चाहिए, जिनसे सबको आश्रय, रक्षा, विस्तार और ख्याति प्राप्त हो सके।

❑ राष्ट्रभूमि मेरी माता और मैं उसका पुत्र

राष्ट्र की उन्नति के लिए राष्ट्र के लोगों को अपने राष्ट्र की धरती के ऊपरी स्तर और उसके मध्य तथा नाभि-भाग से अर्थात् उसकी खानों से तरह-तरह की चीजें प्राप्त करनी चाहिए। इसके लिए परस्पर सहयोग, सहकार एवं सद्भावनापूर्ण बर्ताव करना चाहिए, जिससे राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक सुखी हो सके। राष्ट्र के नागरिकों को राष्ट्र के प्रति मातृत्वपूर्ण भाव रखना चाहिए और अपने आप को उसका पुत्र। सभी आपस में भाई-भाई की तरह रहें। राष्ट्र के सम्राट को, राज्य प्रबंध को राष्ट्र के लिए पर्जन्य उत्पन्न करना चाहिए। ऐसा सुन्दर प्रबन्ध करना चाहिए कि राष्ट्र में अनेक प्रकार के चीजों का निर्माण एवं उत्पादन हो, उनकी समृद्धि खूब बढ़े। राष्ट्रवासियों को सच्चे अर्थों में प्रभु भक्त होना चाहिए, जिससे प्रभु की कृपा से राष्ट्र में सदा समय पर बादल बरसा करें और वह सदा हरा-भरा समृद्धशाली रहा करे।[७१]

❑ हमें कोई दास नहीं बना सकेगा

अपने राष्ट्र को सदा इतना शक्तिशाली बनाकर रखना चाहिए कि कोई दूसरा राष्ट्र द्वेष और दुर्भावना से प्रेरित होकर उसे आक्रमण करने का, उसे दास बनाने का और इस प्रकार उसे क्षीण करने का साहस न कर सके। और यदि कभी कोई गर्वित राष्ट्र इस प्रकार दुस्साहस कर ही बैठे तो हमें उसका पूरी शक्ति से मुकाबला एवं प्रतिकार करना चाहिए और उस समय उसे धूल में मिलकर ही चैन लेना चाहिए। हमें अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता की पूर्ण रूप से रक्षा करनी चाहिए।[७२]

---

७१. यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं, यास्त ऊर्जस्तन्वः संवभूवुः।
तासु नो धेहयभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥

७२. यो न द्वेषत्पृथिवी यः पृतन्याद्योऽमिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥

❑ वाणी का मधु

वे सब प्रजायें हमें मिलकर सुख-मंगल रूप दुग्ध से परिपूर्ण करें। हे हमारी मातृभूमि! मेरे लिए वाणी की मधुरता को धारण करो-प्रदान करो।[७३] अर्थात् जो राष्ट्र अपने आपको सब प्रकार के सुख मंगलों से परिपूर्ण रखना चाहता है, उसके सभी प्रकार निवासियों को हर समय एक दूसरे की सहायता-सेवा करने के लिए उद्यत रहना चाहिए, सदा एक दूसरे के काम आना चाहिए और जिससे सब परस्पर की सहायता के लिए आकृष्ट हो सकें, इसके लिए सबको अपना एक दूसरे के प्रति बर्ताव मिठास भरी वाणी बोलनी चाहिए।

❑ महान् राष्ट्र के महान् निवासी

समृद्ध, सुखी, सम्पन्न राष्ट्र के निवासियों को सच्चरित्र, सत्यनिष्ठ एवं अपार साहसी बनना चाहिए। उसी प्रकार के राज्याधिकारी की नियुक्ति भी की जानी चाहिए। प्रजा और राजा दोनों को आलस्य-प्रमाद रहित होकर राष्ट्र की रक्षा का कार्य करना चाहिए। राष्ट्र को प्रचण्ड शक्तिशाली भी बनना चाहिए ताकि उसकी उदारता व सदाशयता को कमजोरी व दुर्बलता न समझ लिया जाय। राज्य प्रबंध ऐसा कुशल व श्रेष्ठ होना चाहिए कि सभी प्रजा-जन सुवर्ण जैसी कांति वाले, कुन्दन जैसे गुणों वाले, महान् और श्रेष्ठ बन सकें।[७४]

❑ अग्नि के वस्त्रों वाली मातृभूमि

अपना कल्याण और सुख-समृद्धि चाहने वाले तथा स्वाधीनता और सम्मान का जीवन बिताना चाहने वाले लोगों को अपने राष्ट्र को सदा तेजस्वी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। तेजोहीन राष्ट्रों के अधिवासी सदा दुःख में निमग्न और अपमानित रहते हैं तथा अपनी स्वाधीनता को भी खो बैठते हैं। राष्ट्र के मान और गौरव को अक्षुण्ण और सुरक्षित रखने के लिए राष्ट्र के जीवन में अग्नि तत्त्व का, तेजस्विता का रहना अत्यन्त आवश्यक है। अग्नि-विरहित, तेजो-विहीन, ठण्डे पड़

---

७३. ता नः प्रजाः सं दुन्हताम समग्राः।
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम। - अथर्व., १२/१६

७४. महत्सधस्थं महती वभूविथ महान्वेग एजधुर्वेपथुष्टे।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूये प्रशेचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन्।
- अथर्व., १२/१८

गये, मुर्दा राष्ट्रों को हर कहीं अपमानित, निरादृत और पददलित होना पड़ता है। इसलिए राष्ट्र को सदैव तेजस्वी और सतेज बने रहने चाहिए।[७५]

❑ मातृभूमि की उत्पत्ति

मातृभूमि का मातृभूमित्व किसी राष्ट्र की स्थूल मिट्टी से सम्बन्ध नहीं रखता। उसका सम्बन्ध मन एवं भावना से रहता है। मातृभूमित्व का भाव भौतिक नहीं है। जब हम अपने मन से किसी भूखण्ड में मातृत्व का आरोप कर लेते हैं, तभी वह हमारे लिए आराध्य मातृभूमि बन जाता है। वेदवाणी है कि हम समस्त धरती को ही अपनी मातृभूमि समझें। मनुष्य को किसी न किसी भूखण्ड को अपनी मातृभूमि बनाकर रहना चाहिए। उस भूमि के सभी निवासियों को परस्पर भाइयों को मिलकर रहना चाहिए। भूमि के प्रति हमारी उत्कृष्ट भावना हमें और मातृभूमि को प्रगति पथ पर अग्रसर करती है।[७६]

❑ राष्ट्र के वृक्ष और वनस्पतियाँ

वृक्षों और वनस्पतियों के कारण हमारी मातृभूमि 'विश्व धाया:' सबको धारण करने वाली, सबकी पालन और रक्षा करने वाली-बनी रहती है। हम अपनी 'विश्व धाया' राष्ट्र के सब नर-नारियों और पशु-पक्षियों का पालन-पोषण तथा रक्षण करने वाली मातृभूमि का अभिवादन करते हैं और उसके गुणों का अभिमान से बखान करते हैं। इसलिए राष्ट्र में वृक्षों, वनस्पतियों और जंगलों की सदा प्रयत्न से रक्षा और वृद्धि की जानी चाहिए। राष्ट्र के वृक्ष और जंगल उसकी अमूल्य सम्पत्ति होते हैं। प्रत्येक राष्ट्रवासी को अपने राष्ट्र के प्रति अभिवादन की भावना रखनी चाहिए।[७७]

---

७५. अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो विभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरस्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेश्वग्नयः॥
अग्निर्दिव आतपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं धृतप्रियम॥
अग्निवासा: पृथिव्यसित ज्ञूस्त्विषीमन्तं सशितं मा कृणोतु। – अथर्व., १२/१९,२०,२१

७६. शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥ – अथर्व, १२/२६

७७. यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वद्यायसं धृतामच्छा वदामसि॥ – अथर्व., १२/२७

वेदों का यह राष्ट्रीयगीत राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि का गौरवगान करता है। यह तभी सम्भव है जब राष्ट्र में राष्ट्रीय एकीकरण की भावना होगी।

❑ राष्ट्रीय एकीकरण

वैदिक संस्कृति प्राचीनकाल से ही राष्ट्र में एकता की दृढ़ स्थापना की प्रबल पक्षधर रही है। राष्ट्रीय एकीकरण एक ऐसी अविच्छिन्न आस्था है, जो राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है। यह वह आधारशिला है जिस पर राष्ट्र की एकता का प्रसाद निर्मित किया जाता है जिससे राष्ट्र एकात्मता के स्वर्णिम सूत्र में आबद्ध रहे। राष्ट्र को एक सूत्र में संगठित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके नागरिकों में भावात्मक एकता हो। भावात्मक एकता ही राष्ट्रीय एकीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। राष्ट्रीय एकीकरण की भावना से सृजक तत्त्व, संयम, समन्वय, सहनशीलता, सदाशयता, भातृत्व आदि की भावना से मनुष्य अनुप्राणित हो। विभिन्नता ही एकता को अभिप्रेरित करती है। अतः डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने ठीक ही कहा है 'विभिन्नता होना इस बात का प्रमाण नहीं कि वह एकता का अभाव है, विभिन्नता तो जीवनी शक्ति है, सम्पन्नता और बलिष्ठता का लक्षण है।'[७८] राष्ट्रीय एकता के स्वस्थ आधार पर अंकुर जमाने के लिए समाज में समानता, सद्भावना, सहयोग एवं सहानुभूतिपूर्ण वातावरण बनाना आवश्यक है। ये तत्त्व राष्ट्र की एकता की भावना को ऊर्जा देकर उसे सुदृढ़ बनाते हैं। वैदिक ऋषि राष्ट्रीय एकीकरण के महत्त्व को उस युग में भी पूर्णरूपेण समझते थे। उनकी धारणा थी कि राष्ट्रीय एकता के भाव देश में सौहार्द्रपूर्ण वातावरण, शान्ति, सुख एवं समृद्धि के लिए नितान्त आवश्यक है। एकता में ही शक्ति है तथा इसी में राष्ट्र का विकास और उत्कर्ष सन्निहित है। इन ऋषियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से यह समझ लिया था कि भविष्य में कतिपय असामाजिक तत्त्वों द्वारा पृथकतावादी एवं विघटनकारी समस्याएँ भी उत्पन्न की जा सकती हैं जो राष्ट्रीय एकता में बाधक सिद्ध हो सकती है। अतः राष्ट्र में एकता स्थापित रहे, इस उदात्त उद्देश्य को दृष्टिकोण में रखकर, उन्होंने राष्ट्रीय एकता के उन्नायक अनेकानेद मंत्र वेदों में पथ-प्रदर्शन के रूप में स्थान-स्थान पर सम्मिलित किए जो इस बात के प्रमाण हैं कि एकत्त्व जीवन का प्राण है।

वैदिक राष्ट्र में समता एवं एकता स्थापित करने के लिए वेदों द्वारा निर्देश दिया गया है। राष्ट्र का निर्माण करने वालों को उचित है कि वे तन, मन एवं

---

७८. डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी- हिन्दु सभ्यता, पृष्ठ ७४

कर्म से राष्ट्र में एकता समता स्थापित करें, जिससे किसी प्रकार भी परस्पर विरोध खड़ा न होने पावे। अत: अथर्व वेद में कहा गया है ' हे विद्वानों! तुम्हें उचित है कि अपने और कर्म से राष्ट्र में एकता एवं समता स्थापित करो अर्थात् सब कर्म मिलकर करो।'[७९] ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि 'हे मनुष्यों! तुम सब परस्पर मिलकर एक चाल चलो, तुम सब एक साथ चलो। तुम सब प्रेमपूर्वक मिलकर समान वचन बोलो अर्थात् एक-सा बोलो। तुम सब एक ज्ञान वाले हो। सब मनुष्यों का विचार एक-सा सोचकर एक-सा हो, अर्थात् तुम्हारे मन एक प्रकार का विचार करें और एक मन हो जाएँ।'[८०] यही है राष्ट्रीय एकीकरण का मूलाधार। इसमें आगे की ऋचाओं में उल्लेख है 'हे मनुष्यों! तुम सब की मंत्रणा अर्थात् विचार एक समान हों। तुम सबका ध्येय एक हो। उसमें परस्पर कोई विरोध न हो। तुम्हारी सभा, समिति एवं सम्मति एक समान हों। सबके साम्य भाव हो। चित्त एक साथ समान उद्देश्य वाला हो अर्थात् मन, चित्त, संकल्प और हृदय एक समान हों। ईश्वर तुम सबको एक समान विचार वाले करते हैं और तुम सबको एक ही समान अन्न अर्थात् भोग सामग्री देते हैं। अतएव तुम सबकी धारणा एक-सी हो।'[८१] यह एकता का उपदेश है। इस मंत्र का सद्उपदेश है कि मनुष्यों के आचार-विचार में एकता होनी चाहिए। इसी से राष्ट्रीय एकीकरण की शुभवृत्ति उत्पन्न होगी। वैदिक सजीव संस्कृति मिलकर राष्ट्रोत्थान करने की परामर्श देती है जिससे सबका हित हो। 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता:' अर्थात् सबके हितकारी हम सबके लिए सुख एवं कल्याण करते रहने की भावना से मिलकर निरन्तर राष्ट्र का संवर्द्धन करें।[८२] इसी से राष्ट्रीय एकीकरण की भावना सुदृढ़ होगी।

राष्ट्रहीत सर्वोपरि है। यही राष्ट्रीय एकीकरण की भावना की सफलता ही मूल है। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद कहता है 'राष्ट्र में भिन्न-भिन्न धर्मों, जातियों, स्थानों, रीति-रिवाजों और विचारों के मनुष्य रहते हैं, किन्तु राष्ट्र हित के कार्यों में अपनी भिन्नता भुलाकर एक साथ एक जुट होकर रहना चाहिए।'[८३] राष्ट्रीय

---

७९. अथर्व., ६/७४/१

८०. सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ - ऋग., १०/१९१/२

८१. समानो मंत्र: समिति: समानी समानं मन: सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रभि मंत्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमी॥ -ऋग., १०/१९१/३

८२. यजुर्वेद ९/२३

८३. जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ - अथर्व., १२/१/४५

एकता सद्भाव और सौहार्द्र की जननी होती है। राष्ट्रीय एकीकरण सम्बन्धी भावात्मक एकता के ये मूलाधार तत्त्व सिद्ध करते हैं कि प्राचीन काल में राष्ट्र राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित करता था। यह मूलतः सांस्कृतिक था जिसने राजनीति को अपने गर्भ से जन्म दिया है। उन दिनों राजनीति सांस्कृतिक भावधारा से अनुप्राणित होने के कारण ही विकासशील थी। अब प्रश्न उठता है कि राष्ट्रजीवन के वे कौन से शाश्वत स्रोत हैं जो उसके एकीकरण, उत्थान एवं गौरव सम्पादन में समर्थ है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है- सबसे पहला है; जिस देश को अनन्तकाल से हमने पवित्र मातृभूमि माना है, उसके लिए भक्ति-भावना का आविर्भाव। द्वितीय है, साहचर्य एवं भातृत्व भावना जिसका जन्म अनुभूति के साथ होता है कि हम एक ही महान् माता के पुत्र हैं। तृतीय है, राष्ट्र-जीवन की समान धारा की उत्कट चेतना जो समान संस्कृति एवं समान पैतृकदाय समान इतिहास एवं समान परम्पराओं तथा समान आदर्शों एवं आकांक्षाओं में से उत्पन्न होती है। जीवन मूल्यों की यह मूर्ति एक शब्द में वैदिक राष्ट्रीयता है, जो राष्ट्र मंदिर के निर्माण के लिए आधार बनती है।[८४]

राष्ट्रीय एकता के महामंत्र के साथ राष्ट्र में विविध प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक लोक व्यवस्था का जन्म हुआ तथा व्यवस्थित सामाजिक विकास की धारणा एवं रक्षा हेतु राजनीतिक संस्थाओं का उद्भव एवं विकास हुआ।

राजनैतिक संस्थाएँ

वैदिक युग में सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप ही राजनैतिक जीवन का विकास हुआ था। सांस्कृतिक जागृति ने राजनैतिक जागृति को जन्म दिया था। राजपदादि विभिन्न राजनैतिक संस्थाएँ वैदिक काल से ही लोककल्याण की दृष्टि से विकसित की गई थी। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के प्रत्येक पहलू को सांस्कृतिक आधारशिला पर आश्रित किया गया था। वैदिक युग के राजा को जनहित का पूरा विचार करना पड़ता था। जनता अपने राजनैतिक अधिकारों के लिए पूर्ण रूप से जागरूक थी। सांस्कृतिक विकास व दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण राष्ट्र में इतना मनोबल विकसित हो गया था कि वह किसी भी अत्याचार व शोषण का सफल विरोध कर सकता था। इन्हीं कारणों से वैदिक युग में राजनैतिक-संस्थाएँ सांस्कृतिक

---

८४. विचार नवनीत, पृष्ठ ११९ से १३२

व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विकसित हुई थी। साधारणतया राजा वंश-क्रमागत रहा करते थे, परन्तु वैदिक साहित्य में उनके निर्वाचन का उल्लेख भी आता है। इस सम्बन्ध में मैकडॉनल,[८५] जिम्मर,[८६] गेल्डनर,[८७] बेवर[८८] प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्टतया कहा है कि वैदिक युग का राजा साधारणतया वंश क्रमगत था, किन्तु निरंकुश नहीं था। उसकी सत्ता समिति में दर्शाई गई जनता की इच्छा द्वारा नियंत्रित रहती थी। वैदिक युग में सभा समिति आदि द्वारा प्रजा राजा पर नियंत्रण रखती थी। इस तरह राजनैतिक संस्थाओं के रूप में वैदिक साहित्य में जिस संस्था का सर्वप्रथम वर्णन मिलता है, वह है 'विदथ'।

❑ विद्‌थ- सबसे पुरानी जन सभा

इसे विश्व की सर्वप्रथम व्यवस्थापिका कहा जा सकता है। 'विद्‌थ' शब्द का ऋग्वेद में १२२ बार अथर्ववेद में २२ बार प्रयोग हुआ है। कालान्तर में इस शब्द का उल्लेख कम होता चला गया तथा इसका स्थान सभा और समिति ने ले लिया। यह संस्था उन दिनों विशेष चर्चित थी, जब गणपति या राजा के पद का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं हो पाया था। फिर भी विद्‌थ का कोई नेता अवश्य हुआ करता था। पुरोहित तथा कुछ अन्य पदाधिकारी भी थे, जिनके निर्वाचन का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। इस संस्था में बुजुर्ग व्यक्तियों को विशेष सम्मान प्राप्त था। महिलाएँ भी विद्‌थ में सक्रिय भूमिका निभाती थीं। विद्‌थ युद्ध, वितरण तथा धर्म आदि से सम्बन्धित मामलों पर विचार करती और निर्णय लेती थी। विद्‌थ शब्द संस्कृत की विद् धातु से बना प्रतीत होता है। इससे इसका विद्वता से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ऐसा मालूम होता है कि विद्‌थ में केवल विद्वानों को ही सम्मिलित किया जाता था, ताकि वे शासन सम्बन्धि समान गतिविधियों एवं क्रियाकलापों का बारीकी से विश्लेषण कर सकें। सम्भव है, जन प्रतिनिधित्व की धारणा भी उनके साथ किसी रूप से जुड़ी हुई हो। डॉ. दिलीप वेदालंकार[८९] के अनुसार वैदिक काल में विद्‌थ महत्त्वपूर्ण संस्था थी। वह सभा और समिति से पृथक् थी। यह सार्वजनिक संस्था थी, जो विद्या, ज्ञान और यज्ञों से विशेष सम्बन्ध रखती थी। इस दृष्टि से विद्‌थ को विद्वत्परिषद् माना जा सकता है। वैदिक यज्ञों

---

८५. Mcedonel- History of Sanskrit litterature, p. 158

८६. Jimmer- Allindiches Leben, 162 ££

८७. Geldener- Vedische Studien, II, 303

८८. Weber- Indische Studien, XVII, 88

८९. डॉ. दिलीप वेदालंकार- वेदों में मानववाद, पृष्ठ २२८

में इसका विशेष सम्बन्ध थ। विद्वान् ब्राह्मण ही इसके सदस्य होते थे, किन्तु विद्थ को सार्वजनिक उत्सवों में सार्वजनिक जनता भी उपस्थित हो सकती थी और उसमें होने वाली धार्मिक चर्चाओं एवं राजनैतिक कृत्यों से लाभ उठा सकती थी। विद्थ वह संस्था थी जिसमें राजनीतिक व धार्मिक विषयों पर प्रवचन, वाद-विवाद एवं परस्पर विचार-विनिमय का आयोजन किया जाता था।

विद्थ का विस्तृत ब्यौरा रामशरण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ' में दिया है। उनके अनुसार वेदों के अलावा भी अन्य आर्ष ग्रंथों में विद्थ शब्द का भारी प्रयोग हुआ है। वाजसनेयी संहिता में विद्थ शब्द का उल्लेख दस स्थानों पर, ब्राह्मण ग्रंथों में २१ स्थानों पर और तैत्तिरीय आरण्यक में एक स्थान पर आया है। विद्थ शब्द का जिक्र ऋग्वेद में अधिक और अथर्ववेद में उसकी तुलना में कम है। इससे प्रकट होता है कि संस्था के रूप में विद्थ ऋग्वेदिक काल में अधिक महत्त्वपूर्ण थी तथा सभा और समिति को उत्तर संहिता में प्रमुखता प्राप्त हुई है।[९०] विद्थ शब्द के तात्पर्य और व्याख्या पर लगभग आधे दर्जन मत हैं।[९१] यह शब्द मूल धातु 'विद्' से निकला माना जा सकता है और विद् का अर्थ क्रमशः जानना, धारण करना, विचार करना होता है।[९२] इसलिए विद्थ को ज्ञान, स्वत्व (या ब्लूमफील्ड के अनुसार गृह) और सभा ये तीन अर्थ देना सम्भव हो सका है। ओल्डन वर्ग ने 'विद्थ' शब्द का मूल धातु विद्या माना है और इसका मूल अर्थ वितरण, निबटाना और आध्यादेश (धर्मविधि) लगाया है तथा व्युत्पत्यर्थ 'यज्ञ' बताया है। राथ के अनुसार विद्थ धर्मेतर, धार्मिक तथा सैनिक ये तीनों तरह के प्रयोजन सिद्ध करने वाली सभा थी। उनका अनुसरण करते हुए जायसवाल[९३] ने यह विचार रखा है कि विद्थ शायद वह मूल राजनैतिक संस्था थी जिससे सभा, समिति और सेना का अलग-अलग संस्थाओं के रूप में विकास हुआ।

विद्थ की अपनी अलग विशिष्टता यह है कि इसमें स्त्रियाँ भी बैठती थीं। इस दृष्टि से यह सभा और समिति से भिन्न है। ऋग्वेद और अथर्व संहिताओं को मिलाकर ऐसे सात उल्लेख मिलते हैं, जिनसे न केवल विद्थ में स्त्रियों की

---

९०. रामशरण शर्मा- प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ ९१

९१. इनका सार, Vedic Index, ii 296, U.N. Ghoshal- History of Hindu Public Life, vol.I, p.28

९२. विद् ज्ञाने, विद् चारणे, विद्रलृ लाभे, विद् सत्तायाम्- शब्द कल्पद्रुम, iv, २८६

९३. Jaisawal- Hindu Polity, p.21

उपस्थिति, बल्कि वाद-विवाद में उनके भाग लेने की चर्चा है। ऋग्वेद से जानकारी मिलती है कि योषा विद्‌थ में शरीक हुई थी।[९४] एक प्रसंग में युवा लोगों द्वारा विद्‌थ कल्याणार्थ शक्तिशालिनी और सामाजिक कन्याओं के उस संस्था में स्थापित किए जाने का वर्णन है।[९५] इस संस्था में स्त्रियाँ सक्रिय रहती थीं। सूर्या से विद्‌थ में आगत लोगों के समक्ष बोलने को कहा गया है।[९६] स्त्रियाँ विद्‌थ के विचार विमर्श में भाग लेती थीं। विवाह समारोह में ऐसी कामना की गई है कि वह वधु केवल गृहिणी बनकर ही नहीं रहे, बल्कि नियंत्रण रखकर, वह विद्‌थ के समक्ष बोले भी।[९७] फिर यह भी कहा गया है कि वह बुढ़ापा आने पर विद्‌थ में बोले।[९८] पुरुष के बारे में भी यह कामना की गई है कि बुढ़ापा आने पर वह विद्‌थ में बोले।[९९] इससे स्पष्ट होता है कि विद्‌थ में स्त्रियों को पुरुषों के समान सम्मान प्राप्त था। तैत्तिरीय ब्राह्मण[१००] में उल्लिखित सूची में बारह में से तीन महिलाएँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के अभिषेक में जिन लोगों के मत और समर्थन को महत्त्व दिया जाता था उनमें एक चौथाई महिलाएँ थीं।

विद्‌थ में एकत्र लोग गणों में विद्यमान अग्नि की आभा और मरुतों के ओज की प्रशंसा करते हैं।[१०१] मरुतों को रुद्र का पुत्र कहा गया है और ये मरुत ऋग्वेद और अथर्ववेद में बारम्बार गण के रूप में वर्णित हुए हैं। उनकी संख्या ६३ है।[१०२] ये गण विद्‌थ में विचार-विमर्श एवं ऊँची-नीची बातें करने की इच्छा करते थे।[१०३] ओल्डेनवर्ग के अनुसार विद्‌थ शब्द का अर्थ कामकाज को निबटाना या इससे सम्बन्धित दिखना है। इस अर्थ का औचित्य उन सुपरिचित अवतरणों में देखा जा सकता है जिनमें कहा गया है 'हम (विधि का) निश्चय करने में अपनामत

---

९४. गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सवाक्। - ऋग., १/१६७/३

९५. आस्थापयंत युवतीं युवानः शुभे निमिश्तां विदथेषु प्रजाम। - ऋग., १/१६७/६

९६. गुहान गच्छ गृहपत्नीयथास्यो वशिनी त्वं विदधमा वदासिद। -ऋग., १०/८५/२६

९७. अथर्व., १४/१/२०

९८. एना पात्यातन्वं सं सृज स्वाधा जिव्रि विदधमा वदाय।
- ऋग., १०/८५/२७, अथर्व., १४/१/२१

९९. अथर्व., ९/१/६

१००. तैत्ति. ब्रा., १/७/३

१०१. व्रातव्रातं गणं गणं सुशस्तिमिरग्रेर्भामं मरुतोभोज ईमहे।
पृषदश्वासो अनवभ्रराधसो गंतारो यज्ञं विदथेषु धीराः। - ऋग., ३/२६/६

१०२. श. ब्रा., २/५/१/१२

१०३. अथर्व., १३/३/२४

सशक्त रूप से व्यक्त करें।' इसमें थोड़ा तर्क दीख पड़ता है, क्योंकि मित्र वरुण के बारे में कहा गया है कि वे आकाश, वायु और पृथ्वी पर होने वाली तीन सभाओं के विचार निर्देशक हैं, वे विधि को सबल बनाते हैं। एक अन्य स्थल पर विद्थ में आगत अग्नि को विधिकर्त्ता कहा गया है। आल्डेन वर्ग ने विद्थ का अर्थ वितरण के रूप में भी निरूपित किया है। ऋग्वेद के सार भाग के एक अवतरण में विद्थ बुलाए गये लोगों को उस अवसर पर उपस्थित रहने को कहा गया है, जब प्रतिदिन जो कुछ भी उत्पादित किया जाता है, उसका सविता द्वारा वितरण किया जा रहा हो।[१०४] एक अन्य स्थल पर अग्नि का वर्णन विद्थ में उत्पादनों के उदार वितरक के रूप में किया गया है।[१०५] अतः विद्थ राष्ट्र में सहकार, सहयोग एवं समानता के भाव को प्रदर्शित करता है।

ऋग्वेद में विद्थ के जितने भी उल्लेख हैं, उनमें संभवतः सबसे बड़ी संख्या अर्थात् लगभग दो दर्जन ऐसे विवरणों की है, जिनसे इस संस्था के सामरिक स्वरूप का संकेत मिलता है। इसमें पराक्रमों की चर्चा ज्यादा होती थी। विद्थ में अग्नि की विजयिनी शक्ति का वखान होता था।[१०६] विभिन्न देवताओं के नाम किए गए आह्वानों में विद्थ को वीरों से भरा हुआ बतलाया गया है। ऋग्वेद में इस प्रकार की इक्कीस ऋचाएँ हैं जिनका अंत निम्न तरह से होता है 'वीर पुत्रों (या वीरों)' से सम्पन्न होकर हम विद्थ में जोर से बोलें।[१०७] इन्द्र को विद्थ की शक्ति कहा गया है और लोगों को विद्थ में ले जाने वाला सुवीरों का स्वामी।[१०८] पूजन को विद्थ का वीर कहा गया है और अग्नि की इच्छा का वर्णन विद्थ में उपस्थित अधिराट् की इच्छा के रूप में किया गया है।[१०९] अग्नि जिसे पुरोहित कहा गया है, विद्थ में निर्वाचित हुआ था। एक अवतरण के अनुसार अग्नि, जो सभापूरक

---

१०४. यदद्य देवः सविता सुवाति स्यामास्य रत्निनो विभागे। - ऋग., ७/४०/१

१०५. त्वं अग्ने राजा वरुणो......... त्वं अर्यमा सत्यपतिर्यस्य समुजं त्वं अंशो विदधे देव माजयुः।- ऋग., २/१/४

१०६. ऋग., ६/८/१

१०७. वृहद् वदेम विदधे सुवीरा- ऋगवेद, २/१/१६, २/२/१३, २/११/२१, २/१३/१३, २/१४/१२, २/१५/१०, २/१६/९, २/१७/९, २/१८/९, २/२०/९, २/२३/१९, २/२४/१६, २/२७/१७, २/२८/११, २/२९/७, २/३५/१५, २/३३/१५, १/११७/२५, २/२२/१५, ८/४८/१४,

१०८. पतिं दक्षस्य विदथस्य। ऋग., १/५६/२, १/१३०/१

१०९. ऋग., ७/३६/८, ४/२१/२

होतृ पुरोहित है, यज्ञ स्थल में निर्वाचित होता है।[११०] एक ऋचा में कहा गया है कि व्यवस्थापक लोग यज्ञ सभाओं में अग्नि का वरण (निर्वाचन) पुरोहित के रूप में करते हैं।[१११] आगे स्पष्ट हुआ है कि लोगों की सहमति से अग्नि पुरोहित चुना जाता था। इसमें यह घोषणा है कि देवों और मनुष्यों ने अग्नि को अपना प्रधान समर्थक बनाया है।[११२]

सायण ने विद्थ शब्द का अर्थ यज्ञ माना है। लेकिन सायण के आधार पर वैदिक अवतरणों में विद्थ के सभी उल्लेखों को यज्ञ का पर्याय मानना उतना ही अनुचित होगा,[११३] जितना की यास्क के आधार पर समिति को युद्ध या यज्ञ का समानार्थी मानना।[११४] विद्थ का अर्थ यज्ञ लगाना कुछेक ऋचाओं के संदर्भ में भले ही ठीक हो किन्तु ऐसी ऋचाओं में जिनमें विद्थ और यज्ञ शब्दों का प्रयोग दो अलग-अलग अर्थों में स्वतंत्र रूप में हुआ है, वह सटीक नहीं बैठता। दृष्टान्त स्वरूप एक ऋचा में द्यावा (स्वर्ग) और पृथ्वी की प्रशंसा विद्थों में यज्ञ के रूप में की गई है।[११५] एक दूसरी ऋचा में विद्थों में हमारा यज्ञ सुन्दर बनाने के लिए इन्द्र ओर वरुण का आवाहन किया गया है।[११६] विद्थ और यज्ञ का अन्तर स्पष्ट करने वाली इसी तरह की कुछ और भी ऋचाएँ मिलती हैं।[११७] इस तरह विद्थ समस्त जनसमुदाय के लिए सामूहिक उपासना स्थल का कार्य करता था। स्वर्ग और पृथ्वी दोनों के बीच विद्थों के बीच वितरण करते दिखाये गये अग्निदेव इस उपासना का केन्द्र जान पड़ते हैं।[११८] विद्थ स्थल पर उपस्थित लोग इन्द्र, मित्र वरुण, विश्वेदेवों और अन्य देवों की भी उपासना करते थे।[११९] विद्थ में उपासना सामूहिक रूप से की जाती थीं और आशीर्वाद सभी लोगों के लिए

---

११०. मेधाकरं विदथस्य प्रसादनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम्।
मिमदर्भे हविष्या समानमित्तमिन्महे वृणते नान्यं त्वत्॥ – ऋग., १०/९१/८

१११. त्वामिदत्र वृणते त्वायवो होतारमग्ने विदथेसु वेधसः। – ऋग., १०/९१/९

११२. ऋग., १०/९२/२

११३. निघण्टु २/१७

११४. Bandopadhyay- Development of Hindu Polity and Political Theories, pp.118-119

११५. ऋग., १/१५९/१

११६. वही, ७/८४/३

११७. वही, ३/४/५, ३/२६/६

११८. वही, ८/३९/१

११९. वही, ३/१/१८, ३/१/१४, १/१३०/१, १/१५३/३

मांगा जाता था। मरुतों को हमारे विद्‌थ में आकर खाने-पीने के लिए निमंत्रित किया गया है।[१२०] सविता को 'हमारी ऋचाओं' द्वारा 'हमारे सभी जनों' को खुश करने के लिए 'हमारी सभा' में आने के लिए आमंत्रित किया गया है।[१२१] इसी प्रकार जब विद्‌थ में अग्नि की प्रशंसा की जाती है तो उससे कहा जाता है कि हमें सुवीरों से आपूरित भण्डार के साथ धन दो तथा खाद्य और उत्कृष्ट सन्तानों के रूप में प्रचण्ड शक्ति दो।[१२२] एक अन्य ऋचा में इन्द्र का आह्वान विद्‌थ में एकत्रित लोगों को धन का वरदान देने के लिए किया गया है।[१२३]

अथर्ववेद में विद्‌थ के अधिकांश उल्लेखों में प्रतीत होता है कि यह संस्था परवर्ती काल में मुख्यतया धार्मिक निकाय के रूप में कार्य करती रही। इस वेद में देवता उसके अनुरक्षक[१२४] माने गए हैं और इसकी सभाओं में उनका आह्वान किया गया है।[१२५] एक ऋचा में विद्‌थ को स्वर्गप्राप्ति का साधन[१२६] माना गया है और अग्नि को इसको होतृपुरोहित का काम करता दिखाया गया है।[१२७] विद्‌थों में देवताओं का गुणगान किया जाता था।[१२८] गान के इस महत्त्व के द्वारा विद्‌थ में लोगों को उत्प्रेरित करने के लिए पुरोहितों को उद्‌गाता की भूमिका निभाने के लिए आहूत किया जाता था।[१२९] विद्‌थ में सोमपान का आनन्द भी लिया जाता था।[१३०] मान्यता है कि मरुद्‌गण अपने विद्‌थों में क्रीड़ा करते हैं।[१३१] इसकी कल्पना

---

१२०. अस्माकं अद्य विदथषु बर्हिः आ वीतये सदन पिप्रियाणा। - ऋग. ७/५७/२

१२१. आ न इलाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव एतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगद्‌भिपित्वे मनीषा। - ऋग. १/१८६/१

१२२. विदथे मन्मशंमि, अस्मे अग्ने संयद्वीरम् वृहतं क्षुमंतं बाजं स्वपत्यं रयि दा।
- ऋग. २/४/८

१२३. अस्मभ्यं तद्‌वसो दानय राधः समर्थयस्व बहु ते वसव्यं।
इन्द्र यच्चित्रंश्रवस्था अनुद्‌युन्वृहद्‌वदेम विदथे सुवीराः॥ - ऋग्वेद, २/१३/१३

१२४. अथर्व. ७/७३/४, ७/७७/४

१२५. वही, ८/३/१९

१२६. वही, १७/१/५

१२७. वही, १८/१/२०

१२८. वही, १/१३/४, ५/१२/७

१२९. ऋग. १०/११०/७

१३०. वही, ९/९७/५६

१३१. क्रीडन्ति क्रीडा विद्‌धेषु धृष्वयः, नक्षन्ति रुद्रा अवसा थमस्विनम्।
- ऋग. १/१६६/२

स्पष्टतः मानवीय विद्थों के आधार पर की गई है। इससे संकेत मिलता है कि विद्थ वहाँ एकत्र लोगों का क्रीड़ा स्थल भी था। इसके अलावा यहाँ पर घोड़ों की चर्चाएँ होती थीं।[१३२] इसी प्रकार सभा में गायों के गुणों की चर्चा करते थे। वे विभवन द्वारा निर्मित रथ का भी गुणगान करते थे।[१३३] इस तरह विद्थ शब्द को भाषा वैज्ञानिकों के नियमों के अनुसार किसी भी शब्दकोश में इसके समान्तर रूप को स्थान नहीं दिया गया है, फिर भी विद्थ शब्द को गोथिक शब्द 'विटोथ' का समरूप माना जा सकता है, जिसका अर्थ है विधि (कानून)।[१३४] धातव्य है कि ये दोनों ही शब्द 'विद्' धातु से निकल सकते हैं।[१३५] राथ ने इसका अर्थ आदेश लगाया है। समस्त विद्वानों का सार संक्षेप को देखा जाय तो प्रतीत होता है कि विद्थ सबसे पुरानी जनसभा है। कालान्तर में यही सभा और समिति में प्रयुक्त हुआ।

❑ सभा

वैदिक राजनैतिक संस्था में राजनीतिक सिद्धान्तों एवं उनके व्यावहारिक रूप का अध्ययन एवं नियमन करने के लिए 'सभा' और 'समिति' नामक संस्थाओं का विकास किया गया था। वैदिक राजनैतिक संस्थाओं में सभा का प्रमुख स्थान था। यह उनकी राष्ट्रीय संस्था थी। सभा की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी। इसके लिए सभासद को यज्ञ अर्थात् लोकोपयोगी कार्य सम्पन्न कर यशस्वी बनना, भद्रभाषी होना, वर्चस्वी तथा ज्ञानवान होना परमावश्यक था।[१३६] ऋग्वेद में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार हुआ है। अथर्ववेद में इसका उल्लेख सत्रह बार हुआ है। यह सभा में इकट्ठे लोगों और सभा भवन, यानी सभा स्थल दोनों का द्योतक है। सभा भवन के अर्थ में यह परवर्ती ग्रंथों में भी मिलता है। यजुर्वेद संहिता में ग्राम, वन या सभा[१३७] में किए गए पापों का वर्णन है। स्पष्ट है कि इन प्रंसगों में यह शब्द स्थानवाचक है। एक स्थल[१३८] पर सभापाल का उल्लेख भी मिलता है, जिससे सभा भवन के संरक्षक का बोध होता है। ऋग्वैदिक उल्लेख[१३९] में स्त्री

---

१३२. ऋग. १/१६२/१
१३३. वही, ४/३६/५
१३४. August Feek- Indogermenieskhen Woterbook, p.189
१३५. August Feek- Indogermenieskhen Woterbook, p.189
१३६. ऋग., १०/७१/१०, ६/२८/६, ३/१३/१७
१३७. वा. सं., ३/४५/२०/१७
१३८. वही, ३/७/४/५
१३९. ऋग., १/१६७/३

को सभावती अर्थात् सभा में जाने योग्य कहा गया है, जिससे पता चलता है कि स्त्री सदस्य भी इस संस्था में भाग लेती थी। उत्तर वैदिक काल में यह प्रचलन समाप्त हो गया। कालान्तर में सभा शब्द का अर्थ एक साथ चमकने वाले पुरुषों का निकाय हो गया। इससे यह संकेत मिलता है कि जो लोग इसमें भाग लेते थे वे विशिष्ट पुरुष माने जाते थे। सभा के सदस्यों का सामाजिक दर्जा बहुत ऊँचा था, यह सिद्ध करने के लिए लुडविग ने अनेक ऋचाएँ उद्धृत की हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा में घोड़ों, रथों और गौओं से सम्पन्न तथा धन प्राप्त करने वाले एवं सभा में जाने वाले इन्द्र उपासकों का[१४०] उल्लेख है। एक दूसरी ऋचा में यशस् द्वारा सभासद को प्रदत्त प्रमुखता का जिक्र है।[१४१] एक अन्य ऋचा में अग्नि के चारों ओर उच्च कुलोत्पन्न लोगों के जमावों[१४२] का वर्णन है।

वंद्योपाध्याय ने कुछ अन्य उल्लेख उद्धृत किए हैं। दृष्टांत स्वरूप, अथर्ववेद में कहा गया है कि 'राजा एकत्र होते हैं।'[१४३] संभवतः वे सभापूर्ति के लिए एकत्रित होते थे। ऋग्वेद की एक ऋचा में[१४४] उपासक गृहकार्य कुशल तथा सभा और यज्ञ में प्रमुखता रखने वाले पुत्रों की याचना करते हैं। यहाँ 'सभेय' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ सभा में बैठने का पात्र होता है। ऋग्वेद में 'सभेय विप्रों' का वर्णन भी है, जिससे प्रकट होता है कि सभा में पुरोहित भी सम्मिलित होते थे। इस तरह 'सभा' में विद्वान, प्रभावशाली और चरित्रवान लोग अपना प्रभाव रखते थे ओर इसलिए उन्हें 'सभेय' या 'सभासद' कहा जाता था। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में इस निकाय की गरिमा के अनुरूप भाषणों का जिक्र आया है।[१४५] शतपथ ब्राह्मण में सोम का वर्णन ऐसे राजाधिराज के रूप में किया गया है जिसके दरबार में अधीनस्थ राजाओं का समूह एकत्र होता था। सभा में चारागाहों से सम्बन्धित मामलों पर भी विचार विमर्श होता था। चूँकि पशु जीवन यापन का एक प्रमुख साधन थे, इसलिए सभा को गायों की श्रेष्ठता पर विस्तारपूर्वक विचार करने में आनन्द आता था।[१४६] सभा में गायों की प्रशंसा की जाती थी।[१४७]

---

१४०. ऋग., ८/४/९
१४१. वही, १०/७१/१०
१४२. ऋग., ७/१/४
१४३. अथर्व., १९/५७/२
१४४. ऋग., १/९१/२०
१४५. ऋग., २/२४/१३
१४६. वही, ६/२८/६
१४७. अथर्व., ४/२१/६

सभा धर्म सम्बन्धी कार्य कलाप से भी रहित नहीं थी। इसके सदस्य इन्द्र से सभा और सभासदों की रक्षा की याचना करते थे। जब इसकी बैठक आरम्भ होती थी, इसमें यज्ञ किया जाता था और इस यज्ञाग्नि को सभ्य कहा जाता था। सभा में राजनीतिक और प्रशासनिक कार्यों का भी सम्पादन होता था। अनेक उल्लेखों से प्रकट होता है कि सभा न्याय भी करती थी। ऋग्वेद की एक ऋचा के आधार पर सभा को संस्था के रूप में दिखलाने की कोशिश की गई है, जो अभियोग लगाकर लोगों का कलंक मिटाती थी।[१४८] अत: मैकडॉनेल के अनुसार सभाचर को न्यायालय का सदस्य या शायद उन लोगों में से एक मानना कठिन नहीं होना चाहिए, जो अदालत में निर्णय देने के लिए बैठते थे। मैकडॉनेल सभासद का भी सम्बन्ध उन परामर्शदाताओं से जोड़ते हैं जो सभा में कानूनी मामले निबटाते थे। वह आगे कहते हैं 'यह भी सम्भव है कि सभासदों से यह आशा की जाती थी कि सर्व सामान्य लोगों से अधिक नियमितता से सभा में उपस्थित रहें। सामान्य विचार-विमर्श और निर्णय करने के उद्देश्य से होने वाली बैठकों की अपेक्षा न्याय करने के लिए सभा की अधिक बैठकें होती होंगी। इस तरह देखा जाय तो सभा न्यायिक निकाय के रूप में कार्य करती थी। सभा को 'कष्ट' और 'प्रचण्ड' कहा गया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि जो विधि का उल्लंघन करता था, उसके लिए सभा कष्टदायक थी।[१४९] ऐसा भी वर्णन मिलता है कि चोरों और अपराधियों को घसीटकर 'सभा' में लाए जाने पर कभी-कभी सभासद वक्रोक्तियों से भरे आक्रामक भाषण सुना देते थे और जान पड़ता है सभा में प्रभावशाली लोगों का प्रभाव होता था।'[१५०] इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि सभा में न्यायिक कार्य होते थे।

मैत्रयाणी संहिता में सभा का वर्णन ग्राम्यवादिन (गाँव के न्यायाधीश) के न्यायालय के अर्थ में हुआ है। ग्राम्यवादिन का जिक्र सभी यजुः संहिताओं में आया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन मिथकों में यम के बारे में, जो मृतकों का राजा और न्यायकर्त्ता है, कहा गया है कि उसकी सभा और अनेक सभासद हैं। अथर्ववेद के मंत्र में पृथ्वी पर पूरी की गई आशाओं या सम्पन्न किए गए सत्कर्मों[१५१] का सोलहवाँ भाग यम के सभासदों द्वारा आपस में बाँटे जाने का वर्णन है। अत: इसमें

---

१४८. ऋग., १०/७१/१०

१४९. पास्कर गृह्यसूत्र, अनु. एच ओल्डन बर्ग, सै बु.ई., xxix, ३६२

१५०. अथर्व., ७/१२/३

१५१. वही, ३/२९/१

संदेह नहीं कि सभा में न्यायिक कार्य होते थे, यद्यपि इस पहलू पर प्रकाश डालने वाले अधिकांश उल्लेख उत्तर वैदिक काल के हैं। अत: जायसवाल का यह कथन कि सभा राष्ट्रीय न्यायालय[१५२] थी तर्क संगत नहीं जान पड़ता। राजा सभा में उपस्थित रहता था। वैदिक काल में राजा सभा में निश्चय ही उपस्थित होता था। उन दिनों वह नियमित रूप से सभा की अध्यक्षता नहीं करता था, क्योंकि यजु: संहिताओं में सभापति का पृथक् उल्लेख है। परवर्ती काल में सभा की कार्यवाही उसकी अध्यक्षता में होती थी। छान्दोग्योपनिषद्[१५३] में ऐसे दो उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि राजा की अपनी सभा होती थी। शतपथ ब्राह्मण[१५४] में सोम का वर्णन ऐसे राजाधिराज के रूप किया गया है जो अपनी सभा लगाता है। राजा सभा के परामर्श को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझता था और इसके सदस्यों के समर्थन के बिना शायद काम नहीं चल सकता था। अथर्ववेद[१५५] में इस विचार-विमर्श की कुछ झलकियाँ मिलती हैं। सभा में प्रार्थना इसलिए की जाती थी कि सहयोग बना रहे और विवाद न उभरे। ऐसा मालूम होता है कि सभा द्वारा पारित संकल्प सभी के लिए सम्माननीय होता था। अथर्ववेद इसे नरिष्टा[१५६] कहता है। सायण ने इस शब्द की व्याख्या अनेक लोगों के ऐसे संकल्प रूप में की है जो तोड़ा नहीं जा सके या उल्लंघन नहीं हो सके। इससे जायसवाल ने यह अनुमान लगाया है कि सभा का संकल्प सभी के लिए अनुल्लंघनीय थी।[१५७] किन्तु ग्रिफिथ ने नरिष्टा का अर्थ परिसंवाद और ह्विटनी ने खेलकूद किया है।[१५८] पाश्चात्य विद्वान हिलीब्रेण्ड के मतानुसार सभा का तात्पर्य उस भवन से है, जहाँ समिति का अधिवेशन हुआ करता था। जिम्मर का कहना है कि सभा से ग्राम पंचायत का बोध होता था जैसा कि यजुर्वेद[१५९] में उल्लेख होता है। अथर्ववेद सभा को एक स्वतंत्र राजनैतिक संस्था मानता है।[१६०] यजुर्वेद में भी यह स्वतंत्र संस्था है। सभा अपेक्षाकृत छोटी संस्था थी। सभा का बड़ा रूप समिति के रूप में जाना जाता है।

---

१५२. Jaiswal- Hindu Polity, p.18
१५३. छान्दोग्योपनिषद्, ५/३/६, ८/१४/१
१५४. तस्य राजान: सभागा:। शतपथ ब्रा., ३/३/३/१४
१५५. अथर्व., ७/१२/३
१५६. वही, ७/१२/२
१५७. Jaiswal- Hindu Polity, p.19
१५८. Harward Oriental Series, vol.VII, p.397
१५९. यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। - यजुर्वेद, ३/४५, २०/१७
१६०. अथर्व., ७/१२/१

❑ समिति

सभा जब विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित किया जाने लगी तो जन साधारण की अलग संस्था समिति के नाम से विकसित हो गयी। सभा का वर्णन ऋग्वेद के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों अंशों में है, जबकि समिति का वर्णन केवल उत्तरार्द्ध में है। समिति सभा की तुलना में एक बड़ी संस्था थी। ऋग्वेद में समिति का नौ बार वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में यह तेरह बार आया है। परन्तु इसका वर्णन हर बार सभा के पश्चात् ही हुआ है। इससे भी संकेत मिलता है कि समिति सभा के पश्चात् निर्मित हुई है। प्रारम्भिक समिति ऐसी जनसभा थी जिसमें लोग जमकर अपना कामकाज करते थे। लुडविग के अनुसार समिति अधिक व्यापक सभा थी, जिसमें न केवल जनसामान्य वरन् ब्राह्मण और मघवन के रूप में ज्ञात धनी-मानी लोग भी शामिल होते थे। अथर्ववेद के संदर्भ में पता चलता है कि महिलाएँ भी उसमें शामिल होती थीं।[१६१] परन्तु महिलाओं का सभा में जाना स्पष्ट है, उतना समिति में जाना नहीं। उत्तर वैदिक काल में राजन या राजकुल के लोग भी समिति में जाते थे। वे इस निकाय के अति विशिष्ट सदस्य थे।[१६२] उन दिनों इसकी कार्यवाही में राजनीतिक विषयों के अलावा दार्शनिक विषयों पर भी विचार-विमर्श होता था।

उपरोक्त तथ्य की पुष्टि वृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् में होती है। जब श्वेतकेतु ने विद्यार्जन के बाद पूरे दार्शनिक साहित्य का ज्ञाता होने का दावा किया, तब उसे पंचालों की समिति के समक्ष प्रस्तुत किया गया।[१६३] समिति का सम्बन्ध धार्मिक अनुष्ठानों और प्रार्थनाओं से भी था। अथर्ववेद में समिति में अग्नि का आवाहन किया गया है, ताकि देवताओं के बीच भी देवसमिति हो।[१६४] वंद्योपाध्याय का कहना है कि समिति के कुछ सैनिक कार्य भी होते थे, क्योंकि टीकाकारों ने इस शब्द का अर्थ युद्ध या व्यूह लगाया है। यास्क ने इसका अर्थ युद्ध बतलाया है।[१६५] अमरकोश में भी इस तरह का वर्णन मिलता है।[१६६] फिर सायण ने समिति का अनुवाद युद्ध संग्राम में किया है।[१६७] अथर्ववेद के कुछ मंत्रों

---

१६१. अथर्व., ८/१०/५
१६२. Ghoshal- History of Public Life, i, p. 17
१६३. वृहद्., ६/२, छान्दोग्य, ५/३
१६४. अथर्व., १८/१/२६
१६५. निरुक्त, २१/१०७
१६६. अमरकोश, २/८/१०७
१६७. ऋग., १०/९७/६

में भी इसी तरह का संकेत मिलता है।[१६८] समिति के राजनीतिक कार्य काफी स्पष्ट हैं। राजा समिति द्वारा निर्धारित और पुनर्निर्वाचित होता था। त्सिमर के अनुसार जहाँ निर्वाची राजतंत्र था वहाँ समिति में इकट्ठे विश द्वारा ही राजा का निर्वाचन होता था। त्सिमर अथर्ववेद के एक मंत्र[१६९] के समिति के निर्वाचन विषयक कार्यों का अनुमान लगाते हैं, जिसका समर्थन जायसवाल ने किया है। समिति में जाना राजा के कर्त्तव्यों में से एक था। ऋग्वेद में ऐसी अनेक ऋचाएँ हैं जिनमें राजा को समिति में उपस्थित होते और उसकी कार्यवाहियों का मार्गदर्शन करते दिखलाया गया है।[१७०] समिति को राजा का बहुत बड़ा सहारा माना जाता था। यह राजव्यवस्था की एक अंग थी। राज्याभिषेक के बाद पुरोहित मंत्रोच्चार करता है कि राजा सिंहासन पर स्थापित हो और समिति उसके प्रति निष्ठावान रहे।[१७१] ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में समिति में विचारों की एकता पर बहुत जोर दिया गया है। सभा में सहमति के लिए प्रार्थना करते हुए कवि कहता है, हमारा मंत्र एक हो, समिति एक हो, मन एक हो और हमारे विचार एक हों। लोग समिति में सहमति पर पहुँचने का प्रयत्न करते थे।[१७२] एक स्थल पर समान मंत्रों, समान समिति और समान व्रत की प्राप्ति की कामना की गई है।[१७३] समिति विचार-विमर्श करने की बहुत महत्त्वपूर्ण संस्था थी। वक्ता अपने को समिति में वक्तृत्व कला के द्वारा स्थापित करना चाहता था। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि समिति अत्यधिक अधिकारों से सम्पन्न थी।

ऋग्वेद में समिति के राष्ट्रीय महत्त्व को समझाया गया है।[१७४] अथर्ववेद[१७५] में समिति को प्रजापति की पुत्री कहा गया है तथा उसके सदस्यों द्वारा किये जाने वाले वाद-विवाद, मंत्रणा आदि का उल्लेख है। उसमें यह भी दर्शाया गया है कि उसके निर्णयों का राष्ट्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन विवरणों से पता चलता है कि समिति का सम्बन्ध पूरे राज्य से था और वह राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण संस्था थी व

---

१६८. अथर्व., १२/१/५६
१६९. वही, ३/४/२
१७०. ऋग., ९/९२/६, छान्दोग्य, ५/३
१७१. अथर्व., ६/८८/३
१७२. ऋग., ३/१९१/३
१७३. अथर्व., ६/६४/२ (हीटनी का अनुवाद), पृष्ठ ३२९
१७४. ऋग., १०/१६६/४, १०/१९१/३
१७५. अथर्व., ७/१२/१-४, ८/१०/१०, १२/१/५६, ६/८८/३, ५/१९/१५

राजा से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध भी था। उसमें राष्ट्र से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाता था। कदाचित् राजा का चुनाव भी उसमें होता था व अयोग्य राजा को पद्च्युत भी किया जाता था। राजा को समिति में नियमपूर्वक उपस्थित रहना पड़ता था। इस प्रकार समिति प्रभुता सम्पन्न संस्था थी। इसके अतिरिक्त राज्य की नीति निर्धारित करना समिति का प्रधान कर्त्तव्य था। राष्ट्रवासियों के कल्याण के लिए प्रस्तुत की गयी योजनाओं पर विवेचनात्मक प्रणाली से विचार कर उन्हें स्वीकार करना या अस्वीकार करना आदि कार्य समिति के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत समझे जाते थे।

❑ सभा और समिति का पारस्परिक सम्बन्ध

सभा और समिति आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित मानी जाती हैं। वैदिक राष्ट्र में दोनों का उद्गम एक ही है, क्योंकि दोनों ही प्रजापति की पुत्रियाँ हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि इन दोनों संस्थाओं की बैठक का काई निश्चित स्थान नहीं था।[१७६] चेडविक ने तो सभा और समिति को एक ही राजनैतिक संस्थाओं के रूप में प्रदर्शित किया है।[१७७] परन्तु इसमें अन्तर न्यायिक कार्य के आधार पर किया जाता है। सभा न्यायिक कार्य करती थी। सभा अन्त में राज दरबार बन गई और समिति का लोप हो गया। जायसवाल का विचार है कि उत्तर वैदिक काल में समिति के स्थान पर परिषद् आ गई। सभा के विपरीत समिति लड़ाई में भाग लेती थी। दोनों संस्थाओं में कुछ धार्मिक कृत्य अवश्य होते थे, यद्यपि ये प्रमुख नहीं थे। सभा और समिति में कोई भेद नहीं हो सकता, दोनों से एक ही चीज का संकेत मिलता है। लेकिन अथर्ववेद में कम से कम चार बार सभा और समिति का प्रजापति की दो पुत्रियों के रूप में उल्लेख हुआ है। ब्लूमफील्ड[१७८] के अनुसार सभा एक सम्मिलन स्थल थी, जो सामाजिक समारोहों के केन्द्र का भी काम करती थी। त्सिमर सभा को ग्राम सभा मानते हैं। इसी आधार पर मजूमदार इसे स्थानीय संस्था मानते हैं, जबकि समिति को केन्द्रीय संगठन मानते हैं। लेकिन सभा में तो राजा भी जाता था और उससे हरेक ग्राम सभा में जाने की अपेक्षा करना उचित प्रतीत नहीं होता। परन्तु यजुर्वेदीय संहिताओं में सभा का उल्लेख ग्राम और अरण्य के साथ हुआ है। हो सकता है कि राजा

---

१७६. अथर्व., १५/९

१७७. Chedwick- The Heroic Age, p. 384

१७८. ब्लूमफील्ड- ज.अ.ओ.सो., xix १३/१८

की उदारवृत्ति सभी सभाओं की ओर उन्मुख रही हो। लुडविग के अनुसार समिति समस्त जन समुदाय की संस्था थी। जायसवाल इससे प्रायः सहमत हैं। उनका कहना है कि सभा भी जन निकाय थी, लेकिन यह समिति की सत्ता के अधीन कार्य करने वाले विशिष्ट लोगों की स्थायी और अचल निकाय थी। नारायण चन्द्र वंद्योपाध्याय का विचार भी लगभग ऐसा ही है, लेकिन घोषाल का मत है कि समिति की तरह सभा भी जनसंस्था थी।[१७९] इस प्रकार वैदिक युग के राजनैतिक जीवन में सभा ओर समिति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसके अलावा अन्य राजनैतिक संस्थाओं का भी उल्लेख मिलता है।

❑ दूत और चर व्यवस्था

ऋग्वेद में अश्विनों को दूत के समान यशस्वी कहा है।[१८०] इससे प्रकट होता है कि वैदिक साहित्य में दूत-पद एक प्रतिष्ठित पद माना जाता था। प्रायः अग्नि को प्रजा द्वारा वरण किया हुआ दूत कहा गया है।[१८१] अग्निपाद अग्रणी मेधावी विप्रों का वाचक है। दूत कार्य के लिए विशेष प्रतिभा-सम्पन्न अगुआ व्यक्ति ही उपर्युक्त समझा जाता था। इस प्रकार वैदिक राजनैतिक संस्था में दूत व्यवस्था को भी आवश्यक और उपयोगी समझा गया था। ऋग्वेद का सरमा-पणि संवाद बहुत प्रसिद्ध है। सरमा को इन्द्र की दूती कहा गया है। वेद में इन्द्र शब्द राजा-वाचक भी है। वैदिक राजनीति में लिंग-भेद का कोई स्थान नहीं है। पुरुष के समान नारी भी दूत-पद पर नियुक्त की जा सकती है। दूत को मित्र, वरुण और अर्यमा के समान माना गया है। भाव यह है कि दूत मित्रदेव के समान प्राणिमात्र का हितैषी, वरुण के समान उदार और अर्यमा के समान न्यायकारी होना चाहिए। ऋग्वेद[१८२] के एक मंत्र के अनुसार संदेश वहन करने और उसके प्रस्तुत करने में विलम्ब न करना दूत का विशेष गुण है। इस प्रकार दूत के लिए तन्द्रा-रहित होने का गुण का बोध होता है।[१८३] एक अन्य मंत्र में दूत के श्रेष्ठ लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं, दूत श्रेष्ठ एवं बलवान् होना चाहिए। उसे यथोक्तवादी तथा भ्रातातुल्य सहायक होना चाहिए। दूत निन्दारहित पुरुष तथा श्रेष्ठकुल में उत्पन्न व्यक्ति होना

---

१७९. रामशरण शर्मा- प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ ११९

१८०. दूतेव हि ष्ठो यशसा जनेषु। ऋग., १०/१०६/२

१८१. अग्ने दूतो विशामसि। ऋग., १/३६/५

१८२. दूतो न गन्त्वश्विना हुवध्यै। ऋग., ५/४३/८

१८३. अतन्द्रो दूतो यजधाय देवान्। ऋग., ७/१०/५

चाहिए। इस प्रकार ऋग्वेद[१८४] में दूत को ऊँचे आचरणवान् कुल वाला, भव्य व्यक्तित्व सम्पन्न तथा यथोक्तवादिता, शीघ्र कार्य करने की क्षमतावाला और तन्द्रा-आलस्य रहित होना आदि गुणों से युक्त बताया गया है। वेद में चर एवं स्पश का भी वर्णन हुआ है। वरुण देवता के चर लोक में सर्वत्र भ्रमण कर प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों को देखते हुए उनका पूर्ण ब्यौरा अपने स्वामी को देते थे। वरुण राजा है। इस प्रकार वैदिक राजा अपने अधीन प्रजा के सुख-दुख एवं शुभाशुभ कार्यों को जानने के लिए चर रखते थे। चर हर समय अपने कर्त्तव्यपालन में व्यस्त रहते थे। यम-यमी सूक्त में यम यमी को कहता है- देवों के स्पश प्रत्येक स्थान पर हर समय भ्रमण करते रहते हैं। अपने इस कर्त्तव्य पालन में वे लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करते। इस प्रकार प्राप्त सूचना के अनुसार प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें फल मिला करते हैं।[१८५]

❑ वैदिक सैन्य संस्था

वेद असत् पर सत् की विजय के लिए युद्ध का संदेश देता है। इन्द्र-वृत्र युद्ध इसी बात का प्रतीक है। इन्द्र-वृत्त के भयंकर युद्धों का वर्णन कर वेद ने उन्हें स्वयं माया कह दिया- 'माया इत् सा हो यानि युद्धान्याहुः।' पाप की पराजय और पुण्य की विजय मानवता की महती पोषिका है। वैदिक सैन्य-संस्था का चित्र मरुत सूक्तों में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में उल्लेख है 'शूरों के समान युद्ध करने वाले, योद्धाओं के समान शत्रु पर आक्रमण करने वाले, यशस्वी वीरों के समान सैन्यों में पुरुषार्थ का यत्न करते हैं। इन वीरों को देखकर सब भुवन-सब प्राणी भयभीत होते हैं, ये राजाओं के समान तेजस्वी दिखते हैं।'[१८६] यहाँ वीर पुरुषों को सेना का स्पष्ट निर्देश किया गया है- 'वीरों के साथ रहने वाला वीर सेनाओं में उग्र शूरवीर होता है और शत्रु का पराभव करने वाला होता है।'[१८७] सेना के साथ रहने से साधारण मनुष्य भी उग्र शूरवीर बनकर शत्रु का पराभव करने वाला

---

१८४. किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आ जगत् किमीयते दूत्यं कद् यदूचिम।
न विन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्रे भ्रातर्द्रुण रुद्र भूतिभूदिम्॥
– ऋग., १/१६१/१

१८५. न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इहयेचरन्ति। – ऋग., १०/१०/८

१८६. शूरा इवेद् युयुधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः राजा न इव त्वेषसंदृशो नरः। – ऋग., १/८५/८

१८७. मरुद्भिरुग्रः पृतनासु सा ळ हा। मरुद्भिरित् सनिता वाजमर्वा।– ७/५६/२३

बन जाता है, यह सैन्य अनुशासन का प्रभाव है। सेना में रहने से वीरों की संरक्षण-शक्ति कम नहीं होती, अपितु बढ़ती है।[१८८] वीरों का बल सेनाओं में अथवा सेनाओं के संघर्षों में बड़ा उग्र दिखता है।[१८९] इन वैदिक मंत्रों से यह बात स्पष्ट होती है कि अकेला वीर जितना पराक्रम कर सकता है उससे कहीं अधिक वीरता वह सेना में रहकर कर सकता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर मरुतों को सम्बोधित करके कहा गया है- 'हे मरुतों! यह जो शत्रु की सेना बड़े प्रबल वेग से स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आक्रमण करने आ रही है, उस सेना को अपव्रत-तमसास्त्र से बींधो और उस शत्रु सेना में से एक वीर दूसरे को पहचान न सके, ऐसा कर दो।'[१९०] यहाँ तमसास्त्र से शत्रु सेना में गड़बड़ी मचा देने की चर्चा है। अथर्ववेद के एक मंत्र में शत्रु सेना को मोहित करना आदि बातों का वर्णन आया है।[१९१] सैनिक सुन्दरवर्ण, विशाल बलशाली शरीर, सुरक्षा करने में कुशल, शत्रुनाश में समर्थ, उग्र तथा अपने आन्तरिक तेज से तेजस्वी विविध क्रीड़ाओं में प्रवीण होने चाहिए। यह बात ऋग्वेद[१९२] के कई मंत्रों में आई है। ये सैनिक सदा गणवेष में रहने वाले तथा स्त्रियों के समान सज-धजकर रहने वाले, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहने वाले हैं। 'गोमातरो यच्छुभयन्ते अंजिभिः'[१९३] यहाँ 'अंजि' पद गणवेष का वाचक है।[१९४] इन वीर सैनिकों के अस्त्र-शस्त्रों तथा गणवेष का वर्णन

---

१८८. न हि व ऊतिः पृतनासु मर्धति। -ऋग., ७/५९/४

१८९. मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम। -अथर्व., ४/२७/७

१९०. असौ या सेना मरुता परेषाम्, अस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यते तमसापव्रतेन यथैषामन्यौ अन्यं न जानात्॥
– अथर्व., ३/२/६

१९१. इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो हनन्त्वोजसा।
– अथर्व., ३/१/६

१९२. ये शुभ्रा घोरवर्पसाः सुक्षत्रासो रिशादसः। ऋग., १/१९/५,
सत्वानो .... घोरवर्पसाः। – ऋग., १/६४/२
मृगो न मीमः कुचरो गिरिष्ठाः। – ऋग., १०/१८०/२
ये ...... अजायन्त स्वमानवः । – ऋग., १/३७/२
शिशूला न क्रीळव्यः सुभातरः। -ऋग., १०/७८/६

१९३. ऋग., १/८५/३

१९४. प्र ये शुमन्ते जनयो न सप्तयः। – ऋग. १/८५/१
स्वायुधास इष्मिणः सुनिष्काः। – ऋग., ७/५६/११
स्वः क्षत्रेभिस्तन्वः शुंभमानाः। – ऋग. १/१६५/५

ऋग्वेद[१९५] के अन्य मंत्रों में भी प्राप्त होता है। 'बर्छियाँ धारण करने वाले, भाला धारण करने वाले, उत्तम धनुष धारण करने वाले, बाण और तर्कस रखने वाले, उत्तम रथ में बैठने वाले, उत्तम घोड़े अपने पास रखने वाले, मातृभूमि की उपासना करने वाले आप वीर मन को अपने अधीन रखने वाले हैं, ऐसे आप शुभ कर्म करने के लिए आगे बढ़ो।' आपके कंधों पर भाले हैं, आपके बाहुओं में बल, सामर्थ्य और ओज है, आपके सिर पर साफे हैं 'नृम्णा हिरण्ययानि पदोष्णीरीषादीनि इति सायणः' रथों में आयुध रखे हैं। सब शोभा इनके शरीरों में चमकती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात सिद्ध हो जाता है कि वैदिक संस्कृति-काल सैन्य था। सेना में वीरों की भर्ती होती थी, उन सबका मिलकर एक गणवेष था, सबके अस्त्र-शस्त्र समान थे। सैन्य की रचना के विषय में भी कुछ संकेत संहिताओं में प्राप्त किए जा सकते थे।[१९६] इन मंत्रों में ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सैनिक सात-सात की कतार में रहते थे। त्रिसप्तासः में सात की तीन कतारों का उल्लेख है। 'सप्त में सप्त' में सात-सात सैनिकों की सात पंक्तियों अर्थात् उन्चास सैनिकों का वर्णन है। ब्राह्मण ग्रंथों में स्पष्ट कहा गया है कि ये मरुत वीर गणशः रहते हैं और सात-सात के संघ में रहते हैं।[१९७] एक अन्य मंत्र में सेना के विभागों की चर्चा प्रतीत होती है।[१९८] यहाँ शर्ध, व्रत और गण इन सेना विभागों का उल्लेख है। ये सैन्य के छोटे-बड़े विभाग होंगे, पर वे सब सप्त की संख्या से विभाजित करने योग्य रहते होंगे। इस प्रकार वेद में राष्ट्र की रक्षा तथा पीड़ितों के त्राण के लिए युद्ध और सैन्य की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गयी है। सेनाध्यक्ष

---

१९५. वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान् इषुमन्तो निषिङ्गिणः।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याधना शुभम्॥
ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो वाह्वावौ बलं हितम्।
नृम्णां शीर्ष स्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनूषू पिपिशे॥
-ऋग., ५/५७/२,६

१९६. शृणवत् सुदानवस् त्रिषप्तासो मरुतः स्वादु संमुदः। - अथर्वः, १३/३/१
सप्त मे सप्त शाकिनः। - ऋग., ५/५२/१७
प्र श्र ये शुंभन्ते जनयो न सप्तयः। - ऋग., १/८५/१

१९७. गणशो हि मरुतः। - ताण्ड्य ब्रा., १९/१४/४
सप्तगणा वै मरुतः। - तै. ब्रा., १/६/२/३
सप्त सप्त हि मारुता गणाः।-यजुः, १७/८०, श. ब्रा., ९/३/१/२५

१९८. शर्धं शर्धं व एषां व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः।
अनु क्रामेम धीतिभिः। - ऋग., ५/५३/११

का युद्ध कार्य जिस वृत्ति के द्वारा प्रवृत्त होता है उसे वेद ने 'मन्यु' संज्ञा दी है। राष्ट्र को संकटों से दूर करने वाले वीरों के 'मन्यु' के सम्मुख राष्ट्रवासी नतमस्तक हो जाते हैं।[१९९] इन्द्र, रुद्र आदि शब्द वेद में युद्ध की प्रतीक शाश्वत शक्तियों के सूचक हैं तथा मानवक्षेत्र में भयंकर बली, योद्धा, वीर आदि के वाचक भी है। उपर्युक्त मंत्र में मन्युस्वरूप, दुष्टजनों को रुलाने वाले सेनापति, उसके युद्ध, साधना भूत अस्त्र-शस्त्रों तथा उसकी और उसकी सेना की वीर भुजाओं को अभिनन्दन नमन किया गया है। वेद में शत्रुओं के विनाशार्थ अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग का विधान तथा उसकी विपुलता के लिए प्रार्थना की गई है। यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा गया है- 'हे ऐश्वर्ययशाली सेनापति! तेरे हाथ में जो बाण हैं उनको धनुष के पूर्वापर किनारों की प्रत्यंचा में जोड़कर शत्रुओं पर तू बल के साथ छोड़ और जो तुझपर शत्रुओं के बाण छोड़े गए हैं, उनको दूर कर।'[२००] वेद में बाण शब्द बाणवाची भी है तथा इससे विभिन्न प्रक्षेपणास्त्रों का बोध होता है एवं कोई भी प्रक्षेपण-साधन-यंत्र 'धनुष' पद का वस्त्य हो सकता है। क्योंकि सैकड़ों बाणों, गोलियों आदि को फेंकने वाले धनुषों का भी निर्देश वेद में मिलता है।[२०१] स्वयंचालित[२०२] प्रक्षेपास्त्रों का भी निर्देश बहुत हुआ है। उसी प्रकार उपरोक्त मंत्र में शत्रुओं द्वारा छोड़े गये बाणों को विफल कर देने का संकेत भी युद्ध विद्या में अति महत्त्वपूर्ण बात है।

यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि 'धनुर्विद्या से हम उत्तरोत्तर पृथ्वी को जीतें, धनुर्विद्या से हम विविध भागों को जीतें और धनुर्विद्या से तीव्र वेगवाली शत्रु सेना को जीतें। धनुर्विद्या से शत्रु की सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, अतः इसके आश्रय से समस्त दिशाओं को जीतें।'[२०३] एक अन्य मंत्र में तूणीर की स्तुति की गयी है तथा इसे बाणों का पितृवत रक्षक कहा है।[२०४] यहाँ भी

---

१९९. नमस्ते रुद्र मन्यवऽउतोत ऽइषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः। - यजु., १६/१

२००. प्रमुंच धन्वनस्त्वमुभयो रार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्तऽइषवः परा ता भगवो वप। - यजु., १६/९

२०१. शत धन्वा। - यजु., १६/२९

२०२. स्वसिच। - यजु., १०/१९

२०३. धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ - यजु., २९/३९

२०४. बव्हीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगश्य।
इषुधिः सङ्करः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥ - यजु., २९/४२

वस्तुतः 'इषुधिः' शब्द से यह व्यंजना हुई है कि प्रक्षेपणीय अस्त्रों का उत्तम संग्रह करना चाहिए। इष् धातु गमनार्थक भी है। इस प्रकार समस्त प्रक्षेपणास्त्र इषु हैं। सेना के कतिपय विभागों का निर्देश यजुर्वेद में हुआ है।[२०५] यहाँ सेनापति, रथ संरक्षक, रथ अधिष्ठाता एवं संचालक वर्ग के प्रति सत्कार प्रकट किया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद के अन्य मंत्र में 'गिरिशयाय'[२०६] पर्वतीय सेना का वाचक है। शिपिविष्ट सेना का वह अंग है जो सेना के पशुओं की रक्षा एवं देखभाल करता है तथा मीढष्टम सेना का वह अंग है जो सेना को साधन, सामग्री आदि पहुँचाने में सदा सचेत रहता है। इसी प्रकार वेद में स्थान-स्थान पर भू सेना,[२०७] भूगर्भ सेना,[२०८] मार्ग एवं अन्नादि रक्षक सेना,[२०९] विविध स्थान स्थित सेना,[२१०] वर्षण-शीत द्युसेना,[२११] वात-विज्ञान युक्त सेना,[२१२] आदि तरह-तरह की सेनाओं का वर्णन प्राप्त होता है। वेद में अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त युद्ध में ऐसी वस्तुओं के प्रयोग का भी विधान है जो शत्रु सेना में मूर्छा फैला दें, उनके अंगों को जकड़ ले अथवा उन्हें भस्म ही कर डाले। ऐसी एक शक्ति या अस्त्र का नाम 'अप्वा' है। 'अप्वा' को सम्बोधित करके कहा गया है 'हे आप्वे! तू शत्रु सेना के चित्त को मोहग्रस्त करती हुई उनके अंगों को जकड़ ले तथा वहीं दूर रह, पुनः वहाँ से अन्य सेना पर जाकर अपना प्रभाव दिखा और उन शत्रुओं को अच्छी तरह भस्म कर दे ताकि शत्रुजन अपने हृदय में शोकों से गाढ़ अंधकार युक्त हो जावे।'[२१३]

सेनाओं के पृथक्-पृथक् संगठनों के ध्वजों का भी वेद में संकेत किया

---

२०५. नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च वो नमो नम शतृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्योऽअर्थकेभ्यश्च वो नमः। — यजु., १६/२६

२०६. नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढष्टमाय च। — यजु. १६/२९

२०७. असंख्याता सहस्राणि ये रुद्र अधिभूम्याम्।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥ — यजु., १६/५४

२०८. नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाऽअधः क्षमाचराः। — यजु., १६/५७

२०९. येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिवतो जनान्। — यजु., १६/६२

२१०. यऽएतावन्तश्चभूयाꣳसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे। — यजु., १६/६३

२११. नमोस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षभिषवः। — यजु., १६/६४

२१२. नमोस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः। — यजु., १६/६५

२१३. अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धे नामित्रास्तभसा सचन्ताम। — यजु., १७/४४

गया है।[२१४] इसी प्रकार सेनानायक एवं रक्षकों का एक प्रकार का क्रम भी वहाँ वर्णित है।[२१५] रक्षण-साधनों में कवच की महिमा भी वहाँ गायी गयी है।[२१६] तथा शरीर में रक्षण के लिए विभिन्न प्रकार के कवचों का वर्णन भी आया है।[२१७] इस मंत्र में विल्म, कवच, वर्म तथा वरुध शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये सभी अंग रक्षा के साधन है। इनमें 'विल्म' एक प्रकार का शिरस्त्राण है। 'कवच' से शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की रक्षा होती है। लोहमय शरीर रक्षक आवरण 'वर्म' कहलाता है तथा रथादि की रक्षा के लिए लोहमय कोष्ठ 'वरुथी' के अन्तर्गत आता है।[२१८] वेद में कितने ही अस्त्र-शस्त्रों के नाम आये हैं। अकेले वज्र के ही अनेक प्रकार वर्णित हैं। वज्र अस्त्र एवं शस्त्र दोनों के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वज्र के कुछ भेद इस प्रकार हैं; १. वज्रहस्त,[२१९] २. शतपर्वा वज्र,[२२०] ३. तिग्मतेजा[२२१] तेजामय वज्र जो अपनी रश्मियों से नष्ट करने की सामर्थ्य वाला हो। यह संभवतः गैसों का बना होता होगा। ४. हेति,[२२२] यह भी हस्त-संचालित वज्र का एक प्रकार है। ५. प्रहेतिः,[२२३] ६. त्रिषंधि वज्र,[२२४] ७. विकेकतीमुखा वज्र,[२२५] ८. धूमाक्षी वज्र,[२२६] ९. अग्रिजिह्वा वज्र,[२२७] १०. कृधुकर्णी वज्र,[२२८] ११. अयोमुख वज्र, १२.

---

२१४. अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं याऽइषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीराऽउत्तरेऽभवन्त्वस्मां उ देवा अवता हवेषु॥ - यजु., १७/४३

२१५. इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽए तु सोमः।
देवसेनानामभि भंजतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम॥ - यजु., १७/४०

२१६. जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु॥ - यजु., २९/३८

२१७. नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरुधिने च। - यजु., १६/३५

२१८. पं. वीरसेन वेदश्रमी- वैदिक सम्पदा, पृष्ठ ३०५

२१९. यजु., १०/२२

२२०. वज्रेण शतपर्वणा।- यजु., ३३/९६

२२१. यजु., १/२४

२२२. या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते वभूव ते धनुः। - यजु., १६/११

२२३. यजु., १५/१६, १५/१०, १५/१२

२२४. अथर्व., ११/१०/२

२२५. अथर्व., ११/१०/३

२२६. वही, ११/१०/७

२२७. वही, ११/९/१९

२२८. वही, ११/१०/७

सूचीमुखा वज्र। इसी प्रकार वेद में अनेक प्रकार के पाशों का भी वर्णन है जैसे १. ज्यापाश,[२२९] कवचपाश,[२३०] अप्वापाश[२३१] आदि। पार्थिव आयुधों का भी वेद में प्रतिपादन हुआ है- क्षुर,[२३२] सृक,[२३३] पवि,[२३४] असि,[२३५] निषंग,[२३६] पिनाक,[२३७] शल्य[२३८] इत्यादि। यजुर्वेद[२३९] में प्रतिपद, अनुपद, सम्पद, शब्द क्रमश: एक एक कदम एक के पीछे एक कदम, सबके साथ-साथ कदम इस प्रकर सैन्य-शिक्षण के द्योतक हैं। यजुर्वेद[२४०] में त्रिवृत्त, प्रवृत्त, सवृत्त, विवृत्त आदि पद अनेक प्रकार के चक्रव्यूह आदि के बोधक हैं। वेद में शकट, विमान, चित्ररथ, देवरथ, वायुरथ, विद्युरथ, प्रतिरथ, वरुथी, सुपर्ण, श्येन, गुरुत्मान आदि अनेक प्रकार के वाहन, यान, विमान आदि का वर्णन है। उनका सैन्य एवं युद्ध में पर्याप्त उपयोग होता था।[२४१]

वैदिक राष्ट्र में विश्व-बंधुत्व और विश्व-शान्ति का मानवता का संदेश प्रस्तुत करने वाली वैदिक संस्कृति में भी मनुष्य की आसुरी वृत्ति का विचार रखते हुए दुष्ट आततायियों से राष्ट्र को त्राण देने के लिए युद्ध-कला, समर नीति, सैन्य-रचना, सैन्य शिक्षण एवं युद्ध-सामग्री-निर्माण आदि विषयों की उपेक्षा नहीं की गयी। ब्रह्मबल के साथ क्षत्रबल का समुचित सामंजस्य वेदों में दृष्टिगोचर होता है। वैदिक राष्ट्र अपनी रक्षा के लिए रक्षा संस्था की महत्ता को समझता था।

इस तरह राजनैतिक संस्थाएँ, वैदिक राष्ट्र में शान्ति, सुव्यवस्था एवं सुरक्षा की स्थापना द्वारा सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अग्रसर होता था। इन संस्थाओं द्वारा राष्ट्र में नागरिकता के उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ आदर्श विकसित होते थे। नागरिकता

---

२२९. अर्थव., ११/१०/१२
२३०. वही, ११/१०/२२
२३१. यजु., १७/४४
२३२. अथर्व., ८/२/१७
२३३. यजु. १८/७१
२३४. वही,
२३५. वही, १६/२२
२३६. वही, १६/६१
२३७. वही, ३/६१
२३८. वही, १६/१३
२३९. वही, १५/८
२४०. वही, १५/९
२४१. पं० वीरसेनी वेदश्रमी- वैदिक सम्पदा, पृष्ठ ३१०

के इन आदर्शों ने ही प्रकारान्तर में राजनीति की दार्शनकि पृष्ठभूमि की संरचना प्रदान की।

प्राचीन राजनीति का दार्शनिक आधार

प्राचीन राजनीति का दार्शनिक आधार एवं उद्‌गम-स्थान ऋग्वेद है। ऋग्वेद में राजनीति का दर्शन मिलता है। अन्य वेदों में भी इसका प्रतिपादन हुआ है। वैदिक युग में ऋषियों ने राजनैतिक चिन्तन किया था, जिसका क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित स्वरूप उत्तर वैदिक काल में दृष्टिगोचर होता है। उन दिनों राजनीतिक विचारकों ने मनुष्य के पूर्ण विकास हेतु सम्पूर्ण ज्ञान को चार श्रेणियों में विभक्त किया और उन्हें चार विद्याओं के नाम से सम्बोधित किया। ये चार विद्याएँ अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति बतलायी गयी हैं। अन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता इन तीनों विद्याओं को मनुष्य के उपयोग हेतु सुव्यवस्थित रूप में स्थापित करने के निमित्त दण्ड की परम आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के सुव्यवस्थित जीवन के विधिवत् संचालन हेतु दण्ड की स्थापना की गयी है। दण्ड के सम्यक् प्रयोग का ज्ञान जिस विद्या के द्वारा होता है, वह दण्डनीति कहलाती है। इस दण्डनीति का दूसरा नाम राजशास्त्र अथवा राजधर्म स्पष्ट किया गया है।

दण्डनीति वह छड़ी है, जिस पर अन्वीक्षिकी, तीनों वेदों तथा वार्ता का कल्याण और विकास निर्भर है। दण्डनीति का शास्त्र यह बतलाता है कि समाज व राष्ट्र का सर्वोच्च विकास किस प्रकार करें।[२४२] कण्डक के अनुसार अपराध को रोकना ही दण्ड है। दण्ड के इस गुण के कारण सम्राट स्वयं दण्ड कहलाता है। सम्राट का प्रशासन दण्डनीति कहा जाता है, क्योंकि यह नेतृत्व करता है। नीति शब्द का जड़ 'नी' है, जिसका अर्थ है नेतृत्व करना। यह मनुष्यों को उत्कृष्ट चरित्र की ओर निर्देशित करता है। मनु के मतानुसार समस्त विश्व दण्ड के प्रभाव के अन्तर्गत है। नीतिशास्त्र एवं राजनीति में अन्तर है। नीतिशास्त्र राष्ट्र का रचनात्मक ज्ञान है, जबकि राजनीति या दण्डनीति का उद्देश्य राष्ट्र में न्याय तथा शान्ति की स्थापना करना होता है। दण्डनीति का प्रारम्भ ब्रह्मदेवता से हुआ माना जाता है। इसके पश्चात् यह नीति भगवान् शिव के पास आयी। फिर यह नीति क्रमशः बृहस्पति, उसानाज एवं शुक्र के पास पहुँची।[२४३] ब्रह्मा नें एक लाख अध्याययुक्त वृहदाकार ग्रंथ की रचना की। यह विशालकाय ग्रंथ दण्डनीति प्रधान था। इस

---

२४२. डॉ. उर्मिला शर्मा एवं डॉ. एस.के. शर्मा- भारतीय राजनैतिक चिन्तन, पृष्ठ २
२४३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५९, श्लोक २९

जगत् का नियंत्रण एवं सुशासन दण्ड द्वारा ही होता है, अथवा संसार का सुचारू रूप से संचालन दण्ड के अधीन है, इसलिए यह ग्रंथ दण्डनीति शास्त्र के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ।[२४४] मनुष्य के चार पुरुषार्थ इसी शास्त्र में वर्णित है।[२४५] इस प्रकार महाभारत के अनुसार भारत में दण्डनीति की उत्पत्ति सृष्टि रचना के कुछ काल व्यतीत हो जाने पर हुई उसी काल से राजनैतिक चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था।

राजशास्त्र की दण्डप्रधान विचारधारा के प्रवर्तक उशना माने गये हैं। ये वैदिककालीन ऋषि हैं।

❑ वेदों में न्याय एवं दण्डविधान

मनुष्य दैवी और आसुरी वृत्तियों का समुच्चय है। दैवी वृत्तियाँ शान्त, उद्वेग रहित और कल्याणकारी होती हैं। वह मनुष्य को स्वधर्म पालन के लिए प्रेरित करती रहती है। परन्तु आसुरी वृत्तियाँ उद्वेग जनक, उग्र एवं अकल्याणकारिणी होती हैं और मनुष्य में प्रतिक्षण विकार उत्पन्न करती रहती हैं, जिसके कारण वह स्वधर्म पालन में अनायास ही प्रमाद करने लगता है। वैदिक ऋषियों की दूरदृष्टि इस तथ्य से भली भाँति अवगत थी, अत: उन्होंने न्याय एवं दण्डविधान का विचार किया था।

ऋग्वेद में दण्डनीति

ऋग्वेद में अग्नि की प्रखरता एवं तेजस्विता के कारण उन्हें दण्ड का अधिकार प्रदान किया गया था। ऋग्वेद की ऋचा में अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है 'हे अग्नि! तू संतापक अस्त्रों, तीक्ष्ण ज्वाला से पापियों को जला दो।'[२४६] 'हे अग्नि! तू पापी की त्वचा को टुकड़े-टुकड़े कर दे।'[२४७] अग्नि की तीव्र ज्वालाएँ पापी को जला दे।[२४८] हे अग्नि! तू मांसाहारियों को समूल नष्ट कर दे।[२४९] हे अग्नि! तू लोहे की दाढ़ वाला होकर अपनी लपटों से पापियों को

---

२४४. महा. शांतिपर्व, ५९/७८
२४५. महा. शांतिपर्व, ५९/७९
२४६. अग्ने तिग्मिेन शोचिषा तपुरग्राभि ऋष्टिभिः। – ऋग., १०/८७/२३
२४७. अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि। – ऋग., १०/८७/५
२४८. अधशंसं शोशुचते दहन्तु। – ऋग., १०/८७/२०
२४९. अनु दह सहमरान् क्रव्यादः। – ऋग., १०/८७/१९

जला दे।[२५०] हे तीक्ष्ण बाण वाली अग्नि! तू तेज बाण से पापियों को मार दे।[२५१] हे अग्नि! तू कपटी लोगों के हृदय बाण से बींध दे।[२५२] हे अग्नि! तू तीक्ष्ण बाणों से मायावियों के हृदय बींध दे।[२५३] हे अग्नि! तू मांसाहारी एवं गो हत्यारों के शिर शस्त्र से काट दे।[२५४] हे अग्नि! कपटी मनुष्य तेरे तिहरे बंधन में आवें।[२५५] हे अग्नि! तू कपटी मनुष्य को तीन ढंग से जड़ काट दे।[२५६] हे अग्नि! दूर या पास जो समाज के शोषक हैं, उन्हें तू अस्त्रों से मार दे।[२५७] हे अग्नि! तू पापियों को अपने तेज से जला दे।[२५८] हे अग्नि! तू अपने तेज से मायावियों को भस्म कर दे।[२५९] हे अमर राजा अग्नि! तू पापी को वज्र से काटकर नीचे गिरा दे।[२६०] हे अग्नि! तू मायावी शत्रुओं के हाथ काट दे।[२६१] हे अग्नि! तू सर्वभक्षी मायावियों के जोड़े को भस्म कर दे।[२६२] हे अग्नि! जो असत्य से सत्य का नाश करता है, वह तेरे बंधन में आवे।[२६३] हे अग्नि! तू पापी राक्षस का बल और पराक्रम नष्ट कर दे।[२६४] हे अग्नि! जो गाय का दूध चुराता है, उसका सिर काट दो।[२६५] हे अग्नि! तू निन्दक पापियों को शस्त्रों से मार दे।[२६६] हे अग्नि! यहाँ जो चोर और शत्रु दिखाई देते हैं, उनसे हमें बचा।[२६७]

---

२५०. अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश। – ऋग., १०/८७/२
२५१. तमस्ता विंध्य शर्वा शिशानः। – ऋग., १०/८७/६
२५२. तया विंध्य हृदये यातुधानान्। – ऋग., १०/८७/१३
२५३. ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्। – ऋग., १०/८७/४
२५४. तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च। – ऋग., १०/८७/१६
२५५. त्रिर्यातुधानः प्रतितिं त एतु। – ऋग., १०/८७/११
२५६. त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च। – ऋग., १०/८७/१०
२५७. दूरे वा ये अन्ति वा केचिदत्रिणः। – ऋग., १/९४/९
२५८. पराग्ने रक्षो हरसा श्रृणोहि। – ऋग., १०/८७/१४
२५९. परा श्रृणीहि तपसा यातुधानान्। – ऋग., १०/८७/१४
२६०. पत्येव राजन् अधशंसमजर नीचानि वृश्च। – वही, ६/८/६
२६१. प्रतीची बाहुन् प्रति भङ्ध्येषाम्।
२६२. प्रत्यग्ने मिथुना वह यातुधाना किमीदिना। – ऋग., १०/८७/२४
२६३. प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
२६४. यातुधानस्य रक्षसो बलं वि रुज वीर्यम्। – ऋग., १०/८७/२५
२६५. यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने।
२६६. वधैर्दःशंसान् अप दूढ्यो जहि।
२६७. स्तेना अदृश्रन रिपवो जनासः। ऋग., ५/३/११

ऋग्वेद में आगे उल्लेख मिलता है 'राजा से चोर ऐसे भागते हैं, जैसे सूर्य से रात्रि और नक्षत्र।'[२६८] हे राजा! तू पशु चुराने वाले चोर को दूर हटा।[२६९] हे इन्द्र! तुम मित्रद्रोही को अतिसंतापक अस्त्र से बींध दो।[२७०] चोरी करने वाला समाज का शत्रु है, उसका पतन हो।[२७१] वस्त्र चुराने वाले चोर को देखकर लोग हल्ला मचाते हैं।[२७२] इस प्रकार ऋग्वेद में न्याय और दण्डनीति का उद्‌भव जान पड़ता है।

यजुर्वेद में न्याय विधान

यजुर्वेद में भी न्याय एवं दण्डनीति का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें कहा गया है हे अग्नि! तुम हमारे सभी विद्यमान शत्रुओं को नष्ट करो।[२७३] तुमने धूर्त शत्रु को बाहर निकाल दिया।[२७४] सूर्य राक्षसों और यातुधानों को हटाता हुआ उदय होता है।[२७५] तुमने राक्षसों को नष्ट कर दिया।[२७६] यह अग्नि शत्रुओं को नष्ट करती हुई आगे बढ़े।[२७७] यह मैं राक्षसों की गर्दन काटता हूँ।[२७८] जो हमें हानि पहुँचाता है, वह हमारे अधीनस्थ होकर रहे।[२७९] हे अग्नि! दाढ़ से चोरों को खा जाओ।[२८०] तुम शत्रुओं को मारो और हिंसक को दूर भगाओ।[२८१] हे अग्नि! तुम अजय हो, शत्रुओं को तिरस्कृत करते हो।[२८२] शत्रुओं को दूर से भगाओ।[२८३]

---

२६८. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। – ऋग., १/५०/२
२६९. अव राजन पशुतृपं न तायुम। – ऋग., ७/८६/५
२७०. तपिष्ठेन हेषसा द्रोधमित्रान्। – वही, १०/८९/१२
२७१. रिपुः स्तेनः स्तेयकृद दभ्रमेतु। – वही, ७/१०४/१०
२७२. वस्त्रभथिं न तायु मनु क्रोशन्ति क्षितयः। – वही, ४/३८/५
२७३. अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान्। – यजु., १५/१
२७४. अपमृष्टो मर्कः। – वही, ७/१७
२७५. अपसेधन रक्षसो यातुधानान्। –यजु., ३४/२६
२७६. अपहतं रक्षः। यजु., १/१६
२७७. अयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन। –यजु., ५/३७
२७८. इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। –यजु., ५/२२,२६
२७९. उपस्ति रस्तु सोऽस्माकं यो अस्मां अभिदासति। –यजु., १२/१०१
२८०. जम्भैस्तस्करां उत। –यजु., ११/७८
२८१. जहि शत्रून अप मृधो नुदस्व। –यजु., ७/३७
२८२. दुष्टरस्तरन् अरातीः। –यजु., ९/३७
२८३. दुराद् दवीयो अप सेध शत्रून। –यजु., २९/५५

आक्रमणकारियों को नीचा दिखाओ।[२८४] तुम यव हो, हमारे द्वेषियों और शत्रुओं को दूर हटाओ।[२८५] हे अग्नि! वन में जो चोर-डाकू रहते हैं, उन्हें तुम्हारी दाढ़ में रखता हूँ।[२८६] राक्षसों को खूब तपाकर मार डालो।[२८७] शत्रुता करने वालों का तेज नष्ट कर दो।[२८८] जो हमसे द्वेष करता है, उस पापी को मार डालो।[२८९] इन मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि यजुर्वेद में राजनीतिक चिन्तन किया गया है।

अथर्ववेद में न्याय एवं दण्ड विधान

अथर्ववेद में दण्ड के स्वरूप का संकेत मिलता है। चतुर्थ अग्नि (राजा) पापियों का नाशक है।[२९०] यह वज्रशत्रु राजा के राज्य और जीवन दोनों को हर ले।[२९१] हम चोर, सांप, मायावी और भेड़िये को नष्ट करते हैं।[२९२] इन्द्र और सोम राक्षसों को तपावें और नष्ट करें।[२९३] इन्द्र (राजा) चोर को वज्र से मार दे।[२९४] पापी को सीसे की गोली से मारते हैं।[२९५] मैं दुष्ट शत्रु का सिर अपने बल से तोड़ देता हूँ।[२९६] पापी, उनके अस्त्र और चोर यहाँ से लौट जावें।[२९७] चोर का हाथ-पैर काट दो, जिससे वह जीवित न रहे।[२९८] इन्द्र-सोम ब्रह्मद्वेषी और मांसाहारी पर अपना क्रोध दिखावें।[२९९] ब्रह्मद्वेषी को पृथिवी और जल दुख देते हैं।[३००] हे अग्नि! तुम शत्रुनाशक हो। मुझे शत्रुनाशन

---

२८४. नीचा यच्छ पृतन्यतः। -यजु., ८/४४

२८५. यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवायारातीः। यजु., ५/२६

२८६. ये .... स्तेनासस्तस्करा वने, तांस्ते...... दधामि जम्भवोः। यजु., ११/७९

२८७. विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः। यजु., १३/९

२८८. शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि। यजु., ३३/१२

२८९. हन्तु पाप्मानं योऽस्मान द्वेष्टि। यजु., २६/१०

२९०. अग्निस्तुरीयो यातुहां। अथर्व., १/१६/१

२९१. अस्य राष्ट्रमय हन्तु जीविताम्। वही, ६/१३४/१

२९२. आदु ष्टेनमथे अहिं यातुधानमथो वृकम। वही, ४/३/४

२९३. इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उव्जतम्। वही, ८/४/१

२९४. इन्द्रो वज्रेण हन्तु तम्। वही, ४/३/५

२९५. तं त्वा सीसेन विध्यामः। वही, १/१६/४

२९६. दुर्हार्दो द्विषतः शिरः, अपि वृश्चाभ्योजसा। वही, १०/६/१

२९७. पुतर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः। वही, २/२४/१

२९८. प्र पादौ न यथा यति प्र हस्तौ न यथाशिषत्। वही, १९/४९/१०

२९९. ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे ..... द्वेषो धत्तम्। वही, ८/४/२

३००. ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपाश्च। वही, २०/३६/८

की शक्ति दो।[३०१] तुम मेरे शत्रु का सिर चारों ओर से फोड़ दो।[३०२] हे अग्नि! इन पापियों का न घर हो न संतान।[३०३] जो नियंत्रण में हैं, उन्हें छोड़ो। जो छूटे हैं, उन्हें नियंत्रण में रखो।[३०४] यदि तुम हमारे गाय, घोड़े या व्यक्ति को मारते हो तो सीने से हम तुम्हें मार देंगे।[३०५] जो द्वेष से हमें गाली देता है, उसे देवता नष्ट करें।[३०६] यहाँ जो चोर आता है, वह पिट कर लौटता है।[३०७] यहाँ जो चोर आता है, उसका गर्दन और सिर काट दो।[३०८] जो शत्रु हानि पहुँचाता है, उसे जान से मार दो।[३०९] जो हमसे द्वेष करता है, उसकी अधोगति हो।[३१०] तुम पापियों को जिसने भेजा है, तुम उसी को खा जाओ।[३११] जो हमसे द्वेष करता है, उसको ईश्वर के दण्डविधान पर छोड़ते हैं।[३१२] तानसु रात्रि चोरों के प्राणों को संतप्त करने वाली हो।[३१३] शत्रुता करने वालों का भोजन छीन लो।[३१४] द्वेषी व्यक्ति जीवित न रहे, उसके प्राण निकल जाएँ।[३१५] इन्द्र ने मुझे पापियों को मारने के लिए सीसे की गोली दी है।[३१६]

इस तरह देखा जाय तो राजनीतिक दर्शन का जन्म वेद में ही हुआ है। उत्तर वैदिक काल में यह दर्शन सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं विकसित अवस्था में प्राप्त होता है।

---

३०१. भातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः। वही, २/१८/१
३०२. मे शत्रूमूर्धानं विष्वण् भिन्धि। वही, ३/६/६
३०३. मैषामग्रे वास्तु भून्मो अपत्यम्। वही, ७/१०८/१
३०४. यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः। वही, ४/३/७
३०५. यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। वही, १/१६/४
३०६. यश्च द्विषन् शपाति नः देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु। वही, १/१९/४
३०७. यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति। अथर्व., ४/३/५
३०८. यो अद्य स्तेन आयति ..... प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत्। वही, १९/४९/९
३०९. यो जिनाति तमिज्जहि। वही, ६/१३४/३
३१०. यो नो द्वेष्टि अधरः सस्पदीष्ट। वही, ७/३१/१
३११. यो वः प्राहेत् तमत्त। वही, २/२४/१
३१२. योऽस्मान् द्वेष्टि ...... तं वां जम्भे दध्मः। अथर्व., ३/२७/१
३१३. रात्रीहि तानसुतपा य स्तेनः। वही, १९/४९/७
३१४. शत्रूयतामा भरा भोजनानि। वही, ७/७३/९
३१५. स मा जीवीत् मं प्राणो जुहातु। वही, १०/५/२५
३१६. सोसं म इन्द्रः प्रायच्छत ...... यातुचातनम्। वही, १/१६/२

❑ मनु के राजनीतिक विचार

राज्य का स्वरूप

प्राचीन जनश्रुति के अनुसार मनु ब्रह्मा के मानस पुत्र माने गये हैं। मनु राज्य के अवयवनिष्ठ स्वरूप में आस्था रखते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित राज्य सप्तांग है, जिनको मनु राज्य की सात प्रकृति बतलाते हैं। राज्य की ये सात प्रकृतियाँ हैं; स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और सुहृद। राज्य को अपने स्वाभाविक रूप में रखने के लिए राज्य की इन सात प्रकृतियों को भी अपने स्वाभाविक रूप में रहना चाहिए। यदि एक प्रकृति भी विकारग्रस्त हो जाती है तो सम्पूर्ण राज्य विकारग्रस्त होकर अपने स्वाभाविक रूप से विकृत रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए मनु ने उन्हें मुक्त रखने के उपायों का भी विधान किया है। उनका मत है कि राज्य के ये सात अंग अथवा अवयव परस्पर एक दूसरे के सहारे राज्य के अस्तित्व को उसी प्रकार स्थिर रखते हैं, जिस प्रकार काष्ठ के तीन दण्ड एक दूसरे के सहारे खड़े रहकर त्रिकोण आकृति के अस्त्वि को पृथिवी-तल पर स्थिर रखने में समर्थ होते हैं।[३१७] मनु राज्य के इन सातों अंगों में किसी एक को एक दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं मानते हैं।[३१८] उनके अनुसार राज्य का प्रत्येक अंग अपने-अपने स्थान पर बड़ा एवं उपयोगी होता है। प्राप्त तथ्यों के आधार पर मनु ने राज्य के आवयिव स्वरूप का तो प्रतिपादन किया है, परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप के विषय में मनु का वास्तविक मत क्या रहा होगा। मनु-प्रतिपादित राज्य के आवयिव स्वरूप का सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। इस सिद्धान्त का आदि स्रोत ऋग्वेद की वे ऋचाएँ हैं, जिनमें विराट् पुरुष से मानव, समाज, राज्य एवं राष्ट्र के निर्माण की कल्पना की गयी है।

दण्ड

मनु स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य समाज में धर्म परायण व्यक्ति कम होते हैं।[३१९] इसलिए वह मनुष्य को स्वधर्म पालन के लिए बाध्य करने के निमित्त उसे समुचित दण्ड देना परमावश्यक बतलाते हैं। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने दण्ड निर्माण की योजना प्रस्तुत की है। इस योजना के अनुसार दण्ड सम्पूर्ण प्राणियों का रक्षक

---

३१७. मानव धर्मशास्त्र, अध्याय ९, श्लोक २९६

३१८. वही,

३१९. मानव धर्मशास्त्र, ७/२२

ब्रह्मतेजमय एवं धर्म का पुत्र है। उसका सर्जन ईश्वर ने किया है।[३२०] दण्ड सम्पूर्ण स्थावर और जंगम को भोग को प्राप्त कराने वाला, धर्म से विचलित प्राणियों को स्वधर्म-पालन के निमित्त बाध्य करने वाला,[३२१] सम्पूर्ण प्रजा को शासन में रखने वाला, प्राणियों के सो जाने पर भी उनकी रक्षा करने वाला,[३२२] देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पशु-पक्षी, सर्प आदि सभी प्राणियों को उनके अनुकूल भोग की व्यवस्था करने वाला[३२३] तथा समाज में वर्णाश्रम-धर्म की संस्थापना करने वाला है।[३२४] दण्ड के अभाव में लोग दुष्टाचरण में संलग्न होकर कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और सम्पूर्ण मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं।[३२५] मनु की दण्ड व्यवस्था के अनुसार देश, काल, शक्ति और विद्या का विचार कर, अन्यायी मनुष्य के अपराध के अनुरूप ही दण्ड देना चाहिए।

राजा का स्वरूप

दण्ड का सम्यक् प्रयोग करने के निमित्त जिस पुरुष का निर्माण किया गया, उसको मनु ने राजा की संज्ञा दी है। उसके पद को राजपद के नाम से सम्बोधित किया गया है। राजा का स्वरूप दण्ड धारी धर्म-संस्थापक का है। वह स्वच्छन्द नहीं है। उसे राजधर्म के नियमों के अनुसार आचरण करना पड़ता है। मनु के अनुसार राज्य में राजा का स्थान सर्वोपरि नहीं है। वह स्थान और अधिकार धर्म को प्राप्त है। राज्य में दण्ड का स्थान धर्म के उपरान्त आता है। मनु सामान्य जनता को राजपद पाने के अधिकार से वंचित रखने के पक्ष में है। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि वह इस प्रकार करते हैं 'सत्यवाद, समीक्षापरायण, बुद्धिमान तथा धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग के वास्तविक रहस्य का ज्ञाता व्यक्ति दण्ड धारण कर सकता है।'[३२६] दण्ड महातेज युक्त होता है। शास्त्रोक्त संस्काररहितों द्वारा दण्ड धारण नहीं किया जा सकता। राजधर्म का पालन करने वाला राजा यदि दण्ड धारण कर भी लेता है तो वह दण्ड बन्धु-बान्धव-सहित उस राजा का नाश कर देता

---

३२०. मानव धर्मशास्त्र, ७/१४
३२१. वही, ७/१५
३२२. वही, ७/१८
३२३. वही, ७/२३
३२४. वही, ७/१७
३२५. वही, ७/२४
३२६. वही, ७/२६

है।[३२७] मनु के मतानुसार शुचि, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रविहित आचरण करने वाले सहायकों वाले और बुद्धिमान राजा के द्वारा दण्ड धारण एवं उसका प्रयोग किया जा सकता है।[३२८]

मंत्री परिषद्

राजा की स्वेच्छाचारिता का दमन करने और उसे आवश्कतानुसार समय पर शासन सम्बन्धी कार्यों में सत्परामर्श एवं सहायता देने के लिए मनु मंत्री परिषद् का निर्माण करते हैं। मनु का मत है कि इस जगती तल पर जो कुछ भी है वह ब्राह्मण ही है, क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्मा का ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र है।[३२९] परन्तु धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में संलग्न होने के कारण ब्राह्मण अपनी ओर से अपने छोटे भाई राजन्य को सुशासन हेतु राज्य सौंप देता है। वह राजा को सत्परामर्श एवं सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार ब्राह्मण राजा का मुख्यमंत्री अथवा प्रधानमंत्री के रूप में कार्य करने लगता है। राजा को उससे परामर्श एवं सहायता लेना अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है।[३३०] मंत्री परिषद् के निर्माण का एक और महत्त्वपूर्ण कारण मनु के मतानुसार, राजा के समक्ष शासन कार्य की विशालता एवं उसकी गुरुता व बहुरुपता का होना है। इस कार्य में सत्परामर्श एवं सहायता की प्राप्ति के लिए विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।[३३१] अत: राजा के लिए यह इन कारणों से मंत्री परिषद् के निर्माण की अनिवार्यता महसूस हुई।

मंत्री परिषद् की सदस्य संख्या

मनु ने सदस्यों की संख्या भी निर्धारित की है। उनका मत है कि मंत्री परिषद् में आठ सदस्य होने चाहिए।[३३२] वह न तो अति अल्प संख्यावाली मंत्री परिषद् के पोषक हैं और न वृहद् संख्यावाली के पक्षपाती हैं। मनु ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है।

---

३२७. मानव धर्मशास्त्र, ७/२८
३२८. मानव धर्मशास्त्र, ७/३१
३२९. वही १/९३, १००
३३०. वही ७/५८
३३१. वही ७/५५
३३२. वही ७/५४

सदस्य योग्यता

राजा को मंत्री परिषद् में सुपरीक्षित व्यक्तियों को सदस्य बनाना चाहिए।[३३३] मंत्री परिषद् की सदस्यता शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान वाले पुरुष को मिलनी चाहिए। उसकी सदस्यता के लिए लक्ष्य की प्राप्ति करने में कुशलता की योग्यता निर्धारित करते हैं। मनु के विचार से परिषद् की सदस्यता हेतु शूर पुरुषों का वरण किया जाना आवश्यक है। मंत्री परिषद् के वांछित योग्यता के साथ-साथ उनका जन्म भी कुलीन वंश में हुआ है।[३३४] इसकी सदस्यता के लिए यह भी अपरिहार्य है कि उनके वंशज राज्य की सेवा करते चले आ रहे हों। इस प्रकार मंत्री परिषद् की सहायता के लिए अभ्यर्थी के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास की जानकारी के लिए उसकी परीक्षा, शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान, शूरता, कार्यकुशलता एवं दृढ़ संकल्प, कुलीन तथा परम्परागत राजसेवी वंश में उत्पन्न आदि योग्यताएँ आवश्यक हैं।

कार्य प्रणाली

मनु शासन सम्बन्धी अनेक विषयों को अनेक विभागों में बाँटते हैं। उनके अनुसार शूर, दक्ष और कुलीन सदस्य को वित्त-विभाग, शुचि आचरण की विशेषता से युक्त सदस्य को रत्न-खनि-विभाग, भीरु सदस्य को अन्तर्निवेश विभाग और सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, मनोवैज्ञानिक, अन्तःकरण के शुद्ध तथा चतुर और कुलीन व्यक्ति को संधि-विग्रह-विभाग का अधिष्ठाता बनाना चाहिए। मंत्री परिषद् के अमात्य सदस्य को दण्ड विभाग (सेना विभाग) और राजा को राष्ट्र एवं कोश स्वयं अपने अधीन रखना चाहिए।[३३५] मनु ने यहाँ शासन सत्ता के विकेन्द्रीकरण की महत्ता को प्रकट किया है, ऐसा प्रतीत होता है। राजा को जिस मंत्रणा में राज्य का कल्याण जान पड़े उसके अनुसार उस समस्या के समाधान अथवा कार्य को रचनात्मक रूप देना चाहिए।[३३६] परन्तु राज्य के परम महत्त्वपूर्ण विषयों में अंतिम मंत्रणा मंत्री परिषद् के सर्वश्रेष्ठ मंत्री से प्राप्त करनी चाहिए और तदनुसार कार्य करना चाहिए। मनु मंत्रणा के विषयों की ओर संकेत कर कहते हैं- 'सामान्य संधि-विग्रह, स्थान, समुदय रक्षा, प्राप्त अर्थ के विघ्नों के शमन के उपाय और

---

३३३. मानव धर्मशास्त्र ७/५४
३३४. वही ७/६२
३३५. मानव धर्मशास्त्र, ७/६३, ६५, ६६
३३६. वही, ७/५७

षाड्गुण्ययुक्त परममंत्र आदि मंत्री परिषद् के सदस्यों की मंत्रणा के मुख्य विषय हैं।'[३३७] मनु राज्य के कल्याण के लिए मंत्र का गुप्त रहना परम आवश्यक बतलाते हैं।[३३८]

व्यवहार स्थापना एवं क्षेत्र

प्राचीन राजनीति में न्याय व्यवस्था को व्यवहार और इसकी स्थापना को व्यवहार स्थापना के नाम से सम्बोधित किया गया है। मनु भी न्याय व्यवस्था को व्यवहार के नाम से सम्बोधित करते हैं। मनु के मतानुसार न्यायपालिका का क्षेत्र व्यवहार के १८ विषयों तक सीमित है। ये विषय हैं 'ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिये मांगना, निक्षेप (धरोहर), बिना स्वामी किसी वस्तु का विक्रय, साझे का व्यापार अथवा कार्य, दिये दान को वापस लेना, वेतन का न देना, प्रतिज्ञा भंग करना, क्रय-विक्रय सम्बन्धी विवाद, पशु स्वामी और पशुपाल के विवाद, सीमा विवाद, कठोर वचन का प्रयोग, मारपीट, चोरी, डाका, परस्त्री हरण, स्त्री-पुरुष के धर्म की व्यवस्था, दाय भाग और द्युत।'[३३९]

न्यायालयों का संघटन

व्यवहार के लिए न्यायालयों का प्रमुख स्थान होता है। मनु के अनुसार राज्य में सबसे बड़ा न्यायालय धर्मसभा है। उसके उस पद को धर्माध्यक्ष अथवा धर्मस्थ कहते हैं।[३४०] इसके नीचे एक धर्म सभा का उल्लेख आता है। इस न्यायालय में वेद के ज्ञाता तीन ब्राह्मण और राजा द्वारा अधिकृत एक विद्वान ब्राह्मण, ये चार न्यायाधीश बैठकर विवादग्रस्त विषयों पर चिन्तन कर निर्णय देते थे।[३४१] इस प्रकार मानव धर्मशास्त्र में इन दो श्रेणी के न्यायालयों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त सभाओं में कर्त्तव्य अर्थी, प्रायर्थी एवं साक्षी आदि के प्रस्तुत वाद सम्बन्धी वांछनीय सूचना का मन से ग्रहण करना बतलाया गया है। राज्य में न्यायालयों की एक लम्बी शृंखला थी जिसकी सबसे छोटी कड़ी कुल न्यायालय और सबसे बड़ी तथा अंतिम कड़ी राजा की अध्यक्षता में बैठने वाली धर्मसभा थी।

---

३३७. मानव धर्मशास्त्र, ७/५६
३३८. वही, ७/१४८
३३९. वही, ८/४-७
३४०. वही, ८/२, १०
३४१. मानव धर्मशास्त्र, ८/४१

कार्य प्रणाली

मनु के अनुसार कार्य प्रणाली में राजा अथवा राजा द्वारा अधिकृत ब्राह्मण तथा धर्मसभा के अन्य सभ्यों को वस्त्राभूषणों से सुपरिवेष्टित एवं अलंकृत होकर सभाभवन में अपना निर्दिष्ट आसन ग्रहण करना चाहिए।[३४२] धर्मसभा का दैनिक कार्य लोकपालों को प्रणाम करके प्रारम्भ होना चाहिए।[३४३] धर्मसभा में न्यायाधीशों एवं अन्य कर्मचारियों का व्यवहार अर्थी, प्रत्यर्थी एवं साक्षियों के प्रति शिष्ट एवं विनीत होना चाहिए।[३४४] जो व्यक्ति विवादग्रस्त विषय प्रार्थी के रूप में न्यायालय के समक्ष निर्णय हेतु प्रस्तुत करता था और जिस व्यक्ति अथवा जिन व्यक्तियों के विरुद्ध वह विवाद होता था, मनु उन्हें क्रमश: अर्थी एवं प्रत्यर्थी नाम से सम्बोधित करते हैं।[३४५] प्रतिभू का, इस प्रकार, एक मात्र कर्त्तव्य यह माना गया है कि वह जिसके लिए प्रतिभू बना है उसको न्यायालय में समय पर उपस्थित करे और यदि वह ऋण अथवा दण्ड का द्रव्य अर्थी, प्रत्यर्थी अथवा साक्षी से निर्धारित समय अथवा स्थान पर भुगतान करने के लिए प्रतिभू बना है तो उस पर उस ऋण अथवा दण्ड के धन के भुगतान का पूर्ण दायित्व रहता था।[३४६] मनु के अनुसार ब्राह्मण वर्ण से सम्बन्धित अभियोग अन्य वर्णों से सम्बन्धित अभियोगों की अपेक्षा अधिक शीघ्र प्रस्तुत होने चाहिए।

विवादग्रस्त विषयों के निर्णय हेतु प्रमाणों की परम आवश्यकता बतलायी गयी है। मनु प्रमाणों को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं; १. लेख (Documentary evidence), २. साक्ष्य (Witness evidence) और ३. भोग (Possesion evidence)।[१४७] लेखों की सत्यता एवं वास्तविकता की परख हेतु मनु अनेक उपायों एवं साधनों का उल्लेख करते हैं।[३४८] भोग प्रमाण में भी वह भोग करने की अवधि विवादग्रस्त विषय के अनुसार ही निर्धारित करते हैं।[३४९] उसी

---

३४२. मानव धर्मशास्त्र, ८/२

३४३. वही, ८/२३

३४४. वही, ८/१, २

३४५. वही, ८/७९

३४६. वही, /१५८

३४७. वही, ८/२४

३४८. वही, ८/१६८

३४९. वही, ८/१४३, १४९, २००

व्यक्ति को मनु साक्षी की श्रेणी में परिगठित करते हैं, जिसने विवादग्रस्त घटना को अपनी आँखों से देखा है अथवा तत्सम्बन्धी विषयों को अपने कानों से सुना है।[३५०] मनु के अनुसार वही व्यक्ति साथी बनाये जाने चाहिए जो सब वर्णों में आप्त पुरुष हों।[३५१] दूसरा सिद्धान्त परिवार की सम्पन्नता का है। इसके अनुसार स्त्री-पुत्र सम्पन्न गृहस्थ साक्ष्य देने का अधिकारी बतलाया गया है।[३५२] घटना स्थल के समीप का स्थायी निवासी साक्ष्य के हेतु वरण किया जाना चाहिए।[३५३] साक्षी सर्वधर्मवित् होना चाहिए।[३५४] द्विजों का साक्ष्य उनके सदृश द्विजों को, शुद्रों का साक्ष्य सज्जन शूद्र को देना चाहिए। स्त्रीयों के साक्षी स्त्रियों को ही होना चाहिए।[३५५] शपथ का स्वरूप वर्णानुसार था।[३५६] मनु ने प्रमाणों को श्रेणियों में विभक्त किया है मानुष प्रमाण एवं दिव्य प्रमाण। मानुष प्रमाण के अर्न्तगत लेख, साक्षी, भोग प्रमाण बताया गया है। दिव्य प्रमाण से मनु का तात्पर्य शपथ लेना एवं कठोर परीक्षाओं द्वारा सत्य और सत्य की विवेचना करना है। दिव्य प्रमाण भी वर्ण-कर्म के अनुसार अलग-अलग निर्धारित किये गये हैं।[३५७] विवादग्रस्त विषयों में असत्य एवं मिथ्या साक्ष्य देने वाले व्यक्ति को समुचित दण्ड का विधान होना चाहिए।[३५८] जिस-जिस विवाद में साक्षियों ने मिथ्या साक्ष्य दिया हो, उस विवाद के निर्णय पर पुनः चिन्तन करना चाहिए।[३५९]

न्यायपालिका की स्वाधीनता

मनु न्यायपालिका को कार्य पालिका एवं विधि पालिका के अनावश्यक प्रभाव से मुक्त रखने के पक्ष में हैं। मनु प्रतिपादित राज्य में न्याय कार्य का अधिक अंश स्थानीय न्यायालयों द्वारा सम्पन्न होता है। इन न्यायालयों में तत्सम्बन्धी संस्थाओं द्वारा ही न्यायधीश नियुक्त किये जाते हैं। ये संस्थायें जाति, श्रेणी, गण,

---

३५०. मानव धर्मशास्त्र, ८/७४
३५१. वही, ८/६३
३५२. वही, ८/७२
३५३. वही, ८/६२
३५४. वही, ८/६३
३५५. वही, ८/६८
३५६. वही, ८/८८
३५७. वही, ८/११४, ११५
३५८. वही, ८/११८, ११९
३५९. वही, ८/११७, २३४

कुल आदि हैं और इन्हीं के द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में न्यायाधिकारों की नियुक्ति की जाती है। इनमें जातिधर्म, गणधर्म, श्रेणी धर्म, कुल धर्म, देश धर्म[३६०] आदि के आधार पर अपने-अपने अधिकार क्षेत्र के अनुसार निर्णय दिये जाते हैं। राज्य की कार्यपालिका के प्रधान अधिकारी को स्वेच्छानुसार निर्णय देने का अधिकार रहता ही नहीं। इस तरह मनु ने न्यायपालिका की स्वाधीनता प्रमाणित की है।

दण्ड विधान

मनु ने अपराधी के अनुरूप अनेक प्रकार के दण्डों का विधान किया है। इन दण्डों के अनेक प्रकार एवं अनेक रूप हैं। ये दण्ड वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, धनदण्ड, कायदण्ड अथवा वधदण्ड, कारागारदण्ड,[३६१] जाति बहिष्कारदण्ड,[३६२] प्रायश्चित दण्ड,[३६३] निर्वासन दण्ड, सम्पत्ति दण्ड[३६४] आदि हैं। मनु कारागार को बंधनगृह के नाम से सम्बोधित करते हैं। उन्होंने व्यवस्था दी है कि राजा को अपने राज्य में राजमार्ग के समीप बन्धनगृहों का निर्माण करना चाहिए और उसको इन बंधनगृहों का निरीक्षण समय-समय पर करना चाहिए।[३६५] इस व्यवस्था के आधार पर यह स्पष्ट है कि मनु ने एक श्रेणी के कतिपय अपराधियों को बंधनगृह में रखकर उनसे दण्ड की अवधि का भुगतान उचित समझा है। कुछ अपराधों के लिए अपराधी की सम्पत्ति हरण कर लेने के दण्ड का विधान किया गया है।[३६६] मनु ने संक्षेप में दण्ड के दस स्थान माने हैं लिंग, उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, नेत्र, नासिका, कान, धड़ और देह। उनका मत है कि अनुबंध को समझकर देश-काल और परिस्थिति के अनुसार अपराध की लघुता एवं गुरुता का विचार करना और अपराधी की सामर्थ्य के अनुरूप दण्ड देना चाहिए।[३६७]

दण्ड-दान-सिद्धान्त

मनु ने अपराधियों के लिए विभिन्न प्रकार के एवं विभिन्न रूप में दण्ड

---

३६०. मानव धर्मशास्त्र, ८/१२९
३६१. वही, ८/३१०
३६२. मानव धर्मशास्त्र, ९/२३९
३६३. वही, ११/१८९, ५३१
३६४. वही, ९/२३१
३६५. वही, ९/२८८
३६६. वही, ८/१२५
३६७. वही, ८/१२६

विधान किया है। मनु का मत है कि अधर्मपूर्वक दण्ड-प्रदान कभी नहीं करना चाहिए। अधर्म से दण्ड देने से संसार में अपयश एवं अकीर्ति फैलती है और परलोक में स्वर्ग का नाश होता है।[३६८] मनु का यह निश्चित मत है कि दण्ड निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर दिये जाने चाहिए। दण्ड प्रदान करने से पूर्व अपराध का प्रसंग, अपराध की मात्रा, उसके प्रकार एवं स्वरूप, अपराधी की सामर्थ्य, देश-काल और परिस्थिति पर गम्भीरतापूर्ण विचार कर लेना चाहिए और उसके उपरान्त दण्ड-प्रदान किया जाना चाहिए। मनु ने व्यक्ति के अन्तर के अनुरूप ही उनके द्वारा किये जाने वाले अपराध के लिए पृथक्-पृथक् दण्ड की व्यवस्था की थी। परन्तु दण्ड की इस अनेकरूपता में भी एकरूपता मानी गयी है।

पुलिस व्यवस्था

मनु ने राज्य में आन्तरिक शान्ति के लिए पुलिस व्यवस्था की स्थापना का प्रतिपादन किया है। मनु ने पुलिस के लिए संस्कृत भाषा के 'रक्षाधिकृत' शब्द का प्रयोग किया है।[३६९] उन्होंने राज्य की सम्पूर्ण पुलिस को दो मुख्य भागों में विभाजित किया है; अपराध-अनुसंधान विभाग और सामान्य पुलिस विभाग। प्रथम विभाग के अन्तर्गत कार्य करने वाले रक्षाधिकृत राज्य में चरों की भाँति कार्य करते हुए दिखलाये गये हैं। उनके कार्य गोपनीय एवं गुप्त रीति से होते थे। इस विभाग में कुशाग्र बुद्धि, सत्यनिष्ठ एवं विश्वासपात्र व्यक्तियों की नियुक्ति करने का प्रावधान था। ये कर्मचारी अपराधियों की सूचना राजा को प्रतिदिन देते थे।[३७०] पुलिस के दूसरे विभाग के कर्मचारियों को खुले रूप में जनता के सम्पर्क में रहकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। मनु के मतानुसार सम्पूर्ण राज्य में पुलिस की चौकियों की स्थापना होनी चाहिए। कुछ रक्षाधिकृतों को रात्रि में पहरा देने का कार्य सौंप देना चाहिए।[३७१] मनु ने कुछ विशेष स्थान बतलाये हैं जहाँ रक्षाधिकृतों की विशेष नियुक्ति की जानी चाहिए। इनमें सभा, हलवाई की दुकान, वेश्यालय, मद्यशाला, विशेष उत्सव-स्थान, जीर्ण भवन, पुराने उद्यान, शिल्पगृह आदि हैं।[३७२]

अंतर्राज्य-सम्बन्ध

उत्तर वैदिक काल में छोटे-बड़े अनेक राज्य थे। मनु के विचार से उनके

---

३६८. मानव धर्मशास्त्र, ८/१२७
३६९. वही, ९/२७२
३७०. मानव धर्मशास्त्र, ९/२५७-२६२
३७१. वही, ९/२६६
३७२. वही, ९/२६४, २६५

मध्य सम्बन्धों की स्थापना में मण्डल-सिद्धान्त का आश्रय लेना चाहिए। स्थिति, सामर्थ्य और पारस्परिक व्यवहार आदि की दृष्टि से, मनु ने इन राज्यों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है। मध्यम राज्य, शत्रु राज्य, मित्र राज्य और उदासीन राज्य।[३७३] इन चार राज्यों के पृथक्-पृथक् और सम्मिलित मण्डल बताये गये हैं। प्रत्येक राज्य का पड़ोसी राज्य उसका शत्रुराज्य होता है और शत्रु राज्य से परे उससे सटा हुआ राज्य उसका मित्र राज्य बतलाया गया है। प्रत्येक राज्य का एक लघु मण्डल होता है, जिसमें राज्य, उसका शत्रु राज्य और उसका मित्र राज्य, तीन राज्य होते हैं। अठारह प्रकृतियों का लघुमण्डल माना गया है। इस प्रकार वृहत्मण्डल में चार मूल प्रकृतियाँ और अड़सठ शाखा प्रकृतियाँ अर्थात् कुल बहत्तर प्रकृतियाँ हुईं, जिनके प्रकार की पूर्ण जानकारी राजा को होनी चाहिए, ऐसा मनु का मत है।[३७४]

षाड्गुण्य मंत्र

साम, दाम, दण्ड, भेद[३७५] इन चार उपायों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले मंत्र अथवा नीति को मनु षाड्गुण्य मंत्र के नाम से सम्बोधित करते हैं। मनु इस मंत्र के छह गुण मानते हैं; संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय।[३७६] मनु के अनुसार भविष्य में अपना आधिक्य (आतंक) हो जायगा ऐसा निश्चय हो और वर्तमान समय में अपनी दुर्बलता एवं पीड़ा जान पड़े तो ऐसी परिस्थितियों में संधि गुण का आश्रय लेना श्रेयष्कर होगा।[३७७] जब राजा को ऐसा अनुभव हो कि उसकी सम्पूर्ण प्रकृतियाँ स्वस्थ हैं और स्वयं अति उत्साहपूर्ण है तो विग्रह गुण का सहारा लेना चाहिए।[३७८] यान से मनु का तात्पर्य शत्रु पर आक्रमण करने से है। किसी समय अथवा परिस्थिति की प्रतीक्षा में मौन बैठे रहना आसन कहलाता है। अपने को दूसरे के आश्रय में समर्पित करना संश्रय अथवा आश्रय गुण माना गया है। अर्थ सिद्धि के लिए सेना के कुछ अंश को किसी स्थान पर सेनापति के अधीन स्थापित करने का स्वयं अन्यत्र वास करना द्वैध गुण कहलाता है।

---

३७३. मानव धर्मशास्त्र, ७/११५
३७४. वही, ७/१५८
३७५. वही, ७/१०९
३७६. वही, ७/६७, ६८
३७७. वही, ७/१६७
३७८. वही, ७/१७०

सेना सम्बन्धी विचार

मनु ने सप्तांग राज्य का एक अंग दण्ड माना है। उन्होंने दण्ड के बाह्य रूप को सेना अथवा बल माना है। मनु ने पाँच प्रकार की सेना का उल्लेख किया है। ये हैं- रथ, हस्ति, अश्व, नौसेना और पैदल। सेना का छठा अंग भार वाहकादि होते थे। इस प्रकार मनु के राजा को षड्ंगीबल से निरुपित किया है।[३७९] मनु के मतानुसार राजा को मार्गशीर्ष, फाल्गुन अथवा चैत्र मास में युद्ध करना चाहिए।[३८०] सैन्य संचालन के विषय में मनु का कहना है 'अपने मूल की सम्यक् रक्षा की व्यवस्था कर और युद्ध यात्रा की समस्त सामग्री का समुचित प्रबंध कर, गुप्तचरों को मार्ग में नियत कर, तीन प्रकार के मार्गों (सम, विषम और जलीय) और षड़ंगी बल के साथ शास्त्र विधि से धीरे-धीरे शत्रु के पुर की ओर गमन करना चाहिए।'[३८१] इस प्रकार के गमन में दण्डव्यूह, संकटव्यहू, वराह व्यूह, मकर व्यूह, सूची व्यूह, गरुड़ व्यूह में से किसी भी व्यूह का आश्रय लेकर सेना का गमन करना चाहिए।[३८२] परन्तु राजा को सदैव पद्मव्यूह में रहना चाहिए।[३८३]

इस प्रकार मनु के राजनीतिक विचार के मूल में वैदिक राजनीति का दर्शन एवं झलकियाँ प्राप्त होती हैं। मनु एक अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी विचारक थे, जिनकी पैनी दृष्टि से राजनीतिक दर्शन का कोई भी पहलू अछूता न रहा। इसी क्रम में महान् राजनीतिज्ञ भीष्म के राजनीतिक विचार भी विचारणीय हैं।

❑ भीष्म का राजनैतिक चिन्तन

राजनीतिक क्षेत्र में भीष्म की विशेष देन है। उनके राजनीतिक विचार महाभारत के शांतिपर्व में स्पष्ट झलकते हैं। उनके और पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर के मध्य जो संवाद हुआ है, उसी संवाद में राजनीतिक दर्शन दृष्टिगोचर होता है।

राज्य सम्बन्धी विचार

भीष्म का मत है कि राज्य का स्वरूप सप्तांग अथवा सप्तात्मक है। भीष्म कें सप्तात्मक राज्य के सात अंग आत्मा (राजा), अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र,

---

३७९. मानव धर्मशास्त्र, ७/१८५

३८०. वही, ७/१८२

३८१. वही, ७/१८४

३८२. वही, ७/१८७

३८३. वही, ७/१८८

जनपद और पुर हैं।[३८४] इस प्रकार भीष्म और मनु दोनों के विचार समान हैं। अन्तर केवल इतना है कि भीष्म स्वामी को आत्मा, सुहृद को मित्र और राष्ट्र को जनपद नाम से सम्बोधित करते हैं।[३८५] अत: कहा जा सकता है भीष्म राज्य के आवयविक स्वरूप में आस्था रखते हैं। भीष्म राजपद को महान् महत्त्वपूर्ण एवं परम आवश्यक मानते हैं। भीष्म मनु की भाँति धर्म की संस्थापना राजा के अधीन मानते हैं। उनका मत है कि राजा के भय के कारण ही प्रत्येक प्राणी स्वधर्म-पालन करता है और लोगों में व्यवस्था रहती है।[३८६] राजा मर्यादाहीन पुरुषों को दण्ड के द्वारा शुद्ध कर अपने अधीन प्रजा को शुद्ध एवं पवित्र बनाये रखता है, जिससे प्रजा मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं कर पाती।[३८७] राज्य के महत्त्व एवं उसी पद की आवश्यकता प्रमाणित करने के लिए भीष्म ने कतिपय दृष्टान्त दिये हैं। जिस प्रकार ग्वाला रहित पशु अंधकार में इधर-उधर भटक कर नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार राजा के बिना प्रजा भी नष्ट हो जाती है।[३८८] राजा के अभाव में बलवान् निर्बलों का सब कुछ अपहरण कर लेते हैं और यदि उनको कोई ऐसा करने से रोकने की चेष्टा करता है तो उसका भी वध कर डालते हैं।[३८९] राजा से रहित भू भाग में कोई भी व्यक्ति धन, स्त्री आदि को अपने अधिकार में रखने में समर्थ नहीं हो पाता और न कोई निर्बल मनुष्य यह कह सकता है कि धन मेरा है या उसका। न किसी के पास स्त्री रह पाती, न पुत्र, न धन और न अन्य सामग्री।[३९०] इस प्रकार भीष्म राजा की स्थिति में सारे जगत् की स्थिति मानते हैं और इसलिए उसके मतानुसार राजा का महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता कभी भुलायी नहीं जा सकती।[३९१] भीष्म राज्य में सर्वोपरि स्थान राजपद को नहीं देते। उनके मतानुसार राज्य में सर्वोपरि स्थान विधि का माना गया है। राजा का स्थान विधि के उपरान्त आता है। इसके अतिरिक्त राजा अपने अधीन प्रजा के निमित्त आदर्श आचरण का प्रेरक है। वह आदर्श की साक्षात् मूर्ति माना गया है।

---

३८४. महाभारत, शान्तिपर्व, ६९/६४, ६५
३८५. वही, ७/२९४
३८६. वही, ६८/८
३८७. मानव धर्मशास्त्र, ६८/९
३८८. वही, ६८/१० से १३
३८९. वही, ६८/१४
३९०. वही, ६८/१५
३९१. वही, ६८/३७

राजा के कर्त्तव्य

भीष्म ने राजा के कर्त्तव्यों का संकेत रूप में उल्लेख किया है। उनके अनुसार राजा का चरित्र अपने अधीन प्रजा के लिए आदर्श होता है। जिस राजा ने आत्मविजय नहीं की वह अपने शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त कर सकता है।[३९२] आत्मविजय से भीष्म का तात्पर्य पाँच ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से है। भीष्म का मत है कि जो राजा जितेन्द्रिय होता है, वही शत्रु-विजय में समर्थ हो सकता है।[३९३] वह राजा के लिए सबसे बड़ा धन सदाचार मानते हैं।[३९४] राजा के इन कर्त्तव्यों को भीष्म ने लोकरंजन कार्यों के नाम से सम्बोधित किया है। इन लोकरंजन कार्यों का विधिवत् सम्पादन करना राजा का सनातन धर्म बताया गया है।[३९५] इस प्रकार राजा को सर्वदा अपने हितकारी कार्यों का परित्याग कर लोकरंजन कार्यों में निरन्तर संलग्न रहना चाहिएं।[३९६] राजा निम्न कार्यों का संचालन करता है-

(क) वर्णाश्रम व्यवस्था का सुसंचालन- मनुष्य के वैयक्तिक एवं समष्टि जीवन के आत्यन्तिक विकास के निमित्त वैदिक काल में ऋषियों द्वारा वर्णाश्रम-व्यवस्था का निर्माण हुआ। इस व्यवस्था को अक्षुण्ण रूप में स्थिर रखना एवं जनता को इस व्यवस्था के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करना एवं अधिक से अधिक सुविधा देना राजा का परम कर्त्तव्य बताया गया है। प्रजा में धर्म-संकर एवं वर्ण-संकर की प्रवृत्तियों को रोकना राजा का परम धर्म निर्धारित किया गया है।[३९७] राजा के कर्त्तव्य के विषय में मनु और भीष्म के विचार समान हैं।

(ख) प्रजा रक्षण- भीष्म के अनुसार राज्य में प्राणिमात्र की रक्षा करना राजा का परम धर्म है।[३९८] प्रजा की रक्षा ही प्रजा को प्रसन्न करने का मूल कारण है।[३९९] इस प्रकार भीष्म प्रजा रक्षण कार्य को राजा के परम कर्त्तव्य के अन्तर्गत मानते हैं।

---

३९२. मानव धर्मशास्त्र, ६९/४
३९३. वही, ६९/५
३९४. वही, ५७/२२
३९५. वही, ५७/११
३९६. वही, ५६/४५
३९७. मानव धर्मशास्त्र, ५७/१५
३९८. वही, १२०/३
३९९. वही, ५७/४२

(ग) व्यवहार-स्थापन कार्य- भीष्म की मान्यता है कि 'राजा को अभियोगों के सुनने एवं उनपर निर्णय देने के लिए महान् अनुभवी और विविध विषयों के ज्ञाता विद्वान् पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए और इस प्रकार व्यवहार-स्थापन कार्य करना चाहिए।'[४००] इस प्रकार भीष्म राज्य में व्यवहार व्यवस्था की स्थापना और उसके संचालन की उचित व्यवस्था करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य मानते हैं।

(घ) राजकर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था- भीष्म के अनुसार राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति की सुव्यवस्था करना भी राजा का कर्त्तव्य है। जो सेवक जिस कार्य के योग्य है उसको उसी कार्य के सम्पादन हेतु नियुक्त करना चाहिए। कर्मफल के अभिलाषी को इस नियम के विरुद्ध सेवकों की नियुक्ति करना उचित नहीं है।[४०१] मूर्ख, शुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रिय लोलुप और अकुलीन पुरुषों को राज्य संचालन कार्य हेतु नियुक्त करना गुणवान राजा का कर्त्तव्य नहीं है।[४०२] साधु, सद्वंश में उत्पन्न, ज्ञानी, अनिन्दक, पवित्र और दक्ष की नियुक्ति करनी चाहिए।[४०३]

(ङ) कार्य निरीक्षण की व्यवस्था करना- भीष्म इस कर्त्तव्य के अन्तर्गत अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं 'राजा को अपने अधीन कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करते रहना चाहिए।'[४०४] जिन कर्मचारियों को अपने अधिकार पर नियुक्त किया गया, उनके कार्यों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विधि से निरीक्षण राजा द्वारा होना चाहिए।[४०५]

इसके अलावा राजा को राज्य की आर्थिक कल्याण व्यवस्था, सार्वजनिक कार्यों की देख-रेख, शोषक व्यवसायों के निरोध की स्थापना आदि कार्यों पर भी ध्यान देना चाहिए। इस तरह भीष्म राजा के विविध कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हैं।

मंत्री परिषद् सम्बन्धी विवेचना

इस मामले में भीष्म का विचार मनु से मिलता है। भीष्म के अनुसार

---

४००. वही, ६९/२८

४०१. वही, ११९/६

४०२. वही, ११९/८

४०३. वही, ११९/९

४०४. वही, ५७/१९

४०५. वही, ५९/६८

राज्य का मूल राजा के मंत्रियों द्वारा दी गयी सद्मंत्रणा है।[४०६] भीष्म ने मनु की तरह ही अमात्य को सप्तांग राज्य का एक अंग मानकर मंत्री परिषद् की अनिवार्यता सिद्ध की है। भीष्म के अनुसार मंत्री परिषद् में सैंतीस सदस्य होने चाहिए।[४०७] इसी संख्या के दृष्टिकोण से भीष्म प्राचीन राजशास्त्र विचारकों में विशेष स्थान रखते हैं। उनके मतानुसार मंत्री परिषद् में ये सैंतीस सदस्य इस प्रकार हैं चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत (Charioteer)। इस प्रकार भीष्म मंत्री परिषद् के निर्माण में वर्णानुसार प्रतिनिधित्व के समर्थ हैं और वैश्य वर्ग को उसमें सबसे अधिक प्रतिनिधित्व देने के पक्ष में हैं। इतनी बड़ी संख्यावाली मंत्री परिषद् में वास्तविक मंत्र का वरण करना और उसका गुप्त रखना असम्भव होता है। इसलिए भीष्म आठ सदस्यों की अन्तरंग समिति के निर्माण[४०८] एवं इसके उपरान्त इस अन्तरंग सभा के अन्तर्गत भी तीन सदस्यों की परम अन्तरंग समिति के निर्माण की व्यवस्था के पक्षधर हैं। भीष्म ने आठ सदस्यों की अन्तरंग समिति के सदस्यों को मंत्री की उपाधि दी है। परम अन्तरंग समिति के निर्माण के विषय में भीष्म का कहना है कि राजा को बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न, पूजनीय, सर्वश्रेष्ठ कम से कम तीन मंत्रियों को परम अन्तरंग नाम की एक समिति रखनी चाहिए।[४०९] भीष्म का मत है कि राजा को इस परम अन्तरंग समिति के मंत्रियों से हर समय परामर्श करते रहना चाहिए।[४१०]

भीष्म के मतानुसार परम अन्तरंग समिति के सदस्य ही राजा के वास्तविक मंत्री हैं। राजगुरु का निर्णय लेकर राजा को वह अंतिम निर्णय मंत्री परिषद् की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करना चाहिए।[४११] मंत्री परिषद् के सभी सदस्यों की योग्यताएँ कुलीन कुल में उत्पन्न होना, अमात्य वंश में जन्म लेना, राज्य का निवासी होना, लोकप्रिय होना, आयुष्मान होना और गूढ़ चरित्र का धारण करना आदि है।[४१२] मंत्री परिषद् के सदस्य सुपरीक्षित होने चाहिए। उनके अनुसार सदस्यों की योग्यता की यह परीक्षा उपधा प्रणाली के अन्तर्गत आनी चाहिए।[४१३]

---

४०६. मानव धर्मशास्त्र, ८३/४८
४०७. वही, ८५/७ से १०
४०८. वही, ८५/११
४०९. वही, ८३/४७
४१०. वही, ८३/५३
४११. वही, ८३/५४
४१२. वही, ८३/३, ८, १९, ४३, ४६
४१३. वही, ८३/२२

विधि निर्माण योजना

भीष्म विधि की प्रधानता में आस्था रखते हैं। इसलिए उन्होंने व्यवस्था दी है कि राज्य में धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय व्यवस्था की स्थापना हानी चाहिए, जिससे सभी के साथ समान व्यवहार हो सके।[४१४] भीष्म द्वारा वर्णित विधि मुख्य चार श्रेणियों में परिगणित की जा सकती है। देव सम्मत, ऋषि सम्मत, लोक सम्मत और संस्था सम्मत। भीष्म विधि निर्माण के देव सम्मत स्रोत की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य कल्याण के निमित्त जिन विधियों का निर्माण हुआ है, उनमें कुछ ऐसी भी है जिनका निर्माण ब्रह्मा ने स्वयं किया है। ऋषियों ने मनुष्य के पापों के अनुसार प्रायश्चित्तों का विधान किया है। भीष्म इन प्रायश्चित्तों को मान्यता देते हैं और इस प्रकार इनको विधि का आर्य-स्रोत मानते हैं। महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म ने कुछ ऐसे ऋषि-मुनियों के नामों का उल्लेख किया है जो विधि-निर्माता हैं।[४१५] भीष्म ने उसी पर्व में कतिपय ऐसी विधियों के निर्माण की ओर संकेत किया है जिनका स्रोत जनता की सम्मति से है। उनके अनुसार जब समाज व राज्य में मत्स्य न्याय बढ़ने लगा तो जनता ने एकत्रित होकर विधियों का निर्माण किया, जो कठोरभाषी, दण्डपरायण और कामी पुरुषों को नियंत्रण में रखने के विषय में थीं।[४१६] इससे पता चलता है कि अनेक स्रोत में लोक में लोक सम्मत विधि स्रोत भी हैं। प्राचीन राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण शासन सत्ता का विकेन्द्रीकरण है। इसके कारण अनेक्र स्थानीय संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके आश्रित जनता के जीवन का बहुत बड़ा अंश संचालित होता रहा। उनके जीवन के उस अंश को विधिवत संचालित होने के लिए उन्हें कतिपय नियमों का निर्माण करना पड़ता था। कालान्तर में यही नियम विधि का रूप धारण कर लेते थे।

पुर और जनपद

शासन की दृष्टि से राज्य को दो मुख्य भागों में विभक्त किया गया है। भीष्म इन दो भागों को पुर और जनपद के नाम से सम्बोधित करते हैं। पुर राज्य की राजधानी है। राज्य क्षेत्र को पृथक् कर देने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रहता है, उसे वह जनपद कहते हैं। पुर में दुर्ग का होना आवश्यक है। दुर्ग पुर का एक अंश मात्र है।[४१७] भीष्म ने छः प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया

---

४१४. मानव धर्मशास्त्र, १०७/१७

४१५. मानव धर्मशास्त्र, ५८/२, ३

४१६. वही, ६७/१८, १९

४१७. वही, ६९/६

है छन्वदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्य दुर्ग, मृत्तिकादुर्ग और वनदुर्ग। देश काल और परिस्थिति के अनुसार इनमें से किसी एक दुर्ग का राजधानी में निर्माण होना चाहिए।[४१८] जनपद में शासन व्यवस्था की स्थापना हेतु जनपद की छोटी और बड़ी विभिन्न बस्तियों को अनेक वर्गों में विभक्त किया गया है। जपनद शासन की यह योजना दशमलव सिद्धान्त के आधार पर की गई है।

युद्ध के विषय में

भीष्म विख्यात योद्धा थे। केवल राज्य वृद्धि की लिप्सा हेतु युद्ध घोषित करने का भीष्म ने विरोध किया है। राजा को अपने अपकारी जनों का युद्ध द्वारा कभी दमन नहीं करना चाहिए, क्योंकि क्रोध और अक्षमा का आश्रय बालक ही लिया करते हैं।[४१९] भीष्म युद्ध-निषेध सिद्धान्त के पोषक हैं। लोकरक्षा में विघ्न बाधाएँ उपस्थित होती हैं तो उसका शमन करने के लिए राजा को युद्ध घोषित करने का अधिकार दिया गया है।[४२०] ऐसी परिस्थिति में अपने अधीन प्रजा की रक्षा हेतु युद्ध घोषणा विधि सम्मत बतलायी गयी है।[४२१] शरणागत की रक्षा हेतु भी युद्ध करना विधि सम्मत है।[४२२] भीष्म ने धर्मयुद्ध के कुछ नियमों का वर्णन किया है। राजा का युद्ध राजा से ही होना चाहिए। शरणागत का वध नहीं करना चाहिए।[४२३] शांति प्रस्ताव को स्वीकारना चाहिए।[४२४] युद्ध में वृद्ध, बालक और स्त्री और रथ के पृष्ठ भाग में रहने वाले रथ रक्षकों का वध नहीं करना चाहिए।[४२५] भीष्म ने सप्तांग राज्य का प्रधान अंग दण्ड माना है। वह दण्ड के दो स्वरूप मानते हैं, प्रकाश दण्ड और अप्रकाश दण्ड। प्रकाश अथवा बल है, जिसके आठ अंग हैं;[४२६] रथारोही, गजाराही, अश्वारोही, नौकारोही, पैदल, विष्टि, चर और उपदेशक। उन्होंने अप्रकाश दण्ड के भेद बताया है; जंगम, अजंगम, चूर्ण, योग, वस्त्र और भोजन में विष मिलाकर शत्रु का प्राणान्त करना आदि।

---

४१८. मानव धर्मशास्त्र, ८६/५
४१९. वही, १०३/७
४२०. महाभारत, शान्ति पर्व, ८९/१०, ११
४२१. महाभारत, शान्ति पर्व, ६६/१६
४२२. वही, ६६/२१
४२३. वही, ९६/३
४२४. वही, ९६/८
४२५. वही, ९९/४८
४२६. वही, ५९/४०, ४१

गणतंत्र अभिमत

भीष्म राजतंत्रात्मक राज्यों में विशेष आस्था रखने के बावजूद गणतंत्रात्मक पद्धति से परिचित थे। भीष्म के मत से गणतंत्रात्मक राज्यों में धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय व्यवस्था की स्थापना और इस व्यवस्था की मान्यता देना, राज्य में बालकों एवं युवकों को विनयशीलता बनाकर उनको अनुशासित रखना और उन्हें अपराध के अनुसार दण्ड देना, चरों की उचित नियुक्ति और उत्तम मंत्र का वरण करना तथा कोष संचय हेतु प्रयत्नशील होना, बुद्धिमान, बलवान, महान् उत्साही, कर्त्तव्यपरायण तथा पुरुषार्थी पुरुषों का उचित सम्मान करना, क्रोध, भेद, भय, दण्ड, कर्षण, निग्रह और वध का त्याग करना, गण के प्रमुखों का विशेष सत्कार करना, कुलवृद्धों की उपेक्षा न करना, इनका सहयोग सहायता करना, चर विभाग और मंत्रगण के प्रधान के अधीन रहना, अकस्मात क्रोध, मोह और स्वाभाविक लोभ का त्याग करना गणराज्यों की वृद्धि के कारण माने गये हैं।[४२७] गणराज्यों में जाति और कुल की दृष्टि से सभी लोग समान समझे जाते हैं।[४२८] इससे यह स्पष्ट है कि भीष्म राजतंत्र और गणतंत्र दोनों प्रकार की शासन पद्धतियों के मर्मज्ञ थे।

इससे विदित होता है कि प्राचीन राजनीतिक की दार्शनिक आधारशीला सांस्कृतिक विकास के मूलभूत सिद्धान्तों पर निहित थी। तत्कालीन राजनैतिक चेतना व चिन्तन सांस्कृतिक विकास का ही एक पहलू था और उस विकास में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए समुचित स्थान था। इस प्रकार प्राचीन राजनैतिक दर्शन प्रगतिशील था। इसी प्रगतिशील दर्शन ने राजनैतिक अभियानों के सांस्कृतिक स्वरूप का निर्माण किया।

राजनैतिक अभियानों का सांस्कृतिक स्वरूप

राजनैतिक अभियानों के सांस्कृतिक स्वरूपों का निर्माण तत्त्वदर्शियों ऋषियों ने बुद्धिमत्ता, सूक्ष्मदृष्टि, उपयोगिता एवं तथ्य स्थिति को ध्यान में रखकर ही किया है। समूचे राष्ट्र को संगठित और एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए सांस्कृतिक अभियान चलाया जाता था। राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई थी इसलिए तो देव संस्कृति के अध्ययन एवं अन्वेषण के लिए समर्पित पश्चिमी इतिहासकार ए.एल. बाशम के

---

४२७. महाभारत, शान्तिपर्व, ५९/४२

४२८. वही, १०७/१७, २८

ग्रंथ 'द वण्डर दैट वाज इंडिया' के पृष्ठ बताते हैं कि वैदिक संस्कृति में राष्ट्र को देवता और उपास्य माना जाता था। इस तरह वैदिक ऋषि इन अभियानों में अश्वमेध, राजसूय एवं वाजपेय यज्ञों को सम्मिलित करते थे। इन्हीं के माध्यम से राजनैतिक व सांस्कृतिक स्वरूप का दिग्दर्शन होता था।

❑ सांस्कृतिक दिग्विजय-अश्वमेध यज्ञ

राष्ट्र अश्वमेध है।[४२९] अश्वमेध वस्तुतः सांस्कृतिक अभियान है। एमिल बेनवेनिस्ते के शोध अध्ययन 'वैदिक इंडिया' के अनुसार अश्वमेध राष्ट्रीय उपासना की वैदिक पद्धति के रूप में प्रचलित थी। इसे एक अनुष्ठान एवं अभियान का रूप दिया गया था, जिसे शासक, श्रोत्रिय (मनीषी) और जन समूह सभी मिलजुल कर सम्पन्न करते थे। कतिपय इतिहासकारों ने अश्वमेध को राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया माना है। इतिहासविद् सी.ए. ब्रौसके अपने अध्ययन 'ए हिन्ट्री ऑफ हिस्टोरिकल राइटिंग' में स्पष्ट करते हैं कि राष्ट्र और विश्व के राजनीतिक एकीकरण के प्रयास वर्तमान युग में भी किए गए हैं, किए जा रहे हैं। पर उनके उन सुखद परिणामों की वैसी अनुभूति कभी नहीं हुई जैसी वैदिक काल के निवासी अश्वमेध अभियान में किया करते थे। उनके अनुसार अश्वमेध राजनैतिक अभियान का सांस्कृतिक स्वरूप है। मनीषी बार्थ के मतानुसार इन अभियानों का उद्देश्य राष्ट्र देवता के प्रति, जीवन मूल्यों के प्रति विश्वास जाग्रत् करना, जिन्दगी जीने की विधियों का शिक्षण देना था। ये सांस्कृतिक एकता के लिए किए गए प्रयास- राष्ट्र को राजनीतिक, भौगोलिक एवं भावनात्मक स्तर पर समर्थ, सशक्त और दृढ़तम बनाया करते थे।[४३०] इन्हीं तथ्यों को स्वीकृत करते हुए शतपथ ब्राह्मण में राष्ट्र और अश्वमेध को परस्पर अभिन्न माना गया है 'समृद्धि ही राष्ट्र है। राष्ट्र ही अश्वमेध है। राष्ट्र परायण अश्वमेध करें। देवगण यज्ञ में सम्मिलित होते हैं। अश्वमेध का संयोजक सर्वजयी होता है।'[४३१]

शतपथ ब्राह्मण के तेरहवें काण्ड में अश्वमेध का बहुत महिमा वर्णन किया

---

४२९. राष्ट्रं वा अश्वमेधः। शत. ब्रा., १३/१/६/३

४३०. आचार्य श्रीराम शर्मा- दो सहस्र वर्ष बाद एक अभूतपूर्व प्रयास, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ११, पृष्ठ २३

४३१. श्री वै राष्ट्रं। राष्ट्रं वै अश्वमेधः। तस्मात् राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत्। सर्वा वै देवताः अश्वमेधे अन्वायता। तस्मात् अश्वमेध याजी सर्व दिशो अभिजयति।
- शत. ब्रा., १३/१/२/९, ३

गया है। उसे यज्ञों में सर्वोपरि कहा गया है। 'अश्वमेध यज्ञों का राजा है।'[४३२] जो अश्वमेध का यजन करता है। पूर्णांग (इंन्द्रियों सहित स्वस्थ) हो जाता है। यह यज्ञ सबका प्रायश्चित रूप भूलों को विरत करने वाला एवं सबका उपचार भूलों के कारण जो रोग हो गए हों, उन्हें ठीक करने वाला भी है।[४३३] अश्वमेध यजन करने वाला सभी प्रकार के पापों से पार हो जाता है। पापों को दुर्धर्ष कहा गया है। किन्तु इस यज्ञानुष्ठान के प्रभाव से साधक पापों से अप्रभावित होकर लक्ष्य की ओर बढ़ने की क्षमता प्राप्त करता है। अतः ऐसा राष्ट्र समृद्धशाली होता है। आगे चलकर ऋषि उसे सर्वफलदायक घोषित करते हैं 'सब कुछ प्राप्त करने के लिए एवं राष्ट्र में सब प्रकार के अवरोधों के निवारण के लिए अश्वमेध सर्वसमर्थ है।'[४३४]

शतपथ ब्राह्मण में आगे चलकर अश्वमेध के लिए प्रयुक्त अनेक संज्ञाओं-नामों का उल्लेख करते हुए उनके अनुरूप लाभ उस क्षेत्र में सभी को मिलने की बात कहते हैं, जहाँ यह यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। इस यज्ञ का नाम 'प्रभु' है। जहाँ यह यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया जाता है, वहाँ सब कुछ उत्पन्न हो जाता है। सब लोग प्रभुता सम्पन्न हो जाते हैं।[४३५] इस यज्ञ का नाम विभू है। जहाँ यह यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया जाता है, वहाँ सभी लोग विभूतिवान बनते हैं।[४३६] इस यज्ञ का नाम व्यष्टि है। जहाँ इस यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है, वहाँ सभी लोग इष्ट उद्देश्य में सफलता प्राप्त करते हैं।[४३७] इस यज्ञ का नाम विधृति है। जहाँ यह यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया जाता है, वहाँ सभी लोग कीर्तिवान होते हैं।[४३८] इस यज्ञ का नाम व्यावृत्ति है। जहाँ इस यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न होता

---

४३२. राजा वाऽएष यज्ञानां यदश्वमेधः। - शत. ब्रा., १३/२/२/१

४३३. योऽश्वमेधने यजते सर्वऽएव भवति सर्वस्य वाऽएषा प्रायश्चिन्तः सर्वस्य भेषजम्।
- श. ब्रा.,१३/२/१/१

४३४. सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यो सर्वस्या दध्यै। - श. ब्रा. १३/३/१/६

४३५. एष वै प्रभूर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजते सर्वमेव प्रभूतं भवति।
- श.ब्रा., १३/३/७/१

४३६. एष वै विभूर्नाम यज्ञः। यत्रेतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव विभूतं भवति।
- श.ब्रा., १३/३/७/२

४३७. एष वै व्यष्टिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यष्टं भवति।
- श. ब्रा., १३/३/७/३

४३८. एष वै विधृतिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव विधृतिं भवति।
- श. ब्रा., १३/३/७/४

है, वहाँ सभी सुरक्षित हो जाते हैं।[४३९] इस यज्ञ का नाम ऊर्जस्वान (दिव्य ऊर्जा प्रदान करने वाला)है। जहाँ यह यज्ञानुष्ठान सम्पन्न होता है, वहाँ सभी लोग प्राणवान् हो जाते हैं।[४४०] इस यज्ञ का नाम पयस्वान है, जहाँ यह यज्ञ सम्पन्न होता है, वहाँ सभी लोग पयस्वी- दिव्य रसों के भागीदार होते हैं।[४४१] इस यज्ञ का नाम ब्रह्मवर्चसी (ब्रह्मवर्चस प्रदायक) है। इस यज्ञानुष्ठान में भाग लेने वालों को ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति होती है।[४४२] इस यज्ञ का नाम अतिव्याधी है। जहाँ यह यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया जाता है, वहाँ क्षात्र धर्म का पालन करने वाले अपने लक्ष्यवेध में समर्थ होते हैं।[४४३] इस यज्ञ का नाम दीर्घ है। जहाँ इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है, वहाँ पुण्य वन सम्पदा की वृद्धि होती है।[४४४] इस यज्ञ का नाम क्लृप्ति है। जहाँ यह यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया जाता है, वहाँ सभी लोगों की कर्मकुशलता में वृद्धि होती है।[४४५] इस यज्ञ का नाम प्रतिष्ठा है। जहाँ यह यज्ञानुष्ठान सम्पन्न होता है, वहाँ सभी को पावन प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।[४४६]

इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि अश्वमेध कोई सामान्य कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि यह व्यापक अनुष्ठान एवं अभियान है। इस अनुमान की पुष्टि निम्नांकित प्रसंग से होती है 'प्रजापति ने अन्य यज्ञों को तो दूसरे देवताओं को दे दिया था, परन्तु अश्वमेध को अपने पास रख लिया था। इस पर अन्य देवताओं ने विरोध

---

४३९. एष वै व्यावृत्तिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यावृतं भवति।
- श.ब्रा., १३/३/७/५

४४०. एष वै वाऽऊर्जस्वान्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेवोर्जस्वद् भवति।
-श.ब्रा., १३/३/७/६

४४१. एष वै पयस्वान्ताम: यज्ञः। यैत्रैते यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव पयस्वद्भवति।
- श.ब्रा., १३/३/७/७

४४२. एष वै ब्रह्मवर्चसी नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्तऽआ ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायते।
- श.ब्रा., १३/३/७/८

४४३. एष वै अतिव्याधी नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्तऽआ राजन्योऽति व्याधी जायते।
-श.ब्रा., १३/३/७/९

४४४. एष वै दीर्घो नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्तऽअ दीर्घारण्यं जायते।
- श.ब्रा., १३/३/७/१०

४४५. एष वै क्लृप्तिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव क्लृतं भवति।
- श.ब्रा., १३/३/७/११

४४६. एष वै प्रतिष्ठा नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव प्रतिष्ठितं भवति।
- श.ब्रा., १३/३/७/१२

करके अश्वमेध में भी अपनी भागीदारी को सुनिश्चित कराया था।'[४४७] शपतथ ब्राह्मण में समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रजापति द्वारा अश्वमेध यज्ञानुष्ठान किए जाने का विवरण इस प्रकार है 'प्रजापति ने इच्छा की कि मेरी सभी कामनाएँ पूरी हो जायें। मुझे सभी पदार्थ मिले। उसने उस त्रिरात्रि (तीन रात वाले) यज्ञक्रतु, अश्वमेध को देखा। उसको ले आया। उससे यज्ञ किया। इस यज्ञ को करके सब कामनाओं को पूरा किया। सब पदार्थों को प्राप्त किया। जो अश्वमेध करता है, उसकी सभी कामनाओं की पूर्ति होती है। वह सभी पदार्थों को प्राप्त कर लेता है।'[४४८] अत: राष्ट्र में समृद्धि एवं सर्वांगीण विकास की कामना हेतु अश्वमेध अनुष्ठान का विधान बताया गया है। इन्हीं कारणों से प्राचीन काल में अनेक सर्वजयी नरेशों-लोकनायकों का विवरण प्राप्त होता है, जिन्होंने अपने सत्प्रयत्नों द्वारा न केवल वैदिक संस्कृति की गरिमा का विस्तार किया बल्कि राष्ट्रवासियों में देवत्व उदय करने में सफल हुए। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में सुवर्च्चा के पुत्र अविक्षित का विवरण मिलता है। धर्मानुरागी, राजनीतिज्ञ, धैर्यवान और जितेन्द्रिय नरेश अविक्षित, जिनका एक नाम कारंधम भी था, सौ अश्वमेध सम्पन्न किए। पृथ्वी को उपजाऊ बनाने की नवीन तकनीकों पर शोध करने वाले महाराज पृथु के सौ अश्वमेधों में संकल्प और उसके सत्परिणामों का विवरण मिलता है। इस प्रकार और भी नरेशों ने राष्ट्र को संगठित एवं विकसित करने हेतु अश्वमेध अभियान प्रारम्भ किया था। उक्त विवरणों से स्पष्ट है कि यह अश्वमेध यज्ञानुष्ठान एक विराट् अभियान है। यह किसी राजा की राज्यलिप्सा की पूर्ति करने के लिए किया गया अहंकारी कृत्य भी नहीं हो सकता। इस महान् यज्ञीय अनुष्ठान का स्वरूप तो ऋषियों की दृष्टि का अनुगमन करके ही समझा जा सकता है। यहाँ उस संदर्भ में एक-एक बिन्दु पर विचार किया जा रहा है।

अश्व की अवधारणा

अश्व का प्रचलित अर्थ घोड़ा ले लिया जाता है। सांसारिक अर्थों में यह ठीक भी है। किन्तु यज्ञीय विशिष्ट संदर्भ में तो उसकी मौलिक व्याख्या तक जाना ही पड़ेगा। अश्व शब्द की व्युत्पत्ति- अशू+क्वन्, अश्नुते अध्वानम्, अश्नुते व्याप्नोति

---

४४७. प्रजापति: देवेभयो याज्ञान्व्यादिशत्। आत्मन्नश्वमेधमधन्त ते देवा: प्रजापति मब्रुवन्नेषु वै यज्ञो यदश्वमेधोऽपि नोऽत्रास्तु भाग इति ....। - शत., १३/२/१/१

४४८. प्रजापतिरकामयत। सर्वान्कामानाप्नुयाथ्ठ सर्वाव्यष्टीर्व्यश्नुवीयेतति सऽएतमश्वमेधं त्रिरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहस्ते नायजत तेनेष्ट्वा सर्वान्कामनाप्नोत्सर्वा व्यष्टी र्व्यानुत सर्वान्ह वै कामानोप्नोति सर्वात्यष्टीर्व्युश्नुते योऽश्वमेधने यजते। -शत., १३/४/१/१

अर्थात् तीव्र गति वाला, मार्ग पर व्याप्त हो जाने वाला। महाशतो भवति वा अश्वः, बहु अश्नातीति इति अश्वः के अनुसार अधिक मात्रा में आहार करने वाला अश्व है। उक्त गुणों के कारण घोड़े को अश्व संज्ञा दी गयी है। घोड़े के लिए प्रयुक्त अन्य संज्ञाओं में भी ऐसे ही अर्थ सन्निहित हैं, जैसे अत्य-अतति, गच्छति-गतिशील। हयः- ध्यति-गच्छति, अर्वा- गमनशील, चंचल आदि। अश्व को गुणवाचक संबोधन के रूप में ही शास्त्रों ने लिया है, जातिवाचक संज्ञा तक उसे सीमित नहीं रखा गया है। नीचे दिये गये उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है- 'इन्द्र ही अश्व है'[४४९] गोपथ ब्राह्मण के अनुसार 'सूर्य का सूर्यत्व (तेज) ही अश्व है।'[४५०] वेदों में अनेक स्थानों पर यज्ञाग्नि को अश्व कहा गया है। ऋग्वेद में कहा है 'अश्व सूर्य का प्रतीक है। वसुओं ने यज्ञीय अश्व (अग्नि को) सूर्य से प्रकट किया है।'[४५१] 'वीर्य वै अश्वः' शौर्य ही अश्व है, तथा 'श्री वै अश्वः', सम्पदा ही अश्व है। कहा है 'अग्निर्वा अश्वः आग्यं मेधः', के अनुसार अग्नि ही अश्व एवं घृत ही मेध है। शतपथ ब्राह्मण के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द ने ईश्वर को अश्व माना है। 'अश्वनो यत् ईश्वरो वा अश्वः, अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः' अर्थात् सारे संसार में संचरित होकर संव्याप्त होने वाला अश्व 'ईश्वर' है। उक्त शास्त्रीय उद्धरणों पर ध्यान देने से पता चलता है कि अश्व शब्द का अर्थ केवल घोड़ा मान लेना अपने अज्ञान के कारण ही सम्भव है। इसी पूर्वाग्रह युक्त मान्यता के कारण अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

मेध भी समझें

मेध शब्द यज्ञ का पर्यायवाची है। उसका एक अर्थ वध भी होता है, किन्तु शास्त्रों ने उस अर्थ में उसका प्रयोग वर्जित किया है। वेद विद्या के मर्म को जान सकने में असमर्थ जन सामान्य इन भ्रान्त व्याख्याओं से भ्रमित हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु मेध यज्ञों के दर्शन का अनुसंधानकर्त्ता ऋषियों ने सही स्वरूप स्पष्ट किया है। इस क्रम में विचार करने पर पाते हैं कि मेध शब्द उसके साथ जुड़ी संज्ञा से सन्दर्भित है। वैदिक वाङ्मय में चार प्रकार के मेध यज्ञ बहु प्रचलित हैं- सर्वमेध, नरमेध, अश्वमेध और गोमेध। इनमें से सर्वमेध का तात्पर्य है, निजी सम्पदा, प्रतिभा एवं आयुष्य को समष्टिगत सत्प्रयोजनों के लिए समर्पित

---

४४९. इन्द्रौ वै अश्वः। - कौषीतकि ब्रा., १५/४

४५०. सौर्य्यो वा अश्वः। गोपथ ब्रा., ३-३/१९

४५१. गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट। ऋग., १/१६/३/२

कर देना। निजी सम्पत्ति के रूप में कुछ भी संग्रह, परिग्रह पास न रखना। वाजश्रवा, हरिश्चन्द्र आदि ने अपने समय की मांग पूरा करने के लिए ऐसे ही सर्वमेध सम्पन्न किये हैं।[४५२] नरमेध का अर्थ है तपस्वी जीवन। अभ्यस्त लोभ, मोह, अहंता के कुसंस्कारों का परित्याग। पुत्रेष्णा, वित्तेष्णा, लोकेष्णा की कामना अभिलाषाओं से विमुख होना। गतिविधियाँ तपश्चर्या युक्त बनाना। चिन्तन में उदारता, आत्मीयता का अधिकाधिक समावेश करना। अश्वमेध सामर्थ्यों को राष्ट्र निर्माण के लिए हठपूर्वक नियोजित करने की प्रक्रिया है। संचित कुसंस्कारिता क्षुद्र प्रयोजन में निरत रहने के लिए ललचाती रहती है। कुत्साओं से घिरा हुआ लोक प्रवाह तथा स्वजनों का आग्रह भी ऐसे दबाव डालता रहता है। इन समस्त अवरोधों को चीरते हुए उपलब्ध सामर्थ्य में से निर्वाह के लिए न्यूनतम रखने के उपरान्त शेष को राष्ट्रहित में लगा देने की व्रतशीलता अश्वमेध है।[४५३] गोमेध का अर्थ है- प्रसुप्त सत्प्रवृत्तियों के जागरण में स्वाध्याय, शिक्षण कौशल आदि का विस्तार।

इससे पता चलता है कि मेध का अर्थ समर्पण या संगठन होता है। यज्ञ में प्राणी हिंसा की बात किसी शास्त्रानुमोदित नहीं हो सकती। वेद मनीषी पं0 दामोदर सातवलेकर ने यजुर्वेद भाष्य के संदर्भ में मेध शब्द के अर्थ- १. मिलना, २. परस्पर मित्रता करना, ३. ऐक्य करना, ४. एक दूसरे को जानना, ५. जोड़ना, ६. प्रेम करना, ७. धारणा बुद्धि का बल और तेज बढ़ाना, ८. पवित्रता करना, ९. सत्व बल और तेज बढ़ाना लिए हैं। वाजसनेयी संहिता के बत्तीसवें अध्याय में भी मेध का अर्थ उपर्युक्त संदर्भों में ही किये जाने का आग्रह भाष्यकारों ने किया है।

इस तरह अश्वमेध का अर्थ स्पष्ट होता है। अश्व गतिशीलता का, शौर्य का, पराक्रम और मेध मेधा शक्ति, श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता का प्रतीक होने से अश्वमेध का सहज अर्थ होता है 'शौर्य पराक्रम तथा कल्याणकारी मेधाशक्ति का संयोंग-संगम।' अश्व को क्षात्र शक्ति एवं मेध को ब्रह्म वृत्ति का प्रतीक मानने से उनका संयोग एक पवित्र एवं महान् यज्ञ कर्म बनता है। उत्कृष्ट विचार शक्ति एवं श्रेष्ठ प्रयोजनों के लिए समर्पित पुरुषार्थ के योग से ही आदर्श राष्ट्र की रचना हो सकती है। इसलिए राष्ट्र निर्माण को अश्वमेध कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार 'अश्वमेध ही

---

४५२. आचार्य श्रीराम शर्मा- मेध सम्बन्धी भ्रांतियों को निर्मूल बताते हैं- ये प्रतिपादन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ११, पृष्ठ २९

४५३. वही,

राष्ट्र है। जो सार्वभौम क्षमता सम्पन्न हो, वही अश्वमेध सम्पन्न करें। निर्वीर्य व्यक्ति अश्वमेध यज्ञ न करें।'[४५४] इसी संदर्भ में शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है 'राष्ट्र ही अश्वमेध है इसलिए अश्वमेध के माध्यम से राष्ट्र का यजन (संगतिकरण, संगठन) करें।'[४५५] शतपथ ब्राह्मण में बार-बार 'अश्मेधेन यजेत' का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ होता है, अश्वमेध से यजन करें। यहाँ गूढ़ार्थक प्रयोग है यथा 'शौर्य एवं मेधाशक्ति के संयोंग से यजन करें।' पश्चिमी मनीषी ब्लूमफील्ड ने अपने शोध अध्ययन 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैदिक इण्डिया' में इसे राष्ट्रीय उपासना की अनुकरणीय पद्धति कहा है। राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए योजनाबद्ध प्रयास करने को अश्वमेध कहते हैं।[४५६] अश्वमेध यज्ञ प्राचीन सार्वभौम राजाओं द्वारा सम्पन्न किया गया था। यह यज्ञ राजाओं के राजा द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था। यह यज्ञ दिग्विजय के बाद किया जाता था। इसे राष्ट्र की समृद्धि का यज्ञ माना जाता है। प्राचीन काल में सम्राट अपने राष्ट्र की स्थिरता के लिए यह यज्ञ करता था। यह यज्ञ राजनीतिक सर्वोच्चता एवं संस्कृति का प्रतीक तो था ही, लेकिन धन, शक्ति, पुत्र, पापों से स्वतंत्रता आदि की दृष्टि से भी इस यज्ञ का पर्याप्त महत्त्व था। इस यज्ञ द्वारा यह कामना की जाती थी कि राज्य एवं राष्ट्र सभी प्रकार के धन-धान्य से पूर्ण रहे, राज्य में सभी प्रकार के कल्याण का अस्तित्व रहे, राज्य में प्रचुर खाद्य-पदार्थों, पशु और घी-दूध से परिपूर्ण हो, राज्य के हित निरन्तर प्रवाहशील एवं प्रगतिशील रहे, राज्य का गौरव एवं प्रतिष्ठा बढ़े, यहाँ सम्पत्ति एवं समृद्धि बढ़े, राज्य को पापों से दूर करने की शक्ति का विनाश हो तथा देश के ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में राष्ट्र सेवा की उमंग उमगे।

अश्वमेध का दिग्विजय

अश्वमेध एक ऐसा सांस्कृतिक अभियान है, जो दिव्य मेधा एवं दिव्य पुरुषार्थ को जाग्रत् करके उन्हें संयुक्त करके, राष्ट्रव्यापी स्तर पर यज्ञीय जीवनक्रम से जन-जन को जोड़ देता है। अश्वमेध के साथ दिग्विजय यात्रा अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। दिग्विजय यात्रा पूरी किये बिना अश्वमेध यज्ञ की आधार भूमि ही नहीं बनती है। वैदिक संस्कृति में आत्मविजय-मनोजय को ही सबसे श्रेष्ठ विजय माना गया है। अश्वमेध प्रकरण में दिग्विजय का ही विधान है। समय के

---

४५४. राष्ट्रं वा अश्वमेधः। परा वा एष सिच्यते। -तैत्ति. ब्रा., ३/८/९

४५५. राष्ट्रं वै अश्वमेधः, तस्माद्राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत। -श.ब्रा.,

४५६. स्वामी विद्यानन्द सरस्वती- आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता, पृष्ठ २०६

अनुरूप कुछ सांस्कृतिक अनुशासनों को अनिवार्य मानकर उनका विस्तार जन-जन तक किया जाता था। उन अनुशासनों-निर्धारणों को धातु की पट्टियों पर अंकित करके यज्ञाश्व पर स्थापित किया जाता था। अश्व सारे क्षेत्र में घूमता था। उस पर अंकित सूत्रों को पढ़कर लोग उस समय के ऋषियों एवं शूरवीरों द्वारा घोषित अनिवार्य नियमों को जान लेते थे और उनका अनुसरण करने लगते थे। यह एक विशुद्ध सांस्कृतिक अभियान होता था। शक्ति के बल पर लोगों को पराधीन करने वाला व्यक्ति अश्वमेध करने के योग्य नहीं माना जाता था। यज्ञीय सद्भाव प्रेरित सांस्कृतिक यात्रा ही राष्ट्र के जन-जन में देव वृत्तियों को जन्म दे सकती है, जिनके आधार पर स्वर्गीय पदार्थों की पात्रता सिद्ध होती है। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में भी ऐसा ही विवरण मिलता है। युधिष्ठिर ने यज्ञाश्व के साथ अर्जुन को भेजा और यह निर्देश दिया कि 'यदि कोई राजा अश्वमेध की घोषणाओं को स्वीकार न करे तो भी झगड़ा मत करना, उससे समय पर यज्ञ में पहुँचने का आग्रह करना।' उन्हें इस बात का भरोसा था कि यदि काई भ्रमवश असहमति प्रकट करता है, तो भी यज्ञीय वातावरण में ऋषियों एवं वीर पुरुषों की सहमति के प्रभाव से वह भी सहमत हो जायेगा। अत: इससे सिद्ध होता है कि अश्वमेध सांस्कृतिक अभियान है।

मनीषी चार्ल्स ड्रेकमायर के ग्रंथ 'प्रिबुद्धिस्ट इंडिया' के अनुसार अश्वमेध की एक विशेष प्रक्रिया राजसूय स्तर की भी सम्पन्न होती रही है। सामन्तवादी उच्छृंखलता के कारण शासकों के अनाचार प्रजा पीड़क न बनने पाएँ इसलिए उन्हें सर्वतंत्र स्वतंत्र नहीं रहने दिया जाता था। उन्हें किसी विशेष केन्द्रीय नियंत्रण के अन्तर्गत रखने के लिए समय-समय पर ऐसे आयोजन होते रहते थे। जो स्वेच्छाचारिता का आग्रह करते थे, उन्हें बलपूर्वक वैसा करने से रोका जाता था। ड्रेकमायर के अनुसार इसका एक अन्य स्वरूप वाजपेय स्तर का भी सम्पन्न किया जाता रहा है। विचारों की स्वेच्छाचारिता को आदर्शवादी दिशाधारा के अन्तर्गत रखने में समर्थ आत्मवेत्ता 'दिग्विजय' के लिए निकलते थे। अत: इस रूप में भी अश्वमेध एक सांस्कृतिक अभियान सिद्ध होता है।

❑ राष्ट्रीयता का उद्घोष-राजसूय यज्ञ

राजसूय यज्ञ द्वारा शासक राजा बनता है और वाजपेय यज्ञ द्वारा सम्राट।[४५७] शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ही दीक्षितार ने उपरोक्त कथन की पुष्टि की है।

---

४५७. N.N. Law- Aspects of Indian Polity, pp.18-19

राजसूय यज्ञ की मुख्यतम अथवा केन्द्रीय विशेषता अभिषेक संस्कार है। राजा का उद्घाटन समारोह राजसूय यज्ञ ही है।[४५८] डॉ. जायसवाल ने लिखा है कि 'समाज के प्रधानों अथवा राजाओं को सम्मिलित करने के लिए श्रुतियों में तीन यज्ञों का उल्लेख है। जिनमें से एक राजसूय यज्ञ है जिसके अनुसार व्यक्ति राजपद का अधिकारी होता था। दूसरा यज्ञ वाजपेय है जिसके द्वारा राजा-राजर्षि अथवा राजधर्माधिकारी पद का अधिकारी बनता था।' बंद्योपाध्याय के अनुसार राजसूय यज्ञ राजाओं के लिए किया जाता था। राजसूय यज्ञ में सात विशिष्ट यज्ञ सम्मिलित थे; १.अग्निस्तोम- यह यज्ञ ५ दिन में पूरा होता था। इस दौरान राजा को बड़े समारोह के साथ दीक्षित किया जाता था और राजपुरोहित को उपहार आदि भेंट किये जाते थे। २. अभिषेचन इस यज्ञ के दौरान राजा पर लगभग १७ प्रकार के तरल पदार्थ छिड़के जाते थे, राजा बनने की औपचारिक घोषणा की जाती थी। राजा को यज्ञमय तलवार भेंट दी जाती थी। ३. दास-पेय- यह सोमरस का प्याला पीने का समारोह था। ४. केशव पाणीय यह बाल काटने का समारोह था। ५. अतिरात्र यज्ञ, ६. व्युष्टि द्विरात्र एवं ७. क्षत्र धृति, यह अंतिम समारोह शाही सत्ता के प्रयोग से सम्बन्धित था। इन सभी संस्कारों का उद्देश्य दैवी शक्तियों को प्रसन्न करना था ताकि राजा को भावी संकटों से बचाया जा सके और उनके आशीर्वाद से राष्ट्र की रक्षा कर सकें।

डॉ. जायसवाल ने राजसूय यज्ञ अथवा अभिषेक समारोह को तीन मुख्य भागों में बाँटा है; प्रारम्भिक अनुष्ठान, अभिषेचन संस्कार एवं बाद के अन्य संस्कार। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिषेचन संस्कार था। प्रारम्भिक यज्ञानुष्ठान में भावी राजा विभिन्न रत्नियों के घर जाता था और उन्हें रत्न हवियाँ सौंपता था। इन रत्नियों की संख्या ग्यारह थी। ये थे; सेनानी, पुरोहित, महिषी (महारानी), सूत, ग्रामीण, क्षत्री, संग्रहित (कोषाध्यक्ष), भाग दुधा (भूमि कर वसूल करने वाला), आक्षावाय, गोविकृत पालागल। इन ग्यारह रत्नियों के अतिरिक्त स्वयं राजा होता था। इन रत्नियों को यह सम्मान इसलिए प्रदान किया जाता था, क्योंकि इनका अस्तित्व पहले से ही रहता था तथा राजा के लिए इनकी स्वामिभक्ति परमावश्यक थी। रत्नियों को सम्मान प्रदान करने के पश्चात् राजा को समाज के विभिन्न वर्गों से अनुमति लेनी होती थी कि क्या वे उसके राजपद ग्रहण करने में सहमत हैं। पृथ्वी माता को भी श्रद्धाभाव से सम्मान दिया जाता था ताकि वे राष्ट्र को समृद्ध बनाये रखें। उसके बाद राजा सोम और रुद्र को चरु प्रदान करता है। इस विधान के बारे में शतपथ

---

४५८. U.R.R. Dikshitar- Hindu Administrative Institution, p.82

ब्राह्मण में स्पष्टिकरण दिया गया है कि प्रायश्चित करके देवताओं को पूजन द्वारा सन्तुष्ट किया जाता है। अभिषेचन समारोह में पवित्र सरोवरों, नदियों एवं समुद्रों का जल संग्रह किया जाता था। जलाभिषेक के दौरान् राजा का नाम उच्चारण किये जाने का विधान था। अभिषेचन समारोह दो भागों में बंटा हुआ था। पहले तो विभिन्न वर्णों या वर्गों के प्रतिनिधि एकत्रित किये गए जल को राजा के ऊपर अभिसिंचत करते थे और उसके बाद राजपुरोहित द्वारा निर्वाचित राजा के राज सिंहासन पर बैठने से पूर्व उसका अभिषेक किया जाता था। अभिषेक करने वाले चार व्यक्ति होते थे- ब्राह्मण, निर्वाचित राजा के कुल या गोत्र का व्यक्ति, क्षत्री और वैश्य। अभिषेक के समय भाव किया जाता था- 'अन्तरीक्ष और इस पृथ्वी को जो दिव्य जल अपने सत्व रस से तृप्त करते हैं, उन सब जलों के तेज से मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, जिससे तुम इस तेज से युक्त हो।'[४५९] इस प्रकार अभिषेचन के पश्चात् राजा को वस्त्रालंकृत करके उसके सिर पर रत्नजड़ित मुकुट पहनाया जाता था। इस क्रिया के बाद ही राजा को राजसत्ता प्राप्त होती थी। राजसत्ता प्राप्त राजा से प्रार्थना करके कही जाती थी 'कि हम लोगों ने तुम्हें इस राजगद्दी पर आसीन किया है और तुम्हारा कर्त्तव्य है कि राज्य की सुव्यवस्था, सुशासन एवं समृद्धि प्रदान करो, ताकि प्रजा तुम्हारे कार्यों से सन्तुष्ट एवं चारों ओर से निर्भय हो।'[४६०] राजा से राज्य के प्रति आत्मसमर्पण का भाव जगाना राजसूय यज्ञ के माध्यम से कराया जाता था।

राज्याभिषेक के बाद राज्य में घोषणा की जाती थी। पुरोहित के सम्बोधन के बाद राजा प्रजा के लिए अनेक शपथ लेते हुए कहता है 'मेरा सिर प्रजा की शोभा है, मेरा मुख उसका यश है, तेजस्वी मनुष्य मेरे प्राण हैं, मेरी जिह्वा प्रजा की कल्याण की बात का उच्चारण करे और मेरी वाणी प्रजा की महत्ता का बखान करती रहे। प्रजा का विशेष कल्याण मेरा अंग है। उसकी सहन शक्ति मेरा मित्र है। मेरी वीरता उसका शारीरिक बल है।' ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उसे कहना होता था कि जिस रात मैंने जन्म लिया और जिस रात में मृत्यु होगी, उसके मध्य में मेरे द्वारा जो भी अच्छे कार्य किए गए हैं वे सब नष्ट हो जाएँ, मैं अपने स्वर्ग, अपने जीवन और अपनी सन्तान से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं तुम्हें सताऊँ अथवा हानि पहुँचाऊँ। इस कर्मकाण्ड द्वारा स्पष्ट होता है कि राजा एवं उसके राज्य के सर्वांगीण प्रगति एवं विकास की कामना की जाती थी। अतः यह कहा जा सकता

---

४५९. अथर्व., ४/८/५

४६०. ऋग., ३/४७/२

है कि राजसूय यज्ञ में राज्य एवं राष्ट्र के उत्थान, विकास एवं समग्र कल्याणार्थ किये जाने का विधान है। उत्तर वैदिक काल में आर्यों के राजनीतिक संगठन पर 'रत्नहवींषि' संस्कार से अधिक पड़ता है। यह संस्कार राजसूय यज्ञ का अंग था।[४६१] 'रत्नहवींषि संस्कार के सिलसिले में राजा जिन लोगों के द्वार पर जाता था, उनका राजनीतिक महत्त्व अनेक अवतरणों में बहुत स्पष्ट रूप से उजागर हुआ है। राजा इन रत्नियों को अपने राज्य का आधार स्तंभ मानता है। इस बात पर अनेक लेखकों ने भी जोर दिया है।'[४६२] रत्नियों को 'राष्ट्रस्य पदातरः' अर्थात् राज्य देने और लेने वाले कहा गया है। यह भी कहा गया है कि यदि रत्नि ओजस्वी और तेजस्वी हुए तो वह राष्ट्र भी ओजस्वी और तेजस्वी होगा।[४६३] इस तरह भी देखा जाय तो राजसूय यज्ञ राष्ट्र को प्रखर एवं तेजस्वी बनाता है।

पाश्चात्य विद्वानों में सर्वप्रथम बेवर ने राजसूय के राजनीतिक फलितार्थों पर प्रकाश डाला। राजसूय यज्ञ के एक संस्कार में पुरोहित राजा की पीठ पर चुपचाप दण्ड प्रहार करता है।[४६४] कुछ लेखक इसे पुरोहितों की सत्ता की पराकाष्ठा मानते हैं।[४६५] दूसरों की मान्यता यह है कि इसके द्वार राजा कानून के अधीन लाया जाता था।[४६६] और कुछ अन्य मनीषियों की मान्यता है कि इस विधि से राजा की शुद्धि की जाती थी या उसे विशेषाधिकार जैसे- दण्ड से परे है, प्रदान किया जाता था।[४६७] कुछ स्रोतों से अंतिम अनुमान का समर्थन होता है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि इस क्रिया द्वारा राजा को न्यायिक दण्ड से विमुक्त किया जाता है। एक परवर्ती ग्रंथ में कहा गया है कि इस संस्कार द्वारा राजा को पापमुक्त कर उसे मरणातीत बनाया जाता है।[४६८] लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय' के अनुसार 'राजसूय ऐसा यज्ञ है जो राजाओं के राज्याभिषेक के अवसर पर किया जाता था। इसका उल्लेख यजुर्वेद संहिता में भी आया है। आर्ष वाङ्मय में उपलब्ध विवरण

---

४६१. रामशरण शर्मा- प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ १७९

४६२. U.N. Ghoshal- Histiriography and other Eassys, pp. 150-51

४६३. ...... यस्य वा एतान्योजस्वीनि भवन्ति तद्राष्ट्रभोजस्वि भवति...... यस्य वा तानि तेजस्वीनि भवन्ति तद्राष्ट्रं तेजस्वी भवति। – वही

४६४. श.ब्रा., ५/४/४/७

४६५. Weber- Uber Den Rajsuya, p.63 यह घोषाल की पुस्तक, Histiriography and other Eassys के पृष्ठ २, पाद टिप्पणी ३७ में उद्धृत है।

४६६. Jaiswal- Hindu Polity, p. 217

४६७. U.N. Ghoshal- Histiriography and other Eassys, p.269

४६८. का. श्रौ. सू., १५/१९१-९२

के अनुसार राजसूय यज्ञ में राजा को वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित करके उसे धनुष-बाण दिया जाता था और पवित्र जल से उसका अभिषेक किया जाता था तथा राजा को एकछत्र शासक घोषित करता था।'[४६९] इसे राजनीतिक यज्ञ अथवा राजाओं का अभिषेक संस्कार माना गया है। राजा अभिषिंचित होता था और राजन्य के साथ कृत्रिम युद्ध करते थे। वह आकाश में उछलकर अपने को एकछत्र शासक प्रदर्शित करता था।[४७०] डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय के अनुसार 'चक्रवर्ती सम्राट के अभिषेक के लिए वाजपेय तथा राजसूय यज्ञों का विधान था।'[४७१] इन तमाम तथ्यों से भी पता चलता है कि राजसूय यज्ञ राजनैतिक अभियानों का सांस्कृतिक स्वरूप है। इसी क्रम में वाजपेय यज्ञ भी आता है।

❑ सांस्कृतिक प्रतीक-वाजपेय यज्ञ

वाजपेय यज्ञ के समस्त क्रियाकलापों का गम्भीर पर्यवेक्षण करने पर उसे राष्ट्र के वातावरण का परिशोधन और जन मानस के परिष्कार का बहुमूल्य प्रयोग माना जा सकता है। मानवीय जीवन की व्यथा, पीड़ा, पारिवारिक विग्रह, सामाजिक वैमनस्य, राजनैतिक कटुता एवं भ्रष्टता, जातिभेद, वर्ग संघर्ष, युद्धोन्माद जैसे यक्ष प्रश्नों का हल ऋषिवाणी समवेत स्वरों में देती है- 'वाजपेय यज्ञ।'[४७२] वाजपेय यज्ञ के विषय में कई तरह की व्याख्याएं प्राप्त होती हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसे करने का अधिकारी ब्राह्मण और क्षत्रिय होते थे। अन्य ग्रन्थों के मत से वाजपेय यज्ञ ब्राह्मण द्वारा पुरोहित पद ग्रहण करने और राजाओं द्वारा राज्याभिषेक के पूर्व का संस्कार था।[४७३] इसके पीछे यही कारण था कि प्रारम्भ में इसे बृहस्पति और इन्द्र दोनों ने किया था। वाजपेय यज्ञ को वरीयता प्रदान की गयी है क्योंकि इस यज्ञ को सम्राट द्वारा किया जाता था। दीक्षितार के अनुसार इस यज्ञ में राजा द्वारा उत्तर की ओर सत्रह बाण छोड़े जाते थे। ऐसा करके यह प्रदर्शित करता था कि वह अनेक लोगों का शासक है। परन्तु ऋषि प्रणीत मान्यता समग्रता का बोध कराती है। तत्त्वदर्शी मनीषियों को राष्ट्र को समर्थ और सशक्त बनाने हेतु सांस्कृतिक अभियान छेड़ने की अधिक आवश्यकता महसूस हुई। इन्हीं

---

४६९. लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'- भारतीय संस्कृति कोश, पृष्ठ ७६८

४७०. डॉ. हरदेव बाहरी- प्राचीन भारतीय संस्कृति कोश, पृष्ठ ३३३

४७१. डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय- भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १३

४७२. आचार्य श्रीराम शर्मा- आज की ज्वलंत समस्याओं को सुलझाएगा वाजपेय यज्ञ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक ६, पृष्ठ १४

४७३. लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'- भारतीय संस्कृति कोश, पृष्ठ ८२२

कारणों से वे वाजपेय यज्ञ द्वारा चेतना के संघात से राष्ट्र के वातावरण में वांछित परिवर्तन किए जाने की संभावना व्यक्त करते हैं। वाजपेय यज्ञ का एक पक्ष व्यक्तित्व परिष्कार और राष्ट्र निष्ठा के प्रशिक्षण का है। चरित्र-निष्ठा और समाज निष्ठा की गरिमा और उपयोगिता को इस महायज्ञ के साथ जुड़े हुए विशिष्ट कर्मकाण्डों की व्याख्या और विवेचना में ढूँढा-खोजा, सीखा-समझाया जा सकता है। इस कसौटी पर कसने पर इसे श्रद्धासिक्त उपचार कह सकते हैं, जिसके माध्यम से उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्त्तृत्व का धर्मशिक्षण सर्वसुलभ बनता है। वाजपेय के इस ज्ञान पक्ष की उपयोगिता का जितना महात्म्य कहा जाय उतना ही कम है।[४७४]

इस महायज्ञ के दृश्य और अदृश्य प्रभावों का आकलन करके प्राचीन ऋषियों एवं मनीषियों ने निष्कर्ष निकाला कि वाजपेय यज्ञ जिस किसी स्थान पर होता है वह स्थान तीर्थ बन जाता है। एक स्थान पर कहा गया है 'जिस समय अनुपम क्रांतिवान, विक्रमशील नरपति श्रेष्ठ राजा धर्मपूर्वक इस पृथ्वी पर शासन करते थे। उस समय पवित्र पुण्यदाता दृषद्वती नदी के तीर पर सत्व, शान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, रजोगुणविहीन, सत्यपरायण ऋषियों ने दीर्घसत्र वाले वाजपेय यज्ञ को सम्पन्न किया था।'[४७५] इसी प्रकार अयोध्या के सम्बन्ध में उल्लेख है कि अयोध्यापुरी में सूर्यवंशी राजा वैवस्वत मनु चक्रवर्ती नरेश के पद पर प्रतिष्ठित थे। वे सदा वाजपेय यज्ञानुष्ठान में संलग्न रहते थे। इससे उनके शासन काल में अयोध्यापुरी के भीतर अकाल, मृत्यु, रोग आदि कष्ट किसी को नहीं होते थे। सूर्यवंश में ही राजर्षि सांकलायन हुए जिनके राज्य में समूची पृथ्वी शस्य-श्यामला एवं धन-धान्य से सम्पन्न थी। यह सब उनके द्वारा दिये जाने वाले वाजपेय यज्ञों का ही प्रभाव था।[४७६] यही कारण है कि वाजपेय यज्ञ की महानता एवं फलश्रुतियों से आर्ष साहित्यों के पन्ने भरे पड़े हैं- 'वाजपेय में प्रसन्न हुए देवता मनुष्यों पर कल्याण की वर्षा करते हैं।'[४७७] समस्त देवगण वाजपेय यज्ञ में सम्मिलित होते हैं। वाजपेय का संयोजक सर्वजयी होता है।[४७८] जो वाजपेय का यजन करता है, वह पूर्णांग

---

४७४. आचार्य श्रीराम शर्मा- आज की ज्वलंत समस्याओं को सुलझाएगा वाजपेय यज्ञ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक ६, पृष्ठ १५

४७५. आचार्य श्रीराम शर्मा- आज की ज्वलंत समस्याओं को सुलझाएगा वाजपेय यज्ञ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६१, अंक ६, पृष्ठ १५

४७६. वही, पृष्ठ १६

४७७. वाजपेयाप्यायिता देवां वृष्ट्युत्यर्गेण मानवः।
आप्यायान वैकुर्वन्ति यज्ञाः कल्याण हेतवः॥

४७८. सर्वा वै देवताः वाजपेये अन्वायन तस्मात्।
वाजपेय याजी सर्वदिशो अभिजयति॥

(इन्द्रियों सहित स्वस्थ) हो जाता है। यह यज्ञ सबका प्रायश्चित, भूलों को विरत करने वाला एवं भूलों के कारण जो रोग हो गए हैं, उन्हें ठीक करने वाला है। वाजपेय यजन करने वाला सभी प्रकार के पापों से पार हो जाता है। इन्हीं गुणों के कारण वाजपेय यज्ञ को परम पुरुषार्थ कहा जाता है। सामान्य पुरुषार्थ का दायरा भौतिक स्तर तक सीमित है। इसे नियंत्रित करने वाली दैवी शक्तियाँ, प्रारब्ध विधान यदि अनुकूल न हो तो सारे प्रयास मिट्टी में मिल जाते हैं। परिणाम में निराशा, असफलता व उद्विग्रता ही पल्ले पड़ती है। इसी वजह से सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने पुरुषार्थ जैसी अमोघ प्रक्रिया को आधिभौतिक पिंजड़े में नहीं बांधा। उन्होंने दैवी शक्तियों को अनुकूल बनाने में समर्थ तप साधनाओं, नया राष्ट्र गढ़ने में समक्ष वाजपेय यज्ञ जैसी आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की रचना की और उन्हें उच्चतर पुरुषार्थ, परम पुरुषार्थ कहा।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है 'वाजपेय यज्ञ करने वाला सम्राट जैसी विभूतियाँ एवं वैभव अर्जित करता है।'[४७९] इस तरह देखा जाय तो अश्वमेध, राजसूय एवं वाजपेय यज्ञानुष्ठान राजनैतिक अभियानों का सांस्कृतिक स्वरूप विनिर्मित करते हैं। इससे सुसंगठित, समर्थ एवं शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण होता है। ऐसा राष्ट्र ही सांस्कृतिक साम्राज्य का आदर्श हो सकता है।

सांस्कृतिक साम्राज्य का आदर्श

वैदिक साम्राज्य मानवता के आदर्श गुणों से मूलतः परिपूर्ण रहा है। दिव्य गुणों पर आधारित होने के कारण वह महान् आदर्शों का स्रोत रहा है। इन सांस्कृतिक आदर्शों के बल पर वह अनन्तकाल तक विश्व मानव के अन्तस्तल में साम्राज्य करता रहा है। यह साम्राज्य तलवारों की टनकारों से, युद्धोन्माद के आतंक से विजयोपलब्धि प्राप्त नहीं किया है, कुटनीति द्वारा साम्राज्य विस्तार नहीं किया वरन प्रबल एवं प्रखर विचारों द्वारा चक्रवर्ती बना एवं विश्व का हृदय जीता। आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार 'यह साम्राज्य समस्त संसार को शासन-सूत्र संचालन का बोध कराने के कारण ही चक्रवर्ती कहलाया। ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक धाराओं से सुदूर देशों को अवगत कराने के कारण उसे जगद्गुरु का श्रद्धासिक्त सम्मान दिया गया। यहाँ से नररत्न उपजते और पुण्य परमार्थ के लिए श्रम, मनोयोग, न्यौछावर करते रहे हैं।'[४८०] अतः कहा जा सकता है सांस्कृतिक साम्राज्य का आदर्श

---

४७९. वाजपेये नेष्ट्वा सम्राट भवति। - शतपथ ब्रा., ५/१/१/१४

४८०. आचार्य श्रीराम शर्मा- भारत तो आजाद हो गया, क्या हम हार गये? अखण्ड ज्योति, वर्ष ६०, अंक ७, पृष्ठ १२

उज्जवल चरित्र और आदर्श कर्त्तृत्व के भाव से प्रारम्भ होता है। इसी कारण यह अनादि काल से समस्त संसार का मार्गदर्शन करता रहा है।

साम्राज्य के इन सांस्कृतिक आदर्शों का उद्घोष युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द की अग्निमयी वाणी द्वारा होता है 'हमारा साम्राज्य हमें लुटेरा नहीं बनाता, यह बलवानों को दुर्बलों की छाती पर मूंग दलने की शिक्षा नहीं देता और न हमें बलवान बनाकर दुर्बलों का खून चूसने की शक्ति प्रदान करता है। सचमुच हमारा साम्राज्य यह सब काम नहीं करता। हमारा साम्राज्य ऐसी सेना नहीं भेजता, जिसके पैरों के नीचे धरती कांपती है और जो संसार में रक्तपात, लूटमार और इतर जातियों का सर्वनाश करने में ही अपना गौरव मानती है।' स्वामी जी आगे कहते हैं ' इस पृथ्वी का क्षुद्र क्षितिज, जो केवल कई एक हाथ ही विस्तृत है, हमारी दृष्टि को सीमित नहीं कर सकता। हमारा साम्राज्य दूर तक, बहुत दूर तक फैला हुआ है, वह इन्द्रियों की सीमा से भी आगे तक फैला है, वह देश और काल के भी परे है। वह दूर और दूर विस्तृत होता हुआ उस सीमातीत स्थिति में पहुँचता है, जहाँ इस भौतिक जगत् का कुछ भी शेष नहीं रहता और सारा विश्व ब्रह्मण्ड ही आत्मा के दिगन्त व्यापी महामहिम अनन्त सागर की एक बूँद के समान दिखाई देता है।'[४८१] यही है हमारे साम्राज्य का सांस्कृतिक आदर्श। यहाँ राजनीतिक उन्नति को महत्त्व नहीं दिया जाता है, क्योंकि उससे राष्ट्र और उसके निवासियों की बुराइयाँ दूर नहीं हो सकतीं। उच्चतर जीवन के लिए आमूल हृदय परिवर्तन की आवश्यकता है, केवल इसी से मानव जीवन का सुधार सम्भव है। अपना साम्राज्य यह हृदय परिवर्तन तलवार की नोंक पर नहीं वरन् प्रेम और त्याग के बल पर किया है।

संसार इस राष्ट्र का अत्यन्त ऋणि है। सारा संसार हमारे सहिष्णु साम्राज्य का जितना ऋणि है, उतना और किसी देश का नहीं। स्वामी जी कहते हैं 'यह भी ठीक है कि किसी राष्ट्र की गतिशील जीवन तरंगों ने महान् शक्तिशाली सत्य के बीजों को चारों ओर बिखेरा है। परन्तु यह हुआ है रणभेरी के निर्घोष तथा रण सज्जा के सज्जित सेना-समूह की सहायता से। बिना रक्त-प्रवाह में सिक्त हुए, बिना लाखों स्त्री-पुरुषों के खून की नदी में स्नान किये, कोई भी नया भाव आगे नहीं बढ़ा। प्रत्येक ओजस्वी भाव प्रचार के साथ ही असंख्य लोगों का हाहाकार, अनाथों और असहायों का करुण क्रंदन और विधवाओं का अजस्र अश्रुपात होते

---

४८१. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ ७७

देखा गया है।'[४८२] प्रधानतः इसी उपाय द्वारा अन्यान्य देशों ने संसार को शिक्षा दी है, परन्तु इस उपाय का अवलम्बन किये बिना ही अपना साम्राज्य हजारों वर्षों से शान्तिपूर्वक जीवित रहा है। जब यूनान का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अंधकार गर्भ में छिपा हुआ था, जब आधुनिक यूरोपियनों के पुरखे घने जंगलों के अन्दर छिपे रहते थे और अपने शरीर को नीले रंग से रंगा करते थे, तब भी अपना सांस्कृतिक आदर्श क्रियाशील था। उससे भी पहले, जिस समय का इतिहास में कोई लेख नहीं है, जिसे सुदूर धुंधले अतीत की ओर झाँकने का साहस परम्परा को भी नहीं होता, उस काल से लेकर अब तक न जाने कितने ही भाव एक के बाद एक इस राष्ट्र से प्रसूत हुए हैं, पर उनका प्रत्येक शब्द आगे शान्ति तथा पीछे आशीर्वाद के साथ कहा गया है। संसार के सभी साम्राज्यों में केवल एक हमारे ही चक्रवर्ती साम्राज्य ने लड़ाई-झगड़ा करके किसी अन्य साम्राज्य को पराजित नहीं किया है।[४८३] एक समय था जब यूनानी सेना के रण-प्रयाण के दर्प से संसार कांप उठता था। पर आज वह कहाँ है? आज तो उसका चिह्न तक कहीं दिखाई नहीं देता। यूनान देश का गौरव आज अस्त हो गया है। एक समय था, जब प्रत्येक पार्थिव भोग्य वस्तु के ऊपर रोम की श्येनांकित विजय-पताका फहराया करती थी, रोमन लोग सर्वत्र जाते और मानव-जाति पर प्रभुत्व प्राप्त करते थे। रोम का नाम सुनते ही पृथ्वी कांप उठती थी, पर आज उसी रोम का कैपिटोलाइन पहाड़ एक भग्नावशेष का ढूह मात्र है। जहाँ सीजर राज्य करता था, वहाँ आज मकड़ी जाल बुनती है। इसी प्रकार कितने ही समान वैभवशाली साम्राज्य उठे और गिरे। विजयोल्लास और भावावशेषपूर्ण प्रभुत्व का कुछ काल तक कलुषित राष्ट्रीय जीवन बिताकर सागर की तरंगों की तरह उठकर फिर मिट गये। परन्तु अपना साम्राज्य आज भी जीवन्त और जाग्रत् है। हजारों वर्षों से सुचिन्तित तथा परीक्षित प्राचीन विधान, शताब्दियों के अनुभव और युगों की अभिज्ञता के फलस्वरूप सनातन सा आचार-विचार,[४८४] इस साम्राज्य के सांस्कृतिक आदर्श हैं।

राजनीतिक श्रेष्ठता या सामरिक शक्ति प्राप्त करना किसी काल में इस साम्राज्य का जीवनोद्देश्य न कभी रहा है और न कभी होगा।[४८५] इसका दूसरा ही जीवनोद्देश्य रहा है। वह यह कि समग्र साम्राज्य की शक्ति को मानो किसी डाइनेमो में संगृहीत, संरक्षित और नियोजित किया गया हो और यही संचित शक्ति सारी

---

४८२. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ ५, ६
४८३. वही, पृष्ठ ६
४८४. वही, पृष्ठ ७
४८५. वही, पृष्ठ ९

पृथ्वी के साम्राज्य को जलप्लावन करती रही है। जब कभी फारस, यूनान, रोम, अरब या इंग्लैण्ड वाले अपनी सेनाओं को लेकर दिग्विजय के लिए निकले और उन्होंने विभिन्न साम्राज्यों को एक सूत्र में ग्रंथित किया है, तभी अपने साम्राज्य के सांस्कृतिक आदर्श एवं दर्शन नवनिर्मित भागों द्वारा संसार की जातियों की धमनियों में होकर प्रवाहित हुए हैं। समस्त मानवीय प्रगति एवं राष्ट्रोत्थान में शान्तिप्रिय साम्राज्य का कुछ अपना योगदान भी है ज्योतिर्मय आलोक ही वह सांस्कृतिक दान है। हमारे इस साम्राज्य में संस्कृति का जो स्रोत बहता है उसकी बाढ़ समस्त जगत् को आप्लावित कर राजनीतिक उच्चाभिलाषाओं एवं नवीन सामाजिक संगठनों की चेष्टाओं में प्रायः सामासप्राय, अर्धमृत तथा पतनोन्मुखी पाश्चात्य और दूसरे साम्राज्य में नव-जीवन का संचार करती रही है।[४८६] नाना प्रकार के मतमतान्तर एवं सांस्कृतिक विचारों के विभिन्न सुरों से अपने साम्राज्य का गगन गुंज रहा है। यह बात सच है कि इन सुरों में कुछ ताल में है और कुछ बेताल, किन्तु यह स्पष्ट पहचान में आ रहा है कि उन सबमें एक प्रधान सुर मानों भैरव-राग के सप्तम स्वर में उठकर अन्य सुरों को कर्णगोचर नहीं होने दे रहा है और वह प्रधान सुर है त्याग। यह त्याग अपनी सांस्कृतिक साम्राज्य का मूल मंत्र है। दुनिया दो दिन का तमाशा है। जीवन तो और भी क्षणिक है। उसके परे, इस मिथ्या संसार के परे उस अनन्त अपार का साम्राज्य है। यह साम्राज्य प्रकाण्ड मेधा तथा बुद्धि वाले मनीषियों से उद्‌भासित है, जो इस तथाकथित अनन्त जगत् के साम्राज्य को भी गढ़हिया मात्र समझते हैं और वे क्रमशः अनन्त जगत् को भी छोड़कर और दूर अति दूर चले जाते हैं। भौतिक प्रकृति को इस प्रकार अतिक्रमण करने की चेष्टा, जिस प्रकार और चाहे कितना नुकसान सहकर क्यों न हो, किसी प्रकार प्रकृति से मुँह का घूँघट हटाकर एक बार उसे देश कालातीत साम्राज्य के दर्शन का यत्न करना, यहाँ का स्वाभाविक गुण है।[४८७] यही हमारा सांस्कृतिक आदर्श है। इसके बिना राजनीति, समाज संस्कार, धनसंचय के उपाय, वाणिज्य नीति एवं साम्राज्य की परिकल्पना आदि की बातें बतख की पीठ से जल के समान उनके कानों से बाहर निकल जायेंगे।

जिस साम्राज्य का मूलमंत्र राजनीतिक प्रधान होता है उसका अस्तित्व संदेहास्पद होता है, परन्तु यहाँ एक दूसरा साम्राज्य है, जिसका प्रधान जीवनोद्देश्य सांस्कृतिक आदर्श है। केवल इसी से उन्नति, प्रगति एवं विकास की आशा की

---

४८६. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ ४५
४८७. वही,

जा सकती है। जिसका मूल मंत्र उसके हृदय में जागता है, वही उसका आधार है। अन्यथा इस साम्राज्य का मेरुदण्ड ही टूट जायेगा, जिस भित्ति के ऊपर यह विशाल भवन खड़ा है, वही नष्ट हो जाएगा, फिर तो परिणाम सर्वनाश होगा ही। परन्तु इस साम्राज्य का आदर्श ही कुछ और है, जिसके बड़े-बड़े राजा अपने को प्राचीन राजाओं अथवा पुरातन दुर्गनिवासी, पथिकों का सर्वस्व लूट लेने वाले, डाकू बैरनों के वंशधर न बताकर अरण्यवासी अर्धनग्र तपस्वियों की सन्तान कहने में ही अधिक गौरव समझते हैं। दूसरे राष्ट्रों में बड़े-बड़े धर्माचार्य अपने को किसी राजा का वंशधर कहने की बड़ी चेष्टा करते हैं और इस राष्ट्र में बड़े-बड़े राजा अपने को किसी प्राचीन ऋषि की संतान प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।[४८८] यहाँ राजनीति, व्रत यहाँ तक बुद्धि का विकास भी गौण समझे जाते हैं। जिस अन्धकारमय प्राचीन काल तक परम्पराएँ भी पहुँच नहीं सकतीं, उसी समय हमारे यशस्वी पूर्वजों ने अपनी समस्या के पक्ष का ग्रहण कर लिया और संसार के समस्त साम्राज्यों को चुनौती दे दी। हमारी समस्या को हल करने का रास्ता है; वैराग्य, न्याय, निर्भिकता तथा प्रेम। यही तत्त्व अपने साम्राज्य के हृदय का मर्मस्थल है, इसी को साम्राज्य की रीढ़ कह लो अथवा वह नींव समझो जिसके ऊपर राष्ट्ररूपी इमारत खड़ी है। संस्कृति ही हमारे राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवन रूपी संगीत का प्रधान स्वर है। यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे, शताब्दियों से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है और यदि वह अपने इस कार्य में सफल हो जाय, तो वह राष्ट्र मृत हो जाता है। अतएव अपना साम्राज्य राजनीति, समाज नीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन शक्ति केन्द्र कभी नहीं बनाया। यहाँ तो स्नायुओं का प्रत्येक स्पन्दन सांस्कृतिक तत्त्वों से होकर गुजरता है। जब कभी भी संसार को इसकी आवश्कता महसूस हुई, उसी समय इस निरन्तर बहने वाले आध्यात्मिक ज्ञान स्रोत ने संसार को प्लावित कर दिया। राजनीति सम्बन्धी विद्या का विस्तार रणभेरियों और सुसज्जित सेनाओं के बल पर किया जा सकता है। लौकिक एवं समाज सम्बन्धी विद्या विस्तार आग और तलवारों के बल पर हो सकता है। पर आध्यात्मिक विद्या का विस्तार तो शान्ति द्वारा सम्भव है।[४८९] जिस प्रकार चक्षु और कर्ण गोचर न होता हुआ भी मृदु ओस बिन्दु गुलाब की कलियों को विकसित कर देता है, बस वैसा ही आध्यात्मिक ज्ञान का विस्तार होता है।

---

४८८. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ ४९, ५०

४८९. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ ११७

वही एक दान है, जो भारत दुनिया को बार-बार देता आया है। जब भी कोई दिग्विजयी जाति उठी, जिसने संसार के विभिन्न देशों को एक साथ ला दिया और आपस में भौतिक सुविधा प्रदान की, त्यों ही अपना राष्ट्र उठा और उसने संसार की समग्र उन्नति में अपने आध्यात्मिक ज्ञान का भाग भी प्रदान कर दिया। भारत के आध्यात्मिक ज्ञान की बाढ़ ने बाहर उमड़कर संसार को प्लावित कर दिया था।[४९०]

अपने साम्राज्य का दान है; संस्कृति, दार्शनिक ज्ञान और आध्यात्मिकता। इसके प्रसार के लिए यह आवश्यक नहीं कि सेना उसके आगे मार्ग निष्कंटक करती हुई चले। सांस्कृकि ज्ञान और दार्शनिक तत्त्व को शोणित-प्रवाह पर से ढोने की आवश्यकता नहीं। वे सांस्कृतिक तत्त्व खून से भरे जख्मी आदमियों के ऊपर से सदर्प विचरण नहीं करते। वे शान्ति और प्रेम के पंखों से उड़कर शान्तिपूर्वक आया करते हैं और सदा हुआ भी यही। अतएव संसार के लिए अपने साम्राज्य को सदा कुछ देना पड़ा है। हमने कभी दूसरी जाति पर विजय प्राप्त नहीं की, यह हमारा महान् गौरव है।[४९१] अपने साम्राज्य ने कभी खून की नदियाँ नहीं बहायीं, उसने सदा आशीर्वाद और शान्ति के शब्द कहे, सबको उसने प्रेम और सहानुभूति की कथा सुनायी। केवल यहीं परधर्म सहिष्णुता तथा सहानुभूति के ये भाव कार्यरूप में परिणत हुए। यहाँ साम्राज्य विस्तार विचारों के बल पर हुआ है। वैदिक विचार का सबसे बड़ा लक्षण है, उसका शान्त स्वभाव और नीरवता। जो प्रभूत शक्ति उसके पीछे है, उसका प्रकाश बलपूर्वक एवं जबरदस्ती से नहीं होता। यह विचार सदा जादू सा असर करता है।[४९२] शान्त, अज्ञेय किन्तु महाशक्ति के अदम्य बल से, उसने सारे जगत् की विचार राशि में क्रांति मचा दी है, एक नया ही साम्राज्य एवं युग खड़ा कर दिया है, किन्तु तो भी कोई नहीं जानता, कब ऐसा हुआ है। जब कभी किसी बड़े दिग्विजय राष्ट्र ने संसार के भिन्न-भिन्न देशों को एक सूत्र में बांधा है, तब उस राष्ट्र में भारत की विचारधारा बह चली है और प्रत्येक जाति की नस-नस में समा गयी है। हमारी विजय की कथा को भारत के महान् सम्राट अशोक ने संस्कृति और आध्यात्मिकता ही को विजय बताया है।[४९३] यही वह सांस्कृतिक साम्राज्य का आदर्श है जिसने इसको विश्व पर विजयी

---

४९०. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ ११८

४९१. वही, पृष्ठ १६७

४९२. वही, पृष्ठ १६८

४९३. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ १७०

एवं चक्रवर्ती बनाया। इस विषय में विश्वविश्रुत स्वामी विवेकानन्द ने कहा था मेरे मन में अत्यन्त अतीत काल के उस पाश्चात्य सम्राट सिकन्दर का चित्र उदित होता है और मैं देख रहा हूँ, वह महाप्रतापी सम्राट सिंधु नद के तट पर खड़ा होकर अरण्यवासी, शिलाखण्ड पर बैठे हुए वृद्ध, नग्न, हमारे ही एक सन्यासी के साथ बात कर रहा है। सम्राट सन्यासी के अपूर्व ज्ञान से विस्मित होकर उसको अर्थ और मान का प्रलोभन दिखाकर यूनान देश में आने के लिए निमंत्रित करता है। और वह व्यक्ति उसके स्वर्ण पर मुस्कराता है, उसके प्रलोभनों पर मुस्कराता है और अस्वीकार कर देता है। और तब सम्राट ने अपने अधिकार बल से कहा- 'यदि आप नहीं आयेंगे तो मैं आपको मार डालूँगा।' यह सुनकर संन्यासी ने खिलखिलाकर कहा- 'तुमने इस समय जैसा मिथ्या भाषण किया, जीवन में ऐसा कभी नहीं किया। मुझको कौन मार सकता है? जड़ जगत् के सम्राट, तुम मुझको मारोगे? कदापि नहीं! मैं चैतन्य स्वरूप, अज और अक्षय हूँ। मेरा कभी जन्म नहीं हुआ और न कभी मेरी मृत्यु हो सकती है। मैं अनन्त, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हूँ। क्या तुम मुझको मारोगे? निरे बच्चे हो तुम।' यही सच्चा तेज है, यही सच्चा वीर्य है। यही सांस्कृतिक साम्राज्य का आदर्श एवं विशेषता है। और यह सांस्कृतिक विस्तार भारत वर्ष की सीमा में ही आबद्ध नहीं हुआ, इसका विस्तार सारे संसार में एवं दिगन्त व्यापी हुआ।'

❑

अध्याय - ५

संस्कृति का विस्तार एवं प्रभाव

वैदिक काल में आर्य ऋषियों ने संस्कृति का बहुविध एवं बहुआयामी विकास किया। भारत की समुन्नत परिस्थिति और परिष्कृत मन:स्थिति का श्रेय यहाँ के ऋषियों को दिया जाता है। यह उचित भी है। उज्ज्वल चरित्र, उत्कृष्ट चिन्तन और साहसिक पुरुषार्थ का त्रिविध समन्वय जिन व्यक्तियों में है वे स्वयं तो ऊँचे उठेंगे ही अपने साथ-साथ लोक मानस को और समस्त वातावरण को भी ऊँचा उठायेंगे। ऋषियों की क्रिया-प्रक्रिया यही थी। वे सार्वजनिक क्षेत्र के हर पक्ष को देखते और सँभालते थे। द्रोणाचार्य, विश्वामित्र, परशुराम जैसे ऋषि धनुर्वेद में पारंगत थे। ये शस्त्र निर्माण और संचालन की शोध एवं शिक्षा के कार्यों में संलग्न थे ताकि असुरता से सफलतापूर्वक जूझा जा सके। चरक, सुश्रुत, वागभट्ट, अश्विनीकुमार, धन्वन्तरि जैसे ऋषि स्वास्थ्य संवर्द्धन और चिकित्सा के रहस्यों को ढूँढने और उसे सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत करने में संलग्न थे। नागार्जुन, हारीत और सुषेन जैसे ऋषि रसायन विद्या के विकास और विस्तार में जुटे हुए थे। विश्वकर्मा, शतोधन जैसे ऋषियों ने शिल्प एवं वास्तुकला के सम्बन्ध में जो खोजा उससे विश्व सौन्दर्य में असाधारण वृद्धि हुई। नारद, उपमन्यु, उद्दालक जैसे ऋषि स्वर-शास्त्र के सामगान में पारंगत थे। उन्होंने गान-वाद्य की कला के मर्मों से जन-मानस को आन्दोलित किया और उसके रसास्वादन का विधि-विधान समझाया। उत्कच, विद्रुध, महानन्द जैसे ऋषि कृषि और पशुपालन का विज्ञान विकसित करने में जुटे थे। व्यास परम्परा के ऋषियों ने शास्त्र रचना की मुहीम सँभाली। सूत परम्परा के ऋषि प्रवचनकर्त्ता थे। चाणक्य, याज्ञवल्क्य, कण्व, धौम्य जैसे ऋषियों द्वारा विश्वविद्यालय स्तर के शिक्षा संस्थान चलाये जाते थे। छोटे-बड़े गुरुकुल तो प्राय: सभी ऋषि चलाते थे। कपिल, कणाद, गौतम, पातंजलि, जैसे दार्शनिकों द्वारा विश्व मानव की बौद्धिक क्षुधा बुझाने के लिए बहुमूल्य दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते रहे। वसिष्ठ, शुक्राचार्य, विदुर आदि ऋषि राजतंत्र का मार्गदर्शन करने में निरत थे। च्यवन, दधीचि आदि ऋषियों ने तप साधना करके मानवी अन्त:स्थल में छिपी रहस्यमय शक्तियों के उपयोग का पथ प्रशस्त किया था। लोकमंगल के अनेकानेक प्रयोजनों एवं इसके विस्तार करने में यह ऋषि वर्ग के लोग निरन्तर संलग्न रहते थे।

अनीतिपूर्ण प्रतिबन्धों को धर्म-मर्यादा का नाम जब भी दिया गया तब तुरन्त उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया गया। बड़े भाई की आज्ञा छोटे भाई को मानना

चाहिए, इस मोटे अनुशासन के नियम के साथ जब अनीति को जोड़ा गया तो विभीषण ने अपने भाई का परामर्श मानने से इंकार कर दिया। इतना ही नहीं उसके पराभव में ही सच्चे भ्रातृत्व प्रेम का दर्शन किया। प्रह्लाद अपने पिता हिरण्यकश्यपु के अनीतिमूलक तत्त्वों के विरुद्ध तनकर खड़ा हो गया और अन्त तक विरोध पर डटा रहा। भरत ने माता का कहना न मानकर राज लेने के आदेश को स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। राजा बलि ने गुरु शुक्राचार्य की अवज्ञा करके वामन को दान देने का साहस दिखाया। एक ओर जहाँ धर्म अनुशासन पालन के लिए भारतीय संस्कृति में निर्देश है वहाँ यह छूट पूरी दी गयी है कि यदि स्वजन अथवा बड़े कहे जाने वाले लोग भी अनीति के लिए बाध्य करें तो स्वीकार करने से इंकार कर दिया जाय। व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को परामर्श प्रयोजनों के लिए न्यौछावर करते रहने में हर व्यक्ति ने यहाँ अपने को सौभाग्यशाली माना है। दधीचि ने अपनी अस्थियाँ निकालकर देवताओं को दे दी। शुनिशेप ने नरमेध की प्रथम आहुति बनने के लिए अपना मांस निकाल कर दिया। हरिश्चन्द्र ने अपनी सारी सम्पदा विश्वामित्र को सौंपी। संयमराम ने अपने स्वामी पृथ्वीराज के प्राण बचाने के लिए अपने अंग काट-काटकर गिद्धों को डाले थे और उस समय की स्वामी-सेवक के बीच भरी रहने वाली वफादारी का उदाहरण प्रस्तुत किया था। तब हर घर में भामाशाह थे। संचित पूँजी को परमार्थ के लिए सुरक्षित अमानत भर माना जाता था, समय आने पर उसे देने में किसी को कोई संकोच नहीं होता था।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के त्याग एवं आदर्शवादी उदाहरणों का उल्लेख करते रहना असम्भव है, क्योंकि उन दिनों प्रायः हर व्यक्ति आदर्शवादी था। संकीर्ण स्वार्थपरता से भरा व्यक्तिवाद उन दिनों भर्त्सनीय आसुरी प्रकृति में गिना जाता था। भारत की सर्वतोमुखी प्रगति और गौरव गरिमा के अन्तराल में वस्तुतः यही महानता का भावनात्मक इतिहास छिपा पड़ा है। इसी के फलस्वरूप यह देश भौतिक सम्पदाओं से सम्पन्न रहा। हर्षोल्लास के प्रचुर साधनों से भण्डार भरे रहे। शारीरिक बलिष्ठता और मानसिक प्रबुद्धता का स्तर बहुत ऊँचा रहा। मनुष्य-मनुष्य के बीच सघन आत्मीयता बिखरी पड़ी रहती थी। मिल-जुलकर रहने, उपार्जन करने की प्रवृत्ति ने हर क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति का पथ प्रशस्त किया था, सयंमशीलता, सज्जनता, सादगी और शालीनता की विभूतियाँ हर व्यक्ति को उपलब्ध थीं। गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता में प्रत्येक एक-दूसरे से आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्द्धा में निरत था। उन परिस्थितियों में सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य था। यहाँ के निवासी देवता कहे जाते थे। और यह देश स्वर्ग माना जाता था। इस वैभव को भारतवासियों ने अपनी भौगोलिक सीमाओं में सीमित नहीं रखा वरन् विश्व के कोने-कोने में जाकर बिखेरा।

भारत की प्राचीन संस्कृति का विश्वव्यापी विस्तार

वर्तमान भारत की सीमा तक प्राचीन भारत सीमित न था।[१] भारत का हृदय उत्तराखण्ड या आर्यावर्त कहा जा सकता है, पर उसका सुविकसित शरीर तो समस्त संसार ही रहा है। यहाँ के निवासी उन दिनों यातायात के साधनों के अनुसार जितने क्षेत्र में पहुँच सके और अपनी सेवा साधना से वहाँ प्रगति एवं समृद्धि के बीजारोपण कर सके उसे बिना संकोच भारत कहा जा सकता है। इस सीमा में यों आता तो समस्त संसार है पर यदि विशिष्ट प्रभाव और विशिष्ट प्रयास को आधार मानकर सीमा निर्धारण किया जाय तो एशिया महाद्वीप का अधिकांश भूखण्ड भारत की भौगोलिक परम्पराओं में आ जाता है।[२]

कुछ शताब्दियों पहले की स्थिति पर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि भारत का विस्तार पूरे एशिया महाद्वीप में था। वृहत्तर भारत की भौगोलिक सीमायें इस विशाल भूखण्ड के समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों तक सुविकसित होती चली गयी थी। इन दिनों लंका, नेपाल, भूटान, वर्मा, पाकिस्तान, बंगला देश भारत से अलग कट गये हैं। यह सभी इसी शताब्दी तक अपने देश के अविच्छिन्न अंग रहे हैं। पूर्व एशिया में इण्डोनेशिया, इण्डोचायना, मलेशिया के अन्दर आने वाले समस्त देश और द्वीप भारत के अंग थे। मध्य एशिया में चीन, तुर्किस्तान, रूस, जापान, कोरिया, मंगोलिया आदि पर पूरी तरह भातर का वर्चस्व था। पश्चिम एशिया में ईरान, ईराक, अरब, अफगानिस्तान जैसे वे देश, जो इन दिनों इस्लाम धर्म के केन्द्र हैं, उन दिनों भारत की सांस्कृतिक सीमा के अन्तर्गत ही आते थे। उन दिनों की भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण किया जाय तो पूर्व एशिया, मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के तीनों क्षेत्रों को मिलाकर प्रायः पूरा एशिया वृहत्तर भारत की परिधि में आता था। निरन्तर का सघन सम्पर्क और प्रखर आदान-प्रदान सम्बन्ध सूत्रों को पूरी तरह सुदृढ़ बनाये हुए था।[३]

महाभारत युद्ध में एकत्रित राजाओं और उनकी सेनाओं का वर्णन पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः समस्त एशिया के गणतंत्र उस विश्व युद्ध में सम्मिलित थे। इसका तात्पर्य यही निकलता है कि वे सभी गणतंत्र विशाल भारत की, महाभारत की सीमा में आते थे, जो इस महायुद्ध में सम्मिलित हुए थे अन्यथा क्यों

---

१. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. ३२

२. वही, भाग २, पृ. ७

३. वही, भाग १, पृ. ३३

किसी को दूसरे की आग में कूदने की आवश्यकता पड़ती ? महाभारत वस्तुतः एक गृहयुद्ध ही था। जिसमें वृहत्तर भारत के सभी क्षेत्र प्रदेशों को सम्मिलित होना पड़ा था। यों यह प्रभाव क्षेत्र यूरोप, अफ्रीका आदि समीपवर्ती महाद्वीपों को भी छुता था और उसकी कुछ किरण अमेरिका, आस्ट्रेलिया खण्डों तक पहुँचती थी, किन्तु सघन सम्बन्धों की कसौटी को ही प्रधानता दी जाय तो भी समस्त एशिया तो वृहत्तर भारत के अन्तर्गत आता ही था।[४] भारत की प्राचीन संस्कृति का विश्वव्यापी विस्तार न केवल धर्म प्रचारकों द्वारा वरन् सभी विशेषताओं के विशेषज्ञों ने जो अपनी-अपनी क्षमता का अनुदान विश्व नागरिकों को प्रदान करने के लिए उत्साह और साहसपूर्वक पुरुषार्थ किया था, हुआ। उन दिनों नौकायन और दुर्गम पैदल थल-यात्रा के माध्यम से यह विस्तार एवं प्रसार होता था। इन परिस्थितियों में अधिक सरल उपाय जलयात्रा का ही रह जाता था। विश्व परिवार के साथ सम्पर्क बनाने के लिए प्रचीन काल में भारत ने अपनी जलयान अधिकाधिक सुविकसित किये थे। केरल, चोल और पाण्ड्र नामक दक्षिण भारत के राज्यों का व्यापार ग्रीस, रोम और चीन के साथ होता था। सीरिया के इतिहास से विदित होता है कि उन लोगों ने युद्ध में भारतीय हाथी प्रयुक्त किये थे और अप्रत्याशित सफलतायें पायी थीं। मिश्र के पिरामिडों में दिवंगत राजाओं के मृत शरीर उपलब्ध हुए वे भारत के बने कपड़ों में लिपटे पाये गये।[५] इस तरह देखा जाय तो प्राचीन काल में भारत का विस्तार बहुत व्यापक था। भारत किसी भौगोलिक सीमा की परिधि में आबद्ध नहीं था, उसका कार्यक्षेत्र समस्त विश्व था। सर्वप्रथम यह विस्तार एशिया से प्रारम्भ हुआ।

❑ एशिया महाद्वीप में सांस्कृतिक विस्तार

समस्त एशिया में भारत की प्राचीन संस्कृति की गौरव-गरिमा तथा पुण्य परम्परा का विस्तार हुआ। एशिया के चार भागों में विभक्त कर सकेत हैं;

१. मध्य एशिया- जिसमें भारत की सीमा में लगे उत्तर दिशा में चीन, रूस आते हैं।
२. पश्चिम एशिया- जिसमें अरब देश, ईराक, ईरान आदि आते हैं।
३. पूर्वी एशिया- जिसमें इण्डोनेशिया, इण्डोचाइना, मलेशिया आदि आते हैं।
४. मूल भारत- जो आज छोटा रह गया है, परन्तु कुछ दिन पूर्व उसका विस्तार था।[६]

---

४. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान, भाग १, पृ. ३३
५. वही, पृ. ३४
६. वही, पृ. ४५

एशिया के इन समस्त भू भाग में भारतीय संस्कृति का वैभव विस्तार प्रमाण सिद्ध है।

❑ चीन भारतीय संस्कृति के चरणों में

इतिहासवेत्ता सर डब्ल्यू जोन्स के अनुसार ईसा पूर्व की शताब्दियों में चीन में वैदिक संस्कृति संव्याप्त थी। चीनी इतिहासवेत्ता ओकाकुरा के अनुसार अकेले लोपांग प्रान्त में दस हजार वैदिक-प्रचारक रहते थे। उनके अनुयायियों की संख्या लाखों में थी। चीनी धर्म पुस्तक 'चोकिंग' में कश्मीर से वैदिक प्रचारकों के उस देश में पहुँचने और सुव्यवस्थित समाज बनाने का उल्लेख है। चीनी यात्री ह्वेनसांग आसाम से एक ऐसा नक्शा साथ ले गये थे, जिसमें तत्कालीन कामरूप के वैदिक शासक के राज्य विस्तार का अंकन है। इसमें नेफा ही नहीं चीन की मूल भूमि का भी बहुत बड़ा भाग उसी राज्य में सम्मिलित दिखाया गया है। प्राचीन चीन में वर्ण व्यवस्था, प्रकृति पूजा, श्राद्ध प्रथा, संयुक्त परिवार, योगासन, मंत्र आदि की परम्परायें वैदिक धर्म की ही देन हैं। ताओ-धर्म को वैदिक धर्म की ही एक शाखा कहा जा सके, उसमें इतना साम्य है।[७] ओकाकुरा के अनुसार 'चीन की संस्कृति निःसन्देह वैदिक स्रोत की हे।'[८] चीन में गणेश की पूजा भी होती रही है, परन्तु चीन और जापान में गणेश को कांगिजेन कहते हैं। चीन में शिव की पूजा भी होती थी। प्रोफेसर जी फिलीप्स का कहना है कि 'भारत और चीन का सागर मार्ग से सम्पर्क बहुत प्राचीन है। ईसा पूर्व ६८० में नौकाओं से चीन में पहुँचे भारतीयों ने चीन में लंका नाम की बस्ती स्थापित की जो 'किआसतेहोया' सागर तट पर बनी थी। वहाँ पहुँचे भारतीयों की नौकाओं के अग्र पर कल्पतरु के ग्रंथ में दिये वर्णनानुसार विविध पशुओं या पक्षियों के आकार बने हुए थे। 'युक्ति कल्पतरु' प्राचीन वैदिक शिल्पकला का एक ग्रन्थ है। उसमें वर्णित आकार की प्राचीनकाल की छोटी बड़ी नौकाएँ कहीं-कहीं पाई गई हैं।'[९] इस कारण काउण्ट बिजॉनस्टिऑर्न ने लिखा है कि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चीन का धर्म वैदिकोद्भव है।[१०]

ई. बी. हैवेल ने स्पष्ट किया कि ईसवी सन् के आरम्भ के वर्षों में चीन की

---

७. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. १२२
८. Okakura- Ideals of the East, p. 113
९. Journal of the Royal Asiatic Society, 1965 Vol. XI, p. 525, पर प्रो. G. Phillips का लेख।
१०. Count Bizonsteorn- The Theogony of the Hindus, p. 85

चित्रकला का स्फूर्तिस्थान भारत ही था। वही चीनी चित्रकला ७ वीं से १३ वीं शताब्दी तक विश्व में अग्रसर रही। चीन तथा कोरिया द्वारा वैदिक चित्रकला का जापान में भी विस्तार हुआ। आर्य तरंगिणी[११] ग्रंथ में प्रकाशित एक टिप्पणी के अनुसार रामायण में चीन को कोषकार (रेशम का कोष निर्माण करने वाले) कीड़ों का प्रदेश कहा गया है। ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी का एक चीनी सिक्का मैसूर में प्राप्त हुआ था। उससे भी पता चलता है कि प्राचीन वैदिक विश्व का चीन भी एक भाग था। चीन और भारत को जोड़ने वाला प्राीचन भूमिमार्ग उत्तर पथ कहलाता था। चीन के सीमावर्ती विविध प्रदेशों में इस प्रकार वैदिक सभ्यता ही होने के कारण चीन में भी वही सभ्यता थी। वैदिक संस्कृति का इतिहास प्रलय के पश्चात् मनु द्वारा मानवी संस्कृति का आरम्भ बतलाया है। चीनी परम्परा भी उसी प्रकार प्रलय से इतिहास आरम्भ करती है। चीन के प्राचीनतम वंश का नाम Hsia कहा गया है। वह ईक्ष्वाकु नाम का चीनी अपभ्रंश है। वैदिक परम्परा में ईक्ष्वाकु राजकुल बड़ा प्रसिद्ध रहा है। डॉ. लीची नामक एक चीनी इतिहासवेत्ता के अनुसार चीनी संस्कृति वैदिक संस्कृति के सदृश्य है। वे इसका प्रमाण वैदिक बर्तन आदि से प्रदान करते हैं। सर एल. बूली और अरनाल्ड टायनबी इन दोनों आंग्ल लेखकों ने कहा है कि चीन को एक पूर्व निर्मित सभ्यता प्राप्त हुई है। उससे भी पता चलता है कि यह सभ्यता ही वैदिक सभ्यता का प्रसार है।

मार्कोपोलो नाम के एक इतालवी व्यक्ति का मूल नाम था महर्षि पाल। महर्षि पाल शब्द का ही यूरोपीय अपभ्रंश मार्कोपोलो हुआ। उसने सैकड़ों वर्ष पूर्व चीन तक प्रवास किया था। सर हेनरी यूल ने उस प्रवास का अंग्रेजी अनुवाद किया है। इसकी टिप्पणियों में चीनी देवालय का वर्णन है।[१२] उस मंदिर में पाँच सौ देवमूर्तियाँ थी। उस मंदिर का फोटो भी उस ग्रन्थ के पृष्ठ ८२ के सामने के पृष्ठ पर छपा है, जिसमें देवताओं के अष्टकोने चबुतरे दृष्टिगोचर होते हैं। फ्रांस के लावेरी म्यूज़ियम में चीन के फोकियान प्रान्त में पायाशुंग राजकुल के शासनकाल की एक अगरबत्ती प्रदर्शित है। उसका आकार भी अष्टकोना है। उसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड[१३] पर एक टिप्पणी में लिखा है 'चीनी लोगों में निजी पूर्वजों का श्राद्ध करने की प्रथा थी। शिष्य गुरुजनों की पाद-पूजा करते थे। किसान लोग प्रथम पीढ़ी के किसान का पूज्य भाव से स्मरण करते थे। रेशम का वस्त्र बूनने वाले लोग अपने मूल पुरुष को श्रद्धाभाव से पूजते थे।

---

११. ए. कल्याणरामन्- आर्यतरंगिणी, खण्ड २, पृ. ८

१२. मार्कोपोलो का प्रवास, खण्ड- १, पृ. ७६

१३. वही, खण्ड- २, पृ. ११

यदि देश पर कोई आपत्ति आ पड़े तो उनके सच्छील नेतागण विश्वदेवों की प्रार्थना किया करते थे। जिस जुजू नगर में लगभग २००० लोग रहते है, उसमें विविध प्रकार के ५८ मंदिर हैं। उनमें वायु, मेघ, मेघों की गड़गड़ाहट, वर्षा आदि की देव-प्रतिमायें हैं और रेशमी वस्त्र बुनने वालों का देव, ह्यग्रीव, टिड्डियों का देवता, आढा अन्य विध्वंसक कीटकों पर नियंत्रण रखने वाले देव, पंचनाग देवता और वरुण आदि की प्रतिमाएँ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्राचीन प्रसिद्ध व्यक्ति और कुछ आधुनिक शूरवीरों की स्मृति में भी मंदिर बने हुए हैं।' यह वैदिक संस्कृति के लक्षण हैं जो चीन की प्राचीन सभ्यता में दृष्टिगोचर होते हैं। चीन के कियांग हान प्रान्त में सूजू याने सुचाऊ नाम का एक नगर है। सूजू एक बड़ा और अच्छा नगर है। यहाँ के निवासी देवमूर्तियों का पूजन करते हैं।[१४] कन्फूशियस मंदिर में उस नगर का संगमरमर पर खुदा नक्शा प्रदर्शित है। इसी सम्बन्ध में दी टिप्पणी में लिखा है कि सुचाऊ नगर के दक्षिण भाग में उद्यान है। उसके चारों तरफ ऊँचा कोट है। चारदीवारी के अन्दर कन्फूशियस का मंदिर है वह मंदिर ही नाग का शीर्ष है। उस मंदिर से आरम्भ होने वाला उत्तर दिशा को सीधा जाने वाला रास्ता नाग का दीर्घ शरीर कहलाता है। रास्ते के अन्त में बना एक बड़ा मंदिर उस नाग के पुष्छ के गुच्छ का प्रतीक माना जाता है। मंदिर के अग्रभाग में ऊँचे-ऊँचे Cader के वृक्ष लगे हुए हैं। उस मंदिर में एक बड़ा कक्ष है। जिसमें नगर निवासी वसन्त और शरद पर्व पर पूजन करते हैं। पास के एक भवन में संगमरमर पर खुदी उस नगर की आकृति प्रदर्शित है। तीसरे भवन में पंचाग, ज्योतिषीय सामग्री आदि रखी हुई है। चौथे भवन में प्रांतिक ग्रन्थालय है। आँगन के दोनों ओर जो कक्ष हैं, उनमें पाँच सौ ऋषियों के नाम प्रस्तर पर अंकित हैं। अगले चबूतरे पर छत के नीचे पुरोहितों द्वारा यज्ञ होता है। चीनी लोगों में अनन्त शेषनाग के समान फूफकार करने वाला एक बड़ा सर्प उनका सांस्कृतिक चिह्न माना गया है।

मार्कोपोलो के अनुसार वैदिक शास्त्रों के अनुरूप चीनी नगर और इमारतें बनाई जाती थीं। उनका कहना है कि 'किन्से नगर एक तरह से जलाशय के मध्य में ही बना है। उसके चारों ओर पानी है। इस नगर के मध्य में एक सरोवर है। जिसका घेरा ३० मील है। उसके तट पर बड़े सुन्दर और विशाल प्रासाद, महल, हवेलियाँ आदि हैं, जिनमें नगर के रईस लोग निवास करते हैं। सरोवर के किनारे पर अनेक देव मंदिर और धार्मिक सभागृह भी बने हैं।'[१५] उपरोक्त वर्णित सारी व्यवस्था पूर्णतया वैदिक पद्धति है। मार्कोपोलो के इस ग्रन्थ में हांग चाऊ नगर का नक्शा है।

---

१४. मार्कोपोलो का प्रवास, खण्ड- २, पृ. १८३

१५. वही, पृ. १८६-१८८

जिसमें शहर की सीमा के अन्दर का मंदिर दर्शाया गया है। इस्लामी हमलों में वह मंदिर कभी का नष्ट हो चुका है। किन्तु उस मंदिर के स्मारक के रूप में वहाँ दो प्रस्तर स्तम्भ खड़े किये गये हैं।[१६] पीकिंग में जो धवल मंदिर है उसके चारों ओर १०८ द्वीप स्तम्भ हैं।[१७] वैदिक संस्कृतिक में १०८ आँकड़ें का बहुत महत्त्व है। पीकिंग नगर के उत्तर में ४० मील दूर 'केनयुग क्वान' ग्राम है। वहाँ 'नानकाऊ' की गली के पार एक कमानी नगर द्वार बना हुआ है। उस पर सन् १३४५ के दो बड़े शिलालेख छः भाषाओं में अंकित है। उसमें से एक संस्कृत है। विली ने उन शिलालेखों को प्रकाशित किया था। परन्तु प्रिंस रोलाण्ड बोनापार्ट के 'रेके दे डाकूमेण्ट्स दी लीपोक मोंगोल' नामक ग्रन्थ में उन शिलालेखों के उद्धरण अधिक स्पष्ट हैं। इन उल्लेखों से पला चलता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में भी संस्कृत भाषा चीन में व्यवहार की भाषा थी। दक्षिण चीन में सागर तट पर क्वानझाउ नामक नगर है। वहाँ उत्खनन में शिव, विष्णु आदि वैदिक देवताओं की मूर्तियाँ तथा दीवारों पर खुदे अनेक चित्र पाये गये हैं। उस स्थान में स्थित एक प्राचनी खण्डहर में कृष्ण, हनुमान, लक्ष्मी, गरुड़ आदि की मूर्तियाँ या दीवार पर बनी चित्रकारी प्राप्त हुई है। यह सारी सामग्री स्थानीय ओवरसीज कम्यूनिकेशन संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। जर्नाजअचोअंग में चार फुट ऊँची विष्णु मूर्ति प्राप्त हुई है। नरसिंह अवतार की तो यहाँ विविध प्रकार की ७१ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। वहाँ के वस्तु संग्रहालय के अधिकारी डॉ. यान क्वानझांग के अनुसार चीन में एक मंदिर भारत स्थित मदुराई के मीनाक्षी मंदिर की शैली का बना हुआ है।

उपरोक्त तथ्य स्पष्ट करते हैं कि चीन पूर्णतया वैदिक संस्कृति से प्रभावित था।

❑ रूस तक वैदिक संस्कृति का विकास-विस्तार

रूसी पुरातत्त्व विभाग की ढूँढ-खोज में ऐसे अनेक स्मारकों, मंदिरों, विद्यालयों, भितिचित्रों, शिलालेखों, ग्रन्थों, मूर्तियों तथा भग्नावशेषों का संग्रह किया गया है, जो उस देश में प्राचीनकाल की वैदिक संस्कृति के प्रसार का प्रमाण देते हैं। रूसी भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार है। ईसा की दसवीं शताब्दी तक रूसी लोग देवताओं की पूजा करते थे जो भारत में पूजित होते थे। लिथुवानिया और लाताविया की भाषायें यूरोप की भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत के अधिक समीप हैं। 'वाल्हस एण्ड आर्यन्स' ग्रन्थ में इस क्षेत्र के निवासियों को प्राचीन काल में आर्य वंश का ही सिद्ध

---

१६. मार्कोपोलो का प्रवास, खण्ड- २, पृ. २१२

१७. वही, पृ. ३४७

किया गया है।[१८] रूस का उजेबिकिस्तान प्रदेश यूँ इन दिनों मुसलमानी प्रभाव में है, परन्तु प्राचीन काल में वह वैदिक संस्कृति का केन्द्र रहा है। मध्य युग की ईमारतों के अवशेष जहाँ भी उपलब्ध हैं उन पर वैदिक स्थापत्य कला और संस्कृति की गहरी छाप है। ताशकन्द के स्त्री-पुरुषों की पोशाक भारतीय पहनावे से मिलती-जुलती है।

तुर्कमानिया प्रदेश के अनेक स्थानों में वैदिक संस्कृति के अवशेष बिखरे पड़े हैं। अश्काबाद से ४०० किलोमीटर आगे विशालकाय 'मेर्व' की खुदाई में ऐसे अनेकों अवशेष मिले हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और तुर्की, फारसी, अरबी तथा संस्कृत के विद्वान् रहीम, जिनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था, वे तुर्कमानिया के ही निवासी थे। भारतीयता के प्रति उनका अनुराग अपने जन्मकाल से ही वहाँ के वातावरण द्वारा उपलब्ध हुआ था। रूस के समाचार पत्रों में उस खोज की विस्तृत चर्चा छपी थी। इसके अनुसार काकेशस क्षेत्र में कालासागर के तट पर माइस सेनेटोरियम के निकट खुदाई में जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे इस बात को प्रमाणित करती हैं कि किसी समय उस क्षेत्र में वैदिक संस्कृति फैली हुई थी। इस क्षेत्र में 'आदवरोइस' नामक कबीला निवास करता है, उसकी नस्ल का विश्लेषण करने पर प्रतीत हुआ कि वे वैदिक मूल के लोग हैं। पीढ़ियों से बसे होने के कारण वे अब रूसी हो गये हैं।[१९] फिर भी उनका सांस्कृतिक रुझान भारतीयों जैसा है। उनमें प्रचलित लोक कथाओं में से ३० कथायें भारतीय पुराणों की हैं। आभूषण वे भारतीयों जैसे पहनते हैं। वे रूस में रहते हुए भी अपने आप को भारतीय मूल का मानते हैं। मास्को, लेनिनग्राड, रोस्तोव, ताशकन्द, कीव के विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन को पढ़ाया जाता है। रूस में १४ भारतीय भाषाओं में रेडियो प्रसारण होता है।

रूस के साइबेरिया के प्राचीन मन्दिर में स्थित मूर्तियाँ वैदिक देवताओं की हैं। वहाँ का बड़ा मन्दिर महाकाल देवता का है, जिसका स्तवन संस्कृत श्लोकों से होता था। रूस के अजरवइजान नगर में एक सूर्य मंदिर है। जिसमें संस्कृत शिलालेख है। वह इस बात का साक्षी है कि कभी उस देश में वैदिक संस्कृति का विस्तार रहा है।

रूस के विद्वानों में से ए.जी. रोस्तोव, एन. ए. दोब्रोल्यूवोव, आई. सी. मितायेव, वी. वी. स्तासोवो, एस. शशकोव ऐसे नाम हैं जो वैदिक संस्कृति से अभिभूत हैं। रूसी भाषा का विकास संस्कृत के आधार पर हुआ है। इस तथ्य को

---

१८. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान, भाग १, पृ. १४५-१४६

१९. वही, पृ. १४७

रूस की महिला इतिहासवेत्ता बोलकोवा ने स्वीकार किया है। रूस के भाषा विज्ञान वी. मकारैको का कथन है कि रूसी भाषा अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी, संस्कृत और बंगला के अधिक निकट है। रूस के अनेक ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया गया है कि रूसी भाषा का विकास संस्कृत भाषा के प्रकाश में हुआ है।[२०] इस तरह ए. एफ. मिकुत्स की 'स्लाव और संस्कृत भाषा की आत्मीयता', एम. पी. मिकुत्सकी की 'संस्कृत धातुओं और शब्दों की स्लाविक भाषा से तुलना' रूसी विज्ञान अकादमी द्वारा प्रकाशित 'संस्कृत और रूसी भाषा की समानता' आदि ग्रन्थ भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

रूस में कई गुफाओं में नित्य वेदपाठ करने का संकेत मिलता है ऐसी एक गुफा में एस. के. मल्हन ने 'इण्डियन एक्सप्रेस' के रविवासरीय अंक में उल्लेख किया था।[२१] इसमें मल्हन ने कहा है कि 'एशिया के दक्षिण में उज्बेक स्थान में टर्मे गाँव के समीप केयर टेप पहाड़ी में उत्खनन करते हुए जब सोवियत पुरातत्त्वविदों को हाल में एक प्राचीन गुफाशाला के अवशेष दिखे तो सोवियत, मध्य एशिया तथा भारत के बीच प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों का एक और सूत्र हाथ आया। ताजिकिस्तान प्रदेश में किसी स्थान पर एक प्राचीन भवन की दीवार पर वैदिक रथ का चित्र रेखांकित पाया गया है।'[२२] रूस के लोग रामायण से भी प्रभावित थे। इसका प्रमाण है पूर्व सोवियत संघ के निवासी अलैक्सेई वारान्निकोव, जो हिन्दी साहित्य सेवा के साथ रामचरित मानस के अनन्य प्रेमी भी थे। उन्होंने सन् १९४८ में रामचरित मानस का रूसी अनुवाद किया था।[२३] बोएथलिंक द्वारा सम्पादित 'संस्कृत गोर्तेबुख-पीट्सवर्ग डिक्शनरी' नामक संस्कृत कोश सात बड़ी जिल्दों में छपा है। देवनागरी लिपि में छपा यह रूस का सर्वप्रधान ग्रन्थ है।

प्राचीन काल में यहाँ के प्रचारक अपने अटूट उत्साह का सहारा लेकर रूस पहुँचते थे और वैदिक संस्कृति के दिव्य लाभों से उस क्षेत्र को भी प्रभावित-प्रकाशित करते थे।

❑ सूर्यवंशी जापान

जापान शब्द चीनी भाषा के 'जिम्पोज' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है- सूर्य का देश। जापान चिर अतीत काल से सूर्य उपासक रहा है। उस देश के निवासी अपने को सूर्य की संतान कहते हैं। जापान सम्राट मेईजी की वे कवितायें

---

२०. पिकिलिंग्स- लिथुआनियन भाषाओं का संस्कृत से निकट सम्बन्ध
२१. Indian Express, Sunday issue, Nov. 27, 1983
२२. Times of India, Daily news paper, Mumbai, August 30, 1982
२३. पाञ्चजन्य- विश्व में हिन्दुत्व, अंक- २, १४ मई, १९९५, पृ. २१

सुप्रसिद्ध हैं, जिसमें उन्होंने जापान की आत्मा का सूर्य ज्योति के रूप में चित्रण किया है। आचार्य रघुवीर ने अपने शब्दकोश में जापान को उदयर्वय (उगते सूर्य का देश) कहा है। जापान का प्राचीन मत था 'शिन्ता' अथवा देवमार्ग।[२४] जापान की सांस्कृतिक परम्परा यह है कि प्रातःकाल उठकर पूर्व की दिशा में मुँह करके खड़े हो, सूर्य का दर्शन करें, नमन करें और इस दर्शन के उपलक्ष्य में ताली बजायें। वे सूर्य को अपना उपास्य और आदर्श मानते हैं। हर जापानी उस प्रेरक गीत को गुनगुनाता रहता है, जिसके बोल हैं 'हम सूर्य की संतान हैं, हम दिव्य देश के गौरव हैं।'

जापान की नारा नगरी में मथुरा, वृन्दावन जैसी राग-रंग की धूम-धाम रहती है। वहाँ के मंदिरों में आकर्षक नृत्य के साथ अनेक धर्मोत्सव होते रहते हैं। जापानी पुरातत्त्ववेत्ता तकाकसू ने जापानी संस्कृति का इतिहास लिखते हुए स्वीकार किया है कि उसका विकास वैदिक संस्कृति की छाया में हुआ है।[२५] जापान में बुद्धिसेन भारद्वाज नामक भारतीय धर्म प्रचारक ने सारा जीवन इसी देश में धर्म शिक्षा एवं वैदिक संस्कृति का विस्तार करते हुए व्यतीत किया। पहले वे अपने कुछ साथियों सहित ओसाका पहुँचे थे, पीछे उन्होंने सारे जापान में यात्रायें कीं और जापानी जनता को वैदिक धर्मानुयायी बनाया। इस महान् धर्म प्रचारक का स्मारक अभी नारा नगर में बना हुआ है। जापान में सूर्य देव की पूजा होती है। दीवाली भारत की तरह ही मनायी जाती है। ऐतिहासिक अवशेषों के अनुसार सूर्यवंशी राजाओं ने वहाँ पहुँचकर शासन सूत्र सँभाला था और राज्य व्यवस्था का सूत्रपात किया था। इसलिए जापान के धर्म, दर्शन एवं संस्कृति पर वैदिक संस्कृति की गहरी छाप है। जापान के देवालयों में देवी-देवताओं की सम्मानपूर्वक स्थापना की गई है। यों जापानी भाषा के अनुसार उनके नाम बदल गये हैं, पर उनकी आकृति-प्रकृति के अनुसार वे वैदिक देवताओं के साथ पूरी तरह संगति रखते हैं। सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, कार्तिकेय, अग्नि, कुबेर, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा, राम, कृष्ण, दस अवतारों की प्रतिमायें ऐसी लगती हैं मानों वे किसी वैदिक धर्मानुयायी ने ही स्थापित की हों। यम को इसी नाम से मृत्यु का देवता माना जाता है। मंदिरों में हवन कुण्ड बने हैं, जिनमें द्रव्य, समिधा, अगरबत्ती आदि जलती हैं। मंदिरों में प्रवेश करने से पहले हाथ-मुँह-पैर धोने का नियम है। कुछ अरसों पहले वहाँ लम्बी चोटी हर कोई रखता था, अब तो वह पहलवानों और विचारकों के सिर पर ही दिखाई देती है।[२६]

---

२४. शरद हेवालकर- भारतीय संस्कृति का विश्व संचार, पृ. १०१

२५. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग- १, पृ. १५३

२६. वही, पृ. १५४

जापान में सात देवताओं की पूजा प्रचलित है। घर-घर में उनकी मूर्तियाँ मिलती हैं। इन देवताओं को महाकाल, कुबेर, सरस्वती, गणेश, यम, हरीति और लक्ष्मी कहा जा सकता है। यद्यपि उनके जापानी नाम भिन्न हैं। टोकियो में 'मिमेगुरी' महाकला का मंदिर है। इसी प्रकार कुबेर मंदिर को 'तमोवाज' और सरस्वती मंदिर का नामकरण 'चोमेइजि' किया गया है। यम मन्दिर में स्थापित 'एकमा' का भी उस देश में पूजन होता है। मार्च और सितम्बर में जापानी अपने दिवंगत पूर्वजों (हाकापारि) का श्राद्ध-तर्पण करते हैं। उस दिन वहाँ उपवास रखा जाता है।[२७] 'कोयासान्' में १२० मन्दिर हैं। यहाँ सम्राट 'शिराका का' द्वारा प्रज्वलित अखण्ड ज्याति अभी भी जलती है। इस नगर में 'शिंगोन' तंत्र सम्प्रदाय प्रचलित है। जिसके पूजा तथा उपासना के मंत्र संस्कृत भाषा में बोले जाते हैं। जापानी मंदिरों में अग्निहोत्र होता है। उसे होम न कहकर 'जुमा' कहा जाता है। आहुतियाँ देते समय 'ॐ पद्मोद्वाय स्वाहा' आदि मंत्रों का उच्चारण किया जाता है।[२८] इस तरह सूर्य के देश जापान में वैदिक संस्कृति का आलोक बिखरा हुआ था।

❑ कोरिया और मंगोलिया में वैदिक संस्कृति का आलोक

कोरिया में भी चीन और जापान की तरह वैदिक धर्म प्रचारक पहुँचे थे और उन्होंने सांस्कृतिक अभियान के प्रकाश में उस क्षेत्र को भी आलोकित किया था। प्राचीन कोरियाई साहित्य तथा भवन निर्माण कला पर वैदिक वास्तुशास्त्र की गहरी छाप है। 'सुकगोलाम' गुफायें भारतीय गुफाओं की शैली पर ही बनी हैं। मंदिरों में बजने वाले वाद्य-यंत्र वही हैं, जो भारत में प्रयुक्त होते हैं। सम्राट ताइजो की नीति थी कि देश में अधिक मंदिर बनाये जायें, ताकि धर्म एवं संस्कृति के प्रति निष्ठा एवं सम्मान में वृद्धि हो।[२९] रूस के पुरातत्त्ववेत्ता और संस्कृत विद्वान 'श्चर्वातकी' मंगोलिया को आठवीं सदी का भारत कहा करते थे। उस देश के छोटे देहातों में भी रामचरित, कृष्ण चरित्र, विक्रमादित्य, राजा भोज आदि की कथा-गाथायें रुचिपूर्वक कही और सुनी जाती हैं। मंगोलिया के राष्ट्रपति का नाम शंभु, राष्ट्र ध्वज का नाम स्वायंभू, प्रधान नदी का नाम 'दारु गंगा' है। इसके अतिरिक्त वहाँ के लोगों के नाम देखने पर प्रतीत होता है कि वे वैदिक परम्परा के अनुरूप रखे गये हैं।[३०] मंगोलिया में

---

२७. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग- १, पृ. १५५
२८. वही,
२९. वही, पृ. १६१
३०. वही, पृ. १६५

मांगलिक अवसरों पर कलश की स्थापना, स्वस्तिक बनाना, शंख, चक्र और पद्म का चित्रण, घृत, दीप एवं धूपबत्ती का जलाना अभी भी प्रचलित है। इन प्रथाओं को वहाँ पर भूतकाल में वैदिक संस्कृति की प्रतिष्ठापना का अवशेष ही माना जाता है।

❑ हिन्दचीन (वियतनाम) क्षेत्र को भारत के अनुदान

वैदिक आर्ष साहित्य में सात पातालों की चर्चा मिलती है। प्राच्य विद्या विशारदों ने इसकी संगति दक्षिण-पूर्व एशिया के सात देशों से मिलाई जाती है, जहाँ समुद्र पार करके जाना पड़ता है। इन शोधकत्ताओं के अनुसार; १. अतल-सुमात्रा, २.चितल-बोर्निया, ३. सुतल-जावा, ४. रसातल-सेलीविज, ५. महातल-आस्ट्रेलिया, ६. तलातल-न्यूगिनी, ७. पाताल- न्यूजीलैण्ड है। कहीं-कहीं नौ द्वीपों की भी चर्चा मिलती है। बर्मा और मलय को शामिल कर लेने से यह संख्या नौ हो जाती है। सिंगापुर का सिंहलद्वीप के नाम से वर्णन हुआ है। बर्मा को नागद्वीप कहते हैं।

तानकिन, अनाम, कोचीन, चाइना, लाओस, कम्बोडिया ये चाइना प्रायद्वीप के प्रधान देश हैं। अब हिन्दचीन का नाम पुराना पड़ गया है। उसके स्थान पर नया नाम प्रचलित हुआ है- वियतनाम। पहली ईस्वी में भारतीयों का शासन कम्बोडिया, दक्षिण लाओस, स्याम, मलाया द्वीप समूह में स्थिर हो चुका था। इस क्षेत्र में कौडिन्य ब्राह्मण ने पदार्पण किया। उसने स्थानीय नाग कन्या सोमा से विवाह किया और उसके वंशजों का नाम सोमवंशी हुआ। इन लोगों ने इस सुविस्तृत क्षेत्र की शासन-व्यवसा सम्भाली। दक्षिण भारत के उस क्षेत्र में भारतीय लोग बराबर आते जाते और बसते रहे। भारत के पल्लववंशी राजा अपने नाम के आगे वर्मा उपाधि लिखा करते थे। अस्तु, वही परम्परा सुदूर पूर्व के शासकों में भी चली। उस क्षेत्र के प्राचीन राजाओं में से अधिकांश वर्मा उपाधि अपने नाम के साथ लगाते रहते थे। भारत के गोपुरों की शैली पर कम्बोडिया के 'अंकारवाट' और 'वेयन' मंदिरों का निर्माण हुआ। उस क्षेत्र में नटराज की मूर्तियों का बाहुल्य यह बताता है कि दक्षिण भारतीयों की संस्कृति का वहाँ किसी समय वर्चस्व रहा।[३१] पामातिये की 'खामेर

---

३१. इस विवरण का आधार है- 1. B.C. Chabra- Expension of Indo-China Culture, 2. A History of South East Asia, 3. Wells- The Making of India, 4. K.N. Shastri- Indian Influence in far East, 5. Zimper- The Art of Indian Asia, 6. Stuterhem- Indian Influence in old Balinies Art, 7. Mujumdar- Hindu Colonies in far East, 8. Ghoshal- Progress of Greater Indian Research,

वास्तुकला का इतिहास' तथा वोवासलिये की 'खमेर मूर्त्तियाँ और उनका विकास' पुस्तकें भी स्वर्ण द्वीप की भूतकालीन संस्कृति पर वैदिक संस्कृत के प्रभाव एवं विस्तार को प्रकट करती हैं। फितो ने अपने निबंध 'हिन्दचीन में भारतीय-संस्कृति का प्रादुर्भाव' में स्पष्ट किया है कि 'हिन्दचीन में भारतीय संस्कृति रची बसी है।' इसी प्रकार 'भारतीय इतिहास पत्रिका' और 'सुदूर पूर्व पत्रिका'[३२] में उसी प्रकार के और भी कई विवरण उपलब्ध हैं। बाकोफर[३३] ने भी इसी तरह का उल्लेख किया है। मद्रास की 'प्राच्य सभा पत्रिका' के भाग-२ में फूनान और कम्बुज में भारतीय संस्कृति पर अच्छा प्रकार डाला है। इसी प्रकार 'मार्डन रिव्यू' में श्री चटर्जी का 'काम्बुज में संवाद' में उल्लेख आता है कि प्राचीन काल में कम्बोडिया में वैदिक संस्कृति का विस्तार हुआ था। अनामी और काम्बोजी नागरिकों के चेहरे भारतीयों से मिलते हैं।

❑ वैदिक संस्कृति का प्रतीक कम्बोडिया

इतिहासकार केण्टलई और ली टाओ युआन के कथनानुसार ईसा की तीसरी शताब्दी में कम्बोडिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार हो चुका था। कम्बोडिया प्राचीन काल में कम्बुज कहा जाता था और अब उसे अनाम कहते हैं। अब उसके निवासी किसी वंश या धर्म के हों, प्राचीन काल में निश्चित रूप से भारतीय धर्मावलम्बी और भारतवंशी थे। यहाँ की मेकांग नदी का नामकरण कौग शब्दों को मिलाकर किया गया है। जिसका अर्थ वहाँ की भाषा में 'गंगा माता' होता है। वहाँ मेकांग को गंगा जैसा सम्मान प्राप्त है। कम्बोडिया में प्रचलित एक जनश्रुति के अनुसार कम्बु स्वयंभू नामक महापुरुष ने उस देश को बसाया, उसकी सन्तानें कम्बु कहलायी। भारत में जिस प्रकार मनु की संतान के मानव कहलाना प्रचलित है, उसी प्रकार उस देश के निवासी भी अपने को कम्बु स्वयंभू मनु की संतान मानते हैं। अन्य कम्बोज गाथाओं के अनुसार भारत में कम्बु ऋषि वहाँ पहुँचे। उस देश की राजकुमारी मीरा से उन्होंने विवाह किया और उन्हीं के नाम पर उस देश का नाम कम्बुज पड़ा।[३४]

---

९. बैजनाथ पुरी- दक्षिण पूर्वी एशिया का सांस्कृति इतिहास, १०. मजूमदार- स्वर्णद्वीप, ११. रघुनाथ सिंह- दक्षिण पूर्व एशिया।

३२. सुदूर पूर्व पत्रिका, भाग- १२, सन् १९२६

३३. बाकोफर का 'यूनान पर भारतीय कला का प्रभाव' निबंध 'वृहत्तर भारत' पत्रिका के दो भागों में छपा है। उसी के भाग-१० में विश्वनाथ का 'हिन्द चीन के सामाजिक जीवन में द्रविड़ प्रभाव' लेख से उद्धृत।

३४. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. १७८-१७९

श्री बागची ने अपनी पुस्तक 'पूर्व आर्य और पूर्व द्रविड़' ग्रन्थ के इतिहासकार लेवी, प्रिजुलस्की तथा जूब्लैक के लेखों का संकलन किया है। इन लेखों से यही सिद्ध होता है कि कम्बोडिया के प्राचीन निवासी भारतीय नस्ल के थे। पुरातत्त्ववेत्ता क्रोम तो इससे एक कदम और भी आगे बढ़ गये। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि जावा निवासी पहले भारत में बसे, वहाँ उन्होंने अपनी जड़ें जमाई और पीछे मजबूत होकर कम्बोडिया आदि पहुँचे। इस क्षेत्र में प्राचीन प्रचलन जिस प्रकार की वर्ण व्यवस्था तथा सांस्कृतिक रीति-रिवाज का था, उसे देखते हुए प्रतीत होता है कि वहाँ पहले धर्म प्रचारकों का पदार्पण हुआ होगा। इन लोगों ने न केवल कम्बोडिया में वरन् हिन्दीचीन, इण्डोनेशिया, ब्रह्म, मलाया आदि में भी वैदिक संस्कृति की पताका फहरायी थी। ब्रह्मा से लेकर हिन्दचीन तक के सारे क्षेत्र में वैदिक संस्कृति का प्रचलन था। फ्रांसीसी शोधकर्त्ता 'पिलियो' ने लिखा है कि इस क्षेत्र में उपलब्ध प्राचीन शिलालेखों की लिपि वैदिक संस्कृति की देन है। इतिहासकार पेरीपियस ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए थे। उन्होंने अपने समय में भारतीय जहाजों से मलाया, हिन्दचीन आदि जाने का उल्लेख किया है।

यहाँ पर जयवर्मन चतुर्थ का शासनकाल शक ८३० से ९२१ से माना जाता है और जयवर्मन (पंचम) का शक ८९० से ९६८ तक। जयवर्मन (छठां) शक संसत् १००४ से १०१८ और जयवर्मन (सप्तम) ११०४ से ११८२ तक शासनारूढ़ रहे। सन् ८७७ से लेकर सन् १००० तक वर्मन वंश के कोई ७ राजा सिंहासनारूढ़ हुए। इस अवधि में यह देश भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत था। इन्द्रवर्मन ने कई भव्य मंदिर बनवाये और इन्द्रतड़ाग खुदवाया। यशोवर्मन ने महाकाल पर एक टीका स्वयं लिखी। भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार है। साहित्य में रामायण, महाभारत आदि भारतीय पुराणों की कथाओं का बाहुल्य है।[३५] यहाँ की पूजा, उपासना, कर्मकाण्ड एवं प्रथा परम्परायें भारत से मिलती जुलती हैं। स्वर और व्यंजनों का क्रम भी वैसा ही है। मंदिरों तथा ऐतिहासिक स्थानों में उपलब्ध मूर्तियों, भित्ति चित्रों, शिलालेखों से भारत में प्रचलित परम्पराओं का भली प्रकार दिग्दर्शन होता है और लगता है कि यह देश सांस्कृतिक दृष्टि से अभी भी भारत का अविच्छिन्न अंग है। कम्बोडिया में चौदहवीं सदी का बना ईश्वरपुर में एक मंदिर है, जिसमें रावण द्वारा कैलाश पर्वत हाथों में उठाये जाने की प्रतिमा है। हेम श्रृंगगिरि नगर के मंदिरों में हनुमान के कन्धे पर बैठे राम तथा सीता की अग्नि परीक्षा के भव्य चित्र हैं। शिव,

---

३५. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. १८०-८१

विष्णु, कार्तिकेय, गणेश, शालिग्राम, सूर्य, दुर्गा, भवानी, भगवती, चतुर्भुजा, सरस्वती, गंगा, इन्द्राणी आदि की प्रतिमायें, स्तुतियाँ, स्थापना एवं उनके लिए बने देवालयों के भी अनेकों प्रमाण उपलब्ध हैं। उस काल में वहाँ वेदशास्त्र के ज्ञाता एवं यज्ञादि कर्मकाण्डों में निष्णात् ब्राह्मण विद्यमान थे। साहित्य, कला, चिकित्सा, तंत्र, नीति आदि पर जो ग्रंथ मिले हैं उन्हें एक प्रकार से भारतीय साहित्य की ही अनुकृति कह सकते हैं। मंदिरों, स्मारकों, दुर्गों, भवनों की शिल्पकला में पूरी तरह भारतीयता का समावेश है। चीनी इतिहासकार पीलियो के अनुसार वहाँ एक हजार के करीब विद्वान् ब्राह्मणों का आधिपत्य था। इनमें शिव कैवल्य, हिरण्यदास अगस्त्य, दिवाकर, हृषिकेष, वामशिव, शिवाचार्य, त्रिभुवनराज, लौज युधिष्ठिर, जयेन्द्र पण्डित, योगीश्वर, पृथ्वीन्द्र पण्डित, गुण पण्डित, कवीन्द्र, शिवालाक्ष आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्री चटर्जी की 'कम्बुज में भारतीय संस्कृति का प्रभाव' पुस्तक में उस समय वहाँ पुरुषों में धोती, कमर में फेंटा और कन्धे पर दुपट्टा डालने का प्रचलन बताया गया है। उस काल के उपलब्ध चित्रों में तत्कालीन शासकों और नागरिकों को उसी वेशभूषा का अभ्यस्त दिखाया गया है। महिलायें लँहगा पहनती थीं। पीलियो की 'चे ओ टाकुअन' की कथा में स्त्रियों के आभूषण में हार, कर्णफूल, छल्ले, कंगन, बाजूबंद, करधनी, नुपूर आदि का उल्लेख है। वे विशेष अवसरों पर मेंहदी रचाती थीं। पुरुष गले में हार और कानों में कुण्डल पहनते थे। स्त्रियों में जुड़ा बाँधने और माथे पर चन्दन लगाने का रिवाज था। यह वेश-भूषा विशुद्ध रूप से भारतीय परम्परा के अनुकूल है। चीनी इतिहास की पुस्तक 'तांग वंश का इतिहास' में तत्कालीन खाद्य पदार्थों, गीत-वाद्य, नृत्य आदि का जैसा वर्णन है उससे स्पष्ट होता है कि उस समय वहाँ की प्रथा में पूरी तरह भारतीयता का समावेश था। 'राजतिलक के अवसर पर थाईलैण्ड की तरह कम्बोडिया के राजा को भी धोती, कुर्ता पहनना पड़ता है।'[३६] सातवें जयवर्मन के समय से खेमर वंश के जीवन में रामायण का बड़ा महत्त्व रहा। उत्सवों में रामलीला का अन्तर्भाव होता था, चित्रकारी में रामायण के प्रसंग बनाए जाते और कथा-कीर्तनों में रामकथा कही जाती थी। खमेर के लोगों का काव्य राममय हो गया था।[३७]

---

३६. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. १८८

३७. पुरुषोत्तम नागेश ओक- वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास, भाग २, पृ. २२५

❑ स्याम (थाईलैण्ड) वैदिक राष्ट्र

प्राचीन काल में थाईलैण्ड में वैदिक धर्मानुयायी राजा राज्य करते थे राजा धर्माशोक ने भव्य विष्णु मंदिर बनवाया था। उसके बाद अनेक भारतीय राजा देवी-देवताओं के मंदिर बनाते रहे, जिनका अस्तित्व अभी भी जीवन्त इमारतों तथा भग्नावशेषों के रूप में विद्यमान है। फ्रोके के शिव मंदिर की अभी भी ब्राह्मण पूजारी पूजा करते हैं। ब्राह्मण को वहाँ 'ब्रह्म' कहते थे, पीछे उसी का अपभ्रंश 'फ्रंम' बन गया। फ्रंम के नाम से वहाँ ब्राह्मण वर्ग का परिचय मिलता है। 'देवनगर' उनकी एक पूरी बस्ती ही बसी है। वहाँ मकर संक्रान्ति, वैसाखी, होली पर पानी उलीचने का एक-दूसरे को भिगोने का उन्माद भारत से घटकर नहीं, वरन् बढ़-चढ़कर ही देखा जा सकता है। स्थानीय नदियों में गंगा माता की भावना करके वहाँ के निवासी नदी-प्रवाह में दीपक तथा पुष्पों के दोने बहाते हैं। यहाँ के राजा वर्ष में एक बार जनक की तरह हल चलाते हैं और धार्मिक उत्सव में साधारण नागरिक की तरह सम्मिलित होते हैं। मुहुर्त और ज्योतिष का प्रचलन वहाँ भी है। राजकीय समारोहों का पूजा विधान अभी भी वहाँ ब्राह्मणवंशी राजगुरु ही मंत्रोच्चारण के साथ कराता है।

बैंकाक के एक प्राचीन मंदिर में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश,दुर्गा आदि देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं। खण्डहरों में उपलब्ध कितनी ही देव प्रतिमाएँ अब वहाँ के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है। ब्रह्माजी की प्रतिष्ठा वहाँ घर-घर में है। बैंकाक के प्रधान होटल (इरावन) के मुख्य द्वार पर ब्रह्मा जी की भव्य प्रतिमा स्थापित है। छठी शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक की अवधि में वहाँ वैदिक देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। बैंकाक में ही देव मन्दिर वैदिक समाज सन् १९२५ से कार्यरत है। इस भव्य मन्दिर की स्थापना ११ जून १९६८ को साऊछिन्छा (राजा का झूला) में हुई थी। इस देव मंदिर में पाणिग्रहण संस्कार भी आयोजित होते हैं।[३८] थाईलैण्ड में राम की पूजा प्रसिद्ध है। वहाँ रामायण कथा भी लोकप्रिय है। लवपुरी में हनुमान जी की मूर्तियों की भरमार है। फ्राईसुवन की खुदाई में भगवान् राम की मूर्ति मिली है। बस के टिकटों तक पर राम के चित्र छपे रहते हैं। बैंकाक के राष्ट्रीय संग्रहालय के बाहर धनुषधारी राम की विशाल मूर्ति खड़ी हुई है और राष्ट्रीय-नृत्य गृह के बाहर वैसी ही विशालकाय गणेश प्रतिमा स्थापित है। कुछ सरकारी विभागों का राज्य चिह्न गणेश है। कला विभाग के द्वार पर विश्वकर्मा की मूर्ति स्थापित है। रामायण कथा की नृत्य नाटिकायें उस देश में प्रत्येक पर्वोत्सव पर होती रहती है। उसमें राज-परिवार के तथा उच्च स्तर के लोग अभिनय करते हैं। जनता उनमें बहुत

---

३८. पाञ्चजन्य- विश्व में हिन्दुत्व, अंक २, पृष्ठ २०

रुचि लेती है। रामचरित्र वहाँ बच्चे-बच्चे को याद है, वहाँ वह बहुत ही लोकप्रिय है। थाई भाषा की एक पुस्तक है 'बाली की भाई को शिला' बाली ने अपने भाई सुग्रीव जो को धर्म-नीति सिखाई, उसी का इसमें वर्णन है। स्थान का प्राचीन साहित्य रामायण, महाभारत आदि भारतीय ग्रन्थों की अनुकृति है। रामायण एक दृष्टि से स्याम का राष्ट्रीय ग्रन्थ है।[३९]

बच्चों का मुण्डन संस्कार, नामकरण, कर्णबेध, विवाह, अन्त्येष्टि आदि संस्कारों में भारतीयता का प्रत्यक्ष अनुकरण देखा जा सकता है। यहाँ मुर्दे जलाये जाते हैं। राजकीय धर्म कृत्यों की व्यवस्था मण्डली कराती है। यहाँ सभी ब्राह्मण शिखा, यज्ञोपवीत से युक्त धोती परिधान धारण करने वाले होते हैं। तेरहवीं सदी तक स्याम कम्बोडिया का ही एक अंश था, उसकी स्वतंत्रता राजा इन्द्रियादित्य के द्वारा सम्भव हुई। वे १२१८ में सिंहासनारूढ़ हुए। इसके बाद राम राजा, सूर्य वंश राम, रामाधिपति राज, वर धीर राजा, महामहिन्त आदि उत्तराधिकारी होते रहे। ये सभी वैदिक धर्मानुयायी थे। थाईलैण्ड पर वैदिक संस्कृतिक का विस्तार अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित है।[४०]

❑ मलेशिया और सिंगापुर

वर्तमान मलेशिया छः हजार द्वीपों का समूह है। जिसमें प्रधानतया मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो और सालिवीज आते हैं। प्राचीन समय में वर्मा से लेकर मलेशिया का यह सारा क्षेत्र भी भारत में स्वर्ण द्वीप या स्वर्ण भूमि के नाम से पुकारा जाता था। मलेशिया क्षेत्र में ईसा की पहली, दूसरी शताब्दी में वैदिक संस्कृति पहुँची और सातवीं सदी तक निर्बाध गति से फैलती और बढ़ती रही। फाहियान के अनुसार उस क्षेत्र पर वैदिक संस्कृति का भारी प्रसार हुआ था। इवान्स द्वारा सम्पादित 'पेपर्स आन दि एथनोलॉजी एण्ड आर्कियोलॉजी ऑफ द मलय' में वर्णन है कि मलय में वैदिक संस्कृत के प्रसार पर प्रकाश डालने वाले उपलब्ध साहित्यिक प्रमाण की पुष्टि, मलय प्रायद्वीप में प्राप्त पुरातत्त्वीय अवशेषों से होती है। क्वारिच कृत 'आर्कियोलॉजिकल रिसर्चेज आन एनसिएण्ट इण्डियन कोलोनाइजेशन' भी इसी तरह का उल्लेख करता है। प्राचीन काल में राजाओं के नाम भूमिपाल,

---

३९. शरद हेवालकर- भारतीय संस्कृति का विश्व संचार, पृ. ३६

४०. 1. A Histoty of Syam from the Earliest Time, 2. A Salemani Sculputure in Syam, 3. Surjon Marshal Budhist Art in Syam, 4. Majumdar- Indian Colonization in Syam, 5. Nikantha Sashtri- South India Influence in far East.

आनन्दमही, नरोत्तम वर्मन, जयवर्मन, इन्द्रवर्मन आदि नाम भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

चौथी सदी में भारतीयों की अनेक बस्तियाँ मलाया में बनी हुई थी, इनमें से बड़ी बस्तियाँ चुनफान, काया, नाटवान, धम्मरत, श्रीमानयाला, सीलिन सिंग, मलक्का, वेलेजली, टकुआ, लानया नाम से प्रख्यात थीं। इन क्षेत्रों की खुदाई में जो सामग्री मिली है उससे पता चलता है कि पल्लव और चोल वंश के राजाओं का इस क्षेत्र पर शासन था। इन राजाओं में राजेन्द्र का प्रभुत्व था। सेलेंसिंग (पेरक) क्षेत्र में सोने के एक आभूषण में गरुड़ पर आसीन विष्णु चित्र अंकित है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह मान्यता सही है कि बन्दोन की खाड़ी के चारों तरफ के क्षेत्र से वैदिक संस्कृति का प्रसार सुदूर पूर्व के देशों में होता रहा। मलय द्वीप के पश्चिम तट पर कटुआ-पर के पास सामान्यत: भारतीय रंग रूप के लोग अभी पाये जाते हैं। नरवाने श्रीधम्मरत और पतलंग स्थानों पर अभी भी भारतीय वंशज ब्राह्मणों का समाज रहता है, जो कि यह मानता है कि उनके पूर्वज भूमि मार्ग से मलय द्वीप में भारत से आये थे। मलाया में यों इस्लाम धर्म के अनुयायियों का बाहुल्य है। वहाँ के सम्राट सुल्तान कहलाते हैं। सुल्तान के नाम के साथ जुड़ने वाली अनेक उपाधियों में से एक 'श्री पादुका' भी है। जिस प्रकार भरत जी राम की चरण पादुकाओं को अयोध्या के शासन का स्वामी मानते थे और अपने को कार्यवाहक मात्र कहते थे, उसी प्रकार सुल्तान भी राजगद्दी का स्वामी भगवान् को मानकर कार्य संचालन करते हैं। यह मर्यादा 'श्री पादुका' उपाधि में है।

मलाया देश के दक्षिणी किनारे के निकट जो द्वीप है उसे सिंगापुर कहते हैं, जो संस्कृत शब्द सिंहपुर का विकृत उच्चारण है।[४१] प्राचीन वैदिक विश्व साम्राज्य में अमेरिका से आस्ट्रेलिया तक जाने वाली नौकाएँ सिंहपुर में रुकती थीं। सन् १९४२ में एक अंग्रेज पर्यटक सर स्टेनफोर्ड रेफल्स जब उस द्वीप पर पहुँचा तो सागर किनारे एक पहाड़ी के ऊपर उसने किला देखा जिसके ऊपर परमेश्वर नाम के राजा का संस्कृत शिलालेख था। सिंहपुर की स्थापना राजा दलपत सिंह ने की। तभी उनका नाम सिंहपुर रखा गया। पीछे बदलकर वह सिंगापुर हो गया। वहाँ ११ मन्दिर हैं तथा रामकृष्ण मिशन के दो भव्य मंदिर हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सिंगापुर भी वैदिक संस्कृति से अछूता नहीं रहा।

---

४१. पुरुषोत्तम नागेश ओक- वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास, भाग २, पृ. ३२५

❑ सुवर्ण द्वीप जावा में वैदिक संस्कृति का प्रसार

विश्व के इतिहासवेत्ता पामयोनियस, परीप्लस, प्लिनी, डिओनिसस, पेरीगेटिस, सोलिनस, माटिआनस, कैपेला, सेविल, इसीडोर, थियोडल्फ, निसेफोरस आदि ने सुवर्ण द्वीप का जिस प्रकार वर्णन किया है, उससे यह तथ्य सामने आता है कि वहां सर्वप्रथम वैदिक संस्कृति का प्रकाश पहुँचा और उसने उसे क्रमशः अधिक ऊँची स्थिति में पहुँचाने में योगदान दिया। अरबी और चीनी लेखकों द्वारा प्रस्तुत किये गये विवरण भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। 'इण्टरनेशनल ज्योग्राफी' ग्रंथ के लेखक एच.एल. मिल ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि जावा निवासी रक्त की दृष्टि से भारतीयों के वंशज हैं। उनकी धार्मिक मान्यतायें, ब्राह्मण धर्म से प्रभावित हैं, जावा की भाषा पर संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव है। जावा में कुल मन्दिरों की संख्या १५६ है। पूर्वी जावा का सबसे प्रसद्धि स्मारक 'पनतरन' (१४ वीं शताब्दी) की दीवालों पर रामायण और कृष्णायन की उभरी आकृति की नक्काशी चित्रित है।

जावा में भारतीय साहित्य प्राचीन काल में प्रचलित था। वैदिक उपनिवेशीकरण के तृतीय काल खण्ड सन् १००० से १५०० के भीतर हिन्द जवानी साहित्य ने पूर्वी जावा में किदिर या डह, सिंहश्री और मजहपित के राजाओं की संरक्षता में उल्लेखनीय प्रगति और उन्नति की। इस काल का सबसे प्राचीन ग्रंथ 'संस्कृत ग्रंथ-अमर आला' का पुरानी जावानी भाषा में लिखा संस्करण है। इसी काल का प्राचीन जवानी भाषा में लिखा 'रामायण' ग्रन्थ है। इसका प्रतिपाद्य विषय संस्कृत की मूल रामायण से सटीक मिलता है। जावा का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रसद्धि भारतीय ग्रन्थ महाभारत का गद्य अनुवाद है, जिसकी रचना राजा धर्मवंश के समय में हुई। सन् ९९६ में 'विराट पर्व' का अनुवाद किया गया। किदिर काल के प्रारम्भ की दो पद्य रचनायें 'कृष्णायन' और 'सुमन सानक' है। कृष्णानयन में रुक्मिणी हरण की कथा है, जबकि सुमन सानक में आज की रानी इन्दुमती की मृत्यु सम्बन्धी कथा है। इसके अलावा हरिवंश, स्मर दहन, मोमकाव्य, नागर क्रिरागम, नीति-शास्त्र कवित, सूर्य सूवन, गारुड़ेय मंत्र, कोर माश्रम तंत्री, किदुंग, संसग सत्यवन आदि ग्रन्थ जावा में वैदिक संस्कृति के प्रकाश को उजागर करते हैं। ९वीं शताब्दी के आरम्भिक काल में ब्राह्मण धर्म का स्वरूप जावा में दृढ़ता के साथ जम चुका था। इसके अनुसार त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव तथा उनसे सम्बन्धित देवी-देवताओं की पूजा का विधान है। गणेश की मूर्ति में जावा में बहुत प्रचलित थी। शिव की पूजा लिंग के रूप में भी की जाती थी। युद्ध देवता कार्तिकेय, विष्णु, श्री या लक्ष्मी तथा त्रिमूर्ति की पूजा का भी बहुत प्रचलन था। जावा में रामलीला अभिनय में भाग लेना बहुत गौरवास्पद माना जाता है।

जेम्स फर्गुसन के अनुसार जावा में भारतीय ईसा की प्रथम शताब्दी में ही जम गए थे। विद्वान् एलाइस की 'मानाग्राफी आन दी एलीफेण्ट गाड' में जावा में उपलब्ध गणेश प्रतिमाओं पर प्रकाश डालते हुए उस देश के प्राचीन निवासियों को वैदिक संस्कृति से प्रभावित बताया है। इस पर विस्तृत प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रंथ हैं।[४२]

❑ सुमात्रा- 'श्री विजय' देश

सुमात्रा का पुरातत्तव विभाग यह बताता है कि सातवीं शताब्दी में संस्कृत वहाँ के शिक्षित वर्ग की मान्य भाषा रही है। मान्यता है कि भारतीयों का सर्वप्रथम प्रवेश इसी क्षेत्र में हुआ था। इसका प्राचीन भारतीय नाम 'श्री विजय' है। वहाँ वैदिक उपनिवेश ईसा सन् के प्रारम्भिक काल में कायम हुआ था। सुमात्रा पर लीडेन की 'दी आर्कियालॉजी ऑफ हिन्दू सुमात्रा' और स्टटोरिहम की 'जावा पीरियड इन सुमात्रन हिस्ट्री' में ऐसे प्रामाणिक वर्णन विस्तारपूर्वक किये गये हैं, जो उस क्षेत्र पर भारत वर्ष के सांस्कृतिक आधिपत्य की भली प्रकार पुष्टि करते हैं। इतिहास विज्ञानी ऐलफिन्स्टन के अनुसार भारतीय राजा 'सुमित्रा' ने उस देश में शासन व्यवस्था कायम की और उसी के नाम पर उसका नाम सुमात्रा पड़ा उस देश में पाये जाने वाले प्राचीन खण्डहरों में से अधिकांश शिव मंदिर हैं। सुमात्रा में अभी भी राम, सीता, सुग्रीव, रुद्र, शिव, महादेव, महेश, भवानी, दुर्गा के मन्दिर मौजूद हैं और उनकी यथावत् पूजा होती है। यहाँ के रीति-रिवाज, परम्पराओं में वैदिक संस्कृति की छाप मौजूद है।[४३]

❑ बोर्नियो में भारतीयता

जावा के समीप ही एक बड़ा द्वीप है बोर्निया। यहाँ पर 'महाकाम' नदी के तट पर कोती जिले में 'मुअर कमन' स्थान पर चार शिलालेख मिले हैं। वे चौथी शताब्दी के हैं, इनमें राजा मूलवर्मन द्वारा किये गये सात बहु सुवर्णक यज्ञों की प्रशस्ती का वर्णन है। इसी क्षेत्र में एक सोने की विष्णु प्रतिमा मिली है। कोम्बेंग की विशाल गुफा में दो प्राचीन भवन मिले हैं, जिनमें शिव, गणेश, स्कन्द, महाकाल,

---

४२. 1. The Ramayan As Sculpuchered in Telephase in Jawanies Temples, 2.Borobudur- Archiological Discription, 3. Himansubhushan- Indian Influence on the Literature of Jawa and Balies.

४३. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग २, पृ. ३०-३१

ब्रह्मा, अगस्त्य आदि की पत्थर की बनी बारह प्रतिमाएँ पायी गयी हैं। यह मूर्तियाँ विशुद्ध भारतीय शैली की हैं। इसी प्रकार सपड़क, संगद, ततुपहल आदि में मिले लेखों से सिद्ध होता है कि चौथी शताब्दी में वहाँ भारतीय राजाओं का शासन था और प्रजा में वैदिक संस्कृति फैली हुई थी।[४४] पूर्वी बोर्नियों के अन्य क्षेत्रों में से भी प्राचीन वैदिक संस्कृति के अवशेष मिले हैं। पश्चिमी बोर्नियो की 'कपुअस' नदी की घाटी में वैदिक राज्यकाल के पुरातत्त्वीय अवशेष पाये गये हैं। इस तरह बोर्निया के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय लोग ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में बसे हुए थे।

❑ प्राचीन काल का चम्पा-वैदिक राज्य

चम्पा का जो ऐतिहासिक विवरण प्राप्त है उसके अनुसार वहाँ भारतीय समाज व्यवस्था के आधार पर ही प्रथा परम्परायें प्रचलित रही हैं। वर्ण व्यवस्था, पर्व, त्यौहार, वेश-भूषा, विवाह-अन्त्येष्टि आदि की रीति-नीति वैसी ही थी जैसी भारत में पायी जाती थी। कन्याओं को उत्तराधिकार, मातृवंश प्रचलन, कर्ण कुण्डल, उत्तरीय वस्त्र, पूजा-उपासना जैसी विशेषता भी इसकी पुष्टि करते हैं। उसके प्रमाण तत्कालीन साहित्य, अवशेष, लेख एवं चित्र देखने से सहज ही प्रचुर प्रमाण मिल जाते हैं। उस देश की राजभाषा संस्कृत रही है। महत्त्वपूर्ण राजकीय आज्ञापत्र तथा शिलालेख उसी भाषा में लिखे जाते रहे हैं। अब तक चम्पा में लगभग २०० शिलालेख मिले हैं। उन सबकी भाषा संस्कृत तथा लिपि देवनागरी है। उस देश के राजा धर्मशास्त्रों के ज्ञाता एवं संस्कृत के विद्वान् होते थे। चम्पा में प्राचीन काल की राजाओं में भद्रवर्मन एक प्रसिद्ध राजा थे। उनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह था कि उन्होंने भाईसन में शिव मंदिर का निर्माण करवाया। यह मंदिर चाम लोगों का राष्ट्रीय पूजा स्थल बन गया। राजा सत्यवर्मन ने 'शिवमुख लिंगम्' की एक नयी मूर्ति अन्य देवताओं की मूर्तियों सहित सन् ७४८ ई. में स्थापित की।

यहाँ के मंदिरों में साधु लोग सेवकगण भारतीय लंगोटी पहने हुए चित्रित किये गये हैं। चम्पा में वैदिक त्रिदेवों में शिव को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। शिलालेखों के अनुसार शिव के सामने इन्द्र, दाहिनी ओर ब्रह्मा, पीछे चन्द्रमा और सूर्य एवं बाँयी ओर तारागण चित्रित किये गये हैं। शिव की 'शक्ति' का स्थान सबमें अधिक महत्त्वपूर्ण था। इन्हें उमा, गौरी, भगवती, देवी एवं महादेवी नामों से सम्बोधित किया जाता था। उन्हें मातृ लिंगेश्वर एवं भूमीश्वरी भी कहा जाता था। यह उपासना दक्षिण क्षेत्र में 'कोठारा' अधिक पायी जाती है। इसके अलावा दूसरे देवता थे गणेश या विनायक। चम्पा में गणेश की मूर्तियाँ बहुत अधिक संख्या में विद्यमान हैं।[४५] यहाँ

---

४४. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग २, पृ. ३२

४५. वही, पृ. ४०

विष्णु भगवान् के अवतारों को बहुत महत्त्व दिया जाता था। इन अवतारों में राम और कृष्ण का उल्लेख बार-बार आता है। शिव के वाहन 'नन्दी' के समान विष्णु के वाहन 'गरुड़' की मूर्ति भी चम्पा में लोकप्रिय थी। चम्पा में मंदिर निर्माण कला बहुत विकसित थी। कहीं-कहीं मंदिरों की कलापूर्ण सजावट बहुत श्रेष्ठ कोटि की है। वहाँ तीन तरह के मंदिरों का उल्लेख मिलता है। यह वैदिक संस्कृति के विस्तार को प्रकाशित करते हैं।

❑ बाली में संस्कृति विस्तार

यहाँ अभी भी वैदिक संस्कृति विद्यमान है। यहाँ के प्राचीन वैदिक मंदिर अभी भी गर्वोन्नत मस्तक लिए हुए खड़े हैं। इतिहासकार पैलिअट के अनुसार बाली की राजकुमारी भारत के राजा शुद्धोधन के साथ विवाही थी। यहाँ के राजा ने वैदिक संस्कृति को व्यापक विस्तार दिया था। वैदिक संस्कृति बाली में अभी भी जीवन्त संस्कृति है। 'नवरुचि' बाली द्वीप का एक लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसमें भीम के द्वारा युद्धों में प्राप्त विजय का वर्णन है। सिलेमन लेगी की कृति 'संस्कृत टेक्सट्स फ्राम बाली' में उल्लेख है कि बाली की संस्कृति वैदिक संस्कृति एवं यहाँ की समस्त साहित्य एवं परम्पराएँ इसी रंग से रंगी मिलती हैं। यहाँ प्रचलित पूजा पारिवारिक एवं सार्वजनिक दो प्रकार की होती है। पारिवारिक पूजा की कोटि में सर्वाधिक महत्त्व 'सूर्य सेवन' या शिव की सूर्य रूप में पूजा है। इसके अतिरिक्त जन्म संस्कार नामकरण, कर्णछेदन, विवाह, मृतक, दाह आदि संस्कारों का उल्लेख मिलता है। सार्वजनिक पूजा के लिए प्रत्येक जिले में ३ या ४ सार्वजनिक मंदिर हैं। पूजा सामग्रियों में घृत, कुश-घास और मधु पर्याप्त मात्रा में उपयोग किये जाते हैं। पवित्र जल एक महत्त्वपूर्ण पूजा सामग्री माना जाता है। भारत की पवित्र नदियों जैसे गंगा, यमुना, कावेरी, सरयु तथा नर्मदा के नामों के अनुरूप बाली की नदियों के नाम भी रखे गये हैं।[४६] बाली के आचार-विचार में भारतीयता की छटा व्याप्त है। उनकी निर्मल और निष्कपट कलात्मकता भारतीय संस्कृति की झाँकी दिखाती है।[४७] इससे स्पष्ट होता है कि बाली में वैदिक संस्कृति का कभी कितना सुन्दर समन्वय रहा होगा।

---

४६. Sadananda- Hindu Culture in Greater India. pp. 19-20
४७. नीना गुप्ता- अतीत कालीन भारत का गौरव- बाली, पाञ्चजन्य, विश्व में हिन्दुत्व, अंक २, पृ. १९

पश्चिमी एशिया में भारतीय वर्चस्व

पश्चिमी एशिया के इतिहास की विशद् गवेषणा करने वाले यूरोपीय पुरातत्त्व विज्ञानी एच. विलिया, परगिटर, स्टार्ना, ग्रीशमान, देरी डोरस आदि ने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी समय यह क्षेत्र वैदिक संस्कृति से प्रभावित था। महमूद गजनवी के दरबारी लेखर अलबरुनी एवं प्राचीन अरब लेखक अल याकूबी ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। प्रो. मैक्समूलर ने अपनी 'साइन ऑफ लैंग्वेज' पुस्तक में लिखा है 'फारसी लोगों ने आर्य वंशी परम्पराओं को अधिक सुरक्षित रखा है।' सर विलियम जोन्स ने अपनी भाषा शोध में इस बात की चर्चा की है कि जिन्द कोष में साठ-सत्तर फीसदी शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं। डॉ. एडवर्ड डी सचाऊ द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में अलबरुनी का भारत में अफगानिस्तान की बहुत सी प्राचीन इमारतों का उल्लेख है। जिन्हें हिन्दु राजाओं ने बनवाया था। अफगानिस्तान की भाषा पश्तों में संस्कृत शब्दों की भरमार है। नार्वे के इतिहासवेत्ता नूडिटजन, जर्मन पुरातत्त्वखोजी प्रो. हुमा विंकला तथा प्रो. कर्टवेटल ने तुर्की का एक प्राचीन नगर हानुमा खोद निकाला, जिसमें हिन्दु मन्दिरों के अवशेष तथा संस्कृत भाषा में खुदे कई शिलालेख मिले हैं।

❑ ईरान

इतिहासकार आर. ग्रीशमान ने ई. पू. १८०० में केशी (काशी) के शिलालेखों द्वारा निष्कर्ष निकाला है कि ईरान के इस क्षेत्र में काश्यप ऋषि का वर्चस्व रहा है। ईरान में सातवीं सदी में हर-वामनी नामक कुरुवंशी राजा राज्य करता था। ईरान के पुरातन शासक पहलवी कहलाते थे। वे भारत के पल्लव राजवंश से थे। हंगरी निवासी आर्मीनस वाम्बेरी ने ईरान की प्राचीन वैदिक संस्कृति के अवशेषों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार ईरान के शिराझनगर के समीप एक गाँव है सादी। उन्होंने इरानी कवि सादी जो वहीं के निवासी थे, को विष्णु भक्त बताया है।[४८] वहाँ पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता था। मोहर्रम की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'मुहुःरम' अर्थात् अल्पकाल भग्न हो जाना बताया गया है। इस्लामी ज्ञानकोश के अनुसार 'मोहर्रम इस्लामी वर्ष का पहला महीना होता है। मूलतः वह विशेष नाम न होकर विशेषण है।'[४९] इस बारे में थामस पैट्रीक हग ने भी कुछ इसी प्रकार का

---

४८. Saadi even assumed the religion of the worshippers of Vishnu in order to extend and increase his knowledge of things.
- Arminus Vambery- His Life an Adventures, p. 128

४९. Encyclopaedia Islamia- Vol. III, p. 698

विवरण दिया है।[५०] हेरोडेटस द्वारा लिखे इतिहास ग्रंथ में दी टिप्पणी में शिवजी की जटा में गंगावतरण की कथा पूर्व ईरान में प्रचलित थी।[५१] रिचर्ड मूरी के अनुसार ईरान का नरेश बेहराम पंचम (४१२-३८) वैदिक संगीत का अच्छा ज्ञाता था।[५२] ड्रूमण्ड का कहना है कि ईरानी अपनी सभ्यता को हिन्दुओं से प्राचीन मानते हैं। ईरानी इतिहासकार समझते हैं कि भारत को छोड़कर सारे एशिया खण्ड पर ईरान का राज्य था। उन्होंने ईरान के साम्राज्य की सीमाएँ अनाप-शनाप बना रखी हैं।[५३] सर विलियम जोन्स कहते हैं कि स्पष्ट प्रमाणों और तर्क द्वारा यह बात सिद्ध हो चुका है कि असीरिया और पिशदादी शासनों से पूर्व ईरान में एक बड़ा प्रबल राज्य एवं संस्कृति का उदय हो चुका था और वह वास्तव में वैदिक राज्य था। वह सैकड़ों वर्ष रहा।[५४]

❑ ईराक का वैदिक राजकुल एवं अफगानिस्तान

इराक के अंतिम राजकुल का नाम बर्मक था। अलबरुनी की तवारीख का अंग्रेजी अनुवाद करने वाले एडवार्ड डी सचाऊ ने उस ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है कि इराक में नवबहार नाम का नगर है। वस्तुतः वह नव बिहार का अपभ्रंश है। वहाँ एक धर्मपीठ था। इस पीठाधीश के पद को परमक (परमाचार्य या परम गुरु) कहते

---

५०. Literally that which is forbidden, Anything sacred, the first month of the Mohmmedan year, the first ten days of the month observed in commemoration of the martyrdom of al-Husain. These days of lamentation are only observed by the Shia Muslim But the 10th day of Muharram is cherished by the Sunnis. The Ceremonies of the Muharram differ much in differant countris.
- Thomas Patric Hughes- A Dictionary of Islam, p. 407

५१. The persian cult of Aphrodite ....The native goddes may have started personification of a single river (or conceivably of the milky way) In the Avesta she is entitled ardvi, Shura, Analhita (i.e. the high, powerful, undefiled) and is the heavenly spring ....her source being on the top of a mythical mountin in the region of the stars, she came down to earth on the command of Ahura Mazda.
- Rawlison's Translation, Herodotus, p.131

५२. Richard Moor- Fodor's Guide to Iran. p.52

५३. Sir W. Drummond- Origines or Remarks on the Origin of Several Empires, States and Cities, Vol. I, p. 165

५४. Charles Vallancey- Collectania De Rebus Hibernicus, p.465

थे। बगदाद यह भगवद् शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। इसी परिप्रेक्ष्य में पोकाक कहते हैं सीरिया राज्य का नाम सूर्य से पड़ा है। सारा प्रदेश भी सूर्य से ही सीरिया कहलाया।[५५] काबुल नदी के तट पर बसा काबुल नगर अफगानिस्तान की अति प्राचीन राजधानी है। उसका पुराना नाम आर्यण है। आर्यण अर्थात् आर्य लोगों का निवास क्षेत्र। इस प्रकार पश्चिमी एशिया में वैदिक संस्कृति का व्यापक विस्तार हुआ था। इस सन्दर्भ में प्रो. ब्राउन ने अपनी पुस्तक 'लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ पर्शिया' में इस क्षेत्र में देवालय को ऐसे अग्नि मंदिर के रूप में अंकित किया है जहाँ अग्निहोत्र की मान्यता थी।

❑ कैलास मानसरोवर का शिव-तीर्थ तिब्बत

तिब्बत भारत की उत्तरी सीमा से लगा हुआ है। भगवान् शिव का निवास क्षेत्र कैलास पर्वत और मानसरोवर अब उसी प्रदेश में है। प्राचीन काल में यह भिन्नता नहीं थी। हिमालय का उत्तराखण्ड गंगोत्री से लेकर कैलाश तक फैला हुआ था। योगी, तपस्वी वहाँ निवास करते थे और तीर्थयात्री जाया करते थे। उस क्षेत्र में पूरी तरह वैदिक संस्कृति ही प्रचलित थी। इससे स्पष्ट है कि तिब्बत निश्चित रूप से भारत का ही अंश रहा है। वहाँ पर शंकराचार्य के जाने का भी प्रमाण मिलता है। भाषा पर संस्कृत की अमिट छाप है। देवी देवता बिलकुल वही हैं जो भारत के हैं। साधना-उपासना में वैदिक योग विद्या का अनुकरण होता है। दीवाली आदि त्यौहार और विवाह आदि संस्कार प्रायः भारतीय रीति-नीति से ही मनाये जाते हैं।

❑ नेपाल विश्व का एक मात्र हिन्दू राष्ट्र

समस्त नेपाल के सहस्त्रों भव्य मंदिर सजीव और निर्जीव स्थिति में बिखरे पड़े हैं। इनके नामों और स्थानों की संगति 'स्कन्द पुराण' में वर्णित विवरणों के साथ मेल खाती है। नेपाल को स्कन्द पुराण में 'श्लेष्मान्तक' वन कहा गया है। देवताओं, अवतारों और ऋषियों की लीला भूमि, यह क्षेत्र चिरकाल से बना रहा है। प्राचीन काल में नेपाल भारत भूमि का अविच्छिन्न अंग था। शिव के बारह ज्योतिर्लिंगों में एक नेपाल का पशुपतिनाथ भी है। ठा. रघुनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक 'जाग्रत् नेपाल' में पशुपतिनाथ प्रतिमा के चार मुख और सिर पर राजमुकुट की विचित्रता बतलायी है। वहाँ अनेक वैदिक देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ हैं। काठमाण्डू से सात मील उत्तर में शिवपुरी पहाड़ी के निकट एक चौकोर तालाब में नीलकण्ठ महादेव की प्रतिमा है। पाटननगर में हिरण्यकशु का मंदिर है। पशुपतिनाथ मंदिर के प्रांगण में गणेश,

---

५५. Edward Pocock - India in Greece, p. 178

कार्तिकेय, शिव, विष्णु, सूर्य और सरस्वती तथा अन्य देवताओं की अनेक प्रतिमाएँ हैं। इतिहासकार के.पी. जायसवाल के अनुसार नेपाल में वैदिक वास्तुकला का प्रभाव दिखाई देता है। नेपाल के राष्ट्रध्वज पर चन्द्र और सूर्य अंकित हैं। नेपाल अनेक महामानवों का कार्यक्षेत्र रहा है। सीता जी का जन्म जनकपुर में हुआ। महर्षि वाल्मीकि का जन्म भैंसालोटन में, व्यास का जुमला में, विश्वामित्र का पाँचपोखरी में, याज्ञवल्क्य का कुष्णा कौशिकी में, भारद्वाज और श्रृंगी ऋषि का गण्डकी मण्डल में, मनु का बझंग में कार्यक्षेत्र रहा। इसी प्रकार कामसूत्र के प्रणेता वात्स्यायन का स्थान कलकोट में,भृगु मुनि का भृगुकोट में और महर्षि कपिल का आश्रम कपिलातीर्थ में बताया जाता है। पं0 मुरलीधर भट्टारी कृत 'नेपाल और उसकी संस्कृति' पुस्तक के अनुसार आद्य शंकराचार्य वैदिक धर्म के प्रसार हेतु नेपाल गये थे।

इसी तरह भूटान, बर्मा, लंका, बंगलादेश और पाकिस्तान तो वृहत्तर भारत के अंग ही थे। ये देश पूरी तरह वैदिक संस्कृति के प्रकाश में प्रकाशित थे। यह प्रकाश न केवल एशिया महाद्वीप में ही फैला, वरन् समस्त विश्व को आलोकित कर दिया था।

अमेरिका और वैदिक संस्कृति

अमेरिका प्राचीन काल में सर्वथा सुनसान अथवा अविज्ञात देश नहीं रहा है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में गोरे लोगों के वहाँ जाकर बसने से पूर्व वहाँ 'मय सभ्यता' के ऐसे प्रमाण पाये गये हैं, कि वहाँ सुविकसित और सुसम्पन्न लोग निवास करते थे। १८०० फीट ऊँचा शिवलिंग, विशाल सूर्य मंदिर, विशाल भवन, वास्तु शिक्षा, लेखन, वाचन, उपकरण, कई तरह के औजार, प्रामाणिक काल गणना का पंचाग वहाँ मिले हैं और प्राचीन काल की मय सभ्यता का पता चला है। पुराणों के अनुसार मय सभ्यता का नामकरण मय-दानव के नाम पर हुआ। जो देवों से युद्ध में हार कर पाताल लोक चला गया था। पृथ्वी का गोलार्द्ध देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका भारत के ठीक पीछे या नीचे है। पाताल अर्थात् नीचे का लोक, इसे नाग लोग भी कहते हैं।

मैक्सिको के सरकारी इतिहास ग्रन्थ में उल्लेख है कि उस देश में मय सभ्यता पर प्रकाश डालने वाला किसी समय प्रचुर साहित्य उपलब्ध था। परन्तु उसे ईसाई विशप 'डियागो' ने होली की तरह जलवा दिया, किसी प्रकार तीन पुस्तकें बच गयी थी, जिनमें से एक पेरिस में, एक मेड्रिड में और तीसरी ड्रैसडन में सुरक्षित है। मैक्सिको की पुराण कथा है कि उस देश में एक लम्बी दाढ़ी, ऊँचे कद, काल बाल, श्वेत वर्ण का महापुरुष किसी अज्ञात देश से आया। उसने इस देश में कृषि, शिल्प

तथा शिक्षा का प्रशिक्षण दिया। उसका नाम 'क्वेट सालकटली' था। उसी की कृपा से मैक्सिको समुन्नत हुआ। 'कांकेस्ट ऑफ मैक्सिको' के लेखक पोस्कार का अनुमान है कि यह महापुरुष भारत से आया था और उसका भारतीय नाम 'साल करकंट' था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार देवताओं से पराजित होकर 'साल करकंट' वंश के असुर पाताल लोक चले गये थे।[५६] चेम्स चर्चमूर ने भी इसकी पुष्टि की है। डॉ. मार्टिन का प्रतिपादन है कि पूर्व से सूर्यवंशी लोग पुरातन अमेरिका में आकर बसे थे। लैली मिचल द्वारा लिखित 'कांटेस्ट ऑफ दि माया' में उल्लेख है कि मैक्सिको वैदिक संस्कृति का ऋणि है। मैक्सिको के प्राचीन मंदिर 'कोपन' की दीवारों पर हाथी पर सवार महावत के भित्ति चित्र में वैदिक चित्रकला का दर्शन मिलता है। 'निकल' में मुण्डधारी शिव की प्रतिमा एक भव्य वेदी पर प्रतिष्ठित मिली है। अनन्त वासुकि और तक्षक सर्प देवताओं की प्रतिमाएँ मंदिर के स्तम्भों पर खुदी मिली हैं। 'क्वीरिग्वा' में मिली मिट्टी की प्राचीन प्रतिमाओं में भारतीय शिल्प देखा जा सकता है। मय-सभ्यता में गणेश, इन्द्र और हनुमान की देव पूजा प्रचलित थी। दाह संस्कार, श्राद्ध तर्पण का प्रचलन था। उन दिनों मैक्सिको में 'राम-सितवा' त्यौहार भारी उत्साह के साथ मनाया जाता था।

टोलो (मैक्सिको) में विशालकाय पाषाण स्तम्भों पर भारतीय देवताओं की प्रतिमायें बड़े कलात्मक ढंग से खुदी हुई है। कोयुन (हाण्डूयूरास) में दैत्य की मूर्ति भी उसी आकृति में है जिस प्रकार असुरों का अपने यहाँ वर्णन पाया जाता है। 'कापूरिगो' (ग्वाटे माला) में उपलब्ध शिला-प्रतिमाओं में स्पष्टतः भारतीय शिल्प छलकता देखा जा सकता है। जिस प्रकर अनेक खम्भों वाले मंदिर भारत में जहाँ-तहाँ दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार यूक्टास के ध्वंसावशेष 'थाउजेण्टड कालम्स' को देखा जा सकता है। तक्षशिला जैसा ध्वस्त खण्डहर चाको (अमेरिका) में विद्यमान है। सन् १९२७ में 'तुआ हुआना' (पेरू) में पुरातत्त्व विभागों ने जो खुदाई कराई है, उसमें एक शिव त्रिशुल मिला है, जिसकी ऊँचाई ८० फीट है। इसी में २० टन भारी और २४ फीट लम्बा एक शिवलिंग भी है, जिस पर ग्रह नक्षत्रों की आन्तरिक स्थिति अंकित है। एक ही पत्थर से तराशा हुआ १० टन भारी सूर्य मंदिर द्वार, तीन कतारों में उपलब्ध ४८ प्रतिमायें भी उस काल के कला कौशल की साक्षी देते हैं। अमेरिका

---

५६. अशक्रुन्तस्ते विष्णुं प्रतयोद्धुं बलार्दिताः।
त्यक्त्वा लंका गता वस्तु पातालं सह पत्नयः॥
समालिनं समासाद्य राज्ञसं रघुसत्तम्।
स्थिताः प्रख्यात् वीर्यासो वंशे साल कटंकटे॥ - वाल्मीकि रामायण - ८/२३-२४

के 'हवाई द्वीप समूह' पर प्राप्त शिलालेखों और उपलब्ध प्रतिमाओं में सूर्य देवता तथा त्रिशूल, चक्र, पद्म, शंख आदि देव आयुधों की आकृतियाँ हैं। इसी तरह पेरू शब्द का अर्थ संस्कृत में 'सूर्य का देश' है। सूर्य-पुत्रों का देश पेरू कहा जाय यह स्वाभाविक ही है। पिटर कालोसीमा के अनुसार मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका में विपुल नरसिंह प्रतिमाएँ बिखरी पड़ी हैं।[५७]

अमेरिका के तत्त्वदर्शी 'विल ड्यूराण्ट' ने भारत भूमि को अनेक दृष्टिकोणों से अमेरिका का भी माता माना है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि भारतीय संतों ने अमेरिका में जिस तरह वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया है, उससे वहाँ इसके प्रति और भी अधिक श्रद्धा, सद्‌भावना का विकास हुआ है।

यूरोप खण्ड का वैदिक अतीत

यूरोप खण्ड के मध्य भाग में आस्ट्रिया, हंगरी आदि देश है। आस्ट्रिया देश का नाम वैदिक अस्त्रों से पड़ा है, जिनका निर्माण वैदिक शास्त्रों के आधार पर ऋषि-मुनि किया करते थे। ओस्त्रीया डेकोरो नाम के हंगेरियन विद्वान् ने हंगेरियन भाषा की संस्कृत भाषा से समानता दर्शाई है।[५८] पोलैण्ड की भाषा भी संस्कृत की एक प्राकृत शाखा ही जान पड़ती है। स्कैण्डनावीया प्रदेश में शिवभक्ति और शिव पूजन के कई अवशेष प्राप्त होते हैं। यहाँ के विद्वान् काउण्ट बोर्नस्टीर्ना के अनुसार 'स्कैण्डनावीय' लोगों की पौराणिक कथायें भी वैसी ही हैं, जैसे हिन्दुओं की। इनकी प्राचीन देवियाँ वैदिक देवियों से मिलती जुलती हैं तथा उनमें संस्कृत भाषा सीखने की आकांक्षा पाई जाती है।[५९] प्राचीन संस्कृत साहित्य में कई झगड़े द्वन्द्वयुद्ध से निपटाए जाने के

---

५७. It is Thought by some that the statues of Cat-men spread all over Central and Southern America represent an ancient race.
-Peter Kolosimo

५८. As an example the close analogy in the hungarian language, instead of preposition, postpositions are aften used, except with the personal pronuns. A gain from a verbal root, without aid of any auxilliary verb and by a simple syllabic addition, the several kinds of verbs distinuished as active, passive, causal, desiderative frequentative, reciprocal etc. are found in the hungarian in the same manner as in Sanskrit.
- Edward Pocock- India in Greece or Truth in Mythology, Appendix XVIII, p. 394

५९. अकल्याण रामन- आर्यतरंगिणी, खण्ड १, पृ. २७

और सत्यासत्य का निर्णय अग्निदिव्य से किए जाने के उल्लेख बार-बार आते हैं। स्कन्दनावीय लोगों में भी वह प्रथा थी।[६०]

कर्नल एल्वुड की पत्नी के अनुसार 'ग्रीक तथा भारतीय पौराणिक कथाओं की गहरी समानता देखकर ऐसा लगता है कि ग्रीक लोग और हिन्दुओं में किसी समय अतीत में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा और शायद पाइथागोरस ने आत्मा के विविध जन्मों का जो उल्लेख किया है वह भारतीय देवी-देवताओं की कथाओं से सीखकर ग्रीक देव कथाओं में जोड़ दिया है।'[६१] सर विलियम गोन्स का निष्कर्ष है कि वैदिक गणेश की ग्रीक कथाओं का 'गोनस' है। हनुमान और वानर सेना के समान ग्रीक कथाओं में पॉन और उसने वन देवों की बात आती है। कई बातों में कृष्ण भक्ति और क्राइस्ट परम्परा एक जैसी है। उसी प्रकार क्राइस्ट की जन्मकथा तथा बालजीवन और कृष्ण जन्मकथा भी समान है।[६२] ग्रीस और रोम साम्राज्यों में भगवान् कृष्ण और राम की ही भक्ति हुआ करती थी। इसी कारण अगाथेक्लोस नामक ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के ग्रीक राजा के सिक्कों पर भगवान् कृष्ण तथा बलराम की छवि छपी पायी जाती है। यूरोप के मूल अनादि परम्परा वैदिक है और ग्रीस तथा रोम उस परम्परा के गढ़ थे।

विद्वान् महिला फैनी पार्क्स की एक कृति में रोमन मृतक के दाह-संस्कार का वर्णन है। मृतक के एक आप्त ने मृतक की खुली आँखें और खुला मुँह बंद किया। फिर शव भूमि पर लिटाकर नहलाया गया। तत्पश्चात् उस पर सुंगधित द्रव्य लगाए गए। उस व्यक्ति के जीवन काल के उत्तमोत्तम वस्त्र पहनाये गये। तत्पश्चात् घर के बाहर के भाग में फूलों से सजाए मंच पर शव लिटाया गया।[६३] ग्रीक लोगों से ही रोमन जनता ने शवदाह पद्धति अपनाई। रोम में यह प्रथा चौथी शताब्दी के अन्त तक थी। रोम नगर में मार्च माह के प्रथम दिन विष्टा के मंदिर में एक नयी अग्नि प्रज्वलित करने की विधि होती थी।[६४] यह होलिकोत्सव की ही साक्षी है। फ्रेंज कुमोष्ट के मतानुसार रोमन सैनिकों में मां अम्बा की भक्ति करने की प्रथा थी। रोमन

---

६०. Johannes Bronsted- The Vikings, p. 227

६१. Mrs. Col. Elwood- Narratives of a Journey Overland from England to India, Vol. II, pp. 61-62

६२. Barbara Wingfield Srtatford- India and the English, pp. 111-112

६३. Fanny Parks- Wanderings of a Pilgrim in Search of the Picturesque, pp. 427-32

६४. Niebuhr- Rome, Vol. I, p. 281

सम्राटों की धारणाएँ तथा उनके राजकुलों में होने वाली विविध भारतीय राजकुलों के जैसी ही थी। अत: दोनों की परम्परा का स्रोत एक ही था। सगे सम्बन्धियों का स्वागत करते हुए आगन्तुक के सिर का जिघ्राण करना यह पूर्ववर्ती देशों की प्रथा रोम में भी प्रचलित था।[६५] रोम के ट्रोपेजस के समीप एक भूगर्भस्थ सूर्य मंदिर प्राप्त हुआ है, जहाँ बाद में गिरिजाघर बना दिया गया।[६६] राबर्ट बर्न[६७] ने मंदिर के रूप में जिसका वर्णन किया है वह मंदिर विष्णु का जान पड़ता है। वे आगे कहते हैं 'विवाह की वेदी पर नवविवाहित दम्पत्ति हवन किया करते थे।'[६८] स्काटलैण्ड में १० से १९ अगस्त को एक विद्वत् सम्मेलन हुआ था। उसमें अमेरिका निवासी प्राध्यापक कृष्णदेव माथुर ने एक निबंध पढ़ा था। उसका शिर्षक था 'भारत की वेधशालाओं का उद्‌गम।' उसमें ५२ क्रमांक की टिप्पणी में लिखा था कि पूर्ववर्ती देशों से यूरोप में सन् ६२८ के लगभग जो ग्रहवेध प्राप्त हुए थे, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजों का उद्‌गम हिन्दुओं के पश्चात् हुआ।[६९] इससे स्पष्ट होता है कि उन दिनों वैदिक संस्कृति स्काटलैण्ड पहुँच चुकी थी। वसन्त सम्पात का अप्रैल एक तारीख का पर्व प्राचीनकाल से ब्रिटेन में मनाया जाता रहा है। मई माह की पहली तारीख को शिव का उत्सव भी ब्रिटेन में होता रहा है।[७०] प्राचीन ब्रिटेन की धार्मिक परम्परा में गोलाकार ब्रह्मा का चिह्न तथा चन्द्राकार शिवजी का चिह्न माना जाता था।[७१]

आयरलैण्ड आर्यस्थान का यूरोपीय अपभ्रंश लगता है। आयरिश परम्परा धार्मिक होती थी। राजा एक स्वर से प्रजाजनों का पुरोहित माना गया था।[७२] हिगिन्स के अनुसार 'आयरलैण्ड, स्काटलैण्ड तथा वेल्श प्रदेशों के भाटों-सम्बन्धी उल्लेख एक समान हैं।' आयरलैण्ड के एक नरेश ने भाटों के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की उसके लिए वह विख्यात है। वैदिक परम्परा में भाट होते थे। भाट का अपभ्रंश Poet (पोएट) तथा वरदाई का Bard (वार्ड) हो गया। पृथ्वीराज के दरबार में भाट का नाम 'चन्दवरदाई' था। वैलेन्सी अपनी प्रस्तावना में लिखते हैं- 'ब्रिटेन के ड्रुइडो का

---

६५. L'Eternite des Emperaurs Romans, p. 442
६६. Studio Pontica, p. 368
६७. Robert Burn- Rome and the Compagna, p. 603
६८. Robert Burn- Rome and the Compagna, p. 170
६९. The Edinburgh Review, Vol. XX, p. 387
७०. Indian Antiquities, Vol. VI, pp. 71-86
७१. Ibid, p. 236
७२. The Encyclopaedia of Ireland, p. 82

धर्म आयरिश लोगों के धर्म पर आधारित था और आयरिश लोगों का धर्म लगभग वही था जो ब्राह्मणों का था। ऐसा नहीं होता तो ब्राह्मणों के देवताओं का उल्लेख आयरिश दस्तावेज में होता ही कैसे।'[७३] हिन्दुओं के लगभग सारे देवता आयरिश लोग भी पूजते थे।[७४] उनके नाम की वेदियाँ आयरलैण्ड में अभी भी हैं। ड्रपियस के कथनानुसार आयरिश लोगों को हिन्दु ही कहना चाहिए। वहाँ के एक ग्रंथ में १८ देवताओं के नाम दिये गये हैं। जिन्हें Pagan (भगवान्) कहा जाता है।[७५] इसके अलावा जर्मन तो यूरोप का आर्यावर्त है। जर्मनवासियों की मान्यता है कि वे आर्य रक्त के विशुद्ध उत्तराधिकारी हैं। प्राचीन काल में हिमालय की उपत्यिकाओं में जन्में आर्य वैदिक संस्कृति के विकास एवं विस्तार हेतु भारत से मध्य एशिया के मार्ग से होकर यूरोप महाद्वीप की ओर गये और वहाँ वैदिक संस्कृति का प्रसार किया। इसलिए जर्मनवासी अपने को आर्य मानते हैं। हिटलर ने नाजी पार्टी का चिह्न 'स्वस्तिक' बनाया था। यही आर्य संस्कृति का आदि प्रतीक है। जर्मन विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि जर्मन शब्द 'शर्मन' का अपभ्रंश है। भूतकाल में वहाँ भारतीय ब्राह्मण पहुँचे थे और उस देश का नामकरण करते हुए सांस्कृतिक मान्यताओं का सूत्रपात किया था।

अफ्रीका महाद्वीप में वैदिक संस्कृति

भारतीय महामानवों का जन्म भले ही उदयाचल पर उगते सूर्य की तरह होता रहा हो, पर वे एक सीमित क्षेत्र की सम्पत्ति बनकर नहीं रहे। उनके सामने समस्त धरती अपनी, समस्त मानव परिवार अपना परिवार का उदात्त लक्ष्य था। इसलिए दुर्गमता से जूझते हुए उन्होंने अफ्रीका महाद्वीप में भी अपने क्रियाकलापों को व्यापक बनाने का संकल्प साकार किया। प्रागैतिहासिक काल में भारत और अफ्रीका एक ही महाद्वीप में थे और आवागमन के लिए थलमार्ग सुगम था। प्राचीन काल की अफ्रीकी सभ्यता के अवशेषों से प्रमाणित होता है कि वहाँ पर सभ्यता एवं संस्कृति का उद्भव भारतीयता के अनुगमन जैसा हुआ है।

पूर्वी अफ्रीका की भाषा 'स्वाहिली' में हिन्दी और संस्कृत भाषा के शब्दों का आश्यर्चजनक बाहुल्य है। वहाँ के लोक गाथाओं और पुरातत्त्व उपलब्धियों से

---

७३. Lt. Gen. Charles Vallency- Collectania De Rebus Hibernicus, Introduction, p. XX

७४. Ibid, pp. 32-34

७५. Prospectus of an Irish Dictionary, Introduction, p. XXIII

स्पष्ट है कि किसी समय उस क्षेत्र में वैदिक संस्कृति का ही प्राधान्य था। पुरातत्त्ववेत्ता ह्यूगो ओवरमीर ने अफ्रीका के देवी-देवताओं की आकृति का वैदिक देवताओं से पूर्ण साम्य सिद्ध करने वाले चित्र अपनी पुस्तक में प्रकाशित किये हैं। लम्बे समय तक अफ्रीका का पर्यटन करने वाली यूरोपीय महिला सारा लैटन ने अफ्रीकी भाषा में संस्कृत शब्दों का भारी संख्या में समावेश बतलाया है और लिखा है कि उस महाद्वीप के आदिवासियों में हिन्दुओं की तरह ही हवन का प्रचलन देखा गया है। जिस प्रकार यूरोप में जर्मनी, अमेरिका में मैक्सिको वैदिक संस्कृति के केन्द्र स्तम्भ रहे हैं, उसी प्रकार अफ्रीका महाद्वीप में मिश्र देश को वैदिक संस्कृति का केन्द्र माना जा सकता है। भविष्य पुराण में ऋषियों के मिश्र में जाने और वहाँ वैदिक संस्कृति का विस्तार करने का वर्णन है। 'सरस्वती की आज्ञा से कण्व ऋषि मिश्र देश को गये और वहाँ उन्होंने दस हजार म्लेच्छों को सुसंस्कृत बनाया।'[७६] 'हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड' ग्रन्थ के अनुसार इस्लाम से पूर्व मिश्र की संस्कृति भारत से लगभग मेल खाती थी। उस देश के नागरिक यह मानते थे कि उनके पूर्वज भारत से आकर यहाँ बसे थे। वर्ण व्यवस्था, राजधर्म, युद्ध-आचार, व्यवहार संहिता, धार्मिक मान्यता, सामान्य शिष्टाचार आदि में भारत और मिश्र की संस्कृति इतनी अधिक मिलती थी मानो वे माता और पुत्री ही हों।

किसी समय मिश्र की नील नदी से लेकर भारत की गंगा के मध्य के समस्त क्षेत्र में एक ही संस्कृति और भाषा थी। डॉ. प्राणनाथ के अनुसार मिश्र की राज भाषा संस्कृत थी। मिश्र, बेबीलोन, सीरिया, मोहनजोदड़ो में उपलब्ध शिलालेखों में एक ही भाषा का प्रयोग पाया जाता है। मिश्र के फरॉऊन शासक सूर्यवंशी थे। पिरामिडों के भीतर सूर्य देवता की प्रतिमायें बनी हुई मिली हैं। गनेरा के पिरामिडों के पास विशालकाय नरसिंह की मूर्ति है। मिश्र पर शासन करने वाला 'हिस्त्री' (क्षत्री) राजा सूर्य और वरुण की पूजा करते थे। मंदिरों की परिक्रमा करने का प्रचलन था। हिस्त्री राज में मृतकों की चिता जलाई जाती थी। अलमरना की खुदाई में जो प्रमाण मिले हैं उनसे स्पष्ट है कि मिश्र के निवासी गौर भक्त और सूर्योपासक थे। वहाँ के मंदिरों की रचना, पिरामिड, भवन निर्माण कला भारतीय वास्तुशिल्प की ही प्रतिकृति है। मिश्र की संस्कृति में पुरोहितों का वर्चस्व था। उनका सिर मुड़ाना, व्रत-उपवास करना, दिन में कई बार स्नान करना, चमड़े का प्रयोग न करना, मांस न खाना आदि नियमों का पालन भारतीय पण्डितों जैसा ही है। यह पुरोहित 'शेन'

---

७६. सरस्वत्यज्ञया कण्वो मिश्र देश मुपाययो।
म्लेच्छान् संस्कृत्यं चाभाष्य तदा दश सहस्त्रकन॥ – भविष्य पुराण, ४/२१/१६

कहलाते थे, यह पदवी भारत की 'शर्मा' जैसी ही थी। प्राचीन मिश्र में पूर्णिमा को होम करना, धर्मोत्सव, दिवाली का दीपदान समारोह, नई फसल आने पर अन्न का हवन, मकर संक्रान्ति का विशाल पर्व, मंगल कलशों का उपयोग, व्रत अनुष्ठान में अनिवार्य रूप से पत्नी की उपस्थिति, मूर्तियों के जूलूस, संगीतमय कीर्तन आदि प्रथाएँ वैदिक संस्कृति के प्रसार की कहानी कहती हैं। गौ को परम पवित्र और पूजनीय मानना, जूता उतारकर शुभ कार्यों में सम्मिलित होना, पुष्पाहारों का उपयोग, हाथ-मुँह धोकर भोजन करने का रिवाज जैसी अनेक बातें प्राचीन मिश्र में भारत जैसी ही थीं। स्त्रियों के वस्त्र आभूषण, वेश-भूषा, सज्जा, केश विन्यास, मेंहदी रचाना आदि कितने ही प्रचलनों में भरत के साथ अद्भुत साम्य था।[७७]

इजिप्ट की परम्परा के अनुसार Menes उस देश का सर्वप्रथम सूर्यवंशी नरेश था।[७८] भारत तथा अफ्रीका की भाषाओं का सम्बन्ध दर्शाते हुए जान फास्टर का कहना है कि 'कई प्राच्य भाषाओं की यह विशिष्टता है कि उनमें मूल धातु में उच्चारण में इधर-उधर थोड़ा हेर-फेर करने से कई शब्द बन जाते हैं। इथिओपिया की वर्णमाला में भी वही प्रथा पाई जाती है। उस वर्णमाला के अक्षर तो केवल २६ हैं। किन्तु प्रत्येक अक्षर को सात स्वर चिह्न जोड़कर उसी अक्षर से भिन्न-भिन्न उच्चारण सम्पन्न होते हैं।'[७९] इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृत भाषा वहाँ बहुत पहले ही प्रसारित हो चुकी थी। मौरीशस की संस्कृति देखते हुए उसे छोटा भारत कहा जा सकता है। वहाँ पर सभी नगरों में सुव्यवस्थित श्मशान बना दिये गये हैं। जहाँ पर दाह-क्रिया सम्पन्न की जाती है। मौरीशस के कितने ही नगरों के नाम भारत जैसे ही हैं, जैसे आनन्द ग्राम, चित्रकूट, ऋषि नगर, लालकारी, सोनामुखी, महेश्वर नगरी, धारा नगरी, पुरी, मायापुरी आदि। चार्ल्स डार्विन यहाँ १८३६ में पहुँचे और उन्होंने प्रथम बार भारतीयों को देखा। उन्होंने अपने भ्रमण वृतान्त में लिखा है कि 'मैं नहीं जानता था कि भारतीय इतने सुन्दर होते हैं।' पं० आत्माराम जी कृत 'मौरीशस का इतिहास' व 'हिन्द मौरीशस' के अनुसार मौरीशस को भारतीयों ने ही बसाया है इसलिए वहाँ की संस्कृति भी वैदिक संस्कृति के अनुरूप है।

---

७७. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. ६९-७३

७८. Edward Pococke, India in Greece, p. 179

७९. Tra. Povlino Da San Bartholomco- A Voyage to the East Indies, pp. 314-18

आस्ट्रेलिया महाद्वीप के भारतीय

आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की मान्यतायें भारतीयों से मिलती-जुलती हैं। वे हर जीव में तथा पदार्थ में एक आत्मा का निवास मानते हैं और उसके प्रति पूरी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। वृक्षों का पूरा सम्मान किया जाता है। मृतक संस्कार करते समय मूर्दे का मुण्डन कराया जाता है और परिवार के लोग भी मुण्डन कराते हैं। उनका 'बूमरांग' अस्त्र शब्दभेदी बाण का काम करता है। वहाँ से प्राप्त पुरातन अवशेष से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान आदिवासियों के पूर्वज सुयोग्य भी रहे और सुसंस्कृत भी। उनकी अभिरुचि और क्रिया पद्धति का प्राचीन भारतवासियों के साथ बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है। भारतीय प्रागैतिहासिक काल में भारत से ही जलयात्रा करके वहाँ पहुँचे थे। प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का विस्तार स्वर्ण द्वीप समूहों तक हो चुका था। उस मार्ग से प्राचीन भारतीय आस्ट्रेलिया तक पहुँचे हों तो आश्चर्य नहीं। संसार भर के भूखण्डों को समुन्नत बनाने की महत्त्वाकांक्षा उन्हें इस दुर्गम एवं अविज्ञात समझे जाने वाले क्षेत्र में ले पहुँची हो यह कोई असम्भव बात नहीं। पुराण साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि विश्वामित्र के पतित पुत्रों को देश निकाला मिला तो वे आस्ट्रेलिया चले गये और उस को नये सिरे से बसाया। इस प्रकार तृणबिन्दु राजकुमार के भी उस देश में जा बसने का विवरण मिलता है। ऋषि पुलस्त्य भी उस देश में धर्म स्थापना के लिए गये थे।

इस प्रकार भारत की प्राचीन संस्कृति का विश्वव्यापी विस्तार हुआ। यह संस्कृति जहाँ-जहाँ पहुँची उस क्षेत्र को अपने आलोक से आलोकित कर दी। जिससे विश्व के वे समस्त क्षेत्र इस संस्कृति के रंग से रंग गये और अपने मूल भारत भूमि से एक नूतन सम्बन्ध स्थापित हो गया। परिणामतः यह सम्बन्ध राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सूत्रों में परिणित हो गया।

प्राचीन भारत के विश्व के अन्य भागों से राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध

भारत से बाहर वैदिक संस्कृति का व्यापक विस्तार एवं प्रसार हुआ। संस्कृति की ध्वजा लेकर पहुँचने वाले इन भारतीयों ने वहाँ उन्नति की, राज्य स्थापित किये या उसमें उनको सहयोग प्रदान किया। विकास की इस प्रक्रिया को प्रगतिशील और चिरस्थायी बनाये रखने के प्रयास में वे जुटे रहे, इसी कारण उन्होंने अपना सम्बन्ध भारत से बनाये रखा। महाभारत काल तक भारतीय नरेशों से उनके वैवाहिक सम्बन्ध भी हुए हैं। इससे राजनैतिक सम्बन्ध और प्रगाढ़ हुआ। विश्व के

इन सुदूर भू भागों में रीति-रिवाज, आचार संहिता, परम्परा आदि सांस्कृतिक मूल्य भी प्रतिष्ठापित रहे इसलिए भारत से सांस्कृतिक सम्बन्ध भी बने रहे। संस्कृति में वही स्थायी रह सकती है, जिसमें आदान-प्रदान की क्रिया-प्रक्रिया हो। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत ने दूसरों पर अपने विचार को लादने के लिए कोई बर्बर संगठन नहीं बनाया और न तलवार के जोर से अपनी बात मनवाने के लिए किसी देश या जाति पर आक्रमण ही किया। भारत के उदार विचार, उसके सामयिक दृष्टिकोण और चिन्तन की गहरी जिज्ञासा ने ही दूसरे देशों में प्रेमोपाश में जकड़ा था। वैदिक काल के बाद भी इन राजैनतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों के माध्यम से वैदिक संस्कृति की गौरव-गरिमा विश्व के विभिन्न भू भागों में पुष्पित पल्लवित होती रही। इसका प्रभाव संस्कृतियों पर विशेष रूप से रहा।

भारत की प्राचीन संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव

भारत अनादिकाल से समस्त संसार का मार्गदर्शन करता रहा है। विश्व-मानव की सर्वतोमुखी प्रगति में उसने सदा से अजस्त्र अनुदान दिया है। ज्ञान और विज्ञान का उदय, अवतरण इस भारत भूमि पर सर्वप्रथम हुआ तो, पर वह इस सीमित क्षेत्र में अवरुद्ध नहीं रहा। प्रभातकालीन सूर्योदय का श्रेय तो मिला, पर वे किरणें समूची जगत् को प्रकाशवान बनाने के लिए निस्सृत होती रही। सर्वप्रथम ज्ञान गरिमा का अभ्यासी भारत सदैव अपनी संस्कृति का विकास और प्रचार-प्रसार करता रहा है। यहाँ तत्त्ववेत्ता ऋषि-मुनि कुछ भ्रमणशील थे और कुछ आश्रमनिष्ठ थे। कौडिन्य और अगस्त्य ऋषि ने सबसे पहले समुद्र यात्रा करके विदेशों में वैदिक संस्कृति का प्रचार किया, जिसका प्रमाण प्राचीन शिलालेखों में उपलब्ध होता है। भारतीय ज्ञान, विज्ञान, कला, विद्या आदि का विदेशों पर गहरा प्रभाव रहा है। समस्त मानव जाति पर इस संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा एवं उसने भारतीय अनुदानों का अनवरत लाभ उठाया।

❑ अरबों पर भारत का प्रभाव

वैदिक संस्कृति की मुख्य विशेषता रही है कि यह सभी संस्कृतियों को आत्मसात कर लेती है, इसके विपरीत इस्लाम जहाँ भी जाता था, उस देश की संस्कृति को अपनी में मिला लेता था, परन्तु भारत में इस्लाम ने न तो अपना स्वरूप छोड़ा और न वह इस देश पर सांस्कृतिक विजय ही प्राप्त कर सका। इस्लाम ने यहाँ भारतीयता ग्रहण कर ली। जब अलबरुनी महमूद गजनवी के साथ यहाँ आये तो उन्होंने हिन्दुओं को उच्च कोटि के दार्शनिक, निपुण गणितज्ञ और असाधारण

ज्योतिर्विद पाया।[८०] इसके सांस्कृतिक प्रभाव ने रोम-साम्राज्य की जड़े हिला दी और यूरोप को रौंदने वाले शक्तिशाली हूणों को पराजित कर उसे प्रभावित कर चुका था। भारत में इस्लाम का प्रसार करने में अरब की उदासीनता का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि स्वयं पैगम्बर (मुहम्मद) ने भारतीय धर्मों का समर्थन किया था। एक बार उन्होंने कहा था 'मैं हिन्द की तरफ से आती हुई ठण्डी हवाओं को महसूस करता हूँ।' 'सहीह मुस्लिम' में अबू होरैरा ने कहा है कि पैगम्बर ने कुछ स्वर्ग की नदियों का जिक्र किया है, जिनमें एक भारतीय नदी का भी नाम है। बहुत सी इस्लामी परम्पराओं में वैदिक संस्कृतियों की अरबों द्वारा मान्यता का बखान किया गया है, इब्ने अली हातिम ने अली का प्रमाण देते हुए कहा है कि हिन्द की घाटी में आदम बहिश्त से उतरा था।[८१] कुरान में कुछ संस्कृत-मूल के शब्द आये हैं, जैसे तोबा, सुन्दास और अक्लाई आदि। चौथे खलीफा का कहना है कि भारत में ही सबसे पहले किताबें लिखी गयीं, और बुद्धि एवं ज्ञान का प्रसार भी यहीं से हुआ।[८२] इसमें मुसलमानों की भारत के प्रति स्नेह एवं आदर की भावना अवश्य प्रकट होती है।

अरब लोग अपनी उत्कृष्टता के विषय में आश्वस्त थे और विजितों पर अपनी संस्कृति थोप देते थे। भारत के प्रति उनकी सम्मान भावना एक असाधारण श्रद्धाभिव्यक्ति ही थी। ईरान और मिश्र की बहुविकसित सभ्यताएँ भी उस समय अरब से मुकाबला नहीं कर सकती थीं। खलीफा उमर भारत पर आक्रमण करने के विरुद्ध थे, यद्यपि उसको कहा गया था कि 'भारत की नदियाँ मोती हैं, उसके पहाड़ लाल और पेड़ सुगंधित है,' परन्तु वह भारत को ऐसा देश समझता था जहाँ विचारों और धर्म की पूर्ण स्वतंत्रता थी और जहाँ हिन्दु और मुसलमान अपने-अपने धर्म की आजादी से पालन कर सकते थे।[८३] अरबों ने भारत से वेदान्त दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, रसायन शास्त्र और प्रशासन कला का ज्ञान प्राप्त किया। अरब लोग अन्यत्र स्थानीय जनों पर एक मिश्रित संस्कृति लादने का प्रयत्न करते थे, जो उनकी अपनी भाषा और लिपि तथा स्थानीय सभ्यता के कतिपय तत्त्वों पर आधारित होती थी इसके विपरीत सिन्ध के अरब शासकों ने स्थानीय आचार-व्यवहारों को ग्रहण कर लिया था। अरब शासक हिन्दु राजाओं की सी पोशाक पहनते थे और धार्मिक सहिष्णुता की नीति बरतते थे। अपने मूर्ति-पूजा विरोधी सिद्धान्त के बावजूद वे इस्लाम के नियम

---

८०. Edward C. Sachaua - Alberuny's India, pp. 22, 23
८१. Sayed Mehmood- Hindu Muslim Cultural Accord, p. 18
८२. Ibid, p. 21
८३. Ibid,

मूर्तिपूजक हिन्दुओं पर लागू नहीं करते थे। अपितु वे हिन्दुओं को विद्वान् मानते थे। धर्मोन्माद एवं राजनीतिक उत्तेजनावश मुहम्मद बिन कासिम ने एक विदेशी और विश्रुत शक्तिशाली देश के विरुद्ध अभद्रता और क्रूर आचरण के बावजूद उसने यहाँ के लोगों को अपने देवताओं को पूजने और अपने रीति-रिवाजों को पालने की छूट दी थी, मंदिर बनाने दिये और अपनी अधीनस्थ लोगों को संरक्षण दिया।[८४] उसने हिन्दु मैत्री और पुलिस भी रखे थे। वह हिन्दुओं का इस्लाम में धर्म परिवर्तन को इजाजत नहीं देता था।

१५२६ में मुगल वंश की स्थापना हुई थी। इस वंश में अनेक बादशाह वैदिक ज्ञान-विज्ञान एवं कला से प्रभावित हुए थे। सभी महान् मुगल बादशाह साहित्यानुरागी और सुरुचि सम्पन्न थे। वे वैदिक कला और साहित्य से अत्यन्त प्रभावित थे और उनको पूर्ण संरक्षण दिया। अकबर इस संस्कृति से इतना प्रभावित हो उठा कि उसके बीरबल जैसे हिन्दु मंत्री थे। इस संस्कृति की संरक्षकता के गुणों में वह सबसे बढ़कर था। बाबर की तरह जहाँगीर ने भी अपने संस्मरण लिखे हैं, वह भारतीय विज्ञान और औषधिशास्त्र में बहुत रुचि लेता था। शाहजहाँ का सबसे बड़ा पुत्र दारा शिकोह ने उपनिषदों का फारसी अनुवाद किया। तुर्क-अफगान शासक भी इस्लामी संस्कृति को भारत पर थोपना नहीं चाहते थे। संभवत: इसी कारण अबुल-फजल ने अपने आइने-ए-अकबरी में सोदाहरण स्पष्ट लिखा है कि भारत के मुसलमान अपने को भारतीय ही महसूस करते हैं। वह हिन्दुस्तान की सुन्दरता में इतना खो गया था कि उसने अपनी इस भावुकता का स्रोत 'अपने वतन से अपना प्यार' कहकर अपने पाठकों से क्षमा याचना की है। भारत की भाषा और साहित्य, वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन और कला एवं स्थापत्य ने इस्लाम को एक नया आयाम प्रदान किया। इसके बदले में इस्लाम ने वैदिक संस्कृति में नये लक्ष्य और तितिक्षापूर्ण सिद्धान्तों का समावेश नहीं कर सका। भारतीय चिन्तन एवं विचारधारा के सामने इस्लाम प्रभावी सिद्ध नहीं हो पाया, वरन् स्वयं ही इसकी शीतल छाँव में आश्रय प्राप्त किया। शंकराचार्य के प्रबल नेतृत्व में उपनिषदों के अद्वैत दर्शन का पुनर्जागरण हुआ। इसने भी इस्लाम को प्रभावित किया। इसके पश्चात् रामानुज, माधव, कबीर, रामानन्द, वल्लभाचार्य, गुरुनानक, चैतन्य, दादू और मीराबाई जैसे चमत्कारिक आचार्यों ने वैदिक दीपों को प्रज्वलित किया, जिसका प्रकाश इस्लाम में भी प्रकाशित हुआ।

कृष्ण की भक्ति मुस्लिम समाज में अधिक लोकप्रिय हुई। चैतन्य के कई

---

८४. Eliat and Diosion, I, pp. 115-86

शिष्यों में मुसलमान भी थे। इस कड़ी में कबीरदास सबसे अग्रणी रहे। जिसके शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। भक्ति का आन्दोलन वैदिक विचारधारा का ही तर्कसंगत विकसित रूप है, जिससे इस्लाम काफी प्रभावित हुआ। भक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वर उपनिषद् में मिलता है। बाद में ईसा सन् से पूर्व की रचना भगवद्गीता में भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों को मोक्ष का साधना बताया गया है। और मध्यकाल तक भक्ति हिन्दु धर्म का मुख्य सिद्धान्त बन गया। अत: यह कहना तर्क संगत प्रतीत होता है कि भक्ति आन्दोलन इस्लाम को व्यापक रूप से प्रभावित किया। कई विद्वान् तो इसके कारण सूफी मार्ग का उदय मानते हैं। क्योंकि इसके मूल में भी प्रेम और भक्ति है। इस्लाम की पवित्र भाषा अरबी थी। अरबी तो धार्मिक भाषा थी और मुस्लिम युग में फारसी दरबारी भाषा बन गई। फारसी हिन्दी के प्रभाव से एक नई भाषा को जन्म दी। वह नई भाषा थी उर्दू। मूलत: बोलचाल की भाषा उर्दू अरबी लिपी में लिखी जाने लगी, परन्तु इसका आधारभूत ढाँचा, व्याकरण और बहुत कुछ शब्द भण्डार भारतीय है। इस तरह स्थानीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई। भक्ति के उपदेशक सन्तों ने स्थानीय भाषाओं में ही रचनाएँ की और उपदेश दिये। अमीर खुसरो, रहीम खानखाना और मलिक मुहम्मद जायसी ने उच्चस्तरीय हिन्दी काव्य रचे। जालपुर के नवाब के पुत्र अलाउन हसन ने फारसी के प्रेम-काव्य 'सैफ्-उल-मुलुक वा बादी उल जमाल' का बंगला भाषा में अनुवाद किया था। उसने बंगाली साहित्य की अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी। इसी तरह कुतुबुद्दीन अहमद शाह (१४५१-५८), गौड़ के शासक नासिरशाह, दक्षिण भारत के कुतुबशाही और आदिलशाही शासक भारतीय साहित्य में रुचि लेते थे। इनमें से कुछ स्वयं कवि थे।

भारतीय परम्पराओं में से चुने हुए विषय ग्रहण करने के कारण इस्लामी कला में संश्लेषणात्मक तत्त्व आ गया था। अत: इसके धार्मिक विश्वास और राजनीतिक इतिहास में इसका प्रभाव परिलक्षित होने लगा। परिणामत: इस्लामी कला को एक नया स्वरूप प्राप्त हुआ। इस्लामी संगीत अरबों के साथ सिन्ध में आया और जल्द ही भारतीय पद्धति का अनुकरण करने लगा। मस्जिदों में इबादत के समय कण्ठ्य या वाद्य संगीत का प्रयोग नहीं होता था, परन्तु जब मुसलमान शासकों ने देखा कि भारतीय जीवन संगीत से ओत-प्रोत है तो उन्होंने अपने सामाजिक जीवन में इसे ग्रहण कर लिया। मुस्लिम सूफी सन्त भी हिन्दू भक्तों की तरह संगीत के शौकिन थे, उन्होंने अपने समारोहों में भक्ति संगीत और कव्वालियाँ प्रचलित कीं। कुछ मुसलमान शासक तो स्वयं निपुण गायक थे। जौनपुर के नवाब ने गम्भीर और ध्रुवपद से ख्याल के प्रवर्तन व विकास का श्रेय प्राप्त किया। इस प्रकार उत्तरी भारत में ईरानी संगीत,

भारतीय संगीत से मिकर प्रकट हुआ।[८५] सुप्रसिद्ध मुस्लिम कवि अमीर खुसरो भी भारतीय गायन में बहुत अच्छी दक्षता प्राप्त कर लिये थे। स्वामी हरिदास का शिष्य सुप्रसिद्ध तानसेन भी अकबरी दरबार के 'नवरत्नों' में थे। मुसलमानों में भारतीय संगीत बहुत अधिक लोकप्रिय था। अकबर के समकालीन बीजापुर का सुलतान इब्राहीम आदिलशाह, 'गीतकार' तथा 'नवरस' नामक पुस्तकों के लेखक थे। कश्मीर के शासक जैनुल आबिदिन भारतीय कला और संगीत का प्रशंसक थे। शंहशाह शाहजहाँ भी संगीत का महान् प्रेमी थे।

अकबर हिन्दु चित्रकला शैली के यथार्थ चित्रण और प्रभावशाली स्वाभाविकता का बड़ा प्रशंसक थे। इसलिए चित्रकला के महत्त्व पर 'आईना-ए-अकबरी' में भी बल दिया गया है। जहाँगीर भी भारतीय शैली से अत्यन्त प्रभावित थे। विकसित सौन्दर्य बोध के कारण वह प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेमी थे। फतेहपुर सीकरी, दिल्ली का लालकिला और आगरा का ताजमहल जैसी प्रसिद्ध इमारतों में भारतीय स्थापत्य तत्त्व देखे जा सकते हैं। प्रारम्भ के दिनों में तो वैदिक स्थापत्य की असाधारण समृद्धि और शान-शौकत देखकर मुसलमान चकित रह गये थे। कुतुबुद्दीन ऐबक ने कुतुब मस्जिद ११९५ में एक लम्बे-चौड़े हिन्दू मन्दिर की नींव पर बनाई थी और उसी क्षेत्र के मंदिर में निकलता हुआ मलवा इसके निर्माण में लगा था। बंगाल के मुस्लिम शासकों ने प्रचलित ईंटो की चिनाई का तरीका अपना लिया और इमारतों को सजाने में हिन्दू तत्त्वों का अनुकरण होने लगा। पूर्वी भारत के इस्लामी स्थापत्य की विशेषताएँ भारी पत्थरों के खम्भे, नुकीले मेहराबें और ईंटों के तहखाने हैं। कश्मीर में लकड़ी की सुन्दर इमारतों का प्रकार तुरन्त अपना लिया गया और कश्मीरी मकबरे भारत में अन्यत्र निर्मित ऐसे ही मकबरों से सर्वथा भिन्न थे। इसी प्रकार पश्चिमी भारत में गुजराती शैली अपना ली गयी। गुजरात में प्रभूत अलंकरण और सूक्ष्मता युक्त स्थापत्य शैली हिन्दूओं के पूर्ण विकसित और समृद्ध स्थापत्य से मेल खाती है। इसी तरह भारत के अन्य भागों में भी मुस्लिम स्थापत्य स्थानीय लक्षणों का अनुकरण एवं अनुगमन किया गया। मुसलमानों ने जल्द ही हिन्दुओं से सरदल के लिए लट्ठे या लम्बे चौकोर पत्थर लगाना और मेहराब की जगह स्तम्भोर्द्धव (मध्यपट्ट) लगाना सीख लिया। वे दीवारर्गर ढंग की घोड़िया का भी प्रयोग करने लगे। अकबर की कल्पना और मौलिक सूझबूझ के स्मारक फतेहपुर सीकरी में विशुद्ध भारतीय कारीगरी की झलक मिलती है। अकबर भारतीय शैली को ग्रहण करने की प्रेरणा

---

८५. A. Danialu- Northern Indian Music, p. 39

भरते थे। इस प्रकार मुसलमानों की बनवाई इमारतों में भारतीय लक्षण इस्लामी स्थापत्य कला में समाविष्ट हो गये।

भारत से बाहर से आने वाले मुसलमानों ने बहुत कुछ यहाँ की वेश-भूषा अपना ली। जैसे अरब के अमामा, झब्बा, रिडा, तहमद और तस्मा तथा मध्य एशिया के कुलह, नीमा और मोजा का स्थान भारतीय पगड़ी, चीरा, कुर्ता, अंगरखा, पटका, दुपट्टा और पायजामा ने ले लिया। मुसलमान ने हिन्दुओं के रीति-रिवाज, परम्पराओं तथा त्यौहारों से बहुत प्रभावित हुए। यहाँ आकर इस्लाम ने हिन्दू संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीयता ग्रहण कर ली। अपने सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजों में भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय मुसलमानों का समुदाय अन्य देशों के मुसलमानों से भिन्न हो गया। हिन्दू जाति प्रथा की छाप भी इस्लाम पर पड़ी।[८६] इस्लाम में मुल्लागिरि का निषेध है, परन्तु भारतीय मुसलमानों में यह खूब पनपी। इन लोगों ने भी लम्बी-चौड़ी धार्मिक विधियों में गहरी दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया। इस्लाम एकेश्वरवादी और मूर्तिपूजा विरोधी धर्म है, परन्तु भारतीय मुसलमान प्रायः फकीरों और उनके मजारों को पूजते हैं। मथुरा के भैरवनाथ के मंदिर पर मुसलमान बड़ी संख्या में देखे जाते हैं। मुसलमानों में एक पंचपीरिया सम्प्रदाय के लोग दरवेशों की इस सीमा तक पूजा करते हैं कि १९११ की जनगणना में इनको ऐसे हिन्दू लिखा गया, जिनके धर्म में इस्लाम की सुगन्ध आती है। हजरत मुहम्मद का यकीन चमत्कारों में नहीं था, परन्तु भारतीय मुस्लिम तो अपने औलियाओं की इबादत भी करते हैं और उनकी चमत्कारी शक्तियों का एहसास भी उन्हें है। बहुत से मुसलमानों में तो मूर्तिपूजा की प्रथा भी दिखाई देती है। यथा उत्तरप्रदेश के चौरिहार कालका सहजा भाई को पूजते हैं और श्राद्ध भी करते हैं। पंजाब के मिओ बहुत से देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, जैसे- सैनसी, भगती और लाची, मीरासी दुर्गा भवानी का प्रसाद ग्रहण करते हैं, पूर्वी बंगाल के तुर्क-नवाज लक्ष्मी पूजा करते हैं। बहुत से बंगाली मुसलमान शीतलामाता, काली, धर्मराज, वैद्यराज और अन्य हिन्दू देवी-देवताओं को पूजते हैं। पंजाबी अवामों के कुल पुरोहित ब्राह्मण हैं और सिन्धु घाटी के शिन मुसलमान तथा कच्छ के मोमिन गाय को पूजते हैं और गोमांस नहीं खाते।[८७] मोमिन तो हिन्दू त्रिदेवों ब्रह्मा, विष्णु और महेश का भी पूजन करते हैं और राम-राम कहकर अभिवादन करते हैं। मुसलमान सन्त मुण्डित और शरीर पर भस्म लेपन किये हुए देखे जाते हैं और कहीं-कहीं मंदिरों के संरक्षक भी हैं।

---

८६. भारतीय मुस्लिमों के भेद- शरीफ जात, अजूलफात, सैय्यद, शेख, पठान, मालिक, मोमिन, मंसूर, राईन, कसाले, राकी, हज्जाम आदि हैं।

८७. Murray T. Tytus- Islam in India and Pakistan, p. 173

हिन्दू प्रभाव के कारण मुस्लिम समाज में भी एक विवाह पद्धति का प्रचलन बढ़ा है। कुछ मुस्लिम वर्गों में हिन्दू पद्धति से विवाह होता है और कुछ लोग पहले हिन्दू विधि से विवाह करते हैं और बाद में निकाह पढ़ते हैं। हिन्दुओं की तरह सम्मिलित परिवार प्रथा और सम्पत्ति सम्बन्धी नियमों का भी बहुत से मुसलमानों में पालन होता है। अवन लोग प्राय: सभी मुसलमान हैं परन्तु अपने हिन्दू नाम रखते हैं और ब्राह्मण ढंग की वंशावलियाँ बनवाते हैं। चौधरी, ठाकुर और राजा आदि पदवियाँ मुसलमानों में भी प्रचलित है। मुस्लिम दरबारी जीवन में भी बहुत से हिन्दू तरीके आ गये हैं। नित्य स्नान करने की आदत और त्यौहारों की पवित्रता आदि हिन्दू मान्यतायें भी मुसलमानों ने अपना लीं।

❑ सूफीमत पर वैदिक प्रभाव

'सूफी' शब्द सूफ या सफ से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ ऊन है। अत: सूफी वह हुआ जो ऊनी वस्त्र पहनता है। यह आन्दोलन मुसलमानों की विजय के पश्चात् फैली हुई सांसारिकता, विलास और दिखावटी धर्म परायणता के विरुद्ध प्रतिक्रिया का सूचक है। प्राचीन सूफी बहुत सीधे-सादे, सरल और पवित्र होते थे। वे सच्चाई और नेकी की खोज में परमात्मा के ध्यान और प्रार्थना में अल्लाह का नाम जपते हुए आत्म संयम और फकीरी का जीवन बिताते थे। पहले वे संसार त्यागी थे, बाद में रहस्यवादी बन गये। सूफी मत की अधिक विकसित दार्शनिक धारणाओं से और भी अधिक मात्रा में भारतीय प्रभाव के प्रमाण मिलते हैं। मैक्स हॉर्टन का प्रबल समर्थन करते हुए आर.ए. निकोलसन ने इस मत पर जोर दिया है कि सूफी मत का 'फना' सिद्धान्त भारतीय मूल का है। यद्यपि हाल ही में ए.जे. आरबेरी ने इसका प्रतिवाद किया है, परन्तु तर्कों और सम्मतियों को देखते हुए निकोलसन ओर हॉर्टन का ही पलड़ा भारी पड़ता है। इस 'फना' सिद्धान्त का प्रवर्तक अबू याजिद अली, अल-सिन्दी का शिष्य था, जो सिन्ध (भारत) में पैदा हुआ था और वह हिन्दू धर्म से इस्लाम धर्म में परिवर्तित हुआ था। याजिद स्वयं स्वीकार करता है कि उसके गुरु उसको 'तौहीद' (ईश्वर एक है) और 'हक-इक' (सत्य) की शिक्षा दी थी।[८८]

अबू याजिद की वाक्यावली भी हिन्दू दार्शनिकों की भाषा की याद दिलाती है। वह परमात्मा के लिए 'वह' सर्वनाम का उपयोग करता है, जो हिन्दुओं द्वारा 'ब्रह्म' के लिए प्रयुक्त 'तत्' का ही प्रतिरूप है। 'तकूनू अत्ता धका' वाक्य उपनिषदों के तत्त्वमसि (तुम वही हो) वाक्य का रूपान्तर मात्र है, जो केवल वेदान्त में ही

---

८८. R.C. Jaihner- Hindu and Muslim Mysticism, pp. 93-94

प्रयुक्त होता है। उसके प्रबल अद्वैतवाद और संसार को भ्रम या धोखा कहने में शंकर के जगन्मिथ्या का विचार दृष्टिगोचर होता है।[८९] एक समसामयिक विद्वान् जयनेर ने ठीक ही कहा है कि सूफीवाद मुस्लिम जामा पहने हुए वेदान्त ही है। यह सांस्कृतिक स्थानान्तरण का एक विचित्र उदाहरण है कि भारतीय अद्वैतवाद ने सूफीवाद के द्वारा इस्लामी दर्शन में अपना स्थान बना लिया, जो संसार के किसी भी एकेश्वरवादी अथवा बहु-देवतावादी धर्म से समझौता करने को तैयार नहीं होता। सूफीवाद को इस्लाम के अन्तर्गत एक व्यवस्थित सम्प्रदाय मानने वाले विद्वान् गोल्ड जिहरे का कहना है कि सूफियों का तौहिद सिद्धान्त भी मूलतः इस्लाम का एकेश्वर धारणा के प्रतिकूल है और भारतीय दर्शन पर आधारित है। सूफी यह सिद्ध करने के लिए कि 'मैं परमात्मा का साक्षात्कार कर चुका हूँ,' यहाँ तक कह देता है कि 'यह सामीप्य है,' इस वाक्य में अनुभवकर्त्ता और अनुभूत पदार्थ का द्वैत सिद्ध होता है, जो प्रचलित भारतीय सिद्धान्त है।[९०]

'अनल-हक्क' का सिद्धान्त भी वेदान्त वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' का स्मरण दिलाता है। जो लगभग समानान्तर रूप से विकसित हुआ परन्तु इस्लामी विचारधारा का नितान्त विरोधी था। इसका प्रतिपादक मन्सूर-अल-हज्जाज अपने अद्वैत सिद्धान्त के कारण कट्टर मुसलमानों का कोपभाजन बन गया और ९२२ ई. में उसे फाँसी दे दी गई। बाद में उसके इस सिद्धान्त का इब्न अल अरबी और अब्दुल करीम जिली की पद्धति में समाविष्ट कर लिये गये। जिली का हिन्दू धर्म विषयक ज्ञान उसके द्वारा दस प्रमुख सम्प्रदायों में एक ब्रह्मि (ब्रह्मन्) भी है। सूफी मत के अन्य व्याख्याता जलालुद्दीन रुमी (मृत्यु १२७३) को कट्टरपंथियों ने प्रताड़ित एवं पीड़ित किया परन्तु अन्ततः उसे स्वीकार कर लिया गया। अपनी महत्त्वपूर्ण कृति मसनवी में सूफी विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए उसने हिन्दुओं के कीर्तन की तरह 'सम' अर्थात् भक्तिगान व नृत्य प्रथा चालू की। उसका उपदेश यह था कि हृदय देवत्व का दर्पण है और आत्मा में परमात्मा का ही प्रतिबिम्ब है। मनुष्य की सच्ची आत्मा शाश्वत परमात्मा से सम्बद्ध है, जो 'फना' होकर पुनः उसी में विलिन हो जाती है। ये सभी सिद्धान्त हिन्दू धर्म की मान्यताओं से मेल खाते हैं। बहुत सी रहस्यवादी क्रियाएँ भारतीय क्रियाओं के समानान्तर हैं। पस्प-अन्फस योगिक प्राणायाम के समान, सूफी 'धिक्र' हिन्दू जप के सदृश्य, तबा 'तसबीह' भी हिन्दू माला का ही प्रतिरूप है। सूफीमत में वैदिक विचारधारा के अनुरूप परमात्मा की प्राप्ति का माध्यम प्रेम के

---

८९. R.C. Jaihner- Hindu and Muslim Mysticism, p. 100

९०. Murray T. Tytus- Islam in India and Pakistan, p. 156

अतिरिक्त गुरु या पीर को आत्म समर्पण भी बताया गया है, जो आत्मज्ञान के कठिन मार्ग को आलोकितं करके सुगम बना देता है।

प्रारम्भ से ही सूफीमत में वैदिक विचार एवं तत्त्वों का दर्शन मिलता है। राबिया-अल-अदविया (७१७-८०१) नामक महिला ने स्वर्गीय प्रेम सिद्धानत के द्वारा प्रारम्भिक सूफी मत को नये आयाम दिये। उसने निष्काम भाव से अल्लाह की बन्दगी में चित्त लगाने का उपदेश दिया, इसमें न गुनाहों के लिए दैवी दण्ड से डरने की आवश्यकता थी, न सद्कर्मों के सत्परिणाम की आकांक्षा। वह कहती थी 'या अल्लाह अगर मैं दोजख़ (नरक) के भय से तेरी बन्दगी करती हूँ तो मुझे दोजख़ में की आग में जला दो, अगर मैं बहिश्त (स्वर्ग) की कामना से बन्दगी करती हूँ, तो मुझे बहिश्त से वंचित कर दो, परन्तु अगर मैं तुम्हारे लिये ही तुम्हारी सेवा करती हूँ तो अपना शाश्वत स्वरूप आँखों से ओझल मत होने दो।' इस प्रकार उसने आरम्भिक सूफी मत की तपोमय निश्चेष्टता को प्रगति का स्वरूप दिया। जो घुल-नुन-अल-मिस्त्रि (मृत्यु ८६१ ई.) द्वारा प्रवर्तित 'मारिफत' (अध्यात्म) और बिरताम का फारसी अबु याजिद के चलाये हुए 'फना' (अनन्त में मिलन) सिद्धान्तों के माध्यम से विकसित हुआ। 'ज्ञान का सुरापान' करके 'मतवाला' होने वाला वह प्रथम सूफी था, जिसने रहस्यवाद के पथ पर चलकर अपनी ही आत्मा में परमात्मा का दर्शन किया था। उसके समय के बाद से 'फना' का सिद्धान्त सूफी मत का केन्द्र-बिन्दु बन गया। बगदाद का अल जुनैद (मृत्यु ९१०) अपने समय का तीक्ष्ण बुद्धिवाला मौलिक चिन्तक था, उसने इस सिद्धान्त को विकसित करके ब्रह्मवाद से समन्वित और उसका अन्तरंग भाग बना दिया। मन्सूर अल हजाज (८५८-९२२) ने इस दर्शन में स्पष्ट किया कि 'मनुष्य ईश्वर का ही अवतार है।' यह सिद्धानत अनल हक्क (मैं ही सत्य हूँ) कहलाया। इमाम अल-धजाली (१०५८-११११) ने अबू याजिद, अज हज्जाज और अबू सैद इब्न आविल खैर को अपना आदर्श बनाया और उसके 'अनल-हक्क' जैसे सिद्धान्तों का प्रयोग करते हुए एकेश्वरवाद तथा 'आत्मा के परमात्मा तत्त्व में विलय' के प्रति विश्वास प्रकट किया। सबसे बड़ा मुस्लिम रहस्यवादी चिन्तक अल-दीन इब्न अल-अरबी (मृत्यु १२४०) पक्का अद्वैतवादी था। सूफी मत का विकास चक्र चौदहवीं शताब्दी में 'वहदत-अल-वुजूद' आस्तिक अद्वैतवाद के उदय के साथ पूर्ण हुआ।

सूफियों के जीवन का आदर्श त्याग, तपस्या, आत्मसंयम तथा न्यूनतम आवश्यकता के साथ जीवन निर्वाह करना था। सूफी मानते हैं कि ईश्वर ही परम सत्य, सर्वव्यापक संकल्प, सच्चा, ज्ञान, शाश्वत ज्योति और सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य है, जो

विश्व दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। आत्माभिव्यक्ति और प्रेम की इच्छा, ये सौन्दर्य के प्राकृतिक गुण हैं। जगत् मिथ्या है, भ्रम है। उसी पर आधारित सूफी मत का उपदेश वहदत-अल वुजूद है, अर्थात् सत्ता मात्र की एकता, सर्वसत्ताधारी परमात्मा एक है, बाह्य भेद उसी प्रकार रूप या परम सत्य की अभिव्यक्ति मात्र है, अर्थात् यह बाह्य जगत् उसी 'अनल-हक्क' के आत्मप्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वेदान्त की तरह 'अपने को पहचानो' यही सूफी दर्शन क मूल मंत्र है। आत्मज्ञान के द्वारा ही सत्य को प्रत्यक्ष किया जा सकता है, यही सूफी मत कहता है, यही वैदिक धर्म का परम सिद्धान्त है। संस्कृत में इसको 'ज्ञान' कहते हैं और अरबी में 'मन अरफ नफ्स: रब्बहू।' सूफीमत भारतीय विचारधारा की एक शाखा प्रतीत होता है। भारत के रहस्यवादी विचार सूफी मत के माध्यम से यहूदी रहस्यवाद में पहुँच गये जो 'कव्वाला' कहलाते हैं। यह कव्वाला मिश्र और पश्चिम एशिया में विकसित होकर ९०० ई. के लगभग यूरोप में भी जा पहुँचा। कव्वाला के बहुत से लक्षण, यथा अक्षरों की विचित्र शक्ति, जादू और ताबीजों का प्रयोग, देवताओं की दशाएँ और निर्गमन, अण्ड-ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध सिद्धान्त आश्चर्यजनक रीति से भारतीय तांत्रिक विषयों के समान हैं। कट्टर जूडावाद के लिए विदेशी होते हुए भी जन्म से पूर्व स्थिति और आत्मा के बार-बार नये शरीरों में जन्म लेने सम्बन्धी शिक्षा 'जोहर' में दी गई है। सर्वोच्च देवत्व अथवा ईश्वर 'एन साफ' कहलाता है। जिसका अर्थ, अनन्त, अज्ञेय और वर्णनातीत होता है। ये सब उपनिषदों के सार वाक्य हैं।'[९१] इसका व्यापक प्रभाव ईरान पर भी पड़ा।

❑ वैदिक संस्कृति का ईरान पर प्रभाव

प्राचीन काल में वैदिक संस्कृति को ईरान ने बड़ी उत्कण्ठा से स्वीकार किया तथा वैदिक प्रथाओं और विचारों को अपनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय भारतीय आर्य लोग ही ईरान में जाकर आबाद हुए होंगे, इसी से इस देश का नाम आर्य-स्थान पड़ा होगा, जो कि बिगड़ते-बिगड़ते ईरान हो गया। पारसियों के प्राचीन धर्म-ग्रन्थ 'जिन्दावस्था' में बहुत स्थानों पर आर्य शब्द प्रास होता है। जैसे- 'आर्यों के प्रताप के कारण,'[९२] 'मजदा के द्वारा की गई आर्यों की कीर्ति के कारण।'[९३] इन

---

९१. Sir Charls Eliat- Hinduism and Budhism, III, p. 462

९२. Serogah 1, Vol. IX, p. 7

९३. Serogah 1, Vol. XXV, p. 11

उद्धरणों से प्रतीत होता है कि जिन्दावस्था में जिन प्राचीन ईरानी लोगों की प्रार्थनाएँ वर्णित हैं वे अपने को आर्य जाति का ही मानते थे। महाभारत में 'पारस' देश का नाम कई स्थानों पर आया है। साथ ही महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में भी बहुत सी बातें, जिन्दावस्था के साथ मेल खाती हैं।

पारसी धर्म ग्रन्थ पहलवी भाषा में लिखे हुए हैं। पहलवी भाषा में बोलने वालों के लिए संस्कृत साहित्य में 'पल्हवा' नाम आता है।[९४] अन्य उद्धरण महाभारत के समान हैं जैसे- गोरक्षम, गोमूत्र को पवित्र समझा जाना, आदि। जिन्दावस्था में लिखा है 'लोग परमात्मा को भूल रहे हैं, पुराने समय में स्वर्णीम काल था, जबकि सब लोग धर्माचरण करते थे। इससे प्रतीत होता है कि यह वर्णन महाभारत का समकालीन है। यास्ना के ४३ वें अध्याय में 'अङ्गारा' का भी नाम है। यह महर्षि अंगिरा का द्योतक है। पारसी ग्रन्थ में 'होंवा गुण्ठ' में अथर्ववेद का भी वर्णन आता है। जिन्दावस्था में 'कबाउसा' नामक महापुरुष का वर्णन आया है। वैदिक साहित्य में 'कवि पुत्र उषनाग' नामक एक व्यक्ति का उल्लेख है, संस्कृत साहित्य में इसी को 'काव्य' और 'उषना' नाम दिये गये हैं। जिन्दावस्था में ईश्वर के अनेक नामों में से एक 'अहुर मज्दा' है। यह शब्द वास्तव में वैदिक शब्द 'असुरमेधा' का बिगड़ा हुआ रूप है। इसी प्रकार ईश्वर के मित्र, नाराशंसी, अर्थमन, ब्रह्मनन्, भगनू आदि नाम भी जिन्दावस्था में प्राप्त होते हैं। ३३ वैदिक देवताओं के अनुसार जिन्दावस्था में भी ३३ देवता ही माने हैं। वैदिक यज्ञों का वर्णन यथा सोमयज्ञ, गोमेध का होम तथा गोमेज नाम से उल्लेख किया गया है। इसी तरह वैदिक 'ढर्रोष्ठि' यज्ञ को जिन्दावस्था में 'दास' नाम दिया गया है। चार वैदिक वर्णों के अनुसार ही पारसी धर्म ग्रन्थों में चार वर्णों का जिक्र हुआ है, हरिस्तरन- ब्राह्मण, नूरिस्तरण- क्षत्रिय, सोसिस्तरन- वैश्य और रोजिस्तरन- शुद्र।[९५] इससे स्पष्ट होता है कि ईरान की संस्कृति एवं विचार का आधार वैदिक संस्कृति है।

जेन्द भाषा का उद्‌गम संस्कृत भाषा ही है। जिन्दावस्था का नाम भी संस्कृत के वैदिक नाम से निकला है। जिन्द शब्द 'छन्द' का अपभ्रंश है। अवस्था का अर्थ है- ज्ञान। इसका अभिप्राय 'छन्द ज्ञान' अर्थात् मंत्र ज्ञान हुआ। निम्नलिखित तालिका से भाषा की समानता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है-

---

९४. महाभारत, सभापर्व, ३२/१७

९५. अ.अ. अनन्त- भारतीय संस्कृति का विदेशों पर प्रभाव, पृ. २१-२३

जिन्द	संस्कृत	अर्थ
(संस्कृत 'स' जेन्द में 'ह' हो गया है।)		
अहुर	असुर	परमेश्वर
होम	सोम	वनस्पति
हप्त	सप्त	सात
हेना	सेना	फौज
(संस्कृत 'ह' जेन्द में 'ज' हो गया है)		
जसा	हसा	हाथ
जोसा	होता	हवन करने वाला
आजुति	आहुति	आहुति
बाजु	बाहु	बाहु
अजि	अहि	साँप
(संस्कृत 'ज' जेन्द में 'ज़' हो गया है।)		
ज़ानु	जानु	घुटना
वज़्र	वज्र	वज्र
अज़ा	अजा	बकरी
ज़िह्वा	जिह्वा	जबान
(संस्कृत में 'श्र' जेन्द में 'स्वा' हो गया है।)		
विस्य	विश्व	संसार
अस्य	अश्व	घोड़ा
(संस्कृत का 'श्र' या 'स्वाः' जेन्द में 'क' हो गया है।)		
क़सूर	श्वसुर	ससुर
क़प्र	स्वप्न	सपना
(संस्कृत 'त' जेन्द में 'थ' हो गया है।)		
मिथ्र	मित्र	मित्र
मन्थ्र	मंत्र	मंत्र
(संस्कृत का 'भ' जेन्द में 'फ' हो गया है।)		
गृफ	गृभ	पकड़ना
गोमेफ़	गोमेध	खेती करना
(संस्कृत के इन शब्दों में कोई अन्तर नहीं आया है।)		
पशु	पशु	पशु

गाय	गो	गाय
उछनू	उछनू	बैल
यव	यव	जौ
वैध	वैध	वैध
वायु	वायु	वायु
इषु	इषु	बाण
रथ	रथ	रथ
गन्धर्व	गन्धर्व	गाने वाले
अथर्वन	अथर्वन	यज्ञ ऋषि
गाथा	गाथा	पवित्र पुस्तक
दृष्टि	दृष्टि	यज्ञ
जन्द	छन्द	ज्ञान

जेन्द	वैदिक शब्द	जेन्द	वैदिक शब्द
अहमै	अस्मै	कहमै	कस्मै
स्वान	श्वान	स्य	श्वः
सुते	शुते	सूनो	सूनस
सुनाम	शुता	पथात्	पथिन्
पथां	पथ	पन्नानो	पश्यनक्ष
किरिनाइति	कृणोमि	जगयति	गमयति
ह्युनाम्	मेषाम्	स्यानाम्	श्वान्
श्यास	श्वास	गैरिनाम	कृष्णमि
पन्न	पंथ		

इसी प्रकार अन्य भी बहुत से समान शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं। ये तथ्य स्पष्ट करते हैं कि इरानी संस्कृति पर वैदिक संस्कृति का पूर्ण वर्चस्व एवं प्रभाव था। ईरान में हखमनी साम्राज्य भी वैदिक संस्कृति से प्रभावित था। भारत के व्यापारियों के साथ-साथ इस देश के विचारक भी पश्चिमी देशों में अच्छी संख्या में जाने लगे। और उनके सम्पर्क के कारण ग्रीस आदि देशों के अनेक तत्त्वचिन्तक भी ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए भारत की यात्रा के लिए तत्पर हुए।

❑ यूनान पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

पूर्व और पश्चिम के दो देशों का प्राचीन इतिहास बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, पूर्व में भारत का और पश्चिम में यूनान का। यूनान ने यूरोपीय देशों को शिक्षा दी।

यूनान के होमर, सुकरात, अरस्तू, टल, प्लेटो, हैरोडोट्स आदि कवि और विचारक विश्व भर में ख्याति प्राप्त थे। भारत और यूनान क्रमशः पूर्व, पश्चिम के सूर्य और चाँद हैं। इन दोनों द्वारा ही पूर्व और पश्चिम, संस्कृति के उज्ज्वल प्रकाश द्वारा प्रकाशित हो पाए हैं। परन्तु यह प्रकाश पाने के लिए पश्चिम का चाँद पूरब के सूरज का ऋणि है।

रामायण की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन कविवर बाल्मीकि ने एक श्रेष्ठतम काव्य के रूप में किया है। उसी की छाया को लेकर यूनान देश के आदि कवि होमर ने 'इलियड' नामक सुप्रसिद्ध काव्य की रचना की। इलियाड के मुख्य पात्र दो भाई हैं, जिनमें परस्पर अत्यन्त प्रेम है। इन दोनों के पिता आर्गस ने इन्हें राज्य से निकाल दिया था। नायक मैनिलस हेलन को उसके पिता के द्वारा किए गए स्वयम्बर में, अन्य सब प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर प्राप्त करता है। राज्य से बहिष्कृत होने पर एक बार मैनिलस की अनुपस्थिति में पेरिस उसके घर आता है और उसकी धर्मपत्नी हेलन को चुरा कर समुद्र में बसे हुए ट्राय नगर में ले जाता है आदि। इस समस्त दृष्टान्त में रामायण का प्रतिबिम्ब झलकता है। यूनान का नीतिज्ञ मिनौस मनु के सिद्धान्तों का अनुसरण करता है। यूनान का दार्शनिक विचार भी वैदिक दर्शन से अत्यन्त साम्य दिखता है। वैदिक षड्दर्शन के समान यूनान में भी छः विचारधारा दृष्टिगोचर होती है। यूनानी विद्वान् हैरोडोट्स का कथन है 'वास्तव में ईश्वर एक ही है, वर्तमान देवता, ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूप हैं।' यह वैदिक सिद्धान्त जान पड़ता है। यूसेवियस का यह कथन कि यूनान की वर्तमान समय में प्रचलित प्राचीन गाथाएँ प्राचीन धर्म का विकृत और परिवर्तित रूप हैं, पौराणिक गाथाओं के प्रति भारतीय आचार्यों की मान्यता को दुहराता है। दार्शनिक ग्जैनोफेनस की उक्ति 'संसार और ईश्वर वस्तुतः एक ही है, एक ही सत्य, स्थिर और परिवर्तनशील है।' वेदान्त सिद्धान्त 'प्रकृति और ईश्वर एक अविनाशी सत्ता' को अनुकरण करना प्रतीत होता है। अरिस्टोफेन की एक कविता में ऋग्वेद की एक कथा की पुनरावृत्ति हुई है। एक्येडोकलीस के अनुसार जो चीज एक समय विद्यमान नहीं है, वह कभी विद्यमान हो ही नहीं सकती, जो चीज एक समय उपस्थित है, उसका नाश सम्भव नहीं है। इसका मूल आधार सांख्य सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' ही है। इसी विषय में गीता कहती है 'जिस वस्तु की सत्ता है, उसका अभाव नहीं हो सकता, जो वस्तु नहीं है उसकी सत्ता असम्भव है।'

प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रूकर के मतानुसार यूनान के प्लूटार्च, क्लेमन्स, एलक्जड्रीनस और फस आदि विचारकों का मत है कि सम्पूर्ण विश्व नाशवान् है। इसके पश्चात् पुनः नए जगत् की उत्पत्ति होगी। वैदिक साहित्य तो प्रलय और सृष्टि के सिद्धान्त का

जन्मदाता है। वेद के अनेक मंत्रों में प्रलय-उत्पत्ति का वर्णन है। टिमीयस का कहना है कि 'औरफस ने अपने ग्रन्थ में घोषणाकी है कि ईश्वर वास्तव में एक है, उसी के तीन भिन्न-भिन्न रूप हैं।' यह वैदिक त्रिमूर्ति की ओर संकेत करता है। कोलब्रुक ने स्पष्ट कहा है कि यह देखकर हमें आश्चर्य होता है कि पैथोगोरस और ओसलेस के बहुत से सिद्धान्त भारतीय दार्शनिकों से बहुत मिलते हैं। पैथोगोरस ने स्वर्ग, पृथ्वी और मध्यलोक का वर्णन किया है। उनका कथन है कि मध्य लोक में राक्षस, स्वर्ग में देवता और पृथ्वी लोक में मनुष्य रहते हैं। पैथोगोरस अनुभव करने वाले भौतिक अंग (मन) को चेतन आत्मा से पृथक् समझते हैं। इसमें एक शरीर के साथ नष्ट हो जाता है और दूसरा अमर है। उनका कहना है 'मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भारतीय विचारक ही इन ग्रीक दार्शनिकों के गुरु हैं।' पैथोगोरस को सिद्धान्त में उपनिषदों का स्थूल और सूक्ष्म शरीर नजर आता है। इसी प्रकार बहुत से पाश्चात्य विद्वानों और मनीषियों का मत है कि यूनानी दार्शनिक भारतीय दार्शनिकों के ऋणि हैं।

यूनान के श्रेष्ठतम दार्शनिकों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्लेटो का कथन है 'आत्मा ही मनुष्य की अपनी वस्तु है, शरीर में आत्मा ही मुख्य है। मृत्यु के बाद आत्मा पुनः इस पृथ्वी पर लौट आती है और मनुष्य या किसी अन्य जीव का शरीर धारण करती है।' इसी प्रकार पैथोगोरस की मान्यता है 'यदि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करके यह मान लिया जाय कि मनुष्य का जन्म एक बार ही होता है तो मनुष्य समाज में जो जन्म से ही विषमताएँ प्राप्त होती हैं, उनका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। इस जन्म से पूर्व हमारे अनेक जन्म हो चुके हैं। और भविष्य में भी अनेक जन्म होंगे। आवागमन का यह क्रम सर्वत्र व्याप्त है और आत्माओं की दशा का अन्तर पुनर्जन्म का प्रबल प्रमाण है।' यह वैदिक विचार है। पैथोगोरस न केवल पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं अपितु वह बालक पर अच्छे प्रभाव डालने के लिए संस्कारों को भी महत्त्वपूर्ण बताते हैं। प्लेटो ने परोक्ष रूप से वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया है। पैथोगोरस की पाठशाला का वर्णन भारत के प्राचीन गुरुओं से बहुत कुछ साम्य है। प्लेटो ने शिक्षा के जिन आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया है, वे भारतीय शिक्षा के प्राचीन सिद्धान्तों से सर्वथा मिलते हैं। एथीनियन एवं नोथियन के विचारों में वैदिक सतयुग की झलक मिलती है। प्रारम्भ में यूनानी लोग वैदिक आर्यो की भाँति प्राकृतिक शक्तियों की उपासना करते थे।[९६] यूनान में देवी-देवताओं के जो मंदिर थे, उनमें दो मुख्य थे। पहला डेल्फी नामक स्थान पर अपोलो (सूर्य देवता) का मंदिर और दूसरा ओलम्पिया का। पुजारियों का देश में बहुत आदर

---

९६. गौरीशंकर पण्ड्या- भारतीय संस्कति का विश्वव्यापी प्रभाव, पृष्ठ १४०

था। उनके देवता जियस (द्यौ या आकाश), पोसीडन (समुद्र), अथेनी (बुद्धि की देवी), डीमीटर (पृथ्वी) आदि थे।[९७] यूनान में प्लुटो को मृत्यु का देवता माना जाता है, जिसके दरबारी में मृतात्मायें पहुँचती हैं। यूनान की लार्वन देवी काली के सदृश्य हैं। प्राचीन एथेन्स में बैल को बड़ा ही पवित्र और अवध्य समझा जाता था। बैल का वध करना भारी पाप समझा जाता था। प्राचीन यूनान में वैदिक ऋतुयज्ञ की भाँति प्रत्येक मास के प्रारम्भ में कुछ विशेष वृक्षों के पत्ते और उस ऋतु की उपज के अनाज आदि को शहद में भिगोकर अग्नि में डाला जाता था। फल, शहद और अन्न भी कुछ लोग अग्नि को समर्पित करते थे।

यूनानी विचारकों के विचार में अहिंसा का स्वरूप मिलता है। यूनानी दार्शनिक ग्जैनोफेनी ने आचार्य पैथोगोरस के सम्बन्ध में लिखा है 'एक बार वह किसी मार्ग पर जा रहे थे, उन्होंने देखा कि कोई व्यक्ति एक कुत्ते को बड़ी बेदर्दी से मार रहा है, तब दयार्द्र होकर उन्होंने कहा 'अपना हाथ रोक लो, इसे मारो मत। उसकी करुणा पूर्ण चीखों द्वारा मैं एक मनुष्य के समान आत्मा को देख रहा हूँ, जो कि मार से कष्ट अनुभव कर रही है।' इस वर्णन को पढ़कर स्वयं अंग्रेज विद्वान् डाक्टर कुक को भी इसमें भारतीयता की गंध आई। यूनान स्मृतिकार ग्जैनोक्रेशिस का कथन है 'अपने बुजुर्गों का सम्मान करो और देवताओं को फलों की भेंट चढ़ाओ, जानवरों का मांस नहीं।' एक बार पैथोगोरस से पूछा गया कि मनुष्य देवता किस प्रकार बन सकता है। उसने उत्तर दिया- सत्य भाषण द्वारा। सबसे बड़े देवता ओरो भगदस (अहुर मज़्दा) के विषय में भी यही कहा जाता है कि उसका शरीर प्रकाशमय है और उसकी आत्मा सत्य स्वरूप है। पैथोगोरस के शिष्य एम्पे डोकलीस ने संसार की उत्पत्ति के विषय में वैदिक धारणा का अनुकरण कर कहा है 'सबसे पहले शून्य से आकाश पैदा हुआ, उसे आग, उसके द्वारा पृथ्वी, उससे पानी और वायु पैदा हुए।' इसमें क्रम का अन्तर अवश्य है परन्तु आधार वही है। सिकन्दर ने इजिप्ट और ईरानी साम्राज्य को जीतकर भारत पर भी आक्रमण किया। वह भारत में अपने शासन को स्थायी नहीं बना सका, परन्तु वैदिक संस्कृति से स्वयं प्रभावित हो गया। इससे वैदिक संस्कृति का पाश्चात्य जगत् पर प्रसार और प्रभाव बढ़ गया। और यूरोपियन देशों की भारत में रुचि बढ़ने लगी।

---

९७. गौरीशंकर पण्ड्या- भारतीय संस्कति का विश्वव्यापी प्रभाव, पृष्ठ १४०

यूरोपियनों का भारत में आगमन एवं उन पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव

दाराशिकोह ने 'सिर्र-उल-अकबर' पुस्तक में कुछ उपनिषदों का अनुवाद किया और इसी माध्यम से यूरोप के विद्वानों को सर्वप्रथम इसका ज्ञान हुआ। मार्कोपोलो भी तेरहवीं शताब्दी के अन्त में चीन के मंगोल दरबार से घर लौटता हुआ दक्षिण भारत आया था। उसने भारत को संसार में सबसे महान् और समृद्ध देश कहा। भारत में ईसाई धर्म-प्रचारक पादरी जान विषयक जनश्रुति भी, पुर्तगाली जिसकी व्यर्थ तलाश कर रहे थे, एक प्रकार से सांस्कृतिक सम्पर्क की सूचना देती है। पन्द्रहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की भावना ने यूरोप को मध्य युग से खींच कर बाहर निकाला और उस देश के अन्वेषक नये धार्मिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों की प्रेरणा से भारत का सीधा समुद्री मार्ग तलाश करने लगे। कोलम्बस भी भारत की खोज में भटकता हुआ १४९३ में अमेरिका जा पहुँचा। इस क्रम में वास्को-डि-गामा भारत के दक्षिण पश्चिम तट पर २७ मई १४९८ को कालीकट पहुँचा। 'केप ऑफ गुड होप' होकर भारत के मार्ग की खोज और पुर्तगालियों द्वारा उत्साह और सफलतापूर्वक वहाँ विजय एवं अधिकार प्राप्ति के प्रति यूरोप आभारी है कि वह ऐसी अत्यन्त अनुदार और अपमानजनक दासता को बनाये रख सका, जो किसी पराजित किन्तु सुसंस्कृत राष्ट्रों पर कभी नहीं थोपी गई।[९८] पुर्तगाली, एशिया में आने वाली पहली यूरोपियन शक्ति थीं। वे अपने को इस्लाम के विरुद्ध निकले हुए धर्म योद्धा भी समझते थे। पुर्तगाली हिन्दू धर्म और इस्लाम के प्रति अपनी कड़वाहट भरी घृणा के बल पर एशिया में साम्राज्य कायम करना चाहते थे। वे अत्यधिक धार्मिक असहिष्णु एवं क्रूर थे।[९९] शक्ति संघर्ष में कूटनीति की अपेक्षा तकनीक ने अधिक काम किया। सैनिक शब्दावली में कहा जायगा कि पश्चिम ने पूर्व पर दो कारणों से विजय प्राप्त की प्रथम नौ-शक्ति और दूसरा बारूद का प्रयोग।[१००]

पुर्तगालियों ने मालाबार से फिलिपिन्स द्वीपों तक बहुत ही सुव्यवस्थित व्यापारिक साम्राज्य स्थापित कर लिया जो यूरोपीय इतिहास में बेजोड़ है। पुर्तगालियों

---

९८. W. Robertson- An Historical Disquisition Concerning the knowledge which the Essents had a Essents India, p. 173

९९. Robert Sivel- A Forgotten Empire, p. 211

१००. C.M. Sipola- Guns and Sells in early phase of European Expancess, p. 1400-1700

के इतने भारी लाभ पर यूरोप के अन्य देश अपने को संयत नहीं रख सके, परिणाम स्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में पहले डच एवं ब्रिटिश और फिर फ्रांसीसी व्यापारिक कम्पनियाँ एशियाई व्यापार को हाथ में लेने आगे आयीं। इसी दौरान यूरोपवासी विद्वान् भारतीय साहित्य सम्पदा का अध्ययन अनुसंधान करने लगे। भारत में आने वाला पहला अंग्रेज जेसुइट पादरी टॉमस स्टीवेन्सन था। वह १५७९ में गोआ आया और भारतीय भाषाओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने वाला पहला यूरोपीय था। उसने कोंकणी व्याकरण प्रकाशित की। वह मराठी भाषा का बड़ा प्रशंसक था और उसको 'कंकड़ों में हीरे' की संज्ञा दिया करता था। फ्लोरेंस निवासी फिलियो सासेतो ने पाँच वर्ष (१५८३-१५८८) तक गोआ में रहकर भारत के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की बहुत सी जानकारी एकत्रित की थी। उसके अनेक पत्रों में ऋतु विज्ञान विषयक पर्यवेक्षण अंकित है एवं अन्यों में भारतीय लोक कथाओं, विज्ञान और औषधियों की जानकारी भरी पड़ी है। औषधि विज्ञान में रुचि के कारण उसने संस्कृत सीखना प्रारम्भ किया। संभवतः वही सबसे पहला व्यक्ति था जिसने यह घोषित किया कि संस्कृत और यूरोप की मुख्य भाषाएँ आपस में सम्बद्ध हैं। १७७८ में संस्कृत साहित्य, वैदिक उपाख्यानों और सिद्धान्तों पर 'ले जुर वदां' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिससे पश्चिम में हलचल मच गई और वाल्टेयर का ध्यान भी उधर आकर्षित हुआ। परन्तु बाद में ज्ञात हुआ कि यह एक बनावटी पुस्तक थी, जिसको यूरोपीय पादरी रोबेतो द नोविली ने सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दुओं को अपने धर्म में परिवर्तित करने के उद्देश्य से तैयार किया था।[१०१] कुछ दूसरे प्रबुद्ध फ्रांसीसी लेखकों ने भी भारत के बारे में लिखना प्रारम्भ किया। दिदेरो ने भारतीय धर्म और दर्शन पर विश्वकोश (१७५१) में कुछ उल्लेख किया। १७७० में दिदेरो द होलबक एवं नाइगो की सहायता से एबे रायल ने 'फिलॉसॉफिकल एण्ड पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ द यूरोपियन्स इन टू द इण्डियाज' प्रकाशित किया।

जैकेमो राजा रणजीतसिंह के समय में भारत आया था, उसने भारत से प्रभावित होकर 'हिन्दू हीरोज एण्ड हीरोइन्स' नामक पुस्तक लिखी। लेमिए की युगान्तरकारी रचना 'व्यू द मालाबार' (१७७०) में प्रकाशित हुई। मोशिए द जुआ ने १८१० में 'टीपु साहब' और 'ले बयादिएर' नामक गीतिनाट्य लिखा, जिसके अभिनय को देखने स्वयं नेपोलियन आया था। इसी बीच में कुछ पादरी संस्कृत में रुचि लेने लगे एवं संस्कृत पढ़ने की आवश्यका अनुभव की। जर्मन पादरी हेनरिक रॉथ (१६१०-८८) ही प्रथम यूरोपियन था, जिसने लेटिन भाषा में संस्कृत व्याकरण

---

१०१. A. A. Mcdonal- Indias past, pp. 237-238

लिखी जो पाण्डूलिपि के रूप में ही रही। १६५१ में अब्राहम रॉजर नामक डच पादरी ने 'ओपेन डोर टू हिडेन हीथेनडम' पुस्तक लिखी जो ऐम्सटरडम में छपी। इसमें पुर्तगाली अनुवाद के आधार पर संस्कृत कवि भर्तृहरि की लगभग दो सौ सूक्तियाँ सम्मिलित थीं तथा इसी में हिन्दू रीति-रिवाजों और धर्म की व्याख्या के साथ-साथ वेदों का भी सर्वप्रथम उल्लेख किया गया था। १६६३ में इसका जर्मन अनुवाद हुआ और हर्डर (१७४४-१८१३) ने इसको अपनी पुस्तक 'स्टिमेन डेर फोल्कर इन लीडर्न' (गीतों में जनता की आवाज) में प्रकाशित किया। पंचतंत्र की कहानियों के बाद जर्मनी में ज्ञात होने वाली यही प्रथम भारतीय साहित्यिक कृति है। जर्मन पादरी जोहान अंर्स्ट हैंक्सलीडेन ने संस्कृत व्याकरण को लेटिन में संकलित किया तथा एक व्याकरण मलयालम में भी बनायी। उसकी संस्कृत व्याकरण अप्रकाशित ही रही, परन्तु आस्ट्रियन पादरी सन्त बार्थोलोमिओ के फरापाओलिनो (जिसका असली नाम योहांस फिलिपस बेसडिन था।) ने इसका उपयोग किया, निस्सन्देह अन्य पादरियों से उसका कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण था जिसने भारतीय साहित्य के आदिकाल पर काम किया।[१०२] वह मालाबार तट पर १७७६ से १७८९ तक रहा और भारतीय साहित्य, भाषा और धर्मों का अच्छा जानकार बन गया। उसने रोम में रहते हुए १७९० में दो संस्कृत व्याकरण लिखे। एक अन्य पादरी कोएरदो ने १७६७ में पाण्डिचेरी के मारिदास पिल्ले की सहायता से यह सुझाव दिया कि संस्कृत और यूरोपीय भाषाओं में आनुवांशिक सम्बन्ध है। वह संस्कृत साहित्य से भली-भाँति परिचित थे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण के नियमों का वर्णन किया है, अमरकोश एवं अन्य भारतीय शब्द कोशों के उल्लेख किये हैं और भारतीय काव्य शैली के प्रमुख अंग अलंकारों के प्रयोग पर भी प्रकाश डाला है।

संस्कृत साहित्य के अध्ययन पर सबसे पहले शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले यूरोपीय विद्वान् अलैक्जेण्डर ही थे, जिसने 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तक के प्राक्कथन में उसने भारतीय धर्म और रीति-रिवाजों का पूर्ण विवरण दिया है, जो महत्त्वपूर्ण है। उसने असंख्य संस्कृत ग्रन्थों की विद्यमानता का उल्लेख करते हुए मत व्यक्त किया है कि हिन्दुओं का प्रामाणिक इतिहास संसार की अन्य सभी जातियों के इतिहास से बहुत पुराना है। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स (जन्म १७३२) का भारतीय संस्कृति और साहित्य के प्रति विशेष झुकाव था। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि भारत में अंग्रेजों की शक्ति यहाँ की संस्कृति और धर्म को अच्छी तरह समझने पर ही टिक सकती है। वारेन हेस्टिंग्स की प्रेरणा से संस्कृत का ज्ञान अर्जित

---

१०२. M. Winternitz- A History of Indian Litteratur, Vol. VIII, p.8

करने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स (१७४९ से १८३६) था। उन्होंने वाराणसी में रहकर संस्कृत का बहुत अच्छा ज्ञान प्रात कर लिया था। तत्सामयिक विद्वानों ने उनको संस्कृत का वास्तविक विद्वान् और सबसे पहले यूरोप को संस्कृत का परिचय देने वाला यूरोपीय माना है। यूरोप में संस्कृत-पाण्डित्य के जन्मदाता एच. टी. कोलब्रुक ने कहा है कि पाइथागोरस से लेकर उस समय तक कोई ऐसा विदेशी विद्वान् नहीं हुआ, जिसको हिन्दुओं के विषय में विल्किन्स से अधिक ज्ञान रहा हो। १७८५ में विल्किन्स ने भगवद्गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया- जो सीधे संस्कृत पाठ से यूरोपीय भाषा में अनुदित प्रथम संस्कृत ग्रंथ माना जाता है। बाद में उसने 'हितोपदेश' (१७८७) और महाभारत का शाकुन्तलोपाख्यान (१७९५) भी प्रकाशित किया। ये संस्कृत कृतियाँ मुख्यत: यूरोपीय बुद्धिवादियों को भारतीय विचारों से अवगत कराने के उद्देश्य से अनूदित की गई थी। तेरह वर्ष बाद १८०८ में विल्किन्स का 'संस्कृत व्याकरण' छपा, जिसमें देवनागरी अक्षरों का प्रयोग हुआ था। यह कार्य भी यूरोप में पहली बार हुआ था।

सुप्रसिद्ध सर विलियम जोन्स (१७४६-९४) संस्कृत अध्ययन में अग्रणी था। वे भारतीय विचारधारा और संस्कृति की प्रशंसा करते हुए कभी नहीं थकते थे। वे कहते हैं 'अपने आपको ऐसे उदात्त वातावरण में पाकर मुझे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुई है, जो दूर-दूर तक एशियाई क्षेत्रों से घिरा हुआ है, जिसको विज्ञान की धात्री होने का सम्मान प्राप्त है, जिसने गौरवपूर्ण कार्यों के दृश्य उपस्थित किय हैं, जो मानवीय प्रतिभा का उर्वर उत्पत्ति स्थान है, जो आश्चर्यजनक प्राकृतिक विचित्रताओं से भरा पड़ा है और जो धर्म, प्रशासन, शास्त्रीय नियमों, शिष्टाचार, रीति-रिवाजों, विविध भाषाओं तथा मनुष्यों के विविध वर्णों का अटूट भण्डार है।"[१०३] जोन्स यद्यपि ईसा और ईसाई मत पर श्रद्धा रखते थे, परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद, ब्रह्म और पुनर्जन्म के प्रति आकृष्ट थे। उनकी दृष्टि में यह सिद्धान्त ईसाई मत के दुख और अंतिम दण्ड विधान की अपेक्षा अधिक युक्ति संगत था। जब भारत में रहते हुए तीन वर्ष हो गये, तो १७८७ में उसने भूतपूर्व शिष्य और निकटतम मित्र अर्ल स्पेन्सर को लिखा, 'मैं हिन्दू नहीं हूँ, परन्तु हिन्दुओं के इस सिद्धान्त को मानता हूँ कि भविष्य में अब से अच्छे एक अतुलनीय विवेकपूर्ण, पवित्र और मनुष्यों को पापमुक्त करने वाले युग का शुभारम्भ होगा, जो अवश्य ही अन्तहीन दण्डव्यवस्था की भयावह आशंकाओं से श्रेष्ठ है।"[१०४] जोन्स के इस व्यक्तित्व के प्रति उसके समकालीन

---

१०३. Fobsre- Oriental Memayers, Vol. II, p. 212

१०४. A.J. Aurbery- Oriental Eassys, p. 63

बर्क, गिबन, शेरीडान, गैरिक और जॉनसन आदि विद्वानों ने सम्मान प्रदर्शित किया है। जब उन्होंने भारत में संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ ही किया था तभी उनको १७७२ में रायल सोसायटी का सदस्य बना दिया गया। इस सोसायटी का उद्देश्य एशिया के इतिहास, संस्कृति, साहित्य और विज्ञान में अनुसंधान करना था। १७८९ में उसने कालीदास के प्रख्यात संस्कृत नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता से प्रकाशित किया।

उनकी यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई की बीस वर्षों से कम अवधि में ही उसके पाँच अंग्रेजी संस्करण निकल गये। १७९१ में विश्व यात्री एवं क्रांतिकार जार्ज फॉस्टर द्वारा इसका जर्मन रूपान्तरण प्रकाशित हुआ। जिससे हर्डर और गेटे जैसे व्यक्ति भी प्रभावित हुए। १७९२ में जोन्स ने जयदेव के 'गीत गोविन्द' का अनुवाद करके कलकत्ता से प्रकाशित किया और कालीदास के 'ऋतुसंहार' के मूलपाठ को भी प्रकाशित किया जो प्रथम मुद्रित संस्कृत पुस्तक है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण था 'मनुस्मृति' का अनुवाद जो उनकी मृत्यु के बाद 'इंस्टीट्यूट ऑफ हिन्दू लॉ' या 'आर्डिनेन्स ऑफ मनु' नाम से १७९४ में प्रकाशित हुआ। जोन्स ने इसमें भारतीय देवताओं के मौलिक स्रोतों की रचना भी की जो आंग्ल भारतीय साहित्य के चिरस्थायी स्मारक हैं। जोन्स ही पहले अंग्रेज थे, जिन्होंने निश्चित रूप से संस्कृत के साथ ग्रीक, लैटिन, फारसी, जर्मन और सेल्टिक भाषाओं का वंश परम्परागत सम्बन्ध निर्धारित किया था। एशियाटिक सोसायटी के तीसरे वार्षिक व्याख्यान में २ फरवरी १७८६ को उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि संस्कृत आश्चर्यजनक रीति से परिष्कृत भाषा है यह ग्रीक की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण है, लैटिन की अपेक्षा इसका शब्द भण्डार अधिक समृद्ध है और यह दोनों की अपेक्षा अधिक संस्कारमयी है, फिर भी क्रिया की धातुओं और व्याकरण के रूपों को देखते हुए उक्त दोनों ही भाषाओं के साथ इसका अत्यधिक साम्य पाया जाता है, जो केवल संयोग की बात नहीं हो सकती। इन सभी भाषाओं का उद्‌गम किसी एक ही स्रोत से हुआ होगा।[१०५]

जोन्स के कार्य का सबसे अधिक प्रभाव प्राच्यविद्या के अध्ययन पर पड़ा। उसने और विल्किन्स ने जो भारतीय साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत् की, उससे प्रेरित

---

१०५. जोन्स द्वारा इण्डो-यूरोपीय भाषाओं के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से भारतीय अध्ययन में अंग्रेजी परम्परा की खोज से पूर्व फ्रैंच प्राच्यविद्याविद् जाज़ेफ देगुइने ने 'ममायर्स द ले अकादमी दे इन्सक्रिपशियों एत बेल लेत्र' में एक शोध पत्र प्रकाशित किया था, जिसमें ग्रीक सांद्राकोटस को भारतीय चन्द्रगुप्त सिद्ध करते हुए समान भाषाई उद्‌गम और भारतीय तिथिक्रम का आधार स्थापित किया गया था।

होकर विद्वान् संस्कृत पाण्डूलिपियों की खोज में ऐसे उत्साह से प्रवृत्त हुए जैसे 'आस्ट्रेलिया के स्वर्ण क्षेत्रों के प्रति अन्वेषक निकल पड़े हों।'[१०६] ऐसे विद्वानों में हेनरी टॉमस कोलब्रुक (१७६५-१८३७) विशिष्ट थे, जिन्होंने संस्कृत के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप दिया। मैक्समूलर का कथन है कि यदि वह जर्मनी में हुए होते तो बहुत पहले ही उनकी जन्मभूमि पर उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित हो गई होती।[१०७] कोलब्रुक १७८२ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा में प्रविष्ट हुए और १८१५ में पचास वर्ष की अवस्था में भारत छोड़े। उनको यूरोप में संस्कृत अध्ययन का जनक और प्रतिष्ठाता माना जाता है। कोलब्रुक ने अपने कठिन परिश्रम और निर्मल बुद्धि से कितने ही ग्रंथों का पाठ-सम्पादन, अनुवाद किया और निबन्ध लिखे, जो प्रायः संस्कृत साहित्य के सभी अंगों से सम्बद्ध हैं। उनके लेख भारतीय स्मृतियों, दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिष और गणित से सम्बद्ध हैं। १७९७-९८ में उन्होंने अपनी प्रथम कृति 'ए डाइजेस्ट ऑफ हिन्दू लॉ आन काण्ट्रैक्ट्स एण्ड सक्सेशन' चार जिल्दों में प्रकाशित की, जिससे उनकी तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ यूरोपीय संस्कृत विद्वान् के रूप में ख्याति फैल गयी। उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'एसेज आन द वेदाज' १८०५ में प्रकाशित हुई और उसी वर्ष में प्रकाशित उनके 'संस्कृत ग्रामर' ने संसार को हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथों का प्रथम प्रामाणिक परिचय दिया। १८०८ में उन्होंने अमरकोश का समीक्षात्मक संस्करण निकाला। कोलब्रुक का समकालीन होरेस हेमन नामक अंग्रेज ईस्ट इण्डिया कम्पनी की चिकित्सा सेवा में प्रविष्ट होकर भारत आए और संस्कृत के अध्ययन में गहरी रुचि लेने लगे। पूर्ण उत्साह और परिश्रम से लगकर उन्होंने १८१३ में कालिदास के 'मेघदूत' काव्य का सुन्दर अनुवाद किया। यूरोपीय पाठक इससे बड़े प्रभावित हुए और इसी के आधार पर इस काव्य का अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए। १८१९ में विल्सन ने संस्कृत शब्दकोश प्रकाशित किया और उसने विष्णु पुराण का अंग्रेजी अनुवाद भी किया। भाषा-विज्ञान पर जो सर्वोत्तम पुस्तकें निकलीं वे जर्मन भाषा से अनुदित हुई थीं।[१०८] इस कार्य का विधिवत्. अनुसंधान विशेषतः फ्रांस और जर्मनी में हुआ।

---

१०६. G.T. Garret (edit) - The Legacy of India, p. 31

१०७. M. Muller- Chips from A German Workshop. Vol. IV, p 379

१०८. एफ. इगरटन का मेघदूत के विषय में मत है कि 'यह एक चमत्कारपूर्ण और अत्यन्त सुन्दर प्रेम काव्य है।' ब्रिटेन में बहुत से भारतीय विद्याविद् होते रहे हैं, उनमें से जी.ए. ग्रियर्सन, सर मोलिए विलियम्स, ए.ए. मैकडोनल, आर.टी. ग्रिफिथिस, एफ. डब्ल्यू टॉमस, रैप्सन, ए.वी. कीथ, सर रैल्फ एल. टर्नर, सर हैरोल्ड डब्ल्यू वेली और टी. बरो का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

❑ फ्रांस पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

फ्रांस भी भारतीय संस्कृति में अधिक रुचि लेने लगा और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में वहाँ व्यवस्थित रूप में शोधकार्य आरम्भ हो गया। १७१८ में फ्रांस के बादशाह का पुस्तकालयाध्यक्ष विगनन भारतीय संस्कृति से इतना प्रभावित हो उठे कि उन्होंने अपने यात्रियों से कहा कि भारत में तथा ऐसे देशों में जहाँ भारतीय संस्कृति प्रचलित हो, जितनी व्याकरण एवं कोश की पुस्तकें मिलें उन्हें खरीद लायें और अन्य महत्त्वपूर्ण भारतीय ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त करें। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से पदाधिकारी, स्थायी निवासी, पादरी और व्यापारी लोग भारतीय ग्रंथ बटोरने लगे। कालमेन नामक धर्म प्रचाकर ने ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की प्रतिलिपियाँ प्राप्त कर लीं। ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण की प्रति सर्वप्रथम १७३१ में पेरिस भेजी गई। उन्हीं दिनों इटली के पादरी बेहची ने तत्कालीन दक्षिण और पूर्व भारत में बहुप्रचलित गंगेश कृत 'तत्त्वचिन्तामणि', एक तमिल व्याकरण और कोश एवं कुछ अन्य तमिल ग्रन्थ भी फ्रांस भेजे। बंगाल से बहुत सी पुस्तकें पेरिस गईं। चन्द्रनगर में नियुक्त पेयर पोन संस्कृत साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों की मुख्य कृतियाँ एकत्रित करने में सफल रहे। समय की दृष्टि से उनका बनाया १६८ ग्रन्थों का सूचीपत्र आश्चर्यजनक रीति से शुद्ध था। यों तो पोन स्वयं भी संस्कृतज्ञ थे, परन्तु ग्रन्थ संग्रह करने में बहुत से भारतीय विद्वानों ने भी उनकी सहायता की। उनके संग्रह में लैटिन भाषा में लिखित 'संक्षिप्त सार' पर आधारित उनका लिखा संस्कृत व्याकरण और अमरकोश के लैटिन अनुवाद की पाण्डुलिपियाँ भी थीं। इन लोगों के अथक परिश्रम का ही फल था कि संस्कृत साहित्य का प्रथम मुद्रित सूचीपत्र पेरिस से १७३९ में प्रकाशित हुआ। १७४० में पोन ने संस्कृत साहित्य के विषय में एक विशेष रिपोर्ट प्रकाशित की।

फ्रांस निवासियों को भारतीय विचारधारा और इतिहास की जानकारी अरबी, फारसी, चीनी, ग्रीक, और लेटिन पुस्तकों से होती रहती थी। भारतीय सामग्री संग्रह करने का काम जारी रहा और जोसेफ देगुइने ने पर्याप्त सामग्री जुटा ली। वस्तुत: देगुइने चीनी विद्या का विद्वान् थे और उन्होंने हूणों का वृहद् इतिहास भी लिखा था। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि भारती तिथिक्रम का आधार निश्चित करने में थी। इस कार्य में उनको पाण्डिचेरी के तमिल विद्वान् मारिदास पिल्लै, जो लेटिन और फ्रेंच भाषाओं का भी अच्छा जानकार थे, का अमूल्य सहयोग मिला। भारतीय ज्योतिष का सर्वप्रथम विवरण देने वाले ज्योतिषी ल जेन्तिल ने लिखा है कि वह स्वयं मारिदास पिल्लै और पाण्डिचेरी के अन्य विद्वानों का कृतज्ञ शिष्य

था।[१०९] उनके द्वारा किये गये कुछ अनुवादों और भारतीय ग्रन्थों के विश्लेषण का फ्रांसीसी विद्वानों ने उपयोग किया। सूर्यवंश और चन्द्रवंश की वंशावली 'ममायर्स द ले अकादमी दे इन्सक्रिपशियों एस बेल लेत्र' में प्रकाशित हुई थी और इसी को बाद में सर विलियम जोन्स ने पुनः खोज निकाला था। प्रायः इसी समय एनक्वेति द्रयु पेरों (१७३१-१८०५) भारत आए और १७३६ में मुगल शाहजादा दारा शिकोह द्वारा फारसी में अनुदित उपनिषदों के आधार पर उन्होंने उनका प्रथम यूरोपीय अनुवाद लैटिन भाषा में किया। १७५४ में तेईस वर्षीय युवा द्यू पेरों ने बॉडलियन पुस्तकालय में एक अपूर्ण और रहस्यमय पाण्डुलिपि देखी। वह इसके प्रति इतना आकर्षित हुए कि वह तत्काल भारत की ओर रवाना हो गए। वे कठिन मेहनत और अथक लगन से पचास उपनिषदों के लेटिन अनुवाद में जुटा गया। यह कार्य १७९६ में पूरा हो गया। उपनिषदों के इस अनुवाद का यूरोप वालों पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा। विल्किन्स द्वारा भगवद्गीता और द्यू पेरों के द्वारा उपनिषदों के अनुवाद, ऑपनिखते से पाश्चात्य विचारकों को भारतीय दर्शन के मूल ग्रंथों के पाठ उपलब्ध हो गये। द्यू पेरों संस्कृत नहीं जानते थे, परन्तु उनका अशुद्ध अनुवाद भी यूरोपीय साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन सिद्ध हुआ। इस ओर जर्मन दार्शनिक शेलिंग का और फिर शॉपेन हॉवर का भी ध्यान आकर्षित हुआ, जिन्होंने १८१३ में इसकी प्रशंसा में कहा 'यह मानव की उच्चतम बुद्धि का प्राकट्य है।' उन्होंने इस औपनिषदिक आदर्श वाक्य को ग्रहण किया 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

फ्रांस में जब भारतीय साहित्य के विषय में चेतना आई तो वहाँ पहले से ही ऐसे अध्ययन की परम्परा मौजूद थी जिसमें भारतीय विद्या का स्थान सरलता से बन गया। भारतीय क्षेत्र पर फ्रेंच अधिकार और फिर इण्डोचीन पर आधिपत्य ने भारतीय विद्या में फ्रांस की अभिरुचि को और भी बलवती बना दिया। फारसी का कृतसंकल्प विद्वान् लिओनार्ड दे चेपी तो विलीयम जोन्स कृत 'शाकुन्तल' के अनुवाद का ऐसा प्रशंसक बन गए कि उन्हें मूल कृति को पढ़ने की इच्छा हुई। पोन कृत व्याकरण 'अमरकोश' और विल्किन्स रचित 'हितोपदेश' के माध्यम से उन्होंने संस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया। लिओनार्ड द शेजी ने भी अन्य समसामयिक विचारकों की भाँति यह अनुभव किया कि भारतीय संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों से परिचित होना चाहिए। इसलिए फ्रांस में भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने हेतु एक प्रबल दल बन गया। इसके फलस्वरूप १८१४ में वहाँ शेजी के लिए संस्कृत प्रोफेसर पद की स्थापन हुई। ये नये पद १८१४ के संकट काल और वाटरलू के मध्य

१०९. Jean Feelioza- Indian Studies Abroad, p. 8

स्थापित हुए थे जब समस्त देश में राजनीतिक संघर्ष और सैनिक लड़ाइयों का जोर था। उससे संस्कृत के व्यापक प्रभाव की जानकारी मिलती है। द शेजी का १८३२ में हैजे से मृत्यु हो गई परन्तु उनकी परम्परा उसके साथ समाप्त नहीं हुई। द शेजी के बहुत से प्रतिभाशाली शिष्यों में दो जर्मन थे, एक इण्डो-यूरोपियन तुलनात्मक भाषा विज्ञान का जन्मदाता फ्रेंच बॉप और दूसरा ऑगस्ट श्लेगल। उनके फ्रांसीसी शिष्यों में ल्वायसेल्यू देलांग शैम्प हुए जिन्होने 'मनुस्मृति' और 'अमरकोश' प्रकाशित किया। दूसरे शिष्य लैंगल्वा ने 'ऋग्वेद' और 'हरिवंश' के मूल पाठों से सीधा अनुवाद किया। परन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यूजीन बरनॉफ हुए जिनके बहुत से सुप्रसिद्ध शिष्यों में मैक्समूलर भी था।

यूजीन बरनॉफ के पिता जीन जुई बरनॉफ, शेजी के शिष्य और उच्चस्तरीय विद्वानों में थे, जो यह अनुभव करते थे कि यूरोपीय भाषाओं में रूप विधान के अध्ययन में संस्कृत से तुलना करने पर बहुत उन्नति हो सकती है। यूजीन बरनॉफ अपने संस्कृत ज्ञान के बल पर पाली समझने लगे थे और अवेस्ता के नियमों एवं संस्कृत के साथ उसके सम्बन्धों को खोज सके थे। १८३६ में क्रिश्चियन लैसेन के साथ उनका लेख 'ऐन एसे ऑन पाली' प्रकाशित हुआ, जिसमें पाली और संस्कृत के सम्बन्धों का विवरण था। लैसेन आगे चलकर अग्रणी जर्मन भारतीय विद्याविद् हुए। बरनॉफ ने केवल संस्कृत में ही शोध नहीं किया अपितु रायल लाइब्रेरी में लगभग एक शताब्दी से दबे पड़े मूल वैदिक साहित्य को भी खोज निकाला। उन्होंने १८४० में भागवत् पुराण का फ्रेंच अनुवाद किया। इस प्रकार उनके प्रयासों से यूरोप में भारतीय साहित्य और संस्कृति के अध्ययन की बहुत प्रगति हुई। वे शेजी के स्थान पर १८३२ में संस्कृत प्राध्यापक नियुक्त हुए। उनकी मान्यता थी कि फ्रांस में भारतीय संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा और लोग भारतीय साहित्य को आदरपूर्वक देखते एवं रुचिपूर्वक पढ़ते थे। इस तरह फ्रेंच विद्वान् भारतीय विचारधारा में रस लेने लगे। बरनॉफ के सहकर्मी बार्थेलेमि द संत हेलारी, जो दार्शनिक तथा अरस्तू का अनुवादक थे, ने भारतीय दर्शन की न्याय और सांख्य शाखाओं पर अपना महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित कराया। बरनॉफ ने मैक्समूलर को ऋग्वेद छपवाने एवं रुडॉल्फ रॉथ और एडॉल्फ रेगनिए को इसकी व्याख्या करने में सहायता की। बार्थेलेमि द संत हेलारी के शिष्य ने, सार्डिनिया के राजा की आर्थिक सहायता से पाँच जिल्दों में 'रामायण' का संस्करण निकाला। उन्होंने इसके दो इतालवी अनुवाद भी प्रकाशित किए। फुशे ने भर्तृहरिकृत 'रावण का वध' महाकाव्य, जयदेव के 'गीत गोविन्द', कालीदास की समस्त कृतियों, दण्डी के 'दशकुमार चरित', माघ के 'शिशुपालवध', शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक, सम्पूर्ण 'रामायण' और 'महाभारत' के आद्य नौ पर्वों का फ्रेंच

में अनुवाद किया। फुशे कृत 'रामायण' के अनुवाद को १८६३ में पढ़कर फ्रेंच इतिहास लेखक मिचले ने कहा था 'यह वर्ष सदा के लिए प्रिय और चिर मधुर स्मृति का रहेगा, मुझे पहली बार भारत के पवित्र महाकाव्य दिव्य रामायण को पढ़ने का अवसर मिला। यदि किसी ने भावनाओं की ताजगी खो दी हो तो उसे इस गहरे चषक से जीवन और यौवन के लम्बे घूँट लेने चाहिए।'

१८६८ में 'इकोल देहॉत एत्युदे' की स्थापना के बाद भारतीय विद्या अध्ययनक लिए एक नया केन्द्र खुल गया। अन्य बहुत से फ्रेंच संस्कृत विद्वानों में मुख्य रूप से भारतीय काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र पर कार्य करने वालों में से पॉली रेनॉल्ड, हावेन बेनाल, आगस्त बार्थ, एबेल बरगाइन और एमिली सेनार्त्त थे। बार्थ ने अपने जीवन के चालीस वर्ष भारतीय धर्मों का उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने तथा भारतीय विद्या के विविध क्षेत्रों में प्रकाशित ग्रन्थों की समालोचना करने में व्यतीत किया। बरगाइन ने एक युगान्तरकारी पुस्तक 'द वैदिक रिलीजन एकॉर्डिंग टु द हिम्न्स ऑफ द संहिता ऑफ द ऋग्वेद' लिखा। इसके बाद उन्होंने और भी पुस्तकों की रचना की, जिसमें 'रिसर्चेज ऑन द संहिता ऑफ द ऋग्वेद' उल्लेखनीय है। उन्होंने ऋग्वेद की ऋचाओं के प्रति किये गये प्राकृतिक शक्तियों के स्तवन के विरुद्ध यथार्थ चित्रण किया, जिससे यूरोपीय जगत् में क्रान्ति उठ खड़ी हुई। बरगाइन ने सोरब्रोन में संस्कृत का अध्यापन आरम्भ किया। बरगाइन वैदिक और संस्कृत का विद्वान् था और वहाँ बाद में भारतीय संस्कृति के अध्ययन में जुट गया। बरगाइन एवं बार्थ ने कम्बोडिया और इण्डोचीन से प्राप्त विशुद्ध संस्कृत एवं काव्यशैली में अलंकृत बहुत से शिलालेखों को पाठोद्धार और अर्थोद्घाटन किया था। इस प्रकार फ्रेंच विद्वानों ने भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का विस्तृत अध्ययन एवं अन्वेषण किया।

कॉलेज द फ्रांस में संस्कृत के प्रोफेसर फौकोक्स और लियोफेअर ने संस्कृत विषयों का अध्ययन किया। लियोफेअर ने बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। फ्रांसीसियों की दिलचस्पी भारतीय कला में भी हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लांग ने 'द मान्यूमेंट्स ऑफ हिन्दुस्तान' नामक वृहत् संकलन प्रकाशित किया था। बाद में ऐमिली गीमे ने पहले लियो और फिर पेरिस में संग्रहालय स्थापित किया। म्यूजे गीमे के नाम से प्रसिद्ध इस संग्रहालय में भारतीय पुरातत्त्वों की विशेषता को रेखांकित किया गया है। फ्रांसवासियों एवं विद्वानों को भारतीय संस्कृति ने इतना प्रभावित किया कि किसी भी संस्कृति के मूल्यांकन में उन्हें भारत का सहारा लेना पड़ता था। १८९४ में बरगाइन के शिष्य सिल्वां लेवी, कॉलेज द फ्रांस

में संस्कृत प्रोफसर के पद पर नियुक्त हुए एवं उन्होंने संस्कृत के अध्ययन को व्यापक बनाया। सोरवों में विक्टर हेनरी के स्थान पर नियुक्त होने से पहले एल्बर्ट फुशे भारत आए थे। वे पक्का मानवतावादी तथा संस्कृत साहित्य, व्याकरण, दर्शन और पुरातत्त्व का भक्त थे। ज्यूख बलाख ने पहले पेरिस में सिल्वा लेवी, प्रसिद्ध भाषा और वैज्ञानिक मीलेट और तमिल विशेष विन्सन के पास अध्ययन किया, फिर वे आधुनिक भारतीय भाषा शास्त्र के अध्ययन हेतु इकोल फ्रांस द एक्सत्रिम ओरयन्त के सदस्य के रूप में भारत आए और यहाँ उन्होंने भारतीय विद्वान् आर.सी. भण्डारकर के साथ कार्य किया।

बेल्जियन विद्वान् जुई द ला वैली पुसिन (१८६९-१९३८) ने ऐमिली सेनार्त्त और सेल्वा लेवी के पास अध्ययन किया और तीन खण्डों में 'हिस्त्वॉयर द मोंद' ग्रन्थ की रचना की, जिनमें प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास का सम्पूर्ण वृतान्त अंकित है। यह विशिष्ट विद्वतापूर्ण ग्रन्थ माना जाता है।

प्रमुख फ्रेंच भारतीय विद्याशास्त्री लुई रेनों ने वैदिक ग्रन्थानुक्रमणिका, वेदानुक्रमणिका, संस्कृत फ्रेंच डिक्शनरी और पाणिनी व्याकरण का अध्ययन किया। जीन फिलियोजा, जिन्होंने भारतीय विज्ञान के इतिहास को बहुत योगदान किया है, कई वर्षों तक पाण्डिचेरी में इस क्षेत्र में कार्य किया है। वे एक कुशल चिकित्सक और सुयोग्य भाषाशास्त्री थे। उनमें भारतीय औषधियों का अध्ययन करने की अद्‌भुत क्षमता थी। उनकी पुस्तक 'द क्लासिकल डाक्ट्रिन ऑफ इण्डियन मेडिसिन्स' में इसका विशद् विवरण मिलता है। भारतीय क्षेत्रों पर अधिकार समाप्त हो जाने के बाद भी भारतीय अध्ययन में फ्रांसीसियों की अभिरुचि बनी रही। भारत की सहमति से उन्होंने पाण्डिचेरी में भारतीय जीवन और संस्कृति का अध्ययन जारी रखने के लिए केन्द्र खोला। फ्रांस के पश्चात् जर्मनी तो जैसे भारत से इस तरह प्रभावित हुआ कि इसे यूरोप का आर्यावर्त कहा जाता है।

❑ यूरोप का आर्यावर्त-जर्मनी

जिस लगन, परिश्रम और मनोयोग के साथ पिछली शताब्दियों में जर्मन मनीषियों द्वारा आर्य-साहित्य की खोज की गई है वह अनोखी है। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में वेद का अनुवाद होने का श्रेय जर्मनी को ही मिलेगा। वेदों की ज्ञान गरिमा और महत्ता से विज्ञ समाज को परिचित कराने, विस्तृत करने में जर्मनी विद्वान् प्रो. मैक्समूलर ने असाधारण श्रम और मनोयोग नियोजित किया है। संस्कृत भाषा के इस महापण्डित ने ऋग्वेद का अनुवाद किया। वह सन् १७९४ में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने वेद वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रकाश

में लाने के लिए अन्य कई गवेषणा भरे ग्रन्थ लिखा है। 'सीक्रेट बुक ऑफ दि ईस्ट' पुस्तकमाला के अन्तर्गत इनका प्रकाशन हुआ है और वह शोध निबन्धों में प्राच्य विद्या के सम्बन्ध में बहुत ही प्रामाणिक माने जाते हैं। वेद के इतिहास पर उनका 'गोट्नेगन' ग्रन्थ खोजपूर्ण है।

प्रो. मैक्समूलर के ग्रन्थों का सार सन् १८३८ में डॉ. रोसेन ने प्रकाशित किया।[११०] इसके बाद कितने ही जर्मन विद्वानों की रुचि वैदिक साहित्य की ओर बढ़ी और उन्होंने कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। हेन्रिक स्तिमरा का सन् १८७९ में प्रकाशित 'प्राचीन भारतीय जीवन और वैदिक युग में आर्यों की आध्यात्मिक संस्कृति' पठनीय है। हैरमण्ड ओल्डेन का 'वेद धर्म' पुरातन भारत की आध्यात्मिक जीवनचर्या पर प्रकाश डालता है। सन् १८९१ में अल्फ्रेड हिलीब्रैण्ड का 'भारतीय देवताओं की सामाजिक भूमिका' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। सन् १९२७ से १९२९ तक जर्मनी की प्रकाशन संस्थाओं ने वेदों के कई संस्करण छापे। 'वेद और ब्राह्मणत्व' ग्रन्थ जर्मन विद्वान् के.एल. गोल्डनर ने लिखा। हैफमैन का 'दि विजडम ऑफ दि वेदाज' में जर्मनी और भारतीय संस्कृति का तुलनात्मक और समन्वयात्मक विश्लेषण किया गया है। हैरमन लसमेल का 'दि ओल्ड आर्यन दि काइण्ड एण्ड देयर गाइड्स' ग्रन्थ १९३५ में प्रकाशित हुआ और उसमें वेदकालीन भारतीय गौरव गरिमा पर प्रकाश डाला। हरमैन ब्रथट के 'दि हाउस ऑफ द अर्थ' ग्रन्थ में वेद साहित्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत होने वाली अनेक शंकाओं और जिज्ञासाओं का सारगर्भित समाधान है। सन् १८८८ में प्राग के कार्ल विश्वविद्यालय में ऋग्वेद छः खण्डों में प्रकाशित हुआ। इसे उच्चारण की दृष्टि से बहुत प्रामाणिक माना जाता है। १९१३ में के.एल. गोल्डनर का ऋग्वेद का अनुवाद दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। ऋग्वेद के काल और इतिहास के सम्बन्ध में एक गवेषणात्मक 'माइल्ट' ग्रन्थ भ्रूष्ट ने प्रकाशित कराया था।[१११] अथर्ववेद का जर्मन भाषा में अनुवाद फ्रेडरिक ने किया जो सन् १९२३ में छपा। जूलियस ग्रिल का आयुर्वेद का अनुवाद पूरा तो नहीं हुआ है पर जितना भी अंश छपा है, माननीय है। ग्रिल ने अथर्ववेद के कुछ अंश का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया है जो सन् १८७९ में प्रकाशित हुआ था।

संस्कृत विद्वान् पाल डेनसन ने '१६ उपनिषदें' नामक ग्रन्थ छपवाया, पर

---

११०. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. ६३

१११. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. ६४

इतने से ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। पीछे उन्होंने 'उपनिषदों की दार्शनिकता' पर प्रकाश डालने वाला वृहद् ग्रन्थ लिखा और सन् १९२१ में प्रकाशित कराया। उन्हीं दिनों विद्वान् हिल ब्रोथ ने 'भरतीय ब्राह्मण और उपनिषद्' ग्रन्थ प्रकाशित कराया। ब्रोथ का शोध कार्य जारी रहा और उन्होंने १९५१ में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'दि ब्रोथ ऑफ द एटलेल' छपाया। इन ग्रन्थों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि लेखकों को भारतीय धर्म एवं संस्कृति में कितनी गहरी दिलचस्पी थी और उन्होंने तत्सम्बन्धी ज्ञान का उद्घाटन करने के लिए कितना अधिक श्रम किया। इसी क्रम में ए. हिल्ले ब्राण्डट् लिखित 'वेदिशे माइथालोजी' ग्रन्थ वेद-साहित्य पर अच्छा प्रकाश डालता है। ओल्डेन वर्ग, मैक्डानेल, रिचर्ड पिसेल, एल. अल्सफर्ड, हेनरी ल्यूडर्स ने वेद साहित्स में से एक से बढ़कर एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ ग्रन्थ जन साधारण के सम्मुख प्रस्तुत किये। प्रो. शेक्टेलोविम ने वैदिक सूक्तों की ऐसी सुन्दर व्याख्या की जिसे पढ़कर पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान इस अद्‌भुत ज्ञान की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। मार्टिन हाग, एच ओर्टल, जुलियस एगलिंग ने ब्राह्मण गन्थों पर शोध कार्य किया। शतपथ ब्राह्मण जैसा विशाल ग्रन्थ जर्मन भाषा में 'सैक्रीड बुक ऑफ द ईस्ट' सीरीज के अन्तर्गत चार सीरीज में छपा है। हर्मन आल्डेन वर्ग ने 'दि वेल्टा शायुजु देर ब्राह्मण टेक्स्टे' में ब्राह्मण ग्रन्थों पर शोधपूर्ण निबन्ध लिखा है। विल्हेम राड लिखित 'स्टाट उष्ठ गोसिल्स शथ्ट इन आल्टेन इण्डियन' ग्रन्थ में ब्राह्मण ग्रन्थों के दर्शन पर गम्भीर प्रकाश डाला गया है। कार्ल हॉफमेन का अधिकांश समय ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसंधान में ही बीता।

'एकङ वटिल ड्यूपेरिन' का सम्पादित '५० उपनिषदों का संकलन' जर्मन प्रदेश में बड़े चाव से पढ़ा गया। आर्थर शोपेन हावर, ओटो बोथा लिकङ्, हिल्ले ग्राण्डट, योहाल्लेस हर्टेल, एडवर्ड एअर ने उपनिषदों की विवेचना पर सारगर्भित ग्रन्थ लिखे हैं। प्रो. पालड्यून का ६० उपनिषदों की समीक्षा सहित ग्रन्थ 'दि फिलासफी देर उपनिषद्स' पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे इस महान् दर्शन से कितने अधिक प्रभावित थे। उन्होंने अपना नाम बदलकर 'देवसेन' रख लिया था। उपनिषद् साहित्य पर ओल्डेन वर्ग का 'दि लेअरे देर उपनिषदेन एण्ड द आन फ्राइडो देज बुद्धिज्यूस' तथा जैकोबी का 'दि एण्ड विल्लुंग देर गाटेस डी वी देन इण्डर्न' भी उल्लेखनीय है। पुराणों पर समीक्षात्मक तथा गवेषणात्मक ग्रन्थ भी छापे गये हैं। ज्यूरिथ का पुराणों का जर्मन अनुवाद छापा गया और उसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। हाइनरिथ जिमर का 'भारतीय पुराण' सन् १९३६ में छपा था। इसे पढ़ने पर पुराणें के काल, उद्देश्य और आधार पर नवीन दृष्टिकोण उपलब्ध होता है।[११२] एफ

११२. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग १, पृ. ६५

फनसेकर का ग्रंथ 'गंगा की कथा', 'भारतीय दर्शन' आदि भारतीय संस्कृति के प्रभाव को रेखांकित करते हैं। विक्टन निल्स का 'प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास' भी काफी प्रसिद्ध हुआ। जोहान जैकब मेयर ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनुवाद किया, जो १९२६ में प्रकाशित हुआ। रिचार्ड स्मिथ ने वात्स्यायन के कामसूत्र का अनुवाद किया और वह सन् १८९७ में प्रकाशित हुआ।

डॉ. कीलहर्न संस्कृत व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत आये और वे सफल हुए। इससे पूर्व और भी कई जर्मन विद्वान् इस दिशा में प्रयास कर चुके थे। इनमें आटो बोथलिंक, अल्वट वेवर, थियोडोर, गौल्ड स्टकर, जे एगलिंग, वी. लेविख, आर फ्राँकि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने भी संस्कृत व्याकरण को जर्मन भाषा में प्रस्तुत करने के लिए घोर परिश्रम किया था। कीलहर्न ने उन प्रयत्नों में एक सुनहरी कड़ी और जोड़ दी। उन्होंने पतंजलि महाभाष्य पर एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। वे भारत में बहुत दिनों तक अध्ययन करने के उपरान्त जर्मनी लौट गये और वहाँ उन्होंने मैक्समूलर के साथ वेदों के अनवाद कार्य में सहयोग दिया। जर्मनी के गार्टिजन विश्वविद्यालय में वे संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ आर्यन रिसर्च' नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया जो अनेक जानकारियों से परिपूर्ण था। संस्कृत व्याकरण पर जर्मन भाषा में दो और भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है एडल्फ स्टेंजलर कृत 'एलीमेण्टर बुख दो संस्कृत स्प्राखें' और जैकब बाकर नागेल रचित 'आलटियडशे ग्रेमेटिका'। इन ग्रन्थों ने जर्मन विद्वानों का संस्कृत साहित्य के अध्ययन हेतु नूतन पथ प्रशस्त किया। जर्मन के दार्शनिक काण्ट, हीगल, शोपेन हावर, गेटे, शिलर, हेरमेन हेस आदि के विचारों पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है।[११३]

१८०८ में दार्शनिक श्लेगल ने अपनी पुस्तक 'डबेर डाई स्प्रशे एण्ड विशिट दर इन्देर' भारतीयों की भाषा और बुद्धिमत्ता के विषय में लिखी और जर्मनी में भारतीय भाषा शास्त्र के अध्ययन का संस्थापक बन गए। उनकी इस कृति में संस्कृत मूल पाठों का सीधा जर्मन अनुवाद था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि 'विश्व साहित्य का सही इतिहास भारतीय साहित्य के बिना नहीं लिखा जा सकता।' अतः उनका भाई ऑकस्त विल्हेल्प वॉन श्लेगल (१७६७-१८४५) उनसे भी अधिक सक्रिय रूप में संस्कृत का अध्येता बन गए। उन्होंने बॉन में एक संस्कृत प्रेस उस समय आरम्भ की जब भारत में संस्कृत का मुद्रण आरम्भ ही हुआ था। उन्होंने अपने प्रथम

---

११३. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य- समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान, भाग १, पृ. ६७

ग्रन्थ 'भगवद्गीता' को स्वयं ही कम्पोज किया था। गेटे के अंशदान के आधार पर उन्होंने 'रामायण' के समीक्षात्मक संस्करण को भी आरम्भ किया था। फ्रैंज बॉप (१७९१-१८६९) ने भी संस्कृत पढ़ी। श्लेगल बंधुओं के विपरीत, वे साहित्य की अपेक्षा भाषा का अधिक प्रेमी थे। बर्लिन विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राध्यापक के रूप में उन्होंने १८१६ में 'आन द कांजुगेशनल सिस्टम ऑफ द संस्कृत लैंग्वेज इन कम्पेरिजन विद दैट ऑफ द ग्रीक, लैटिन, पर्सियन एण्ड जर्मनिक लैंग्वेज' पुस्तक प्रकाशित की और इस प्रकार तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अध्ययन पर नींव रखी। इसके अतिरिक्त बॉप ने महाभारत के चुने हुए उपाख्यान विशेषत: नलोपाख्यान का जर्मन एवं लैटिन में अनुवाद करके १८१९ में प्रकाशित कराया। एल्वेतिल द्यूपेरों के फारसी से लैटिन में अनूदित उपनिषदों के विषय में उनको अच्छी जानकारी थी। भारत के प्रतिभाशाली भाषाशास्त्री राममोहन राय के कुछ उपनिषदों के मूल संस्कृत पाठ का सम्पादन करके उनका अंग्रेजी अनुवाद १८१६-१७ में प्रकाशित किया। अन्य बहुत से भारतीय विद्या के अध्येयताओं ने भी महाभारत में से क्रियात्मक लेखों का उद्धार किया।[११४] इस प्रकार वेदों का वास्तविक भाषा वैज्ञानिक शोध १८३८ में आरम्भ हुआ, जब एक जर्मन विद्वान फ्रेडरिक रोजेन ने ऋग्वेद के प्रथम आठ भाग लन्दन से प्रकाशित किए। भारतीय अध्ययन क्षेत्र में मूलर का प्रभाव, विस्तृत, गहरा और चिरस्थायी था। यथा जब उन्होंने बताया कि पूरे संस्कृत साहित्य में सिकन्दर का कहीं भी उल्लेख नहीं है, तो इतिहास लेखकों को विवश होकर उस हमले के विषय में अपने पहले लिखे हुए वृतान्तों को बदलना पड़ा।[११५]

वैदिक ऋचाओं की खोज ने नये तुलनात्मक मिथक-विज्ञान को जन्म दिया। १८५९ में थियोडोर बेनफे ने भारतीय कथा संग्रह 'पंचतंत्र' का सम्पादन करके एक साहित्यिक क्रान्ति ला दी। उन्होंने अपने सूक्ष्मतर अन्वेषण द्वारा यह बतला दिया कि भारतीय कहानियाँ किस प्रकार क्रमश: पहलवी, फारसी, अरबी, हिब्रू, लैटिन और आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के माध्यम से यात्रा करती हुई यहाँ तक पहुँच गई कि ला फोन्तेन को भी बहुत से अत्यन्त रोचक कथानक मिल गये। १८५२ में ए. वेबर ने 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' पुस्तक जर्मन भाषा में प्रकाशित की जिसमें पहली

---

११४. उदाहरण के लिए हरमैन आल्डेन बर्ग का 'द महाभारत- इट्स ओरिजन, कन्टेण्ट्स एण्ड फार्म' में प्रकाशित। यह अपनी तरह का बहुत विस्तृत और अद्‌भुत ग्रंथ है।

११५. जब मैक्समूलर ऋग्वेद की जिल्दें प्रकाशित करने में व्यस्त था तभी एक अन्य जर्मन विद्वान् और एडिनबर्ग में संस्कृत के प्रोफेसर थियोडोर आफ्रेट (१८२२-१९०७) ने रोमन लिपि में सम्पूर्ण ऋग्वेद का पाठ १८६१-६३ में प्रकाशित किया।

बार भारतीय साहित्य का सुसम्बद्ध इतिहास लिखा गया था। इसके अंग्रेजी अनुवाद के कई संस्करण निकल चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय अध्ययन सम्बन्धी साहित्य इतना अधिक बढ़ गया कि उसको सम्भालना किसी अकेले अध्येयता की सामर्थ्य की बात नहीं रही। परिणामत: इस विषय की विविध शाखाओं का सर्वेक्षण करके एक विश्वकोश तैयार करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अत: बेनफे के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न शिष्य एवं संस्कृत के विद्वान् जार्ज ल्यूहलर (१८३२-९८) के सम्पादन में १८९७ 'काम्पेण्डियम ऑफ इण्डो-आर्यन फिलॉलॉजी एण्ड एक्टीवीटीज़' निकलने लगा। यह सार संग्रह विश्व के तीस मूर्धन्य एवं अग्रणी विद्वानों का ऐसा सम्मिलित प्रयास था जो भारतीय विद्या की विभिन्न शाखाओं का विश्वकोशिय दृष्टिकोण प्रस्तुत करता था। यह प्रकाशन अन्य विद्वानों के सम्पादन में चलता रहा और भारतीय अध्ययन के क्षेत्र में विकास की भूमिका निभाता रहा। बाद में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में विल्सन के उत्तराधिकारी ए.ए. मैकडानल ने 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' प्रकाशित की तथा १९०७ में प्राग में भारतीय विद्या के प्राध्यापक एम. विण्टरनित्ज ने भी जर्मन भाषा में 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' का प्रकाशन किया।

यही वह कारण था जिससे भारतीय संस्कृति से अभिभूत होकर मैक्समूलर कह उठे थे 'भारत के पास यूरोप के लिए आध्यात्मिक संदेश है।' भारतीय चिन्तन एवं दर्शन की प्रशंसा करते हुए उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति दी 'यदि संसार भर में मुझे ऐसे देश की तलाश करनी पड़े जो सभी प्रकार की संभव प्राकृतिक सम्पदा, शक्ति और सौन्दर्य से परिपूर्ण हो अर्थात् किन्हीं अंशों में धरती पर स्वर्ग के समान हो तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा, यदि मुझसे पूछा जाय कि इस नीले आसमान के नीचे वह कौन सा भूभाग है जहाँ मानव मस्तिष्क का पूर्ण विकास हुआ है और जहाँ के लोगों ने बहुत कुछ ईश्वरीय देन को उपलब्ध कर लिया है तथा जीवन की बड़ी से बड़ी समस्याओं पर गम्भीर विचार करके उनमें से बहुतों के ऐसे हल निकाल लिये हैं जिन पर प्लेटो और काण्ट का अध्ययन करने वालों को भी ध्यान देना आवश्यक हो गया है तो मैं सीधा भारत की ओर संकेत करूँगा।'

❑ हालैण्ड में भारतीय संस्कृति का प्रभाव

ईस्ट इण्डीज के साथ व्यापारिक और राजनैतिक सम्बन्धों के कारण हालैण्ड का भारत के साथ सीधा सम्पर्क था। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में बहुत से डच लोगों ने आधुनिक भारतीय भाषाएँ पढ़ी थीं, परन्तु लाइडेन विश्वविद्यालय के हर्बर्ट द जेगर के विषय में ही कहा जाता है कि वह संस्कृत जानता था। लाइडेन

विश्वविद्यालय में प्रथम संस्कृत शिक्षक हमकर थे जिसने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन पर बल दिया। परन्तु संस्कृत अध्ययन की वास्तविक नींव तो उनके प्रमुख शिष्य हेंडरिक केर्न के समय में रखी गई, जिसके कार्यों ने इस दिशा में बहुत कुछ अभिरुचि बढ़ाई। अन्ततोगत्वा १८६५ में लाइडेन विश्वविद्यालय में संस्कृत आसन की स्थापना हुई और केर्न उस पर प्रतिष्ठत हुए। अपना व्यावसायिक जीवन आरम्भ करने से पूर्व केर्न ने इंग्लैण्ड और भारत में शिक्षा पायी थी। उनके प्रकाशनों और शिष्यों के माध्यम से, जिनमें बहुत से प्रख्यात भारतीय विद्याविद् हुए, हालैण्ड में भारतीय विद्याध्ययन में बहुत प्रगति हुई। बाद में हालैण्ड ने स्पेयेर फोगेल, गोंडा, थियोडोर पी. गबेस्टियोस, बॉश और फडेगान जैसे विद्वान् उत्पन्न किये। ये सभी हालैण्ड में भारतीय विद्या का प्रसार किये। आज लाइडेन, उटरेख्ट, ऐम्सटरडम और ग्रॉनिंगेन जैसे संस्कृत विद्वान् वहाँ पर विद्यमान हैं।

❑ इटली में भारतीय विद्या

इटली में भी भारतीय विद्या के व्यवस्थित अध्ययन के लिए रुचि विकसित हुई। इटालियन मिशनरी, व्यापारी और नाव यात्री प्राय: भारत आते रहते थे। इनमें मार्कोपोलो और फ्लोरेंटीन फिलियो सासेती के यात्रा विवरण मुख्य हैं। सासेती ने सबसे पहले इतालवी भाषा और संस्कृत के आपस में सम्बन्ध होने की सम्भावना का उल्लेख किया। यह बात सोलहवीं सदी की है। निकोलो मनूची, फ्लोरेंटीन फ्राँसेस्को, कारलेटी, पियट्रोडेल वले, जिवोवानी फ्रांसेस्को, जमेली करेरी और रोवेर्तो द नोबिली भी इन प्रारम्भिक आधुनिक इटालियन विद्वानों में उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने भारत के विषय में लिखा। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इटली में भारतीय अध्ययन वैज्ञानिक रीति से आरम्भ नहीं हुआ था। वस्तुत: इटली को भारतीय चिन्तन में रुचि लेने की प्रेरणा से जर्मन के रोमानी साहित्य से मिली थी। इतालवी भारतीय विद्या का जनक पिएदमोन्तेस, गैसपेर गौरेसियो था। इस प्रकार इटली भी भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रभाव से अछूता नहीं रहा।

❑ चेकोस्लोवाकिया पर प्रभाव

चेकोस्लोवाकिया में विद्यार्जन की दीर्घकालीन परम्परा रही है, उसी कारण वहाँ पर भारतीय विद्या को प्रमुखता प्राप्त थी। चेक विद्वान् सबसे पहले भारतीय अध्ययन की ओर जेसुइट मिशनरी कैरल प्रिकरिल (१७१८-९५) की कृति द्वारा आकृष्ट हुये थे जो १७४८ में आर्कविशप के सेमिनरी का निदेशक बनकर गोआ आए थे। अपने चौदह वर्ष के भारत प्रवास में उन्होंने मराठी भाषा सीखी और कहते हैं,

बहुत सी पुस्तकें लिखी परन्तु उनमें से केवल एक 'प्रिंसपिआ लिंगुआ ब्रह्माणिका'[११६] ही बची है। प्रिकरिल की पुस्तकों से प्रेरित होकर भाषा विज्ञानी और इतिहास लेखक जोसेफ डोबरोवस्की ने अठारहवीं शताब्दी के अन्त में संस्कृत पढ़ी और यह मत व्यक्त किया कि बहुत से भारतीय और स्लाव शब्दों और रूपों में साम्य है। १८१२ में जोसेफ जुगमान ने भारतीय छन्दशास्त्र और छन्दों पर पुस्तक लिखी और नौ वर्ष के पश्चात् उसके भाई एण्टोनिन जुंगमान ने चेक भाषा में संस्कृत-व्याकरण प्रकाशित किया।

अन्य अनेक तुलनात्मक भाषा विज्ञान विशारदों में जोसेफ जुबाती ने संस्कृत अध्ययन में विशिष्ट योगदान किया। उन्होंने संस्कृत भाषा विज्ञान, वैदिक साहित्य के इतिहास, संस्कृत महाकाव्यों और नाट्य साहित्य पर प्रकाश डाला। १८८८ में उन्होंने अपनी पुस्तक 'क्वालिटेटिव चेंजेंज इन द फाइनल सिलेबल इन वैदिक' और दो वर्ष बाद भारतीय छन्दों के अध्ययन पर 'द कन्सट्रक्शन ऑफ त्रिसतुम एण्ड जगती सर्वेस इन द महाभारत' पर एक अध्ययन प्रकाशित किया। जुबानी का गुरु अल्फ्रेड लुडविग (१८३७-१९१२) और मोरिज विंटरनित्ज (१८३६-१९३७) पहले विद्वान् थे जिन्होंने भारतीय अध्ययन को तुलनात्मक भाषा विज्ञान से विशुद्ध भारतीय विद्या की ओर अग्रसर किया। लुडविग का भाषा शास्त्रीय अध्ययन महत्त्वपूर्ण था, परन्तु वह अपने ऋग्वेद के जर्मन अनुवाद की प्राग से १८७६-८८ में प्रकाशित छः जिल्दों और भारतीय क्लासिकल साहित्य अध्ययन के लिए प्रसिद्ध है। वे द्राविड़ी भाषाओं का भी अध्ययन करने वाला प्रथम चेक विद्वान् थे।[११७] प्राग विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या-आसन पर लुडविग के बाद विंटरनित्ज नियुक्त हुए और कई दशकों तक उस पद पर बने रहे। उसके जर्मन भाषा में प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' के तीन भागों में से दो का अंग्रेजी अनुवाद १९२७-३३ में छपा और भारतीय साहित्य पर अनेक संक्षिप्त निबन्धों का संग्रह 'सम प्राब्लेम्स ऑफ इण्डियन लिटरेचर' शीर्षक कलकत्ता से १९२५ में प्रकाशित हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के बाद प्राग के चार्ल्स विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या के नये पद की स्थापना हुई। इसका प्रथम अध्यक्ष विंसर्स लेस्नी (१८८२-१९५३) भारतीय एवं ईरानी भाषाओं का विद्वान् थे और वह भारत में सर्वत्र भ्रमण कर अत्यन्त प्रभावित हुए थे। उन्होंने भारत विषयक अनेक पुस्तकें तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर पर भी एक निबन्ध

---

११६. 'ब्राह्मणों का भाषा सिद्धान्त' यह सम्भवतः कोंकणी भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण था।

११७. The Infinitive in Vedic, With the Verb System of Lithunian and the Slav language, published in 1871

लिखा और उनकी अनेक कृतियों का सीधा बंगला से अनुवाद किया। लेस्नी ने द्वितीय महायुद्ध से पूर्व 'द न्यू ईस्ट एण्ड द इण्डियन सोसायटी' नामक पत्रिका की भी शुरूआत की थी।

❑ हंगरी भारतीय संस्कृति के प्रभाव में

भारतीय विचारधारा ने हंगरी के बौद्धिक जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया। ब्रिटिश अफसर ऑरेल स्टाइन (१८६२-१९४३) जो मूलतः हंगेरियन थे, उन्होंने मध्य एशिया में पुरातात्विक सर्वेक्षण और विदेशों में भारतीय संस्कृति के अध्ययन क्षेत्र में व्यापक कार्य किया। बुडापेस्ट में जन्में आस्ट्रिया और जर्मनी में पढ़े ऑरेल स्टाइन ने सेरइण्डिया जाने वाले पुरातात्विक दल का नेता बनकर बाहर जाने तक पंजाब विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। अलेक्जेण्डर सोमा दे कोरस (१७८४-१८४२) पहले हंगेरियन प्राच्यविद्याविद् थे जो बंगाल का एशियाटिक सोसायटी के निमंत्रण पर १८३० में भारत आए थे। इस प्रकार कोरस और टिवाडर ड्यूका (१८२५-१९०८) के कार्यों से हंगरी में भारतीय अध्ययन का आरम्भ हुआ। हंगेरियन भारतीय प्राच्य विद्या के विद्वानों के कुछ उल्लेखनीय नाम इस प्रकार हैं- करोली फिओक (१८५७-१९१५), जिन्होंने कई संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया, सैण्डोर केली (१८६२-१९२०) और जोसेफ शिमट (१८६८-१९३३), जिनके प्रयास से हंगरी निवासियों को भारतीय दर्शन की जानकारी हुई, चार्ल्स जुई फाबरी, जिसके कला एवं सौन्दर्य शास्त्र पर लिखे ग्रंथों से भारतीय विद्वान् भली भाँति परिचित हैं, एरविन बकते (१८९०-१९६३) और फेरेंस होप, जिन्होंने बुडापेस्ट में पूर्व एशियाई कला का संग्रहालय स्थापित किया।

❑ रुमानिया की भारतीय संस्कृति में रुचि

कई रुमानियावासी विद्वान् भी भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट हुए। रुमानिया के 'कृषिलोक गायक' जी कोशवक (१८६६-१९१८) ने १८९७ में जर्मन संस्करण से 'शाकुन्तल' का अनुवाद तथा संस्कृत काव्य-संग्रह तैयार किया। बी.पी. हसदेऊ ने संस्कृत साहित्य की समस्याओं अथवा भाषाशास्त्र का अध्ययन किया। उनका शिष्य लाजार साइनेनु पहला रुमानिया प्राच्यविद् थे, जिसने पेरिस जाकर सोरबों विश्वविद्यालय में एबेल बरगाइने के पास संस्कृत का अध्ययन किया। कान्स टैनटिन जार्जियन (१८५०-१९०४) ने बर्लिन में ए. बेवर के साथ काम किया था। वे पहले रुमानियन प्राच्यविद्या-विशारद थे, जिन्होंने अपने देश में संस्कृत की पढ़ाई शुरू करने का प्रयास किया। अधिकारियों ने संस्कृत अध्यापन को किसी प्रकार से भी स्वीकार नहीं किया इसलिए बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक

रूमानिया में मूल संस्कृत से अनुदित कोई भी भारतीय विद्या का ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ।[११८] परन्तु जब संस्कृत का प्रचलन प्रारम्भ हुआ तो वहाँ इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। अन्य रुमानियन विद्वानों में, जिन्होंने संस्कृत और भारतीय संस्कृति को अपने बौद्धिक अध्ययन का लक्ष्य बनाकर एक साहित्यिक मण्डल स्थापित कर लिया था, वसिल पोगोर, वसिल बुर्ला और त्यौहरी अंटोनेस्क्यू विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अंटोनेस्क्यू द्वारा औपनिषदिक दर्शन पर लिखित पुस्तक रुमानिया में ऐसे विषय के अध्ययन का शुभारम्भ था।

❑ रूस एवं यूरोप के अन्य देशों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

रूस में सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद अन.आई. नोवीकोव ने १७८७ में प्रकाशित किया था। यह संस्कृत से सीधा अनुवाद न होकर विलकिन्स द्वारा भगवद्गीता के अनुवाद का रूसी संस्करण था। बाद में एक रूसी संगीतज्ञ गेरासिम लबैदेव (१७४८-१८१७) भारत में १७८५ से १७८७ तक रहा और उन्होंने बंगाल के रंगमंच के पुनरुत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण काम किया। १८०१ में उन्होंने 'ग्रामर ऑफ प्योर एण्ड मिक्स्ड ईस्ट इण्डियन डायलेक्ट्स विद् डायलॉग्स' और १८०५ में 'ऐन इम्पार्शियल सर्वे ऑफ द सिस्टम ऑफ ब्राह्मैनिकल इस्ट इण्डिया' पुस्तकें प्रकाशित की। जार अलेक्जेण्डर प्रथम के आदेश से उन्होंने पहले पहल देवनागरी अक्षर भी डाले। १८१० में सेण्ट पीट्सबर्ग में एशियन अकादमी की स्थापना हुई और राबर्ट लेंज (१८०८-१८३६) को, जिसने बर्लिन में फ्रेंज बॉप के पास संस्कृत अध्ययन किया था, संस्कृत एवं तुलनात्मक भाषा विज्ञान का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। उनके कार्य को पाव याकोलेविच पेत्रोव ने जारी रखा और बहुत से रूसी भषा शास्त्रियों एवं भारतीय विद्या के अध्येयताओं को शिक्षा दी। इसमें एफ बोर्स्व, एफ.एफ. फोस्चुनेटर और वी.एफ. मिलर के नाम सम्मिलित हैं। उन्होंने 'रामायण' के सीताहरण आख्यान का शब्दार्थ एवं व्याकरण व्युत्पत्ति सहित रूसी भाषा में अनुवाद भी किया। इस प्रकार संस्कृत के अध्ययन का रूसी में बड़ी तेजी से विस्तार हुआ। और वहाँ पर प्रसिद्ध भारतीय विद्याविद् पैदा हुए यथा बी.पी. बसिलयेव (१८१८-१९००) और वी.पी. मीनायेव (१८४०-१८९०)। रूसी भारतीय विद्या विभाग १८५२ और १८७५ के मध्य सेंट पीट्सबर्ग शब्दकोश पहले ही प्रकाशित कर चुका था। संभवत: आल्डेन बर्ग की सबसे बड़ी उपलब्धि पूर्वी तुर्कीस्तान में पुरातात्विक स्थलों की खोज और मध्य एशिया की रूसी वैज्ञानिक छानबीन करने वाले संगठन में योगदान के रूप में थी। टाकलामाकन मरुस्थल के किनारे पर

---

११८. Arion Sesu- Indo-Asian Culture, pp. 189-91

पुरातात्त्विक स्थलों का सबसे पहले पता रूसी अन्वेषकों ने ही लगाया था। जिसमें भारतीय संस्कृति के कुछ अवशेष प्राप्त हुए थे। फेडर इपोलिटोविच श्येरवात्सकी (१८८६-१९४१) ने मीनायवे और ओल्डेन बर्ग के पास सेंट पीट्सबर्ग में संस्कृत का अध्ययन किया था, ब्यूहलर ने वियना में जैकोबी ने वॉन में इस विद्या को प्राप्त किया था। विगत शताब्दी के अंतिम चरण में भारतीय अध्ययन में रूसियों की रुचि और भी विकसित और व्यापक हो गई।

यूरोप के अन्य देशों में भी भारतीय विद्या-विशारदों ने उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनमें से नार्वे के स्टेन कोनोव और जॉर्ज मोरगेनटियर्न, स्वीडन के जार्ल कार्पेण्टियर और हैमर स्मिथ, आयरलैण्ड के माइल्स डिल्लों, पोलेक के डब्ल्यू.एस. मैजेवस्की, जे. लेलेवल, डी.एल. वौस्कोवस्क एवं एस. श्चायर, स्विटजरलैण्ड के हरमान ब्रुन हॉफर, अर्नेस्ट ल्यूमान और जैकोव वोकरनागले और डेनमार्क के फौसबाल प्रसिद्ध हैं।[११९] ये मनीषी एवं विद्वान् भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत साहित्य से इतना प्रभावित हुए कि अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य भाग इस पुनीत कार्य में होम दिया। भारतीय संस्कृति के प्रति इन विद्वानों के अगाध आकर्षण के कारण ही पाश्चात्य जगत् का विचार एवं दर्शन भी प्रभावित हुआ।

पाश्चात्य दर्शन पर भारतीय विचारों की छाप

यूरोप पर ग्रीक साहित्य का आभार तो प्राय: स्वीकार किया जाता है। परन्तु यूरोप की बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति पर भारतीय चिनतन का कितना प्रभाव पड़ा है, उसके विषय पर आधुनिक पीढ़ियाँ कल्पना भी नहीं कर सकतीं। भारतीय साहित्य ने उसे इतनी प्रेरणा दी है कि विद्वानों का मत उद्धृत करते हुए मैकडोनल ने लिखा है 'नव जागरण के बाद विश्व सांस्कृतिक मंच पर यदि कोई सबसे महत्त्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है तो वह है अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई संस्कृत साहित्य की जानकारी।"[१२०] वास्तव में पुनर्जाग्रत् यूरोप के बौद्धिक जीवन पर भारतीय विचारधारा की बहुत गहरी छाप पड़ी है। अपने सांस्कृतिक अस्तित्व को खो देने के भय से यूरोपीय भारतीय दर्शन के प्रभाव को कम या बिलकुल अस्वीकार करने का प्रयत्न करते हैं। यूरोप का सम्पूर्ण राजनैतिक, सामाजिक और बौद्धिक जीवन जब सक्रिय और उलझनपूर्ण रहा तो भारतीय चिन्तन ने उन्हें एक नई दिशा दी। फ्रांस ने

---

११९. विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये- वी. राघवन कृत- "Sanskrit and Allied Indological Studies in Europe", India Stuidies Abroad.

१२०. A.A. Mcdonal- A History of Sanskrit Litterature, p. 1

इस जागरण युग का नेतृत्व किया। साहित्य और दर्शन में अपनी क्षमता का दावा करता हुआ जर्मनी तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। अमेरिका और रूस भी प्रगति के पथ पर थे। इस युग में भारतीय साहित्य और दर्शन की खोज ने महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की।

❑ जर्मनी में भारतीय विचारों का प्रभाव

वस्तुत: भारतीय विचारों के प्रति यूरोप की प्रतिक्रिया प्रत्येक शताब्दी में विचारकों के साथ बदलती रही। यूरोप में कुछ विद्वानों ने भारतीय विचारधारा को तुरन्त अपना लिया, उन्हें यह विचारधारा अपने विचारों को बल देने वाली लगी और दूसरों को यह अपनी परम्पराओं से बच निकलने अथवा भिन्न पथ का अनुसरण करने जैसा कार्य लगा। भारतीय दर्शन और साहित्य का यूरोप में सबसे अच्छा स्वागत जर्मनी में हुआ। 'शाकुन्तल' के सौष्ठव को पहचानने वाले पहले जर्मन विद्वान् जोहान गोटफ्रीड हर्डर (१७४४-१८०३) थे। भारत और उसकी भाषा से अपरिचित होकर भी उन्होंने १७८७ में प्रकाशित अपनी मुख्य कृति 'आइडियाज् ऑन ए फिलॉसॉफी ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ मैनकाइण्ड' में भारतीयों का एक आदर्श चित्र प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार 'मनुष्य जाति के उद्गम की खोज भारत में करनी चाहिए, जहाँ सरलता, शक्ति और विनय जैसे सद्गुणों के साथ बुद्धि ने सर्वप्रथम स्वरूप ग्रहण किया, यदि स्पष्ट कहा जाय तो उसकी समता करने को हमारी यूरोपीय जगत् की जड़ दार्शनिकता में कोई भी वस्तु नहीं है।' इस प्रकार हर्डर और उसके समकालीन लोगों के लिए एक नये क्षेत्र का उद्घाटन हुआ। हर्डर की पुस्तक 'थॉट्स ऑफ सम ब्राह्मणस' (१७९२) में भर्तृहरि शतक, हितोपदेश और भगवद्गीता में चुने हुए स्थलों का स्वतंत्र अनुवाद १९७१ में भेजा तो हर्डर ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया- 'मानव मस्तिष्क की इससे अधिक आनन्दप्रद और कोई कल्पना मुझे नहीं मिली....... पूर्व का एक विकसित पुष्प, सबसे पहला और सुन्दरता में बेजोड़। .....ऐसी कोई वस्तु दो हजार वर्षों में एक बार दिखाई देती है।'

हर्डर के पत्र 'द ओरियण्टल ड्रामा' नाम से प्रकाशित हुए, जिनमें प्रतिपादित किया गया है कि कालीदास की यह सर्वश्रेष्ठ रचना, काव्य, तत्त्व और नायिका के चरित्र चित्रण को देखते हुए विश्व साहित्य में सम्पूर्ण और अपूर्व कृति है। उन्होंने भारतीय नाटक की अपनी इस खोज को तुरन्त ही अपने मित्र जोहान वुल्फगांग वॉन गेटे (१७४९-१८३२) के पास भेजा, जो स्वयं इस नाटक के विषय में बहुत उत्साही थे। गेटे ने अनेक बार शाकुन्तल की प्रशंसा की है।[१२१] लगभग चालीस वर्ष

१२१. क्या तुम एक साथ नव वर्ष के विकसित कुसुम और परिणत फल हो,
जिससे आत्मा मुग्ध, प्रफुल्लित और तृप्त होती है?

बाद जब डि शेजी ने मूल पाठ के साथ अपना फ्रेंच अनुवाद १८३० में उनके पास भेजा तो गेटे ने लिखा 'यह अक्षय कृति मेरे जीवन के एक युग का प्रतीक है, मैं इसमें इतना डूब गया कि तीस वर्ष तक मैंने इसके किसी जर्मन अथवा अंग्रेजी संस्करण की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। ...अब समझ में आया कि इस महान् कृति ने जीवन के आरम्भिक वर्षों में कितना अधिक प्रभावित किया था।'[१२२] गेटे ने प्रशंसा के इन शब्दों में आगे कहा कि कवि इस कृति में अपने उत्कृष्टतम रूप में प्रकट होता है। वह मूल प्राकृतिक अवस्था, अत्यन्त परिष्कृत जीवन पद्धति, नैतिकता के सर्वोच्च शिखर और परमात्मा के शुद्ध ध्यान से प्राप्त होने वाले परम ऐश्वर्य का वर्णन अद्वितीय रूप में करता है। आश्चर्य नहीं कि उसने अपने 'फौस्ट' (१७९७) की प्रस्तावना को 'शाकुन्तल' के आमुख के ही साँचे में ढाला है। गेटे के मित्र शिलर शाकुन्तल की इस उत्साहप्रद प्रशंसा से इसकी ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने शाकुन्तल का कुछ अंश 'थालिया' में प्रकाशित किया और विल्हेम हमबोल्ट को एक पत्र में लिखा कि प्राचीन ग्रीक में विशुद्ध प्रेम की ऐसी कलात्मक अभिव्यक्ति कहीं नहीं हुई है, जैसी कि शाकुन्तल में।

गेटे ने जयदेव रचित 'गीत गोविन्द' और कालीदास कृत 'मेघदूत' के विल्सन कृत अनुवाद (१८१७) को पढ़ा और उनकी 'महान् ज्ञान भण्डार' कहकर प्रशंसा की। गेटे का दूसरा भारतीय बैले 'डेर पारिया' (१८२४) उनकी सर्वोत्तम रचना थी। हर्डर और गेटे शाकुन्तल की प्रशंसा करने में समान रूप से उत्साही थे। हर्डर, नोवालिस और हेन की तरह वह भारत की सरलता, सहजता और आडम्बरहीनता के कायल थे। कवि और कलाकार गेटे भारतीय पुराणों और काव्यों के सुसंगत सौन्दर्य से प्रभावित थे। उनके मन में भारत के प्रति आकर्षण, दृढ़ और गम्भीर प्रशंसा का भाव था। परन्तु भावुक गेटे को भारतीय विचारों का सही स्वरूप मालूम नहीं हो पाने के कारण लिखते हैं 'मैं खोया-खोया सा हो जाता हूँ और फिर एक शक्ति बटोरकर भारत का पूर्व जैसे भाव प्रदान करने की कोशिश करता हूँ।' ऐसे प्रतिभावान विद्वान् को जब तक प्राच्यविद्या दृढ़ आधार के रूप में प्राप्त न होती तब तक वह उसका सहारा लेकर अपनी कल्पना को अपनी कृतियों में कैसे

क्या तुम पृथ्वी और स्वर्ग के शाश्वत संयोग हो ?
ओ शाकुन्तल! तुम्हारा नाम लेते ही यह सब एक बार में कह दिया गया।
- M. Williams (edt.) Shakuntal, Iran. E.B. Eastweak.

१२२. Merion Fowan Harzfeld and C. Melwill seem (Tran.) - Letters from Gete, p. 514

साकार करते।[१२३] कुछ भी हो, पश्चिमी सभ्यता पर भारतीय विचारधारा के आश्चर्यजनक प्रभाव को उन्होंने स्वीकार किया और श्लेगल बन्धुओं एवं बॉप जैसे जर्मन भारतीय विद्याविदों की कृतियों को पढ़कर आनन्द विभोर होते रहे। इस तरह गेटे ने भारतीय विद्या को अनचाहे रोमाण्टिक स्वरूप प्रदान कर दिया। एक ओर शेक्सपियर और दूसरी ओर भारतीय साहित्य ने जर्मन रोमाण्टिक आन्दोलन को प्रेरित किया। इन दोनों का जर्मनी में प्रायः एक ही समय और फ्रेडरिक और ऑगस्ट विल्हेम वॉन श्लेगल द्वारा प्रवेश हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन रोमांटिक भारतीय धर्मों के प्रति भी आकृष्ट होते रहे। पाश्चात्य धार्मिक आलोचना को भारतीय बहुदेववाद से प्रेरणा मिली। श्लेगेल का मत है 'यदि कोई सर्वमान्य भारतीय संस्कृति के मूल में निहित उत्कृष्ट दैवी भावना को समझ लेता है और बिना भेदभाव के इसकी सार्वलौकिकता में प्रत्येक दैवी वस्तु व विचार को ग्रहण कर लेता है, तो जिसे हम यूरोप में धर्म की संज्ञा देते हैं, वह इस नाम के उपर्युक्त नहीं रह जाता है। और वह प्रत्येक धर्मान्वेषी को यही परामर्श देगा कि उसे धर्म दर्शन के लिए भारत जाना चाहिए वहाँ कुछ ऐसे धर्म के अंश अवश्य मिलेंगे, जिन्हें देखने के लिए यूरोप में भटकना व्यर्थ है।'[१२४] भारतीय साहित्य से प्रभावित प्रतिभाशाली भाषा शास्त्री एवं प्रशा के शिक्षा मंत्री विल्हेम वॉन हमबोल्ट (१७६७-१८३५) ने संस्कृत का अध्ययन किया। वे श्लेगल के भगवद्गीता संस्करण से बहुत प्रभावित हुए, उन्होंने उसे गम्भीरता एवं उत्कृष्टतम वस्तु, जिस पर संसार गर्व कर सकता है बताया।[१२५] उन्होंने परमात्मा को जीवन प्रदान करने के लिए धन्यवाद दिया कि वह गीता का अध्ययन कर सका।[१२६] इस प्रकार बीथोवेन अभिलेख संग्रह में प्राप्त अनेक भारतीय चिन्तन सम्बन्धी ग्रन्थों, अनुच्छेदों और टिप्पणियों से स्पष्ट है कि लुडविग वान बीथेवेन (१७७०-१८२७) भी भारतीय दर्शन में रुचि लेता था। भारतीय साहित्य से उसका प्रथम परिचय आस्ट्रियावासी विद्वान् हैमरपर्गस्टाल ने कराया था। बीथोवेन के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह में कुछ उपनिषदों एवं भगवद्गीता के उद्धरण हैं। एरलांगेन विश्वविद्यालय में १८२७-१८४१ तक जर्मन कवि फ्रेडरिक रुकेर्ट (१७८८-१८६६) ने भी ऑगस्ट विल्हेम

---

१२३. Ailex Entons- Europe Look at India, p. 61
१२४. Ibid, p. 54
१२५. Winternitza- A History of Indian Litterature, Vol. I, p. 15
१२६. अवकाश के समय में भारतीय इतिहास पढ़ने वाले अन्य राजनीतिज्ञ भी थे, यथा-फान थीलमान, रोजन, साल्फ आदि।

वान श्लेगेल की प्रेरणा से संस्कृत ग्रन्थ जैसे नलोपाख्यान, अमर-शतक, रघुवंश और गीत गोविन्द आदि बड़ी कुशलता से अनूदित किये। जर्मन कवियों में वही एक ऐसे कवि थे जिन्होंने भारतीय कविता के लक्षणों को भली-भाँति समझा।[१२७]

जर्मनी के एक महान् रोमाण्टिक कवि नोवालिस (१७७२-१८०१) ने अपने निबन्ध 'क्रिस्टेण्डम इन यूरोप' में लिखा है कि भारत जैसा सुन्दर देश है, वैसा ही वहाँ का शुद्ध और चित्रोपम काव्य, जो ठण्डे और फिलीस्तीन निर्जीव काव्य के विपरीत है। वे मानते हैं कि संस्कृत ही गूढ़तम मानव अभिव्यक्ति का भाषाई प्रतीक है। संस्कृत के माध्यम से ही वह मूल मानव तक वापस पहुँचा जो विस्मृत हो चुका था। शेलिंग ने अपनी 'फिलॉसाफी ऑफ माइथालॉजी' में भारत को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वे प्राचीन भारतीय साहित्य विशेषत: उपनिषदों के महान् प्रशंसक थे और शॉपेन हॉवर की तरह उनको भारतीय और मनुष्य जाति के विशुद्ध ज्ञान का भण्डार मानते थे। हेनरिक लेन (१७८७-१८५६) एक परवर्ती रोमाण्टिक गीतकार थे। उन्होंने जर्मनी ही नहीं, वरन् पश्चिम जगत् के अन्य देशों को भी अपनी रचना से प्रभावित किया था। उन्होंने अपनी कल्पना के भारत का वर्णन इस प्रकार किया है 'मैंने दर्पण में प्यारी मातृभूमि को देखा, नीली और पवित्र गंगा, युग-युग से प्रकाशमान हिमालय, विशाल वटवृक्षों से आच्छादित वन जिसके छायादार मार्गों पर हाथी और श्वेत वस्त्रधारी यात्री शान्ति से चलते हैं।'[१२८] उन्होंने अपनी गंगा सम्बन्धी कविता में सुन्दर चित्रण किया है।[१२९] उनका भारतीय कृतियों का ज्ञान घनिष्ट और भावनात्मक था। परन्तु प्राकृतिक दृश्यों के प्रति वे विशेष रूप से आकृष्ट थे जैसा कि उनकी प्रसिद्ध कृति 'बुक ऑफ सांग्स' से ज्ञात होता है। वे कहते थे कि यदि पुर्तगाली, डच और अंग्रेज जर्मन से खजाना भर-भर कर जहाज ले जाते हैं तो जर्मनी भी ऐसा ही करेगा, परन्तु यहाँ पर जो खजाना आयेगा वह आध्यात्मिक ज्ञान का भण्डार होगा। एफ हेवेल का ध्यान भारत की ओर होल्ट्रजमान की रचना 'इण्डियन सागाज' के कारण आकृष्ट हुआ। १८३३ में उन्होंने राजा शिवि की कथा लिखी। उनकी कविता 'द ब्राह्मण' में भी सभी प्राणियों की समानता सम्बन्धी भारतीय उच्चादर्श की भावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

---

१२७. Johan Novel- Central Asia: The Connecting Link Between East and West, p. 95

१२८. Allex Enrons- Europe Looks at India, p. 56

१२९. गंगा तट पर मंद और सुगन्ध भरी हवाँए चलती हैं,
विशाल और सुन्दर पुष्पित वृक्ष, शान्त जन समुदाय
कमल पुष्पों के आगे घुटने टेकते हैं। – हेनरिक हेन

इमैनुअल काण्ट (१७१२-१८०४) प्रथम प्रसिद्ध जर्मन थे जिन्होंने अपने चिन्तन में भारती प्रभाव को स्वीकारा। काण्ट द्वारा प्रतिपादित दिक् और काल के मध्य प्राकृतिक जगत् और उससे परे अगम्य मूल वस्तु के भेद बहुत कुछ मायावाद के समान है। श्चेरबातस्की ने बताया है कि काण्ट द्वारा निरुपित निष्काम नियोग सिद्धान्त का प्रतिरूप हिन्दू दर्शन में है। हरमन जैकोबी के अनुसार काण्ट का 'एस्थेटिक्स' भारतीय लेखक काव्यशास्त्र में पहले ही व्यक्त कर चुक थे। काण्ट के भारतीय दर्शन सम्बन्धी ज्ञान के ऐसे बहुत से दृढ़ संकेत मिलते हैं। उन्होंने कहा कि हिन्दू सभ्य हैं और अन्य धर्मों व राष्ट्रों के प्रति सहनशील हैं। आत्मा के बारे में उनकी अपनी कुछ धारणाएँ थीं और मृत्यु के पश्चात् आत्मा की गति के बारे में उनके विचार हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुरूप ही थे। इसी प्रकार काण्ट के उत्तराधिकारी जोहान गॉटलीब फिक्टे (१७६२-१८१४) ने अपनी 'हिंट्स फार ए ब्लेसेड लाइफ' पुस्तक में अद्वैतवाद से मिलते-जुलते अनुच्छेद सम्मिलित किया है।

आर्थर शॉपेनहावर (१७८८-१८६०) भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे। उन्होंने 'द वर्ल्ड एज विल एण्ड आइडिया' में भारतीय पद्धति का आभार स्वीकारते हुए स्पष्ट लिखा है 'मैं अपने विकास में बाह्य जगत् के अनुभवों के अतिरिक्त हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों के प्रति अधिक आभारी हूँ।' उनका विश्वास था कि यदि पाठक मूल भारतीय ज्ञान प्राप्त कर उसको समझ लिया है, तो उसने मेरे कथन को सुनने में सबसे अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली है।'[१३०] उनको गेटे के एक मित्र दार्शनिक फ्रेडरिक मेयर ने भारतीय दर्शन का परिचय १८१३ में दिया था। १८१८ में उन्होंने अपनी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 'द वर्ल्ड एज विल एण्ड आइडिया' प्रकाशित की। इसमें निराशावाद और ज्ञानसापेक्षतावाद के सिद्धान्त निरुपित किये गये हैं। शॉपेन हावर ने औपनिषदिक दर्शन से उत्साहित होकर इसको मानव बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ उपज घोषित किया। वे उपनिषदों से बढ़कर और किसी विषय को ज्ञानवर्द्धक नहीं मानते थे। 'इसके अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है और मृत्यु के उपरान्त भी इसी से शान्ति प्राप्त होगी।' उनका विचार था कि भारतीय चिन्तन और दर्शन अवश्य ही यूरोपीय ज्ञान और दर्शन में गम्भीर परिवर्तन ले आयेगा- 'पन्द्रहवीं शताब्दी में ग्रीक वाङ्मय के पुनरुद्धार की अपेक्षा संस्कृत साहित्य और भी गम्भीर रूप से गहरा पैठेगा।'[१३१] शॉपेनहावर हिन्दुओं को यूरोपियनों की अपेक्षा अधिक

---

१३०. Arthur Shopenhawer- The World as will and Idea, Tran. by R.B. Halden and G. Kamp, pp. 12-13

१३१. Will Durant- The Story of Philosophy, p. 339

गम्भीर विचारक मानते थे, क्योंकि वे जगत् को आन्तरिक और सहजानुभूत कहकर उसकी व्याख्या करते हैं और यूरोपीय विचारकों की तरह उसको बाह्य एवं बुद्धिगम्य नहीं मानते।

अन्य जर्मन दार्शनिक कार्ल क्रिश्चियन फ्रेडरिक क्रासे (१७८१-१८३२) भारतीय दर्शन से और भी अधिक प्रभावित थे। उन्होंने अपनी कृति में वेदान्त की विशेष रूप से प्रशंसा की है। पाल ड्यूसन (१८४५-१९१९) भारतीय संस्कृति एवं विचार के विशिष्ट विद्वान् थ। वे वेदान्त दर्शन के प्रति अत्यधिक आकृष्ट थे। वेदान्त दर्शन पर उनकी कृतियाँ एवं वेदान्त सूत्रों के अनुवाद क्रमशः १८८३ एवं ८७ में प्रकाशित हुए। उपनिषदों के मूलपाठ का जर्मन भाषा में अनुवाद करके और उनकी व्याख्या करके उन्होंने यूरोपीय विचारकों के लिए भारतीय दर्शन को समाज को समझना सुलभ करा दिया। उन्होंने वेदान्त को शाश्वत सत्य की खोज में मानवता की महानतम् उपलब्धि बताया है। हीगल अपने द्वन्द्वात्मक तर्कों के विषय में भारतीय दार्शनिकों की अपने से पहले से चली आ रही मान्यताओं का जिक्र करते हैं। फ्रेडरिक नीत्शे (१८४४-१९००) शॉपेनहावर के विचारों से स्थायी रूप से प्रभावित रहे। नीत्शे उपनिषदों का महान् प्रशंसक थे और ऐसे यूरोपियनों को नापसन्द करते थे, जो विवेक-बुद्धि से हीन होते हुए भी ब्राह्मणों का धर्म-परिवर्तन करके उनको सभ्य बनाना चाहते थे। जब पाल ड्यूसन ने उनको अपने प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों का अनुवाद करने और उनके ज्ञान-प्रसार की योजना बतायी तो उन्होंने अत्यन्त उत्साहित होकर हिन्दू दर्शन को महान् एवं गौरवशाली दर्शन बताया। हरमन केजरलिंग (१८८०-१९४६) भारतीय अध्यात्म विद्या की गहराई से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने यूरोपीय चरित्र एवं नैतिकता के मानदण्ड को भारतीय दर्शन के आधार पर मापने का प्रयत्न किया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यूरोपीय विशेषतः जर्मन बुद्धिजीवियों पर केजरलिंग का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

१९४६ के नोबेल पुरस्कार विजेता साहित्यकार हरमन हैसे को अहम और दुर्दम्य सांसारिक इच्छाओं से मुक्ति का उपाय भारतीय दर्शन में मिला। भगवद्गीता की सकारात्मक प्रवृत्ति ने भी हैसे को बहुत आकृष्ट किया। 'द गेम ऑफ ग्लास बीड्स' में वर्णित घटनाओं की पृष्ठभूमि में योग और माया ही है। उन्होंने स्वीकार किया है कि उसकी ध्यान-धारणा की शक्ति का परिष्कार करने में योग ने अमूल्य सहायता की है। कवि भर्तृहरि द्वारा अनुभूत शृंगार, नीति और वैराग्य के अनुक्रम के निर्माण को हैसे ने विनम्र और बुद्धिमत्तापूर्ण मानवीय ज्ञान का सुफल बताया है। मालाबार में जन्मी माता के पुत्र हैसे ने 'जर्नी टू द आरियण्ट' में कहा है कि भारत

केवल एक देश या भौगोलिक सीमा वाली वस्तु ही नहीं है, वरन् यह तो आत्मा का निवास और यौवन है, संसार में और कहीं नहीं, सभी युगों की समग्रता है। ईसाई होते हुए भी हैसे ने ईसा के उपदेश 'पड़ोसी को अपने ही समान प्यार करो' में 'तत्त्वमसि' का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त पाल दाहके (१८६५-१९२८), एच. मूख, जोसेफ विंकलर, अल्ब्रेश्ट शाफर, फ्रांज वेरफेल, स्टीफन ज्विग, हरमन कसाक, गुस्ताव मेरिंक टॉमसमान जैसे प्रख्यात जर्मन विद्वानों एवं लेखकों ने भी भारतीय विचार को आत्मसात किया है। इस तरह प्रथम महायुद्ध की विनाशकारी दुरावस्था से जर्जरित होकर जर्मनी ने शान्ति एवं नवीन प्रेरणा की प्राप्ति के लिए अपना ध्यान पुन: भारत की ओर घुमाया। भारतीय दर्शन का यह प्रभाव जर्मनी तक सीमित नहीं रहा वरन् फ्रांस तक इसकी पगध्वनि सुनाई दी।

❑ फ्रांस भारतीय विचारों के रंग में

फ्रांसवासी भारतीय विचारों को बहुत सम्मान एवं आदर प्रदान करते थे। फ्रांस के रोमाण्टिक युगीन साहित्य में इसकी झलक मिलती है। अपने अन्य समसामयिकों की तरह फैंकोआ रेने द शातोब्रियां (१७६८-१८४८) शाकुन्तल के प्रशंसक थे। विक्टर ह्यूगो (१८०२-१८८५) ने अपनी एक कविता 'सुप्रमानी' (१८७०) में एक उपनिषद् का अनुकरण किया है। यह स्पष्टीकरण जी. पाथिए की 'ल लिव सैके द ल ओरियन्त' से प्राप्त हुआ था। अल्फांज द लामारतिन (१७९०-१८६९) ने अपनी कृति 'कोर्स फैमिली द लीतरेत्यूर' में संस्कृत काव्यों, कविताओं और नाटकों के विषय का व्यापक वर्णन किया है। फ्रेंच कवि जोसेफ मेरी (१७९८-१८६५) को कालीदास और भवभूति की कृतियाँ कण्ठस्थ थीं। ह्यूगो के मित्र जीन-जैक ऐम्पेर (१८००-१८६४) ने भारतीय ग्रन्थों के द्वारा पुनर्जागरण की सम्भावना व्यक्त की थी। लुई रेवे ने और भी एक कदम आगे बढ़कर कहा कि यदि ग्रीक संस्कृति ने यूरोपीय सभ्यता को प्रभावित किया है तो यह मानना चाहिए कि प्राचीन ग्रीक स्वयं 'भारतीय दर्शन के पुत्र' थे। फिलोर ल चार्ल्स (१७९८-१८७३) ने १८२५ में 'द ब्राइड ऑफ बनारस' और 'इण्डियन नाइट्स' पुस्तकें लिखीं। पॉल वरलेन (१८४४-१८९६) ने सावित्री नामक कविता लिखी। लुई जैकोलिओ (१८३७-१८९०) ने बहुत से वैदिक ऋचाओं, मनुस्मृति और तमिल कृति 'कुशल' के अनुवाद किये। ये उद्धरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारतीय साहित्य एवं दर्शन ने फ्रांस को भी प्रभावित किया था। प्रभाव के इस विस्तार ने ब्रिटेन में और भी व्यापक रूप धारण किया।

❑ भारतीय दर्शन के प्रभाव में ब्रिटेन

अठारहवीं शताब्दी में भारतीय समाज के स्वरूप में परिवर्तन आया।[१३२] इसके पश्चात् ब्रिटिश शासन भारत में स्थापित हुआ और इसी दौरान भारतीय दर्शन और साहित्य का प्रचार इंग्लैण्ड में होने लगा। सर चार्ल्स विल्किन्स द्वारा गीता के अनुवाद और हालहैड की 'संस्कृत ग्रामर' (१७७८) के प्रकाशन से पहले ही अलेक्जैण्डर डो ने हिन्दू धर्म पर अपनी पुस्तक 'ए डिजर्टेशन कन्सर्निंग द कस्टम्स, मैनर्स, लैंग्वेज, रिलीजन एण्ड फिलासॉफी ऑफ द हिन्दूज' (१७६८) प्रकाशित कर दी थी। इन विद्वानों ने यह घोषणा की कि हिन्दुओं का इतिहास अन्य सभी जातियों से प्राचीन है। विलियम जोन्स के अनुसार भारत विचार और कल्पना के क्षेत्र में सबसे आगे था। अपने जीवन के अंतिम वर्ष १७९४ में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की, 'न्यूटन की अमरकीर्ति को किसी प्रकार क्षति पहुँचाये बिना यह कहूँगा कि उनका सम्पूर्ण अध्यात्म शास्त्र और किसी सीमा तक दर्शन, वेदों और भारतीय ग्रन्थों में पाया जाता है।' भारतीय दर्शन के विषय में उनकी राय बहुत ऊँची थी। उनके अनुसार 'किसी एक हिन्दू ग्रंथ का शुद्ध संस्करण तैयार कर देना उसी विषय पर लिखे गये सभी निबन्धों से अधिक मूल्यवान होगा।'[१३३]

जोन्स द्वारा किये गये भारतीय दर्शन के मूल्यांकन से विविध विषयों के अनेक ब्रिटिश विद्वान् और लेखक यथा गिबन, वायरन और जार्ज बारो आदि इस ओर आकृष्ट हुए और उन्होंन जोन्स के कार्यों के प्रति आभार प्रकट किया। शैले का 'हिम टू इंटेलेक्चुअल ब्यूटी' जोन्स के 'हिम टू नारायण' से प्रभावित है। साउदी और मूर ने प्रायः जोन्स के लेखों में से उद्धरण दिया है। ई. कोपेल ने हाल ही में सोदाहरण सिद्ध किया है कि शैले और टेनिसन ने अपने 'क्वीन माब' और 'लाक्सले हाल' में जोन्स से बहुत कुछ ग्रहण किया है।[१३४] एडिनबरा महाविद्यालय के प्रिंसिपल ने अपनी पुस्तक 'ऐन हिस्टोरिकल डिसक्वीजीशन कन्सर्निंग एन्शेण्ट इण्डिया' (१७९१) में भारतीय चिन्तन धारा और साहित्य की उत्कृष्टता का विवेचन किया है। विलियम ब्लैक (१७५७-१८२७) का यह विश्वास है कि मनुष्य का जीवन शाश्वत् जीवन का ही व्यक्त रूप है, औपनिषदिक विचारधारा पर आश्रित है। उनका विचार है कि जीवन परम सत्य है और उनका पार्थिव आवरण एक नश्वर छाया मात्र है। उनका यह विश्वास है कि मनुष्य दैवीय स्वरूप है, भारतीय अद्वैतवाद के

---

१३२. G.M. Travelian- English Social History, p. 391

१३३. Gerge D. Beers- p. 23

१३४. A.J. Aurbery- Oriental Eassys, p. 82

प्रभाव का ही परिणाम है। उनके अनुसार ईसा मसीह और प्रत्येक जीव में कोई अन्तर नहीं। सभी में वही एकमात्र ईश्वर व्याप्त है। ब्लैक के लेखों में जीवन सम्बन्धी मूल प्रश्नों पर उनके विचार कला, नैतिक समस्याओं और विश्वासों में सामंजस्य, आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का विचार और नवप्लेटोवाद, गूढ़ज्ञानवाद तथा भगवद्‌गीता के अध्ययन के प्रमाण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उनके 'फोर जोआस'[१३५] के स्रोत हिन्दुओं के 'चार लोकपाल' हैं। डैमोन के मत से ब्लैक के जोआस भगवद्‌गीता में वर्णित सत्व, रजस और तमस नामक तीन गुणों से ग्रहण किये गये हैं।

विलियम ब्लैक के 'सांग्स ऑफ एक्सपीरियेंस' (१७९४) और प्रमुख गद्य रचना 'द मैरिज ऑफ हैवेन एण्ड हैल' (१७९०) में रहस्यवाद का जो प्रबल समर्थन दिखाई देता है, वह तत्कालीन अंग्रेजी साहित्य की परम्पराओं से नितान्त विपरीत था। 'द मैरिज ऑफ हैवेन एण्ड हैल' में उन्होंने जोरदार शब्दों में और व्यंगात्मक रूप में भौतिक पदार्थों की सत्यता एवं दैवी दण्ड को अस्वीकार किया है। 'सांग्स ऑफ एक्सपीरियन्स' में भी उन्होंने दमनात्मक नियमों का विरोध करते हुए प्रेम भावना को उत्कृष्ट बताया है। उनकी मुख्य कविताएँ १७८८ और १८२० के बीच में लिखी गई थीं, जो भारतीय साहित्य के अनुसंधान का युग था, अतः ब्लैक भारतीय (विलिकन के द्वारा) स्रोत से प्रभावित हुए थे।[१३६] इसके अलावा उत्कृष्ट लेखक टामस द क्विंसी (१७८५-१८५९) अपने प्रसिद्ध आत्मचरित विवरण 'कन्फेंश ऑफ ऐन इंग्लिश ओपियम ईटर' (१८२२) में भारतीय विचारों को रेखांकित किया

---

१३५. S. Foster Demon and William Black- His Philosophy and Symbols, p. 365
'पश्चिमी जोआ थरमस शरीर और इन्द्रियों का प्रतीक है। यह नाम निस्सन्देह इच्छा या कामना हिन्दू नाम तमस के लिया गया है। ब्लैक भगवद्‌गीता पढ़ते थे (लन्दन १७८५) और वे इससे इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने ब्राह्मणों के तस्वीर बनाई जिसका शीर्षक था 'मिस्टर विल्किन ट्रान्सलेटिंग द गीता' (राजेटी कृत ब्लैक के चित्रों की सूची सं. ८४)। उस पुस्तक के १४ वें व्याख्यान में सत्व, रज और तम तीनों गुणों का वर्णन है, जो शरीरस्थ निर्विकार आत्मा के बंधन रूप हैं (१०७)। गुणों के अन्य संदर्भों से ज्ञात है कि वे तीनों निम्न जोआओ के तद्नुरूप हैं, जिसका उल्लेख ऊपर के अनुच्छेद में किया गया है। ब्लैक गुणों को ब्राह्मणों से भी अधिक महत्त्व देते थे। वह चारों जोआओं से सामंजस्य की कामना करते थे और वे (ब्राह्मण) तीनों गुणों का उरथोना में अन्तर्भाव चाहते थे।'

१३६. George Mils Harper- The Neoplutinism of William Blacke, p. 181

है। टॉमस कार्लाइल (१७९५-१८८१) का सम्मानीय वीरों (नायकों) के माध्यम से अनाचार का दमन सम्बन्धी विचार भारतीय ब्राह्मण समाज की वरिष्ठता के सदृश्य जान पड़ता है। विलियम बड्र्सवर्थ (१७७०-१८५०) ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के प्रति नवीनतम दृष्टिकोण अपनाया, जो अंग्रेजी परम्पराओं के अनुरूप नहीं था। किसी भी भारतीय दर्शनवेत्ता को वड्र्सवर्थ की कविता में वेदान्त की झलक अवश्य दिखाई देगी।[१३७] वड्र्सवर्थ के सहयोगी और 'आत्मबन्धु' सेम्युअल टेलर कॉलरिज (१७७२-१८३४) भी इसी दृष्टिकोण से प्रेरित थे। उनके 'द राइम ऑफ द एशेंटे मैरिनर' (१७९८) 'कुबलाखान' (१७८७) तथा ईसाई प्रेमगीत 'ल्यूटी' में भारतीय विचार झलकते हैं।

कालरिज ने नवप्लेटोवाद परम्पराओं पर बल दिया और इंग्लैण्ड में जर्मन आदर्शवाद का सूत्रपात किया, जो भारतीय विचारधारा से प्रभावित था। उनका वेदान्तनुगामी मुख्य सिद्धान्त अन्तश्चेतना की सततता और सम्पूर्णता का था। वही उस मानसिक अनुभूति का आधार है जो प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति में दैवी शक्ति की चिन्गारी के रूप में गतिमान है। वही उनका मैं (अहं) है जो उसके धार्मिक विश्वास और मूलभूत विवेक का मौलिक स्रोत है। कालरिज भारतीय साहित्य से भली-भाँति परिचित थे, जैसा कि जॉन थर्लविल के नाम से उनके पत्र से विदित होता है। वे कहते हैं कि भारतीय विष्णु के समान शयन करना या मरना चाहता हूँ जो आगाध समुद्र में कमलासन पर तैरता रहता है और कभी दस लाख वर्षों में कुछ क्षण के लिए ही उनकी निद्रा भंग होती है।[१३८] जॉन कीट्स (१७९५-१८२१) की 'एण्डोमियन' कविता (१८१८) में 'इण्डियन मेड' के अनुच्छेद से पता चलता है कि उनका भारतीय विचार से लगाव अवश्य था। 'रिवोल्ट ऑफ इस्लाम' के लेखक और वेल ऑफ कश्मीर के आदर्शवादी संस्करण के प्रशंसक पी.वी. शैले (१७९२-१८२२)

---

१३७. और मैंने ऐसे अस्तित्व की अनुभूति की है
जिसने उच्च विचारजन्य आनन्द की हिलोरें उठा दी है
एक ऐसी उदात्त भावना
जो अस्तगत सूर्य के प्रकाश में, विस्तृत वृत्ताकार समुद्र में, सजीव वायु में,
नीले आकाश में और मानव मस्तिष्क में गहरी पैठ गई है,
एक गति और आत्मा
जो सभी विचारशील वस्तुओं को,
विचार में आने योग्य पदार्थों को प्रेरित करती है
और सभी वस्तुओं में अनुस्यूत है। – विलियम वड्र्सवर्थ

१३८. Boris Ford (edt.)- From Black to Bairun, p. 193 में उद्धृत L.G. Salinger

ने कीट्स के लिए लिखी गई शोकांजली 'एडोनिस' (१८२१) में वेदान्त के मायावाद का प्रतिपादन किया है।[१३९] शैले का यह विश्वास कि 'एडोनिस' मरा नहीं है, परन्तु जीवन के स्वप्न से जाग उठा है, और प्रकृति के साथ एकाकार हो गया है, बहुत महत्त्वपूर्ण है।[१४०] शैले का सुझाव है कि जन्म उस आनन्दमय स्थिति में व्यवधान डालता है और मृत्यु उसे लौटा लाती है,

उस प्रकाश की मुस्कान से विश्व प्रकाशित है
उसकी सुन्दरता में सभी पदार्थ सजीव और गतिमान हैं
उसी वरदान के कारण
उपरागम्य जन्म का अभिशाप शान्त नहीं होता।

ये भाव भारतीय चिन्तन के बहुत निकट हैं। दुष्प्राप्य आदर्श सौन्दर्य की खोज में शैले विश्वप्रेम से प्रेरणा ग्रहण करते थे। इसमें मानव जाति एवं जीवित प्राणी ही सम्मिलित नहीं थे, अपितु प्रकृति के समस्त तत्त्वों का समावेश था। 'टू ए स्काईलार्क' में पक्षी, 'द क्लाउड' में बादल और 'ओड टू द वैस्ट विंड' में हवा के साथ उनका एकरूप होकर उनके गूढ़तम अर्थों की अवगति करना प्राय: भारतीय चिन्तन के समान है।

१८१० में राबर्ट साउदी (१७७४-१८४३) ने अपनी लम्बी वर्णनात्मक कविता 'द कर्स ऑफ केहम' में रोमाण्टिक तत्त्व भारतीय है। टॉमस मूर (१७७९-१८५२) भी भारतीय ज्ञान सम्पदा से प्रभावित थे। उन्होंने अपनी कविता 'लाला रुख' (१८१७) में भारतीय समाज और रीति-रिवाजों का चित्रण किया है। यह कृति अत्यधिक लोकप्रिय हुई एवं उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। एन.ए. नोटोविक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जीसस सोलह वर्षों तक ब्राह्मण

---

१३९. सब एक ही बचा रहता है
और सब वस्तुएँ बदल जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं
स्वर्गीय प्रकाश सदैव बना रहता है
बहुरंगे शिशों के गुम्बज के समान
पृथ्वी की छाया तिरोहित हो जाती है,
जब तक मृत्यु उसको छिन्न-भिन्न नहीं कर देती
तब तक वह शाश्वत पर
विविध रंगों के धब्बे झलकाती रहती है।

१४०. G.T. Garrette (edt.)- The Legacy of India, pp. 33-34

के साथ रहे और इसका उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा।[१४१] यह तथ्य स्पष्ट करता है कि ईसाई धर्म भी हिन्दु धर्म से किस कदर प्रभावित था। भले ही इसका ज्यादा स्पष्टीकरण नहीं किया गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आरम्भिक दिनों से ही भारतीय शब्द अंग्रेजी में अपनाये गये। सुब्बा राव का कहना है कि 'द आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' में कितने ही संयुक्त और निष्पन्न शब्दों के अतिरिक्त एक हजार भारतीय शब्दों को मान्यता दी गई है।[१४२] बाद में जब भारतीय चिन्तन, साहित्य और दर्शन की ओर अंग्रेज विद्वानों और शब्दशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट हुआ तो अपने लेखों में वे वैसे ही शब्द विन्यासों का प्रयोग करने लगे। मिल्टन, ड्राइडेन, ओर्मे, बर्क, स्कॉट, थैकरे और इलियट आदि कुछ ऐसे प्रमुख अंग्रेजी लेखक हैं, जिन्होंने प्रभावशाली रूप में भारतीय शब्दों का प्रयोग किया है। आनुषंगिक रूप से ही सही भारत ने राजनीतिक और सामयिक विचारों के विकास में भी योग दिया। भारतीय प्रभाव का एक प्रत्यक्ष उदाहरण ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विकास और दूसरा नागरिक सेवाओं में सुधार है। इस तथ्य को स्वंय अंग्रेज विद्वान् स्वीकारते हैं।[१४३]

❑ अन्य पाश्चात्य देशों में भारतीय चिन्तन का प्रभाव

भारतीय चिन्तन की प्रतिध्वनियाँ ऐसे देशों में भी सुनी गयीं जिनका भारत से केवल दूर-दराज का सम्बन्ध था। रुमानिया के महाकवि मिहाई एमिनेस्क्यू (१८५०-१८८९) की कविताओं में संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। एमिनेस्क्यू ने भारतीय दर्शन का अध्ययन शॉपेनहावर से किया था। उन्होंने फ्रैंज बॉप के कोश 'ग्लोसैरियम संस्कृतिकम' के कुछ अंश का अनुवाद भी किया था। एमिनेस्क्यू की 'लेटर नम्बर वन' कविता में सृष्टि के मूल अस्तित्व और अनअस्तित्व का भाव ऋग्वेद के 'सृष्टि सूक्त' की याद दिलाता है। उनके पद्यों में निर्वाण का भाव, शाश्वत सत्य और सौन्दर्य की हिन्दू भावना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'गॉड एण्ड मैन' और 'लुकिंग फॉर शेहरजाद' जैसी कविताओं में भारतीय कथाओं और कथावस्तु के भी दर्शन होते हैं। उनकी रचना 'तत्त्वमसि' का शीर्षक उनके औपनिषदिक ज्ञान का ही परिचायक नहीं, अपितु इसके मूल भाव में आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का विवेचन भी किया गया

---

१४१. N. Noteweek- The Unknown Life of Christ, XXX

१४२. G. Subba Rao- Indian Words in English, p. 100

१४३. John Rose- Liberalism and the Intellegencia, The Cambridge Historical Journel, XIII, सं. 1/1957~64

है। उनकी कविताओं में अद्वैतवाद स्पष्ट झलकता है।[१४४] एमिनेस्क्यू की कविताओं में बहुत सी भारतीय कल्पनाएँ भी हैं, जैसे कामदेव। उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए भारतीय चिह्न को अपनाया। यह भारत के प्राचीन साहित्य से उनके गहरे प्रभाव एवं परिचय का द्योतक है।[१४५]

मशीनी जीवन की प्रतिक्रिया में रूसी बुद्धिवादी प्रेरणा ग्रहण करने के लिए पूर्व की ओर उन्मुख हुए। रूस के पूर्वी विस्तार से पूर्व ही रूसी चैदेव ने १८४० में कह दिया था कि हम पूर्व की लाडली संतान हैं। हम सब तरह से पूर्व से सम्बद्ध हैं, हमने अपने विश्वास, नियम और गुण वहीं से प्राप्त किये हैं।[१४६] उन्होंने यह भी दावा किया था कि रूस पूर्व के ज्ञान का स्वाभाविक उत्तराधिकारी है। मैक्सिम गोर्की (१८६८-१९३६) ने रोमां रोलां के नाम एक पत्र में लिखा था कि रूस चीन की अपेक्षा अधिक प्राच्य है। दोस्तोइवस्की ने घोषित किया कि रूस के लिए अपनी आत्मा (प्रवृत्ति) को पूर्व की ओर मोड़ देना अधिक लाभदायक है। वास्तविकता तो यह है कि पश्चिमी यूरोप और रूस के बीच सदा से एक गहरी खाई है, क्योंकि पश्चिम यूरोप वाले रूस को हमेशा 'पूर्व' की संज्ञा देते रहे हैं।

लिओ टॉल्सटॉय (१८२८-१९१०) ने पूर्व का समर्थन बहुत संवेदनात्मक रूप से किया है। उन्होंने कजान में प्राच्य भाषाओं और साहित्यों का अध्ययन किया। उनमें आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धामय अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी, जो आजीवन बनी रही। १८७० में उन्होंने एक लोक कथा संग्रह प्रकाशित किया, जिसमें अनेक भारतीय कथाएँ भी सम्मिलित थीं। 'कनफेशन' पुस्तक में उन्होंने आध्यात्मिक संघर्ष का वर्णन किया है और प्राचीन भारतीय उपदेशों की भाषा में संसार की निस्सारता दर्शाने का प्रयत्न किया है। प्राचीन भारतीय साहित्य मैक्समूलर की 'सैक्रीड बुक्स ऑफ द ईस्ट' ग्रन्थमाला और बाद में स्वामी विवेकानन्द के लेखों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। भारतीय दर्शन ने उनको वे नये आयाम दिये, जिनके आधार पर वे ईसाई मत का पुनर्मुल्याँकन कर सके। सन् १९०९ में महात्मा गांधी के

---

१४४. इस प्रकार पक्षी और मनुष्य, सूर्य और चन्द्रमा
पवित्र ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं,
और मर कर उसी में समा जाते हैं,
जहाँ सभी पदार्थ एकत्व प्राप्त करते हैं।
Sergiau Demetrion- Indo-Asian Culture, 1965, p. 186

१४५. Tueder Viaunu- Indo-Asian Culture, 1957, p. 189

१४६. Enrons- Europe Looks at India, p. 127

नाम 'लेटर टू ए हिन्दू' में टॉल्सटॉय ने उपनिषदों, भगवद्गीता, तमिल ग्रंथ 'कुराल' और विवेकानन्द के लेखों सहित हिन्दुओं के आधुनिक धार्मिक उपदेशों का भी उल्लेख किया था। उनके 'अन्याय का प्रतिकार करने के सिद्धान्त' ने महात्मा गांधी को भी प्रभावित किया था।

भारतीय दर्शन उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड की अपेक्षा जर्मनी को ही नहीं, सुदूर अमेरिका को भी अत्यधिक प्रभावित किया था। अमेरिका के मनीषी रैल्फ वाल्डो एमरसन (१८०३-१८८२) द्वारा प्रवर्तित शान्ति आन्दोलन इसका प्रमाण है। उनका मुख्य विषय यह है कि सभी अस्तित्व वाले पदार्थ एक ही विशुद्ध सर्वव्यापक शक्ति का प्रतिबिम्ब मात्र है। एमर्सन मुख्यत: पुनर्जन्म के सिद्धान्त से आकर्षित हुए थे- 'तब मैंने संसार का रहस्य जान लिया कि सभी पदार्थ नित्य है, कोई भी मरता नहीं है, केवल कुछ समय के लिए आँखों से ओझल हो जाता है और बाद में पुन: लौट आता है।'[१४७] वैदिक ज्ञान ने एमर्सन में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया कि सभी धर्मों का मूल सिद्धान्त एक ही है। अस्सी वर्ष बाद रोमां रोलां भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे जिसे उन्होंने 'वेदान्त मत या पूर्वानुरूप' कहा। पश्चिम के बढ़ते हुए भौतिकवाद से लौटकर एमर्सन शान्ति की खोज में भारत की ओर मुड़े। 'किंवदन्तियों की घटनाओं के बीच भारतीय उपदेशों से घिरे झीने पदरे में राजरानी के मुख मण्डल की तरह, एक सरल और गरिमामय धर्म झलकता है। यह 'सत्यं वद' 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' से प्रेम करने और क्षुद्रताओं से घृणा करने का उपदेश देते हैं।'[१४८] आयु के साथ वे हिन्दू धर्म में अधिकाधिक श्रद्धालु होते चले गए। उनके 'अन्तर्ज्ञानवाद' की पूर्ण अभिव्यक्ति 'ब्रह्म' कविता में हुई है। इस विषय में सेनकोर्ट की राय है कि वह कालीदास के लैटिन संस्करण का अनुवाद है, जो इण्डियन इंस्टीट्यूट के डॉ. मारिसन को ज्ञात था।[१४९] प्लेटो पर अपने निबंध में एमर्सन ने स्पष्ट रूप से भारत का आभार स्वीकार किया है 'सभी राष्ट्रों में ऐसे चिन्तनशील मनुष्य हैं जो एक शाश्वत तत्त्व के ध्यान में निमग्न रहना चाहते हैं। प्रार्थना के आनन्दातिरेक और भक्ति में आत्मविस्मृति द्वारा सभी प्राणी एक आत्मतत्त्व में लीन हो जाते हैं। इस प्रवृत्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति प्राच्य धर्मलेखों, मुख्यत: भारतीय धर्मग्रन्थों, वेदों, भगवद्गीता और विष्णु पुराण में हुई है।'

दूसरा अमेरिकन विद्वान् हेनरी डेविड थोरो (१८१७-१८६२) थे। थोरो के

---

१४७. Journals of Ralf Waldo Emerson, VI, p. 494

१४८. Ibid, IX, p. 197

१४९. Robert Sencarta- India in English Litterature, p. 224

निबंध 'आन सिविल डिस ओबिडियन्स' (सविनय अवज्ञा) में व्यक्तिगत स्वतंत्रता में सरकारी हस्तक्षेप का विरोध किया गया था। थोरो भगवद्गीता से प्रेरणा ग्रहण करने वाले और मानवीय अत्याचार का विरोधी थे। थोरो के इस प्राच्य दर्शन के प्रभाव के कारण गांधी जी उन्हें अत्यन्त आदर देते थे।[१५०] थोरो पर हिन्दू विचाराधारा का गहरा प्रभाव था। उनकी पत्रिका में अनेक हिन्दू ग्रन्थों की व्याख्याएँ मिलती हैं। उसने १८५० में लिखा है कि उस वेदों की प्रेरणा एक उच्च एवं विशुद्ध ज्योतिर्मय नक्षत्र के समान द्योतित हुई और सभी नक्षत्रों के प्रकाश के पश्चात् पूर्ण चन्द्रमा के समान उदित हुई। वाल्डेन में हिन्दु धर्मग्रन्थों के स्पष्ट उद्धरण मिलते हैं। उन्होंने तो परम्परागत हिन्दू जीवनचर्या भी अपना ली थी। उन्होंने कहा था- 'भारतीय दर्शन से मेरा इतना प्रेम है तो मेरे लिए चावल का आहार ही उपयुक्त है।' थोरो ने सम्भाषण के मौन स्वरूप भी अपनी कृति में प्रयोग किया है। वाल्डेन में सरोवा की पवित्र गंगा के साथ समानता और नदी के अनेक संदर्भ तो और भी महत्त्वपूर्ण है। इन सभी सन्दर्भों को थोरो का भारत के प्रति स्वाभाविक लगाव कहकर अमान्य कर देना उनके चिन्तन पर पूर्व के असाधारण प्रभाव का अवमूल्यन करना और वाल्डेन के तात्पर्य को गलत समझना होगा।[१५१]

अमेरिकन बौद्धिक स्वतंत्रता के नेता वाल्ट व्हिटमैन (१८१९-१८९२) भी अन्तर्ज्ञानवादियों से प्रभावित होने वालों में से थे। उनकी कविताओं में प्रबल मानवीय बन्धुत्व की भावना पायी जाती है। सभी पदार्थों और प्राणियों में आत्म साक्षात्कार का यह रहस्यमय भाव उन्होंने भारतीय विचारधारा से ग्रहण किया होगा। 'सांग ऑफ माइसेल्फ' में उन्होंने कहा है सभी धर्म सत्य है और यह वैदिक विचारधारा का सर्वप्रिय मूल मंत्र है। उन्नीसवीं सदी में इस सिद्धान्त को रामकृष्ण परमहंस ने और भी दृढ़ता से प्रतिपादित किया था। बाद की कुछ कविताओं में व्हिटमैन ने वैदिक रहस्यवाद में प्रत्यक्ष रुचि अभिव्यक्त की है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कविता है 'पैसेज टू इण्डिया', जिसमें स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य की आत्मा और विश्वात्मा एक ही है। अमेरिका में ईसाइयों ने जो विज्ञान आन्दोलन चलाया था उसमें भी भारतीय प्रभाव स्पष्टतः आलोकित है। इस आन्दोलन की जन्मदात्री मेरी बेकर एडी वेदान्तियों की तरह यह मानती थी कि जगत् और दुःख

---

१५०. S.D. Kalelkar- Thoro and Mahatma Gandhi, The Modern Review, June 1963, p. 460

१५१. Frank Maxen- Wanden and Yoga, The New England Quarterlly, Sept. 1964, XXXVII, p. 323

असत् है और दु:खों से छुटकारा पाने के लिए इस तरह की अनुभूति आवश्यक है। 'साइन्स एण्ड हैल्थ' नामक ग्रन्थ में उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि ईसाई विज्ञान के अनुसार सभी कारण और कार्य मानसिक होते हैं, भौतिक नहीं। यह विज्ञान शरीर और आत्मा सम्बन्धी सभी रहस्यमय भ्रम दूर कर देता है। ईसाइयों की विज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं एवं साहित्यों में वेदान्त के सिद्धान्त अपने आप प्रतिध्वनित होते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वामी विवेकानन्द ने दो बार संयुक्त अमेरिका की यात्राएँ की और दोनों ही बार उनका उत्साहपूर्ण सार्वजनिक स्वागत हुआ। उनके भाषणों के परिणाम स्वरूप जो श्रद्धा उत्पन्न हुई, उससे अमेरिकावासियों की भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के प्रति अभिरुचि में और भी वृद्धि हो गई। उनके द्वारा प्रतिपादित भारतीय दर्शन से तत्कालीन विचारक गहराई में प्रभावित हुए। इन्हीं में एक नोबुल पुरस्कार विजेता रोमां रोलां भी थे। उन्होंने रामकृष्ण का जीवन चरित लिखा, जिसमें ये उद्‌गार व्यक्त किये हैं 'मैं यूरोप में नये शरद का ऐसा फल लाया हूँ, जिससे यहाँ के लोग अभी तक अपरिचित हैं, यह भारत की स्वर लहरी में आत्मा का नया संदेश है, जिसका नाम रामकृष्ण है। जिस मनुष्य मूर्ति का परिचय मैं यहाँ दे रहा हूँ वह तीस करोड़ लोगों के हजारों वर्षों के आध्यात्मिक जीवन का सार है।'[१५२] स्वामी विवेकानन्द के पश्चात् रविन्द्रनाथ टैगोर ने समस्त पाश्चात्य जगत् को प्रभावित किया था। टैगोर बिना किसी रंगभेद के सभी लोगों से चाहे वे विश्व के किसी भी भाग में रहते हों, एक ऐसी भाषा में बोल रहे थे, जो या तो किसी देवदूत की हो सकती है या किसी अबोध बालक की।[१५३] इसी प्रभाव ने यूरोपीय विद्वानों को और कलाकारों को टैगोर का सान्निध्य प्रदान किया। जिसमें से एक थे विलियम बटलर यीट्स (१८६५-१९३९) सबसे पहले डबलिन में एक हिन्दू दार्शनिक से भेंट होने के विषय में यीट्स लिखते हैं 'ऐसे दर्शन से यह मेरा प्रथम सम्पर्क था

---

१५२. Roman Rolla- Life of Ramakrishna, pp. 12-13

१५३. A. Aronsons- Ravindranath Through Western Eyes, XII
टैगोर की कृतियाँ यूरोप में इतनी लोकप्रिय थीं कि सभी वर्ग के लोग, उनकी राष्ट्रीयता को ठीक-ठीक न जानते हुए भी पुस्तकालयाध्यक्षों से उनकी पुस्तकें मांगा करते थे। लन्दन के एक सुप्रसिद्ध पुस्तकालय में एक पत्र प्राप्त हुआ-'कृपया यहूदी लेखक की पुस्तक गीतांजलि भेजिये। मेरे ख्याल से उनका नाम टैगोर है।' दूसरे पाठक ने लिखा 'क्या आपके यहाँ रूसी टैगोर की नवीनतम पुस्तक उपलब्ध है?' तीसरे ने पूछा 'कृपया अरब कवि के गीतों की एक प्रति भेजिए।' 'हिन्दू', २३-२९ मार्च १९१४ में प्रकाशित और ३० मार्च १९६४ के अंक में पुनरुद्धृत।

जिसने मेरे अस्पष्ट अनुमानों की समपुष्टि की और जो मुझे तर्कसंगत एवं गहन प्रतीत हुआ। उन्होंने बताया कि चैतन्य केवल अपनी सतह पर ही नही विस्तार करता, अपितु दर्शन और ध्यान में भी अत्यन्त गति से परिवर्तन करने की क्षमता रखता है।'[१५४] गीतांजलि के प्रथम संस्करण के प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है 'इन गीतों में उस संसार का भाव प्रदर्शित हुआ है, जिसका मैं जीवन भर स्वप्न देखता रहा हूँ। सर्वोत्कृष्ट संस्कृति की उपज होते हुए भी वे इतने घने मालूम होते हैं मानो सामान्य भूमि पर घास की तरह जमें हो।'[१५५]

भारतीय उपनिषदों और ब्रह्मज्ञान से प्रभावित एक आयरिश कवि जार्ज विलियम रसेल की तरह यीट्स भी इस ओर बेहद प्रभावित हुए थे। एडवर्ड कारपेण्टर, हैवलॉक, एलिस और डी.एच. लारेंस जैसे अन्य लोगों के लेखों में भी निरपेक्ष भारतीय विचारों की झलक दिखाई देती है। इन विद्वानों ने प्राचीन कठोर यौन नियमों के विरुद्ध कामसूत्र में अपने मत का समर्थन प्राप्त किया। टी.एस. इलियट, आल्डस हक्सले और डब्ल्यू. एच. आल्डेन के रहस्यवाद का स्रोत भी वैदिक दर्शन ही था। अपने समय का उत्साही आलोचक, प्रतिभाशाली उपन्यासकार और व्यंग्यकार हक्सले भारतीय विचार एवं संस्कृति से पूरी तरह प्रभावित थे। 'वियाण्ड द मेक्सिक वे' (१९३४) और 'एण्ड्स एण्ड मिन्स' (१९३७) में उन्होंने बताया है कि 'समय की गति तो व्यक्तिगत समस्याओं में उलझे मनुष्यों का भ्रम है। ध्यान के द्वारा मनुष्य कालातीत समय सत्य की अनुभूति में निमग्न हो सकता है।'

टी.एस. इलियट के लेखों में वैदिक धर्म के विशिष्ट ज्ञान का परिचय मिलता है। उनके 'द वेस्ट लैण्ड' में वृहदारण्यक उपनिषद् का प्रसिद्ध अनुच्छेद मिलता है और उसे उपनिषदों की तरह 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' शब्दों के साथ समाप्त करते हैं। 'द ड्राई सालवैजेज' में काल और शाश्वत का निरुपण हुआ है और इसमें भगवद्गीता के आधार भूत सिद्धान्त 'निष्काम कर्म' का ससन्दर्भ प्रतिपादन किया गया है। सॉमरसेट मॉम के 'द रेजर्स एज' में तथा डिथ सिल्वेल, क्रिस्टोफर इशरवुड और गेराल्ड हर्ड की रचनाओं में भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सी.जी. जुंग ने मनोवैज्ञानिक आधारों पर वैदिक धर्म की व्याख्या करते हुए आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों के लिए भारतीय दर्शन का महत्त्व बताया है। उनका कहना है 'प्राच्य जगत् अपनी मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों में हमारी आध्यात्मिक पहुँच से बहुत आगे

---

१५४. W.B. Yeats- Autobiography, pp. 91-92
१५५. रवीन्द्रनाथ टैगोर- गीतांजलि, xiii-xiv

है। हमारे आत्मिक उत्थान का मार्ग पूर्वी देश की प्रशस्त करेंगे।' इसी प्रकार ब्रिटिश सर्जन केनेथ वाकर ने भारतीय संस्कृति एवं दर्शन की महत्ता खुले रूप में स्वीकार की है।[१५६] इस प्रकार वैदिक दर्शन संस्कृति ने अपने बहुविध रूपों एवं विविध पक्षों से समूची विश्व-वसुधा को प्रभावित किया और कर रही है। ये प्रभाव तात्कालिक नहीं अपितु शाश्वत हैं, समीचीन हैं। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृति के वर्तमान पुनुरोदय को आज भी सर्वमान्य आवश्यकता के रूप में स्वीकारा जाता है।

❑
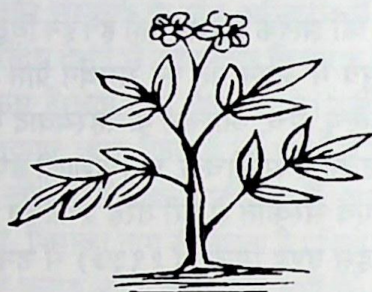
१५६. केनेथ वाकर- डायोग्रासिस ऑफ मैन, पृ. २४८

अध्याय-६

प्राचीन संस्कृति का वर्तमान पुनरोदय

इंसान भौगोलिक रूप से आज जितना एक दूसरे के नजदीक है, उतना कभी नहीं रहा। आधुनिक सुविधाओं के सरंजाम ने दुनिया को एक गाँव में तब्दील कर दिया है। जितनी देर में हम एक गाँव से दूसरे गाँव पहुँचते थे आज उतनी देर में दिल्ली से अमेरिका पहुँच सकते हैं। एक जमाना था जब दो गाँव के व्यक्ति आपस में परिचित नहीं रहते थे। यदि दो गाँवों के बीच नदी बहती थी तो यह पता नहीं था कि नदी के पार कौन रहता है? यह तभी पता चलता था जब सन्नाटे को चीरती कुत्तों के भूँकने की आवाज कान में पड़ती थी। एक गाँव की अपनी दुनिया थी और दूसरे गाँव की अपनी दुनिया। उस समय की दुनिया में और आज की दुनिया में बुनियादी फर्क है। उस जमाने में जो विचार पैदा हुए भाव उमड़े, उन पर आज भी मुग्ध होना पड़ता है। उन दिनों हर कहीं प्रेम का ज्वार उफनता था। अतिथि देवो भव! यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते....। आदि वाक्य पढ़कर यदि कोई आज की परिस्थितियों को निहारे तो उसे विश्वास ही नहीं होगा कि कभी ऐसे भावों के आलिंगन में जिन्दगी बंधी थी। आज घर-परिवार से प्रदेश-राष्ट्र-विश्व तक हर कहीं, हर कोने में दरारें, टूटन, बिखराव फैला पड़ा है। सभी की दौड़ अलगाव की ओर है। प्रत्येक स्वयं में आतंक से सहमा है, औरों को आतंकित कर रहा है। शरीर की सुन्दरता तभी तक है, जब तक उसका हर अवयव एक दूसरे से जुड़ा रहे। यदि विभिन्न अंग अवयव एक दूसरे से छितरा जायँ तो परिणाम में बदसूरती और सड़न ही मिलती है। भौगोलिक समीपता के बावजूद भावनात्मक स्तर पर विश्व की यही दशा है। दार्शनिकों से लेकर राजनीतिज्ञों तक सभी इसी उधेड़-बुन में हैं कि बिखरती जा रही मनुष्य जाति को कैसे समेट-बटोर कर एक सूत्र में बाँधा जाय?

एकता की ये कोशिशें नितान्त आधुनिक नहीं हैं। यूनान और रोम के विजय अभियान रचने वालों ने भी अपना यही मकसद बताया था। सिकन्दर का विश्व-राष्ट्र की सुखद कल्पनाओं में रंगा था। अंग्रेजों ने यही उद्देश्य प्रचारित कर विश्व की महत्त्वपूर्ण जगहों पर अपने उपनिवेश स्थापित किए। 'विश्व को एक करूँगा' हिटलर ने इसी संकल्प की आड़ में अपना ताना-बाना बुना था। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में मार्क्स के साम्यवाद का नारा देकर स्टालिन ने रुस में छोटे पैमाने पर यही करतब दिखाने की कोशिशें की। लेकिन ये ढेरों प्रयास-पुरुषार्थ अपनी

चरम परिणति में एकता से उतना ही दूर रहे जैसे आकाश से धरती। इन दिनों हर किसी की आँख विश्व को बिखराव के तूफानों से घिरा देख रही है। इस आँधी में एकता के तिनके समेटे जा सकेंगे। किसी को कल्पना तक नहीं उठती। भारत को ही लें- बिहार, कश्मीर, आसाम आँधी के इन्हीं हिचकोलों में झूल रहे हैं। दुनिया का सबसे बड़ा भू-भाग अपने को समेटे रुस देखते-देखते टुकड़े-टुकड़े होकर छितर गया। अमेरिका में अश्वेतों द्वारा अपने अधिकार की मांग जोर पकड़ती जा रही है। पेलेस्टाइना की समस्या सुलझने के बदले उलझती चली जा रही है। आर्थिक उदारीकरण ने अर्थ सम्पन्न देशों की चूलें हिला दी हैं। जापान से लेकर अनेक एशियाई देश भी इससे बचे नहीं हैं। चीन भी इन चिनगारियों से अछूता नहीं है। लंका में उठ रहे बिखराव के शोलों की चमक विश्व के हर व्यक्ति की आँखों को चौंधिया देने के लिए काफी है। अलगाव में तत्पर, आतंक फैलाने में जुटे संगठनों की फेहरिश्त बनाई जाय तो एक पुस्तक के पृष्ठों का कलेवर छोटा पड़ जाय।

हलचलों की यह तेजी इस कदर है कि प्रश्न और समाधान आम बात हो गई है। जहाँ पहले इनके लिए सौ-सौ सालों तक इंतजार करना पड़ता था, वहीं अब सौ दिनों में इनके उदय और उफान देखे जा सकते हैं। आज समाधान की विस्तृत परिधि जिस एक छोटे से संकरे गलियारे में फँस कर रह गई है, उसका नाम है प्रशासनिक फेर-बदल, सरकारों की उठा-पटक। लोक जीवन ने इसे रोज-मर्रा के घटनाक्रम का एक अंग मान लिया है। उसकी नजर में व्यवस्था कोई भी हो इसका एक ही उत्तरदायित्व रह गया है, नित नए कानून बनाना-जन जीवन को इनके लौहपाश में फँसने-फँसाने और सिसकने के लिए मजबूर करना। इस उद्यम का स्वरूप और एकता की उलझन? इतिहास के इन विगत घटनाक्रमों की कहीं अधिक बारीकी से सर्वेक्षण करने की जरूरत है। इस तथ्य का अवलोकन करने पर पता चलता है कि विगत घटनाक्रमों के कर्णधारों में से किसी का उद्देश्य ठीक रहा हो पर प्रयासों की दिशा निश्चित रूप से सही नहीं रही। एकता के नाम पर ज्यादातर कोशिशें आधिपत्य स्थापना की रहीं हैं। इनके पीछे प्राय: सभी ने विश्व राष्ट्र के सम्राट होने के सपने सँजाये थे। यही कारण है कि छै: सौ करोड़ मनुष्य की जमात में ऐसों की संख्या दो-चार मुट्ठी से अधिक नहीं होगी जिनका एकता की ओर झुकाव हो। क्योंकि सभी को अपने पूर्व अनुभवों से एकता का एक ही अर्थ मालूम हो सका है- स्वतंत्रता का अपहरण, मौलिकता का छिन जाना। जन-जीवन ने इन दोनों तत्त्वों को ऐसे दो विरोधी ध्रुव मान लिया है- जो कभी एक नहीं हो सकते। अब तक हुए प्रयासों के सन्दर्भ में यह तथ्य

औचित्यपूर्ण है, क्योंकि आधिपत्य की शैली को न तो मानवीय व्यक्तित्व की बारीकियों का ज्ञान है और न मौलिकता के रक्षण की जानकारी है।

धरती ने अभी तक बहुतायत में सिर्फ राजनीतिक समाधान और तत्सम्बन्धी एकरूपता के प्रयासों का अनुभव किया है। इस सम्बन्ध में रोम साम्राज्य एक ऐतिहासिक उदाहरण है जो राष्ट्र की सीमाओं को लांघ चुका था। इसके गुणों में जहाँ इसकी व्यापक सुरक्षा प्रबन्ध को सराहनीय कहा जा सकता है। वहीं व्यक्ति नगर और प्रदेश को अपनी स्वाधीन जीवन का बलिदान करके मशीन के कलपुर्जे बनकर रहना पड़ा, इसके परिणाम में जीवन ने अपने श्री समृद्धि, स्वतंत्रता तथा सहज सृजन की विजयशील प्रेरणा गँवा दी। अन्त में व्यक्ति की तुच्छता और दुर्बलता के कारण इसे नष्ट होने को विवश होना पड़ा। रुस में हुए साम्यता के प्रयासों को इसी का एक बदला हुआ रूप कहा जा सकता है। मार्क्स की नजर में मनुष्य एक आर्थिक प्राणी भर था। कल्पना, स्वतंत्र इच्छा, मौलिक क्षमताओं का विकास जैसी चेष्टाएँ भी इंसान के अन्दर समायी हैं। शायद इसे सोचने की उसे फुरसत नहीं मिली और यही कारण है कि समाजवाद के नाम पर ऐसा शिकंजा तैयार हुआ जिसे तोड़ फेंकने के लिए वहाँ का जन-जीवन शुरू से कोशिश में जुटा रहा। और जब तक तोड़ नहीं फेंका चैन नहीं लिया। लेकिन राजनीतिक समाधानों की अपनी समस्याएँ हैं। मानवीय भावनाओं को एक-दूसरे में घोल देना, क्षत-विक्षत हो रहे समाज को पुन: सौन्दर्य मण्डित करने का प्रयास जिस तकनीक से सम्भव है उसका नाम है सांस्कृतिक पुनरोदय। यहीं एकता को उसका वास्तविक अर्थ प्राप्त होता है। राजनैतिक एकता तो एकता के नाम एकरुपता के स्थापना की चेष्टा है।

जबकि वैदिक संस्कृति के तत्त्व दर्शन में इस पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्टतम अवस्था कहा है। सम्बन्ध वहीं जन्म लेते हैं, जहाँ सम्वेदना का निर्झर फूट रहा हो। विश्व में संवेदनाओं के ये रस स्रोत भिन्न रूपों में देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए जातीय संवेदना, पारिवारिक संवेदना और राष्ट्रीय संवेदना। ये अपने वास्तविक स्वरूप में पवित्र होते हुए भी सीमा बन्धन की अनुभूति के लिए विवश हैं। जातीय संवेदना का उत्कर्ष अपने जाति भाइयों से बाहर नहीं फैल सकता। उसे हिन्दु-मुसलमान, सिख-इसाई के दायरे में बँधना ही पड़ेगा। इस तरह के सम्बन्धों की मधुरता भी यहीं तक सीमित है। यही हाल परिवार की धारणा से उपजी संवेदनशीलता का है। उसका फैलाव मुट्ठी भर कुटुम्बी-जनों के बाहर नहीं निकल सकता। राष्ट्र का दायरा व्यापक और विस्तृत जरूर है पर उसमें विश्वानुभूति नहीं है। विश्वानुभूति के लिए सांस्कृतिक संवेदना का उफान चाहिए।

इसी का एक नाम आध्यात्मिक संवेदना भी है। जिसका बोध श्वेताश्वर उपनिषद् के शब्दों में 'वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियों के हृदय रूपी गुहा में छुपे हुए हैं। वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी परमात्मा हैं।'[१] अतः सम्बन्धों का जन्म ही वहाँ होता है जहाँ भावनाएँ स्पन्दित होती हैं। निष्ठुरता में कभी किसी तरह के रिश्ते नहीं उपजते। यह सामंजस्य की वह परम स्थिति है जहाँ से प्रेम झरने लगे।

यह बोध जितना व्यापक और सघन होगा एकत्व उतना ही विस्तृत होता जायगा। लेकिन यह अपने अर्थ और तत्त्व में राजनीतिक और भौगोलिक भूमिकाओं से नितान्त दूर होते हुए भी मानव हृदय के सबसे नजदीक है। इस तरह के प्रयास और परिणति में मानव की स्वतंत्रता का हरण न तो किया जाता है और न होता है। हाँ वह स्वयं अपनी अन्तर भावनाओं की कसक और हुलस के कारण आकुल-व्याकुल होकर अपने स्वार्थों का उत्सर्ग कर डालता है। 'स्वतंत्रता' तो मानव की सबसे अमूल्य निधि है। किसी भी कीमत पर इसके त्याग के लिए उसे विवश नहीं किया जाना चाहिए। विश्व राष्ट्र की स्थापना और मानवीय स्वतंत्रता में से किसी एक को चुनना पड़े तो निश्चित रूप से मानवीय स्वतंत्रता को चुनना ज्यादा श्रेयस्कर होगा। क्योंकि यह मानव व्यक्तित्व में समाई विशिष्टताओं के विकास के लिए सर्वोत्कृष्ट और अनिवार्य अवस्था है। पिछले दिनों मानव जाति को कुण्ठाओं से खण्डित व्यक्तित्व और अर्धविक्षिप्तता की जो गहरी पीड़ा भोगनी पड़ी है उसका एक मात्र कारण उसका स्वातंत्र्य हनन रहा है।

विश्व के जीवन में सांस्कृतिक समाधान ही एक मात्र वह प्रक्रिया है जो अपनी चरम परिणति में उसे एकता और स्वतंत्रता दोनों अलभ्य उपलब्धियाँ एक साथ सौंपने में समर्थ हैं। संस्कृति के चार अध्याय ग्रंथ के लेखक रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों को उद्धृत करें- 'विश्व की भावी एकता की भूमिका भारत की सामासिक संस्कृति में है। जैसे भारत ने किसी भी धर्म का दलन किए बिना अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की। जैसे इसने किसी भी जाति की विशेषता को नष्ट किए बगैर सभी जातियों को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किया। कुछ इसी प्रकार हम संसार के सभी देशों सभी जातियों एवं सभी विचारों के बीच एकता स्थापित कर सकते हैं।'[२] सांस्कृतिक प्रश्न और उसके समधान के ये प्रयत्न मनुष्य के जीवन सम्बन्धी विचार, कोशिशें और भावनाओं की ऐसी प्रवृत्ति के रूप में

---

१. एकोदेवो सर्वभूतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। -श्वेताश्वर उप., ६/११
२. रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ९

इसी का एक नाम आध्यात्मिक संवेदना भी है। जिसका बोध श्वेताश्वर उपनिषद् के शब्दों में 'वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियों के हृदय रूपी गुहा में छुपे हुए हैं। वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी परमात्मा हैं।'[1] अतः सम्बन्धों का जन्म ही वहाँ होता है जहाँ भा… होती हैं। निष्ठुरता में
… वह परम स्थिति है

… ना ही विस्तृत होता
… भौगोलिक भूमिकाओं
… इस तरह के प्रयास
… ता है और न होता
है … के कारण आकुल-
व … त्रता' तो मानव की
स … लिए उसे विवश
न … य स्वतंत्रता में से
वि … को चुनना ज्यादा
श्रे … ओं के विकास के
लि … जाति को कुण्ठाओं
से … नी पड़ी है उसका
एव …

… ह प्रक्रिया है जो
अप … उपलब्धियाँ एक
साथ … क रामधारी सिंह
दिन … मिका भारत की
साम … किए बिना अपने
यहाँ … की विशेषता को
नष्ट … किया। कुछ इसी
प्रका … के बीच एकता
स्थापि … ये प्रयत्न मनुष्य
के जीवन सम्बन्धी विचार, कोशिशें और भावनाओं की ऐसी प्रवृत्ति के रूप में

---

१. एकोदेवो सर्वभूतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। -श्वेताश्वर उप., ६/११

२. रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ९

उभरेंगे जो सामूहिक मन को वशीभूत कर लेगा, इसका परिणाम होगा मानव जीवन के समस्त क्षेत्र में गम्भीर और अद्‌भुत परिवर्तन। भावलोक में इसका दिव्य दर्शन कर जर्मन दार्शनिक शापेनहावर ने भविष्यवाणी की थी। जिसका जिक्र करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने अपने व्याख्यान में कहा था वे जर्मन ऋषि कह गए हैं शीघ्र ही विश्व-विचार जगत् में सर्वाधिक शक्तिशाली और दिगन्त व्यापी सांस्कृतिक क्रांति का साक्षी होने वाला है। विचारों का यह तूफान उपनिषदों के देश से उठेगा।[३] इस दैवी विधान की चरम परिणति को स्वीकार करते हुए श्री अरविन्द का 'द आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी' में कहना है कि यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य जाति की एकता प्रकृति की अंतिम योजना का अंग है और यह सिद्ध होकर रहेगी।

यह योजना अपने प्रारम्भ से ही विश्व को एक नया रंग और वातावरण, उच्चतर भावना, एक महत्तर उद्देश्य प्रदान करेगी। इस प्रारम्भ का अंतिम परिणाम होगा विश्व राष्ट्र का नया युग व्यवस्थाओं, प्रणालियों, नीतियों की दृष्टि से अद्‌भुत होने के साथ व्यक्तित्व संरचना की दृष्टि से भी अभूतपूर्व होगा। अपने इन्हीं भावों को काव्य के माध्यम से बंगला कवि नजरुल ने इस तरह व्यक्त किया है 'डरो मत! डरो मत! बहुत दिनों के बाद भारत में प्राण आया है। श्मशान और कब्र स्थान दोनों सजीव हो उठे हैं। भारत जाग उठा है। अमृत भी आएगा अब विलम्ब नहीं है। हलाहल तो ऊपर आ ही चुका है।'[४] इस प्रकार सांस्कृतिक पुनरोदय का यह स्वर और स्पष्ट सुनाई देने लगा है। इस सांस्कृतिक पुनरोदय के वर्तमान प्रयास जिन महान् मनीषियों द्वारा किया गया वे हैं- स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, महर्षि अरविंद एवं आचार्य श्रीराम शर्मा।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा वैदिक संस्कृति का नवोत्थान

१२ जनवरी १८६३ को भारत के सांस्कृति गगन से पहली किरण फूटी। स्वामी विवेकानन्द के रूप में इसी शुभ दिन वैदिक संस्कृति के नव्योत्थान ने नवजन्म पाया था। स्वामीजी सांस्कृतिक नवजागरण के प्रथम मंत्रद्रष्टा थे। वे भारतीय

---

३. स्वामी विवेकानन्द का १६ जनवरी १८९० का व्याख्यान।

४. मा भैः। मा भैः एतोदिने बुझी जागिलो भारत प्राण,
सजीव होइया उठिया छे आज श्मशान गोर स्थान।
जेगेछे भारत उठि वे अमृत, देरी नाई आर, उठियाछे हलाहल॥
- नजरूल

पौरुष, सांस्कृतिक पुरुष, मेधा एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के प्रतीक थे। वे शाश्वत के प्रतिनिधि थे। उन्होंने अपनी गहन अन्तर्दृष्टि से वैदिक संस्कृति का नवोन्मेष देखा था। नवयुग के इस ऋषि ने महान् वैदिक संस्कृति के पुनर्जागरण का शंखनाद किया।

❑ समसामयिक संकट

उपनिषदों के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियों का देश रहा था। एक दृष्टि से निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म के अंदर की राजनीति है, जैसे साहित्य की राजनीति क्लासिक और रोमांटिक का विवाद है, किन्तु राजनीति यह केवल पंडितों की है। पंडित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं, बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को निस्सार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मान कर उसका उपभोग करते हैं, किन्तु इस जालसाजी से जन-साधारण मारा जाता है। जनता के पास छल-प्रपंच और दाँव-पेंच उतने नहीं होते जितने पण्डितों के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पण्डित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते हैं, जनता के कर्म बहुत कुछ उसी के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दु प्रवृत्ति मार्गी थे। उनके ऋषि भी गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले थे। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नहीं होता। उस समय हलवाहे और विद्वान दोनों एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे ही कर्मठ लोगों का समाज था, जब कर्म रूपी हाथ और विचार रूपी मस्तिष्क में कोई वैर नहीं था। तब उपनिषद् का समय आया और पण्डितों ने यह सिद्धान्त निकाला कि जीवन का सर्वश्रेक्ष्ठ लक्ष्य मोक्ष है। और मोक्ष पाने के लिए कामिनी और कांचन का त्याग आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दरुस्त नौजवान संन्यासी होने लगे और नारियों की मर्यादा समाज में घटने लगी। संन्यास की उतनी महिमा गायी गई कि सारा समाज सन्यासियों से भर गया। फिर तो भारत में सदियों तक निवृत्ति-निवृत्ति की भयानक ध्वनि गूँजती रही। भक्ति काल में आकर निवृत्ति का जहर कुछ कम अवश्य हुआ, किन्तु पंडित और कवि स्वयं निवृत्ति के संस्कारों से ग्रसित थे। दार्शनिक स्तर पर जीवन को असत्य कहते-कहते हिन्दुओं ने उसे सचमुच ही असत्य मान लिया एवं देश और समाज से उनकी दिलचस्पी दिनों दिन कम होती चली गयी। प्रत्येक हिन्दु मातृगर्भ से ही, इस विश्वास को लेकर आने लगा कि परलोक की साधना सबसे श्रेष्ठ सुकर्म है, चाहे लोक हमारे हाथों से छूट ही क्यों न जाय। इसलिए, कंठी, माला, आरती और घण्टे में मग्न हिन्दुओं को इस बात का कभी पश्चाताप ही नहीं हुआ कि उनका देश पराधीन है अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं। यही विचित्र विडम्बना रही कि धर्म को

अफीम कहने वाला चिन्तक यूरोप में जन्मा, जबकि यह चिन्तन अपनी ही संस्कृति एवं धर्म का सर्वनाश करने पर उतारू हो गया।

अनेक कुप्रथाओं को मिटाने के उद्देश्य से हिन्दू समाज अपने को विविध बंधनों में बाँधने लगा। विदेशगमन प्रायः निषिद्ध हो गया तथा हिन्दू राजशक्ति के अभाव की पूर्ति के लिए समाज के संरक्षण की व्यवस्था पुरोहितों ने अपने हाथ में ले ली। विभिन्न कारणों से हिन्दुओं में जातिभेद-प्रथा, नारियों की पर्दा-प्रथा को हिन्दु समाज ने भी स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे ऐसी अवस्था हो गयी कि स्वाभाविक और सबल मार्ग के सहारे आत्मविकास का अवसर नहीं पाने के कारण समाज ने वीभत्स वामाचार आदि गोपनीय क्रिया-कर्मों का सहारा ले लिया। संस्कृति के नाम पर एक अन्तर्घाती दुराचार भारतीय समाज में आसीन हो गया। विदेशियों के द्वारा भारतीयों के सुख और स्वच्छन्दता की अपेक्षा अपनी धन-सम्पदा की वृद्धि और भोग व्यवस्था में मन लगाने से भारत में दरिद्रता बढ़ गई। संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में उन दिनों भारत पतित और पथभ्रान्त हो गया था। अथवा ऐसा लगता था मानों भारतीयों की भारतीयता शीघ्र ही पूरी तरह मिट जायगी।

फिर इस विपत्ति के अंतिम भाग में आई पश्चिमी जातियाँ विशेषकर अंग्रेज लोग। उन लोगों की संस्कृति, हाव-भाव, बोलचाल सब पूर्णतः अलग ही ढंग के थे। उनके व्यापार और संस्कृति के प्रचार-प्रसार की रीति भी दूसरी तरह की थी। व्यापार के बहाने से धन लुटना ही उन लोगों का मुख्य प्रयोजन था। इस कार्य में सहायता पाने के लिए भारत में अपनी संस्कृति का प्रचार कर, इस देश के निवासियों के हृदय में पश्चिम जगत के लोगों की तरह कुलीनता प्राप्त करने की लालसा जगाकर तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्वी देशवासियों द्वारा पश्चिमी संस्कृति के सामने अपनी हीनता स्वीकार कराकर, केवल बाह्य जगत् में ही नहीं, बल्कि मनोजगत में भी सब के लिए अधिकार जताना चाहते थे। भारत में भरपूर अंग्रेजी संस्कृति का विकृत विष पिलाया गया। पश्चिमी वेश-भूषा, भोजन, शिष्टाचार, व्यक्तिगत धर्म आदि बातों का खूब प्रचार किया गया। भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की शुरूआत की गयी। इन सब सुरुचिकर बातों, ऐश्वर्य की चमक-दमक, वैभव-विलास के आकर्षण एवं अस्त्र-शस्त्र की अदम्य शक्ति के सामने भारतीयों की प्रतिभा अत्यन्त मलिन हो गयी थी। भारतीय समाज ने अपनी प्राचीन संस्कृति की पृष्ठभूमि से अपने समय के लिए उपयोगी नयी-नयी सबल व्यवस्थाओं की शुरूआत करने के बदले दूसरों के अनुकरण, दूसरों के अनुसरण तथा दास सुलभ दुर्बलता का आश्रय ग्रहण किया था। उन दिनों शिक्षित वर्ग के लोग अंग्रेजों के

समान खान-पान, वेश-भूषा आदि को लेकर ही व्यस्त रहते थे। खुलेआम, अभक्ष्य भोजन और मदिरापान करना उन दिनों सभ्यता का अंग माना जाता था। भारतीय संस्कृति की नाविक विहीन नौका उन दिनों पश्चिमी वायुवेग के प्रभाव से लक्ष्यभ्रष्ट होकर डगमगाने लगी।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम काल से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल तक भारत का वायु मण्डल कई प्रकार की विरोधी आलोचनाओं, भौतिकवाद और नास्तिकता के द्वारा विषाक्त हो गया था। एक ओर ईसाई मिशनरियाँ हिन्दू संस्कृति की निन्दा बार-बार उत्साह से भरकर कर रहीं थीं तथा छल-बल-कौशल से भारतीय संस्कृति को विकृत करने में दृढ़प्रतिज्ञ होकर लगी हुई थीं और दूसरी ओंर धर्म विमुख पश्चिमी विज्ञान अपनी सफलता के गर्व से चूर होकर श्रद्धा भक्ति, गुरु परम्परा, इतिहास-पुराण, रीति-नीति आदि को लुप्त कर देने का जैसे निश्चय कर चुका था। इस पश्चिमी संस्कृति और विज्ञान के दुहरे आक्रमण के समक्ष टिके रहना बहुत आसान नहीं था। तथापि भारत एक अत्यन्त प्राचीन देश है। इसने अपने हृदय में हजारों वर्षों से अतीत के गौरव संजोये रखा है तथा पूर्व कालीन मनीषियों द्वारा दिखाए गये पथ पर चलकर अगणित बाधा-विपत्तियों को लांघते हुए इसने युगोपयोगी नयी सांस्कृतिक पद्धतियों का आविष्कार किया है। अत: इन सांस्कृतिक संकटों के तमसाच्छन्न कुहासे के बीच प्रखर ज्योतिर्मयी विवेकानन्द रूपी सांस्कृतिक सूर्य का आविर्भाव हुआ। उन्हें अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखायी पड़े। सबसे बड़ा काम सांस्कृतिक पुनर्जागरण का था। बुद्धिवादी मनुष्यों की श्रद्धा वैदिक संस्कृति पर से केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत सभी देशों में हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि वैदिक संस्कृति की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाय जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो मनुष्य की इहलौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले। दूसरा काम वैदिक संस्कृति पर कम से कम, भारतीयों की श्रद्धा जमाये रखना। किन्तु भारतीय यूरोप के प्रभाव में आ चुके थे। तथा अपनी संस्कृति और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार न थे, जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशंसा नहीं करें। और तीसरा काम भारतवासियों में आत्मगौरव की भावना प्रेरित करना था। उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और महान् आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।

इस प्रकार राजा राममोहन राय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशवसेन, रानाडे, एनी बेसेन्ट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा

सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह स्वामी विवेकानन्द के मुख से उद्‌गीर्ण हुआ। अभिनव भारत की वैदिक संस्कृति को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत स्वामी विवेकानन्द ने दिया।

❑ वैदिक संस्कृति का विजय घोष

सन् १८९३ में शिकागो (अमेरिका) में निखिल विश्व के धर्मों का एक महासभा सम्मेलन हुआ था। स्वामी जी ने इस सम्मेलन में वैदिक संस्कृति का ऐसा शंखनाद किया जैसा न तो कभी पहले हुआ था और उसके बाद से लेकर आज तक हो पाया है। गूँज और प्रतिध्वनि की दृष्टि से यह विजय घोष अभूतपूर्व एवं आश्चर्यजनक था। शिकागो-सम्मेलन में स्वामीजी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और जिस वाग्मिता का परिचय दिया उससे समस्त विश्व चमत्कृत हो उठा। वहाँ के सभी .लोग मंत्रमुग्ध और पहले ही दिन से उनके भक्त हो गये। उनके प्रखर एवं ओजस्वी भाषणों पर टिप्पणी करते हुए 'द न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा कि धर्मों की पार्लियामेण्ट में सबसे महान् व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म प्रचारक भेजने की बात कितनी मूर्खतापूर्ण है।[५] न्यूयार्क क्रिटिक के अनुसार 'स्वामीजी अपने वक्तृत्व को धारा प्रवाह के रूप में कहते हुए अपूर्व कौशल तथा आन्तरिकता के साथ निष्कर्ष तक पहुँचते हैं और अन्तर की गहन प्रेरणा कभी-कभी उनके भाषाण को अपूर्व वाग्मिता से युक्त कर देती है।'[६] महर्षि अरविंद का कहना है कि स्वामी विवेकानन्द के द्वारा अमेरिका में किये गये सांस्कृतिक पुरुषार्थ को करने के लिए लन्दन कांग्रेस जैसे सैकड़ों कांग्रेसों का सम्मिलित प्रयास भी कम पड़ जायगा।[७]

स्वामी जी ईसाई राष्ट्र के विरुद्ध हिंस्र आक्रमण करते हुए बाले 'हम लोग जो प्राच्य जगत् से आये हैं, यहाँ दिन पर दिन बैठकर ऐसी शेखी भरी दादागिरी की बातें सुनते रहें कि हम लोगों को ईसाई हो जाना चाहिए, क्योंकि ईसाई राष्ट्र ही सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली है। आस-पास नजर दौड़ाने पर हमारी दृष्टि दुनिया के सर्वाधिक समृद्ध राष्ट्र इंग्लैण्ड की ओर जाता है, जिसके पाँव के नीचे २५ करोड़

---

५. रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४९९
६. स्वामी गम्भीरानन्द- युगनायक विवेकानन्द, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३१
७. Swami Jyotirmayanand- Vivekananda A Comprehensive Study, p.239

एशियावासियों की गरदन है। अतीत के इतिहास का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि ईसाई यूरोप की समृद्धि का सूत्रपात स्पेन से हुआ और स्पेन की समृद्धि का आरम्भ हुई मैक्सिको पर आक्रमण से। अपने ही मानव भाइयों का गला काटकर ईसाई संस्कृति ऐश्वर्य अर्ज़ित करती है। ऐसी कीमत पर वैदिक संस्कृति समृद्धि होना नहीं चाहती।"[८] स्वामी जी ने वहाँ बड़े संक्षेप में वैदिक संस्कृति, दर्शन, मनोविज्ञान, सामान्य मत एवं विश्वास, आचार-विचार आदि का परिचय दिया था। इस प्रकार वैदिक चिन्तनराशि को एक अखण्ड सुसम्बद्ध दर्शनमूलक संस्कृति के रूप में ऐसी स्पष्ट तथा सुदृढ़ भाषा में इसके पूर्व कभी किसी ने विधर्मियों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया था। प्राचीन वैदिक सत्यद्रष्टा ऋषियों के समान श्रोताओं को 'अमृत के पुत्रों' कहकर सम्बोधित करते हुए महापुरुषोचित स्वर तथा भाषा में कहा- 'अमृत के पुत्रों' कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह। बन्धुओं! मैं इसी मधुर नाम से तुम लोगों को सम्बोधित करना चाहता हूँ। तुम अमृत के अधिकारी हो। हिन्दू तुम्हें पापी कहने से इंकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, चिर आनन्द के भागी हो, पवित्र और पूर्ण हो। मृत्युलोक के देवता हो तुम। तुम और पापी? मनुष्य को पापी कहना ही महापाप है। मानव के यथार्थ स्वरूप पर यह घोर लांछन है। उठो सिंहों! आओ और इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर कर दो कि तुम भेड़ हो। तुम अजर आत्मा, मुक्त आत्मा, नित्य आनन्दमय हो। तुम जड़ नहीं हो, शरीर नहीं हो, जड़ तो तुम्हारा दास है, तुम जड़ के दास नहीं। वेद जो ऐसी घोषणा करते हैं, 'वह' कतिपय नियमों का भयावह संघात नहीं है और न ही कार्य-कारण का अनन्त कारागार है। अपितु इन समस्त नियमों के परे प्रत्येक परमाणु व शक्ति में ओत-प्रोत है वे एक विराट् पुरुष, जिनके आदेश से वायु प्रवाहित होती है, अग्नि दहकती है, मेघ बरसते हैं और पृथ्वी पर ताण्डव करती है।[९]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं 'किन्हीं मतवादों या सिद्धान्तों में विश्वास करने के प्रयास में वैदिक संस्कृति निहित नहीं है, अपरोक्षानुभूति ही उसका मूलमंत्र है, वह केवल विश्वास कर लेना नहीं, अपितु होना और बनना है।"[१०] पूर्व गगन में नक्षत्र का उदय हुआ है। कभी धुँधला और कभी देदीप्यमान होते हुए वह धीरे-धीरे पश्चिम की ओर अग्रसर होता रहा। क्रमशः सम्पूर्ण जगत् की प्रदक्षिणा

---

८. शिकाडो डेली ट्रिब्यून, २० सितम्बर, १८९५

९. स्वामी गम्भीरानन्द- युगनायक विवेकानन्द, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३६

१०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-१, पृष्ठ १४

कर लेने के बाद वह पुनः पहले की अपेक्षा सहस्त्रगुनी ज्योति के साथ पूर्व गगन में सानपो (ब्रह्मपुत्र) नदी के क्षितिज पर उदित हो रहा है।[११] इस प्रकार जब उन्होंने कहा कि विश्व की समस्त भावधाराएँ ही सर्वव्यापी आदर्श की विविध अभिव्यक्तियों के रूप में स्वीकृत हो सकती हैं और उसी का अंग मानी जा सकती हैं, तब समझ लेना होगा कि जिस एकांगीपन और सांस्कृतिक उन्माद के फलस्वरूप मानवीय संस्कृति की प्रगति अवरुद्ध हुई है तथा इसके नाम पर खून की नदियाँ बही हैं, अब उसका समूल नाश आसन्न है। अतएव जो लोग पहले से ही धर्म के बारे में संकीर्ण मनोवृत्ति के थे, आज उनके भी हृदय-द्वार खुल जाने से विश्वबन्धुत्व का नवीन आलोक उसमें प्रविष्ट होकर एक नवीन संस्कृति का पूर्वाभास दे रहा था। स्वामी जी के एक नवीन विचारधारा, एक नूतन संस्कृति का जन्म दिया। ईसाई जगत् भी एक बार पुनः अपने विश्वास की नींव की परीक्षा करने तथा उसे पुनः व्यवस्थित करने को उद्यत हुआ। महासभा में स्वामीजी के व्याख्यान के महत्त्व का वर्णन करते हुए भगिनी निवेदिता की चिन्तनशील लेखनी से जो कुछ निकला था वह अत्यन्त सत्य है- 'धर्ममहासभा में प्रदत्त स्वामी जी के व्याख्यान के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जब उन्होंने भाषण देना आरम्भ किया तो उनका विषय था- हिन्दुओं के धार्मिक विचार, परन्तु जब उनका भाषण समाप्त हुआ, तो अभिनव हिन्दु धर्म की सृष्टि हो चुकी थी।'

भगिनी निवेदिता आगे कहती हैं 'भारत की सांस्कृतिक चेतना, उसके सम्पूर्ण अतीत द्वारा निर्धारित सम्पूर्ण देशवासियों का सन्देश ही उनके माध्यम से मुखरित हो उठा था। जब वे पश्चिम के यौवनकाल-मध्याह्न के समय में व्याख्यान दे रहे थे, तभी प्रशान्त के दूसरी ओर पृथ्वी के तमसाच्छन्न गोलार्ध की छायाओं में निद्रित एक राष्ट्र आसन्मुख हो उस सन्देश की बाट जोह रहा था, जो अरुणोदय के पंखों पर आकर उसकी अपनी महिमा व शक्ति के गूढ़ रहस्य को उद्‌घाटित करने वाला था। उसी मंच पर स्वामीजी के पास अन्य संस्कृति, मतों व संघों के प्रवक्ता भी उपस्थित थे, परन्तु एक ऐसी संस्कृति का प्रचार करने का गौरव उन्हीं को प्राप्त हुआ, जिसकी उपलब्धि के लिए, उन्हीं की भाषा में उनमें से प्रत्येक, विभिन्न नर-नारियों की विभिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से होकर एक ही लक्ष्य तक पहुँचने की यात्रा, अग्रसर होने का प्रयास मात्र है। स्वामीजी का कहना है कि वैदिक संस्कृति की दृष्टि में 'मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जाता, अपितु सत्य से सत्य की ओर अग्रसर होता है- निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर।'

---

११. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-१, पृष्ठ २१

क्योंकि सत्य का स्वरूप ऐसा है कि जो कोई उसे देख लेता है, उसे एकदम पूरा विश्वास हो जाता है।[१२] मानव इतिहास के सुदीर्घ एवं जटिलतम अनुभूतियों द्वारा प्रमाणित इस संस्कृति को भारत वर्ष ने स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से आज के पाश्चात्य जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया।

स्वामी जी ने वैदिक संस्कृति को पूर्णतया प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि में जो कुछ सत्य है, वही वेद है। वे कहते हैं वेद का अर्थ कोई पुस्तक नहीं है, उसका अर्थ है 'आध्यात्मिक सत्यों का संचित कोष।' प्रसंगानुसार उन्होंने वैदिक संस्कृति के बारे में भी अपनी धारणा व्यक्त की है। 'वेदान्त दर्शन की अत्युच्च आध्यात्मिक उड़ानों से लेकर आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं। मूर्तिपूजा के निम्नस्तरीय विचारों व तदानुषंगिक विविध पुराण दन्तकथाओं तक और बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद तक इनमें से प्रत्येक के लिए वैदिक संस्कृति में स्थान है। उनके मतानुसार हर व्यक्ति स्वतंत्र है और अपने ढंग से ईश्वर को खोजने का अधिकारी है। परन्तु सबका यह समावेश और प्रत्येक की यह स्वाधीनता वैदिक संस्कृति की ऐसी महिमा का द्योतक न बन पाती, यदि उसके शास्त्रों से वह मधुरतम आश्वासन की वाणी ध्वनित न होती- हे अमृतपुत्रों! सुनो! दिव्यधाम के निवासियों! तुम भी सुनो। मैंने उस महान पुरातन पुरुष को देख लिया है, जो समस्त अंधकार और अज्ञान के परे हैं। तुम भी उन्हें जानकर मृत्यु पर विजय पा सकोगे। यही वह सन्देश है जिसके लिए बाकी सब है और चिरकाल से चला आ रहा है। यही वह चरम अनुभूति है, जिसमें अन्य सारी अनुभूतियाँ विलिन हो सकती हैं।'

स्वामी विवेकानन्द महासभा के अंतिम दिन २७ सितम्बर को अपने विदाई भाषण के अन्त में बोले 'ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं होना है और न ही हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनना है, पर प्रत्येक को चाहिए कि वह अन्य संस्कृति के सार भाग को आत्मसात करके पुष्ट हो और अपने वैशिष्ट्य को बनाये रखकर अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित हो। यदि इस महासभा ने जगत् के समक्ष कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है- इसने सिद्ध कर दिया है कि साधुता पवित्रता और दयाशीलता किसी संस्कृति विशेष की बपौती नहीं है तथा प्रत्येक संस्कृति में ही अति उन्नत चरित्र के नर-नारियों का जन्म हुआ है। इन समस्त प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि केवल उसी की संस्कृति टिकी रहेगी और अन्य सारी संस्कृति लुप्त हो जाएगी, तो वह वस्तुतः दया का पात्र है, मैं

---

१२. विवेकानन्द साहित्य तृतीय खण्ड, पृष्ठ १०९

उसके लिए हृदय से दुखी हूँ और उसे स्पष्ट रूप से बताए देता हूँ कि समस्त प्रतिरोधों के बावजूद शीघ्र ही प्रत्येक धर्म की पताका पर लिखा होगा- संघर्ष नहीं- सहायता, विनाश नहीं- ग्रहण, मतभेद और कलह नहीं- समन्वय और शान्ति।'[१३]

महासभा के पहले दिन ही एक अज्ञात भिक्षान्नजीवी संन्यासी विश्ववंद्य व्यक्ति में परिणत हुआ। भारत के गिरि कन्दराओं तथा वनों में विचरण करने वाले नि:संग विवेकानन्द एक नये संदेश के वाहक, एक अभिनव संस्कृति के अग्रदूत हुए। महासभा की विज्ञान शाखा के सभापति श्री मरविन-मेरी-स्नेल ने लिखा था 'महासभा तथा अमेरिकी जनता पर वैदिक संस्कृति ने जैसा प्रभाव डाला, वैसा और कोई भी सम्प्रदाय नहीं कर सका। हिन्दुओं के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठतम प्रवक्ता में स्वामी विवेकानन्द, फिर वे ही असंदिग्ध रूप से महासभा के सर्वाधिक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली व्यक्ति भी थे।'[१४] कट्टर से कट्टर ईसाई भी उनके बारे में कहते कि वे सचमुच ही मनुष्यों में महाराज हैं। महासभा में स्वामीजी की उपस्थिति के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीमती एनी बेसेन्ट ने लिखा था 'शिकागो के धूम्रमलिन क्षिजित पर भारतीय सूर्य के समान दीप्तिमान, सिंह के समान उन्नत सिर, अन्तर्भेदी दृष्टि, चंचल-ओष्ठद्वय, मनोहर तथा द्रुतचाल, गैरिक वस्त्रों में विभूषित एक महिमामय मूर्ति स्वामी विवेकानन्द प्राचीनतम जीवन संस्कृति के प्रतिनिधि थे। वे जो संस्कृति संदेश लेकर आये थे, उसके अनुपम सौन्दर्य के सामने भारत का हृदय स्वरूप, भारत के प्राण स्वरूप प्राच्य के उस अतुलनीय संदेश, उस अद्भूत आत्मविद्या के गांभीर्य के सामने शेष सब फीका पड़ जाता था। विशाल जनसमुदाय भाव विभोर होकर उनके मुख से उच्चारित शब्दों के लिए कान खड़े रखता था कि कहीं एक भी शब्द से वंचित न रह जाये, एक भी उच्चारण का लहजा न छूट जाय। सभागार से निकलते हुए एक श्रोता कह उठा 'ऐसे व्यक्ति को हम लोग जंगली धर्मवाला कहते हैं और उनके देश में मिशनरी भेजते हैं, बल्कि उचित तो यह होगा कि वे लोग ही हमारे बीच मिशनरी भेजें।'[१५]

अमेरिका की एक कवियत्री हैरियट मनरो महासभा में उपस्थित थीं और बाद में उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वामी जी के बारे में लिखा 'इन शेषोक्त व्यक्ति महिमामय स्वामी विवेकानन्द ने ही धर्मसभा और पूरे नगर को जीत लिया

---

१३. 'विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-१, पृष्ठ २६-२७
१४. स्वामी गम्भीरानन्द- युगनायक विवेकानन्द, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ४२-४३
१५. वही, पृष्ठ ४४

था। उनका प्रबल और आकर्षक व्यक्तित्व, कांसे के घण्टा ध्वनि के समान उनका गंभीर और मधुर कण्ठ स्वर, उनके संयत भावोच्छ्वास की प्रखरता और पाश्चात्य जगत् के समक्ष पहली बार उच्चारित उनके संदेश का सौन्दर्य, इन सब ने मिलकर हमारे जगत् के लिए चरम अनुभूति के एक विरल अवसर की सृष्टि की थी। मानवीय वाग्विदग्धता की यह पराकाष्ठा थी।'[१६]

इस प्रकार स्वामी जी ने अपने भाषणों, वार्तालापों, लेखों, कविताओं, विवादों और वक्तव्यों के द्वारा वैदिक संस्कृति के सार को सारे पाश्चात्य जगत् में फैला दिया। प्राय: डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म प्रचारक संसार में हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उन पर अकेले स्वामी जी के कर्त्तृत्व ने रोक लगा दी इससे भारतवासियों भी अपनी प्राचीन संस्कृति के गौरव का अनुभव तीव्रता से करने लगे। भारतीय संस्कृति को लीलने के लिए, अंग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म एवं संस्कृति और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया। इसी दिन से भारत का नव जागरण अभियान नवीन उत्साह के साथ नवीनतर सफलता की ओर प्रारम्भ हुआ।

❑ अभिनव भारत निर्माण के वैदिक सूत्र

शिकागो की धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द के विजय घोष ने भारत के अंग-प्रत्यंग में एक सिहरन ला दी थी। भारतमाता के वरदपुत्र ने अपने देश का सांस्कृतिक सन्देश जिस ढंग से पाश्चात्य जगत् में प्रचारित किया, उसके द्वारा भारत की अन्तरात्मा को एक नये प्रकार से आत्मपरिचय मिला था। और इसके फलस्वरूप उसका सम्पूर्ण मन आत्मविश्वास से परिपूर्ण हो उठा। भारत वर्ष को वे क्षीण और कोमल-वयु-संन्यासियों का देश नहीं बनाना चाहते थे। न उनको यह स्वीकार था कि यहाँ के लोग कमजोर होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का दंश सहते हुए मौन रहें। वे कहते थे 'आकृति में दमकती हुई कांति, हृदय में अदम्य उत्साह और कर्म-चेष्ठा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्व की पहचान हैं।' इसके विपरित तमस का लक्षण आलस्य और शैचित्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है। वे शक्तिशाली भारत का निर्माण करना चाहते थे।

भारत की उन्नति सम्बन्धी विचारधारा को उन्होंने इन रूपों में रेखांकित किया है; १. धर्म के ऊपर कोई आघात पहुँचाए बिना भारतीय जनता को सर्वांगीण

---

१६. स्वामी गम्भीरानन्द- युगनायक विवेकानन्द, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ४४

उन्नति का अवसर देना होगा। परन्तु धर्म केवल आचार में ही सीमाबद्ध न रहकर अनुभूति के ऐश्वर्य से मण्डित हो। २. अस्पृश्यता को दूर करना होगा। जातिभेद जन्मगत न होकर गुणगत हो। ३. जिनमें सामर्थ्य हो, उन्हें पीड़ित जनता की सहायता करनी चाहिए, ताकि देश की उन्नति विप्लव के पथ पर न चलकर क्रमोन्नति के पथ पर अग्रसर हो सके। ४. नारी-समाज के लिए उपर्युक्त शिक्षा तथा आत्मोन्नति का पथ प्रशस्त कर देना होगा। सुशिक्षित नारियाँ स्वयं ही अपनी समस्याओं का समाधान कर लेंगी। ५. वास्तविक शिक्षा को सर्वव्यापी बना डालना होगा और वह शिक्षा केवल पुस्तक पठन तक ही सीमित न रहकर चरित्र निर्माण तथा आत्मविकास के अनुकूल होगी। ६. भौतिक विज्ञान तथा शिल्प कलाओं की शिक्षा तथा इन विषयों में उन्नति करना उचित होगा। ७. समाज को धर्म के बंधन में न रखकर उसके विकास का पथ उन्मुक्त कर देना होगा और इसके लिए अन्य देशों से आदान-प्रदान तथा विश्वबंधुत्व भाव का अवलम्बन करना आवश्यक है।'[१७]

भविष्य का भारत गढ़ने के लिए इन सूत्रों के लिए साहस एवं बल की आवश्यकता है। स्वामीजी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे बाहर लाना है। वे कहते हैं 'कोमलता की साधना करते-करते हम लोग रुई के ढेर की तरह कोमल और मृतप्राय हो गए हैं। हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है लोहे की तरह ठोस मांसपेशियों और मजबूत स्नायुवाले शरीरों की। आवश्यकता है इस तरह के दृढ़ इच्छा शक्ति सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो।'[१८] वे आगे उद्घोष करते हैं 'मैं भारत में लोहे की मांसपेशियों और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शंपाओं एवं वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य और ब्रह्म तेज, इनके समन्वय से भारत की नयी मानवता का निर्माण होना चाहिए।' मृत्यु का ध्यान करो। प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय वश में आयेगा। संभव हो तो जीवन को छोड़कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र-शिव से एकाकार हो जाओ। अपने कलेजे को बाहर निकालो और निकालकर पूजा की वेदी पर उसे लहुलुहान चढ़ा दो। अतीत के अवशेषों से एक ऐसा नवजाग्रत् भारत पैदा हो रहा है, जिसके लिए वीरों

---

१७. स्वामी गम्भीरानन्द- युगनायक विवेकानन्द, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३४१

१८. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ ८६

का शौर्य एवं रक्त का मूल्य चुकाना है। मेरे भीतर जो आग जल रही है, वही तुम्हारे भीतर जल उठे।

संस्कृति का ध्यान करते-करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा सोपान उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जाग्रत् करना था। स्वामी जी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी संस्कृति से निकालीं एवं रुद्र-शिव तथा महाकाली को लोगों का आराध्य बना दिया। स्वामी जी की अहिंसा और वैराग्य भावना में भी क्षात्रधर्म का स्पर्श था। जिन विचारों, जिन धर्मों और आचारों से कायरता की वृद्धि एवं पौरुष का दलन होता है, स्वामी जी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। स्वामी जी न तो धर्म-युद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति थी कि क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौड़ना ही चाहिए। किन्तु हिंसा को कदाचित, वे सभी स्थितियों में त्याज्य नहीं मानते थे। इसलिए वे कहते थे क्षमा भी कमजोर होने पर अक्षम्य है, असत्य और अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम धर्म है। क्षमा तो तभी करनी चाहिए जबकि तुम्हारी भुजा में विजय की शक्ति विद्यमान हो। इसलिए भविष्य भारत के नवयुवकों को आह्वान करते हुए उन्होंने कहा- उठो जागो और जब तक तुम अपने अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँच जाते, तब तक चैन न लो। उठो, जागो, निर्बलता के उस व्यामोह से जाग जाओ। वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्वशक्ति सम्पन्न और सर्वज्ञ है। इसलिए उठो, अपने वास्तविक रूप को प्रकट करो। तुम्हारे अन्दर जो भगवान् है, उसकी सत्ता को ऊँचे स्वर में घोषित करो- उसे अस्वीकार मत करो।[१९]

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन उत्तर विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और सन्त थे, जिनकी अनुभूति में पुरानी संस्कृति नवीन रूप ग्रहण करती है, प्राचीन दर्शन की परतें छूट कर गिर जाती हैं और जंग लगे विचार धुल कर चमकने लगते हैं। वे इस बात को कब बर्दाश्त कर सकते थे कि परम्पराएँ भारतवासियों की उन्नति का मार्ग रोकें अथवा धर्म उन्हें निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे? स्वामी जी के अनुसार सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें। संसार के अगणित नर-नारियों में परमात्मा भासमान है। तथा मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं

१९. विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, पृष्ठ ८९

के आंसू पोंछने में असमर्थ है, जो मां-बाप से हीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता। केष्टा नामक संथाल को भोजन कराके उन्होंने कहा था 'तुम साक्षात नारायण हो, आज मुझे संतोष है कि भगवान् मेरे समक्ष भोजन किया।' वे कहते थे 'वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।' इसलिए वे कहते थे भारत को उठाना होगा, गरीबों को भोजन देना होगा।[२०] इसलिए उन्होंने अपने आग्रेय वाणी से उद्घोष किया 'गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। बोलो की अज्ञानी भारतवासी, दरिद्रभारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सब मेरे भाई हैं। तुम भी कटिमात्र वस्त्रावृत्त होकर गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई , भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरी शिशु-शैय्या, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्द्धक्य की वाराणसी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में ही मेरा कल्याण है।'[२१]

स्वामी जी कहते थे 'मैं संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नहीं करता।' 'गृहस्थ ही समाज-जीवन का केन्द्र है।'[२२] एक गृहस्थ का जीवन उतना ही श्रेष्ठ है, जितना की एक ब्रह्मचारी का, जिसने अपना जीवन धर्मकार्य के लिए उत्सर्ग कर दिया है। यह कहना व्यर्थ है कि 'गृहस्थ से संन्यास श्रेष्ठ है।' संसार को छोड़कर स्वच्छन्द और शान्त जीवन में रहकर ईश्वरोपासना करने की अपेक्षा संसार में रहते हुए ईश्वर की उपासना करना बहुत कठिन है।[२३] स्वामी जी स्वयं संन्यासी थे। वे संन्यासी के बारे में कहते थे 'संन्यासी की सच्ची कसौटी है संसार में रहना किन्तु संसार का न होना।'[२४] संन्यासी का कोई मत या सम्प्रदाय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका जीवन स्वतंत्र विचार का होता है। उसका जीवन अनुभव का होता है, न कि केवल सिद्धान्तों अथवा रुढ़ियों का।[२५] संन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमें भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता, और चरित्र की पवित्रता के दर्शन होते हैं, मेरा मस्तक उसी के सामने झुक जाता है।

---

२०. विवेकानन्द संचयन, पृष्ठ ५०२
२१. विवेकानन्द साहित्य, नवम खण्ड, पृष्ठ २२८
२२. वही, तृतीय खण्ड, पृष्ठ २२
२३. वही, पृष्ठ १६
२४. वही, षष्ठ खण्ड, पृष्ठ २५९
२५. विविध प्रसंग, पृष्ठ ४३

नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। उनके अनुसार 'ईसा अपूर्ण थे क्योंकि जिन बातों में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नहीं उतार सके। उनकी अपूर्णता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने नारियों को नरों के समकक्ष नहीं माना। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे क्योंकि उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया। आज स्त्रियाँ लोमड़ी के समान हैं, किन्तु जब उनके ऊपर और अधिक अत्याचार नहीं होगा, तब वे सिंहनी होकर खड़ी होंगी।'[२६] वास्तव में वह शक्ति स्वरूपा है। हमें नारियों को ऐसी स्थितियों में पहुँचा देना चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्याओं को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सकें। भारता माता हमसे नारी शक्ति के उद्धारक बनने की नहीं, उनके सेवक और सहायक बनने की अपेक्षा करती है। भारतीय नारियाँ संसार की अन्य किन्हीं भी नारियों की भाँति अपनी समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखती हैं। आवश्यकता उन्हें उपर्युक्त अवसर देने की है। स्त्रियों की अवस्था सुधारे बिना भारतीय समाज की प्रगति का कोई आशा नहीं। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने इन्हें ऊपर नहीं उठाया, तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति की कोई अन्य मार्ग है। संसार की सभी जातियाँ नारियों का सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जातियाँ नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेंगी। इसलिए भविष्य द्रष्टा स्वामी विवेकानन्द ने कहा 'भारत में शंकर आदि महामनिषियों ने वेदान्त रूपी जिन भावों का प्रचार किया था, भावी सतयुग में जन-जीवन उसी के अनुसार जीवन यापन करेगा और यह नारियों के द्वारा ही कार्यरूप में परिणत होगा।'

स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार भारतीय समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख कर करना आरम्भ किया और इस प्रक्रिया में उन्होंने कड़ी से कड़ी बातें भी बड़ी निर्भिकता से कह दीं। शक्ति का उपयोग केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिए। जब उससे पाप का समर्थन किया जाता है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगों से 'ब्राह्मण' भारतीय संस्कृति का थातीदार रहा है। अब उसे इस संस्कृति को सबके पास विकीर्ण कर देना चाहिए। हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। उनकी आग्नेय वाणी से निकलती थी- भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है, उसे जन साधारण के कब्जे में जाने दो। ऊँची और तथाकथित नीची जातियों के बीच सामाजिक पद प्रतिष्ठा को लेकर जो संघर्ष

---

२६. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम खण्ड, पृष्ठ ३०

है, स्वामी जी ने उससे पैदा होने वाले खतरों पर भी विचार किया था। वे कहते थे, 'जाति का मूल अर्थ था, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति को, अपने विशेषता को प्रकाशित करने की स्वाधीनता और यही अर्थ हजारों वर्षों तक प्रचलित भी रहा। तो फिर भारत के अध:पतन का कारण क्या था? जाति सम्बन्धी इस भाव का त्याग। आजकल का वर्ण विभाग यथार्थ में जाति नहीं है, बल्कि जाति की प्रगति में रुकावट है।'[२७] जाति वह योजना है, जिसके अनुसार हम चलना चाहते हैं। जाति वास्तव में क्या है, यह लाखों में से एक भी नहीं समझता।[२८] इस सम्बन्ध में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियों को सन्तोष होता है तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओं में यह घोषणा कर दें कि हम ब्राह्मण हैं। इससे भारत को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी। एक तो देश में जातियों का भेद अपने आप समाप्त हो जायेगा, दूसरे सभी वर्ग के लोग ब्राह्मण संस्कृति को स्वीकार करके आज के सांस्कृतिक धरातल से स्वयमेव उठ जायेंगे।

भारतीय एकता का महत्त्व स्वामी जी ने जनता के समक्ष अत्यन्त सुस्पष्ट रूप में रखा। स्वामी जी ने कहा है 'अथर्ववेद में एक मंत्र है, जिसका अर्थ होता है मन से एक बनो, विचार से एक बनो। प्राचीन काल में देवताओं का मन एक हुआ तभी से वे नैवेद्य के अधिकारी रहे हैं। मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिए करते हैं कि देवताओं का मन एक है। मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है। तुच्छ विवादों में पड़कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे, तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जाएगी। तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर पड़ता जाएगा। स्मरण रखो कि शक्ति संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। भारता माता, यही देवी हमारी वास्तविक देवी है। सर्वत्र उसके हाथ दिखाई पड़ते हैं। सर्वत्र उसके पाँव विराजमान हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिबिम्ब छाया हुआ है। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसे छोड़ कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे? सबसे पहली पूजा विराट् की होनी चाहिए, उन असंख्य मानवों की, जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं। संसार में जितने भी मनुष्य और जीव जन्तु हैं, सभी परमात्मा है, सभी परब्रह्म के रूप हैं। और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपनी देशवासियों की पूजा करनी चाहिए। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा

---

२७. विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड, पृष्ठ ३६७
२८. वही, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ २५३

और विवाद करने के बदले, तुम परस्पर एक दूसरे की अर्चना करो। एक दूसरे से प्रेम रखो। भारत के जन-समुदाय को उठाने से ही भारत का पुनर्जागरण होगा। राष्ट्र के स्वर्णिम भविष्य के लिए हममें से प्रत्येक को अहर्निश उस करोड़ों, पददलित भारतीयों को शिव समझ कर सेवा करनी होगी, जो धनवानों, कुलीनों के छल और अत्याचारों का सदियों से शिकार बने हुए हैं। मैं उच्च और धनिकों की अपेक्षा उनके पास रहने, उनकी सेवा करने में विश्वास रखता हूँ। मैं दार्शनिक नहीं हूँ, तत्त्ववेत्ता नहीं हूँ और कोई सन्त नहीं हूँ। परन्तु दलित हूँ और दलितों को प्यार करता हूँ। मेरे सपनों का भारत इन्हीं की झोपड़ियों एवं इनके ही निश्छल-निर्मल हृदयों से उठकर आएगा।

भारत जो झोपड़ियों में बसता है, अपना मनुष्यत्व विस्मृत कर चुका है। वह अपना व्यक्तित्व खो चुका है। उन्हें शिक्षित करना है एवं उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस करना है। 'सारी शिक्षा तथा समस्त प्रशिक्षण का एकमेव उद्देश्य 'मनुष्य' का निर्माण होना चाहिए।'[२९] सारी शिक्षा का ध्येय है, मनुष्य का विकास।[३०] स्वामी जी कहते हैं 'शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन मात्र है? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है? नहीं यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है।'[३१] सच्ची शिक्षा वह है, जिससे मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास हो। वह शब्दों को रटना मात्र नहीं है। वह व्यक्ति की मानसिक शक्तियों का ऐसा विकास है, जिससे वह स्वयमेव स्वतंत्रतापूर्वक विचार कर ठीक-ठीक निश्चय कर सके।[३२] शिक्षा का मतलब यह नहीं कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत सी बातें इस तरह ठूँस दी जायँ कि अन्तर्द्वन्द्व होने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन भर पचा न सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरे पुस्तकालय को

---

२९. विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ १७२

३०. वही

३१. विवेकानन्द संचयन, पृष्ठ ५३४

३२. स्वामी विवेकानन्द, भारतीय नारी, पृष्ठ ६५-६६

कण्ठस्थ कर रखा है।[३३] इस शिक्षा के बारे में स्वामी जी कहते हैं 'शिक्षा स्वंय दरवाजे-दरवाजे क्यों न जाए?'[३४]

यह एक दिन का काम नहीं है और रास्ता भी अत्यंत भयंकर कंटकों से आकीर्ण है। स्वामी जी कहते हैं भगवान् का नाम लेकर और उन पर अनन्त विश्वास रखकर भारत का युगों से संचित पर्वतकाय राशि में आग लगा दो। वह जलकर राख हो जायगी। कार्य गुरुतर है और हम लोग साधनहीन हैं। तो भी हम अमृत पुत्र और ईश्वर की सन्तान हैं। हम अवश्य सफल होंगे। इस संग्राम में सैकड़ों खेत रहेंगे, पर सैकड़ों पुन: उसकी जगह खड़े हो जायेंगे। विश्वास, सहानुभूति, दृढ़ विश्वास और भाव भरा प्यार चाहिए। जीवन तुच्छ है, मरण तुच्छ है, भूख भी तुच्छ है और जाड़ा भी तुच्छ है। पीछे मत देखो कौन गिरा, आगे बढ़ो। बढ़ते चलो। विश्वास रखो एक गिरेगा तो दूसरा वहाँ डट जाएगा। इस प्रकार निर्भिक युवक-युवतियों, जिनके मन में साहस और हृदय में प्यार है, वही मेरे अभिनव भारत का निर्माण कर सकते हैं। स्वामी जी के अनुसार आचार्य शंकर की अपूर्व मेधा के साथ तथागत के हृदय की महानुभावना और अद्भुत लोकहितकारी शक्ति मिलाकर ही भारत के उत्थान का सपना साकार हो सकता है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का यह चरम पुरुषार्थ व्यापक प्रभाव डाला।

❑ युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के प्रयासों का प्रभाव

स्वामी विवेकानन्द एक भास्वर सत्ता है, जो एक सुनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए दूसरे एक उच्चतर मण्डल से इस मर्त्यभूमि पर अवतरित हुए थे। उनके महनीय गुरु कहा करते थे 'नरेन्द्र सप्त ऋषियों में से एक है।'[३५] भाव लोक में विश्व कल्याण के लिए तपस्या से प्राप्त उपलब्धियों की एक किरण महर्षि अरविंद के जीवन में उस समय अवतरित हुई, जब वे राष्ट्रीय स्वाधीनता के अपने संघर्ष की अवधि में अलीपुर जेल में थे। समय पाकर यही ज्योति किरण उनके जीवन में अतिमानस का सूर्य बनकर प्रकाशित हुई। इसलिए श्री अरविंद कहते हैं 'हम अभी भी स्वामी विवेकानन्द के अद्भुत प्रभाव का अनुभव कर रहे हैं। परन्तु यह प्रभाव किस प्रकार है एवं कहाँ है, अभी तक अज्ञात है, परन्तु यह महनीय, प्रबल, प्रभावशाली तथा अंत:प्रेरित है। यह आत्मा भारत की आत्मा में प्रविष्ट होकर भारत

---

३३. विवेकानन्द संचयन, पृष्ठ १८४

३४. विवेकानन्द साहित्य, दशम खण्ड, पृष्ठ १७

३५. स्वामी विवेकानन्द के हृदय स्पन्दन, अप्रकाशित, तनिक यह भी सुन लो

माता और उनके सपूतों की आत्मा में अभी भी जीवन्त एवं जाग्रत् है।'[३६]

श्री अरविंद को साधनावस्था में स्वामी विवेकानन्द की आत्मा ने यह अद्भुत सहायता प्रदान की। इसका विवरण श्री अरविंद ने स्वयं सुनाया था। 'मैंने विवेकानन्द की उपस्थिति का बड़ा प्रत्यक्ष अनुभव किया, जब मैं जेल में हठयोग का अभ्यास कर रहा था। मैं हमेशा अनुभव करता कि वे मेरे पीछे खड़े होकर मुझे देख रहे हैं। यह विवेकानन्द की आत्मा थी जिसने मुझे उच्चतर चेतना की कुंजी बताई। इससे मुझे स्पष्ट हुआ कि सत् चेतना किस प्रकार प्रत्येक वस्तु में क्रियाशील है।' वे आगे कहते हैं 'यह सत्य है कि मैं जेल की एकान्त कालकोठरी में लगातार स्वामी विवेकानन्द की आवाज सुनता रहा और उनकी उपस्थिति का अनुभव करता रहा। यह आवाज आध्यात्मिक अनुभव के एक अत्यन्त सीमित किन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष पर लगातार बोलती रही और तब अचानक उसे जितना कहना था, कहकर चुप हो गयी।'[३७] स्वामी विवेकानन्द ने मुझे अतिमानस की ओर जाने के लिए पहले चरण के रूप में स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) के बारे में बताया। इसका अर्थ है कि स्वयं प्रकाशित ज्ञान के धरातल से अतिमानस की एक झलक पाई जा सकती है, और ऐसी ही झलक मेरा पहला चरण बन गयी।[३८] श्री अरविंद ने एक स्थान पर इस स्थिति को और भी स्पष्ट किया है 'स्वामी विवेकानन्द को यह पद्धति जीवित रहते प्राप्त नहीं थी।'[३९] श्री अरविंद के शिष्य एम.पी. पण्डित एवं दिलीप कुमार राय भी स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित थे।

युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित होकर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस प्रकार की अभिव्यक्ति दी है 'स्वामी विवेकानन्द के कार्यों ने मुझे एक नई दिशा दी, एक नई प्रेरणा दी। इसी अन्तःप्रेरणा ने भारतमाता के प्रति मेरी देशभक्ति एवं देश प्रेम को हजारगुणित कर दिया।' भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के आग्रेय पुरुष सुभाषचन्द्र बोस ने स्पष्ट किया है कि स्वामी जी ने मुझे चारित्रिक सुदृढ़ताकी शक्ति का बोध कराया है, क्योंकि यह मानवीय गुणों में सर्वोपरि है। सुभाषचन्द्र बोस कहते हैं, उनकी प्रेरणा का प्रमाण है कि उन्नीसवीं शताब्दी में विचारों का

---

३६. स्वामी विवेकानन्द के हृदय स्पन्दन, अप्रकाशित, तनिक यह भी सुन लो

३७. Sri Aurobindo on Himself and on the Mother, p. 115

३८. टाक्स विद श्री अरविन्दो, द्वितीय भाग, पृष्ठ २३२-२३३

३९. Life of Sri Aurobindo, talks of july 10, 1926, p. 204

पुंज एवं सामाजिक कल्याण का भाव प्राचुरित हो सका।' स्वतंत्रता ही आत्मा का संगीत है, इस भावना ने उनके हृदय से निकलकर समस्त भारत को आप्लावित कर दिया। भूदान आन्दोलन के प्रणेता आचार्य विनोबा भावे के मतानुसार स्वामी जी तमसाच्छन्न जड़वत एवं निष्क्रिय भारत में चेतना का नया आलोक बिखेरा। उन्होंने इस जड़ता से घिरे लोगों के अन्दर वेदान्त की नव ज्योति जलायी। उन्होंने हमें 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा सत्य का दर्शन कराया, जिसका कि दैनिक जीवन में कोई स्थान नहीं था।[४०] इसी बल से हमारा जीवन जीवन्त और जाग्रत् हो सका। प्रख्यात् दार्शनिक डॉ. एस. राधाकृष्णन भी स्वामी जी से बेहद प्रभावित थे। उनका कहना है कि 'इस शताब्दी के प्रारम्भ में जब मैं विद्यार्थी था तो स्वामी जी का व्याख्यान एवं पत्रावली पढ़ा करता था। इसने मेरे जीवन में क्रांति ला दी। इसी कारण मैं अपनी प्राचीन संस्कृति की गौरव गरिमा से अभिज्ञ हो सका। स्वामी जी की प्रखर एवं शक्तिशाली वाणी ने भारत को अब तक बचाये रखा है।'[४१]

रविन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं 'यदि तुम भारत को जानना चाहते हो, तो स्वामी विवेकानन्द का अध्ययन करो। उसमें सभी कुछ विधेयात्मक है, निषेधात्मक कुछ नहीं है। स्वामी विवेकानन्द का उपदेश मुक्ति के अनन्त पथ पर बढ़ने, मानवीय चेतना को विकसित एवं प्रकाशित करना है।'[४२] स्वामी विवेकानन्द को प्रेरणा का पूँज मानते हुए बाल गंगाधर तिलक कहते हैं 'यह वह स्वामी विवेकानन्द ही हैं जो भारतीय संस्कृति के ध्वज को विश्व मंच पर गर्व पूर्वक फहरा दिये। अगणित व्यक्तियों को उन्होंने नव आलोक दिखाया। बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में केवल शंकराचार्य रूपी एक सांस्कृतिक ज्योति जली थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वामी विवेकानन्द के रूप में फिर से सांस्कृतिक गगन जगमगा उठा।'[४३] भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के योद्धा विपिनचन्द्र पाल कहते हैं 'यद्यपि मैं स्वामी विवेकानन्द के धर्म को नहीं मानता, और यह भी सत्य है कि उनसे मेरा मतान्तर है, परन्तु फिर भी मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि उन्होंने असंख्य लोगों को नूतन प्रेरणा दी और उनके हृदय को विशाल और उदार बनाया।'[४४] स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू भी स्वामी

---

४०. Swami Jyotirmayananda - Vivekananda A Comprehensive Study, p. 241
४१. Ibid, pp. 285-86
४२. Ibid, pp. 306-307
४३. Ibid, p. 342
४४. Swami Jyotirmayananda - Vivekananda A Comprehensive Study, p.340

विवेकानन्द से अत्यन्त प्रभावित थे। वे लिखते हैं 'स्वामी जी के हृदय में एक भीषण ज्वाला जल रही थी। इस ज्वाला ने प्रखर वाणी का रूप लेकर मेरे और मेरी उम्र के अनेक लोगों को प्रेरित और प्रभावित किया। उन्होंने अगणित भारतीय सपूतों के मन-मस्तिष्क को झिंझोड़ कर रख दिया और दो या तीन पीढ़ी तक के युवतियों को भी उन्होंने उसी प्रकार नव दिश दी है।'[४५] सी. राजगोपालाचारी कहते हैं- जब मैं चेन्नई में कानून की पढ़ाई कर रहा था, उन दिनों १८९७ में शिकागो से धर्म विजय प्राप्त कर आये स्वामी विवेकानन्द का दर्शन किया। वे चेन्नई के 'केस्टल कर्नन' में लगभग एक माह तक रहे। मैं अनायास उन दिनों उनसे प्रभावित हो गया था। जब भी मैं उन घड़ियों एवं क्षणों को याद करता हूँ तो मुझे अत्यन्त गर्व एवं अतिरेक आनन्द का अनुभव होता है।[४६]

स्वामी विवेकानन्द का यह प्रभाव न केवल भारतीय संत, महात्माओं, दार्शनिकों एवं राजनीतिज्ञों पर पड़ा बल्कि विदेशी भी इससे अछूती नहीं रहे। इस क्रम में थामस एलेन कहते हैं 'जब स्वामी जी फरवरी १९०० में सनफ्रांसिस्को आये, वहाँ उनके एक व्याख्यान ने मुझ पर जबर्दस्त प्रभाव डाला। उस प्रभाव को मैं कभी भूल नहीं सकता, जो उसने मुझ पर डाला। वह मेरी थाती है।'[४७] जार्ज ए. एप्लेगर्थ ने कहा 'स्वामी जी की सरलता, गंभीरता एवं समृद्धता ने मुझे उनके चरणों में नत कर दिया।' मादाम एमा काल्वे स्वामी जी के प्रति अनन्य श्रद्धा समर्पित कर कहती हैं 'यह मेरा सौभाग्य है कि मैंने ऐसे व्यक्ति को पहचाना है जिसका जीवन प्रभु समर्पित है, और वह सन्त, दार्शनिक और सच्चा तथा विनम्र मित्र है। मेरे आध्यात्मिक जीवन पर उनका अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने मेरे धार्मिक विचारणा एवं भावना को नया आयाम दिया तथा सत्यान्वेषण हेतु मेरा पथ प्रशस्त किया। मेरी आत्मा उन्हें अनन्त श्रद्धा प्रदान करती है।'[४८] चीन के एक विद्वान हुआंग जीन चुआन स्वामी जी के चीन के प्रति दिये गये सहानुभूति उद्गार से आनन्दित होकर कहते हैं चीनी जनता एवं संस्कृति उन्हें सादर धन्यवाद प्रदान करती है।[४९] आमोरी डी रिइनकोर्ट के अनुसार समस्त भारत उनके अनुदानों का चीर ऋणी है। रामकृष्ण परमहंस ने भारत की सुषुप्त आत्मा को फूँक मार दी

---

४५. Swami Jyotirmayananda - Vivekananda A Comprehensive Study, p. 338
४६. Ibid, p. 341
४७. Ibid, p.153
४८. Ibid, p. 159
४९. Ibid, pp. 160-161

और स्वामी विवेकानन्द ने इस आत्मा को ज्वलंत और जाग्रत् कर दिया।[५०] पाश्चात्य जगत् के प्रसिद्ध दार्शनिक विल ड्यूरान्ट भी स्वामी जी के विचारों से प्रभावित हुए थे। जे. एन. फार्केहर के अनुसार सम्पूर्ण अमेरिका स्वामी विवेकानन्द के विचारों से ओत प्रोत हुआ जिसके प्रभाव को आज भी देखा व अनुभव किया जा सकता है।

स्वामी जी का प्रभाव विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों में विभिन्न आयामों में दृष्टिगोचर होता है। श्रीमती मेरी सी. फुंके अपनी भावाभिव्यक्ति इस प्रकार करती हैं 'यद्यपि मेरी उम्र स्वामी जी से बड़ी है परन्तु हमें उनके सामने ऐसा लगता था जैसे कि हम उनके अबोध बालक हों।'[५१] क्रिस्टोफर इशरवुड के अनुसार स्वामी विवेकानन्द ने हमें शिक्षा दी है कि भगवान् हमारे अन्दर विराजमान है और हम उस परमात्मा के वंशधर हैं। विलियम जेम्स स्वामी जी को श्रद्धा भक्ति देकर अपना विचार प्रकट करते हैं 'स्वामी जी के व्याख्यान को मैं सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में पढ़ा। उन्हें देखा तो नहीं हूँ, परन्तु वे मानवता की जीवन्त प्रतिमा थे। उन्होंने हमें उत्कृष्ट विचार दिये हैं।' डॉ. एम.एच. लोगान स्वामी जी को अपना ईसा घोषित कर कहते हैं 'वह मेरा ईसा है जो जगति में यदा कदा अवतरित होते हैं। उसकी महान् एवं स्वतंत्र आत्मा की ज्योति सभी वस्तुओं में भासमान है, उसकी पवित्र आत्मा सूर्य के समान ज्योतिर्मय तथा दिव्य पवन के सदृश्य वेगवान है।'[५२] जोसेफीन मैकलिओड स्वामीजी के व्यक्तित्व से आश्चर्यचकित हो गए थे। उनके मतानुसार 'यह सत्य है कि स्वामीजी ने मुझे आत्मस्थ किया था। उनके आगमन एवं दर्शन से मैं मुक्त हो गया।' हैरियट मैनरो इस तरह भाव प्रकट करते हैं 'जब स्वामीजी ने समस्त शिकागो शहर को अपने जादुई प्रभाव से जीत लिया था ... वह दिव्य संन्यासी जिसकी वाणी में ओज व मिठास थी, जिसका व्यक्तित्व प्रखर, प्रभावशाली तथा बहुआयामी था, जिसके उपदेशों ने सर्वत्र समा बाँध दिया था, यह अपूर्व दुर्लभ संयोग और समन्वय हमें भाव विभोर कर दिया था। यह अनुभव जीवन का सर्वस्व, महान् एवं अव्यक्त है।'[५३]

लिलियन मांटगोमेरी के मतानुसार 'वह कब मेरे अन्दर चेतना का शिखर

---

५०. Swami Jyotirmayananda - Vivekananda A Comprehensive Study, pp. 165-66
५१. Ibid, pp. 168-169
५२. Ibid, p. 171
५३. Ibid, p. 175

बनकर उठे मुझे पता नहीं है। उन्होंने मेरे अन्दर दिव्यता का अनुदान-वरदान भर दिया था। यह कितना आश्चर्यजनक है कि उनके प्रभाव से मेरे अन्दर चेतनामयी दिव्य आलोक की बाढ़ आ गई थी। मैं सतत् अनुभूति अनुभव करती हूँ। उन्होंने मेरे जीवन को अत्यन्त स्पष्ट रूप से रेखांकित कर दिया था जो अद्भुत और आश्चर्यजनक है। स्वामी विवेकानन्द मेरे लिए उस अदृष्ट की प्राप्ति हेतु आकाशदीप सिद्ध हुए।'[५४] उनकी शिष्या सिस्टर निवेदिता तो विवेकानन्दमय हो उठी थीं। रोमां रोलां तो जैसे उनके भक्त थे। राबर्ट पी. अटर ने स्पष्ट किया है कि स्वामी जी के आसपास दिव्यत्व का सघन पुंज था। जिसने भी उन्हें देखा यह अनुभव किया है। ऐसा कोई अभागा नहीं होगा जो उनके समीप के इस दिव्य शक्ति का अहसास न किया होगा। सर जान वुडरफ तो स्वामी जी के अत्यन्त प्रशंसक रहे हैं। वे कहते हैं 'स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से प्रभावित होकर तो डॉ. जान. सी. वीमेन ने उनके लिए कविता लिख दी थी।'[५५] इस तरह युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के प्रयासों का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनके सफलता के पीछे संस्कृति का उदात्त भाव, विनम्रता, प्रखरता एवं दूरदृष्टि के साथ सामयिक ज्ञान का होना था। उन्होंने वैदिक संस्कृति के नव्योत्थान का जो भार उठाया था, उसे शत प्रतिशत पूर्ण किया। इस तरह स्वामी दयानन्द ने भी आर्य संस्कृति को जीवन्त और जाग्रत् बनाये रखने का प्रयास किया।

स्वामी दयानन्द द्वारा आर्य संस्कृति का नवोन्मेष

उन्नीसवीं सदी के वैदिक नव्योत्थान के इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ बतलाता है कि वैदिक संस्कृति पर जमी रुढ़ि की पर्तों को एकदम उखाड़ फेंकी जाये और

---

५४. Swami Jyotirmayananda - Vivekananda A Comprehensive Study, p. 174

५५. Brother Swami Vivekananda,

Bright pearl of the Orient sea,
Came here with his soul all illumined,
By Light, Love and Liberty.
He came here with greetings fraternal
From the Mystical East to our West,
And from those wise Vedas inspired
He tought us the purest and the best.

Dr. John C. Wyman
Brookly, New York, 23rd June, 1899

वैदिक संस्कृति का वह रूप प्रकट किया जाय, जो निर्मल और बुद्धिगम्य हो। इस नव्योत्थान की परिकल्पना को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए गुजरात के टंकारा नामक नगर में सन् १८२३ ई. में एक दिव्य आत्मा का अवतरण हुआ। वही दिव्य आत्मा प्रकारान्तर में आर्य संस्कृति के संस्थापक के रूप में विश्व विख्यात हुआ।

❑ स्वामी दयानन्द एवं समकालीन भारत

केशवचन्द्र और रानाडे की तुलना में दयानन्द वैसे ही दीखते हैं जैसे गोखले की तुलना में तिलक। जैसे राजनीति के क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज पहले-पहल तिलक में प्रत्यक्ष हुआ, वैसे ही संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा। ब्रह्मसमाज और प्रार्थना-समाज के नेता अपने धर्म और समाज में सुधार तो ला रहे थे, किन्तु उन्हें बराबर यह खेद सता रहा था कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह विदेश की नकल है। अपनी हीनता और विदेशियों की श्रेष्ठता के ज्ञान से उनकी आत्मा कहीं न कहीं दबी हुई थी। अतएव, कार्य तो प्राय: उनके भी वैसे ही रहे, जैसे स्वामी दयानन्द के, किन्तु आत्महीनता के भाव से अवगत रहने के कारण वे गर्व से नहीं बोल सके। यह दर्प एवं गर्व स्वामी दयानन्द में चमका। रुढ़ियों और गतानुगतिकता में फँस कर अपना विनाश करने के कारण उन्होंने भारतवासियों को सचेत एवं सजग किया। उन्होंने कहा 'तुम्हारी सच्ची संस्कृति वैदिक संस्कृति है जिस पर आरुढ़ होने से तुम विश्व-विजयी हो सकते हो।' उन दिनों ईसाई और मुसलमान दिन दहाड़े हिन्दुत्व की निन्दा करते फिरते। उन्होंने इन दोनों संस्कृतियों को भी अच्छा खासा सबक सिखाया। इससे दो बातें निकलीं। एक तो यह कि अपनी निन्दा सुनकर घबरायी हुई भारतीय जनता में अपनी संस्कृति के प्रति जागरुकता एवं सक्रियता का बोध हुआ। दूसरा यह कि भारतीयों का ध्यान अपनी संस्कृति के मूलरूप की ओर आकृष्ट हुआ एवं वे अपनी प्राचीन परम्परा के लिए गौरव का अनुभव करने लगे।

उन दिनों बंगाल और कलकत्ता में अंग्रेज पश्चिमी सभ्यता का चमत्कारी प्रभाव डालने में समर्थ हो चुके थे और पढ़े लिखे वर्ग के मानस को अपने ढंग से सोचने-समझने के लिए प्रेरित कर चुके थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अपने देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति भारत के बौद्धिक वर्ग में हीन भाव उत्पन्न हुआ। उन दिनों के भारतीय नेताओं ने भी सुझाव दिया कि भारतीय समाज का नव-निर्माण पश्चिमीकरण के रूप में होना चाहिए। परन्तु वैदिक संस्कृति के सूत्रों से उसका पुनरुत्थान कैसे हो। उसके लिए एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता

थी जो सबसे पहले अपनी अन्तर्दृष्टि से अपने देश, समाज, जाति तथा राष्ट्र के व्यापक और सामूहिक जीवन की जड़ता, विडम्बना, गतिरुद्धता, उसके न्यास और शोषण को गहराई से देख सकें, उनके कारणों की ऐतिहासिकता, यथार्थ तथा सांस्कृतिक खोज करने में समर्थ हो सके। और अन्ततः अपनी विवेक दृष्टि से गतिरोध को दूर करके समाज को मौलिक सर्जनशीलता से संचालित प्रेरित करने में समर्थ हो सके। इसी वातावरण में दयानन्द का आविर्भाव हुआ था। अतः दयानन्द राजा राम मोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक ऐसे भारतीय नेताओं से बिल्कुल अलग थे, जो अपनी समस्त सद्भावनाओं और देश कल्याण की भावनाओं के बावजूद भारतीय आधुनिकीकरण का रास्ता हर प्रकार से पश्चिमीकरण से होकर गुजरा पाते रहे हैं। स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज के पुनर्गठन, विकास और आधुनिकीकरण के लिए वैदिक संस्कृति के मूलाधार को आवश्यक माना है। उनके अनुसार पश्चिम से प्रेरणा पाना, नया ज्ञान-विज्ञान सीखना एक बात है, पर उनका अंधानुकरण न हमारे गौरव के अनुकूल है और न हमारी वास्तविक प्रगति के लिए उपयोगी है।

स्वामी दयानन्द के समकालीन भारत की ओर दृष्टि दौड़ाई जाय तो पता चलता है कि राममोहन राय और रानाडे ने हिन्दुत्व के पहले मोर्चे पर लड़ाई लड़ी थी। जो रक्षा या बचाव का मोर्चा था। स्वामी दयानन्द ने आक्रामकता का थोड़ा-बहुत श्रीगणेश कर दिया। उन दिनों ईसाइयत और इस्लाम भारत पर अपना धर्म और संस्कृति थोप देने को तत्पर थे। किन्तु इस मेधावी एवं योद्धा संन्यासी ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया। यही नहीं, प्रत्युत जो बात राममोहन, केशवचन्द्र और रानाडे के ध्यान में भी नहीं आयी थे, उस बात को भी दयानन्द के विचारों ने प्रकाशित किया था। उन्होंने घोषणा कर दी कि धर्मच्युत हिन्दू प्रत्येक अवस्था में अपने धर्म में वापस आ सकते हैं एवं अहिन्दु भी यदि चाहें तो हिन्दू धर्म में प्रवेश कर सकते हैं। यह केवल सुधार की वाणी नहीं थे, अपितु यह जाग्रत् संस्कृति का समर नाद था। इससे उन दिनों की परिस्थितियों में स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति के पुनर्जागरण का शंखनाद किया।

❑ वैदिक संस्कृति का ध्वजारोहरण

स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति का ध्वजारोहरण किया। वे विश्व-मानवता के जीवन्त नायक थे। उनका उद्देश्य सभी मनुष्यों को उस दिशा में ले जाना था, जिसे वे सत्य की दिशा समझते थे। वे उद्घोष करते हैं 'जो जो सब मतों में सत्य बातें हैं, वे सबमें अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके

जो जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन उनका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रखा है कि जब मत-मतान्तरों की गुप्त व प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रखा है, जिसमें सबसे सबका विचार होकर सभी सत्य मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत मतान्तर की झूठी बातों का पक्षपात न करके यथातथ्य प्रकाश करता हूँ। वैसे ही, दूसरे देशस्थ या मनोन्नति वालों के साथ भी बर्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में बर्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को भी बर्तना योग्य है। क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता, तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यता से बाहर है।"[५६] वे आगे कहते हैं कि 'मेरा कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु, जो सत्य है, उसे मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसे छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त के प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु मैं आर्यावर्त व अन्य देशों में जो अधर्म युक्त चाल-चलन है, उनको स्वीकार नहीं करता और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता न करना चाहता हूँ। क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म के विरुद्ध है।"[५७]

स्वामी दयानन्द ने वेदों के प्रामाण्य पर ही यह घोषित किया कि जो हमारे विवेक को स्वीकार्य नहीं, उसके त्याग में हम को एक क्षण का विलम्ब नहीं करना चाहिए। यदि वेदों में ज्ञान के बदले अज्ञान है, मानवीय उच्च मूल्यों के बजाय घोर हिंसा-वृत्ति, भोगवाद और स्वार्थ की उपासना है तो उनको अस्वीकार कर देना चाहिए। उनके तर्कों में बड़ा बल था, वे अकाट्य थे, उनकी पद्धति शास्त्रों के गहन मंथन पर आश्रित थी, उन्होंने अपना आधार शुद्ध विवेक माना था। स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज में व्याप्त निष्क्रियता, अंधविश्वास और स्वार्थपरता के मूल में मध्ययुग में पुराणपंथ को माना है। यह धर्म पलायनवादी है। पलायनवादी मनोवृत्ति मनुष्य को आत्मकेन्द्रित, असामाजिक और स्वार्थपरायण बनाती है। दयानन्द के अनुसार 'वैदिक संस्कृति परम ब्रह्म परमेश्वर की उपासना का विधान है परन्तु पुराण पंथियों ने उसके स्थान पर अनेकेश्वरवाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, देवी देवताओं

---

५६. स्वामी दयानन्द- सत्यार्थ प्रकाश, भूमिका

५७. वही, चौदहवाँ समुल्लास

की पूजा और यहाँ तक कि अपदेवताओं तक की पूजा-प्रचलित करके अपना स्वार्थ सिद्ध किया।'[५८]

स्वामी दयानन्द ने 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' फहराया। स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रतिभाशाली तो पहले से ही थे, परन्तु गुरु विरजानन्द की शिक्षा ने उनमें सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर दी। वे योग-बल और विद्या-बल से सुसज्जित होकर जन-सुधार के कार्य-क्षेत्र में उतर पड़े। सबसे पहले उन्होंने हिन्दुओं के प्रचलित वेद विरुद्ध मान्यताओं का खण्डन प्रारम्भ किया। उन्होंने आर्य जाति को विभक्त और एक दूसरे से अलग करने वाले वैष्णव, शैव और शाक्त आदि सम्प्रदायों की कड़ी आलोचना की। उस जाति को व्यभिचार में गिराने वाले वाम मार्ग आदि कुपन्थों की पोल खोली। उसे आलसी, प्रमादी और क्रूर बनाने वाली मूर्ति पूजा को आड़े-हाथों लिया। उसे ढोंगी बताने वाले कण्ठी, तिलक, छाप और माला आदि के ऊपरी और दिखावटी चिह्नों और आडम्बरों का निराकरण किया। उसे पाप-पंक में फँसाने वाले गंगादि नदियों के स्नान, एकादशी आदि व्रतोपवासों और ढोंगी गुरुओं के महात्म्य को असत्य बताया, उसे अविश्वासी और पुरुषार्थहीन बनाने वाले अवतारवाद, मनुष्य पूजा और पुराणादि अनार्ष ग्रंथों को वेद विरुद्ध ठहराया। मूर्ति पूजा के विरोध में कहा 'मैं पत्थर पूजा का दूध नहीं पीता।'[५९] दयानन्द ने मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया।

दयानन्द कहते हैं 'अपनी भलाई चाहते हो तो ऊँच-नीच, छोटे-बड़े इत्यादि भेद और द्वेष भाव को त्याग कर संगठित हो जाओ। वेद की शिक्षा पर चलो और सदाचारी बनकर एक सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, निराकार, परब्रह्म परमेश्वर की उपासना करो। वे मंदिर निर्माण की अपेक्षा जनहित कार्य को प्रमुखता देते थे। उन्होंने एक बार कहा कि 'मंदिर बनवाना तो मानो सन्तान और जाति के लिए अविद्या का एक सुदृढ़ केन्द्र स्थापित कर जाना है, उन्हें अज्ञान के गहरे गड्ढे में गिराना है। यदि इतना धन किसी जनहित के कार्य में लगाते तो समाज का कल्याण होता। देश में चारों ओर दरिद्रता मुँह फैलाए लोगों को निगल रही है और घोर अविद्या तथा अज्ञान के बादल छाए हैं। इस धनराशि से यदि उद्योग-धन्धों के केन्द्र स्थापित करते, आर्य भाषा (हिन्दी) तथा देव भाषा (संस्कृत) की पाठशालाएँ खोलते, तो देश की निर्धनता और अज्ञानता को थोड़ा-बहुत दूर करने

---

५८. यदुवंश सहाय- महर्षि दयानन्द, पृष्ठ २४
५९. यदुवंश सहाय- महर्षि दयानन्द, पृष्ठ ७८

में सहायक होकर यश के भागी बना जा सकता है। विधवाओं की दुःख भरी आहों से, अनाथों के निरन्तर आर्तनाद से, गोवध के जघन्य कार्य से इस देश का सर्वनाश हो रहा है। यदि इनकी रक्षार्थ उस धन को काम में लाते तो, अपना लोक-परलोक दोनों बनता। ऐसे सर्वहितकारी कार्य न करके लाखों रुपये लगा कर मंदिर खड़ा करना किस काम का। मूर्तिपूजा के नाम पर एक बार उन्होंने कहा 'जब तुम्हारा शिव अपनी ही रक्षा करने में असमर्थ है तो उसकी पूजा से क्या लाभ। इन जड़ पत्थर के टुकड़ों से तो चींटियों की पूजा अच्छी है वे चढ़ाए नैवैद्य को खा लेती हैं।' ग्रह दोष जैसे अंधविश्वासों के बारे में उनका मत है 'ये ग्रह और नक्षत्र तो जड़ हैं, वे न किसी को दुख पहुँचाने की चेष्टा करते हैं और न किसी को सुख ही दे सकते हैं। वे अपनी किरणों द्वारा उष्णता, शीतलता अथवा ऋतुवत कालचक्र के सम्बन्ध से प्राणियों की प्रकृति के अनुकूल-प्रतिकूल सुख-दुख के निमित्त होते हैं। मनुष्य के सुख-दुःख का कारण तो उसके अपने ही कर्मफल हैं अथवा परमपिता परमात्मा के नियमों के विरुद्ध उसका आचरण है। दुःखों की निवृत्ति के लिए पुरुषार्थी बनों और निष्पाप होकर ईश्वर की प्रार्थना उपासना करो। रोगों से छुटकारा पाने के लिए परिश्रमी और किसी कुशल वैद्य के पास जाओ।' ये आजकल के ज्योतिषी फलित-ज्योतिष के चक्कर में डालकर अपना उल्लू सीधा करते हैं।[६०]

स्वामी दयानन्द कहते है 'मेरी हार्दिक अभिलाषा है और ईश्वर से प्रार्थना है कि मेरे देशवासी अब से सचेत हो जायें, सारे अंधविश्वासों और कुरीतियों को त्यागकर वैदिक शिक्षा को ग्रहण करें और उसी के अनुसार आचरण करें।' इस क्रम में उन्होंने इस अंधविश्वास का भी खण्डन किया कि 'गंगा न स्वयं स्वर्ग जाती है और न वह अन्य किसी को स्वर्ग ले ज़ा सकती है। यह न पाप धो सकती है और न मुक्ति दिला सकती है। केवल गंगा की ही नहीं, अपितु सब नदियों की पूजा अवश्य करनी चाहिए। नदी की पूजा, आदर और सम्मान है उसका स्वच्छ और पवित्र रखना। उसमें कोई ऐसी वस्तु न डालो जिससे जल गंदा और अपवित्र हो जाय। पूजा के नाम पर गंगा में मनो फूल इत्यादि डालने से, ये सड़कर जल की स्वच्छता नष्ट कर देते हैं। अपने शवों को इसमें बहा देने से, भयंकर महामारी फैल जाया करती है और सैकड़ों को यमलोक पहुँचा देती है।'[६१] वे बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह का भी विरोध करते थे। उन्होंने महाभारत का उद्धरण

---

६०. यदुवंश सहाय- महर्षि दयानन्द, पृष्ठ १०२

६१. वही, पृष्ठ १२३

देते हुए कहा, छोटी उम्र में विवाह घात होता है। जो व्यक्ति वृक्ष के कच्चे फलों को तोड़ लेता है, वह उन से रस तो पाता ही नहीं, उनके बीजों से भी हाथ धो बैठता है।[६२] स्मरण रखो जिस जाति में बाल-विवाह, वृद्ध विवाह होते हों और जहाँ इन बेजोड़ विवाहों के फलस्वरूप स्त्री के युवा अवस्था में विधवा हो जाने पर उसे दूसरा विवाह करने से रोका जाता है और वृद्ध पुरुषों को कुंआरी युवतियों से विवाह करने की खुली छूट दी जाती हो, वह जाति बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। अनाथों के आंसु और विधवाओं की आहें इस जाति के अस्तित्व को संसार से मिटा कर ही छोड़ेंगी।

जो कर्म श्रद्धा से किया जाय उसे श्राद्ध कहते हैं और जिस कार्य से माता-पिता आदि गुरुजन तृप्त अर्थात् प्रसन्न और सन्तुष्ट किये जाय उसे तर्पण कहते हैं। पर हिन्दुओं में उलटी गंगा बह रही है। वे जीवित माता-पिता की तो बातें नहीं पूछते और मृतकों का श्राद्ध और तर्पण करते हैं। यह अवैदिक और मूर्खतापूर्ण है। जीवित माता-पिता और अन्य गुरुजनों का आदर सम्मान तथा उनकी सेवा सुश्रुषा करना ही वास्तविक श्राद्ध एवं तर्पण है। यदि इन कृत्यों द्वारा दान-पुण्य करने का प्रयोजन है तो अनाधिकारी मोटे लोगों को खिलाने-पिलाने के स्थान पर अनाथों, दरिद्रों के रोटी कपड़े के अभाव को दूर करना चाहिए। इससे व्यक्ति और समाज दोनों का भला होगा। अपात्र को दान देना धन को नदी में फेंक देना है, पुण्य के स्थान पर पाप करना है। स्वामी जी आर्य जाति की हित कामना ही करते थे। इसी कारण कहते हैं 'यह आर्यावर्त देश अब निर्धनों का देश हो रहा है। यहाँ बहुत थोड़े ही लोग ऐसे हैं जो धनी कहलाने योग्य हैं और उन धनियों की यह अवस्था है कि वे धन को किसी उपयोगी और जनहित के कार्य में न लगाकर ईंट-पत्थरों के नीचे दबा रहे हैं। दूसरे देश के धनी लोग धन को पानी की भांति बहाकर आर्य जाति के लालों को पानी के मोल लेकर विधर्मी बना रहे हैं। और आप लोग हैं कि धरती पर ही कैलास और बैकुण्ठ में बैठे स्वर्ग का आनन्द लुट रहे हैं।'

वे उद्घोष करते हैं 'भोले-भाले पुरुषों! कभी यह भी सोचा है कि जब आर्य जाति और आर्य संस्कृति ही न रह जायगी तो तुम्हारे इन कैलास और बैकुण्ठ का क्या परिणाम होगा? ये काशी के विश्वनाथ और अयोध्या के जन्मस्थान के

---

६२. वनस्पतेरपक्वानी फलानी प्राचिनोति यः।
स नाप्रोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य बिनस्यति॥ – महा. उद्योग पर्व. ३४/१५

समान मस्जिदों में परिणत हो जायेंगे या फिर धराशायी कर दिये जायेंगे। वे आर्य जाति को आह्वान करते हैं 'आर्य जाति को पतन के गर्त में से निकाल कर उसे उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने का महान् कार्य तुम्हें सौंपा गया है। इसे पूरा करने में बलवान आत्माएँ ही समर्थ हो सकती हैं, और ऐसी आत्माएँ संघर्ष में ही उत्पन्न होती हैं। आत्मोन्नति के लिए कठिनाइयों से बढ़कर कोई शिक्षालय नहीं है। तप और योग की कठिनाइयों और आपत्तियों को झेल कर ही योगी ईश्वर के दर्शन पाता है। और उच्चतम शक्तियों का विकास करता है। जिसने आपत्तियाँ नहीं झेलीं और कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया उसका चरित्र बालू की भीत है, जो वर्षा के पहले झोंके में गिर पड़ती है। आर्य पुरुषों को कठिनाइयों[६३] का स्वागत करना चाहिए। उनसे घबराना नहीं, क्योंकि उन्हें अपने उदिृष्ट कार्य के उपयुक्त बनाने के लिए आत्मोत्कर्ष के जैसे यहाँ अवसर मिलेंगे वैसे और किसी दशा में नहीं।'

स्वामी दयानन्द कहते थे हमारा काम तो मनुष्यों के विचारों को बदलकर उनके हृदय मंदिर से मूर्तियों को हटाकर वहाँ उन्हें घट-घट वासी प्रभु के दर्शन कराना है। न कि ईंट-पत्थर के बने देवालयों को तोड़ना-फोड़ना। उनकी मान्यता है कि जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तब उसकी मूर्ति ही नहीं बन सकती। जब ईश्वर सभी में है तो जड़ मूर्ति में क्या विशेषता है जो चेतन छोड़कर उसकी पूजा की जाय। मूर्ति के दर्शन मात्र से परमेश्वर का स्मरण होता है तो उसके बनाए पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु आदि अनेक अद्भुत रचनाओं को देखकर क्या प्रभु का स्मरण नहीं हो सकता?

स्वामी जी के मत से वैदिक संस्कृति पौराणिक कल्पनाओं के नीचे दबी हुई थी। उस पर अनेक स्मृतियों की धुल जम गयी थी। वेद के बाद के सहस्रों वर्षों में हिन्दुओं ने जो रुढ़ियों और अन्धविश्वास अर्जित किये थे उनके ढूहों के नीचे यह धर्म दबा पड़ा था। राममोहन राय, रानाडे, केशवचन्द्र और तिलक से भिन्न स्वामी दयानन्द की विशेषता यह रही कि उन्होंने धीरे-धीरे पपड़ियाँ तोड़ने का काम न करके उन्हें एक ही चोट से साफ कर देने का निश्चय किया। परिवर्तन जब धीरे-धीरे आता है, तब सुधार कहलाता है। किन्तु वही जब तीव्र वेग से पहुँच जाता है तब उसे क्रांति कहते हैं। दयानन्द के समकालीन सुधारक केवल

---

६३. नमोऽस्तु ते निऋते तिग्मितेजो अयस्मपान विचृता वंधपाशान।
यमो महयं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय अस्तु मृत्यवं॥ – अथर्व., ६/६३/२

सुधारक मात्र थे, किन्तु दयानन्द क्रांति के वेग से आये और उन्होंने निश्छल भाव से यह घोषण कर दी कि वैदिक मान्यता ही प्रामाणिक है। अन्य शास्त्रों और पुराणों की बातें विवेक बुद्धि की कसौटी पर कसे बिना मानी नहीं जानी चाहिए। वेदों में मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थों और अनेक पौराणिक अनुष्ठानों का समर्थन नहीं था, अतएव स्वामी दयानन्द ने इस सारे कृत्यों और विश्वासों को गलत घोषित किया।

वेद को छोड़कर कोई और धर्मग्रंथ प्रमाण नहीं है, इस सत्य का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने पाखण्ड खण्डिनी पताका फहरायी। जहाँ-जहाँ वे गये, प्राचीन परम्परा के पंण्डित और विद्वान उनसे हार मानते गये। वे संस्कृत भाषा के अगाध ज्ञानी के साथ-साथ प्रचण्ड तार्किक भी थे। उन्होंने ईसाई और मुस्लिम संस्कृति का भी भली भाँति मंथन किया था। अतएव, अकेले ही उन्होंने तीन मोर्चों पर संघर्ष आरम्भ कर दिया। दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलायी थी, उसका कोई जवाब नहीं था। वे जो कुछ कह रहे थे, उसका उत्तर न तो मुसलमान दे सकते थे, न ईसाई और न पुराणों पर पलने वाले हिन्दू पंण्डित और विद्वान्। वैदिक संस्कृति अब पूरे प्रकाश में आ गयी थी और सभी समझदार लोग मन ही मन, यह अनुभव करने लगे थे कि सच ही, पौराणिक धर्म में कोई सार नहीं है।

जिन बुराइयों के कारण वैदिक संस्कृति का ह्रास हो रहा था तथा अन्य संस्कृति के लोग जिन दुर्बलताओं का लाभ उठा कर हिन्दुओं को ईसाई बना रहे थे, उन बुराइयों को स्वामी दयानन्द ने अवश्य दूर किया जिससे हिन्दुओं के सामाजिक संगठन में वही दृढ़ता आ गयी जो इस्लाम में थी। दयानन्द जी ने छुआछुत के विचार को अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्त्रों अत्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें आर्य संस्कृति के भीतर आदर का स्थान दिया। आर्य समाज ने नारियों की मर्यादा में वृद्धि की एवं उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रचार करते हुए विधवा-विवाह का भी प्रचलन किया। कन्या शिक्षा और ब्रह्मचर्य का आर्य समाज ने इतना अधिक प्रचार किया कि हिन्दी-प्रान्तों में साहित्य के भीतर एक प्रकार की पवित्रतावादी भावना भर गयी और हिन्दी के कवि कामिनी-नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे। पुरुष शिक्षित और स्वस्थ हों, नारियाँ शिक्षिता और सबला हों, लोग संस्कृत पढ़ें और हवन करें, कोई भी व्यक्ति पुरोहित, देवताओं और पण्डों के फेर में न पड़े। ये उपदेश स्वामी दयानन्द के प्रभाव का परिणाम था। स्वामी दयानन्द ने यह सब सामयिक एवं युगानुरूप प्रस्तुत किया।

❑ वैदिक वाङ्मय का युगानुरूप प्रस्तुतीकरण

स्वामी दयानन्द ने वैदिक वाङ्मय का भाष्य किया एवं उसका प्रस्तुतीकरण युगानुरूप ही था। श्री अरविंद के अनुसार 'वेदों के बारे में दयानन्द का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है। उसका आधार अकाट्य है।'[६४] दयानन्द और आगे जाते हैं, वे इसकी पुष्टि करते हैं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान के तथ्यों को मंत्रों में खोजा जा सकता है।[६५] स्वामी दयानन्द क्रांतिकारी द्रष्टा थे। वे यह भी समझते थे कि कोई भी प्राचीन संस्कृति की परम्परा से जुड़ा हुआ समाज अपने अन्तवर्ती ऐतिहासिक सांस्कृतिक व्यक्तित्व से नितान्त विच्छिन्न होकर गतिशील नहीं हो सकता, वह नये मूल्यों की उपलब्धि में सक्षम नहीं हो सकता। इस दृष्टि से नई सर्जन-क्षमता से सक्रिय होने के लिए भारतीय व्यक्तित्व को वैदिक संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित किया है। इन्हीं कारणों से वे वैदिक वाङ्मय का युगानुरूप एवं सुबोध ढंग से भाष्य किया। इसके माध्यम से स्वामी दयानन्द ने जिन मानव मूल्यों की स्थापना की है, वे भारतीय समाज की आधुनिक प्रगति तथा रचना की दृष्टि के अनुकूल है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि वेदों का दृष्टिकोण सत्य का वैज्ञानिक अन्वेषण कर रहा है। वेदकाल के ऋषि व मनीषियों ने भौतिक जीवन की उपेक्षा करके आध्यात्मिक जीवन के विकास पर कभी बल नहीं दिया था। उन्होंने भौतिक जीवन के सत्यों के अनुसंधान में वैसी ही प्रवृत्ति दिखाई है जैसी आत्मिक सत्यों के आत्मानुभव के स्तरों की खोज की।

स्वामी दयानन्द के अनुसार सत्य का यह समस्त अनुसंधान ज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभव, विवेकशील चिन्तन और आत्म साक्षात्कार के आधार पर हुआ है, अतः वे इसे वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष जीवन के अनुभवों के आधार पर ज्ञान की खोज में प्रवृत्त होने के कारण इन मनीषियों ने अनेक भौतिक सत्यों की खोज भी की थी। वस्तुतः वैदिक संस्कृति में स्वस्थ और स्वच्छन्द जीवन के ऐसे मूल्यों की स्थापना हुई है जो व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और परिवार, परिवार और समाज, व्यक्ति और राष्ट्र, व्यवहार और अध्यात्म, आत्मा और ब्रह्म के उचित सन्तुलन पर प्रतिष्ठित है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की पूरी सम्भावनाएँ समाज की व्यवस्था में समाहित रही है। और समाज की गति तथा सर्जनशीलता को सुरक्षित रखने के लिए व्यक्ति दायित्व बोध तथा आत्मानुशासन की प्रक्रिया से अपनी रचनात्मक क्षमता को

---

६४. श्री अरविन्द- भारत का पुनर्जन्म, पृष्ठ १२३

६५. Sri Autobindo- Secret of the Veda, 17/337-341

समृद्ध बनाता रहा है। निश्चय ही संस्कृति की यह परिकल्पना भारतीय जीवन की नये स्तर पर संघटना तथा संरचना के लिए आकर्षक थी और इस भूमि पर भारतीय व्यक्तित्व को नये संदर्भों से जोड़ पाना अधिक उचित था। स्वामी दयानन्द के सामने यही संकल्प था कि भारतीय समाज अपनी तत्कालीक अधोगति से मुक्त होकर किसी प्रकार स्वस्थ होकर नई रचनात्मक क्षमता से गतिशील हो सके।

स्वामी दयानन्द ने समाज के वर्ग भेद, उसकी असमानता, उनमें छुआछूत, जन्म के वर्णों के विभाजन आदि के बारे में अपने प्रखर विचार रखे। उन्होंने कर्म पर आश्रित वैदिक वर्ण-व्यवस्था को स्वीकृति दी है। उन्होंने सत्य धर्म एक ही माना है। उनकी दृष्टि में वह धर्म वही हो सकता है जो श्रेष्ठ मानव मूल्यों की रचनात्मक प्रक्रिया को गतिशील रखने में सक्षम हो सके। उनका धार्मिक उद्देश्य बहुत ऊँचा था। उन्होंने धर्म को मूल्य के स्तर पर ग्रहण किया है, उससे साम्प्रदायिक व्यवस्था और कर्मकाण्डी पक्ष को बिलकुल अलग कर दिया है, वे आगे घोषणा करते हैं 'हे ऋषि-मुनियों की सन्तानों यदि तुम संसार में फिर गौरवशाली होना चाहते हो तो वेदों की ओर लौटो। उनके आशय को समझो। वेद-मंत्रों के यथार्थ अर्थों को जानो। ये साम्प्रदायिक लोग अपनी मनगढ़ंत और कपोल-कल्पित मान्यताओं की पुष्टि वेद-मंत्रों से करते हैं। वैष्णव कहते हैं कि जो मनुष्य विष्णु भगवान् के पाँच चिह्नों से अपने शरीर को दग्ध करवाता है, उसका कल्याण होता है, ऐसा वेदों में कहा गया है।'[६६] जिस वेद मंत्र[६७] की ओर उनका संकेत है, उसमें आये हुए अतृप्त तनु! के अर्थ का कैसा अनर्थ किया गया है। उसका वास्तविक अर्थ है- 'हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! तेरा शुद्ध और पवित्र तेज संसार में सब कहीं फैला हुआ है। शुद्ध स्वरूप प्रभु! तू हमारे रोम-रोम में समाया हुआ है।'

वे नारियों को वेद सम्मत शिक्षा एवं सम्मान प्रदान करना चाहते थे। नारी की दुर्दशा देखकर उनका हृदय करुणा से भर जाता है। यह ऋषियों की सन्तान वेदों की ब्रह्मचर्य शिक्षा भूलकर ऐसी इन्द्रियों की दास हो गई है कि इसे इन

---

६६. तापः पुण्ड्रं तथा नाम माला मंत्रस्तथैक्य च। अमीहि पंच संस्काराः परमै कान्त हेत्वः॥
अतप्त तनूनी तदामो अश्नुते। इति श्रुतेः रामानुजपटल पद्धैता।

६७. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्रणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्त तनूर्न तदामो अश्नुते मृताम इद्वहन्तस्ततसमाशत॥ – ऋग., ९/८३/१

दु:खियों पर तनिक भी दया नहीं आती। ऐसे अंधे, ऐसे पाषाण, ऐसे पाखण्डी समाज का जो स्त्री को अपनी वासनाओं की वेदी पर बलिदान करता है, सर्वनाश होने में अब विलम्ब नहीं है। यह अभागी जाति युवा अवस्था में विवाह करने की वेदों की आज्ञा[६८] का उल्लंघन करके छोटी अवस्था में ही अपनी सन्तान का विवाह करने लगी और वैदिक शिक्षा[६९] की अवहेलना करके बच्चे पर बच्चे पैदा करती चली जा रही है। इसने स्त्रियों का वेद शास्त्र पढ़ने पर अधिकार छीना, उन्हें अशिक्षित रखा, नरक का द्वार कहा, ढोल और पशु के समान ताड़ना का अधिकारी बताया। हे भगवान्! क्या कभी इस देश में गार्गी, आलोपी, सुलभा, मैत्रेयी, सरस्वती आदि वेदज्ञ और विदुषी तथा सीता, सावित्री और पार्वती के समान सती साध्वी देवियाँ फिर न दिखाई देंगी। मेरी आत्मा कहती है कि यह सम्भव है। परन्तु कब? जब आर्य जाति वेद भगवान् की अमृतरूपी शिक्षा का फिर पान करेगी। मेरी हार्दिक कामना है कि किसी प्रकार मातृशक्ति का सुधार हो। उनमें सुशिक्षा फैले और संस्कृति का प्रचार हो। इसी कारण 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वितीय और तृतीय समुल्लासों में इस बात पर बल दिया है कि 'सब लड़के-लड़कियों की शिक्षा गुरुकुलों में नि:शुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए।'

स्वामी दयानन्द वेदों का उपदेश देकर कहते हैं 'वेद तुम्हें कब मनुष्यों में ऊँच-नीच और भेद-भाव करना सिखाता है। उसकी तो शिक्षा है कि सारे मानव परस्पर भाई-भाई हैं, उनमें कोई छोटे-बड़े का भेद नहीं है। उन्हें एक दूसरे का सहायक बनकर सुख और ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहिए।'[७०] वेद के आदेशानुसार मनुष्य बनो[७१] चरित्रवान बनो। वे स्पष्ट करते थे मैंने आर्य जाति के इस घोर नैतिक पतन का कारण जान लिया है। इस जाति ने परमपिता परमात्मा के ज्ञान के भण्डार वेदों की शिक्षा को भुला कर मनगढ़ंत बातों को अपना धर्म-कर्म मान लिया है। जिस दिन यह जाति वेदों की ओर लौट आयेगी उसी दिन इसके सारे रोग-दोष दूर हो जायेंगे और तभी यह अपने खोए हुए गौरव को फिर प्राप्त कर लेगी। इसी कारण वे वेदों की उपदेश को सामयिक ढंग से प्रस्तुत करते थे। वे इस जाति के अवनति के कारण बेहद पीड़ित थे। उनके यह पीड़ा इन बातों से झलकती

६८. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम। – अथर्व., ११/२४, ३/१८

६९. से पितरा वृत्विये सृजेथाम। –अथर्व., १४/२/३७
बहु प्रजा निर्ऋतिया विवेश। – ऋग., १/१६४/३२

७०. ऋग., ५/६०/५

७१. ऋग., १०/५३/६

है 'ऋषि सन्तानों! कभी तुम संसार के गुरु कहलाते थे और आज तुम विदेशियों के शिष्य होने में अपना गौरव समझते हो। पहले दूसरे देशों के लोग आ-आकर तुमसे सदाचार की शिक्षा लेते थे, अब विदेशी तुम्हें सभ्यता सिखाते हैं। यह तुम्हारा घोर पतन क्यों? इसके कारणों पर तनिक विचार करो। जब से तुमने आर्ष ग्रंथों को छोड़कर अनार्य साहित्यों का सहारा लिया है, वैदिक शिक्षाओं की अवहेलना करके अवैदिक प्रथाओं को अपनाया है, तभी से तुम्हारी अवनति आरम्भ हुई है।' यही वे कारण थे जिसने स्वामी दयानन्द को वैदिक वाङ्मय को युगानुरूप प्रस्तुतीकरण करने को प्रेरित किया।

❑ वैदिक संस्कृति को समर्पित संस्थापक

वैदिक संस्कृति के पुनर्जागरण को बहुत दीप्त भूमिका प्रदान करने में स्वामी दयानन्द का स्थान प्रमुख है। उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्जागरण की एक नई धारा को सामानान्तर उपस्थित करके बहुत बड़ा कार्य किया है। दयानन्द ने अपने सांस्कृतिक आन्दोलन को पूर्ण सामाजिक पीठिका भी प्रदान की। वर्णव्यवस्था की प्रगतिशील व्याख्या, एंग्लो वैदिक स्कूलों की स्थापना, नारी शिक्षा का आयोजन, रुढ़िवादी संस्कारों का विरोध, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार उनकी रचनात्मक प्रतिभा की देनें हैं। उनके द्वारा खड़ा किया गया आर्य-समाज वैदिक संस्कृति की खड्गधर बांह साबित हुआ। आगे चलकर आर्य संस्कृति ने शुद्धि और संगठन का भी प्रचार किया। ईसाइयत और इस्लाम के आक्रमणों से वैदिक संस्कृति की रक्षा करने में जितनी मुसीबतें आर्य समाज ने झेली हैं, उतनी किसी और संस्था ने नहीं। इसने हिन्दुओं को जगाकर उन्हें जागरूक और प्रगतिशील बनाया।

आर्य संस्कृति के इस अभियान के लिए चंडित चमूपति ने सत्य ही कहा है कि आर्य-समाज के जन्म के समय हिन्दु कोरा और डरपोक जीव था। उसके मेरुदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उसकी संस्कृति पर कीचड़ उछाले, जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी, इन सारे अपमानों के सामने वह दांत निकाल कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा क्रोध में ओकर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नहीं। किन्तु आर्य समाज के उदय के बाद, अविचल, उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गयी। हिन्दुओं की संस्कृति एक बार फिर जगमगा उठी है। आज का हिन्दु अपनी संस्कृति की निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता। जरूरत हुई तो संस्कृति रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता

है।[७२] स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज के सदस्यों से कहा, 'अंध विश्वासों को हटा कर वैदिक शिक्षाओं के प्रचार का कार्य एक महान् कार्य है। इसे पूरा करने के लिए सैकड़ों दयानन्द चाहिए। मेरे जीवन का क्या ठिकाना। तुम लोग इस दायित्व को लेने के लिए अपने को तैयार करो।'

स्वामी दयानन्द जी के पंजाब के केन्द्र लाहौर के प्रचार कार्य का पूरे प्रान्त पर गहरा प्रभाव पड़ा। पंजाबियों में वैदिक संस्कृति के प्रति अनुराग और लगन उत्पन्न हो गई। उन्होंने सम्पूर्ण भारत वर्ष में इसका अलख जगाया। वे कहते थे 'मेरा निश्चित मत है कि वेद ही ऐसा ग्रंथ है जिसकी छत्रछाया में संसार के सारे मानव सुख और शान्ति पा सकते हैं। इसलिए वैदिक शिक्षा का प्रचार करो।' जो व्यक्ति वेद को माने और अपने को आर्य कहे उसे आर्य समाज में सम्मिलित कर लो। एक दूसरे को पृथक् करने वाली बातों की अपेक्षा समीप लाने वाली बातों पर अधिक बल दो। अंत में स्वामी जी ने कहा 'मुझे पूर्ण आशा है कि आर्य संस्कृति रूपी उद्यान हरा-भरा होकर फले-फूलेगा।' इस प्रकार स्वामी दयानन्द वैदिक संस्कृति के समर्पित संस्थापक थे। वैदिक संस्कृति का यह प्रवाह सतत् बहता चला गया। इस धारा में श्री अरविन्द ने अपने दिव्य पुरुषार्थों से नये आयाम दिए एवं इसे विकासोन्मुख किया।

श्री अरविंद द्वारा वैदिक संस्कृति की विकासोन्मुख प्रक्रिया

श्री अरविंद के आविर्भाव का काल भारत में राष्ट्रीयता के आरंभिक ताप का काल था। यूरोप के आगमन और सम्पर्क से हिन्दुत्व में जो कंपकपी जगी थी, वह अब खत्म हो चुकी थी एवं कुछ तो पुरातत्त्व की प्रगति से भारत के उज्ज्वल भविष्य के साकार हो उठने के कारण और कुछ दयानन्द और विवेकानन्द के द्वारा भारतवासियों में स्वाभिमान जगाने के प्रयास से, हिन्दू अब यूरोप के सामने मस्तक झुकाने के बदले, गर्व से सिर तानने लगे थे। विश्ववाद की कल्पना का सूत्रपात भारत में राममोहन राय ने किया था। और विवेकानन्द में आकर यह कल्पना प्रत्यक्ष रूप ले चुकी थी। श्री अरविंद पर विवेकानन्द और रामकृष्ण, दोनों का प्रभाव था, किन्तु अपनी समस्त बौद्धिकता को लिए हुए भी, वे स्वामी विवेकानन्द से अधिक रामकृष्ण के समान थे। सन्त एवं द्रष्टा तो स्वामी विवेकानन्द भी थे, किन्तु भगवान् का भरोसा करने से अधिक वे मनुष्य के भीतर कर्म भावना को जगाना

---

७२. The Cultural Heritage of India, Vol. 2

चाहते थे। किन्तु श्री अरविंद में दिव्य शक्ति के भरोसे काम करने का भाव अधिक था।

श्री अरविन्द ने विश्व-पीड़ा का निदान और समाधान वैदिक संस्कृति के इस रूप में स्वीकार किया है 'मानव-जाति की मुक्ति मार्ग यह है कि व्यक्ति और समाज के भीतर जो संभावनाएँ छिपी हुई हैं उनका विकास, आज की अपेक्षा अधिक सावधानी एवं अधिक विवेक से किया जाय। श्री अरविन्द को सारा विश्व रूपान्तरण की अवस्था से गुजरता दिखायी पड़ा। वास्तव में भारत के भीतर से जिस संस्कृति का उदय होगा वह अखिल विश्व के लिए कल्याणकारिणी होगी। वास्तव में वही संस्कृति विश्व की अगली संस्कृति बनेगी। श्री अरविन्द इसे विकास की महान् प्रक्रिया का मार्ग कहते हैं। इसी को जाग्रत् एवं विकसित करने हेतु ही उनका जीवन तपोमय एवं साधनायुक्त हो गया था।

❑ वैदिक ऋषियों के अनुरूप जीवन एवं योग साधना

श्री अरविन्द का सम्पूर्ण जीवन तप और साधना को समर्पित था। कठोपनिषद् में प्रयुक्त एक श्लोक का तत्वार्थ स्पष्ट करते हुए एक बार उन्होंने कहा था 'यदि तुम सांसारिक अभ्युदय से आसक्त हो तो तुम श्रेयस को प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए यदि जो इस श्रेयस् को अग्नि की लपटों में डाल नहीं सकता, उसे श्रेयस यानी शाश्वत की प्राप्ति नहीं हो सकती।'[७३] उन्होंने अपने जीवन की समूची सुख-सुविधाएँ, उपाधि, राजनीतिक नेतागिरी सभी को अग्नि की लपटों के हवाले कर दिया। श्री अरविन्द का पूरा व्यक्तित्व जैसे इस श्रेयस् के लिए संकल्पित था। श्रेयस स्वयं अपने तक भी सीमित हो सकता है। पर श्री अरविन्द के लिए सारा जीवन स्वनिरपेक्ष था। उनकी श्रेष्ठता आत्मोपलब्धि या चेतना की उच्चतम विभूति को सीर्फ अपने लिए उपलब्ध करने में नहीं थी। वे अहं और रुमानी साधना के चाकचिक्य से इस कदर अछूते रह गये, बल्कि इनके प्रति निरन्तर समझौता रहित और अडिग बने रहे।

उच्चता एक पकड़ में न आने वाला ध्रुवांक है, फिर भी इसे लक्ष्य बनाकर श्री अरविन्द के व्यक्तित्व को समझने की कोशिश की जा सकती है। कभी-कभी

---

७३. इवनिंग टाक्स, प्रथम भाग, पृष्ठ १३८
'श्रेयश्च, प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रीयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।'
– कठोपनिषद्, द्वितीय वल्ली, २

उच्चता भी अबूझ हो जाती है। श्री विश्वनाथ नरवणे ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक भारतीय चिन्तन' में श्री अरविन्द के विषय में लिखा है 'श्री अरविन्द का दर्शन भारतीय चिन्तन की नदी में एक सुन्दर किन्तु कुछ-कुछ अगम्य द्वीप के समान है।..... इस द्वीप में बहुत से गौरवशाली शिखर हैं, जहाँ से क्षितिज के भव्य दृश्य दीख पड़ते हैं। इन शिखरों पर चढ़ने वालों को लगता है कि मार्ग उबड़-खाबड़ है, और वे उसके विरलित वायु मण्डल में हाँफने लगते हैं, किन्तु एक बार अनुकूलन होने के बाद शुद्ध वायु उनके प्राणों को उदात्त बनाती है।' पर इसी से मिलते-जुलते एक प्रश्न के उत्तर में श्री अरविन्द ने नीरदवरण से कहा था 'यह योग मार्ग किसी के लिए भी ग्रैण्ड ट्रंक रोड नहीं था। न तो मेरे लिए, न श्री मां के लिए ही। (सुविधाजनक रास्ते की) ये बातें रुमानी भ्रमजाल हैं।'[७४] श्री अरविन्द 'गौरवशाली शिखरों के सदृश्य थे, जिसकी मानदण्डों से उच्चता भौतिक और बाहरी नहीं, बल्कि उन मानव-मूल्यों के द्वारा आँकी जा सकती है, जो किसी भी व्यक्तित्व को सामान्यता से अलग करके उच्चता में उच्च बनाते हैं।

श्री अरविंद के इस उच्च व्यक्ति के बारे में कालिदास की ये पंक्तियाँ उपर्युक्त जान पड़ती हैं 'वे दृढ़ता में सबसे दृढ़, तेज में सबसे उद्दीप्त, उच्चता में सबसे उच्च, व्यापकता में सबसे व्यापक मेरु सदृश आत्मा वाले थे। जैसा उच्च व्यक्तित्व था, वैसे ही प्रज्ञा थी, जैसी प्रज्ञा थी, वैसी ही शास्त्रज्ञता, जैसी शास्त्रज्ञता थी, वैसा ही कार्यारम्भ होता था और होती वैसी ही महत् उपलब्धि।'[७५] उन्होंने जेल यातना को आत्मिक निष्ठा और कष्ट सहिष्णुता के बल पर योग साधना में बदल दिया। जेल से ससम्मान मुक्ति मिलने पर देश की जनता के एकमात्र राजनेता होने के अधिकार को स्वीकार करने के बदले आन्तरिक पुकार को, अन्तराल के आदेश को मानकर पाण्डिचेरी की यात्रा की। निरन्तर साधना के द्वारा जो दिव्य शक्ति प्राप्त की, उसे सम्पूर्ण पृथ्वी चेतना के विकास के लिए अर्पित कर दिया। इस दुर्लभ और अब तक की श्रेष्ठतर सिद्धि को प्राप्त करके भी अपने को परात्पर शक्ति का सिर्फ यंत्र मात्र मानकर सतत विश्व मानवता के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहे। स्वाधीनता और साधना के मार्गों पर चलते हुए जिस अदम्य साहस का परिचय

---

७४. Nirad Baran- Correspondence with Sri Aurobindo, p. 69

७५. सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिविना।
स्थित: सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्ता मेरुरिवात्मना॥
आकारसदृश प्रज्ञ: प्रज्ञया सदृशागम:।
आगमै: सदृशारम्भ आरम्भसदृशो दयू॥ – कालिदास, रघुवंश, १/१४-१५

दिया, वह अश्रुतपूर्व था। इसी कारण इंग्लैण्ड के आदरास्पद पादरी ई. एफ. एफ. हिल ने यह उक्ति दी है 'श्री अरविन्द आज के सबसे बड़े दार्शनिक और अब तक के सबसे बड़े रहस्यविदों के बीच महान् रहस्यविद् हैं।'[७६]

भारत की स्वतंत्रता के बारे में पूर्ण आश्वस्त होकर उन्होंने पाण्डिचेरी में साधना आरम्भ की। यह साधना भी सिर्फ भारत के अभ्युदय के लिए नहीं थी, सिर्फ विश्व मानवता ही इसकी परिधि में नहीं आती, बल्कि यह साधना भविष्यत् मानवता को भी दृष्टि में रखकर आरम्भित होती है। श्री अरविन्द का पूर्ण योग इसी विराट् मानवता के श्रेयस के लिए, मंगल के लिए निवेदित है। उन्होंने अपनी साधना और पूर्णयोग का उद्देश्य बताते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'वे मनुष्य के भीतर दिव्यता को अवतरित देखना चाहते हैं, क्योंकि बिना उसके मानव-एकता की बात करना विचारों और सिद्धान्तों के भँवर जाल में पड़ना है। मानव-एकता के अनेक प्रयत्न हुए, किन्तु विशुद्ध बौद्धिक और भावनात्मक मानव धर्म हमारे मनोविज्ञान में इतना बड़ा परिवर्तन लाने के लिए पर्याप्त नहीं है।'[७७] अब तक की सारी साधनाएँ वैयक्तिक निःश्रेयस को अपना उद्देश्य मानती रही हैं। श्री अरविन्द पूरी मानव जाति के लिए नयी विचारधारा और नयी योग साधना लेकर आये। उन्होंने स्पष्ट कहा 'मैं अपने बड़प्पन के लिए अतिमानस को नीचे उतारने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ। मुझे मानवीय अर्थों में बड़प्पन और छुटपन की तनिक भी परवाह नहीं है। मैं पृथ्वी-चेतना में आन्तरिक सत्य, प्रकाश और सामंजस्य और शान्ति के तत्त्वों को उतारने का प्रयत्न कर रहा हूँ। ..... ताकि मनुष्य की प्रकृति आधे अँधेरे आधे उजाले में न रहे।'[७८]

श्री अरविन्द का पूर्ण योग विगत की प्रणालियों की नयी रूप सज्जा मात्र नहीं है, वह उससे अधिक है। वे स्वामी विवेकानन्द की इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि योग ऐसा साधन माना जा सकता है, जो व्यक्ति के विकास को शारीरिक जीवन के अस्तित्व के एक ही जीवन-काल में या कुछ वर्षों में यहाँ तक कि कुछ महीनों में ही साधित कर दें। श्री अरविन्द का जीवन तपोमय था। वे कहते हैं 'मेरी साधना का तरीका मेरे भीतर से आदिष्ट हुआ। मैंने उसका

---

७६. Aurobindo is the greatest contemporary philosopher and great in the company of the greatest mystic of all times. - World Review, October 1947

७७. श्री अरविन्द- मानव एकता का आदर्श, पृष्ठ ३१६

७८. श्री अरविन्द- अपने तथा श्रीमाताजी के विषय में, पृष्ठ १२३

अभ्यास किया और उन्नति की, किन्तु इससे दूसरों की सहायता कर पाना सम्भव नहीं था। जब श्री मां आयीं तो उनके सहयोग से मैंने आवश्यक पद्धति प्राप्त की।'[७९] श्री अरविन्द अत्यन्त भद्र उदाहरण के साथ स्पष्टतः स्वीकार करते हैं 'अभ्यन्तर का निर्देशक भी कभी-कभी साधना के बीच सहायक नहीं होता। जब मैं पाण्डिचेरी आया, मुझे भीतर से सहायता नहीं मिल रही थी। मैं उस समय किसी बाहरी व्यक्ति से प्रकाश पाना चाहता था। तभी मिरा (श्रीमां) आ गयीं। और यदि न आयी होतीं तो शायद मैं वैसे ही लड़खड़ाता रहता।'[८०] इन संदर्भों से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द योग की क्रियाशक्ति श्री मां हैं।

वैसे तो बड़ौदा में ही उनकी योग साधना का प्रारम्भ हो चुका था। वे कहते हैं 'प्राणायाम और अन्य साधनायें लगातार चलती रही, किन्तु राजनैतिक कार्यों के दबाव से साधनाक्रम टूट गया।' उन्होंने कहा 'उस समय मेरी साधना का क्रम टूट गया क्योंकि कार्यों का भार बहुत अधिक था। साधना लेले के सम्पर्क में आने के बाद ही पुनः शुरू हो सकी।'[८१] परन्तु उन्होंने कहा अवधूत सम्प्रदाय के गुरु लेले के साथ साधना शुरू नहीं की। मैंने अपने से सीखकर प्राणायाम शुरू किया। मैं साँस को सिर में चढ़ाने का अभ्यास करता था। इससे मुझे स्वास्थ्य, हल्कापन और सोचने का बल प्राप्त हुआ। साथ ही साथ कुछ आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी हुईं। बाद में राजनीतिक कार्यों के कारण ये चीजें बन्द कर देनी पड़ी।

श्री अरविन्द ४ मई १९०८ से ५ मई १९०९ तक यानी पूरे एक वर्ष एक दिन तक अन्वीक्षाधीन (Under Trial) कैदी थे। वे इस बारे में बोले 'एक वर्ष के लिए मनुष्य समाज से बाहर पशुओं के समान पिंजरे में बंद रहना पड़ेगा और फिर जब कर्मक्षेत्र में लौटकर आऊँगा तो वह पुराना परिचित अरविन्द नहीं रहूँगा। बल्कि एक नया मनुष्य, नया चरित्र, नयी बुद्धि, नया प्राण, नया मन लेकर और एक नये कार्य की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर अलीपुर के आश्रम से बाहर आऊँगा।' वे जेल जीवन को साधना में परिवर्तित कर दिये थे। आजकल जेल में भगवत् प्रेम की कुछ अधिकता देखने में आती है। 'मनुष्य तो मनुष्य, प्रकृति के भी सभी पदार्थों, जीव-जन्तु, वनस्पति में सर्वत्र समन्वयबुद्धि रखना एक महान् उपलब्धि है।'[८२] इन्द्रियों की रुढ़ियों को तोड़ने वाला ही समत्वदर्शी होता है।

---

७९. अनिलवरण्स जर्नल- द एडवेंचर ऑफ कानशियसनेस में उद्धृत, पृष्ठ ३०६

८०. मदर इंडिया, अगस्त १९७१, पृष्ठ ४५३

८१. रेमिनिसैंसेज एण्ड एनक्डोट्स, पृष्ठ १३

८२. इविनिंग टाक्स, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६२

जेल जीवन की इस यातनापूर्ण यात्रा में श्री अरविन्द कहते हैं 'जहाँ तक दिव्य आनन्द की अनुभूति का प्रश्न है, सिर, पैर या शरीर के किसी हिस्से पर लगने वाली चोट की पीड़ा के शारीरिक आनन्द या मात्र पीड़ा या आनन्द या शुद्ध शारीरिक आनन्द के रूप में अनुभूत किया जा सकता है। मैंने स्वेच्छया इस तरह के प्रयोग किये हैं। और अपने प्रयोगों में काफी गौरवपूर्ण ढंग से उत्तीर्ण हुआ हूँ। यह प्रक्रिया अलीपुर जेल में शुरू हुई। काल कोठरी में बहुत ही भयानक लाल रंग के योद्धा चींटी ने हमला किया और मुझे खूब काटा। बाद में मैंने अनुभव किया कि पीड़ा और आनन्द कुछ नहीं सिर्फ हमारी इन्द्रियों द्वारा चीजों को अनुभव करने की रुढ़ियाँ हैं।'[८३]

जेल में श्री अरविन्द ने अपने को कठोर साधना में डुबा देने का संकल्प लिया। गीता और उपनिषदें उनकी मार्ग दर्शिकाएँ थीं। इन्हीं दोनों के द्वारा सुझाए हुए रास्ते से वे ध्यान करते। शुरू-शुरू में वे अलग काल कोठरी में रखे गये। बाद में वे सभी बन्दियों के साथ एक बड़े हाल में रखे गये थे। एक साथ रहते हुए कैदियों के बीच भी वे अपनी व्यक्तिगत साधना निर्बाध चलाते रहे। श्री अरविन्द की साधना बहुत गोपनीय ढंग से चलती रही। इस बारे में उनका इस प्रकार कहना है 'वैसे मैंने अपनी योग साधना १९०४ से शुरू कर दी थी, किन्तु उस समय मेरा कोई गुरु न था। बाद में महाराष्ट्री योगी से सहायता पाकर मैंने अपनी साधना के आधार ढूँढ लिए। मेरी साधना पहले या बाद की, पुस्तकों पर आधारित न होकर मुख्यतया अनुभवों पर आधारित रही। जेल में मेरे पास गीता और उपनिषदें थीं। मैं गीतोक्त योग का अभ्यास करता और उपनिषदों द्वारा निर्देशित पद्धति.से ध्यान करता। कभी भी किसी समस्या या संकट के उठ खड़े होने पर मैं गीता से ही दिशा निर्देश पाता रहा।' इन खट्टी-मीठी अनुभूतियों के बीच योग साधना चलती रही। वे आगे लिखते हैं 'मैंने अपने योगाभ्यास को अत्यधिक शोरगुल कोलाहल के बीच करते रहने का तरीका सीख लिया था।'[८४] इसी जेल में श्री अरविन्द को स्वामी विवेकानन्द की आत्मा का दर्शन हुआ था।

श्री अरविन्द का जेल जीवन साधना में परिवर्तन हो गया था। उन्होंने आत्मविश्वास के साथ लिखा कि जेल में अग्नि परीक्षा लेकर भगवान् ने मुझे तीन शिक्षायें दी- १. मन की दृढ़ अवस्था होने में संकट में मनुष्य जन्म-तत्त्व की

---

८३. रेमिनिसेंसेज एण्ड एन्कडोट्स, पृष्ठ ८

८४. उपर्युक्त सारा विवरण स्वयं उन्हीं के द्वारा कथित है जिसे उन्होंने शिष्यों के पूछने पर १३ सितम्बर १९४६ की संध्या वार्ता में बतलाया था।

सही व्याख्या कर सकता है और उस व्याख्या का निष्कर्ष होगा अमानुषिक निठुराई को हटाने का दृढ़ संकल्प। २. भगवान् ने भयानक निर्जन स्थान में रखकर मुझे उसके भय से मुक्त कर दिया। जो आदमी योग-साधना करना चाहता है उसे जनता और निर्जनता एक समान होनी चाहिए। ३. तीसरी शिक्षा यह मिली कि योग-साधना केवल किसी व्यक्ति के अपने प्रयत्न से ही सफल नहीं हो सकती। इसके लिए भगवान् के चरणों में समर्पित होना आवश्यक है।

श्री अरविन्द की गम्भीर योग-साधना ३८ वर्ष की उम्र में पाण्डिचेरी में प्रारम्भ हुई। उन्होंने वारीन्द्र को लिखे एक पत्र में अपनी योग साधना के विषय में लिखा 'पाण्डिचेरी ही मेरी योग सिद्धि का निर्दिष्ट स्थल है। अन्तर्यामी जगद्गुरु ने मुझे मेरे पन्थ का पूर्ण निर्देश दिया है। उसके सम्पूर्ण (सिद्धान्त) योग-शरीर के दस अंग हैं, इन दस वर्षों में उन्हीं का अनुभूति द्वारा विकास कर रहा हूँ। यह अब भी शेष नहीं हुआ है। मैं आशा करता हूँ समस्त भारत और समस्त पृथ्वी उसकी परिधि होगी।..... इस योग की विशिष्टता यही है कि सिद्धि कुछ ऊपर न जाने से भित्ति भी पक्की नहीं होती।'[८५] इसके पश्चात् श्री अरविन्द अपनी अतिमानसिक अवतरण की साधना में पूर्ण रूप संलग्न थे। उसका परिणाम भी उनके व्यक्तित्व में नजर आने लगा था। चूँकि वे शुरू से अत्यन्त तर्कपूर्ण सुयोजित ढंग से कार्य करने के अभ्यस्त थे, इसलिए साधना के क्षेत्र में उनकी प्रक्रिया हमेशा क्रमबद्ध रूप से सोपान पर सोपान पार करते हुए तथा उपलब्धियों की भावुकता-रहित परीक्षा करते हुए निरन्तर आगे की ओर बढ़ते जाने की रही। अब तक भारतीय योग मोक्ष को परमोलब्धि मानता रहा। उन्होंने अपने अध्ययन और योग से यह जाना की सारी सृष्टि सच्चिदानन्द की लीला है।

श्री अरविन्द कहते हैं अवतरण के अनुभवों के अभाव की व्याख्या मैं इस प्रकार करता हूँ कि पुराने योग मुख्यतः अनुभव के अन्तर, अध्यात्म गुह्य (Psycho Spiritual occult) तक सीमित रहे।[८६] श्री दिवाकर ने ठीक ही लिखा है कि 'बहुत कम लोग समझ पायेंगे कि अपनी उन्नत साधना की अवस्था में भी कितनी आस्था, एकाग्रता और व्यावहारिक प्रयोगशीलता उन्हें अपनी साधना में लगानी पड़ी। एक अदृश्य सत्ता को लक्ष्य बनाकर, एक महान् कलाकार की तरह, जो धैर्य और लगन से निरन्तर पूर्णता ले आना चाहता है। श्री अरविन्द

---

८५. श्री अरविन्द का ७ अप्रैल, १९२० का 'पाण्डिचेरी पत्र' बारीन्द्र के नाम लिखा गया पत्र। यह ऐतिहासिक महत्त्व का पत्र है।

८६. श्री अरविन्द- अपने तथा श्रीमाताजी के विषय में, पृष्ठ १००

अपनी प्रतीति (Vision) को रूपाकार देने के लिए लगातार श्रम करते रहे, जो पूरा होने पर मानवता के लिए दिव्य अनुग्रह ले आयेगा।'[८७] अपनी साधना के बारे में उन्होंने कहा था कि योगी को उच्चतर चेतना में निवास करना और वहाँ स्थित रहते हुए निम्न स्तरों का परिष्कार करना होगा। १५ अगस्त १९२४ को उन्हों अपने जन्मदिन के अवसर पर जो भाषण दिया, उसमें उनकी साधना और कठिनाइयों का हल्का सा परिचय दिखाई देता है। उन्होंने कहा 'हम एक ऐसे योग का अभ्यास कर रहे हैं, जो दूसरी पद्धतियों से बिल्कुल भिन्न है। इसमें सफलता पाने के लिए जरूरी है कि हम अपनी मानसिक और प्राणिक सत्ता को उच्चतर ज्योति और शक्ति के सामने पूर्णतः समर्पित कर दें।'[८८] यह खन्दक की लड़ाई जैसी प्रक्रिया है, जहाँ कभी संधि नहीं हो सकती, या तो हम संघर्ष करें, विजय पायें या ध्वस्त हो जायँ, दूसरी कोई गति नहीं है।[८९]

श्री अरविन्द ने १९३५ के अक्टूबर में लिखा था, '२४ नवम्बर १९२६ को श्री कृष्ण का भू तत्व में अवतरण हुआ था। अतिमानसिक ज्योति का नहीं। श्रीकृष्ण के अवतरण का अर्थ है अधिमानसिक ईश्वरीय सत्ता का अवतरण, जिससे अब अतिमानसिक सत्ता के अवतरण में सहायता मिलेगी। श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं, वे अधिमानसिक सत्ता से ऊपर के विकास प्रक्रिया में सहायक हैं और वे ही अतिमानसिक आनन्द की ओर इस विकास का निर्देशन कर सकते हैं।' इसलिए २४ नवम्बर १९२६ को श्री अरविन्द का सिद्धि दिवस माना जाता है। सिद्धि दिवस के बाद से श्री अरविन्द ने पूर्ण एकान्तवास ग्रहण कर लिया। इस समय से लेकर १९५० के दिसम्बर तक यानी करीब २४ वर्ष उन्होंने एकान्त में व्यतीत किया। उन्होंने अपना जीवन वैदिक सूत्रों के माध्यम से जिया।

❑ वैदिक संस्कृति के सूत्रों का अनुशीलन

श्री अरविन्द ने वेदों का गहन अध्ययन किया। परिणामतः 'हिम्स टू द मिस्टिक फायर' १९४६ में प्रकाशित हुआ। १९५२ में इसके दूसरे संस्करण में और भी अनेक ऋचायें जोड़ी गयीं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि सायण के बाद जिस प्रकार वेद-विद्या के अध्ययन में दयानन्द का नाम लिया जाता है, उसी प्रकार वेदों की नई व्याख्या में श्री अरविन्द के योगदान का अप्रतिम महत्त्व है। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने ठीक ही लिखा है 'दयानन्द के बाद अभी तक कोई ऐसा

---

८७. श्री दिवाकर- महायोगी, पृष्ठ २०५

८८. द लाइफ ऑफ श्री अरविन्दो, पृष्ठ १९४-९५

८९. वही, पृष्ठ १६६

विद्वान नहीं हुआ, जिसने समूचे वेद या वेद के किसी बड़े भाग का भाष्य किया हो। आजकल इस दिशा में जो प्रयास हुए हैं, उनमें मेरी समझ से श्री अरविन्द घोष का प्रथम स्थान है। उन्हें सायण का 'अनेकार्थत्वम' सिद्धान्त अभिमत नहीं है। श्री अरविन्द प्रसिद्ध योगी रहे हैं। उन्होंने योगी की दृष्टि से वेदमंत्रों को देखा है। खेद है कि वे अपने कार्य को पूरा न कर सके।[९०] उपनिषदों पर श्री अरविन्द का महत्त्वपूर्ण कार्य सामने आ चुका है। 'एट उपनिषदस' १९५३ में छपा, जबकि कठोपनिषद् पूना से १९१९ में ही छप चुका था। श्री अरविन्द ने उपनिषदों से अपनी साधना में बहुत बड़ी सहायता प्राप्त की थी। डॉ. राधाकृष्णन ने उपनिषदों के भाष्यकारों में उनको आदरपूर्वक याद किया है।[९१] नलिनीकान्त ने लिखा है कि 'तमिल' के सुप्रसिद्ध कवि सुब्रह्मणयम् भारती ने उनके साथ बैठकर वेदों का अध्ययन किया था।[९२]

गीता पर उनकी सुप्रसिद्ध व्याख्या 'एसेज आन गीता' नाम से उपलब्ध है। अलीपुर जेल में ही उपनिषद् पर बताई हुई उनकी व्याख्या से बड़े-बड़े लोग चमत्कृत होते रहे। वेद के बारे में श्री अरविन्द कहते हैं 'वेद संहिता भारत वर्ष के धर्म, सभ्यता और अध्यात्म-ज्ञान का सनातन स्रोत है। किन्तु इस स्रोत का मूल अगम्य पर्वतगुहा में विलिन है। उसकी पहली धारा भी अति प्राचीन घनकंटकमय अरण्य में पुष्पित वृक्ष-लता-गुल्म के विचित्र आवरण से आवृत्त है। वेद रहस्यमय है। उनकी भाषा, कथन शैली, विचार-धारा आदि अन्य युग की सृष्टि है, अन्य प्रकार के मनुष्यों की बुद्धि की उपज है। एक ओर तो वे अति सरल हैं, मानों निर्मल वेगवती पर्वतीय नदी के प्रवाह हों, दूसरी ओर यह विचार प्रणाली हमें इतनी जटिल लगती है, इस भाषा का अर्थ इतना संदिग्ध है कि मूल विचार तथा पंक्ति में व्यवहृत सामान्य शब्द के विषय में भी प्राचीन काल से तर्क-वितर्क और मतभेद होता आ रहा है।'[९३] इन कारणों से श्री अरविन्द ने वेदों का भाष्य किया।

इस विषय में श्री अरविन्द कहते हैं 'वेद का अनुवाद करना एक असम्भव प्रयास के क्षेत्र में प्रवेश करना है। क्योंकि जहाँ प्राचीन ज्ञानदीप्त ऋषियों के सूक्तों का शाब्दिक अंग्रेजी अनुवाद करना उनके अर्थों और अभिप्रायों को मिथ्यारूप देना होगा, वहाँ एक ऐसा भाषान्तर जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण विचार को ऊपरी तल पर

---

९०. डॉ. सम्पूर्णानन्द- वेदार्थ प्रवेशिका, पृष्ठ ७३-७४

९१. Dr. S. Radhakrishnan- Philosophy of Upanishads, p.21

९२. गुप्ता-अमृता- रेमिनिसैंसेज, पृष्ठ ६२

९३. श्री अरविन्द की बंगला रचनाएँ, पृष्ठ २२

लाना हो, उनके अनुवाद के स्थान पर उनकी व्याख्या ही हो जाएगा। इसलिए मैंने एक प्रकार का मध्यमार्ग अपनाने का यत्न किया है। अर्थात् अनुवाद का एक ऐसा मुक्त और नमनीय रूप अपनाया है जो मूल के कथन-शैलियों का अनुसरण करे और फिर भी जिसमें व्याख्या के कुछ ऐसे साधनों की गुंजायश हो जिसमें वैदिक सत्य का प्रकाश प्रतीक और रूपक के पर्दे में से झलक सके।'[९४] वेद का रहस्य, पर्दा हटा दिये जाने पर भी रहस्य ही बना हुआ है।

बड़ौदा में रहते हुए श्री अरविन्द ने संस्कृत के अभ्यास के लिए महाभारत और रामायण का अंग्रेजी अनुवाद आरम्भ किया। इन्हीं दिनों भवभूति और कालिदास की रचनाओं का अध्ययन और कतिपय अंशों का अंग्रेजी अनुवाद भी चल रहा था। श्री अरविन्द रामायण से बहुत प्रेम करते थे, परन्तु इससे भी अधिक महाभारत ने उनको प्रभावित किया। इसी का परिणाम है कि उर्वशी, लव एण्ड डेथ जैसे प्रतिकात्मक महाकाव्य की रचना की। सावित्री भी इसी पर आधारित है। उन्होंने 'विदुला' का अनुवाद करके सर्वप्रथम १९०९ के वन्दे मातरम अंक में प्रकाशित किया। इसके पश्चात 'व्यास और वाल्मीकि' का भी भाषान्तरण किया। इसके बाद का संस्करण 'द टेल ऑफ नल' कर्मयोगीन में छपा। उलोपी तथा चित्रांगदा भी महाभारत पर ही आधारित है। टैगोर चित्रांगदा पर बहुत प्रभावित हुए थे।[९५]

श्री अरविन्द ने न केवल वैदिक वाङ्मय का भाष्य किया बल्कि वैदिक संस्कृति के नवजीवन हेतु सावित्री जैसे महाकाव्य एवं दिव्य जीवन जैसे गूढ़ वैदिक दर्शन की रचना भी की।

❑ वैदिक संस्कृति के नवजीवन हेतु प्रयास

क्रांतिकारी राजनेता और पूर्णयोगी अरविन्द आन्तरिक रूप से हमेशा कवि थे।[९६] कविता के बारे में उन्होंने लिखा है 'भविष्यत कविता में उस तत्त्व से एक ऐसी सादृष्य-मूलक निकटता की सम्भावना है, जिसे हम कविता में मंत्र का तत्त्व कहना चाहेंगे। मंत्र छन्दमय भाषा है, जो वेदों के अनुसार ऋषि के हृदय और सत्य के सुदूर आवास से उद्‌भुत होती है।'[९७] वे आगे इसका और स्पष्ट तौर पर उल्लेख

---

९४. श्री अरविन्द- वेद रहस्य, उत्तरार्ध, प्राक्कथन, पृष्ठ १

९५. K.R. Srinivasa Iyenger- Sri Aurobindo, Biography and a History, pp. 81-83

९६. कलेक्टेड पोयम्स की भूमिका में नलिनीकान्त गुप्त ने लिखा है कि वे प्रधानतः कवि थे।

९७. श्री अरविन्द- फ्यूचर पोयट्री, प्रथम संस्करण, १९५३, पृष्ठ ११

करते हैं 'अब तक कविता ने मधुमती भूमिका में जाकर कभी-कभी यह कार्य किया है, भविष्य में सम्भावना है कि वह क्रिया और ज्यादा सचेत ढंग से अपने इस उद्देश्य के प्रति जागरूक हो सकेगी। श्री अरविन्द इसी ऋचा का काव्य या मांत्रिक कविता के प्रयोक्ता थे। यह विशेषता पूर्णतः उनके महाकाव्य 'सावित्री' में ही उपलब्ध होती है। इसी कारण आचार्य श्रीराम शर्मा ने अपने सबसे आन्तरिक एवं निकटस्थ शिष्य को, जिसकी चेतना के तन्तु युग प्रत्यावर्तन करने वाली उन्हीं महाशक्ति से जुड़े थे,[९८] कहा 'श्री अरविन्द ने सावित्री की हर पंक्तियों को चेतना की उच्चतम अवस्था समाधि में जाकर रचा है। आज तक ऐसी कविता कभी किसी ने नहीं लिखी है।'

सावित्री

श्री अरविन्द के लिए कविता उसी दिन मांत्रिक या ऋचा माध्यम बन गयी, जिस दिन उन्होंने इस जगत् से परे के 'कुछ' को, जिसके होने पर ही जगत् का होना होता है, देखा और अनुभव किया। अनुभूति की प्रामाणिकता के लिए यह आवश्यक था कि वे इस प्रकार के माध्यम को उपलब्ध करें, जो उसे ज्यों का त्यों अभिव्यक्त कर सके। उसके लिए उन्हें भागीरथ प्रयत्न करने पड़े।[९९] श्री अरविन्द के योग की शर्त ही है, पाताल की यात्रा। कीचड़ के बीच निरन्तर गहरे उतरकर मधुरिमा के स्रोत को पाना। पुरुरवा ने इसी अंध तमस को चीरने की कोशिश की। परन्तु श्री अरविन्द पाताल और परमधाम को जोड़ना चाहते थे। वे इनके बीच सतरंगी सेतु बनाने को निकले थे। यह खाला का नहीं ज्वाला का घर है। इसलिए इसके बीच रहना आसान नहीं और उससे भी अधिक कठिन है, इसके बीच समता का भाव बनाकर दुःखातीत होना। सत्य को देखने की लगातार साधना और उसे निरावृत्त अभिव्यक्ति करने की कोशिश। 'सावित्री' इसी प्रयत्न का फल है। वह मांत्रिक कविता का महाकाव्य है, साधना का स्तवराज है और पूर्णयोग का द्वादश कर्पुरवर्तिकामहास्तोत्र है, जिसके विषय में श्रीमां ने लिखा है 'सावित्री पढ़ने का अर्थ है योगाभ्यास।'

---

९८. आचार्य श्रीराम शर्मा- वसन्त पर एक साधक की अनुभूति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६२, अंक २, पृष्ठ ५४

९९. खोद राह मैं त्रासभरे इस कीच बीच में
लम्बी गहरी एक डगर।
उतरे जिससे स्वर्ण नदी का गीत मनोहर
मृत्युहीन ज्वाला का घर। -'गाइस लेबर', कविता का अंश।

श्रीमां कहती हैं 'सावित्री का प्रत्येक छन्द मंत्रदर्शन है, जो उसे सब कुछ को अतिक्रांत कर जाता है जिसे अब तक मनुष्य ने ज्ञान के रूप में प्राप्त किया है और मैं जोर देकर कहना चाहती हूँ, इससे शब्द इस ढंग से नियोजित किये गये हैं, कि उनसे उत्पन्न पवित्र लयात्मकता तुम्हें वहाँ ले जाती है, जो वाक् का उद्‌गम है अर्थात् ओऽम।'[१००] श्रीमां कहती थीं जो निखिल ब्राह्मण में है वही सूक्ष्म रूप में सावित्री में विद्यमान है। इसमें महाकाव्य की नवीन से नवीन बिम्बयोजना और शैली-शिल्प का अद्‌भुत संयोजन है। सावित्री २३, ८१३ पंक्तियों में लिखा हुआ वैश्विक चेतना का महाकाव्य है। सिराक्यूज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रेमां एफ पाइपर ने लिखा है कि मुक्तवृत्त में लिखा हुआ यह काव्य सम्भवतः विश्व की सभी भाषाओं में लिखे हुए काव्यों में सर्वश्रेष्ठ है।[१०१] चीली की विश्व कवयित्री मदाम ग्रैव्रील मिस्त्राल ने ठीक ही लिखा है 'उनकी आश्चर्यकारी विशेषता यह अभिव्यक्ति क्षमता है, जो निर्दोश पारदर्शी हीरे की तरह सुन्दर और स्पष्ट है, जिसके कारण कोई काव्यशास्त्र से अपरिचित व्यक्ति भी कठिनाई में नहीं फँसता। सब प्रकार के अवरोधों से मुक्त स्पष्टतः इसमें एक ऐसा सौन्दर्य है, जो जादुई लोक की सीमाएँ छू लेता है। हमारे सामने उन्होंने ऐसा गद्य प्रस्तुत किया है, जो जर्मन कालजयी लेखक और यूरोपीय रहस्यवाद के मूल स्रोत एकहार्ट के समानान्तर है। ये उच्च तरंगें हमारे सामने हैं और अब तक हम जान गये हैं कि विश्व में एक ऐसी भी जगह है, जहाँ संस्कृति ने अपनी प्रतिष्ठा भरी आवाज पा ली है, जहाँ एक व्यक्ति के भीतर अतिमानसिक जीवन और उसको व्यक्त करने की अद्‌भुत शैली प्राप्त है, जो अपने सुन्दर और संयत क्लैसिक गद्य को आत्मा के कार्य के लिए साधन के रूप में इस्तेमाल करता है।'[१०२]

श्री अरविन्द का महाकाव्य सृष्टि के पहले विद्यमान शाश्वत तमिस्रा अथवा जड़ तमस के अनुभूतिपरक वर्णन से शुरू होता है। ऋग्वैदिक ऋषि इस स्थिति के 'तमासी-चमसा गुढ़मग्रे' अर्थात् 'गूढ़तम से आच्छन्न तमस' कहा करते थे। परन्तु अरविन्द का यह मांत्रिक काव्य इस स्थिति को अपनी प्रतीति और अन्तदर्शन के आधार पर बहुत स्पष्ट करके उपस्थित करता है। तमस की विभिन्न मुद्राओं का स्पष्टीकरण किया गया है। 'अप्रकेत' चिह्नों से रहित यह सूक्ष्म कारण सलिल सर्वत्र तमस के रूप में विद्यमान था।[१०३] सावित्री मानवी काया में ईश्वरीय सत्ता

---

१००. श्री अरविन्दो द होप आफ मैन में उद्धृत, पृष्ठ ४६६-६७

१०१. George Allen and Unwin- Integral Philosophy of Sri Aurobindo, p. 125

१०२. मादाम गैव्रील मिस्त्राल- श्री अरविन्द केम टू मी, पृष्ठ ११४

१०३. तमासीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रेकतं सलिलं सर्वमा इदम्। - ऋग., १०/१२९/३

का प्रतिनिधि है, इसीलिए उसे सभी सीमाओं से, जो यथार्थ होती, हटाकर कवि उसे तांत्रिक स्तर पर ले जाता है। सावित्री अपने दैवी स्थान से पृथ्वी की ओर चलती है।[१०४] महाभारत की सावित्री में भी अलौकिकता थी। वह कम दीप्तिवती नहीं थी। उसका तेज भी अमोघ और अनिवार्य था।[१०५] श्री अरविन्द ने सावित्री को एक नवीन प्रतीकात्मक अर्थवत्ता प्रदान कर दी है। मृत सत्यवान को पुनरुज्जीवित करने के लिए सावित्री की योग साधना ही कवि का मूल विषय है, इसलिए उसका पूरा ध्यान इसी ओर केन्द्रित रहा है।

श्री अरविन्द ने सावित्री के बारे में एक बार अपने एक शिष्य को पत्र में लिखा था 'यह कविता एक आनवरतिका धारा की तरह प्रथम पंक्ति से अंतिम पंक्ति तक अवतरित हुई।' 'सावित्री' मेरी दूसरी कृतियों से भिन्न एक खुद में महान् कार्य था। पुरानी प्रेरणा से ही मैंने अपने मूल की आठ या नौ बार आवृत्ति की होगी। हर बार नवीनीकरण, इसके बाद मैंने इसे दुबारा नये सिरे से लिखना शुरू कर दिया। पहले प्रथम पुस्तक पर एकाग्र हुआ और बार-बार एक ही अंश पर कार्य करता रहा, इस आशा से कि प्रत्येक पंक्ति पूर्णता में सब तरह से पूर्ण होनी चाहिए। किन्तु अब ऐसे कार्यों के लिए शायद ही समय प्राप्त हो सके।"[१०६]

दिव्य जीवन

श्री अरविन्द ने 'सावित्री' में जहाँ अपनी अनुभूतियों को काव्यात्मक शैली में संजोया-सँवारा, वहीं उनका 'दिव्य जीवन' ने दार्शनिक जगत को एक नया दिशा बोध कराया। उन्होंने १५ अगस्त १९१४ को अपने जन्मदिन में 'आर्या' के प्रथम संस्करण में 'दिव्य जीवन' के प्रारम्भिक अंशों को प्रकाशित किया। सन्

---

१०४. शाश्वत स्थिर और परिवर्तन की राजदूतिका
देवी सर्वज्ञा वह झुकी सहारा लिए हुए विस्तार वंद्य का
जो घेरे था नियति-बद्ध यात्रायें करते नक्षत्रों को।
देखा उसने दिक् प्रान्तर प्रस्तुत था उसके चरणों के हित
एक बार वह तिरछे मुड़ी देखने अपना सूरज जो आवृत्त था
रुकी रही सोचती हुई कुछ, और चल पड़ी। – सावित्री

१०५. तां सुमध्यमां रघुश्रोणीं प्रतिमां कांचनामिव।
प्राप्तेयं कन्येति दृष्ट्वा सम्मेनिरे जनाः।
तां तु पदनापलाशक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा॥
न कश्चिद् वरयामास तेजसा प्रतिवारिताः॥ – महा. वनपर्व, २६/२७

१०६. लेटर्स आन सावित्री, १९३४ का पत्र

१९३९ में 'लाइफ डिवाइन' पहली बार पुस्तक के रूप में छपी थी। श्री अरविन्द ने आर्या में 'लाइफ डिवाइन' को प्रकाशित कर 'आर्या' की महत्ता को बढ़ा दिया था। उन दिनों श्री अरविन्द की 'लाइफ डिवाइन' के पीछे एक नई दार्शनिक नींव की प्रतिष्ठापना थी। जिसका उद्देश्य था 'पृथ्वी का परिवर्तन एवं सुखी व समुन्नत मानवता का विकास।'[१०७] इसलिए 'लाइफ डिवाइन' को 'भविष्य का विचार' कहा जाता है।[१०८] श्री अरविन्द ने अपने सम्पूर्ण योग की अनुभूति को दिव्य जीवन में उकेर दिया है। के.डी. सेठना ने इस विषय में कहा था 'दिव्य जीवन' दर्शन के लिए नहीं था वरन् यह श्री अरविन्द का दिव्य योग है। और इसका प्रत्येक तथ्य गहरी अनुभूति का परिणाम है।[१०९] इस तरह उनका दिव्य जीवन भविष्य मानवता का निर्णय है अतिमानस का अवतरण है।

दिव्य ज़ीवन वैदिक सत्य 'अतिमानस' के अवतरण का पूर्ण योग है। इस विषय में श्री अरविन्द ने यह कहा था 'यह अगले एक हजार साल में आने वाली मानवता के लिए है।' इसी कारण मंगल देव शास्त्री ने कहा है वर्तमान युग के महर्षि श्री अरविन्द ने अपने लाइफ डिवाइन नामक ग्रंथ में मानव जीवन सम्बन्धी दार्शनिक समस्याओं का ऐसा अभूतपूर्व युक्ति युक्त समाधान दिया है कि जिस कारण मैं उसे अभिनव वेद मानने लगा हूँ।[११०] श्री अरविन्द के 'लाइफ डिवाइन' नामक ग्रंथ के गुणों का वर्णन करना एक प्रकार से सूर्य को दीपक दीखाना है। वर्तमान युग में लाइफ डिवाइन ही एक मात्र वह ग्रन्थ है जो समस्त दार्शनिक समस्याओं का पूर्णतया युक्तियुक्त और सत्य समाधान प्रस्तुत करता है, जो पृथ्वी और उच्चतम स्वर्ग के बीच में केवल उतरने और चढ़ने की सीढ़ियों का प्रदर्शन ही नहीं करता अपितु उस मार्ग और विधि को भी दिखाता है जिससे स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारा जा सकता है और पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत किया जा सकता है।[१११] इस विषय में व्ही चन्द्रशेखर के अनुसार 'दिव्य जीवन' में वह समस्त संश्लेषणात्मक मूल्य सन्निहित है जो बौद्धिक खोज एवं दर्शन में, प्रेरणा और अनुभव में, पुरुषार्थ व उद्देश्य में, प्राचीन व नवीन विश्व में तथा पूर्व एवं

---

१०७. K.R. Srinivasa Iyengar- Sri Aurobindo A Biography and History, p. 387

१०८. Ibid

१०९. Mother India, August 1966, pp. 66-67

११०. केशव देव आचार्य द्वारा अनुवादित दिव्य जीवन के प्राक्कथन से उद्धृत

१११. श्री अरविन्द- दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, अनुवादक केशव देव आचार्य, प्राक्कथन, iv

पश्चिम में देखा जाता है।[११२] एक पश्चिमी विद्वान चार्ल्स ए. मुरी के मतानुसार 'यह भारतीय वैदिकता की अभूतपूर्व कृति है इसमें श्री अरविन्द ने जीवन और ब्रह्माण्ड के सभी पक्षों का समावेश कर दिया है। यह वास्तव में विश्व का दर्शन है, जिसके माध्यम से पूर्व और पश्चिम एक साथ प्रभावित होंगे।"[११३]

नई मानवता की प्रयोगशाला

श्री अरविन्द ने वैदिक संस्कृति को जीवन्त करने के लिए आश्रम की स्थापना की। उसे नई मानवता की प्रयोगशाला कहा जा सकता है। २४ नवम्बर १९२६ से सन् १९५० तक एकान्तवास में रहे। इन्हीं २४ वर्षों में श्री अरविन्द आश्रम एक महत्त्वपूर्ण संगठित प्रयोगशाला के रूप में सामने आया। वैदिक संस्कृति के नवजीवन हेतु यह आश्रम बहुत प्रयास-पुरुषार्थ किया है। इस बारे में श्री अरविन्द लिखते हैं 'शुरू-शुरू में यहाँ कोई आश्रम नहीं था। केवल कुछ लोग मेरे साथ रहने और योग साधना करने के लिए आये थे। श्री मां के जापान से आने के कुछ समय बाद ही उसने आश्रम का रूप धारण किया। इसका कारण श्री मां या श्री अरविन्द की कोई योजना नहीं थी, बल्कि उन साधकों की इच्छा थी, जो अपना समस्त आन्तरिक और बाह्य जीवन श्री मां को सौंपना चाहते थे। जब आश्रम का विकास होना प्रारम्भ हुआ, उसके संगठन का भार श्री मां के ऊपर आ पड़ा। श्री अरविन्द ने श्रीघ्र ही एकान्तवास ले लिया और सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक कार्य का भार श्रीमां पर आ पड़ा।"[११४]

श्री मां ने भी अपनी एक बहुत पुरानी इच्छा की पूर्ति के लिए आश्रम को यह रूप दिया। किसी भी बाहरी साधन से किसी भौतिक उन्नति या सामाजिक परिवर्तन से मनुष्य का सच्चा क्रमोन्नत विकास नहीं किया जा सकता, ऐसा विकास जो उसे उस आनन्द की ओर ले जाय, जो उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। सच पूछा जाय तो व्यक्ति की आन्तरिक और गम्भीर पूर्णता ही सच्चा विकास ला सकती है, जो वस्तुओं की वर्तमान स्थिति को पूर्णरूप से बदल सकती है तथा दुःख और दैन्य की अवस्था को एक प्रशान्त और स्थायी तृप्ति की अवस्था में रूपान्तरित कर सकती है।[११५] चूँकि सब प्राणियों के हृदय में प्रज्वलित दिव्य ज्योति एक ही

---

११२. Y. Chandrasekhar- Sri Autobindo's "The Life Divine" (1941), p. 105
११३. Charles A. Moore- The Integral Philosophy of Sri Aurobindo edited by Haridas Chaudhuri and Fredrick Spiegelberg (1960), p. 107
११४. श्री अरविन्द- अपने तथा श्रीमाताजी के विषय में, पृष्ठ १२०
११५. Words of long ago, p. 89

है, अत: श्री मां कहती है कि 'ज्योति को ज्योति ही आकृष्ट करती है और इसका परिणाम होता है समस्त जीवों की मूलभूत एकता और उनका मेल-मिलाप और भ्रातृभाव।'[११६] इस तरह अपने को पहचाने और अपने भीतर की ज्योति से जाग्रत् हो तो एक नये समाज की रचना सम्भव है। इसलिए श्री मां चाहती हैं 'नवीन जाति के, भगवान् के पुत्रों की जाति के फूलने फलने के लिए किसी अनुकूल स्थान पर आदर्श समाज की स्थापना करना।'[११७]

श्री मां की यह इच्छाएँ वैदिक संस्कृति को जीवन्त बनाये रखने में साकार हुई। उनके भारत आगमन इन्हीं चीजों के परिप्रेक्ष्य में था। उन्होंने कहा 'अपने इस पार्थिव अस्तित्व की शुरूआत से ही मैं ऐसे लोगों से मिलती रही हूँ, जो कहते रहे हैं कि उनके भीतर उत्कट अभीप्सा है, पर वे विकास नहीं कर पाते क्योंकि वे निरन्तर अपनी जीविका प्राप्ति की निर्गम आवश्यकता की गुलामी के लिए मजबूर हैं। मैं उस समय बहुत कम वय की थी, तब मैं अपने से ही कहा करती कि यदि सम्भव हुआ तो एक दिन मैं एक ऐसी छोटी सी दुनिया बनाऊँगी, जहाँ आदमी को अपने भोजन, वस्त्र और शरण स्थल तथा जिन्दगी की दूसरी जरूरतों को खोजने की व्यस्तता से बरी रख सकूँ और देखूँ कि किस तरह उन्मुक्त की गई शक्ति, भौतिक अस्तित्व को बनाये रखने की चिन्ता से मुक्त होकर, दिव्य जीवन और आन्तरिक संसिद्धि को प्राप्त करने के लिए अपने आप उधर को प्रवाहित हो सके।'[११८] इस तरह यह आश्रम ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म या बाद के हिन्दु मत के संगठित सम्प्रदायों जैसे आन्दोलनों द्वारा प्रसूत धार्मिक संस्थानों की अपेक्षा प्राचीन काल की वशिष्ठ, कण्व के आश्रमों से अधिक सादृश्य रखता है, इसमें एक बात और है कि वह आधुनिक समय के अनुकूल भी हुआ है।[११९]

श्री अरविन्द योग में जिस प्रकार जीवन से कहीं से भी अलगाव आदिष्ट नहीं है, उसी तरह पाण्डिचेरी नगर के क्रिया कलापों से आश्रम के मकान अलग नहीं हैं बल्कि कहना चाहिए कि पाण्डिचेरी नगर के विभिन्न मुहल्लों में फैली ये इमारतें जीवन के संघर्ष में श्री अरविन्द की क्रिया-प्रक्रिया के परीक्षण का केन्द्र है। यह वैदिक संस्कृति का सजीव रूप है। पूरा आश्रम आधुनिक जगत् के सारे क्रिया-कलापों के भीतर से गुजरता हुआ सही अर्थों में जाति, धर्म, रंग-रूप और

---

११६. मातृवाणी, भाग १, पृष्ठ ७

११७. वही,

११८. M.P. Pandit- The Mother of Love, vol. I, p.10

११९. श्री अरविन्द और उनके आश्रम का संदेश, पृष्ठ १७-१९

राष्ट्रीयता आदि की सीमाओं से अछूता अन्तर्राष्ट्रीय मानवता का, जो नई दिव्य चेतना की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील है, एक विराट् प्रयोगशाला है। वैदिक संस्कृति के नवजीवन हेतु प्रयासरत है। श्री अरविन्द इन समस्त प्रयासों में भारत की दिव्य भवितव्यता की प्राप्ति भी एक लक्ष्य था।

❑ वैदिक संस्कृति के प्रति भविष्य दृष्टि

श्री अरविन्द का पूरा जीवन भारत के प्रति अनन्य निष्ठा और बलिदान का प्रतीक है। उन्होंने भारत को कभी भी भूमिखण्ड मात्र नहीं माना। वे इसे सर्वदा विश्व का हृदय और विराट् पृथ्वी की चेतना का केन्द्र कहा करते थे। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से भारत का उज्ज्वल भविष्य देखा था– 'भारत राष्ट्रों का गुरु है, मानव आत्मा का, उसके गंभीर रोगों में चिकित्सक, उसके भाग्य में एक बार फिर विश्व के जीवन को नये साँचों में ढालना लिखा है।'[१२०] इसलिए वे कहते हैं 'इस मातृभूमि की मिट्टी, समुद्रों से उठने वाली हवा, भारत के पर्वतों से निकलने वाली नदियों के स्पर्श से, भाषा, बोलियाँ, संगीत और कविता के श्रवण से, विभिन्न वेष-भूषा और आचार-व्यवहार को देखकर उसमें सहज भौतिक आनन्द की अनुभूति इस प्रेम की जड़ें हैं। अतीत के गौरव, वर्तमान के दुःख, भविष्य की आकांक्षा इसकी शाखाएँ हैं। आत्मबलिदान, आत्मविस्मरण, महान् सेवाभाव, असीम सहनशक्ति, इसके फल हैं। और वह उर्वरा शक्ति, जो इस वृक्ष को जिलाये रहती है वह है अपने देश का देवताओं की जन्म भूमि के रूप में बोध, धरती माता की प्रतीति, और इस मातृशक्ति का अनवरत ध्यान, भक्ति और सेवा भाव।'[१२१]

श्री अरविन्द कहते हैं भारत का उदय हो जायगा। उन्होंने आकाशवाणी से प्रसारित अपने संदेश में कहा '१५ अगस्त १९४७ स्वाधीन भारत का जन्म दिन है। यह दिन भारत के लिए पुराने युग की समाप्ति और नये प्रभाव के उदय को सूचित करता है। भारत का सम्मोहन टूट चुका है, उनींदे मस्तिष्क ने अपने को पहचाना और मृत आत्मा फिर से जी उठी। अब उसे कोई रोक नहीं सकता। नया भारत सभी बाँध लांघ गया है, वह क्लर्क को उसके व्यवहार पर, व्यापारी को उसकी दूकान में, किसान को उसके हल पर जाकर पुकारता है, ब्राह्मण को वह उसके मंदिर से बुला लाता है और चाण्डाल का हाथ उसकी निम्न स्थिति

---

१२०. श्री अरविन्द– पश्चिम के खण्डहरों से .... भारत का पुनर्जन्म, मार्च ५, १९०८ का व्याख्यान, पृष्ठ ३९

१२१. डॉक्ट्रिन ऑफ पैसिव रेजिस्टेंस, १९६६, संस्करण, पृष्ठ ५९

से थामकर उठाता है, विद्यार्थी को वह उसके कॉलेज में से खोज निकालता है, और स्कूली लड़के को उसकी पुस्तक पर से, यहाँ तक कि वह शिशु को भी अपनी मां की गोद में छू लेता है, और अलग-थलग जनानखाने की स्त्रियाँ उसकी आवाज से रोमांचित हो उठती हैं, उसकी नजर जंगल को छानकर संथाल तक पहुँचती है और पहाड़ियों की यात्रा कर पर्वतीय आदिम जातियों तक पहुँच जाती है। वह उम्र, स्त्री-पुरुष, जाति, धन, शिक्षा, प्रतिष्ठा की कोई परवाह नहीं करता, देश में दाँव की बात की वह खिल्ली उड़ाता है, सम्पत्ति की योग्यता अथवा साक्षरता के प्रमाण-पत्र की मांग को वह ठुकराकर एक तरफ कर देता है। अनपढ़ और गली के आदमी को वह ऐसी उजड्ड और जोरदार भाषा में सम्बोधित करता है जो वह बखूबी समझता है, युवा और उत्साही को कविता के स्वरों में, शोलों की जुबान में, विचारक को दर्शन और तर्क के माध्यम से, हिन्दू के आगे वह काली के नाम का जप करता है, मुलसमान को इस्लाम की शान के लिए काम करने को उकसाता है। वह सभी को आगे आने के लिए ईश्वर के काम में मदद करने के लिए और भारत में वैदिक संस्कृति के पुर्नरुत्थान हेतु पुकारता है, जिसके पास जो भी धर्म अथवा संस्कृति हो, उसकी शक्ति, उसकी मर्दानगी अथवा उसकी प्रतिभा जो कुछ भी नई संस्कृति को योगदान दे सके। एक ही योग्यता जिसकी वह मांग करता है, वह है ऐसा शरीर जो एक भारतीय जननी की योनि में तैयार हुआ हो, एक हृदय जिसमें भारत के प्रति भावना हो एक मस्तिष्क जो उसकी महानता के लिए विचार और आयोजन कर सके, एक जिह्वा जो उसके नाम की स्तुति कर सके और वे हाथ जो उसकी लड़ाई लड़ सके।"[१२२] यह भारत में वैदिक संस्कृति की पुनर्जन्म एवं भवितव्यता है।

श्री अरविन्द कहते हैं, 'भारत, प्राचीन मां, पुनर्जन्म के लिए प्रयत्नशील है। जो वैराग्य और आत्मबलिदान की शुद्ध ज्वाला में स्नान किये हुए, यह उसका नया रूप है, नया निर्माण और सृजन है। वह अतीत में नयी आत्मा डाल रही है। वह जीवन में नवीनता का वात्याचक्र लिए आ रही है। भारत समस्त संसार का नेता हो जाएगा। जब प्राचीन भारत की ओर देखते हैं तो सर्वत्र एक विराट् सिसृक्षा, कभी भी खाली न होने वाले जीवन का आनन्द और उसकी अकल्पनीय रचनाओं का प्रयत्न हमें आश्चर्यचकित कर देता है। वह निरन्तर, भरपूर मात्रा में, उदार खर्ची के साथ, अनन्त पहलुओं, ढंग और दर्रों में बिखरे, लोकतंत्र, राज्य, साम्राज्य, दर्शन, विश्व प्रक्रिया के सिद्धान्त, विज्ञान, मत-मतान्तर, कला और काव्य,

---

१२२. ए. एण्ड आर., अप्रैल १९७८, पृष्ठ १३-१८

नाना प्रकार के स्मारक, महल-मंदिर, जन कल्याण के कार्य, जातियों, समाज, धार्मिक शास्त्र, विधान, नियम, कर्मकाण्ड, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान तथा योग पद्धतियाँ, राजनीति शास्त्र, व्यवस्था और शासन के सिद्धान्तों, आत्मिक और सांसारिक कलाओं, उद्योग धन्धों, व्यापार और उत्तम कला की वस्तुओं का निर्माण करता रहा। जाने यह सूची कितनी लम्बी हो सकती है। और प्रत्येक क्षेत्र में सक्रियता का ज्वार उभरता दिखेगा। वह रचता है। रचता जाता है। रचेगा और थकता नहीं, उसे कहीं इसका जैसे अन्त ही नजर नहीं आता, उसे सुस्ताने के लिए न स्थान चाहिए न समय।'[१२३] श्री अरविन्द की दृष्टि में ऐसे ही भारत के भविष्य का सपना था।

श्री अरविन्द कहते हैं 'अतीत से भारत का भविष्य अधिक बलशाली है। उस सबको रौंदकर टुकड़े-टुकड़े करते हुए जिसकी उसे अब कोई आवश्यकता नहीं होती। इस चुनी हुई भूमि भारत में (उस सत्य को) सुरक्षित रखा जाता है, उस भारतीय आत्मा के जो सिद्धान्त हैं, ज्योतिर्मय है, प्रेम, शक्ति और प्रज्ञा के प्राचीन पद्म की बंद पंखुड़ियों में प्रतिबद्ध है, उसके दुर्बल, मैले, क्षणभंगुर और दयनीय बहिरंगों में नहीं। केवल भारत ही मानव जाति के भविष्य का निर्माण कर सकता है।'[१२४] भारत को अपनी जाति के सृजन का और भविष्य का नेता बनने का सर्वोत्तम अवसर और अधिकार है।

श्री अरविन्द नवीन भारत के निर्माण के लिए युवाओं का आह्वान कर कहते हैं 'भविष्य नवयुवाओं का है। एक युवा और नवीन विश्व इस समय विकसित होने की प्रक्रिया में है और इसे नवयुवाओं को ही सृजित करना है। किन्तु जिसे हम सृजित करना चाहते हैं, वह सत्य, साहस, न्याय, ऊँची, महत्त्वाकांक्षाओं और ईमानदारी से प्राप्त उपलब्धि का विश्व भी है। इस आन्दोलन के भविष्य में कायर, स्वार्थी और वाचाल के लिए कोई स्थान नहीं है, जो आरम्भ में तो आगे बढ़ता है, पर बाद में अपने साथियों को प्रतीक्षा में छोड़ जाता है। दिलेर, स्पष्टवादी, स्वच्छ हृदय, साहसी और महत्त्वकांक्षी नवयुवा ही वह नींव है जिस पर भावी राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।' वे आगे कहते हैं 'हमारा आह्वान युवा भारत के प्रति है। युवाओं को ही नूतन विश्व के निर्माता बनना है, न कि उन्हें जो पश्चिम के प्रतियोगितापूर्ण व्यक्तिवाद, पूँजीवाद अथवा भौतिकवादी साम्यवाद को भारत

---

१२३. जेम्स एच. कजिन्स, रिनेसां इन इण्डिया, पृष्ठ ८

१२४. ए. एण्ड आर., दिसम्बर १९८०, पृष्ठ १८७-१९४

का भावी आदर्श मानते हैं, और न उन्हें जो प्राचीन धार्मिक नुस्खों के दास हैं तथा आत्मा द्वारा जीवन की स्वीकृति और रूपान्तरण में विश्वास नहीं कर सकते, बल्कि उन सभी को जो एक महानतर आदर्श के लिए अधिक पूर्ण सत्य और श्रम को स्वीकार करने हेतु मस्तिष्क और हृदय में स्वतंत्र है। ....हमें प्रेरणा देने वाली आत्मा में आश्वस्त आस्था के साथ हम नवीन मानवता के ध्वजाधारकों में अपना स्थान लेते हैं जो विघटनशील विश्व की अव्यवस्था के बीच जन्म लेने के लिए संघर्षरत है, और भावी भारत के ध्वजाधारकों में भी, पुनर्जन्म के उस महान् भारत के, जो पुरातन माता के विशाल जीर्ण शरीर को पुनरुज्जीवित करेगा।'[१२५]

भारत आध्यात्मिक प्रयोग की भव्य कार्यशाला, आत्मा की प्रयोगशाला रहा है। श्री अरविन्द ने कहा था, मैं कायल हूँ और बहुत समय से कायल रहा हूँ कि एक आध्यात्मिक जागृति, राष्ट्र के वास्तविक आत्मभाव के प्रति एक पुनर्जागरण हमारी राष्ट्रीय महानता की सबसे महत्त्वपूर्ण स्थिति है। .....भारत, यदि वह चाहे तो, विश्व का मार्गदर्शन कर सकता है। ....हमारा अतीत अपनी सभी कमियों और दोषों के साथ हमारे लिए पावन होना चाहिए, परन्तु हमारे भविष्य के दावे, उसकी तात्कालिक सँभावनाओं के साथ, उससे कहीं अधिक पावन होने चाहिए।[१२६] भारत का आध्यात्मिक जीवन गुफा और मंदिर से बाहर आ जाये व अपने को नये रूपों के अनुरूप बनाकर संसार पर अपना हाथ रखे। मेरा यह भी विश्वास है कि मानवता नये ज्ञान, नई शक्तियों और समर्थताओं के द्वारा अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाने जा रही है, जो मानव जीवन में उतनी ही महान् क्रांति का सृजन करेगी जैसी उन्नीसवीं सदी के भौतिक विज्ञान ने की थी। यहाँ भी भारत के पास अपने अतीत में, थोड़ी जंग खाई हुई और काम में न लाई गई मानवता के भविष्य की कुंजी है।[१२७]

यदि चाहे तो भारत उन समस्याओं को एक नया और निर्णायक मोड़ दे सकता है, जिनके ऊपर सारी मानव जाति परिश्रम कर रही है। और लड़खड़ा रही है, क्योंकि उनके हल का सुराग उसके प्राचीन ज्ञान में है। वह अपने नवजागरण के अवसर की ऊँचाई तक उठ पाता है अथवा नहीं यह उसके भाग्य का प्रश्न है।[१२८] प्रत्येक राष्ट्र मानवता की विकासशील आत्मा की ताकत अथवा

---

१२५. ए.एण्ड आर. में मूल बंगाली पाठ, पृष्ठ १६/३३१

१२६. सन् १९१५ 'द हिन्दू' के एक संवाददाता को दिये गये साक्षात्कार से उद्धृत।

१२७. श्री अरविन्द- हिज लाइफ यूनीक, ऋषभचन्द्र, पृष्ठ ४१०-११

१२८. जेम्स एच. कजिन्स, द रेनेसां इन इण्डिया, १४/ ४२६-४३३

एक शक्ति है और उसी सिद्धान्त के अनुसार जीवित रहता है उसमें समाया रहता है। भारत, भारत शक्ति है, एक महान् आध्यात्मिक संकल्पना की जीवन्त ऊर्जा और भारत के अस्तित्व का सिद्धान्त ही उसके प्रति निष्ठा रखना है। भारत वास्तव में जाग्रत् हो रहा है और अपनी रक्षा कर सकता है। युगों का भारत मृत नहीं हुआ है और न उसने अपना अंतिम सृजनात्मक शब्द उच्चारित किया है, वह जीवित है और उसे अभी भी स्वयं अपने लिए और मानव लोगों के लिए बहुत कुछ करना है। और जिसे अब जाग्रत् होना आवश्यक है वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए, आज भी वही पुरातन अविस्मरणीय शक्ति, जो अपने गहनतम स्वत्व को पुनः प्राप्त करेगा, प्रकाश और शक्ति के परम स्रोत की ओर अपने सिर को और ऊपर उठाये और अपनी संस्कृति के सम्पूर्ण अर्थ और व्यापक स्वरूप को खोजने के लिए उन्मुख होगा।[१२९] भारत को अपने अतीत के कारण और इसलिए कि यहाँ आध्यात्मिक शक्ति संचित है, सबसे अधिक मौका है।

श्री अरविन्द राष्ट्रवादी नेता चितरंजन दास को लिखे १८ नवम्बर १९२२ को एक पत्र में कहते हैं 'एक नई चेतना जिसका विकास केवल योग के द्वारा ही किया जा सकता है। मैं अधिकाधिक प्रकट रूप से देख रहा हूँ कि मनुष्य उस वृथा चक्र से, जिस पर मानव जाति हमेशा चलती रही है, बाहर तब तक कभी नहीं निकल सकता, जब तक वह अपने को उठाकर एक नई नींव पर नहीं रख लेता। मेरा यह भी विश्वास है कि विश्व के लिए यह महान् विजय प्राप्त करना भारत का ही मिशन है।'[१३०] श्री अरविन्द सदैव भारत का महान् भविष्यत की बात करते हैं। वे कहते हैं 'यह दैव निर्दिष्ट है कि भारत अपने शाश्वत ज्योति और नवीनीकरण के आध्यात्मिक स्रोत से विश्व को पुनर्जीवन प्रदान करेगा।'[१३१] इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे भारत का मुख्य कार्य वैदिक संस्कृति का पुनर्जागरण मानते हैं। पुराने युग की इस वर्तमान संध्या बेला में भारत ही, जो प्राचीन काल से इस रहस्य को ग्रहण किये हुए है, इस महान् रूपान्तर का नेतृत्व कर सकता है। यही भारत का महान् उद्देश्य है। यही मानव सेवा उसे करनी है। व्यक्ति के लिए जैसे उसने आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन की खोज की थी, वैसे ही अब सारी जाति के लिए सर्वांगीण सामूहिक अभिव्यक्ति की खोज करनी होगी और

---

१२९. द फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर, १४/३६३-८१
१३०. श्री अरविन्द- आन हिम सेल्फ, २६/४३७
१३१. ३ मई १९०८ में 'वन्दे मातरम' में सम्पादकीय से उद्धृत।

मानव मात्र के लिए सामूहिक पद्धति नई आध्यात्मिकता का आधार बनना होगा।[१३२] श्री अरविन्द की दृष्टि में भारत वैदिक संस्कृति का उन्नायक एवं नई मानवता का ध्वज-वाहक है।

इस तरह सांस्कृतिक पुनरोदय के वर्तमान प्रयास स्वामी विवेकानन्द से प्रारम्भ होकर दयानन्द एवं श्री अरविन्द के भागीरथी पुरुषार्थ में और भी प्रज्वलित एवं विकसित हुए। इन प्रयासों की पूर्णता एवं समग्रता ने आचार्य श्रीराम शर्मा के युग निर्माण आन्दोलन में नवीन स्वरूप पाया। क्योंकि यह आन्दोलन भी वैदिक युग के पुनरुत्थान का एक सामयिक एवं आधुनिक प्रयास है।

आचार्य श्रीराम द्वारा वैदिक संस्कृति का पुनरोदय

आचार्य श्रीराम शर्मा ने वैदिक संस्कृति का पुनरोदय किया। पुनरोदय का यह प्रयास आज के वर्तमान समय के अनुरूप एवं सामयिक तथा अब तक के इतिहास का सबसे बड़ा व महान् है। उन्होंने आज के भोगवादी एवं अपसंस्कृति से विक्षिप्त एवं विकृत समाज में सांस्कृतिक पुनरोदय का एक नवीन उल्लास संचरित किया है। उन्होंने युग निर्माण आन्दोलन के माध्यम से वैदिक युग के पुनरागमन की नींव डाली। उनकी विचार क्रांति इस प्रयास के नियंत्रण की नहीं, वरन् समन्वय एवं सामंजस्य की प्रक्रिया है। उसे श्रेष्ठताओं का समन्वय और विकृतियों का उन्मूलन भी कह सकते हैं। यही वे वैदिक सूत्र हैं जिनके द्वारा वैदिक ऋषियों ने नवयुग की परिकल्पना की थी एवं मानव में देवत्व के उदय की संकल्पना की थी। आचार्य श्रीराम शर्मा ने वैदिक संस्कृति के इस अत्याधुनिक स्वरूप को यथार्थ के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया। उन्हीं के शब्दों में 'अपनी संस्कृति पर गौरव जिन्हें होना चाहिए वे ही भारतीय यदि इस तथ्य से विमुख होकर पाश्चात्य सभ्यता की ओर उन्मुख होने लगे तो इसे एक विडम्बना ही कहा जायगा।'[१३३] इसी तथ्य पर सर्वाधिकार जोर देते हुए आचार्य श्री ने लिखा है कि जिस देश का अतीत इतना गौरवमय रहा हो, जिसकी इतनी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक पुण्य परम्पराएँ रही हों, उसे अपने पूर्वजों को न भुलाकर अपना चिन्तन और कर्तृत्व वैसा ही बनाकर देवोपम स्तर का जीवन जीना चाहिए। वैदिक संस्कृति की जितनी मान्यताएँ एवं परम्पराएँ हैं उन्हें आचार्यश्री ने विज्ञान की कसौटी पर कस कर

---

१३२. आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, १९५० आश्रम संस्करण, पृष्ठ २९५

१३३. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, भाग ३५, भूमिका

प्रमाणों के साथ उनको आज के विज्ञ समुदाय के समक्ष रखा है ताकि पाश्चात्य प्रभाव में पनप रही पीढ़ी उन्हें एकदम भुला न दे।

❑ युग ऋषि आचार्यश्री का संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि दैवीय सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के चेतनात्मक धरातल पर सबके नये सिरे से निर्माण करने का संकल्प लेती है। इसी क्रम में आचार्य श्रीराम शर्मा का जीवन परिचय परिलक्षित होता है। जिन्होंने अपने अस्सी वर्ष के जीवन में वैदिक संस्कृति की विराट् ज्योति को प्रज्वलित कर युग परिवर्तन का शंखनाद किया। आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रम सम्वत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा में जन्में श्रीराम शर्मा का बाल्यकाल-कैशौर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। पन्द्रह वर्ष की आयु में उन्होंने महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जी से गायत्री मंत्र की दीक्षा प्राप्त की थी। किशोर श्रीराम को राष्ट्र की पराधीनता एवं परावलम्बी होने की पीड़ा अत्यधिक कचोटती एवं सताती थी। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता। छः-छः माह की उन्हें कई बार जेल हुई। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसे स्वतंत्रता के पुराधाओं के साथ रहे।

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ। वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से परामर्श हेतु शान्ति निकेतन तथा बापु से गहन मंत्रणा के लिए साबरमती आश्रम अहमदाबाद गये। यहीं से उनके सांस्कृतिक अभियान का आरम्भ हुआ। उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की बसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। जिसका विधिवत् प्रकाशन १९४० की जनवरी से प्रारम्भ हुआ। जो आज तक लाखों प्रतियों के रूप में वैदिक संस्कृति का अलख जगाने का कार्य कर रही है। सन् १९५३ में मथुरा में गायत्री तपोभूमि की स्थापना की। जहाँ से युग निर्माण योजना की ज्योति प्रज्वलित हुई। १९४१ से १९७१ तक आचार्य श्री गायत्री तपोभूमि एवं अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा में सक्रिय रहे। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५८ में सहस्त्र कुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। उन्होंने युग निर्माण योजना व युग निर्माण सत्संकल्प के रूप में अपने मिशन का

घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित किया। यह घोषणा पत्र वैदिक सूत्रों की सामयिक व्याख्या है। आचार्य श्री ने वैदिक संस्कृति के प्रसार एवं ऋषि परम्परा के विस्तार हेतु चार बार हिमालय जाकर कठोर तपस्या किया। सन् १९७१ में ऋषि परम्परा का बीजारोपण करने के लिए सप्तसरोवर हरिद्वार में शान्तिकुञ्ज नामक आश्रम की स्थापना की।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म- वैज्ञानिक धर्म की आधारशीला रखी। इस सम्बन्ध में आचार्यश्री ने विराट् परिमाण में साहित्य सृजन किया। वैदिक संस्कृति को विश्व व्यापी बनाने तथा इसे जन-जन, घर-घर पहुँचाने का अभियान छेड़कर २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। यह अभियान ही युग निर्माण आन्दोलन है।

❑ आचार्यश्री का युग निर्माण आन्दोलन

आचार्यश्री का युग निर्माण आन्दोलन वैदिक संस्कृति के पुनरोदय का पूर्ण एवं समग्र प्रयास है। आचार्यश्री के अनुसार नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए लोक मानस को अनुकूल एवं भावान्वित करने का हमारा प्रथम प्रयत्न होना चाहिए। इस प्रयत्न को विचार क्रांति कहा जा सकता है। विचार क्रांति जब मस्तिष्क क्षेत्र से उतरकर व्यवहार क्षेत्र में आएगी तो उसका परम श्रेयष्कर स्वरूप नैतिक क्रांति जैसा दिखाई देगा।[१३४] यही महाअभियान युग निर्माण आन्दोलन के शत सूत्री कार्यक्रम के रूप में प्रस्तुत हुआ।

आहार-विहार सम्बन्धी परिवर्तित दृष्टिकोण- युग निर्माण के लिए आवश्यक विचार क्रांति का उपयोग यदि शरीर क्षेत्र में किया जा सके तो स्वास्थ्य संवर्द्धन हो सकता है। व्यक्तिगत जीवन में कुछ आदतों का पूरी श्रद्धा और तत्परतापूर्वक छोड़ना और कुछ को ग्रहण करना चाहिए। ये हैं; १. दो बार का भोजन, २. भोजन को ठीक तरह चबाया जाय, ३. भोजन अधिक मात्रा में न लें, ४. स्वाद की आदत छोड़ी जाय, ५. शाक और फलों का अधिक प्रयोग, ६. हानिकारक पदार्थों से दूर रहें, ७. भाप से पकाए भोजन के लाभ, ८. स्वास्थ्य रक्षा के लिए सफाई आवश्यक है, ९. खुली वायु में रहिए, १०. ब्रह्मचर्य का

---

१३४. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारी नीति और क्रिया पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ६, पृष्ठ २२

पालन।[१३५] यह दस साधारण नियम हैं, जिनका व्यक्तिगत जीवन में प्रयोग करने के लिए हरेक को अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए। बदले हुए दृष्टिकोण को अपनाने से स्वास्थ्य की समस्या हल हो सकती है। राष्ट्रीय अस्वस्थता की समस्या का हल इन्हीं तथ्यों को अपनाने से होगा।

स्वास्थ्य संवर्धन के सामूहिक प्रयास- सम्मिलित प्रयत्नों से व्यक्तियों में उत्साह एवं उमंग का संचार होता है, आत्म संतोष बढ़ता है और जन कल्याण की सम्भावना भी अधिक प्रशस्त हो जाती है। स्वास्थ्य आन्दोलन के सम्बन्ध में सुझाव निम्नलिखित हैं- ११. वनस्पतियों का उत्पादन, १२. पकाने की पद्धति में सुधार, १३. सात्विक आहार की पाक विद्या, १४. गन्दगी का निराकण, १५. नशेबाजी का त्याग, १६. व्यायाम और उसका प्रशिक्षण, १७. साप्ताहिक उपवास, १८. बड़ी दावतें और जूठन के प्रति सचेत, १९. सन्तान की सीमा मर्यादा, २०. प्राकृतिक चिकित्सा की जानकारी।[१३६] यह सभी ऐसे हैं जो सामूहिक रूप से ही प्रसारित किये जा सकते हैं। इन्हें आन्दोलन का रूप मिलना चाहिए।

अशिक्षा का अंधकार दूर किया जाय- जीवन को सुविकसित करने के लिए जिस मानसिक विकास की आवश्यकता है उसके लिए शिक्षा की भारी आवश्यकता है। ज्ञान का प्रकाश अन्तरात्मा में शिक्षा के अध्ययन से ही पहुँचता है। भौतिक विकास के लिए भी शिक्षा की आवश्यकता अनिवार्य रूप से अनुभव की जाती है। युग परिवर्तन के लिए देश व्यापी साक्षरता का अभियान छेड़ना चाहिए। इस सम्बन्ध में दस कार्यक्रम नीचे प्रस्तुत हैं; २१. बच्चों को स्कूल भिजवाया जाय, २२. शिक्षितों की पत्नी अशिक्षित न रहें, २३. प्रौढ़ पाठशालाओं का आयोजन, २४. प्रौढ़ महिलाओं की शिक्षा व्यवस्था, २५. शिक्षा के साथ दीक्षा भी, २६. नये स्कूलों की स्थापना, २७. रात्रि पाठशालाएँ चलाई जाएँ, २८. शिक्षित ज्ञान ऋण चुकाएँ, २९. पुस्तकालय और वाचनालय, ३०. अध्ययन की रुचि जगावें।[१३७] शिक्षा प्रसार आवश्यक है। मानसिक उत्कर्ष के लिए यह एक अनिवार्य कार्य है। इसके बिना देश का विकास सम्भव नहीं है। विचार क्रांति के उद्देश्य की पूर्ति लोक शिक्षण पर ही निर्भर है और यह कार्य शिक्षा प्रसार से ही होगा।

---

१३५. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारी नीति और क्रिया पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ६, पृष्ठ २३-२५

१३६. वही, पृष्ठ २६-२८

१३७. वही, पृष्ठ २९-३१

जन मानस को धर्म-दीक्षित करने की योजना- ज्ञान को उपनिषदों में अमृत कहा गया है। जीवन को ठीक प्रकार जीने और सही दृष्टिकोण अपनाये रहने के लिए प्रेरणा देते रहना और श्रद्धा स्थिर रखना यही ज्ञान का उद्देश्य है। शिक्षा का उद्देश्य भी ज्ञान प्राप्ति ही है। सद्ज्ञान को ही विद्या या दीक्षा कहते हैं। जीवन में ज्ञान को कैसे धारण किया जाय और उसे व्यापक कैसे बनाया जाय, इस सम्बन्ध में कुछ कार्यक्रम निम्नांकित हैं- ३१. आस्तिकता की आस्था, ३२. स्वाध्याय की साधना, ३३. संस्कारित जीवन, ३४. पर्व और त्यौहार का सन्देश, ३५. जन्मदिन समारोह, ३६. व्रतशीलता की धर्म धारणा ३७. मंदिरों को प्रेरणा केन्द्र बनाया जाय, ३८. गायत्री मंदिरों में युग निर्माण केन्द्र, ३९. साधु ब्राह्मण भी कर्त्तव्य पालें, ४०. धर्म सेवा का उत्तर दायित्व।[१३८] शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा की विद्या की, ज्ञान-चेतना की अभिवृद्धि भी आवश्यक है। समाज की मानसिक स्थिति को स्वच्छ बनाने के लिए ज्ञान का अधिकाधिक प्रसार होना चाहिए।

सभ्य समाज की स्वस्थ रचना- सामाजिक सुव्यवस्था के लिए वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन भी ऐसा बनाना चाहिए कि उसका प्रभाव सारे समाज पर पड़े। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था में जहाँ व्यतिक्रम उत्पन्न हो गया है उसे सुधारना चाहिए। स्वस्थ परम्पराओं को सुदृढ़ बनाने और अस्वस्थ प्रथाओं को हटाने का ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि सभ्य समाज की रचना का लक्ष्य पूर्ण हो सके। नीचे कुछ ऐसे ही कार्यक्रम दिये गये हैं- ४१. सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा, ४२. पारिवारिक विचार गोष्ठी, ४३. सत्प्रवृत्ति का अभ्यास, ४४. सन्तान और उसकी जिम्मेदारी, ४५. सत्कार्यों का अभिनन्दन, ४६. सज्जनता का सहयोग, ४७. नैतिक कर्त्तव्यों का पालन, ४८. सहयोग और सामूहिकता, ४९. कंजूसी और विलासिता छूटे, ५०. श्रम का सम्मान।[१३९] श्रम को प्रोत्साहन भी मिलना चाहिए और सम्मान भी। सामाजिक प्रगति का बहुत कुछ आधार श्रम के सम्मान पर निर्भर है।

इन कुरीतियों को हटाया जाय- पिछले हजारों वर्ष के अज्ञान भरे अन्धकार में हमारी कितनी ही उपयेगी प्रथाएँ, रुढ़िवादिता में ग्रस्त होकर अनुपयोगी बन गई हैं। इन विकृतियों का सुधार कर हमें अपनी प्राचीन वैदिक संस्कृति तक पहुँचने का प्रयत्न करना होगा, तभी भारतीय समाज का सुविकसित समाज जैसा

---

१३८. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारी नीति और क्रिया पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ६, पृष्ठ ३२-३४

१३९. वही, पृष्ठ ३५-३८

रूप बन सकेगा। इस सम्बन्ध में हमें निम्न प्रयत्न करने चाहिए- ५१. वर्ण व्यवस्था का शुद्ध स्वरूप, ५२. उपजातियों का भेदभाव हटे, ५३. नर-नारी का भेद-भाव, ५४. अश्लीलता का प्रतिकार, ५५. विवाहों में अपव्यय, ५६. बाल-विवाह अनमेल विवाह, ५७. भिक्षा व्यवसाय की भर्त्सना, ५८. मृत्यु भोज की व्यर्थता, ५९. जेवरों में धन की बर्बादी, ६०. भूत-पलीत और बलि प्रथा।[१४०] इसके अलावा भी अनेकों कुरीतियाँ विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में पाई जाती है। हानिकारक और अनैतिक बुराइयों का उन्मूलन करना ही श्रेयस्कर है।

सत्साहित्य सृजन-युग की एक महान् आवश्यकता- व्यक्ति और समाज के निर्माण में सत्साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। विचारों का निर्माण सत्संग और स्वाध्याय से ही होता है। साहित्य की शक्ति स्थायी होती है। सत्साहित्य ही राष्ट्र की बढ़ती हुई ज्ञान क्षुधा को तृप्त कर सकता है। विचार क्रांति के लिए यह सत्साहित्य ही प्रथम शस्त्र हो सकता है। ये कार्यक्रम इस तरह हैं ६१. लेखकों और पत्रकारों से अनुरोध, ६२. युग साहित्य के नव निर्माता, ६३. संशोधित रचनाएँ और उनका प्रकाशन, ६४. प्रत्येक भाषा में प्रकाशन, ६५. अनुवाद कार्य का विस्तार, ६६. पत्र-पत्रिकाओं की आवश्यकता, ६७. प्रकाशन की सुगठित शृंखला, ६८. समाचार पत्रों द्वारा जन-नेतृत्व, ६९. युग निर्माण प्रेस, ७०. कविताओं का निर्माण और प्रसार।[१४१] उपर्युक्त दस योजनाओं में अगर प्रतिभा सम्पन्न लोगों का योगदान मिला तो वैदिक युग की कल्पना साकार हो उठेगी।

कला और उसका सदुपयोग- मानव अन्तःकरण का पुलकित और भावविभोर करने की क्षमता कला में रहती है। कला का वासना को भड़काने में इन दिनों बड़ा हाथ रहा है। अब इस महान् शक्ति को हमें जीवन निर्माण एवं समाज रचना की महान् प्रक्रिया में लगाना होगा। कला का दुरुपयोग रोका जाना चाहिए और इस सृजनात्मक शक्ति को जनमानस की श्रेष्ठता की ओर प्रेरित करने के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। इस संदर्भ में नीचे दस सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं- ७१. वक्तृत्व कला का विकास, ७२. गायकों का संगठन, ७३. संगीत शिक्षा का प्रबंध, ७४. चित्र कला का उपयोग, ७५. चित्र प्रकाशन की महत्ता, ७६. प्रदर्शनियों का आयोजन, ७७. अभिनय और लीलाएँ, ७८. नाटक और एकांकी,

---

१४०. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारी नीति और क्रिया पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ६, पृष्ठ ३९-४१

१४१. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारी नीति और क्रिया पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ६, पृष्ठ ४२-४५

७९. कला के वैज्ञानिक माध्यम, ८०. कम्पनियों द्वारा रिकार्ड और फिल्मों का निर्माण।[१४२] कला एक महान् शक्ति है। इसके प्रत्येक पहलू का उपयोग मानवता को विकसित करने के लिए ही किया जाय ऐसा लोकमत जाग्रत् करना आवश्यक है।

सद्भावनाएं बढ़ाने के लिए यह करें- दया, करुणा, सेवा, उदारता, सहयोग, परमार्थ, न्याय, संयम और विवेक की भावनाओं का जन मानस में जगाया जाना संसार की सबसे बड़ी सेवा हो सकती है। निष्ठुरता, संकीर्णता और स्वार्थपरता ने ही इस विश्व को नरक बनाया है। यदि वहाँ वैदिक युगीन स्वर्गीय वातावरण की स्थापना करनी हो तो उसका एक ही उपाय है कि मानवीय अन्तस्तल को निम्न स्तर का न रहने दिया जाय। सद्भावनाओं को जगाने वाले और इस दिशा में कुछ ठोस प्रमाण देने वाले कार्यक्रम नीचे दिये गये हैं ८१. सेवा कार्यों में अभिरुचि, ८२. सार्वजनिक उपयोग के उपकरण, ८३. जीवदया के सत्कर्म, ८४. ईमानदार उपयोगी स्टोर, ८५. सम्मेलन और गोष्ठियाँ, ८६. नवरात्रि में शिक्षण शिविर, ८७. धर्म-प्रचार की पदयात्रा, ८८. आदर्श वाक्यों का लेखन, ८९. संजीवनी विद्या का विधिवत् प्रशिक्षण, ९०. छोटे स्थानीय शिक्षण-सत्र।[१४३] सद्भावनाओं को बढ़ाने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न होने चाहिए।

राजनीति और सच्चरित्रता- आज की परिस्थिति में शासन सत्ता की शक्ति बहुत अधिक है। इसलिए उत्तरदायित्व भी उसी पर अधिक है। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान और पतन में भी शासन तंत्र अपनी नीतियों के कारण बहुत कुछ सहायक अथवा बाधक हो सकता है। निम्न बिन्दुओं से राजनैतिक क्षेत्र से चरित्र निर्माण की दिशा में बहुत काम हो सकता है- ९१. मतदान और मतदाता, ९२. सीमित प्रजातंत्र, ९३. शासकों पर चारित्रिक नियंत्रण, ९४. शिक्षा पद्धति का स्तर, ९५. कुरीतियों का उन्मूलन, ९६. सस्ता, शीघ्र और सरल न्याय, ९७. अपराधों के प्रति कड़ाई, ९८. गुण्डा तत्त्वों का उन्मूलन, ९९. अधिकारियों की प्रामाणिकता, १००. आर्थिक विषमता घटे।[१४४]

---

१४२. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारी नीति और क्रिया पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ६, पृष्ठ ४६-४८

१४३. वही, पृष्ठ ४९-५१

१४४. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारी नीति और क्रिया पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ६, पृष्ठ ५२-५४

युग निर्माण की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि- युग निर्माण की पृष्ठभूमि राजनैतिक एवं सामाजिक नहीं वरन् आध्यात्मिक है। राजनैतिक एवं सामाजिक स्तर पर किये गये सुधार प्रयत्नों में वह श्रद्धा, भावना, तत्परता एवं गहराई नहीं हो सकती, जो आध्यात्मिक स्तर पर किये गये प्रयत्नों में सम्भव है। आचार्यश्री कहते हैं 'हमारे सुधार आन्दोलन आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक साधन मात्र हैं, इसलिए साधन के साथ साध्य को भी ध्यान में रखना ही होगा। हमारे आठ आध्यात्मिक कार्यक्रम नीचे प्रस्तुत हैं १०१. गायत्री उपासना, १०२. यज्ञ की आवश्यकता, १०३. हमारे दो पुण्य पर्व- गायत्री जयंती और गुरु पूर्णिमा, १०४. चान्द्रायण व्रत तपश्चर्या, १०५. पंचकोशी विशिष्ट साधना, १०६. आत्म चिन्तन और सत्संकल्प, १०७. अविच्छिन्न दान परम्परा, १०८. सत्याग्रही स्वयंसेवक सेना।'[१४५]

युग निर्माण का आधार तत्त्व

समाज रूपी जंजीर की मनुष्य एक कड़ी मात्र है। यदि किसी समाज में दोष-दुर्गुण उत्पन्न होते हैं तो शान्ति प्रेमी लोग उसके कुप्रभाव से बच नहीं सकते और सद्प्रवृत्तियों से सारा समाज भरा रहता है तो एक व्यक्ति दुर्गुणी हो तो भी उसे समाज के दबाव से सुधरने को विवश होना पड़ता है। वैदिक संस्कृति के पुनरोदय और युग-निर्माण के जिस महान् लक्ष्य को लेकर हम अग्रसर होते हैं, वह केवल कुछ व्यक्तियों के सुधर जाने से सम्भव न होगा, वरन् जन समूह में व्याप्त प्रवृत्तियों का ध्यान रखना होगा और दोष दुर्गुणों को, द्वेष-दुर्भावों को हटाकर उनके स्थान पर सद्विचारों और सत्कर्मों की स्थापना करनी पड़ेगी। इसके लिए आचार्य श्री निम्न तत्त्वों को अधारभूत मानते हैं-

विचारों से कार्य प्रेरणा- आचार्यश्री के अनुसार 'कार्यों के मूल में विचार हैं।'[१४६] वे आगे कहते हैं 'मस्तिष्क में जिस प्रकार के विचार घूमते हैं उसी प्रकार के कार्य होने लगते हैं। जिस वर्ग के लोग स्वार्थपरता, तृष्णा, वासना और अहंता के विचारों में डूबे रहते हैं वहाँ विभिन्न प्रकार के क्लेश, कलह, दुष्कर्म एवं अपराध निरन्तर बढ़ते रहते हैं, पर जहाँ परमार्थ, संयम, सन्तोष और नम्रता को, आदर्शवाद को प्रधानता दी जाती है वहाँ सर्वत्र सत्कर्म ही सत्कर्म होते दिखाई पड़ते हैं और उसके फलस्वरूप सतयुगी सुख-शान्ति का वातावरण बन जाता है। जिस प्रकार

---

१४५. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारी नीति और क्रिया पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ६, पृष्ठ ५५-५६

१४६. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- युग निर्माण का आधार तत्त्व, भाग ६६, पृष्ठ २.६६

स्वस्थ शरीर से स्वच्छ मन का सम्बन्ध है उसी प्रकार स्वच्छ मन के ऊपर सभ्य समाज की सम्भावना निर्भर है। मानव जाति एकता, प्रेम, प्रगति, शान्ति एवं समृद्धि की ओर अग्रसर हो, इसका एकमात्र उपाय यही है कि लोगों के मन आदर्शवाद, धर्म, कर्त्तव्यपरायणता, परोपकार एवं आस्तिकता की भावनाओं से ओत-प्रोत हों।'

आदर्शवाद की भावना- आचार्यश्री के अनुसार 'आदर्श समाज की रचना के लिए आदर्शवाद के सिद्धान्तों को जन-मानस में गहराई तक प्रवेश कराया जाना आवश्यक है। कोई नियम, निर्देश, प्रतिबंध या कानून मनुष्य को सदाचारी बनने के लिए विवश नहीं कर सकते। वह अपनी चतुरता से हर प्रतिबंध का उल्लंघन करने की तरकीब निकाल सकता है पर यदि आत्मिक अंकुश लगा रहेगा तो बाह्य जीवन में अनेक कठिनाइयाँ होते हुए भी वह सत्य और धर्म पर स्थिर रह सकता है। उसे कोई प्रलोभन, भय या आपत्ति सत्पथ से डिगा नहीं सकती। यह आध्यात्मिक अंकुश ही हमारे उन सारे सपनों का आधार है जिनके अनुसार समाज को सभ्य, सुसंस्कृत बनाने और युग परिवर्तन होने की आशा की जा सकती है।'[१४७]

श्रेय पथ के पथिक- किसी समय भारत संस्कृति की दृष्टि से बहुत ऊँचा था। उस स्थान का एक ही कारण था कि हमारा सारा समाज आदर्शवाद पर परिपूर्ण निष्ठा धारण किए रहता था। इस परिप्रेक्ष्य में आचार्यश्री का कहना है कि श्रेय मार्ग पर, धर्म पथ पर, चलने की जब भी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है तभी सतयुग के स्वर्गीय दृश्य उपस्थित हो गये हैं और जहाँ भी स्वार्थपरता और दुष्टता है वहाँ क्लेश-कलह का, दुख-दरिद्र का नारकीय वातावरण उत्पन्न हो गया है।[१४८] वैदिक ऋषि इस तथ्य को जानते थे इसलिए वे सुख साधनों को ढूँढने के साथ-साथ इस बात के लिए भी सचेष्ट रहते थे कि हर व्यक्ति आदर्शवादी बने। आदर्शवादी स्वयं ही आत्मशान्ति प्राप्त नहीं करता, वरन् सारे समाज के लिए आनन्द और उल्लास की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है।

गुरुजनों का प्रत्युपकार- युग निर्माण के लिए आचार्यश्री ने गुरु भक्ति के आदर्श को आवश्यक माना है। उनके अनुसार 'भारतीय संस्कृति में इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। यहाँ पर गुरु भक्ति का आदर्श उपस्थित करते हुए विश्वामित्र की प्रसन्नता के लिए राजा हरिश्चन्द्र अपना राज-पाट ही उन्हें नहीं देते, वरन् अपना शरीर और स्त्री-बच्चे बेचकर उनकी दक्षिणा भी चुकाते

---

१४७. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- युग निर्माण का आधार तत्त्व, भाग ६६, पृष्ठ २.६६

१४८. वही,

हैं। दिलीप गुरु की गौ पर सिंह द्वारा आक्रमण होने पर अपना शरीर देकर भी गुरु धन की रक्षा करते हैं। मिट्टी की प्रतिमा बनाकर द्रोणाचार्य को गुरु बनाने वाले एकलव्य के सामने जब साक्षात् द्रोणाचार्य उपस्थित होते हैं और वे गुरु दक्षिणा में दाहिने हाथ का अंगूठा मांगते हैं तो एकलव्य खुशी-खुशी अंगुठा काट कर उनके सामने रख देते हैं। समर्थ गुरु रामदास को सिंहनी के दूध की आवश्यकता पड़ने पर उनके शिष्य शिवाजी अपने जीवन को खतरे में डालकर चल देते हैं और गुरु की अभीष्ट वस्तु लाकर उनके लिए प्रस्तुत करते हैं। गुरु के खेत में पानी रोकने में असमर्थ हो जाने पर बालक आरुणि का स्वयं ही लेटकर पानी रोकना यह बताता है कि गुरु ऋण से उऋण होने के लिए शिष्यों में कितनी निष्ठा रहती थी और वे कृतज्ञता की भावनाओं से प्रेरित होकर प्रत्युपकार के लिए क्या-क्या करने को तैयार नहीं होते रहते थे।'[१४९]

इस प्रकार हमारे अतीत वैदिक काल सांस्कृतिक गरिमा आदर्शवाद के सुदृढ़ आधार पर ही स्थिर रही है। अतः जबकि हम अपनी उस पुरानी महानता और उज्ज्वल परम्परा को पुनः लौटाने चले हैं तो इस आदर्शवाद का ही अवलम्बन लेना होगा। धैर्य और कर्त्तव्य को दृढ़तापूर्वक जीवन में धारण करना पड़ेगा। यही वे तत्त्व हैं जो युग निर्माण आन्दोलन के माध्यम से आचार्य श्रीराम शर्मा वैदिक युग को लाने का उद्घोष करते हैं। इस आन्दोलन के तीन चरण हैं।

युग निर्माण आन्दोलन के चरण

व्यक्तित्व एवं विचार-स्तर को सत्प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत करने की इस प्रक्रिया के तीन चरण हैं। युग निर्माण के सोपान हैं- १. आत्म निर्माण, २. परिवार निर्माण, ३. समाज निर्माण।[१५०] इनमें क्रमशः एक के बाद दूसरी पर चढ़ने के लिए अधिक योग्यता और समर्थता चाहिए। सबसे सरल और सबसे आवश्यक आत्म-निर्माण है। इस विषय में आचार्यश्री कहते हैं 'विचार क्रांति इस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह विचार क्रांति इतनी सजीव होनी चाहिए कि उसकी कमर में नैतिक क्रांति और सामाजिक क्रांति भी बँधी और खिंची

---

१४९. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय- युग निर्माण का आधार तत्त्व, भाग ६६, पृष्ठ २.६७

१५०. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक १०, पृष्ठ ५८

चली आये। इस समग्र विचार क्रांति का शुभारम्भ अपने आप से ही हो सकता है।'[१५१]

युग निर्माण का शुभारम्भ आत्मनिर्माण से- आचार्यश्री के अनुसार आत्म निरीक्षण करके गुण, कर्म, स्वभाव में भरे हुए दोष-दुर्गुणों को ढूंढा जा सकता है और उन्हें निरस्त करने का प्रयास आरम्भ किया जा सकता है। वे कहते हैं 'मल-मूत्र, अस्थि-मज्जा जैसी घृणित वस्तुओं के ऊपर जो चिकनी चमड़ी चिपकी हुई है उनमें सौन्दर्य निहारना और मुग्ध होना कितना उपहासास्पद है, किसी रूपवान की काया की यदि चमड़ी उखाड़कर चिन्तन के सम्मुख रखा जाय तो प्रतीत होगा कि सुन्दर दीखने वाली काया वस्तुतः घोर घृणास्पद वस्तुओं से ही भरी पड़ी है। इसका सौन्दर्य सर्वथा दिखावटी और बनावटी है। अतः ऐसी काया की कामुकता बहुमूल्य वस्त्रों में आग लगाकर थोड़ी देर तापना जैसी है। जिसे कतई बुद्धिमत्ता नहीं कहा जा सकता है। कामुकता की दुष्प्रवृत्ति के विरुद्ध कई विचार सोचे जा सकते हैं। क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, आलस्य, प्रमाद, अपव्यय आदि के विरुद्ध भी प्रतिपक्षी विचारधारा की ईंटे जमाते हुए ऐसी दीवार खड़ी की जा सकती है जिससे सिर पटक कर मनःक्षेत्र पर आधिपत्य जमाने वाले आसुरी विचारों को निराशा और असफलता के साथ वापस लौटना पड़े।'[१५२]

सत्प्रवृत्ति का अभिवर्धन आत्मनिर्माण का आत्म विकास का दूसरा चरण है। सद्‌गुणों के अभाव में हम निस्तेज जीवन जीते हैं। आचार्यश्री सद्‌गुणों को परिभाषित करके कहते हैं 'सद्‌गुणों का अर्थ सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, ईश्वरभक्ति जैसे उच्च आदर्शों तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए। उनकी परिधि अन्तरंग और बहिरंग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तक फैली हुई है। समग्र व्यक्तित्व को परिष्कृत, सज्जनोचित एवं प्रामाणिक बनाने वाले सभी आदतों एवं रुझानों को सद्‌गुण की सीमा में सम्मिलित किया जायेगा।'[१५३] धर्म और अध्यात्म के विशाल काय-कलेवर का एक ही उद्देश्य है- व्यक्तित्व को उत्कृष्टता के, सज्जनोचित शालिनता के, प्रतिभा और कर्म कौशल के उच्च शिखर तक पहुँचना। इस प्रयोजन के लिए जिस उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्त्तृत्व की आवश्यकता

---

१५१. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक १०, पृष्ठ ५८

१५२. वही, पृष्ठ ५९

१५३. वही, पृष्ठ ६०

है उसे जुटाने के लिए अथक प्रयत्न करना इसी का नाम तप साधना है। स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन का इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं। ईश्वर प्राप्ति, आत्म साक्षात्कार, स्वर्ग उपलब्धि और जीवन मुक्ति का तात्विक स्वरूप यही है कि व्यक्ति अपनी समस्त क्षुद्रताओं और निकृष्टाओं को निरस्त करके सुद्देश्य पूर्ण सत्प्रयोजनों में निरत रहने का अभ्यस्त बन जाय। परिष्कृत आत्मा का नाम ही परमात्मा है। अपने कषाय कल्मषों का निराकरण करना ही तप साधना है।

नव निर्माण आन्दोलन का प्रथम चरण आत्म निर्माण है। आत्म निर्माण के मूलभूत चार दार्शनिक सिद्धान्त हैं। 'आत्म दर्शन का प्रथम तथ्य है आत्मा को परमात्मा का परम पवित्र अंश मानना और शरीर एवं मन को उससे सर्वथा भिन्न वाहन अथवा औजार भर समझना। दूसरा आध्यात्मिक तथ्य है- मानव जीवन को ईश्वर का सर्वोपरि उपहार मानना। इसे लोकमंगल के लिए दी हुई परम पवित्र अमानत स्वीकार करना। तीसरा महासत्य है- अपूर्णता से पूर्णता तक पहुँचाने का जीवन लक्ष्य प्राप्त करना। दोष दुर्गुणों का निराकरण करते चलने और गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता बढ़ाते चलने से ही ईश्वर और जीव के बीच की खाई पट सकती है। चौथा महासत्य है- इस विश्व ब्रह्माण्ड को ईश्वर की साकार प्रतिमा मानना। श्रम सीकरों और श्रद्धा सद्भावना के अमृत जल से उसका अभिषेक करने की तप साधना करना। दूसरों के दुःख बँटाने और अपने सुख बाँटने की सहृदयता विकसित करना। आत्मीयता का अधिकाधिक विस्तार करना। अपनेपन को शरीर परिवार तक सीमित न रहने देकर उसे विश्व सम्पदा मानना और अपने कर्त्तव्यों को छोटे दायरे में थोड़े लोगों तक सीमित न रखकर अधिकाधिक व्यापक बनाना।'[१५४] आत्मनिर्माण का यह चरण विकसित होकर परिवार निर्माण की ओर अग्रसर होता है।

युग निर्माण का दूसरा चरण परिवार निर्माण- आचार्य श्रीराम शर्मा परिवार को एक छोटा राष्ट्र मानते हैं उनकी नजर में यह समाज का छोटा संस्करण है। इसलिए वे कहते हैं 'युग निर्माण की क्षमता विकसित करने के लिए हमें परिवार निर्माण की पाठशाला में प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। भोजन वस्त्र की शौक मौज की शिक्षा सुविधा की व्यवस्था बनाये रहने से ही परिवार की आवश्यकता पूर्ण नहीं हो जाती वरन् उस छोटे क्षेत्र में ऐसा वातावरण बनाना पड़ता

---

१५४. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक १०, पृष्ठ ६३-६४

है जिसमें पलने वाले प्राणि हर दृष्टि से समुन्नत सुसंस्कृत बन सकें। व्यक्तित्व को समग्र रूप से विकसित कर सकने वाले सुसंस्कार केवल उपर्युक्त वातावरण में सही सम्भव हो सकते हैं।'[१५५] ऐसा वातावरण सुसंस्कृत परिवार में ही बनाया जा सकता है।

आचार्यश्री के अनुसार 'परिवार निर्माण वस्तुत: एक दर्शन है, क्रिया कलाप तक उसे सीमित नहीं रखा जा सकता। जिस प्रकार की व्यवस्था अभीष्ट हो उसके लिए परिवार के लोगों की मन:स्थिति का निर्माण किया जाना चाहिए। यह प्रयोजन तभी सफल हो सकता है, जब अपना मनोयोग, समय और श्रम उसके लिए नियमित रूप से लगाया जाय। यह अभिरुचि, तत्परता एवं संलग्नता तब उत्पन्न हो सकती हैं, जब परिवार निर्माण की आवश्यकता को गम्भीरतापूर्वक समझा जाय और सोचा जाय कि इस महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करना कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है।'[१५६]

आचार्यश्री परिवार निर्माण के दो पक्षों को रेखांकित करते हैं, एक व्यावहारिक क्रिया परक और दूसरा दार्शनिक दृष्टिकोण परक। हमें दोनों ही तथ्यों का अपनी क्रिया-प्रक्रिया में समुचित समावेश करके चलना होगा। व्यावहारिक कार्यक्रम में घर की सुव्यवस्था, सुन्दरता एवं सुसज्जा पर ध्यान दिया जाना चाहिए, वरन् क्रमशः सभी लोगों को साथ लगाना चाहिए। स्वयं साथ लगने से दूसरों में उत्साह पैदा होता है, अन्यथा सृजनात्मक कार्यों में रुखापन समझा जाता है और उसे भार, बेकार समझकर कन्नी काटने की मनोवृत्ति रहती है। आदेश-निर्देश देते रहने से बात बनती नहीं। प्रयोजन तब पूरा होता है, जब स्वयं आगे चला जाय और कन्धे से कन्धा लगाकर काम करने के लिए दूसरों को आमंत्रण दिया जाय।[१५७] परिवार निर्माण के लिए बनाये गये व्यवस्था क्रम में हमें स्वयं ही इंजन की भूमिका सम्पादित करनी चाहिए। अपने समग्र व्यक्तित्व का विकास करने के लिए गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने के लिए परिवार निर्माण के कार्यक्रम को एक उपयोगी प्रयोग प्रकरण मानना चाहिए। यह छोटे रूप में देश-सेवा, समाज-सेवा, विश्व-सेवा ही है।[१५८] इस प्रकार युग निर्माण का दूसरा चरण परिवार निर्माण अभीष्ट लक्ष्य की

---

१५५. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक ११, पृष्ठ ५७

१५६. वही, पृष्ठ ५९

१५७. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक ११, पृष्ठ ६०

१५८. वही, पृष्ठ ६४

पूर्ति में एक अति महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध होता है। इसका अगला चरण समाज निर्माण के रूप में देखा जा सकता है।

समाज-निर्माण अपने कर्त्तव्य का तीसरा चरण- युग निर्माण योजना का तीसरा चरण समाज निर्माण का है। आत्म निर्माण और परिवार निर्माण के समान ही उसकी भी महत्ता उपयोगिता है। आचार्यश्री व्यक्ति को सुखी रखने के लिए समुन्नत समाज की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनके अनुसार 'समुन्नत समाज तभी बनता है, जब उत्कृष्ट नेतृत्व में अग्रगामी सज्जनों का समूह विनिर्मित एवं क्रियाशील हों।'[१५९] वे आगे उल्लेख करते हैं 'जब श्रेष्ठ व्यक्ति घट जाते हैं और सामाजिक वातावरण में उत्कृष्टता बनाये रखने के रचनात्मक प्रयास शिथिल हो जाते हैं तो समाज का स्तर गिर जाता है। समाज गिरेगा तो उस काल के व्यक्ति भी निकृष्ट, अध:पतित और दीन-दुर्बुल बनते चले जायेंगे। अच्छा समाज अच्छा व्यक्ति उत्पन्न करता है। और अच्छे व्यक्ति अच्छा समाज बनाते हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं।'[१६०]

आचार्यश्री वर्तमान समाज की दुष्प्रवृत्ति, दुर्बुद्धि एवं दुर्दशा की ओर संकेत करते हुए कहते हैं 'अपने समाज में आज अगणित दुष्प्रवृत्ति संव्याप्त है। असंख्य उलझी हुई समस्याएँ सामने हैं। कष्ट, कलह और शोक-सन्ताप के असीम कारण मौजूद हैं। इन विकृतियों के दुष्परिणाम पग-पग पर भुगतने पड़ रहे हैं। मनुष्य पतित औ दुष्ट बनता जा रहा है। अपने और दूसरों के लिए विपत्तियाँ और विभीषिकाएँ उत्पन्न कर रहा है। इन समस्त विश्रृंखलता की जड़ में व्यापक दुर्बुद्धि ही उफनती दिखाई देती है। चिन्तन का स्तर निकृष्टता के दल-दल में फँस जाने से उत्पन्न विग्रह की चीख-पुकार का ही आज दशों-दिशाओं में कुहराम गूँज रहा है। संसार में न तो वस्तुओं का अभाव है और न उपर्युक्त परिस्थितियों में कोई कमी है। विपत्ति केवल दुर्बुद्धि की उत्पन्न हुई है। सद्‌भावनाओं का स्थान दुर्भावों ने, सत्प्रवृत्तियों का स्थान दुष्प्रवृत्तियों ने पकड़ लिया है। फलस्वरूप जो वस्तुएँ सुख-शान्ति एवं प्रगति के अभिवर्धन में लग सकती थी, वे ही विपत्तियाँ एवं उलझनें बढ़ाने में प्रयुक्त हो रही हैं। प्रगति के स्थान पर अधोगति पल्ले बंध रही है। इसका निराकरण फुँसियों पर मरहम लगाने में नहीं, रक्त शुद्धि का उपचार करने से होगा।'[१६१]

---

१५९. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक १२, पृष्ठ ५९

१६०. वही,

१६१. वही, पृष्ठ ६१

आचार्यश्री के अनुसार इसका निदान एवं समाधान समाज में संगठनात्मक, प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रमों के अन्तर्गत सुव्यवस्थित क्रिया-प्रक्रिया प्रस्तुत करना है। वे कहते हैं उसमें उन सभी तत्त्वों का समावेश होना चाहिए, जो आज की स्थिति में समाजोत्थान के सुनिश्चित आधार बन सकते हैं। विचार-विस्तार जैसा व्यापक और महान् प्रयोजन संगठित संस्थान ही कर सकते हैं। संगठन का प्रथम और प्रमुख कार्य विचार-क्रांति की भूमिका प्रस्तुत करता है। संघर्षात्मक आन्दोलनों में कुरीतियों और अनैतिकताओं के दुहरे मोर्चे पर लड़ा जाना आवश्यक है। अनाचार प्रायः हर क्षेत्र में अपनी जड़ें गहरी करता जा रहा है। इसके खतरों में जन साधारण को सचेत किया जाना चाहिए। लोकमानस में अवांछनीयता के प्रति विरोध, असहयोग एवं विद्रोह की भावनायें जगाई जानी चाहिए। समाज निर्माण के लिए सृजन सेना का सैनिक बनकर संगठनात्मक, प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक मोर्चे संभालना चाहिए।[१६२]

आत्म निर्माण, परिवार निर्माण और समाज निर्माण की इन त्रिविध क्रिया-प्रक्रिया द्वारा आचार्यश्री वैदिक युग के पुनरुत्थान की परिकल्पना करते हैं। इसको और गति प्रदान करने के लिए उन्होंने वैदिक विचारों का नव्योत्थान किया।

❑ विचार क्रांति अभियान के अन्तर्गत वैदिक विचारों का नव्योत्थान

आचार्य श्रीराम शर्मा ने वैदिक युग के आगमन के लिए विचार क्रांति अभियान छेड़ा। उन्होंने इसे परिभाषित करके कहा 'इसके लिए क्रांति के उस नए आयाम को ढूँढना पड़ेगा जो विगत की भुलों से मुक्त हो, जिसमें व्यक्ति के मनोसामाजिक नवसृजन की अपूर्व क्षमता हो। क्रांति का वही आयाम विचार क्रांति है।[१६३] विचार क्रांति के इस आयाम को भी वैदिक विचारों के वर्तमान परिवेश के अनुरूप प्रस्तुतीकरण करके प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए उन्होंने आर्ष साहित्य का भाष्य एवं उसकी आवश्यकता व महत्ता पर प्रकाश डाला।

आर्ष साहित्य की व्याख्या- ज्येष्ठ सुदी १० संवत् २०१८ (गायत्री जयंती १९६१) को चारों वेदों के साथ उपनिषदों के तीन खण्ड गायत्री तपोभूमि मथुरा

---

१६२. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक १२, पृष्ठ ६२-६४

१६३. आचार्य श्रीराम शर्मा- क्रान्ति का नया आयाम- विचार क्रांति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक १०, पृष्ठ ४३

से आचार्यश्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुए। उपनिषदों के ज्ञानखण्ड, साधनाखण्ड एवं ब्रह्मविद्या खण्डों में कुल १०८ उपनिषद् थे। जिसकी हिन्दी में सरल टीका जनसमुदाय के समक्ष प्रस्तुत की गयी थी। इसकी भूमिका में आचार्यश्री लिखते हैं कि 'उपनिषदों को जीवन का सर्वांगपूर्ण दर्शन ही कहना चाहिए। उनमें जीवन को शान्ति और आनन्द के साथ जीने तथा प्रगति पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते जाने की विद्या का भली भाँति विवेचन हुआ है। लौकिक और पारलौकिक, बाह्य और आन्तरिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन जीने के दोनों ही पक्ष जिसके आधार पर समुन्नत हों, वह महत्त्वपूर्ण ज्ञान उनमें भरा हुआ है। इनकी एक-एक पंक्ति में अमृत भरा प्रतीत होता है। इस शाश्वत ज्ञान के समुद्र में जितना गहरा उतरा जाय, उतना ही अधिकाधिक आनन्द उपलब्ध होता चलता है।'

इसकी भूमिका व समग्र आर्ष साहित्य को जब तत्कालीन राष्ट्रपति सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन को भेंट किया गया तो उनने कहा कि 'यदि यह ज्ञान नवनीत मुझे कुछ वर्ष पूर्व मिल गया होता तो सम्भवतः मैं राजनीति में प्रवेश न कर आचार्य श्री के चरणों में बैठा अध्यात्म दर्शन का शिक्षण ले रहा होता।'[१६४] आचार्य विनोबा भी इस भाष्य से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। आर्ष वाङ्मय का पुनरुद्धार वस्तुतः आचार्यश्री की पूरे समाज को एक महत्त्वपूर्ण देन है। अधिकांश आर्ष ग्रंथ विलोप का ग्रास होते-होते बचे। क्योंकि कुछ समर्पित वैदिक संस्कृति के अनुरागियों ने इसे प्राणों से भी ज्यादा प्रिय मानकर बचाने की चेष्टा की। फिर भी यह कुछ स्थानों तक ही सीमित रहा। जन-जन तक न पहुँच पाया। एक तो वैदिक वाङ्मय बिल्कुल विलुप्त एवं जो भी सामने आया उसके प्रस्तुतिकरण को लेकर भी विवाद। महायोगी अरविन्द, स्वामी दयानन्द, कुमार स्वामी और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने भी आर्ष वाङ्मय के भाष्य किये लेकिन इनमें से किसी का भी भाष्य समग्र नहीं है। जिन-जिन को अपनी इस पुरातन धरोहर से अवगत होने, ज्ञान गंगा का अवगाहन करने की आकांक्षा उठती थी, उन्हें मन मारकर रह जाना पड़ता था।

आचार्यश्री ने स्वतंत्रता आन्दोलन के बाद से ही वैदिक साहित्य, आर्ष वाङ्मय को अपने मूलरूप में सरल हिन्दी टीका सहित प्रस्तुत करने की भूमिका मन में बना ली थी। अध्ययन और सामग्री संकलन का कार्य इसी करण उनने १९३६-३७ से ही आरम्भ कर दिया था, जब वे आगरा में थे। चारों वेदों के

---

१६४. आचार्य श्रीराम शर्मा- आर्ष साहित्य का पुनरुद्धार, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ८-९, पृष्ठ १५३

संहितापाठ समग्र रूप में कहीं भी एक स्थान पर उपलब्ध नहीं थे। सार्वदेशिक आर्यसभा, वैदिक पुस्तकालय, काशी विद्वतपरिषद और वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर जैसे कतिपय प्रकाशकों ने उन्हें अंश-अंश में प्रकाशित किया था। सम्पूर्ण पाठ प्राप्त करने के लिए आचार्यश्री ने काशी, नदिया, पूना, नासिक की यात्रा की व अलग-अलग मण्डल, अध्याय, सूक्त, मंत्र जैसा भी जहाँ से मिला, लिया एवं क्रमबद्ध किया। यही कठिनाई उपनिषदों के संकलन में आई। मोटे तौर पर आठ, नौ उपनिषद् ही प्रसिद्ध हैं, वही आसानी से मिलते हैं, लेकिन पूज्य गुरुदेव को एक सौ आठ उपनिषदों के मूल पाठ जुटाने थे। प्रयत्नपूर्वक यह भी संकलित कर क्रमबद्ध किये गए। इसके अलावा दर्शन, पुराण, स्मृति, गीता, आरण्यक, ब्राह्मण, निरुक्त, व्याकरण आदि भी भागीरथ पुरुषार्थ द्वारा ही उन्होंने प्राप्त किये। पुराणों का कार्य सबसे अधिक दुरुह था। आचार्यश्री ने काशी के विद्वानों से सम्पर्क कर अठारह पुराणों की नामावली तय की।

सम्पूर्ण वाङ्मय जुटा लेने के बाद प्रत्येक ग्रंथ पर भाष्य लिखने के लिए उन्हें एकान्त की आवश्यकता थी। इसके लिए वे एक वर्ष के लिए तप करने नन्दनवन, तपोवन दुर्गम हिमालय वाले क्षेत्र में चले गए। साथ में सारे आर्ष वाङ्मय का मूल संकलन भी ले गए ताकि तप से उद्भूत आत्मबल के प्रकाश में बाद में उत्तरकाशी में रहकर सारा भाष्य एवं टीका का कार्य सम्पन्न कर सकें।[१६५] यही सर्व शुद्ध भाष्य प्रथम संस्करण के रूप में गायत्री जयंती १९६१ को प्रकाशित हुआ। सर्वप्रथम वेद व उपनिषद छपे, बाद में पुराण आदि ग्रंथ। इन अंशों को पहचानना व पूर्वापर संगति बिठाकर उन्हें सम्पादित करना एक दुष्कर कार्य था। किन्तु परम पूज्य गुरुदेव की अठारह से बीस घण्टे नित्य काम करने की शैली ने इस कार्य को आसान कर दिया व समग्र आर्ष साहित्य पाँच वर्ष में छपकर जन सामान्य के सामने आ गया। आचार्यश्री की धर्मपत्नी माता भगवती देवी शर्मा ने उन्हीं वेदों को उन्हीं के इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं। इस प्रकार आचार्यश्री ने वैदिक संस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया।

आचार्यश्री द्वारा भाष्य ग्रंथ हैं:

१. वेद- ऋग्वेद (चार खण्ड), यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद (दो खण्ड)।

---

१६५. आचार्य श्रीराम शर्मा- आर्ष साहित्य का पुनरुद्धार, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ८-९, पृष्ठ १५५

२. उपनिषद १०८- तीन खण्डों में, साधना खण्ड, ज्ञान खण्ड और ब्रह्मविद्या खण्ड।

३. षट्दर्शन (छः जिल्दों में)- वेदान्त, सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा दर्शन।

४. २० स्मृतियाँ (२ खण्डों में)

५. पुराण (दो खण्डों में)- शिवपुराण, विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण, कूर्मपुराण, स्कन्दपुराण, वायुपुराण, अग्नि पुराण, गरुड़ पुराण, भविष्य पुराण, हरिवंश पुराण, पद्म पुराण, लिंग पुराण, मत्स्य पुराण, वामन पुराण, ब्रह्मवर्ण पुराण, कल्कि पुराण, सूर्य पुराण, ब्रह्म पुराण, नारद पुराण, वाराह पुराण।

आचार्य श्री ने आर्ष साहित्य की व्याख्या करने के पश्चात् वैदिक विचारों को परिभाषित करने वाले मौलिक साहित्य का सृजन किया। क्योंकि यही मौलिक साहित्य वैदिक विचारों का समयानुकूल एवं सामयिक रूप से वैदिक विचारों का नव्योत्थान कर सकते थे।

वैदिक विचारों को परिभाषित करने वाला मौलिक साहित्य

पढ़ें और पढ़ायें, लेकिन क्या? यह समस्या किसी एक की नहीं वरन् हर उस विचारशील की है, जो जीवन निर्माण की दिशा में कुछ सार्थक करना चाहता है। धर्म अध्यात्म के नाम पर आज तिलिस्मी कथा-कहानियों के घटाटोप सजे दिखते हैं। यहाँ सातवें आसमान पर उड़ने से नीचे जमीन पर चलने लायक कुछ नहीं दिखाई देता। साहित्य के नाम पर वासनाएँ भड़काने वाला, अपराधी प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाला अश्लील एवं जासुसी कूड़ा-कबाड़ा लाखों टन कागज रोज नष्ट कर, कतिपय लालची जेबकटों के कोठे सोने-चाँदी से भर रहा है। साथ ही हजारों लाखों लोग रोज अध:पतन की गहरी गर्त में समा जाने के लिए मजबूर हो रहे हैं।

कहाँ जाँए? क्या करें? निराशा की इस गहरी निशा में आचार्य श्रीराम शर्मा ने आशा की मशाल प्रज्वलित करने का दुर्लभ साहस किया। एक अर्ध शताब्दी से भी कुछ अधिक समय तक अनवरत लेखन साधना में निमग्न रहकर लाखों पृष्ठों में समाहित वैदिक चिन्तन रूपी संसार की रचना की। 'यह मौलिक चिन्तन किसी मनमौजी लेखक की कल्पना जनित उड़ान नहीं है।"[१६६] बल्कि इसमें

---

१६६. आचार्य श्रीराम शर्मा- साहित्य रूपी संजीवनी जन-जन तक पहुँचे, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५७, अंक २, पृष्ठ ४३

उन्होंने अपनी गोपनीय साधनाओं के रहस्यों एवं निष्कर्षों को प्रकट किया है। जिन्हें अपनाकर कोई भी व्यक्ति साधक, योगी, तत्त्ववेत्ता बन सकता है। यही क्यों? सामाजिक जीवन को परखने, दशा को संवारने, दिशा को सुधारने वाली पैनी दृष्टि जैसी यहाँ सुलभ है, अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं, उलझनों, परेशानियों के सरल और प्रभावकारी समाधान इनमें सहज ही तलाशे जा सकते हैं। उनकी द्वारा रची गई इन पुस्तकों में कितनी आभा है, कितनी रोशनी है, कितनी मौलिकता है, कितनी शक्ति है, यह कहने की नहीं अनुभव करने की बात है। उनके रचित मुख्य साहित्य हैं

महिला जागरण साहित्य- १. महिला जागरण उद्देश्य एवं कार्यक्रम, २. नारी जागरण अभियान, ३. नारी उत्थान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता, ४. नारी उत्थान की समस्या और समाधान, ५. शिक्षित नारी आगे आयें, अपने वर्ग को आगे बढ़ायें, ६. नारी की गरिमा गिराने में घाटा ही घाटा। ७. नारी शृंगारिकता नहीं पवित्रता है, ८. सेवाधर्म की सिद्ध साधिकायें, ९. नारी को रमणी न मानें, जननी का सम्मान दें, १०. महान् क्रांतिकारी महिलाएँ, ११. आधी जनसंख्या अपंग न रहे।

वैज्ञानिक अध्यात्म साहित्य- अध्यात्म को वैज्ञानिकता के तर्क, बुद्धि एवं प्रयोगधर्मिता के आधार पर कसकर आचार्यश्री ने वैज्ञानिक अध्यात्म साहित्य का सृजन किया। इसके धर्म और विज्ञान को एक दूसरे के विरोधी नहीं पूरक दिखाया गया है। ये हैं- १. विवाद से परे ईश्वर का अस्तित्व, २. ईश्वर कौन है? कहाँ है? कैसा है?, ३. चेतना की प्रचण्ड क्षमता का एक दर्शन, ४. मस्तिष्क प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष, ५. क्या धर्म अफीम की गोली है? ६. धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक, ७. स्वर्ग और नरक की स्वचालित प्रक्रिया, ८. तात्त्विक दृष्टि से बन्धन मुक्ति, ९. शब्द ब्रह्म, नाद ब्रह्म, १०. संसार चक्र की गति-प्रगति, ११. मनुष्य गिरा हुआ देवता या उठा हुआ पशु, १२. ब्रह्मवर्चस की ध्यान धारणा।

आत्मचिन्तन विषयक पुस्तकें- आचार्यश्री के अनुसार साहित्य ऐसा हो जो उसके विचार को अन्दर तक हिलाकर रख दे। मनन चिन्तन का अवसर प्रदान करे। उनका ऐसा ही साहित्य है जिसे व्यक्ति पढ़कर आत्मचिन्तन के लिए विवश हो जाता है और उससे प्रेरणा पाता है। ये हैं- १. आत्मा वा रे ज्ञातव्य, २. मैं क्या हूँ?, ३. ऋषि चिन्तन, ४. भक्तिपथ की जीवन ज्योति, ५. वेदों का दिव्य संदेश, ६. वेदों की स्वर्णिम सूक्तियाँ, ७. सुनसान के सहचर, ८. ब्रह्मविद्या का रहस्योद्घाटन, ९. आत्मिक प्रगति के मूल भूत आधार, १०. सरस, सफल जीवन

का केन्द्र बिन्दु-उत्कृष्ट चिन्तन, ११. अंत: शक्ति के उभार और चमत्कार, १२. आत्मशक्ति का उच्चस्तरीय नियोजन, १३. हमारी वसीयत और विरासत।

कथा साहित्य- कथाओं के माध्यम से जन जीवन की भावना को उभारकर उसे परिष्कृत किया जा सकता है। इसी कारण आचार्यश्री ने वर्तमान परिवेश में एवं समय के आधार पर प्रज्ञा पुराण की रचना की। इसे आधुनिक पुराण कहा जा सकता है, जिसमें वैदिक सूत्रों को कथाओं के माध्यम से पिरोया गया है। १. प्रज्ञापुराण भाग-१ (आस्था संकट समाधान), २. प्रज्ञापुराण भाग-२ (महामानव खण्ड), ३. प्रज्ञा पुराण भाग-३ (परिवार खण्ड), ४. प्रज्ञापुराण भाग-४ (देव संस्कृति खण्ड)।

नैतिक शिक्षा साहित्य- आचार्यश्री ने समाज के उत्थान के लिए शिक्षा पर विशेष जोर दिया है। उनके इन साहित्य में जीवन में शिक्षा की आवश्यकता, अनिवार्यता एवं महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। शिक्षा के साथ विद्या भी जरूरी है, यह उनका मुख्य विषय है। १. नैतिक शिक्षा-तीन भाग, २. सार्थक एवं समग्र शिक्षा का स्वरूप, ३. शिक्षण प्रक्रिया में सर्वांगपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता, ४. शिक्षा और विद्या का सार्थक समन्वित स्वरूप, ५. एक समानान्तर शिक्षा तंत्र, ६. शिक्षा ही नहीं विद्या भी।

व्यक्ति निर्माण साहित्य- आचार्यश्री के साहित्यों में व्यक्ति निर्माण के लिए अनेकों योजनाओं का वर्णन मिलता है। इसमें मानव जीवन का उद्देश्य और सदुपयोग की सार्थकता पर विशेष बल दिया गया है। १. व्यक्तित्व के परिष्कार में श्रद्धा ही समर्थ, २. परिष्कृत व्यक्तित्वः एक सिद्धि एवं उपलब्धि, ३. जिन्दगीः एक कला का क्षेत्र, ४. सफलता के सप्त सूत्र साधन, ५. जीवन देवता की आराधना करें, व्यक्तित्व सम्पन्न बनें, ६. तुम महान् हो, ७. गहना कर्मणोगति:, ८. जिन्दगी कैसे जियें, ९. हँसी-खुशी का जीवन, १०. जीवन साधना के स्वर्णिम सूत्र।

परिवार निर्माण साहित्य- इन साहित्यों में आचार्यश्री ने परिवार में संस्कार, सुव्यवस्था तथा उनकी समस्याओं पर गहरा समाधान प्रस्तुत किया है। उन्होंने गृहस्थ जीवन को तपोवन मानकर इन साहित्यों में गृहस्थ जीव की मर्यादाओं का उल्लेख किया है। १. युग सृजन का आरम्भ परिवार निर्माण से, २. परिवार और उसका निर्माण, ३. परिवारों में सुसंस्कारिता कैसे बनायें?, ४. नर रत्नों की खदान- सुसंस्कृत परिवार, ५. गृहस्थ जीवन एक तपोवन है, ६. गृहस्थ एक योग साधना, ७. सफल दाम्पत्य जीवन के मौलिक सिद्धान्त, ८. घर के वातावरण में स्वर्ग का अवतरण।

समाज निर्माण साहित्य- आचार्यश्री ने इस साहित्यों के अन्तर्गत समाज की समस्याओं का निराकरण, विकास, प्रगति तथा उसके अभिनव रचना का विस्तृत वर्णन किया है। १. समाज निर्माण के कुछ शाश्वत सिद्धान्त, २. समाज की अभिनव रचना, ३. समग्र प्रगति सहकारिता पर निर्भर, ४. सभ्यता, सज्जनता और सुसंस्कारिता का अभिवर्धन, ५. अंध परम्पराएँ छोड़ें भी, तोड़ें भी, ६. नया संसार बसायेंगे, नया इंसान बनायेंगे।

युग निर्माण साहित्य- आचार्यश्री ने युग निर्माण आन्दोलन को दिशा देने, इसके विचारों को जनमानस तक गहरे उतारने के लिए इसी तरह के साहित्य का सृजन भी किया है। १. हमारी युग निर्माण योजना, २. युग निर्माण की सुनिश्चित संभावना, ३. युग परिवर्तन क्यों? किसलिए? ४. युग सृजन के आरम्भिक चरण, ५. नव सृजन के शक्ति संस्थान, ६ विचार क्रांति की आवश्यकताएँ एवं उसका स्वरूप, ७. ध्वंस और सृजन की सुस्पष्ट संभावना।

क्रांतिधर्मी साहित्य- इस साहित्य में वैदिक युग के आगमन की भावी रूपरेखा एवं व्यक्ति एवं समाज को उस ओर प्रेरित करने के लिए प्रखर विचार समाहित है। १. इक्कीसवीं सदी के लिए हमें क्या करना होगा, २. इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य भाग-१-२, ३. युग की मांगः प्रतिभा परिष्कार भाग १-२, ४. सभ्यता का शुभारम्भ, ५. लोकमानस का परिष्कृत मार्गदर्शन, ६. नव निर्माण की पृष्ठभूमि, ७. इक्कीसवीं सदी की मांग-युग नेतृत्व, ८. इक्कीसवीं सदी का गंगावतरण, ९. नवयुग का मत्स्यावतार, १०. परिवर्तन के महान् क्षण, ११. नवसृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी, १२. महाकाल का प्रतिभाओं को आमंत्रण, १३. भाव संवेदनाओं की गंगोत्री, १४. सतयुग की वापसी।

इन पुस्तकों का कलेवर छपे कागजों के छोटे पैकिट जैसा लग सकता है, पर वास्तविकता यह है कि उसके पृष्ठों पर युगऋषि की प्राण चेतना लहराती है और पढ़ने वालों को अपने आँचल में समेटती है और कहीं से कहीं पहुँचाती है। ये पुस्तकें हिमालय के देवात्मा क्षेत्र में निवास करने वाले ऋषि चेतना की समन्वित विचार तरंगों का मूर्त रूप है।[१६७] आचार्यश्री के इन वैदिक विचारों के नव्योत्थान ने ही सांस्कृतिक क्रांति के स्वरूप का निर्माण किया।

❑ आचार्यश्री की सांस्कृतिक क्रांति का स्वरूप

विश्व के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि परिवर्तन

---

१६७. आचार्य श्रीराम शर्मा- ज्योतिवर्ष, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक १, पृष्ठ २७

चक्र घूमता रहता है, लट्टू की तरह, कालचक्र की तरह। जिस प्रकार कालचक्र कभी थमता नहीं, निर्बाध गति से चलता ही रहता है, उसी प्रकार परिवर्तन का भी एक चक्र है, जो सदा गतिमान है। जो कुछ आज दिखाई पड़ रहा है, वह कल नहीं रहेगा, यह सुनिश्चित है और जो समय कल आएगा वह भी शाश्वत नहीं रहेगा। यह भी सत्य है। तात्पर्य यह है कि समय की तरह परिवर्तन भी चक्रवत् है। वह घूमता रहता है। हम आज जिस उथल-पुथल और अराजकतावादी समय से गुजर रहे हैं, वह कल नहीं रहेगा, क्योंकि उसी के बीच एक नई समाज व्यवस्था, एक नई सृष्टि का जन्म हो रहा है। यह नई व्यवस्था आज भले ही हमें नहीं दिखाई पड़ रही हो पर कुछ ही वर्षों में उसका मूर्तिमान स्वरूप सामने आने ही वाला है। यही परिवर्तन है- क्रांति है, सांस्कृतिक क्रांति है। आचार्यश्री इसी सांस्कृतिक क्रांति के प्रणेता हैं।

क्रांति अनादि काल से चलती आ रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी। उत्तर वैदिक काल के आरम्भ में प्रस्तर युग था। तब लोग पत्थर के औजारों का प्रयोग करते और वनों में रहते थे। धीरे-धीरे उनमें विकास हुआ वे कबीलों में रहने लगे एवं लोहे के आयुधों का प्रयोग आरम्भ किया । फिर उनमें सभ्यता और समाज का विकास हुआ। वे सभ्य कहलाने लगे। इसके बाद राजतंत्र का सूत्रपात हुआ, किन्तु जब राजतंत्र ने तानाशाह का रुख अपना लिया, तो एक बार पुनः लोगों की चेतना जगी। उनका उनींदापन हटा तो राजतंत्र की नींव हिल उठी। गुलामी की प्रथा का अन्त हुआ, प्रजातंत्र और स्वराज्य मिला। यह सब स्वयं में एक परिवर्तन था, क्रांति थी। इटली के इतिहास को देखें तो ज्ञात होगा कि वहाँ की पराधीन जनता जब गुलामी की जंजीरों में फँसी त्राहि-त्राहि कर रही थी, तो मेजिनी ने उसमें प्राण फूँके और विदेशियों में लोहा लेने के लिए गैरीबाल्डी को नेतृत्व में खड़ा किया। बाद में जब स्वतंत्रता मिली तो कैहुर के राष्ट्रपतित्व में वहाँ की सरकार बनी। फ्राँस की राज्य क्रांति, अमेरिका की दास प्रथा, रुस की बोलशेविक और अक्टूबर-क्रांति सभी उसी परिवर्तन के चिह्न हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि कालचक्र की तरह परिवर्तनचक्र भी सदा गतिमान है। अब भी वह अपने प्रकार से चल रहा है।

आचार्यश्री कहते हैं उपरोक्त सभी क्रांतियाँ न्यूनाधिक खूनी थीं। इनमें कमोबेश रक्तपात हुआ था। पर अबकी बार जो क्रांति होने जा रही है, वह विशुद्धतः रक्तहीन, सांस्कृतिक क्रांति होगी। इसमें न रक्त बहेगा, न समर युद्ध

होंगे। बिना कुछ हुए परिवर्तन होता चला जायेगा और लोग बदलते चलेंगे।[१६८] वे आगे उल्लेख करते हैं 'इस सांस्कृतिक क्रांति की शुरूआत हो चुकी है।'[१६९]

इन दिनों सांस्कृतिक क्रांति के तूफानी झकोरों से अधजगे, उनींदे, आँख मलते मानव समाज की अकुलाहटें साफ नजर आ रही हैं। साथ ही ध्वनित होते हैं ये सवाल क्या जरूरत आ पड़ी इस क्रांति की? विगत इतिहास में हो चुकी अनेक क्रांतियों की अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है? सवालों की जटिलता के बावजूद इनकी सामयिकता से इंकार नहीं किया जा सकता। मानव जीवन के इतिहास की पोथी क्रांति के अक्षरों से रंगी पड़ी है। मानवीयता के महाउदधि में क्रांति के अनेक ज्वार उठे और विलय हुए इतने पर भी वर्तमान क्रांति जो स्वर्णयुग की संदेशवाहक है की अपनी मौलिकता है। इसे अतीत के पृष्ठों में झाँकें, वर्तमान से सम्बन्ध सूत्र जोड़े बिना नहीं परखा जा सकता। समुज्ज्वल भवितव्यता की चिरस्थाई संस्थापना पर विश्वास जमाने का और आधार भी क्या है?

क्रांतियों के इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धान्तों को काम करते देख सकते हैं, एक तो सातत्य का सिद्धान्त है, दूसरे परिवर्तन का। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी लगते हैं, परन्तु ये विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर परिवर्तन की झलक है। इसी प्रकार परिवर्तन भी अपने अन्दर सातत्य का कुछ अंश छिपाए रखता है। असल में हमारा ध्यान उन्हीं परिवर्तनों की ओर जाता है जो क्रांति के रूप में अचानक फट पड़ते हैं। फिर भी प्रत्येक भूगर्भशास्त्री जानता है कि धरती की सतह पर जो बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं, उनकी चाल बहुत धीमी होती है। इसी तरह क्रांतियाँ भी धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन और रूपान्तरण की एक बहुत लम्बी प्रक्रिया का बाहरी प्रमाण भर होती है। इस तथ्य के मुताबिक पिछली क्रांतियों को इन दिनों सम्पन्न हो रही महाक्रांति की तैयारी के रूप में समझा जा सकता है।

मानव की प्रबल अभीप्सा रही है उन्नयन। जब यह अन्तर में घटित हुआ है तब वह चेतना के गंभीरतर शिखरों पर बैठा है। जब बाहर हुआ है तब आत्मविस्तार पनपा है। इस विस्तार का रूप देशकाल के अनुरूप कुछ भी हो। धीरे-धीरे राज्य बढ़े, समाज विशाल हुआ, जीवन जटिल। संकीर्णताओं की जकड़न

---

१६८. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाड्मय- सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रांति कैसे? भाग-६५, पृष्ठ १.१६

१६९. वही,

और विवशता की बेबस सिसकियाँ गूँजी। ऋषि मनीषि क्रांतिदर्शी थे और सामान्य जन क्रांतिधर्मी। इन दोनों में जब जो अपना पथ भूला तब-तब मानवता विकल हुई। जन विकलता की तड़प ही तो क्रांति की तड़ित है। यह तथ्य देशव्यापी, क्षेत्रव्यापी, जातिव्यापी न होकर जीवन व्यापी है। आदमी की तकलीफ के दो कारण हैं पहला- साधनों का अभाव, दूसरा- व्यवस्था का स्वरूप जो अपने लौह पाश के द्वारा स्वाभाविक विकास को रोकना चाहता है। इन दोनों कारणों के पीछे वह अज्ञान है जो व्यक्ति और समाज के बीच असन्तुलन की सृष्टि करता है। राजतंत्र के चरमराते ढाँचे ने जब व्यक्तिवाद का रूप लिया, शोषणवाद को प्रश्रय दिया वहाँ से विश्व इतिहास में क्रांति की श्रृंखला चल निकली। जहाँ कहीं भी क्रांतियाँ हुई उनका पहला प्रकोप राजतंत्र पर हुआ। राजतंत्र के विकल्प के रूप में लोकतंत्र व साम्यवाद प्रकाश में आए। इस श्रृंखला ने आगे चलकर औद्योगिक क्रांति से अपना सहचरत्व निभाया। जीवन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिकता का सीधा आघात धर्म पर हुआ और जीवन शैली के क्षेत्र में औद्योगिक क्रांति ने उथल-पुथल मचाकर रख दी।

इन सबके बावजूद क्या मानव की विकलता थमी, वेदना कम हुई? यदि नहीं तो अवश्य इन परिवर्तनों में कुछ मूलभूत कमियाँ रही होंगी। यदि ऐसे न होता तो व्यक्तिवाद की समार्पित का दावा करने वाली लोकतांत्रिक व्यवस्था में वे न होते जिन्हें अपनी रोटी दूसरों के साथ खाना मंजूर नहीं। साम्यवाद व्यक्ति की मौलिकता पर हुआ घात करने वाला सिद्ध न होता। विनिमय और अर्जन की प्रणाली इतनी दुर्बल कैसे होती? इसका एकमेव कारण है व्यक्ति और समाज की संरचना और अन्तर्सम्बन्धों को बिसार देना। जीवन का विकास मनो-सामाजिक होता है। क्रांति क्यों नहीं ऐसी होनी चाहिए? व्यक्ति ढले नहीं, समाज सुधरा नहीं ऐसी दशा में उलट-फेर कितने दिन काम देगी। स्थाई समाधान एक ही है व्यक्ति बदले, समाज सुधरे। आवश्यकता मनो-सामाजिक क्रांति की है। होता यह है कि व्यवस्था को बदलने वाले क्रांति दल के दो भाग होते हैं। एक नई व्यवस्था में प्राण भरता, दूसरा व्यक्ति गढ़ता है। समाज की प्रथा, परम्परा व कुरीतियाँ सुधारता है। मात्र सामाजिक क्रांति से काम चलने वाला नहीं। जमाने को भारी तादाद में विवेकानन्द, गाँधी, मैजिनी चाहिए, जब तक इस व्यक्ति निर्माण की फैक्ट्री में ताला लगा हुआ है, तब तक क्रांति की पूर्णता सम्भव नहीं है। व्यक्ति अच्छे होंगे, हर बिगड़े ढाँचे को बना देंगे। यदि ये स्वार्थ लोलुप हुए तो बने ढाँचे को भी जर्जर हो चकनाचूर होना पड़ेगा।

आज की दशा में जर्जरित ढाँचों में पिस रहे मानवी जीवन को देखने

पर यही लगता है कि घूम-फिर कर आदमी वहीं बल्कि उससे भी बदतर हालात में आ पहुँचा जहाँ से उसने अपनी यात्रा शुरू की थी। अब उसे पुनः आवश्यकता पड़ गई है कि नयी व्यवस्था का सृजन हो। परस्पर के सम्बन्ध नए सिरे से विकसित हों, अर्थात् समाज नीति की नयी स्मृति बने। मानवी चेतना के अवरोहण, बहिरंग जीवन को परिष्कृत करने वाली ऐसी प्रक्रिया विकसित हो अन्धविश्वास जिसके निकट न फटके। इस आ पड़ी जरूरत को कौन पूरा करेगा? कहाँ है ये सब विशेषताएँ? इसके लिए क्रांति के उस नये स्वरूप को ढूँढना पड़ेगा जो विगत की भूलों से मुक्त हो, जिसमें मनोसामाजिक नवसृजन की अपूर्व क्षमता हो। आचार्यश्री के अनुसार क्रांति का वह नया स्वरूप सांस्कृतिक क्रांति है। इस नये स्वरूप द्वारा सम्पन्न हो रही महाक्रांति ने अपना केन्द्र बनाया है, व्यक्ति को, उसकी परिधि है समाज- व्यक्ति की अन्तर्शक्तियों को उजागर करे, समाज की प्रत्येक प्रणाली को नया रूप देने के लिए कटिबद्ध हो यह। विश्व के समस्त मानव समुदाय के क्षितिज पर क्रियाशील प्रथम अहिंसक महाक्रांति होगी।

तनिक गहरें उतरें तो पता चलेगा कि सांस्कृतिक क्रांति की वीणा ने सद्भाव, सहनशीलता, सदाशयता की रागनियाँ बजाई हैं। हो भी क्यों न? तलवार से हम मनुष्य को पराजित कर सकते हैं, जीत नहीं सकते। मनुष्य को जीतना, उसके हृदय पर अधिकार पाना और हृदय की राह समर भूमि की लाल कीच नहीं सहितष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर समुद्र है। सांस्कृतिक क्रांति यही राह प्रशस्त कर रही है, टूटे दिलों को जोड़ रही है और पुराने घावों को सहलाकर उन्हें भरती जा रही है। युग की यही पुकार है। संसार का उज्ज्वल भविष्य इसी प्रक्रिया द्वारा सम्भव है। 'ऋषि चिन्तन की वही उर्जस्विता विश्व मानव को वैचारिक संघर्ष से मुक्ति देगी। कल का भविष्य जिस महानतम आश्चर्य को साकार करेगा वह है संसार के सभी विचारधाराओं का अपने मूल स्वर से सामंजस्य। इसी सांस्कृतिक क्रांति के साथ विश्व के संस्कृति के चिन्तन स्वर गूँज उठेंगे। 'सभानो मात्रः समितिः सभानी, सभानो मनः सह चित्तभेषाम' सब लोग एक विचार वाले हों जाएँ, सभी के मन एक समान हो जायँ, सभी के चित्त में एक से संवेदना उठने लगें। यही सांस्कृतिक क्रांति का स्वरूप एवं मान्यता है व यही अगले दिनों साकार रूप लेने जा रही है।[१७०] आचार्यश्री की सांस्कृतिक क्रांति के स्वरूप की परिणति उसके व्यापक विस्तार एवं प्रभाव के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

---

१७०. आचार्य श्रीराम शर्मा- सभी विचारधाराओं के मूल में है, विश्व संस्कृति के चिन्तन स्वर, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृष्ठ ६२

❑ सांस्कृतिक क्रांति का विस्तार एवं प्रभाव

विचारों में अपार शक्ति छिपी पड़ी है। विचारशीलता एवं विवेकशीलता विकसित की जा सके तो समस्त विश्व को संस्कृति की संजीवनी द्वारा मूर्च्छना से उबारा जा सकता है। गायत्री परिवार का यही लक्ष्य बताते हुए युगद्रष्टा आचार्यश्री ने बारम्बार कहा है कि बिना एक व्यापक स्तरीय सांस्कृतिक क्रांति के इस राष्ट्र का ही नहीं, सारी विश्व वसुधा का सामाजिक, नैतिक व बौद्धिक स्तर पर नवनिर्माण सम्भव नहीं है। आचार्यश्री द्वारा इस सांस्कृतिक क्रांति का व्यापक विस्तार हुआ एवं सर्वत्र इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। आचार्यश्री ने सन् १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्त्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर गायत्री परिवार का बीजारोपण किया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं।

शक्ति मंदिरों की घण्टियों की आवाज मेरे कानों में सुनायी पड़ रही है। यहाँ से उफनता शक्ति प्रवाह मनुष्य की दिशा और दशा को बदलकर रख देगा। भारत को केन्द्र बनाकर यह शक्ति प्रवाह समूचे विश्व का कायाकल्प करेगा। स्वामी विवेकानन्द का यह भविष्य कथन, उस ममय साकार होने लगा, जब आचार्यश्री ने सन् १९७९ के बसन्त पर्व पर अपने शान्तिकुञ्ज आश्रम में २४ शक्तिपीठों के निर्माण की घोषणा की। इसके बारे में उन्होंने कहा था 'यह संकल्प महाकाल का है। यह एक दैवीय योजना है।'[१७१] इस क्रम में गायत्री शक्तिपीठ का प्रथम शिलान्यास ब्रह्मवर्चस के रूप में हुआ है। चौबीस अक्षरों की चौबीस प्रतिमाओं का परिचायक यह संस्थान अंतराष्ट्रीय गायत्री तीर्थ है। इसके साथ ही इसके कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुई, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरम्भ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञा मण्डल, स्वाध्याय मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। देश के बाहर ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ हैं। जो भारत भर में ४६०० से भी अधिक शाखाओं के रूप में स्थापित हैं। इन सबके क्रिया-कलापों से वातावरण वैदिक संस्कृति से ओतप्रोत होता चला गया।

---

१७१. आचार्य श्रीराम शर्मा- शक्ति प्रवाह के स्त्रोत, गायत्री शक्तिपीठ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५९, अंक ८, पृष्ठ ३२

आचार्यश्री ने वैदिक शिक्षा के प्रसार हेतु १९६५ में मथुरा में युगनिर्माण विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय से निकले बालक जहाँ भी होते हैं ध्रुव तारों की तरह वेदों के आदर्शों, सिद्धान्तों और कार्यक्रमों को सामयिक ढंग से प्रचार-प्रसार करते हैं। इस विद्यालय ने हजारों की संख्या में ऐसे शिक्षित युवाओं का निर्माण किया है जो वैदिक संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु अपना सर्वस्व होमने को तैयार व तत्पर रहते हैं। इस विद्यालय का एक नया स्वरूप है शान्तिकुञ्ज आश्रम, जिसे व्यक्तित्व गढ़ने का टकसाल कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा। शान्तिकुञ्ज आश्रम ने वैदिक संस्कृति को विश्वव्यापी बनाया। इसकी स्थापना वर्ष १९७१ से लेकर १९९९ तक लाखों की संख्या में व्यक्ति यहाँ आकर जीवन की एक नई दिशा-दशा प्राप्त कर चुके हैं। १९७१ में स्थापना काल में ३६४० लोगों ने यहाँ विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किया। १९७२ में अनुदान सत्र में ४२१८ परिजन आये। शान्तिकुञ्ज सत्रों एवं शिविरों के माध्यम से वैदिक जीवन निर्माण सूत्रों का प्रशिक्षण देता है। १९७३ में ३४१६ लोगों ने भाग लिया। १९८२,८५ के अनुदान सत्रों में क्रमश: ४०८८ तथा ३५१९ श्रद्धालु आये। इन दो वर्षों को छोड़कर १९७६ से लेकर १९८६ की अवधि में क्रमश: ३११०, २२४२, ११३७, १८१४, ५५३०, ६६९५, ८०१०, १२०५२, २३३५५, १४४१७, १४८२०, २३०९६, १८०७८, १८२९९ तथा ३७१११ श्रद्धालुओं ने ९ दिवसीय साधनासत्र सम्पन्न किए और वैदिक संस्कृति के प्रसार हेतु समयदान, अंशदान हेतु संकल्प पत्र भरे। १९७८, ७९ में सम्पन्न एक मासीय चान्द्रायण सत्रों में १५०० व १३८० लोगों ने भाग लिया। १९७९, १९८० तथा १९९१ के जातीय सम्मेलनों में क्रमश: १०३१०, ६२२०, तथा ९४५४ लोग आये। १९८३ के कल्प साधना सत्र में २११८ तथा १९९० के श्रद्धाञ्जलि समारोह में आगन्तुकों की संख्या ४,८८,२३७ और १९७१ से १९९६ तक अतिथियों के रूप में आए परिजनों की कुल संख्या ९१,२,१२८ है। स्पष्ट मान लें कि यहाँ अतिथियों का केवल भोजन-आवास से सत्कार भर करने की परम्परा नहीं है, उन्हें राष्ट्र और समाज के निर्माण में कुछ न कुछ हाथ बँटाने के लिए अनिवार्य रूप से संकल्पित होना पड़ता है।[१७२]

जो युग निर्माण मिशन से अत्यधिक प्रभावित हुए एवं सेवाएँ देने की प्रतिज्ञा की और वर्ग शिविरों में भाग लिया उनकी संख्या इसके अतिरिक्त है। इनमें प्रथम वह परिव्राजक हैं, जिन्होंने १० दिन का प्रशिक्षण लिया और क्षेत्रों

---

१७२. आचार्य श्रीराम शर्मा- श्रद्धा और समर्पण की नींव पर टिका यह युग निर्माण मिशन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६०, अंक ९, पृष्ठ ४

में वैदिक संस्कृति का प्रसार किया। १९७४, ७५, ७६ तथा ७९ में इनकी संख्या २९८८, ३८२०, २६३० तथा ८०० थी। १९७५ में रामायण प्रशिक्षण लेकर २७०० लोगों ने श्रीराम कथा के माध्यम से इस संस्कृति का प्रचार किया। १९७९ में दो हजार लोग प्रशिक्षत होकर शक्तिपीठों में गये और इस मिशन द्वारा स्थापित ४००० शक्तिपीठों के संचालन में योगदान दे रहे हैं। शक्तिपीठों की अपनी व्यक्तिगत व्यवस्था के अन्तर्गत काम करने वाले इससे अलग हैं। औसत् ५ ट्रस्टियों की संख्या मानें तो अकेले सेवायें देने वाले ट्रस्टीगण ही २० हजार हैं, जो शक्तिपीठों के माध्यम से युग निर्माण कार्यों में जुटे हैं। दस-दस संख्या के चालीस हजार प्रज्ञा मण्डल इससे अलग हैं। १९८०, ८१ में ऐसे ही ११०० तथा ६१० प्रव्रिाजक निकले। आचार्यश्री के लिखे चार प्रज्ञापुराणों का ८०० लोगों ने प्रशिक्षण लिया। १९८१ वर्ष को छोड़कर शेष १९८२ से लेकर १९८६ तक केवल समयदान के उद्देश्य से ही २६९०६ लोगों ने प्रशिक्षण लिया और अब युग निर्माण की अलख जगाने में लगे हैं। इसी सम्पूर्ण अवधि में शान्तिकुञ्ज से क्षेत्रों में छोटे-बड़े आयोजनों से लेकर बड़े कार्यक्रमों तक व्यवस्थित रूप से ४६४२० लोग प्रशिक्षित किए और कार्यक्षेत्र में उतारे गये। संगीत शिक्षा के माध्यम से १९९४ तथा १९९७ में क्रमशः १७५, १९९ युवकों ने सेवाएँ दीं। १९७६, ७७, ७८, ७९ में प्रतिमाह १४० महिलाएँ और इन्हीं प्रथम तीन वर्षों में ३ माह का प्रशिक्षण लेकर क्रमशः ४००, ५००, तथा ४८० महिलाएँ कार्यक्षेत्र में उतरीं और महिला जागरण अभियान को गतिशील किया।[१७३] नियमित रूप से अखण्ड ज्योति, युग निर्माण योजना, युग शक्ति गायत्री सभी भाषाओं की पत्रिकाएँ थोक में मंगाकर ज्ञानदान देने वालों की संख्या भी प्रायः २५ हजार से अधिक है। ज्ञातव्य है कि इस पत्रिका को बारह लाख से अधिक संख्या में 'नो प्रोफिट नो लॉस' की स्थिति में छापा जाता है। यह उपलब्धियाँ अपने आप में एक सशक्त-समर्थ संगठन के प्रभाव का पर्याय है।

आचार्यश्री के इस सांस्कृतिक क्रांति का प्रभाव देश व विदेश में उमड़े आश्वमेधिक प्रवाह के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रवाह का आरम्भ (१) जयपुर में ७ से १० नवम्बर १९९२ में प्रथम अश्वमेध के रूप में हुआ। वैदिक संस्कृति दिग्विजय अभियान के शुभारम्भ का यह प्रथम शंखनाद था। इस प्रकार अश्वमेधों की श्रृंखला है- (२) भिलाई (म.प्र.)१७ से २० फरवरी १९९३, (३)

---

१७३. आचार्य श्रीराम शर्मा- श्रद्धा और समर्पण की नींव पर टिका यह युग निर्माण मिशन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६०, अंक ९, पृष्ठ ४

गुना (म.प्र.) ३ से ६ अप्रैल १९९३, (४) भुवनेश्वर (उड़ीसा) ३ से ६ मई १९९३, (५) लखनऊ (उ.प्र.) २७ से ३० अक्टूबर १९९३। यहाँ पूर्णाहुति के दिन सोलह पालियों में लगभग २ लाख श्रद्धालु याजकों ने श्रद्धापूर्वक यजन किया। ऐसे सम्पूर्ण यज्ञ में लगभग १० लाख याजकों ने भाग लिया। (६) बड़ौदा (गुजरात) २६ से २९ नवम्बर, १९९३, (७) भोपाल (म.प्र.) ११ से १४ दिसम्बर १९९३, (८) नागपुर (महाराष्ट्र) ६ से ९ जनवरी, १९९४, (९) ब्रह्मपुर (उड़ीसा) २६ से २९ जनवरी १९९४, (१०) कोरबा (म.प्र.) ६ से ९ फरवरी १९९४, (११) पटना (बिहार)२३ से २६ फरवरी १९९४, (१२) कुरुक्षेत्र (हरियाणा) ३१ मार्च से ३ अप्रैल १९९४, (१३) चित्रकूट १६ से २० अप्रैल १९९४, (१४) भिण्ड (म.प्र.) ३ से ५ मई १९९४, (१५) शिमला (हि.प्र.) (१६) बुलन्दशहर (उ.प्र.) १७ से २० नवम्बर १९९४, (१७) हल्दीघाटी (राज.) २९ नवम्बर से २ दिसम्बर १९९४, (१८) राजकोट (गुज.) १४ से १७ दिसम्बर १९९४, (१९) जबलपुर (म.प्र.) २८ से ३१ जनवरी १९९५, (२०) कोटा (राज.) १२ से १५ जनवरी १९९५, (२१) गोरखपुर (उ.प्र.) २५ से २८ फरवरी १९९५, (२२) इन्दौर (म.प्र.) ५ से ८ अप्रैल १९९५। सर्वेक्षकों ने इसे नवयुग का महाकुंभ कहा,[१७४] जिसमें प्रत्येक अश्वमेध में लगभग सात लाख लोगों ने भाग लिया। दर्शक विलुप्त वैदिक संस्कृति के इस विराट् रूप को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए।

अश्वमेधों का यह प्रवाह भारत भूमि तक ही सीमित नहीं रहा वरन् विदेशों में भी अपनी वैदिक पताका फहराई। वैदिक संस्कृति दिग्विजय अभियान ने अपना एक पग और आगे बढ़ाया। इस कदम में प्रथम श्रेयाधिकारी इंग्लैण्ड बना। यह शृंखला है- (१) लेस्टर (यू.के.) ८ से ११ जुलाई १९९३, (२) टोरण्टो (कनाडा) २३ से २५ जुलाई १९९३, (३) लॉस एंजेल्स (यू.एस.ए.) १९ से २२ अगस्त १९९३, (४) शिकागो (अमेरिका) २७ से ३० जुलाई १९९५,[१७५] और (५) मॉट्रियल (कनाडा) २६ से २९ जुलाई १९९६। प्रत्येक में प्रायः १ लाख से डेढ़ लाख की उपस्थिति रही एवं वैदिक संस्कृति का विराट् रूप पहली बार वहाँ के लोगों ने देखा। इसी के प्रभाव के फलस्वरूप लॉस एंजेल्स, सेक्रामेण्टो,

---

१७४. आचार्य श्रीराम शर्मा- श्रद्धा और समर्पण की नींव पर टिका यह युग निर्माण मिशन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६०, अंक ९, पृष्ठ ४

१७५. आचार्य श्रीराम शर्मा- वन्दनीया माताजी की शक्ति का विस्फोट आश्वमेधिक प्रवाह उमड़ा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५९, अंक ८, पृष्ठ ५१, ५२, ५३

सेन फ्राँसिस्को, सॉन होजे, शिकागो, अटलाण्टा, ह्यूस्टन, वाशिंगटन, मियामी, न्यूजर्सी, न्यूयार्क, बोस्टन, अलाबामा (हर्टसविल) कंसास, सेंटलुई, डलास, ओकलाहोमा आदि स्थानों पर नई शाखाएँ स्थापित हुई एवं नए परिजन जुड़े। अटलांटा, लासएंजिल्स व शिकागो में शक्तिपीठों एवं ज्ञान मंदिरों की स्थापना हुई। १९९७ में फ्राँस, जर्मनी, पुर्तगाल, स्वीडन, सिंगापुर में आचार्यश्री की सांस्कृतिक क्रांति का विस्तार हुआ।[१७६] सांस्कृतिक क्रांति का इन दिनों जो विस्तार एवं प्रभाव हो रहा है इसे आचार्यश्री अपनी दिव्य दृष्टि से बहुत पहले ही देख चुके थे। उन्होंने भविष्यवाणी की है कि निकट भविष्य में वैदिक युग का आगमन होगा।

❑ वैदिक युग के आगमन की भविष्य दृष्टि

वैदिक युग के आगमन की सम्भावना के सम्बन्ध में आचार्यश्री ने कहा है 'निकट भविष्य में ही वैदिक युग का आगमन होने वाला है इसमें किसी को सन्देह नहीं करना चाहिए, जिन्हें दूरदर्शी आँखें प्राप्त हों वे इसके लिए द्रुत गति से जुटते चले जा रहे साधनों को बारीकी से देखें और समझें कि यह एक सुनिश्चित भवितव्यता है जो किसी भी प्रकार टल नहीं सकेगी।'[१७७] आगे वे कहते हैं 'इन आधारों में एक प्रबल कारण है ईश्वरेच्छा एवं सूक्ष्म जगत् की परिस्थितियाँ।'[१७८] इन परिस्थितियों को समीप लाने के लिए मानवी और अतिमानवी शक्तियाँ इन दिनों जिस तत्परता के साथ सक्रिय हो रही हैं, उन्हें देखते हुए यह विश्वास किया ही जाना चाहिए कि वैदिक युग के अवतरण में न तो अविश्वास का कोई कारण है और न देर तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है।

वैदिक युग के इस सूर्योदय का प्रकाश भविष्य में किस प्रकार फैलेगा इसकी विशद् विवेचना करते हुए आचार्य श्री कहते हैं 'नव जागरण का, वैदिक युग परिवर्तन का सूर्योदय हो चुका है।'[१७९] यह चेतनात्मक उत्कर्ष के द्वारा ही सम्भव होगा। इसके लिए ज्ञानतंत्र समर्थ और परिष्कृत होगा, जिसमें भौतिक प्रगति भी सम्मिलित है। नवनिर्माण के अवतरण की किरणें अगले दिनों प्रबुद्ध एवं

---

१७६. आचार्य श्रीराम शर्मा- वन्दनीया माताजी की शक्ति का विस्फोट आश्वमेधिक प्रवाह उमड़ा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५९, अंक ८, पृष्ठ ५४

१७७. आचार्य श्रीराम शर्मा- युग चेतना का प्रकाश विश्व में इस तरह फैल रहा है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६०, अंक, ९, पृष्ठ ४९

१७८. आचार्य श्रीराम शर्मा- नवयुग का अवतरण सुनिश्चित है और सन्निकट, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३४, अंक, ५, पृष्ठ २९

१७९. वही,

जीवन्त आत्माओं पर बरसेंगी, वे व्यक्तिगत लाभ में संलग्न रहने की लिप्सा को लोकमंगल के लिए उत्सर्ग करने की आन्तरिक पुकार सुनेंगे। यह पुकार इतनी तीव्र होगी कि चाहने पर भी वे संकीर्ण स्वार्थपरता भरा व्यक्तिवादी जीवन जी न सकेंगे। लोभ और मोह की जटिल जंजीरें वैसी ही टूटती दीखेंगी जैसे कृष्ण जन्म के समय बन्दी गृह के ताले अनायास ही खुल गये थे। समय ही बतायेगा कि जाल-जंजाल में जकड़े हुए वर्गों में से कितनी प्रबुद्ध आत्माएँ उछल कर आगे आती हैं और सामान्य स्थिति में रहते हुए कितने ऐसे अद्‌भुत क्रिया कलाप सम्पन्न करती हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ेगा। जन्म जात रूप से तुच्छ स्थिति में जकड़े हुए व्यक्ति अगले दिनों जब महामानवों की भूमिका प्रस्तुत करते दिखाई पड़े तो समझना चाहिए कि वैदिक युग के आगमन का प्रकाश एवं चमत्कार सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष हो चला।[१८०]

आचार्यश्री कहते हैं 'निस्संदेह वैदिक युग का प्रधान आधार भावनात्मक नव निर्माण ही होगा। किसी धर्म सम्प्रदाय, सन्त या ग्रन्थ को बुद्धि बेचकर किसी का भी अंधानुकरण न करने की बात हर किसी के मन में घुसती चली जायगी और जो न्याय, विवेक, सत्य एवं तथ्य की कसौटियों पर खरा सिद्ध होगा उसी को स्वीकारने की प्रवृत्ति बढ़गी। इस आधार के प्रबल होते ही न अनैतिकताओं के लिए कोई स्थान रह जायेगा और न झूठ मान्यताओं के लिए। वैदिक युग का निर्मल और निष्पक्ष चिन्तन किसी भी देश, धर्म या वर्ग को उसी स्थान में पहुँचा देगा, जिसके लिए भारतीय आध्यात्म अनादि काल से अंगुलि निर्देश करता रहा है। यह हलचलें जन-जन में दृष्टिगोचर होंगी। समुन्नत आत्मा निजी सुख सुविधाओं को तिलांजलि देकर विश्व के भावनात्मक नव निर्माण को वैदिक युग की सर्वोत्तम साधना, उपासना, तपश्चर्या एवं आवश्यकता समझते हुए इसी में सर्वतोभावेन संलग्न होंगी। साथ ही सामान्य स्तर के व्यक्तियों में इतना विवेक तो अनायास ही जाग्रत् होगा कि वे अंधकार और प्रकाश का अन्तर समझ सकें। अनुचित के लिए दुराग्रह छोड़कर न्याय और विवेक के आधार पर प्रतिपादित उचित को स्वीकार कर सकें। इस प्रकार उभयपक्षीय सुयोग संयोग उस प्रयोजन को अग्रगामी बनाता चला जायगा'[१८१] जो वैदिक युग का मूलभूत आधार है।

---

१८०. आचार्य श्रीराम शर्मा- सूर्योदय हो चला अब प्रकाश फैलना ही बाकी है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३४, अंक, ५, पृष्ठ ३३

१८१. आचार्य श्रीराम शर्मा- सूर्योदय हो चला अब प्रकाश फैलना ही बाकी है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३४, अंक, ५, पृष्ठ ३४

वैदिक युग की भविष्य दृष्टि में आचार्यश्री आगे उल्लेख करते हैं 'वैदिक युग में धर्म अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होगा। सम्प्रदायवादियों के डेरे उखड़ जायेंगे। उत्कृष्ट चरित्र, परिष्कृत ज्ञान एवं लोक मंगल के लिए प्रस्तुत किया गया अनुदान ही किसी को सम्मानित या श्रद्धास्पद बना सकेगा।' अगले दिनों वैदिक युग में ज्ञान तंत्र ही धर्मतंत्र होगा। चरित्र निर्माण और लोक मंगल की गतिविधियाँ धार्मिक कर्मकाण्डों का स्थान ग्रहण करेंगी। धर्म अपने असली स्वरूप में निखर कर आयेगा और उसके ऊपर चढ़ी हुई सड़ी गली केंचुली उतरकर कूड़े करकट के ढेर में जा गिरेगी।[१८२] आचार्यश्री के अनुसार 'ज्ञानतंत्र वाणी और लेखनी तक ही सीमित न रहेगा वरन् प्रचारात्मक, रचनात्मक एवं संघर्षात्मक कार्यक्रमों के साथ बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रांति के लिए प्रयुक्त किया जायेगा। साहित्य, संगीत, कला के विभिन्न पक्ष विविध प्रकार से लोक शिक्षण का उच्चस्तरीय प्रयोजन पूरा करेंगे। जिनके पास प्रतिभा है, जिनके पास सम्पदा है वे उससे स्वयं लाभान्वित होने के स्थान पर समस्त समाज को समुन्नत करने के लिए समर्पित करेंगे। वैदिक युग में एकता, समता, ममता और शुचिता इन चार मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न आचार संहिताएँ, रीति-नीति, विधि-व्यवस्थाएँ, मर्यादाएँ और परम्पराएँ बनाई जाएँगी। भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियों को देखते हुए उनमें हेर-फेर भी यत्किंचित होते रह सकते हैं। पर आधार उनके यही रहेंगे।'[१८३]

आचार्यश्री के अनुसार वैदिक युग में चेतनात्मक विभूतियों का अभिवर्धन और सद्भावना व सत्प्रवृत्तियों का विकास होगा। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अगले दिनों उसी स्तर पर प्रयत्न होंगे, जिस पर कि आज वैज्ञानिक प्रगति के लिए मानवी श्रम, कौशल, धन एवं मनोयोग नियोजित किया जा रहा है। एकाकी प्रगति को संतुलित बनाने के लिए वैदिक युग में यदि आध्यात्मिक प्रगति का अभियान तूफानी द्रुत गति से सामने आये तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए। समय की मांग पूरा करने वाली और मानवी विवेक को जीवित रहने की यह एक सहज साक्षी और स्वाभाविक प्रतिक्रिया होगी।[१८४] आगे वे

---

१८२. आचार्य श्रीराम शर्मा- सूर्योदय हो चला अब प्रकाश फैलना ही बाकी है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३४, अंक, ५, पृष्ठ ३४

१८३. वही, पृष्ठ ३५

१८४. आचार्य श्रीराम शर्मा- सूर्योदय हो चला अब प्रकाश फैलना ही बाकी है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३४, अंक, ५,पृष्ठ ३६

कहते हैं 'इस बार वैदिक युग के आगमन की प्रक्रिया से असुरता के उन्मूलन और देवत्व के उदय के सनातन उद्देश्य की पूर्ति होगी। यह सूक्ष्म परिवर्तन स्थूल आँखों से होते हुए नहीं दिखाई दे सकता। परिवर्तन प्रक्रिया जब सम्पन्न हो चुकेगी, आसुरी शक्तियाँ निष्प्राण होकर निर्जीव हो जायेंगी तथा दैवी शक्तियाँ और दैवी प्रवृत्तियाँ चारों ओर गतिमान दिखेंगी, तब इन प्रयासों की उपलब्धियाँ आँकलित की जा सकेंगी।'[१८५] वैदिक युग में जो सबसे बड़ा परिवर्तन होगा वह मनुष्य-मनुष्य के बीच में आत्म-भाव की स्थापना होगी। वास्तव में तब ऐसा समय आयेगा जबकि अध्यात्म कहने-सुनने या मन के भीतर ही गुपचुप भजन-जप करने की चीज नहीं रहेगी वरन् उसका उपयोग नित्य प्रति जीवन की प्रत्येक क्रिया में होगा।[१८६] आचार्यश्री इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अब मनुष्य जाति के इतिहास में एक बहुत बड़े परिवर्तन का समय बिल्कुल समीप आ गया है, मानवता एक नई सीढ़ी पर चरण रखने वाली है।[१८७]

आचार्यश्री की भविष्य दृष्टि उज्ज्वल भविष्य को झाँकती है 'सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का वैदिक युग आने ही वाला है। मनुष्य अपने चिन्तन और कर्त्तृत्व का नये सिरे से निर्धारण करने ही वाला है। वैदिक युग रूपी उज्ज्वल भविष्य का यही एक मात्र रास्ता है।'[१८८] इससे जहाँ वैदिक युग में उच्च सत्ता की उपस्थिति, मानवता के उज्ज्वल भविष्य, भारत की अकल्पित प्रगति और इसके आध्यात्मिक पुनरुत्थान की आशा बँधती है, वहीं हमारे चिन्तन में स्वस्थ अध्यात्मवादी दृष्टिकोण का भी समावेश होता है, जो व्यक्ति, समाज और संसार सभी के लिए उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाओं का अध्याय है। वैदिक युग की शान्ति और प्रगति इसी दृष्टिकोण पर आधारित है यह सुनिश्चित मानना चाहिए।[१८९]

---

१८५. आचार्य श्रीराम शर्मा- निकट भविष्य में अध्यात्म युग आकर रहेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक ११, पृष्ठ ४

१८६. आचार्य श्रीराम शर्मा- नवयुग का अरुणोदय, युगशक्ति का अवतरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अंक, ७, पृष्ठ ५१

१८७. आचार्य श्रीराम शर्मा- सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में होने वाले नवीन परिवर्तन, अखण्ड ज्योति, वर्ष २८, अंक ७, पृष्ठ ४९-५०

१८८. आचार्य श्रीराम शर्मा- यह परिवर्तन कब तक? अखण्ड ज्योति, वर्ष २८, अंक ७, पृष्ठ ५१-५२

१८९. आचार्य श्रीराम शर्मा- नवयुग आगमन की भविष्यवाणियाँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३९, अंक १२, पृष्ठ ५६

आचार्यश्री कहते हैं 'अगली शताब्दी की सम्भावनाएँ अद्‌भुत, अनुपम और अभूतपूर्व हैं।'[१९०] अगले वैदिक युग की, इक्कीसवीं सदी की सम्पूर्ण व्यवस्था एकता और समता के सिद्धान्तों पर निर्धारित होंगी। अगली दुनिया एकता का लक्ष्य स्वीकारने के लिए निश्चय कर चुकी है। वैदिक युग में एक ही जाति का अस्तित्व रहेगा। धर्म सम्प्रदायों के नाम पर भाषा, जाति, प्रथा, क्षेत्र आदि के नाम पर जो कृत्रिम विभेद दीवारें बन गई हैं वे लहरों की तरह अपना-अपना अलग प्रदर्शन भले ही करते रहें, पर वे सभी एक ही जलाशय की सामयिक हलचल भर मानी जायेंगी। अगले दिनों मानव जाति सुनिश्चित रूप से एक बन कर रहेगी।[१९१]

आचार्यश्री के अनुसार वैदिक युग में 'धरातल एक देश बनकर रहेगा। देशों की कृत्रिम दीवारें खींचकर उसके टुकड़े बने रहना न तो व्यावहारिक रहेगा, न सुविधाजनक। अन्ततः विश्व मानव का एक ही मानव धर्म होगा। उसके सिद्धान्त, चिन्तन, चरित्र और व्यवहार के साथ जुड़ने वाली आदर्शवादिता पर अवलम्बित होंगे। मान्यताओं और परम्पराओं में से प्रत्येक को तर्क, तथ्य, प्रमाण, परीक्षण एवं अनुभव की कसौटियों पर कसने के उपरान्त ही विश्व धर्म की मान्यता मिलेगी। संक्षेप में उसे आदर्शवादी व्यक्तित्व और न्यायोचित निष्ठा पर अवलम्बित माना जाएगा। विश्व धर्म की बात आज भले ही सघन तमिस्रा में कठिन मालूम पड़ती हो पर वह समय दूर नहीं, जब वैदिक युग में एकता का सूर्य उगेगा और इस समय जो अदृश्य, असम्भव प्रतीत होता है, वह उस बेला में प्रत्यक्ष एवं प्रकाशवान होकर रहेगा।'[१९२] यह सुनिश्चित है कि परिवर्तन के गर्भ में से ही वैदिक युग का अरुणोदय होगा।[१९३] आचार्यश्री इस तथ्य को बड़े ही स्पष्ट ढंग से घोषित करते हैं कि आदर्शवादी तत्त्वज्ञान एवं सृजनात्मक युग प्रवाह को गति देने के लिए युग मनीषा को आगे आना ही होगा। चाहे इसे अध्यात्म आन्दोलन

---

१९०. आचार्य श्रीराम शर्मा- भविष्य वाणियों से सार्थक दिशा बोध, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक १, पृष्ठ ४४

१९१. आचार्य श्रीराम शर्मा- आ रहा है एकता और समता का नवयुग, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ११, पृष्ठ ५२

१९२. आचार्य श्रीराम शर्मा- आ रहा है एकता और समता का नवयुग, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ११, पृष्ठ ५३

१९३. आचार्य श्रीराम शर्मा- नवयुग का अरुणोदय- विभीषिकाओं के गर्भ से, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक, ४, पृष्ठ १८

कहा जाये या पुनर्निर्माण आन्दोलन, वैदिक संस्कृति की स्थापना करने के लिए ऐसी प्रक्रिया अवश्य ही क्रियान्वित होगी। यह एक सपना नहीं, विधाता की क्रमबद्ध क्रिया-पद्धति है। इसे सम्पादित करने के लिए वैदिक संस्कृति के उद्गम केन्द्र भारत को ही नेतृत्व करना होगा।[१९४]

❑

१९४. आचार्य श्रीराम शर्मा- अगले दिनों विश्व का नेतृत्व भारत ही करेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक १, पृष्ठ ५१

उपसंहार

ज्वलन्त प्रश्न मानवीयता को घेरे खड़े हैं। जीवन का परिदृश्य जितना व्यापक है, सवाल उतने ही अनगिनत हैं। हम कहीं भी हों, किसी भी देश, जाति, क्षेत्र के हों, कोई भी भाषा-भाषी हों, यदि इन्सान है तो इन जलते सवालों की तपन महसूस किए बिना नहीं रह सकते। क्योंकि देश या वेष के परिवर्तन से हमारे रीति-रिवाज और मान्यताएँ तो बदल सकती हैं, परन्तु इससे मानव की मौलिक प्रकृति नहीं बदला करती। इसको सही ढंग से न समझे जाने के कारण ही समाधान के अनगिन प्रयत्न नित-नूतन समस्याओं के जन्मदाता बनते चले जा रहे हैं। यह सच है कि अपने देश में हीं नहीं विश्व के अन्य भू-भागों में शिक्षा का प्रसार बढ़ा है, शिक्षितों की संख्या में भारी अभिवृद्धि हुई है, जितनी अधिक पुस्तकें इन दिनों दुनियाँ की सैकड़ों भाषा में छप रही हैं, उतनी पहले कभी प्रकाशित नहीं हुई। परन्तु इसके बावजूद संस्कारवान एवं संवेदनशील मनुष्य दुर्लभ हैं। क्योंकि मानव प्रकृति को परिमार्जित-परिशोधित करने वाली वैदिक संस्कृति की संस्कार परम्परा लुप्त प्राय: है, जो कि कभी शिक्षा के अनिवार्य एवं अविभाज्य अंग के रूप में प्रतिष्ठित थी।

इसी तरह संवेदना के अभाव में भारत जैसे विकासशील देश ही नहीं विश्व के अति समृद्ध देश भी समाज व्यवस्था के टूटने का दर्द अनुभव कर रहे हैं। वैदिक संस्कृति ने तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उदात्त-आदर्श प्रस्तुत करके समूची विश्ववसुन्धरा को अपना ही परिवार माना था। आज उन सूत्रों के लुप्त हो जाने के कारण अपने ही परिवारिक स्वजन पराए हो चले हैं। विश्व की आधी जनसंख्या के रूप में नारियों की स्थिति कम दयनीय नहीं है। वे प्राय: असहाय-दलित अपमानित स्थिति में जीवन गुजार रही हैं। समाज की समुचित व्यवस्था सूत्रों के अभाव में समूचे समाज का अस्तित्व ही अगणित जख्मों से भर गया है। इसके हर अंग में दर्द की गहरी टीस महसूस की जा सकती है।

जब समाज ही बेढंगा एवं विद्रूप हो जाय तब राजनैतिक स्थिति की कल्पना करना सहज है। आज की राजनीति राष्ट्र सेवा एवं देशोत्थान की पर्याय न होकर भ्रष्टाचार-कदाचार की परिभाषा बनकर रह गई है। स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती मना चुके अपने देश का हर नागरिक इस विडम्बना से भली-भाँति परिचित हो चला। विश्व के अन्य देशों में भी कमोबेश स्थिति एक सी ही है। भ्रष्टता, धन की हो या चरित्र की उसे भ्रष्टता ही कहा जाएगा, इन सबके पीछे है सांस्कृतक मूल्यों

एवं मानकों की उपेक्षा। इस सन्दर्भ में हर दिन बहुतेरा कहा-सुना एवं लिखा जाता है, पर सार्थक समाधान नहीं मिल पा रहा। क्योंकि समाधान के स्वर तो कहीं अन्यत्र ही है।

समाज और राजनीति की ही भाँति ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्र भी प्रश्न संकुल बने हुए हैं। ज्ञान के क्षेत्र में हमने बौद्धिक प्रगति तो की है, पर मानव को सुसंस्कृत बनाने वाली विचारशीलता असाधारण रूप से घटी है। यही वजह है कि भारी बौद्धिक प्रगति के बावजूद प्रायः हर इन्सान हैरान-परेशान है। उसे आस्था संकट ने घेर रखा है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ है। प्रश्नों के जटिल चक्रव्यूह में वह इस कदर उलझ गया है कि उसे सुझायी नहीं दे रहा कि कहाँ जाएँ? कैसे उबरें? और क्या करें? ज्ञान की ही भाँति वैज्ञानिक प्रगति का शोर गुल बहुत है। इसके चमत्कार भी अनेकानेक हैं। पर साथ ही एक बड़ा असमंजस भी है कि ये सारे चमत्कार जीवनदाता हैं, या मृत्यु प्रदाता। इन्हें वरदान समझा जाय या अभिशाप। सवाल सिर्फ परमाणविक हथियारों के जखीरे का ही नहीं है, पर्यावरण जैसे अन्य महाप्रश्न भी हैं। जो मनुष्य और मनुष्यता को पल-पल जलाते-झुलसाते रहते हैं।

इन ज्वलन्त महाप्रश्नों के समाधान की खोज तो सभी को है- पर इसकी सफलता वैदिक संस्कृति की गवेषणा में ही सुनिश्चित है। क्योंकि वैदिक संस्कृति के अन्वेषकों ने मानव की प्रकृति एवं जीवन की व्यापकता को अपेक्षाकृत कहीं अधिक समग्रता, गहराई एवं बारीकी से समझा था। इस सन्दर्भ में उनके योगदान के विविध पहलू आज भी सर्वथा सामयिक एवं समीचीन है।

प्राचीन भारत की वैदिक संस्कृति का योगदान

वैदिक संस्कृति में समस्त समस्याओं का समाधान सन्निहित है। वैदिक संस्कृति ही एकमात्र समाधान का सूत्र प्रस्तुत कर सकती है। इस परिप्रेक्ष्य में वैदिक संस्कृति का योगदान अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण है। इस योगदान को निम्न बिन्दुओं में समझा जा सकता है-

❑ वैदिक संस्कृति की संस्कार परम्परा

वैदिक संस्कृति की संस्कार परम्परा में मानव प्रकृति को परिमार्जित एवं परिशोधित करने की क्षमता है। संस्कार परम्परा रूपी इस विधा में समाज में व्यक्ति को सुसंस्कारित कर श्रेष्ठता की ओर अग्रसर करने की व्यवस्था है। संस्कार मनुष्य के अन्दर की दुष्प्रवृत्ति एवं कुसंस्कारों को काटता है एवं सुसंस्कारों का बीजारोपण

करता है। संस्कार परम्परा द्वारा मनुष्य को सुसंस्कारित किया जाता है। उसकी आत्मा में जमे जन्मजन्मान्तरों के कषाय-कल्मषों को उतारकर अच्छे संस्कारों का आरोपण किया जाता है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व इससे परिष्कृत एवं पवित्र बनता है। संस्कार शरीर को स्वस्थ, मन को शुद्ध, बुद्धि को पवित्र एवं आत्मा को सबल एवं सतेज बनाता है।

वैदिक ऋषियों ने संस्कार प्रक्रिया को दो भागों कर्मकाण्ड एवं भावना के रूप में विभाजित किया है। जो मनुष्य के जन्म के पूर्व से मरने के पश्चात् तक सम्पन्न होती है। मानव जीवन के हर पहलू को उजागर करके, उसे श्रेष्ठ मार्ग की ओर ले जाने की विधिवत व्यवस्था संजोयी हुई है। उचित समय और उत्कृष्ट वातावरण में तथा विधि-विधान से किये गये संस्कारों का प्रभाव असाधारण और अभूतपूर्व होता है। हर संस्कार का अपना महत्त्व, प्रभाव और परिणाम होता है।

श्रेष्ठ संतान समाज और राष्ट्र का रत्न होती है। अत: वैदिक काल में श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति हेतु सर्वप्रथम गर्भाधान संस्कार की व्यवस्था की गई थी। इस काल में सन्तानोत्पत्ति सामाजिक कार्य के अन्तर्गत आती थी। अत: इस संस्कार के माध्यम से आज भी समाज को श्रेष्ठ सन्तानों से नवाजा जा सकता है। गर्भस्थ शिशु के शारीरिक, बौद्धिक तथा भावनात्मक विकास हेतु गर्भाधान संस्कार का प्रावधान है। इससे अवतरित होने वाला शिशु सुसंस्कारित होता है। सीमन्तोन्नयन संस्कार सन्तान को श्रेष्ठ संस्कार के ढाँचे में ढालने के लिए प्रयुक्त होता है। बालक के जन्म के पश्चात् उसकी रक्षा की कामना के निमित्त जातकर्म संस्कार का विधान है। नामकरण एक मनोवैज्ञानिक संस्कार है। नाम का अपना विशिष्ट महत्त्व है। शिशु को अच्छा नाम देकर उसे नाम के गुण के प्रति सचेष्ट एवं जागरुक कराया जाता है, जिससे वह उसके अनुरूप बनने का प्रयत्न-पुरुषार्थ कर सके।

वैदिक ऋषियों ने अन्न को प्राण कहा है। अन्न शरीर के कलेवर का पोषण करता है। अत: अन्न शुद्ध एवं सात्विक होना चाहिए। अन्न से मनुष्य का विचार, भाव एवं अन्तरात्मा प्रभावित होती है। वैदिक ऋषियों ने अन्न की इसी विशेषता एवं महत्ता की वजह से ही अन्नप्राशन संस्कार की नींव रखी। विद्यारम्भ संस्कार द्वारा शिशु में जीवन निर्माण करने वाली हितकारी विद्या की स्थापना की जाती है। वैदिक संस्कृति के दो सर्वमान्य प्रतीक है- शिखा और सूत्र। शिखा आस्था का प्रतीक है तो सूत्र सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर अपने जीवन में पूर्ण परिवर्तन के संकल्प का द्योतक है। वैदिक संस्कृति में विवाह संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार है। इसे दो आत्माओं का पवित्र बंधन माना जाता है।

इस तरह वैदिक संस्कृति यज्ञीय उच्चादर्शों की संस्कृति है। जीवन वही सार्थक है जो यज्ञीय आदर्श के अनुरूप हो। जीवन का अवसान भी इसी यज्ञ के साथ सम्पन्न हो, ऐसी व्यवस्था वैदिक संस्कार परम्परा में मरणोत्तर संस्कार के रूप में विद्यमान है। मृत्यु जीवन का अंत नहीं है, यह तो अनन्त जीवन श्रृंखला की एक कड़ी मात्र है। वैदिक संस्कृति की संस्कार परम्परा में जन्म के पूर्व से मरणोपरान्त तक संस्कार की व्यवस्था है। अतः मानव जीवन को संस्कारित करने में वैदिक संस्कृति की संस्कार परम्परा का महनीय योगदान है। यह योगदान वैदिक संस्कृति में शिक्षा के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

❑ वैदिक शिक्षा आज भी सामयिक

वैदिक शिक्षा आज भी उतनी ही सामयिक, युगानुकूल है, जितनी उन दिनों थी। क्योंकि वैदिक शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य व्यक्ति की आन्तरिक प्रतिभा एवं सद्‌गुणों को पल्लवित एवं विकसित करना है। यह छात्र के चरित्र, चिन्तन और व्यवहार के समस्त पक्षों को उजागर करती है एवं श्रेष्ठ गुणों से विभूषित करती है। इसके सामयिक होने का कारण यही है।

शिक्षा जीवन का शाश्वत मूल्य है। ज्ञान की इस अनिवार्यता को ऋषियों ने अपनी गहन समाधि बोध से जाना था। वैदिक शिक्षा में विद्या भी अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहती थी। इसमें व्यक्ति की विचारणा एवं भावना के स्तर को उच्चस्तरीय बनाने वाला ज्ञान, अनुभव एवं अभ्यास का पुट रहता था। वैदिक संस्कृति में इस तंत्र को गुरुकुल एवं आरण्यक परम्परा द्वारा परिचालित एवं संचालित किया जाता था। गुरुकुलों का उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से विद्या को विकसित करना रहा है। यहाँ की व्यवस्था-वातावरण का सृजन इसी उद्देश्य को लेकर किया गया था। आरण्यकों में शिक्षार्थियों को तप-साधना, लोक-आराधना का पाठ पढ़ाया जाता था। गुरुकुलों में विद्या-अर्जन एवं व्यक्तित्व का गठन कराया जाता था तथा आरण्यकों में विद्या का प्रसार तथा व्यक्तित्व का लोकहित में समर्पण का भाव बताया जाता था।

गुरुकुलों में बाल जीवन को परिष्कृत कर सम्पूर्ण व्यक्तित्व के रूप में गढ़ा-निखारा जाता था। उसे अनगढ़ को गढ़ने की परिष्कार प्रशिक्षण संस्था या कार्यशाला कहा जा सकता है। आरण्यक इसका अगला चरण है। आरण्यकों में कटाई-छंटाई, गुड़ाई-निराई आदि साज-संभाल की जाती थी। जहाँ सामान्य व्यक्ति सुसंस्कारित देवमानव के स्तर में परिवर्तित हो जाते थे। यही देवमानव अपने समय की मांग

को पूरा किया करते थे। वैदिक काल में सतयुगी परिस्थितियाँ इन्हीं गुरुकुल-आरण्यकों की उर्वरता का परिणाम थीं। गुरुकुल एवं आरण्यक की सर्वांगपूर्ण शिक्षण व्यवस्था के फलस्वरूप समाज के किसी भी क्षेत्र के सुसंचालन के लिए उपर्युक्त व्यक्तित्व सम्पन्न लोगों की कमी नहीं रहती थी। आज का विश्रृंखलित एवं उच्छृंखलित समाज वैदिक शिक्षा के द्वारा ही शिक्षित, सम्पन्न एवं समृद्ध हो सकता है। वैदिक शिक्षा के वे तमाम सूत्र आज भी उतने सामयिक एवं प्रासंगिक हैं जिसके माध्यम से व्यक्ति सुसंस्कारित, समाज सभ्य एवं राष्ट्र समृद्ध हो सकता है। वैदिक शिक्षा आज भी सामयिक है। शिक्षित एवं चरित्रवान व्यक्ति ही सभ्य समाज के आधार स्तम्भ होते हैं।

❑ समाजिक व्यवस्था की अभिनव दृष्टि

वैदिक संस्कृति व्यक्ति के उत्कर्ष एवं समाज के विकास दोनों को ही आवश्यक मानती है। इन दोनों के समन्वित विकास के लिए उसने वैदिक समाजवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। जिसमें सामाजिक आचार शास्त्र, जीवन व्यवस्था, वर्णाश्रम प्रणाली तथा पुरुषार्थ चतुष्टय का सुन्दर समन्वय है। इसके अलावा इसकी प्रमुख विशेषता इसका आध्यात्मिक आधार है। इसकी विशद् विवेचना इस शोध ग्रंथ के तीसरे अध्याय में देखी जा सकती है। अपने सार रूप में यह इस सत्य का उद्‌घाटन है कि व्यक्तिगत उत्कर्ष सार्वभौम उत्कर्ष के साथ है। सामाजिक आत्मा की अवहेलना करने से वैयक्तिक उत्कर्ष का दृष्टिकोण एकांगी हो जाता है। मानव और समाज अपनी वैयक्तिकता का विकास करके ही सामान्य बन्धनों को बनाए रख सकते हैं और एक दूसरे के विकास में सतत् सहायक रह सकते हैं। वैदिक समाज इसी आध्यात्मिक आधार को रेखांकित करता है। उसे आध्यात्मिक समाज भी कहा जा सकता है।

वैदिक ऋषियों ने मनोवैज्ञानिक ढंग से समाज व्यवस्था की संरचना की थी। वे समाज के विकास हेतु परस्पर सहानुभूति, सौजन्य, सेवा, सहायता, सहयोग, संगठन पर विशेष बल देते थे। स्वार्थ और संकीर्णता समाज को विघटित एवं खण्डित करते हैं। अत: वैदिक समाज एकता, समता एवं संगठन के सूत्रों को जीवन्त बनाये रखा। संगठन का मूल तत्त्व है कि समाज में व्यक्तियों के बीच सद्‌भाव एवं सहयोग की भावना बनी रहे। ऐसे समाज में ही सहानुभूति और संवेदना होती है। यह भावना ही समाज को प्रगति एवं विकास के पथ पर अग्रसर करती है। वैदिक समाज इसके रहस्य को जानकर परस्पर संगठित, सामूहिक व एकता के मंत्र को अपनाया हुआ था। इन्हीं दैवीय गुणों के कारण वैदिक समाज चरम शिखर पर था।

प्राचीन समाज की सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज विवेक सम्मत एवं युगानुकूल थे। विवेक सम्मत होने के कारण समय-समय पर सामाजिक परम्पराओं में कुरीतियों का उन्मूलन एवं सत्प्रवृत्ति का संवर्धन बराबर किया जाता था। इसमें तर्कों एवं तथ्यों का पूर्ण समावेश रहता था। इसी कारण वैदिक समाज के विचार उत्कृष्ट एवं भावना पवित्र हुआ करती थी। अनेक मान्यताओं, परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों के बावजूद कहीं भी विरोधाभास दृष्टिगोचर नहीं होता था। सभी एक दूसरे का आदर करते थे। वैदिक समाज की इन्हीं गौरव एवं गरिमामयी परम्पराओं ने आर्य संस्कृति का पुण्य प्रवाह बनाये रखा। इसी सामाजिक चेतना का विकास वैदिक संस्कृति में राजनीतिक चेतना के रूप में हुआ।

❑ मूल्य परायण राजनीति

वैदिक काल में राजनैतिक चेतना उस काल की सांस्कृतिक चेतना का ही अभिन्न अंग रही है। वैदिक ऋषियों ने उन दिनों सुव्यवस्थित राजनैतिक अवस्था को बनाए रखा था। वैदिक काल में सामाजिक अनुशासन एवं व्यवस्था के रूप में राज्य का उदय हुआ। राजा को राज्य की आत्मा का दर्जा दिया गया। फिर राज्य का राष्ट्र के रूप में सांस्कृतिक विकास हुआ। वैदिक संस्कृति में राष्ट्र को सदैव एक सांस्कृतिक इकाई माना जाता है। राष्ट्र उपास्य है, ईष्ट है। राष्ट्र अप्रतिहत मनोवैज्ञानिक ईकाई है। राष्ट्र ही राजनैतिक चेतना का दृष्य स्वरूप है।

इस तरह राज्य का उदय, राज्य का राष्ट्र के रूप में सांस्कृतिक विकास, राजनैतिक संस्थाएँ, प्राचीन राजनीति का दार्शनिक आधार आदि का वर्णन एवं विवेचन इस शोध ग्रंथ के चौथे अध्याय में किया गया है। वैदिक ऋषियों ने राजनैतिक अभियानों के सांस्कृतिक स्वरूपों का निर्माण अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक किया था। उन्होंने समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोये रखने के लिए इस सांस्कृतिक अभियान को चलाया था। इसी के अन्तर्गत अश्वमेध का दिग्विजय अभियान आता है। अश्वमेध एक ऐसा सांस्कृतिक अभियान है, जो दिव्य मेधा एवं दिव्य पुरुषार्थ को जाग्रत् एवं संयुक्त करके राष्ट्रव्यापी स्तर पर यज्ञीय जीवन क्रम से जन-जन को जोड़ देता है। वैदिक संस्कृति में आत्मविजय-मनोजय को ही सबसे श्रेष्ठ विजय माना गया है। अश्वमेध प्रकरण में दिग्विजय का मूल उद्देश्य यही है। यह एक विशुद्ध सांस्कृतिक अभियान होता था। इसमें शक्ति और पराक्रम के बल पर विजय प्राप्ति नहीं होती थी। अपितु सद्भावना द्वारा हृदय को जीता जाता था। अत: अश्वमेध एक सांस्कृतिक अभियान था। इसी प्रकार राष्ट्र के विकास एवं प्रगति हेतु राजसूय एवं वाजपेय यज्ञ का विधान था।

वैदिक साम्राज्य मानवता के आदर्श गुण से ओतप्रोत रहा है। इन्हीं के बल पर वह अनन्तकाल तक विश्व मानव के अन्तःस्तल में साम्राज्य करता रहा है। वैदिक साम्राज्य तलवारों की टन्कारों से या युद्धोन्माद के आतंक से विजयोपलब्धि प्राप्त नहीं किया है और न ही राजनैतिक कुटनीति द्वारा साम्राज्य विस्तार किया है वरन् प्रबल प्रखर विचारों एवं दिव्य मानवीय गुणों तथा भावों द्वारा यह चक्रवर्ती बना एवं विश्व का हृदय जीता तथा जगद्गुरु, आदिगुरु आदि अलंकरणों से विभूषित हुआ।

राजनैतिक श्रेष्ठता या सामरिक शक्ति प्राप्त करना किसी काल में इस साम्राज्य का जीवनोद्देश्य न कभी रहा है और न कभी रहेगा। इसका प्रधान जीवनोद्देश्य सांस्कृतिक आदर्श रहा है। जिसका मूलमंत्र इसके हृदय में जागता है, जो इसकी राजनीति को पवित्र एवं पावन बनाये रखता है। सांस्कृतिक एवं मानवीय आदर्शों की पृष्ठभूमि से समृद्ध एवं सुसंस्कृत साम्राज्य में ही उत्कृष्ट दर्शन का विकास सम्भव है।

❑ दार्शनिक समग्रता

वैदिक संस्कृति का दर्शन तथ्यों और मूल्यों की एक बौद्धिक व्यवस्था है। वैदिक ऋषियों ने विज्ञान के अलग-अलग क्षेत्रों में सर्वप्रथम दार्शनिक समन्वेषण के माध्यम से अनुसंधान किया। मानव जिस समय प्रकृति की जटिल समस्याओं के विषय में प्रश्न पूछता है, उस समय दर्शन एवं विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ऋषियों ने अध्यात्म को विज्ञान सम्मत बनाने का प्रयास किया था। अतः वैज्ञानिक अध्यात्मवाद इन्हीं वैदिक संस्कृति की देन है।

वैज्ञानिक अध्यात्म में विरोध और निषेध का कहीं स्थान नहीं है। यहाँ ज्ञान और विज्ञान के सभी एकांगी पहलू समग्रता में अपना रूपान्तरण करने में सफल होते हैं। वैज्ञानिक चिन्तन में सामाजिक समृद्धि के तत्त्व तो है, लेकिन वैयक्तिक चेतना के उत्कर्ष का अभाव है। वैज्ञानिक अध्यात्म सामंजस्य एवं समग्रता की पद्धति है। यहाँ भौतिकता का आध्यात्मिकता के साथ, व्यक्ति का समाज के साथ और श्रद्धा के तर्क के साथ अपूर्व स्नेह मिलन देखने को मिलता है। जीवन में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता रूपी इस सूक्ष्म का दर्शन, अन्वेषण और अनुसंधान की नींव अपने ऋषियों ने वैदिक काल से रख दी थी।

वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का सिद्धान्त एवं तत्त्वदर्शन किन्हीं सीमित बिन्दुओं तक सिमटा नहीं है, वरन् तत्त्वदर्शन तथा सिद्धान्त तो इसका ज्ञान पक्ष है। इसके अलावा इसका विज्ञान पक्ष भी है। इसलिए इसके अन्तर्गत तप और योग का

समावेश किया गया। ऋषियों ने परिशोधन को तपश्चर्या एवं परिष्कार को योग साधना कहा है। एक अन्तराल की प्रसुप्त विभूतियों का जागरण, दूसरा अनन्त ब्रह्माण्ड में संव्याप्त ब्राह्मी चेतना का अनुग्रह, अवतरण है। यही आध्यात्म विद्या का विज्ञान पक्ष है। इन्हीं वैदिक सूत्रों के द्वारा ऋषियों ने ईश्वर की अवधारणा, आत्मा का अनुसंधान, सृष्टि विचार, ज्ञान एवं मोक्ष मीमांसा का विवेचन, विश्लेषण एवं अनुभव प्राप्त किया। इस बिन्दु की व्याख्या दूसरे अध्याय में की गई है। दर्शन रूपी इस ज्ञान के पश्चात् विज्ञान की विभिन्न धाराएँ उत्पन्न हुईं।

❑ चिकित्सा जगत् को युगानुकूल देन

चिकित्सा के क्षेत्र में आयुर्वेद इक्कीसवीं सदी की भावी चिकित्सा पद्धति है। वैदिक संस्कृति में आयुर्वेद की गौरवमयी परम्परा है। यह अतिपुरातन एवं शाश्वत चिकित्सा पद्धति है। आयुर्वेद के रूप में भारतीय संस्कृति की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण देन सम्पूर्ण विश्व वसुधा को प्रदत्त है। यह चिर पुरातन विद्या पीड़ित मानवता के लिए एक वरदान है।

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' के अन्तर्गत शरीर व उसके अन्दर सुरक्षित रखे मन-मस्तिष्क एवं अन्तःकरण रूपी दिव्य भण्डागार की सुरक्षा करना, उसे सही स्थिति में बनाए रखना आयुर्वेद के जनक ब्रह्माजी ने धर्म को उसका साधन बताया है। ब्रह्माजी से धन्वन्तरि के माध्यम से यह विस्तार पाते हुए एक सुव्यवस्थित चिकित्सा प्रणाली के रूप में सभी को सुलभ हुआ। धन्वन्तरि अपने हाथ में अमृतकलश लेकर मानव मात्र के लिए चिरयौवन एवं अक्षुण्ण स्वास्थ्य का संदेश लेकर अवतरित हुए एवं उन्हीं को आयुर्वेद के जन्मदाता मानकर पूजा भी जाता है। आयुर्वेद चरण व्यूह के अनुसार ऋग्वेद का एक उपवेद भी माना जाता है। उसे अथर्ववेद का भी उपवेद कहा गया है। आयुर्वेद में वेदों का ज्ञान समाहित है।

आज की सुविकसित, अत्याधुनिक एवं बहुप्रचलित चिकित्सा पद्धति एलोपैथी है। रोगविज्ञान, शरीर विज्ञान एवं शरीर क्रिया विज्ञान की दृष्टि से गहन अध्ययन एवं शोध के आधार पर रोगों की संभावना, स्वरूप एवं जटिलताओं के सम्बन्ध में बड़ी मजबूत नींव इस पद्धति के वेत्ताओं ने खड़ी की है। इस सम्बन्ध में इनके प्रयास सराहनीय हैं। परन्तु यह बात चिकित्सा एवं औषधि के सम्बन्ध में खरी नहीं उतरती। एक नहीं अगणित उदाहरण इस बात को गले नहीं उतरने देते कि यह पद्धति सुनिश्चित है, हानिरहित है। इंजेक्शनों, कैप्सूलों, टॉनिकों, एण्टीबायोटिकों को भारी मात्रा में लेने की प्रथा परम्परा जोरों पर है। इनकी चकाचौंध

से अपने बुद्धिभ्रम को डॉक्टर पूरे उत्साह के साथ बढ़ा रहे हैं। किसी को भी यह समझने-समझाने की फुरसत नहीं है कि इस उत्तेजक और मारक उपचार के पीछे क्या प्रतिक्रिया होती है? रोग तो समयानुसार चला जाता है, पर विषाक्त औषधियों की प्रतिक्रिया जीवनभर एक नयी व्याधि बनकर पल्ला पकड़ लेती है। उसे छोड़ने का नाम नहीं लेती। उपचार कराने वाले नए-नए कष्ट, व्यथाएँ साथ लेकर लौटते हैं।

इसके सभी पक्षों की समीक्षा करने के बाद इस पद्धति पर पुनर्विचार करना जरूरी हो जाता है। आरम्भिक लाभ के बावजूद अन्ततः घटा कहाँ तक स्वीकार्य है, इस पर विवेक बुद्धि यही कहती है कि इस अदूरदर्शिता को जनमानस से मिटाया जाना चाहिए। इस मूल आधार को समझने के बाद सार्थक चिकित्सा व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित कर सकना सम्भव है। किसी भी लक्षण को दबाने के बजाय उसे जन्म देने वाले कारण को जड़ से मिटाना ही श्रेयस्कर है। अन्ततः निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रचलित चिकित्सा पद्धति में जितना श्रेष्ठ है, वह तो ग्राह्य है, पर सामयिक लाभ का दर्शन किसी भी मूल्य पर जीवन में नहीं उतारा जा सकता। इस सम्बन्ध में गहन गम्भीर विचार करने पर एक ही प्रकाश किरण आशा बँधाती है और वह आयुर्वेद की चिरपुरातन परम्परा का पुनर्जीवन।

आयुर्वेद चिरपुरातन परम्परा है। इसमें युगानुकूल चिकित्सा व्यवस्था है। अतः आयुर्वेद की चिरपुरातनता के बावजूद भी उसमें सन्निहित विज्ञान सम्मत प्रतिपादन एक स्वस्थ शरीर, मन व अन्तःकरण की सर्वांगपूर्ण आचार संहिता का निर्माण करते हैं। वैदिक ऋषि-मुनियों ने निश्चित ही अपनी काया के एक-एक सूक्ष्मतम अवयव तक जाकर साधना की गहनतम स्थिति में ये अनुसंधान किये होंगे। तभी यह चिकित्सा प्रक्रिया इतनी विज्ञान सम्मत बन सकी। आयुर्वेद एक समग्र एवं पूर्ण चिकित्सा पद्धति है। आयुर्वेद समग्र रूप में मनुष्य को शरीर, मन व आत्मा का समुच्चय मानता रहा है। इस चिकित्सा प्रक्रिया में यम-नियम से लेकर 'स्वस्थवृत्त समुच्चय' के सभी सूत्रों एवं पातंजलि योगसूत्र के दर्शन को भी साथ लेकर चलने की विधि अपनायी जाती रही है। इस कारण आयुर्वेद अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता रहा है व मानव जाति को रोगमुक्त ही नहीं, अक्षुण्ण यौवन का वरदान भी देता रहा है।

वैदिक ऋषियों ने आयुर्वेद को शुद्ध रूप में प्रयोग करके इसे लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचा दिया है। वे शुद्ध आयुर्वेद के मात्र स्थूल शरीर प्रधान नहीं, उसके सूक्ष्मतम प्रभावों के विषय में जन-जागृति लाने में भी सफल हुए हैं।

वनौषधियों के रसायनपाक से लेकर सभी प्रभावों का विश्लेषण कर उसे सार्वजनीन-जनसुलभ बनाया गया। इसलिए इसे अगली सदी की समग्र चिकित्सा पद्धति मानी जा रही है। आयुर्वेद की गौरवमयी परम्परा में सर्वदा नवीन शोध अनुसंधान का प्रावधान एवं व्यवस्था रहती है। आयुर्वेद परम्परा संहिता काल से निकल कर इक्कीसवीं सदी में मानवीय स्वास्थ्य के उज्ज्वल भविष्य की सम्मोहक संरचना करेगी। उन दिनों वैदिक संस्कृति आयुर्वेद के अलावा ज्योतिर्विज्ञान भी उन्नत अवस्था में था।

❑ वैदिक संस्कृति की देन-ज्योतिर्विज्ञान

ज्योतिर्विज्ञान वेदकालीन महर्षियों की अलौकिक प्रतिभा की देन है। भारतीय विद्याओं में इसका अनूठा स्थान है। मनुष्य की संरचना और उसकी प्रकृति का इससे गहरा सम्बन्ध है। इसके अन्तर्गत पिण्ड और ब्रह्माण्ड, व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों का अध्ययन समग्र रूप से किया जाता है। ग्रह, नक्षत्र, तारे, राशियाँ, मन्दाकिनियाँ, निहारिकाएँ एवं मनुष्य, प्राणी, वृक्ष, चट्टानें आदि विश्व ब्रह्माण्डीय घटक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक दूसरे को प्रभावित आकर्षित करते हैं। इन ग्रह नक्षत्रों का मानव-जीवन पर सम्मिलित प्रभाव पड़ता है। वे कभी कष्ट दूर करते हैं, तो कभी कष्ट भी देते हैं। ये तत्त्व मनुष्य की सूक्ष्म संरचना एवं मनःसंस्थानों पर कार्य करते हैं और उसकी भावनाओं तथा मानसिक स्थितियों को अधिक प्रभावित करते हैं।

प्रारम्भिक काल में ज्योतिर्विज्ञान अध्यात्म-विज्ञान की ही एक शाखा थी। इसे एक पवित्र विद्या माना जाता था, जिसका स्वरूप स्पष्टतः धर्म विज्ञान पर आधारित था। वास्तव में इस विद्या के सिद्धान्तों का सुदृढ़ आधार अभौतिक एवं आध्यात्मिक है। इसे भौतिक यंत्रवाद और मात्र ग्रहों-तारों-राशियों एवं भावों का निर्धारण करने वाले एवं व्यवस्थाक्रम दर्शन वाले खगोलीय विज्ञान के आधार पर नहीं समझा जा सकता। इस शास्त्र के आविष्कर्त्ता भारतीय महर्षि रहे हैं, जो अलौकिक आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न थे। योग विज्ञान जो कि भारतीय आचार्यों की विभूति मानी जाती है, इसका पृष्ठाधार है। यहाँ के ऋषियों ने योगाभ्यास द्वारा अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से शरीर के भीतर ही सौरमण्डल के दर्शन किए और अपना निरीक्षण कर आकाशीय सौरमण्डल की व्यवस्था की। वैदिक ऋषियों ने अंकविद्या, जो इस शास्त्र का प्राण है, का भी अविष्कार किया। प्राचीनतम काल में भारतीय ऋषि खगोल एवं ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान रखते थे।

ऋषि परम्पराओं के आधार पर चलते रहे ज्योतिषशास्त्र में भूतकालीन

प्रयासों की गरिमा को समझा जा सकता है। उसमें आधुनिक विज्ञान सम्मत स्वरूप के निर्धारण में वांछनीय सहयोग एवं सहायता प्राप्त हो सकती है। इस संदर्भ में वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत ज्योतिर्विज्ञान की गौरवमयी परम्परा अक्षुण्ण रही है जो अगली सदी में और भी नूतन अनुसंधान एवं उपलब्धि प्रदान कर सकती है। वैदिक संस्कृति की ज्ञान-विज्ञान के चरमोत्कर्ष उपलब्धि से स्पष्ट होता है कि वैदिक ज्ञान, विज्ञान अत्यन्त उन्नत एवं समृद्ध था। इससे वैदिक समाज की समृद्धि भी रेखांकित होती है, जहाँ पर नारियों का योगदान अभूतपूर्व रहा है।

❑ नारी उत्कर्ष के सूत्र

नारी सृष्टि की सर्वोत्तम कृति है। नारी की उच्चस्तरीय विभूति के कारण वैदिक काल में नारी सम्मानित दृष्टिकोण से देखी जाती थी। समाज में नारी की स्थिति प्रतिष्ठित एवं गरिमामयी थी। वैदिक काल में नारी ने समाज के समग्र विकास में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया था। नारी की इन्हीं योगदान, दैवीय गुणों एवं विशेषताओं के कारण वैदिक ऋषियों ने इक्कीसवीं सदी को नारी सदी घोषित कर दिया था।

वैदिक ऋषियों के अनुसार इक्कीसवीं शताब्दी नारी वर्चस की शताब्दी है। उसमें उपेक्षित आधी जनसंख्या को ऐसा महत्त्व और श्रेय मिलने जा रहा है, जिसकी वह अधिकारिणी तो आदिकाल से थी, पर उसे वैभव का किसी दुर्भाग्य दैत्य ने अपहरण कर लिया था। अब वह उसे नए सिरे से, नए रूप में प्राप्त होने जा रही है। उसे शक्ति, समर्थता और साहसिकता के वे बल-वैभव फिर से प्राप्त होने जा रहे हैं, जिसके बल पर वह अपनी सत्ता की महत्ता भली प्रकार प्रकट व प्रमाणित कर सके। इस उदीयमान उषा का सुनहरा आलोक इस रूप में दृष्टिगोचर होगा, मानो वह कायाकल्प स्तर का नया कलेवर लेकर स्वर्ग से धरती पर उतरी हो। उसके क्रिया-कलापों में से सृजनात्मक तत्त्व ऊँचे स्तर पर उभरेंगे जो अब तक प्राय: अपना कार्यक्षेत्र घर-परिवार तक ही सीमित रखे रहते थे। अब वह समाज और संसार के हर क्षेत्र में अपने तेजस और वर्चस से प्रभावित करेगी।

इक्कीसवीं शताब्दी को महिला शताब्दी घोषित किया गया है। इस शताब्दी में शासन, सुव्यवस्था की जिम्मेदारी नारी के हाथ में होगी, पुरुष उसका सहायक भर होगा। भवितव्यता नारियों पर अपने अनुदानों की वर्षा करने पर उतारू है। इक्कीसवीं सदी में पूर्ण होने वाले इस निर्धारण में भावी मानवता एवं नये युग का निर्माण होगा।

भावी मानवता एवं नया विश्व

प्राचीन भारत की वैदिक संस्कृति का यह योगदान ज्वलंत प्रश्नों से घिरी मानवता को आज भी उसका उज्ज्वल भविष्य देने में सक्षम है। इस सांस्कृतिक अवदान-योगदान से न केवल अपने भारत महादेश का बल्कि समूचे विश्व का जीवन सँवारा-संभाला जा सकता है। शायद इन्हीं सम्भावनाओं का आकलन करके विश्व भर के मनीषियों-दिव्यदृष्टाओं- विज्ञानवेत्ताओं ने यह उद्घोष किया है- कि इक्कीसवीं सदी में भारत समूचे विश्व का नेतृत्व करेगा। नेतृत्व का आधार प्राचीन भारत की वैदिक संस्कृति ही होगी। प्राचीन भारत की वैदिक संस्कृति का वर्तमान पुनरोदय ही नए विश्व का निर्माता होगा। यह नया विश्व- वसुधैव कुटुम्बकम् की वैदिक अवधारणा के आधार पर समर्थ, सक्षम एवं समृद्ध बनेगा। और भावी मानवता वह अद्भुत संवेदनशीलता विकसित कर पाएगी, जिसके बलबूते एकता-समता मूलक मानवीय समाज विकसित हो सके।

❑

सहायक ग्रंथ सूची

१. अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण- कला और संस्कृति, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, १९५८

२. अनन्त अ.अ.- भारतीय संस्कृति का विदेशों पर प्रभाव, हिन्दी साहित्य भवन, लखनऊ, १९६६

३. आठले डॉ. वा.मो.- इतिहास और संस्कृति, सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क, नई दिल्ली-६, १९९६

४. आर्य लाला ज्ञानचन्द- वर्ण व्यवस्था का वैदिक स्वरूप, विजय गुजराल फाउन्डेशन, नई दिल्ली, १९९४

५. आर्य डॉ. प्रतिभा- स्मृतियों में राजनीति और अर्थशास्त्र, विश्वभारतीय अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर, वाराणसी, १९८९

६. आर्य डॉ. भारती- स्मृतियों में नारी, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर, वाराणसी, १९८९

७. आत्रेय भीखनलाल- भारतीय संस्कृति, दर्शन प्रिन्टर्स, मुरादाबाद, १९९२

८. ओक पी.एन.- विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय, भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली-१, १९९८

९. ओक पी.एन.- भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें, भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली-१, १९९८

१०. उपाध्याय पूर्णचन्द्र- वैदिक संस्कृति का विश्वकोश, आर्य प्रकाशन मण्डल, गांधी नगर, दिल्ली-३१, १९९१

११. उपाध्याय डॉ. भगवतशरण- भारतीय संस्कृति के स्रोत, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रा.लि. नई दिल्ली-५५, १९९१

१२. उपाध्याय डॉ. रामजी- भारतीय धर्म और संस्कृति, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१, १९९५

१३. कनल एस.पी.- भारतीय संस्कृति के आधार, पांचाल प्रेस पब्लिकेशन्स, ६६ गोखले मार्केट, तीस हजारी दिल्ली-६, १९५८

१४. कविराज एम.एम. गोपीनाथ- तांत्रिक साधना और सिद्धान्त, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४, १९७९

१५. कृष्णमूर्ति जे.- संस्कृति का प्रश्न, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन, इण्डिया, १९९४

१६. कृष्ण मणीन्द्र- विश्व की सांस्कृतिक एकता, साहित्य कुटीर, ब्राह्मणपुरी खण्डवा, म.प्र., १९७१

१७. कोसंबी दामोदर धर्मानन्द- प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-२, १९९६

१८. गुप्त सुरेन्द्रनाथ- सोने की चिड़िया और लुटेरे अंग्रेज, ग्रंथ अकादमी, पुराना दरियागंज, नई दिल्ली-२, १९८७

१९. गुरुजी साने- भारतीय संस्कृति, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९८४

२०. गुरुदत्त- यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म, ३०/९० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१, १९९३

२१. गुरुदत्त- हमारी सांस्कृतिक धरोहर, हिन्दी साहित्य सदन, ३०/९० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१, १९९५

२२. चक्र सुदर्शन सिंह- हमारी संस्कृति, श्रीकृष्ण जन्म स्थान सेवा संघ, मथुरा-१, १९७६

२३. चन्द्र सोती वीरेन्द्र- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली, १९९८

२४. चौबे डॉ. ब्रजबिहारी- वैदिक वाङ्मयः एक अनुशीलन, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर, १९७२

२५. जोशी महादेव शास्त्री, हमारी संस्कृति के प्रतीक, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९८६

२६. जोशी महेश चन्द्र- युग-युगीन भारतीय कला, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, १९९५

२७. तिवारी डॉ. गंगासागर- विश्व सभ्यता का वैज्ञानिक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-१, १९९४

२८. तिवारी शशि- सूर्य देवता, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, १ अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२, १९९४

२९. थापर रोमिला- भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली-१, १९९६

३०. द्विवेदी डॉ. कपिलदेव- वैदिक मनोविज्ञान, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर, वाराणसी, १९९०

३१. देवराज डॉ.- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ.प्र. शासन लखनऊ, १९७२

३२. दुबे उमेश चन्द्र- श्री अरविन्द का संस्कृति दर्शन, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी-१, १९९३

३३. नेहरू जवाहर लाल- विश्व इतिहास की झलक, खण्ड १,२, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली १९९१
३४. पुरी डॉ. बैजनाथ- सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ.प्र. लखनऊ, १९६५
३५. पुरी डॉ. बैजनाथ- भारतीय संस्कृति और इतिहास, भारतीय विद्या भवन इलाहाबाद-३, १९५८
३६. पण्ड्या गौरीशंकर- भारतीय संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव, किताब महल, गांधी नगर, दिल्ली-३१, १९८३
३७. बाली चन्द्रकान्त- भारत युद्ध काल मीमांसा, आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६, १९९३
३८. महाराज श्रीवास्तव करपात्री जी- मार्क्सवाद और राम राज्य, गीताप्रेस गोरखपुर-५, संवत् २०५३
३९. मजूमदार डॉ. रमेश चन्द्र- प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लो रोड जवाहर नगर, दिल्ली-६, १९९५
४०. मिश्र डॉ. राजछत्र- प्राचीन विश्व की संस्कृतियाँ, अनुराग प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९७
४१. मिश्र डॉ. सच्चिदानन्द- प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन, पूर्व संस्थान गोरखपुर-१, १९८४
४२. मुखर्जी राधाकुमुद- प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली-२, १९९६
४३. मैक्समूलर, अनु. डॉ. भवानी शंकर त्रिवेदी- भारत की विश्व को देन, राजधानी ग्रंथागार, नई दिल्ली-२४, १९९३
४४. वर्मा डॉ. महेन्द्र- प्राचीन भारत की वास्तुकला, आर्य बुक डिपो, करोलबाग, नई दिल्ली-५, १९९६
४५. वाजपेयी कृष्णदत्त- भारतीय वास्तु कला का इतिहास, उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ, १९७२
४६. विवेकानन्द स्वामी- वैदिक शासन व्यवस्था, स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान मेरठ, १९९४
४७. विद्यालंकार सत्यकेतु- प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली-२९, १९९४
४८. वेद वाचस्पति प्रियव्रत- वेद का राष्ट्रीय गीत, श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय कनखल, हरिद्वार, १९९४

४९. वेदवाचस्पति आचार्य प्रियव्रत- वेद और उसकी वैज्ञानिकता, श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय कनखल, हरिद्वार, १९८७
५०. सिंह डॉ. ठाकुर जयदेव- भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत रिसर्च अकेडमी, कलकत्ता, १९९४
५१. शर्मा हरिश्चन्द्र- प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, कालेज बुक डिपो जयपुर-२, १९९४
५२. शाह डॉ. गिरिराज- उत्तराखण्ड, आर्य संस्कृति का मूल स्रोत, त्रिशूल प्रकाशन, बरेली-१, १९९५
५३. शास्त्री डॉ. मंगलदेव- भारतीय संस्कृति का विकास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी-५, १९७०
५४. शिवदास डॉ.- भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली-२, १९९३
५५. होवालकर- भारतीय संस्कृति का विश्व संचार, सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली-५५, १९९२
५६. ज्ञानी डॉ. शिवदत्त- वेदकालीन समाज, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६७

सहायक ग्रंथ सूची - पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य

वैदिक वाङ्मय

१. ऋग्वेद, खण्ड- १, २, ३, ४
२. अथर्ववेद, खण्ड- १, २
३. सामवेद
४. यजुर्वेद
५. १०८ उपनिषद्- साधना खण्ड
६. १०८ उपनिषद्- ज्ञान खण्ड
७. १०८ उपनिषद्- ब्रह्मविद्या खण्ड
८. वैदिक मंत्रविद्या
९. मंत्रमहाविज्ञान, खण्ड- १, २, ३, ४
१०. तंत्रमहाविज्ञान, खण्ड- १, २
११. पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य- सम्पूर्ण वाङ्मय १०८ खण्डों में

Bibliography

1. Ahluwalia Maj. H.P.S.- Eternal Himalayas, Interprint, 16 A, Naraina II , New Delhi-28, 1981
2. Allchin Raymand & Bridget- Origins of a Civilization, Viking Penguin Books Ltd., 27 W.L. London, 1997
3. Allchin Raymand & Bridget- The Birth of Indian Civilization, Viking Penguin Books Ltd., 27 W.L. London, 1968
4. Babbie Earl R.- What is Society?, Pine forge Press, Thousand Oaks, London, 1994
5. Banerjee A.C.- A History of the Modern World, University Press Ltd. Hyderabad-29, 1995
6. Basham A.L.- A Cultural History of India, Oxford University Press, Great Clarendon Street, Oxford, 1997
7. Basham A.L.- The Wonder That was India, Rupa and Company, 7/16 Ansari Road, Dariyaganj, New Delhi-2, 1995
8. Christopher Brinton, Wolff Winks- A History of Civilization, Vol. I, Prentice hall, Inc., Englewood Cliffs, New Jersey, 1984
9. Encyclopedia Americana- 30 Vol., Grolier Incorporated, Internationl Hq., Danburry, Connecticat, 06816, 1984
10. Encyclopedia of Religion & Ethics, James Hastings (Ed.), L T Clark Ltd., Edinburgh, Scotland, 1994
11. S. Flood Gavin- An Intoduction to Hinduism, Cambridge University Press, 1996
12. Haviland William- Cultural Anthropology, Harcourt Brace Jovanovich College Publishers, Fort Worth, 1990
13. Hay Stephen- Sources of Indian Tradition, Penguin Books Ltd. 27 Wright lane, Londoan, 1991

14. Majumdar R.C.(Gen. Ed.)- The History and Culture of the Indian People, Vol I- The Vedic Age, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay-7, 1988
15. Mansingh Surjit- Historical Dictionary of India, Vision Books Pvt. Ltd. New Delhi-24, 1998
16. Pandey V.P.- Vedic Cult, Applied Science to Human Health, Happer & Longeity Bhaskar Publications, Varanasi-5, 1988
17. Powys J.C.- The Meaning of Culture, Rupa & co. Ansari Road Driyaganj, Delhi-2, 1994
18. Pathak R.P.- Vedic Precepts, Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha, New Delhi-2, 1974
19. Prabhavananda Swami- Spiritual Heritage of India, Sri R.K Math Madras-4, 1981
20. Prajnananda Swami- A History of Indian Music, R.K. Vedanta Math, Calcutta-6, 1963
21. Rawal P.D.- Atomic Theory in the Vedas, P.H. Khokhani P. Works Subhash Road Morni (Sourashtra), 1964
22. Shastri Acharya V.N.- Science in the Vedas, Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha New Delhi-2, 1970
23. Shatri Swami Shivananda- A Short Review of Sanatana Dharma or Hinduism, Sanatana Dharma Mandel Kampala, Uganda, E. Africa, 1968
24. Shendge Malati J.- The Aryans: Facts Without Fancy & Fiction, Abhinav Publications Houz khas, New Delhi-16, 1996
25. Singh Dr. M. Kirti- Recent Researches in Oriental and Indological Studies, Parimal Publications Delhi-7, 1998
26. Srinivasan R.- Facets of Indian Culture, Bhartiya Vidua Bhavan, Bombay, 1990
27. Studies on the Tantras, The R.K.M. Institute of Culture Calcutta-29, 1989

28. Thaper Romila- A History of India Vol. I, Penguin Books Pvt. Ltd. Nehru Place, New Delhi-19, 1990
29. The Kingfisher's Book of Mythology, Kingfisher Elsdy House 24-30 Great Tilchfield Street, London, W1P7AP, 1994
30. The New Encyclopedia Britanica-29 Vols., Encyclopedia Britanica, Inc. Publishing Group Chicago, 1994
31. The Religions of the World, Vol. I, II, The R.K.M. Institute of Culture, Calcutta, 1987
32. Tichy Herbert- Himalayas, Vikas Publications Delhi, 1970
33. Trigunait Pt. Rajmani- The Tradition of the Himalayan Masters, The Himalayan International Institute of Yoga Science & Philosophy, USA. 1993
34. Vaidya C.V.- Histoty of Sanskrit Literature Vol. I,II,III, Parimal Publications Shaktinager Delhi-7, 1986
35. Verma K.C., M.C. Bhartiya, L.B. Ram Anant, Tanaji Acharya- Ritambhara Studies in Indology, Society for Indic Studies, Ghaziabad-2, 1986
36. Walker Benjamin- Hindu World, Vol. I, Harper Collins Publishers India Pvt. Ltd. New Delhi-2, 1995
37. Wheeler J. Tolboys- India From the Earliest Ages, Cosmo Publications Library Road, Delhi-6, 1973
38. Will Durand- The Story of Civilization, Vol. I- Our Oriental Heritage, Simon & Schuster, Rockfeller Center, 1230 Avenue of the Americans, New York, 10020, 1963

ग्रन्थकार परिचय
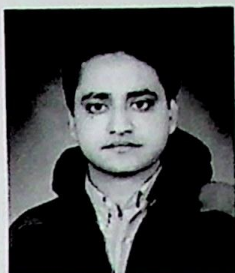
अरुण कुमार जायसवाल
जन्मतिथि-४/१०/६३
जन्म स्थान- सहरसा (बिहार)

बचपन से ही वैदिक संस्कृति के अनुरागी जिज्ञासु। सात वर्ष की कम उम्र से सिद्ध सन्त एवं महान् ज्योतिषी डॉ. अमरलाल वैश्य के मार्गदर्शन में तप साधना का अभ्यास एवं ज्योतिर्विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया। साथ ही औपचारिक शिक्षा चलती रही। इसी बीच ध्यान के क्षणों में अवतरित सूक्ष्म प्रेरणा के प्रभाव से वह युग निर्माण आन्दोलन से जुड़े। और शान्तिकुञ्ज-हरिद्वार, आकर युगऋषि पं० श्रीराम शर्मा आचार्य का दर्शन लाभ प्राप्त किया। प्रथम दर्शन से ही युगऋषि आचार्य जी उनके परम आराध्य पूज्य गुरुदेव हो गए। युग निर्माण आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाते हुए उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की और वैदिक संस्कृति पर अपना शोध कार्य पूर्ण किया।

वह इतिहासवेत्ता होने के साथ उच्चकोटि के साधक एवं प्रखर विचारक भी हैं। समर्थ गुरु के आशीर्वाद एवं उनकी तप साधना ने उन्हें कवि व लेखक की मौलिक प्रतिभा का अनुदान दिया है। ज्योतिर्विज्ञान के वह अनुभवी व पारदर्शी विद्वान् हैं। हस्त-रेखाएँ उनकी दृष्टि मात्र से अपने रहस्य खोलने लगती हैं। शत्-शत् जन उनकी इस मर्मज्ञता से नित्य प्रति धन्य होते रहते हैं। महाविद्यालय में अपने प्राध्यापक होने का दायित्व निभाते हुए भी वह अपनी तप साधना एवं गहन शोध में तल्लीन रहते हैं। इन दिनों वह **प्राचीन भारतीय इतिहास में ज्योतिर्विज्ञान के विविध रूप** विषय पर शोध कर रहे हैं। ये दो पंक्तियाँ उनके अलौकिक जीवन व दिव्य व्यक्तित्व को भली प्रकार परिभाषित करती हैं-

उनका जीवन ही, निर्वाण बन गया।
प्रतिक्षण शत् वरदान बन गया॥

-डॉ. ज्ञानमुद्रा तिवारी, पी-एच. डी.
मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यकार,
इलाहाबाद (उ.प्र.)

वैदिक संस्कृति के विविध आयाम का अध्ययन करके वेद विद्या के अनुयायी ही नहीं, वरन् प्रत्येक भारतवासी स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करेगा। यह निर्विवाद सत्य है कि यह ग्रन्थ विद्वानों, शोधकर्त्ताओं व इतिहासवेत्ताओं के लिए अनिवार्य रूप से संग्रहणीय होने के साथ ही सामान्य जनों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है।

इस ग्रन्थ की भूमिका ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक एवं अखिल विश्व गायत्री परिवार, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तर प्रदेश) के प्रमुख डॉ. प्रणव पण्ड्या ने लिखी है। डॉ. पण्ड्या के असाधारण विद्वतापूर्ण भूमिका लेखन ने ग्रन्थ को और भी अधिक गरिमापूर्ण बना दिया है।

डॉ. भारत भूषण विद्यालंकार
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तर प्रदेश

ललित प्रकाशन
८/१, इन्दिरा विकास कालोनी, नई दिल्ली-११०००५
दूरभाष-(०११) ७४५५२२७